सांख्ययोग

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी

सांख्ययोग

(श्रीमद्भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय)

(प्रवचन)

★

प्रवचनकर्त्ता :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

★

संकलनकर्त्री :

श्रीनारायणी

आशीर्वाद!

आनन्द जयन्ती के पावन अवसर पर विषादको दूर कर आनन्दका संचार करने वाले इस सांख्ययोग के प्रकाशनमें 'ठाकुरदास तुलजाराम महतानी परिवार' मुम्बई का सहयोग रहा है।

इनकी गति-रति-मति-पूज्य गुरुदेवके चरणारविन्दोंमें दिन-दूनी-रात चौगुनी बढ़ती रहें!

—स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती

आनन्द जयन्ती
12 अगस्त 2007
'आनन्द निकुञ्ज'
मुम्बई

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

● 'विपुल' 28/16 बी.जी. खेर मार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई – 400 006
फोन : (022) 23682055

● श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन – 281 121 (मथुरा)
फोन : (0565) 2540481
2540487

❀

प्रथम परिवर्द्धित एवं
संशोधित संस्करण : 1100 प्रति
आनन्द जयन्ती
12 अगस्त 2007

❀

मूल्य : रु. 150/=

❀

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी
फोन : (0542) 2392337

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती महाराज

<u>प्रथम परिवर्द्धित संस्करण</u>

प्रकाशकीय

आनन्द जयन्ती 12 अगस्त 2007

प्रस्तुत ग्रन्थ सांख्ययोगका प्रथम संस्करण 1963में परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके मुम्बई, प्रेम कुटीर आदि विभिन्न स्थलों पर हुए प्रवचनोंका सारभूत संकलन करके सत्साहित्य द्वारा प्रकाशित कराया गया।

संकलन-सम्पादनका कार्य उस समय ब्र० प्रेमानन्द दादा, श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र'ने किया तथा पं० श्रीद्वारिका प्रसादजी 'शास्त्री', श्रीमती (डॉ०) उर्वशी जे. सुरती (नारायणी) एवं मगनलालजी दामाणीके नोट्सका भी सहयोग लिया गया!

उसी ग्रन्थका तृतीय संस्करण 1992 में श्रीचिमनलाल रतनलाल चेरीटेबल ट्रस्ट, बड़ौदा द्वारा स्व० चिमनलाल रतनलाल शाह की पुण्य-स्मृतिमें कराया गया!

पूर्वपक्ष प्रस्तुत करनेका आशय मात्र इतना कि यह ग्रन्थ अब प्रवचनोंका सार-भूत संकलन न हो कर (18वें श्लोक से) शब्दश: संकलन है। यह संकलन बड़े मनोयोग से 'नारायणी' ने लिखा है तथा ब्र० अरविन्दने ग्रन्थके श्लोकोंका क्रम करनेमें परिश्रम किया है। 17वें श्लोक तककी व्याख्या 'श्रीचक्र'जी द्वारा सम्पादित है। उनके टेप न उपलब्ध होनेके कारण पूर्व सम्पादित खण्डका संकलन करना पड़ा!

आनन्द जयन्तीके पावन अवसर पर इस ग्रन्थका प्राकट्य आनन्द प्रदान करनेवाला है। और इस आनन्द प्रदान करनेके श्रेयमें सहयोगी है—**ठाकुरदास तुलजाराम महतानी** परिवार, मुम्बई। यह परिवार परम पूज्य महाराजश्रीके प्रति अपार-अथाह श्रद्धा रखता है तथा उनके ग्रन्थोंको प्रकाशित कराने और सन्तजनों तक पहुँचानेका हेतु बनता है। प्रेरणाके मूलमें महाराजश्रीकी कृपा ही है! और है हम सबके आदरणीय—**पूज्य स्वामीश्री ओंकारानन्द सरस्वतीजी महाराज**का आशीर्वाद! उत्सवों पर नवीन ग्रन्थके प्रकाशन हेतु सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट प्रयास रत है।

पूज्य महाराजश्रीका आशीर्वाद हम सब पर बना रहे—इसी विश्वासके साथ—

ट्रस्टी

—सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

वृन्दावन / मुम्बई

आनन्द जयन्ती

12 अगस्त 2007

हितैषी जगद्गुरु

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

— गीता 2.7

युद्धके रणांगणमें भी सद्गुरु-शरणागतिकी वैदिकशैलीके व्यावहारिक दर्शनमें उलझे हुए मनुष्यको उससे मुक्ति पाना हो तो वह केवल सद्गुरुकी शरण लेनेपर ही सम्भव है। द्वन्द्वग्रस्त मनःस्थितिमें उलझे हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने मार्गदर्शन देकर उबार लिया। उस उपदेशमें अनेक श्रुतियोंका समन्वय किया। अर्जुनकी मनःस्थितिके अनुरूप 'शोकानौचित्योपनिषद्', 'योगमहिमोपनिषद्', 'कामनिन्दोपनिषद्', 'नैष्कर्म्योपनिषद्' आदि श्रुतियोंका श्रवण कराते हुए, उसकी गूढ़-गम्भीर रहस्यात्मक दिव्य वाणीका मानसप्रत्यक्ष कराते हुए कृपापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णने पार्थसारथिका कर्त्तव्य स्वीकार करते हुए उसे अपने कर्त्तव्य-पालनके लिए प्रेरित-प्रोत्साहित और आश्वस्त करनेके उद्देश्यसे यह भी समझाया कि इस श्रवणका वास्तविक परिणाम है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

— गीता 2.72

इस स्थितिके साक्षादपरोक्षानुभवकी भूमिका पर अर्जुनके मानसमें इतनी अधिक क्रान्ति कर दी कि दृढ़तापूर्वक एक सद्गुरुशरणापन्न जिज्ञासु होकर अपनी जिज्ञासाका समाधान करनेमें प्रवृत्त हो गया, संसार बहुत पीछे छूट गया।

परमपूज्य महाराजश्रीने श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्याय 'सांख्ययोग' पर 'प्रेमकुटीर' बंबईमें 1961 के 6 अगस्तसे 14 सितम्बर तक लगातार प्रवचन करते हुए बड़े विस्तारसे इस श्रुतिमयी भगवद्वाणीके गूढ़तम रहस्योंका उद्घाटन करते हुए जिस प्रेम और कृपासे व्याख्यान किया है, वह भी जगद्गुरुकी वात्सल्यमयी हितैषितासे छलकता हुआ हमारी परमार्थ-जिज्ञासाको तृप्तकर रहा है।

सद्गुरुकी अनुभवक्षमता ही इस वाणीके प्राण है। सरल-सरस-सुगम भाषाशैलीमें सांसारिक-व्यावहारिक जीवनके सन्दर्भोंके साथ संगतिपूर्वक व्याख्यानकी अभूतपूर्व शैली श्रोताओं-जिज्ञासुओंके लिए तो वरदान है ही, गीताके अनेक प्रवक्ताओंके लिए भी यह एक उपलब्धि है।

जिज्ञासु श्रोता-साधकोंके हृदयमें गीता श्रवणके बाद सद्गुरुमें दृढ़ श्रद्धा-निष्ठाको अचल कर देनेपर ही स्वाभाविक उद्गार निकल सकते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—गीता 18.73

अर्जुनकी इस मानसयात्राके सहयात्री होनेका सौभाग्य ऐसे कृपालु सद्गुरुकी हितवाणीसे ही सम्भव है, गन्तव्य-दर्शनकी प्रतीति व्यवहार और परमार्थ दोनों क्षेत्रोंमें क्षमता प्रदान करती है ऐसी भगवद्वाणी।

परमपूज्य महाराजश्रीके इन प्रवचनोंके श्रवण-लेखन-संकलनका सद्भाग्य स्वयंमें हितैषी सद्गुरुकी परम वात्सल्यमयी कृपाका आनन्दप्रद अनुभव है जिसके लिए शाब्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन भी अधूरा है। हमें वही योग्यता और वही अन्तर्दृष्टि देनेवाले सद्गुरुके प्रति ऋणको स्वीकार करनेमें ही हमारी सार्थकता है, क्योंकि इस ऋणको चुकानेका दृष्टान्त वैदिक-साहित्यके इतिहासमें कहीं नहीं है। **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।**

परमपूज्य महन्तजीकी कृपादृष्टि होनेसे, परमपूज्य बाबाजी और परमपूज्य स्वामी गोविन्दानन्दजीके सहयोगसे सेवाका जो लाभ मिला, उसके लिए उनको सादर सप्रेम प्रणाम, हार्दिक धन्यवाद!

गुरुपूर्णिमा —**श्रीनारायणी**
24 जुलाई 2002 वृन्दावन

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण	ix
सांख्ययोग मूल श्लोक	x
उपोद्घात	1
श्लोक : एक	9
दो	15
तीन	27
चार	32
पाँच	35
छ:	39
सात	44
आठ	56
नौ	58
दस	63
ग्यारह	65
बारह	71
तेरह	73
चौदह	77
पन्द्रह	86
सोलह	99
सत्रह	111
प्रवचन : अट्ठारह	119
उन्नीस	126
बीस	146
इक्कीस	161
बाईस	178
तेईस	195
चौबीस	212
पच्चीस	229
छब्बीस	245
प्रवचन : सत्ताईस	255
अट्ठाईस	279
उनतीस	289
तीस	308
इकतीस	323
बत्तीस	336
तैत्तीस	351
चौतीस	368
पैंतीस	385
छत्तीस	402
सैंतीस	419
अड़तीस	436
उनतालीस	451
चालीस	468
इकतालीस	485
बयालीस	501
तिरालीस	507
चौवालीस	524
पैतालीस	535
छियालीस	549
सैंतालीस	566
अड़तालीस	584
उनचास	600
पचास	617
इक्यावन	634
बावन	645
तिरपन	662
चौवन	678
पचपन	693

सांख्ययोग

(प्रवचन)

मंगलाचरण

विश्वं दर्पण दृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं,
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं,
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीं,
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

★

सांख्ययोग

(श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयोऽध्यायः)

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ 1 ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ 2 ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 3 ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ 4 ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रतिग्धान्॥ 5 ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयोयद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ 6 ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 7 ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 8 ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं वभूव ह॥ 9 ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ 10 ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ 11 ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ 12 ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13 ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ 14 ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 15 ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16 ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ 17 ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ 18 ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ 19 ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ 20 ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ 21 ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ 22॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ 23॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ 24॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ 25॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ 26॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 27॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 28॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ 29॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 30॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ 31॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ 32॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ 33॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ 34॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ 35॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ 36॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ 37॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 38॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ 39॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ 40॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 41॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ 42॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 43॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 44॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ 45॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 46॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 47॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 48॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ 49॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ 50॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ 51॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 52॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 53॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ 54॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 55॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ 56 ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 57 ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58 ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ 59 ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ 60 ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 61 ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62 ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63 ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ 64 ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ 65 ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ 66 ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ 67 ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 68॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ 69॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 70॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 71॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ 72॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

श्रीहरिः

उपोद्घात

श्रीमद्भगवद्गीताका स्वरूप क्या है? हम लोग 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' यह पुष्पिका गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पढ़ते हैं। इसका अर्थ है—श्रीभगवान्‌के द्वारा गान की गयी बहुत-सी उपनिषदें। उपनिषद्=ज्ञान अनादि है, क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्ति भी ज्ञानसे ही सिद्ध होती है। यही ज्ञान वृत्त्यारूढ होनेपर अविद्या निवर्तक, दुःख-शोकादि विनाशक अर्थात् मोक्षप्रापक होता है। ऐसे पूर्ण-पुरातन ज्ञानका उद्घोषक, प्राचीन संगीतका गायक यदि कोई निपुण व्यक्ति हो तो उसमें और भी अधिक माधुर्य एवं आकर्षण आ जाता है। गीतामें जो उपनिषदें हैं, वे हैं तो अनादि, किन्तु उन्हें समस्त लोक कलाओंके आदि गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गाया, इसलिये उनमें अधिक महत्त्व आ गया। श्रीकृष्णके द्वारा गाये गये गीताके प्रत्येक श्लोक उपनिषद् हैं।

उपनिषद् वेदका शिरोभाग है। आत्मा परमात्माकी ऐक्य बोधक उपनिषदोंको ही वेदान्त या ब्रह्मविद्या कहते हैं।

'**तत्त्वमसि**' यह उपनिषद्‌का एक महावाक्य है। 'तत्' पदार्थ, 'त्वं' पदार्थ और 'असि' पदार्थको समझानेके लिये उपनिषद्‌में और भी अनेक वाक्य हैं। उनमें 'असि पदके द्वारा लक्षित 'तत् त्वं' की एकताका बोधक अंश उपनिषद्‌का मुख्य अंश है। शेष वाक्य, '**तत्त्वमसि**' '**अयमात्मा ब्रह्म**', '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' और '**अहं ब्रह्म**' इन चार महावाक्योंका तात्पर्य समझाने वाले, सहकारी वाक्य हैं। उपनिषद्‌में जीव, जगत्, माया आदि विषयोंका प्रतिपादन सहकारी वाक्योंके अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

'**नेति नेति**' कहकर तत्त्वसे अन्यका निषेध किया गया है। वह अन्य क्या है? इसके उत्तरमें ही जगत्, जीव, माया या देहेन्द्रियादि प्रपंचका वर्णन किया गया है। ये विषय भी महावाक्योंका अर्थ स्पष्ट करनेवाले सहकारी वाक्योंके रूप ही समझना चाहिये। स्थापत्यवेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि उपवेद एवं समस्त शास्त्र भी ब्रह्मात्मैकत्व बोधक महावाक्यके सहकारी वाक्य ही हैं। मल-दोषकी निवृत्तिके लिये कर्मशास्त्र, विक्षेप दोषकी निवृत्तिके लिये उपासना शास्त्रके सदृश ही अन्यान्य शास्त्रोंकी भी

तत्त्वानुभूतिमें क्रमिक उपयोगिता है। किन्तु स्थापत्यादि उपवेद एवं अन्य शास्त्रोंकी तरह गीताकी गणना क्रमिक उपयोगी शास्त्रोंमें नहीं समझनी चाहिए। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता—इन तीनोंको आचार्योंने प्रस्थानत्रयीके रूपमें स्वीकार किया है। यह तीनों ही एक कोटिके शास्त्र हैं। केवल तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले योगवासिष्ठ जैसे प्रमेय प्रधान ग्रन्थ हैं और साधन प्रक्रियाके निरूपणके साथ सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले पंचदशी आदि प्रकरण ग्रन्थ हैं। इनमें शास्त्रके किसी एक अंशको ही प्रधान मानकर विचार किया गया है। यदि ऐसा कहें कि गीतामें केवल कर्म, भक्ति या ज्ञानका ही प्रतिपादन है तो यह उसको प्रकरण ग्रन्थ बताना हो जायगा। ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। कर्म, उपासना, ज्ञान किसी भी वस्तुको समझने, समझाने अथवा सिद्ध करनेके लिये सभी आचार्य श्रीकृष्ण वचन गीताको प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। गीता प्रमाण ग्रन्थ है।

'**अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्**' कहकर गीताको माँके रूपमें स्मरण किया गया है, और '**गीता मे हृदयं पार्थ**' के द्वारा भगवान्ने गीताको अपना हृदय भी कहा है। हृदयस्थ स्नेह मूर्तिमान् होकर माताके रूपमें ही तो प्रकट होता है। पुत्रके पोषण, संरक्षण, संवर्धनके लिये माँ दुग्धपान कराती है। '**दुग्धं गीतामृतं महत्**' गीता माताका दुग्ध सामान्य नहीं, अमृतमय है। अमृत भी इन्द्रियभोग्य जड़ नहीं, भगवद् रूपसे पान किया जानेवाला भगवद् रूप-चिन्मय अमृत। यह जड़ जगत्की या देवलोककी विनश्वरतासे रहित अमृत है। भगवद् रूप यह चिन्मय अमृत कृतिसाध्य नहीं है, और तो क्या इसके निर्माणमें भगवान्का भी कर्तृत्व नहीं है। '**पार्थाय प्रतिबोधितां**' पार्थसारथि भगवान्ने अर्जुनको गीतामृतका प्रतिबोधन कराया है। भगवान्की यह कृति नहीं है। '**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता**' होकर गीताने श्रीकृष्णचन्द्रको वक्तृता ही प्रदान की है। वेदोंके सदृश गीता भी अपौरुषेय है। इसीसे गीताको उपनिषद् और ब्रह्मविद्या कहा गया है। गीताके रूपमें अनादि सिद्ध अद्वैत ज्ञान ही भगवद् वाणीसे अभिव्यक्त हुआ है।

गीताके प्रतिपाद्य विषयका यहाँ अनुसन्धान कर लेना भी आवश्यक है। कुछ लोगोंका मत है कि गीता मुख्य रूपसे कर्मका निर्देश करती है, तो कुछ गीताको ज्ञानका प्रधान प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं, निर्विवाद क्या है? वस्तुतः गीताके प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण ही हैं, इस बातको समझनेके लिये यहाँ यह प्रश्न

विचारणीय है कि बड़ा कौन है? रथी पार्थ कि पार्थसारथि श्रीकृष्ण! जैसे मोटर ड्रायवरसे बड़ा मोटरका स्वामी, वैसे ही हमेशा सारथिसे बड़ा रथी होता है। परन्तु यहाँ कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें ठीक इसके विपरीत बात है। यहाँ रथी (अर्जुन) बड़ा नहीं, सारथि श्रीकृष्ण बड़े हैं। ऐसा क्यों? इस प्रश्नका उत्तर समझनेके लिये पुनः एक प्रश्न पर विचार करें कि आँख बड़ी है या पैर? आँख ज्ञानात्मक है और पैर कर्मात्मक। बिना ज्ञानके कर्मकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिये कर्मात्मक हस्त-पादादि किसी भी कर्मेन्द्रियकी अपेक्षा ज्ञानात्मक आँख (मनकी आँख या बुद्धिकी आँख) हमेशा ही बड़ी मानी जायगी। पहिले ज्ञान फिर कर्म। प्रस्तुत प्रसंगमें कर्मरत हाथ है अर्जुन और निर्देशक ज्ञान हैं श्रीकृष्ण। हाथमें इन्द्र-अर्जुनका निवास है, बुद्धिमें वासुदेव श्रीकृष्णका, अतएव रथी अर्जुनकी अपेक्षा सारथि कृष्ण यहाँ बड़े हैं।

'**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**' बुद्धिको सारथि समझो, '**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्**' बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म निम्न है, इसलिये, '**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**' बुद्धिकी शरण ग्रहण कर इत्यादि वचन स्पष्ट रूपसे कर्मकी अपेक्षा बुद्धिकी श्रेष्ठताके सूचक हैं। यहाँ पर बुद्धिका अर्थ जड़ बुद्धि नहीं, बुद्धिका अधिष्ठातृचेतन है। जैसे '**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**' कहकर उपनिषद्ने पुच्छरूप अन्नमय कोशमें प्रतिष्ठित ब्रह्मको परिलक्षित कराया है, वैसे ही बुद्धिकी शरणका अर्थ बुद्धिका अधिष्ठाता चेतन तत्त्व समझना चाहिये, वही यहाँ पर सारथि कृष्ण हैं। अब सरलतासे यह बात समझी जा सकती है कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य कर्मात्मक अर्जुन नहीं, ज्ञानात्मक परमात्मा श्रीकृष्ण हैं।

'**शासनात् शास्त्रम्**' विधि-निषेधका अनुशासन करना शास्त्र शब्दकी परिभाषा है। परन्तु इस प्रकारसे गीता 'युद्ध करो या मरो अथवा मारो' रूप विधानात्मक शास्त्र नहीं है। सिद्ध वस्तुतत्त्वका बोध करानेवाला गीताशास्त्र है। गीता, अनुशासनात्मक नहीं शंसनात्मक शास्त्र है-'**शंसनात् शास्त्रम्**'। मीमांसा सिद्धान्त सम्पूर्ण शास्त्रोंका उद्देश्य कर्मपरक ही मानता है-'**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**'। किसी वस्तुका ज्ञान हो गया, परन्तु यदि उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नरूप कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हुई तो ऐसा ज्ञान निरर्थक है-'**आनर्थक्य-मतदर्थानाम्**।' इस प्रकार मीमांसासम्मत कर्मका अंग बननेपर जिस ज्ञानकी सार्थकता कही गयी, वह आत्मस्वरूपसे भिन्न ज्ञेय वस्तु सम्बन्धी ज्ञान है। परन्तु जो ज्ञान अन्यार्थका नहीं, स्वतः सिद्ध आत्मा-परमात्माकी एकतारूप है,

वह कर्मका अंग नहीं बनता, प्रत्युत कर्म ही इस स्वयं प्रकाश ज्ञानका परम्परासे साधन होकर उपकारक बनता है। गीताकी ब्रह्मात्मैक्यबोधरूप अद्वैतामृतका पान करानेमें ही उपयोगिता है।

इस प्रकार गीताके स्वरूपके सम्बन्धमें इस संक्षिप्त विचारको ध्यानमें रखकर ही हमें आगेके विचारमें प्रवृत्त होना है। गीताका स्वाध्याय करनेके पहले भूमिकाके रूपमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

पहले तो यह समझना है कि गीताके रूपमें जो उत्कृष्ट ज्ञान हमारे समक्ष उपस्थित है, वह कहाँ पर और कैसी परिस्थितिमें प्रकट हुआ है। स्थल है कुरुक्षेत्रका। कौरव पाण्डव दोनों दलोंके सैनिक अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित युद्धके लिये सन्नद्ध हैं और साथ ही घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंकी घरघराहट, शंख-दुन्दुभि-भेरी आदि युद्धवाद्योंकी हृदयविदारक एवं गगनभेदी भयावह ध्वनिसे संकुल रणाङ्गण है। वहाँ जिज्ञासुभावसे स्थित अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे यह गीतोक्त ज्ञान प्राप्त कर रहा है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये युद्धका यह भयानक वातावरण क्या अनुकूल हो सकता है? यह असंदिग्ध है कि यदि मनुष्यको अर्जुनको श्रीकृष्णके सदृश समर्थ गुरुकी प्राप्ति हो जाय तो स्थिति, स्थानकी अनुकूलताके बिना भी उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है।

स्थान एक ही है कुरुक्षेत्र, परन्तु उसको '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**' कहकर दो रूपोंमें विभाजित कर दिया गया है। यह दोनों शब्द यहाँ विशेष्य-विशेषणके रूपमें परम्परासे गृहीत तो हैं ही, साथ ही इनसे विलक्षण दो विरुद्ध स्थितियोंका संकेत भी किया गया है। एक मोर्चा धर्मराज युधिष्ठिरका है, दूसरा अधर्मनिष्ठ दुर्योधनादि कौरवोंका। यद्यपि कुरुवंशी तो युधिष्ठिर भी हैं, फिर भी 'कौरव' नाम दुर्योधनादिमें रूढ हो गया है। दुर्योधनके पक्षमें द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, कर्ण जैसे महापुरुष भी हैं, इसलिये उस पक्षमें अधर्म ही अधर्म और पाण्डवोंके पक्षमें धर्म ही धर्म है, ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं है। धर्म दोनों ओर है। फिर भी एक अन्तर स्पष्ट है, कौरव दुर्योधनादिने धर्मका, जो विदुरके रूपसे उनके बीचमें रहते थे, कोई मूल्य नहीं किया। एक दासकी हैसियतसे ही उसकी वहाँ स्थिति है। और फिर बादमें तो उसका दुर्योधनादिके द्वारा तिरस्कार ही नहीं, सर्वथा बहिष्कार भी कर दिया जाता है।

अब दूसरी ओर पाण्डव पक्षमें देखिये, यहाँ युधिष्ठिर हैं धर्मराज। इस

दलमें धर्म राजा है। उसका पूर्ण अनुशासन काम करता है, धर्मकी प्रेरणासे ही सम्पूर्ण कार्य हो रहे हैं। दोनों दलोंमें इस प्रकारके भेदकी स्थिति स्पष्ट है। वातावरण सत्संगका नहीं, समरका है—'**समवेता युयुत्सवः**' समवेत हैं यानी नित्य सम्बन्धी। एक ही वंश-परम्पराके, नित्य संगठित, एक जगह रहनेवाले फिर भी युद्धके लिये सन्नद्ध! आधिभौतिक जगत्की इस घटनाके सदृश ही यहाँपर अधिदैव और अध्यात्मकी बात भी समझ लेनी चाहिये। हमारे हृदयके अधिकरणमें ही काम, क्रोध, लोभादि वृत्तियाँ हैं और उनकी विरोधी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि वृत्तियाँ भी हैं। दोनों ही एकाधिकरणमें समवेत हैं। दोनोंका लक्ष्य आत्मदेवकी प्रसन्नता सम्पादन करना है। फिर भी दोनोंमें बराबर पारस्परिक समर चलता रहता है, यह अध्यात्मिक दृष्टिकी बात है। अधिदैव जगत्में देवता और दैत्य-दानव हैं, जो एकभूमिक, एकाधिकरणी, एकोद्देशी होनेपर भी निरन्तर युयुत्सु रहते हैं। अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवकी इन तीनों ही घटनाओंमें एक विशेष बात समझनेकी यह है कि इनमें दुर्योधनादि कौरव, काम-क्रोधादि वृत्तियाँ तथा दैत्य-दानव अविद्याके सहायक और भेदके पोषक हैं। इनके विरुद्ध युधिष्ठिरादि पाण्डव पक्ष, अहिंसादि वृत्तियाँ एवं देवता विद्याके पोषक हैं तथा जीवन अथवा समाजमें ऐक्य स्थापित करनेवाले हैं।

महाभारतके प्रधान पात्र संजय, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, अर्जुन और दुर्योधनादिके सम्बन्धमें कुछ और भी स्पष्ट समझ लेना है। महाभारत युद्धका वर्णन धृतराष्ट्रके प्रति संजय करते हैं। 'संजय'—जिसने अपनी इन्द्रियोंपर, मन-बुद्धिपर सम्यक् जय-संयम प्राप्त कर लिया है। संजयको दिव्यदृष्टि प्राप्त है। राजमहलमें बैठे ही बैठे वे सुदूर कुरुक्षेत्रकी सम्पूर्ण घटनाओंको देख रहे हैं। यह दृष्टि धृतराष्ट्रको नहीं मिली। संजय आचार्यवान् हैं। महर्षि व्यासके प्रसादसे उनको दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई है '**व्यास प्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्**'। किन्तु धृतराष्ट्रके जीवनमें उचित ढंगसे किसी आचार्यकी प्राप्ति नहीं होने पायी है, इसलिये न केवल संजयके समान धृतराष्ट्रको दिव्यदृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई, अपितु उनकी बुद्धि भी आचारवर्जित है। '**आचार्यवान्पुरुषोवेद**' गुरु-अनुवर्ती एवं आचार्यनिष्ठ व्यक्ति ही दिव्यशक्ति प्राप्त करनेका अधिकारी है।

धृतराष्ट्र अन्धे हैं, आँखोंसे ही नहीं, ज्ञान-दृष्टिसे भी। अन्धत्वका प्रधान कारण बुद्धि-राहित्य है। '**धृतं राष्ट्रं येन**' वे राज्यको पकड़कर बैठ गये हैं। करणोपाधि (देहेन्द्रियादि)को 'मैं' एवं विषयोंको 'मेरा' मान बैठना अन्धापन

है। धृतराष्ट्रको कुछ सूझता ही न हो, ऐसा नहीं है। अपने बेटोंकी भलाई-पक्षपात और अपने राजपदके संरक्षणकी बहुत बातें उन्हें सूझती हैं। किन्तु जब कोई पाण्डवोंकी भलाई अथवा परमार्थका प्रसंग उपस्थित होता है, तब उनकी बुद्धि कुछ भी सही निर्णय नहीं कर पाती। अहंता-ममतासे ग्रस्त हैं धृतराष्ट्र। 'मैं' और 'मेरा'के रूपमें जो कुछ भी व्यवहार चल रहा है, वह सबका सब ईश्वरमें अध्यस्त और ईश्वरसे ही प्रकाशित है, इस सत्यको वह नहीं जानते। धृतराष्ट्रका यह अज्ञान और पक्षपात उनके प्रश्नके रूपमें गीताके प्रथम श्लोकमें ही प्रकट हो गया है। संजयसे उन्होंने पूछा—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥

'हे संजय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्र मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?'

मामकाः दुर्योधनादयः और पाण्डवाः युधिष्ठिरादयः, इस प्रकार पृथक्-पृथक् कहकर धृतराष्ट्रने, दुर्योधनादिके प्रति अपनेपन तथा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादिके प्रति परायेपनकी भेदभावना स्पष्ट रूपसे प्रकट कर दी है। युधिष्ठिरादिमें इस प्रकारकी भेदबुद्धि नहीं हैं; क्योंकि वे पाण्डव हैं। 'पण्डा' अर्थात् सदसद्विवेकिनी बुद्धि, उससे जो युक्त हों उन्हींको पाण्डव कहते हैं। पण्डित शब्दका भी वही भाव है। सिख सम्प्रदायमें ग्रन्थीको पण्डित कहते हैं। पण्डित निर्ग्रन्थको पण्डित माना जाता है, किन्तु गीतामें पण्डितकी परिभाषा इन सबसे भिन्न है—'**नानु शोचन्ति पण्डिताः**' पण्डित (आत्मज्ञानी) शोक नहीं करते। '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः**' ज्ञानकी आगसे जिसके सम्पूर्ण कर्म जल चुके हैं, उसको पण्डित कहते हैं, '**पण्डिताः समदर्शिनः**'—जो समदर्शी हैं वे पण्डित हैं!

गीताकी इस परिभाषाके अनुसार यह स्पष्ट है जो अपने-आपको, कर्मकी दृष्टिसे पापी-पुण्यात्मा, भोगकी दृष्टिसे सुखी-दुःखी, वस्तुकी दृष्टिसे स्वर्ग-नरकादि लोक-लोकान्तरोंमें जाने-आनेवाला, जन्मने-मरनेवाला और 'अहं-मम' की दृष्टिसे परिच्छिन्न जीव मानता है, वह पण्डित नहीं है। पाण्डव इन चारों ही अभिमानोंसे ग्रस्त नहीं हैं। उनमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि है। उसी पण्डितके अनुकूल उनकी प्रवृत्ति है, अहंता-ममतासे अभिभूत धृतराष्ट्रके समान वे विषमदर्शी नहीं, समदर्शी हैं। पाण्डवोंका यह स्वरूप ध्यानमें रखने योग्य है।

थोड़ा, अर्जुन एवं दुर्योधनको भी और समझ लें। अर्जुन नर है, श्रीकृष्ण नारायण। श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथि हैं। महाभारतमें दो ही सारथि प्रसिद्ध हैं। पार्थसारथि श्रीकृष्ण, और दूसरा कर्णसारथि शल्य। विषदग्ध बाणके अग्रभागको शल्य कहते हैं। शल्य जिसके हृदयमें घुस गया है अथवा जीवन-रथपर जो बैठ गया है उसको पीड़ा और पराजय प्राप्त होगी। बाहरसे आकर कर्णके हृदयमें एक शल्य बैठा है, वह यह कि 'अर्जुनको किस प्रकार नीचा दिखाऊँ।' इस प्रकारकी ईर्ष्या, स्पर्धा और वैमनस्यरूप शल्यके द्वारा ही तो कर्णका जीवन-रथ संचालित है। इसीलिये उसको जीवनमें असफलता भोगनी पड़ी। दूसरी ओर अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ज्ञानात्मक हैं—निश्चयात्मिका वृत्तिसे उपहित चेतन। श्रीकृष्ण किसी बहिर्देशसे आकर जीवन-रथपर आरूढ नहीं हो गये हैं, प्रत्युत भीतर ही स्थित हैं। वेदान्तकी भाषामें श्रीकृष्ण निश्चयात्मिका-वृत्ति-उपहित चेतन हैं तो अर्जुन शोक-मोह-युक्त जिज्ञासा-वृत्ति-उपहित चेतन है। उपाधिको अलग कर दें तो दोनों एक ही हैं।

इस विचारमें यह बात भली भाँति समझ लेनेकी है कि अपने रथका सारथि किसको बनाना है, शल्य जैसे किसी नरको, या नारायणको? यह शरीर भी एक रथ है, इसमें जीव रथी और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। मान लीजिये, एक व्यक्ति किसीको लाठी लेकर मारने दौड़ा, पाँवके घोड़ोंसे। इस स्थितिमें सारथि क्रोध बना हुआ है। हमारा शरीर-रथ कभी क्रोध-सारथिके द्वारा तो कभी काम अथवा लोभ-सारथिके द्वारा दौड़ रहा है वासनाके पथपर। क्या इस पद्धतिसे उत्कर्षकी आशा की जा सकती है? पदे-पदे पराजित हो-होकर भले दौड़ते ही रहें, वासनाका मार्ग कभी तय नहीं होगा। हाँ, जहाँ नारायण सारथि हैं, वहाँ जय ही जय है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

'जहाँ योगेश्वर भगवान् कृष्ण हैं तथा जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है।'

'हमारे सखा नारायण जहाँ ले जायेंगे वहीं चलेंगे'—अर्जुनके जीवनकी यही स्थिति है। '**करिष्ये वचनं तव**' कहकर नर अर्जुनने नारायणके प्रति पूर्ण निर्भरता प्रकट की है।

इस सम्बन्धमें महाभारतका यह महत्त्वपूर्ण प्रसंग ध्यान देने योग्य है।

युद्धके पूर्व, अर्जुनके सामने एक बहुत बड़ा प्रलोभन आया—एक अक्षौहिणी शक्ति सम्पन्न सेना या निहत्थे श्रीकृष्ण, दो में से किसी एकका चुनाव करना था। एक ओर शक्ति थी तो दूसरी ओर ज्ञान। अथवा एक ओर माया थी, तो दूसरी ओर बुद्ध्युपहितचेतन-ज्ञानात्मक सर्वज्ञ श्रीकृष्ण। जहाँ अर्जुनने कहा—'मैं वैभव अथवा शक्ति नहीं चाहता, मुझे तो ज्ञान चाहिये', वहाँ दुर्योधन उस एक अक्षौहिणीरूप माया शक्तिको लेकर खुश हो गया और अर्जुनने श्रीकृष्णका वरण कर लिया। यह अर्जुन और दुर्योधन दोनोंके दृष्टिकोणका अन्तर है।

युद्ध हुआ, परन्तु प्रारम्भ किसने किया? यद्यपि दुर्योधनादिने पाण्डवोंका सर्वस्व अपहरण कर लिया था, इसलिये यह उचित प्रतीत होता है कि पहले युद्ध पाण्डवोंकी ओरसे ही छेड़ दिया जाता; किन्तु ऐसा नहीं हुआ, युद्धका प्रारम्भ दुर्योधनने ही किया। फिर भी, अर्जुनने युद्ध छेड़ देनेकी कोई आतुरता नहीं दिखलायी। उसने कहा—'**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत**'। 'अच्युत! आप मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दीजिये। पहले मध्यस्थकी हैसियतसे मैं निरीक्षण कर लूँ, फिर निर्णय करूँगा कि लड़ूँ या नहीं।'

अर्जुन और दुर्योधनके युद्ध लड़नेका उद्देश्य भी पृथक्-पृथक् है। दुर्योधन अपने दलके विशिष्ट-विशिष्ट योद्धाओंका संकेत करते हुए साफ कहता है—'**मदर्थे त्यक्तजीविताः**' 'ये सब मेरे लिए लड़ रहे हैं।' परन्तु ठीक इसके विपरीत—'**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च**' 'हमें जिनके लिये राज्य भोग और सुख आदि इष्ट हैं' इत्यादि कहकर अर्जुनने युद्ध करनेमें अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रकट किया है कि मैं अपने लिये नहीं, दूसरोंके लिये, समाज या राष्ट्रके शोषण अथवा विघटनके लिये नहीं, पोषण-संवर्धनके लिये युद्धमें प्रवृत्त होना चाहता हूँ। व्यक्तिगत स्वार्थकी दृष्टिसे तो अर्जुन त्रैलोक्य तकके वैभवसे विरत है—'**अपि त्रैलोक्य राजस्य हेतोः किं नु महीकृते**'। अर्जुनमें विवेक, वैराग्य शम, दम आदि साधन षट्सम्पत्ति है। दुर्योधन आसुरी सम्पत्तिसे आक्रान्त है। अर्जुन दैवी सम्पत्तिमें ही जन्मा है—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।**' 'हे अर्जुन! शोक मत कर, तू तो दैवी सम्पत्तिको लेकर ही जन्मा है।' दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न होनेका यह प्रमाणपत्र अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ही प्राप्त है। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें उत्तम अधिकारसम्पन्न श्रेष्ठ जिज्ञासुके रूपमें ही अर्जुन भगवान्‌के समक्ष कार्पण्य भावसे उपस्थित है, ऐसी ही स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारा गीताके रूपमें अर्जुनके प्रति दिव्य ज्ञानका अवतरण हुआ। ●

श्रीहरिः

सांख्य योग

: 1 :

(श्रीमद्भगवद्गीताका द्वितीय अध्याय)

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ 1 ॥

संजयने कहा—'बुद्धिमें वैसी कृपाका आवेश, नेत्रोंमें अश्रुपूर्ण व्याकुलता और वचनोंमें विलाप, विषादसे युक्त अर्जुनको भगवान् मधुसूदनने यह अवसरोचित बात कही।'

रणभूणिमें अपने सगे-सम्बन्धियों और पूज्य गुरुजनोंको युद्धके लिए तत्पर देखकर अर्जुनके चित्तमें शोक मोहका आवेश आ गया था। अतः विह्वल होकर उसने धनुषबाणका परित्याग कर दिया और युद्धसे विरत होकर बैठ गया—यह बात प्रथम अध्यायके अन्तिम श्लोकमें संजयने ही कही है, अर्थात् अभी संजयके बोलनेका ही प्रसंग चल रहा है फिर भी, द्वितीय अध्यायको प्रारम्भ करते हुए 'संजय उवाच'-संजय बोले, यह कहनेमें एक विशेष अभिप्राय है।

महाभारतकी गम्भीरतामें प्रवेश करने पर हमें महर्षि व्यासके प्रतिपादनकी एक विशेष शैलीका दर्शन होता है। पहले वे किसी बातका 'समास पद्धति' यानी संक्षेपमें वर्णन कर देते हैं; फिर, यदि सुनने वाला व्यक्ति पुनः उस बातको विस्तारसे सुनने-समझनेकी उत्सुकता प्रकट करता है तो वे उसी विषयका विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं। विषयके विस्तारकी इस प्रणालीको 'व्यास पद्धति' कहते हैं।

दोनों सेनाओंके बीचमें स्थित अर्जुनकी मनःस्थितिका संक्षिप्त वर्णन करके संजयने प्रथम अध्यायका उपसंहार कर दिया; परन्तु धृतराष्ट्रको उतनेसे

ही संतोष नहीं हुआ। विस्तारसे सुनने-समझनेकी उनकी उत्सुकता एवं जिज्ञासाके भावको देखकर पुन: उसी प्रसंगको 'व्यास पद्धति' से बतानेके लिये संजय प्रवृत्त हुए—इसी अभिप्रायसे 'संजय उवाच' फिरसे कहा गया है।

'**तथा**' शब्दके साथ 'यथा'का सम्बन्ध जुड़ता है। 'तथा' अर्थात् जैसे और 'यथा' अर्थात् वैसे। अतएव अर्थकी संगति समझनी चाहिये कि अर्जुन इस प्रकारकी कृपासे कातर हो गया था। जैसा कि पूर्वाध्यायमें बताया गया है—अर्जुनके कहनेपर श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ-स्थापन किया। वहाँका अकल्पित दृश्य विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे अर्जुन देखता ही रह गया। 'जिनसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की, जिनकी सुख-सुविधा और काम-आरामके उद्योगमें निरन्तर रत रहे, विधिवत् श्रद्धानत होकर जिनके चरणोंकी पूजा-अर्चनामें संलग्न रहे, वही सब पूज्य भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन तथा स्वजन-परिजन युद्धके लिये संगठित होकर तत्पर हैं, उन्हींके विरुद्ध मुझे युद्ध लड़ना है, उन्हींके ऊपर मुझे आक्रमण और अस्त्रक्षेप करना है'—ऐसी क्रूर कल्पना करते ही अर्जुन काँप उठा। कृपाके आवेशसे वह खिन्न हो गया। 'तथा' शब्दसे प्रथम अध्यायमें कही गयी अर्जुनकी इसी स्थितिका संकेत किया गया है।

'**कृपयाविष्टं**' कृपा, कृपाण, कार्पण्य—तीनोंकी मूल प्रकृति एक ही है। कृपा-सत्त्वगुण, कृपाण-रजोगुण, और कार्पण्य—तमोगुणसे सम्बन्धित है। संजयने कहा कि अर्जुन कृपाके आवेशसे युक्त थे; परन्तु स्वयं अर्जुनने अपनी इस स्थितिको भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख (आगे इसी अध्यायमें) कार्पण्य दोषके रूपमें स्वीकार किया है। जिसको अर्जुन तमोगुणी भाव (कार्पण्य) स्वीकार करे उसीको संजय '**कृपयाविष्टं**' सत्त्वगुणी कृपाके रूपमें देखें, यह भेद क्यों? इसमें दोनोंका अपना-अपना सौजन्य ही प्रकट हुआ है। कोई कृपायुक्त व्यक्ति स्वयंको 'मैं कृपावान् हूँ' ऐसा अनुभव करता है, तो यह अभिमानकी बात हो जायगी। अभिमान मनुष्यको सत्त्वगुणसे रजोगुणमें उतार देता है। अतएव कार्पण्यदोषसे युक्त कहकर अर्जुन स्वयंको लघुरूपमें अनुभव करे—यह उसका सौजन्य है। संजय महापुरुष हैं, वे किसीके दोष-दर्शनमें प्रवृत्त नहीं होते, '*संत हंस गुन गहहिं*'। दोष-दर्शन दोषोंसे तादात्म्यापन्न होकर ही होता है। किसी भी विषयके प्रकाशनमें पहले अन्त:करणकी वृत्ति तदाकार होती है और फिर तभी उसे प्रकाशित करती है। इसका क्रम यों है कि पहले नेत्रवृत्ति विषयदेशमें पहुँचती है,

फिर प्रमात्र्यवच्छिन्न चेतन और प्रमेयावच्छिन्न चेतनकी एकता होती है, तब वह विषय प्रकाशित होता है। किसीके भी दोषका दर्शन तभी सम्भव है जब देखनेवाला स्वयं उस दोषके साथ तादात्म्यापन्न हो। दोषरूप होकर ही दोष देखा जाता है। मायारचित इस दृश्य प्रपंचमें गुण-दोषसे रहित कोई वस्तु नहीं। अशुद्ध चित्तवाले मनुष्यको जो वस्तु दोषयुक्त प्रतीत होती है, वही एक शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषको गुणयुक्त दीखती है। महात्मा संजय अर्जुनको, तमोमय कार्पण्यभावसे आवृत होनेपर गुणयुक्त दीखती है। महात्मा संजय अर्जुनको, तमोमय कार्पण्यभावसे आवृत होनेपर भी—'**कृपयाविष्टं**' सत्त्वगुणी कृपासे युक्त देखें, इसमें उनका सौजन्य ही प्रकट हुआ है। वास्तवमें तो श्रीकृष्ण-अर्जुन एक ही हैं। श्रीकृष्णकी निश्चय वृत्तिकी एवं अर्जुनकी जिज्ञासावृत्तिकी उपाधिसे ही दोनोंमें पार्थक्य है, वस्तुतः नहीं। शतपथ-ब्राह्मणकी एक श्रुतिने बताया—'**अहस्तु कृष्णं अहरर्जुनं च**' अर्थात् श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही दिवस रूप हैं। दिवस तमका विरोधी है—'**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**' दिवस और सूर्य प्रकाश अथवा ज्ञानके प्रतीक हैं। कृष्णार्जुन दिवस रूप हैं अर्थात् प्रकाशमय ज्ञान स्वरूप हैं! अर्जुनमें ऋजुता-सरलता-सीधेपनका भाव है। संजय उसके इसी शुद्ध रूपमें देखकर मानो कहते हैं कि अर्जुनको कृपाका आवेश आ गया। आवेशके अनेक भेद हैं—काम-आवेश, क्रोध-आवेश, लोभ-आवेश, प्रेमियोंका प्रेमावेश अथवा भूत-प्रेतका आवेश। किसी भी प्रकारके आवेशका जब चित्तमें प्रवेश होता है, तब मनुष्य अपना विवेक खो देता है। आवेश पूज्य गुरुजनोंका तिरस्कार करवा देता है, औचित्य-अनौचित्यके समीचीन निर्णयकी क्षमता खो देता है। आवेशमें आकर मनुष्य धर्मका परित्याग कर बैठता है।

यों तो अर्जुन गाण्डीव धनुष लेकर युद्धकी इच्छासे ही रणक्षेत्रमें पहुँचे थे—'**कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे**' इस रण-उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है, उनको देखनेकी आकांक्षामें अर्जुनने स्पष्ट रूपसे युद्ध करनेकी उत्सुकता प्रकट की है, परन्तु वहाँ जब अपने ही सुदृढ़ वर्गको लड़नेके लिये तत्पर देखा तब कृपाके आवेशमें भरकर अर्जुन युद्धसे पराङ्मुख होकर क्षात्रधर्मका परित्याग करनेके लिये तत्पर हो गया। कदाचित् किसी न्याधीशके सामने, उसके अपराधी पुत्रको उपस्थित किया जाय और न्यायधीश मोहवश उसे दण्डित न करे तो क्या यह न्याय्य होगा? न्यायाधीशकी इससे बढ़कर कर्तव्यविमुखता एवं न्याय

मन्दिरकी अवज्ञा दूसरी नहीं हो सकती कि वह शोक-मोहके वशीभूत होकर अपने अपराधी पुत्रको दण्डित न करें। 'युद्धमें अपने बन्धु-बान्धवोंका मैं वध नहीं करूँगा'-अर्जुनका यह अहिंसात्मक विचार धर्ममूलक अथवा न्यायमूलक नहीं था, आवेश एवं मोहमूलक था और अपने इसी भ्रामक विचारके च्युत होना था, '**धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।**' प्रणव धनु, जीवबाण, और जिसको वेधना है वह ब्रह्मतत्त्व ही लक्ष्य है। 'धनुष-बाण' साधनाके प्रतीक हैं, उनका परित्याग साधनका परित्याग है अथवा सत्यसे विमुख होना है। साधन ही नहीं रहा तो लक्ष्य-वेध कैसे होगा? जब प्रारब्ध उदय होगा तब साध्य प्राप्त हो जायगा, ऐसा सोचकर पुरुषकाररूप साधन छोड़ देना और प्रारब्धके भरोसे बैठ रहना उचित नहीं है। पुरुषकारके बिना प्रारब्धका अस्तित्व ही नहीं है। पुरुषकार ही प्रारब्धका निर्माण करता है, इसलिये व्यक्तिको पुरुषकारनिष्ठ बनना चाहिये। ईश्वर कृपा करके स्वयं प्राप्त होगा—इस भावनासे साधनका परित्याग उचित नहीं है। भगवत्कृपाका अवतरण साधननिष्ठापर ही होता है। यद्यपि यह सिद्धान्त सर्वथा असंदिग्ध है कि भगवान्‌की प्राप्ति उनकी कृपासे ही होती है, साधककी आत्मचेष्टारूप साधना, वह चाहे कितनी ही तीव्र क्यों न हो, भगवान्‌को बाँधनेके लिये पर्याप्त नहीं होती। '**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**' जिसका वे स्वयमेव वरण करते हैं उसीको प्राप्त होते हैं और उनकी कृपा, किसी प्रकारके हेतुकी अपेक्षा किये बिना ही, सब पर समान भावसे, सर्वथा बरस ही रही है। परन्तु साधकोंके मनमें प्रायः ऐसी भ्रान्त धारणा स्वभावतः बनी ही रहती है कि बिना अपनी साधना और अध्यवसायके सफलता नहीं मिल सकती। साधकके चित्तसे ऐसी धारणाका निरसन नितान्त अनिवार्य है। साधकके अपने बलपर विश्वासकी भ्रामक धारणाका निवारण भी तभी हो पाता है जब वह एक बार दृढ़तापूर्वक तीव्र साधना करके थक जाता है और निराश होकर गिर पड़ता है। नित्य प्राप्त भगवत्कृपा अप्राप्त न बनी रहे, इसके लिये परमार्थ पथके पथिकको अत्यन्त जागरूक रहनेकी आवश्यकता है। साधनाका उद्देश्य सिर्फ सजगता है। साधना साधकको सजग रखती है। साधन-संलग्न सजग साधक ही भगवत्कृपाको पकड़नेमें समर्थ होता और उसका उपयोग करके कृतकृत्य हो जाता है। मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वह साधनानिष्ठ होकर लक्ष्यका अनुसन्धान करे। परन्तु अर्जुन धनुष-बाण छोड़नेके रूपमें साधनाका ही परित्याग करके परमार्थसे पराङ्मुख होनेके लिये

तत्पर हो गया। शोक-मोह-मूलक कृपाके आवेशने उसकी विचित्र स्थिति कर दी। जैसे मृत्युकालमें शरीरके सारे बन्ध टूटने लगते हैं, ठीक वैसे आज अर्जुनके शरीरबंध शिथिल पड़ने लगे, उसका मुख सूख गया, हाथ-पाँव काँपने लगे, रोमाञ्च हो आया, सन्निपात ज्वरके तीव्र तापसे संतप्त होकर वह गिरा ही पड़ता था। इतना ही नहीं, '**अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**' व्याकुल होकर डबडबायी आँखोंसे वह रो भी पड़ा। इस प्रकार मनमें कृपाका आवेश, नेत्रोंमें, आँसू, साथ·ही क्रियाकी दृष्टिसे नेत्रोंमें चांचल्य, वाणीमें विषाद और विलाप आदिके द्वारा शोक-मोहपरवश अर्जुन अपनी सम्पूर्ण मनोव्यथा भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख खड़ा होकर प्रकट कर रहा था।

'**विषीदन्तं**'—सामान्यत: नियम तो यह है कि अपनी मनोव्यथा प्रकट नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सुनकर दु:ख निवारण करना तो दूर रहा, उलटा उपहास ही लोग करते हैं—

रहिमन निज मनकी व्यथा मन ही राखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब बाँटि न लैहै कोय॥
ऐसा कोई ना मिला जासों कहौं निसंक।
जासों हिरदे की कहौं सोई पुनि मारै डंक॥

यदि कदाचित् श्रीभगवान् या श्रीगुरुदेव सामने उपस्थित हों और अपनी मनोदशा उन्हें न दर्शायी जाय तो यह उचित नहीं है। विषाद तभी तक विषाद है जबतक उसका सम्बन्ध किसी संसारी वस्तुसे जुड़ा हुआ है। भगवान्के समक्ष प्रकट होते ही या उनसे उसका सम्बन्ध जुड़ते ही वह योगरूप हो जाता है। अन्य किसी शास्त्रने विषादको योगकी उपाधिसे विभूषित नहीं किया। यह श्रीमद्भगवद्गीताकी अपूर्वता है कि उसमें अर्जुनके विषादका वर्णन करनेवाले अध्यायको 'विषाद योग' नाम दिया गया है—'**विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्याय:**।' अर्जुनका यह विषाद योगरूप इसीलिये हो सका कि इसको अर्जुनने प्रकट करके भगवान्के साथ जोड़ दिया है।

अर्जुनकी विषादग्रस्त स्थिति देखकर भगवान् बोले—'**विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन:**'। यद्यपि-'**मधुसूदन उवाच**' मधुसूदन बोले, इतना ही पर्याप्त था; किन्तु '**मधुसूदन इदं वाक्यं उवाच**' मधुसूदन यह वाक्य बोलेका विशेष अभिप्राय यह है कि जो बोलने योग्य अवसरोचित बात हो सो बोले।

'**मधुसूदनः**'—मधु राक्षसको मारनेवाले होनेके कारण भगवान्का मधुसूदन पराक्रम सूचक नाम है। मधु और कैटभ दो राक्षस थे। दुर्गासप्तशतीमें इनकी उत्पत्ति भगवान्के कानके मैलसे बतायी गयी है—'**विष्णुकर्ण-मलोद्भूतौ।**' मधु राग है, कैटभ द्वेष। यह विराट् परमात्माके कानोंसे उत्पन्न होते हैं। कानोंसे भला-बुरा सुन-सुनकर ही तो राग-द्वेषके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। आश्चर्य तो यह है कि विराट् प्रभुसे उद्भूत हुए, उसीसे लड़नेके लिए तैयार हो गये। राग-द्वेषरूप मधु-कैटभ विश्वात्मा भगवान्के मिलनमें व्यवधान उपस्थित कर देते हैं। राग-द्वेष अभेद (परमात्मा) के भेदक हैं। अपने ही बधका उपाय स्वयं मधु-कैटभने बतलाया—'**आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता**' 'हमारा वध वहाँ करो, जहाँ जलप्लावित पृथिवी न हो।' यह सब एक रूपककी भाषा है। पृथिवी स्थूल द्रव्य और जल रस है।

इस प्रकार पृथिवी और जल, उसमें विद्यमान स्थूल विषय रसासक्तिके प्रतीक हैं। न तो बाहरसे स्थूल विषयका संसर्ग हो और न ही भीतर उनमें आसक्ति रहे, अर्थात् बाह्य त्याग और आन्तर वैराग्य—यही दो उपाय राग-द्वेषकी निवृत्तिके हैं। उपर्युक्त रूपकमें यही तात्पर्य प्रकट किया गया है। वास्तवमें त्याग-वैराग्यकी मूर्ति भगवान् ही हैं। इसलिये पूर्णतः राग-द्वेषकी निवृत्ति उन्हींसे होती है। वे ही मधु (राग), कैटभ (द्वेष)को मारनेवाले मधुसूदन हैं।

राक्षसोंका वध ही जिनका पराक्रम है, वे किसीसे बोलें तो आसुरी शक्तियोंके मारनेकी ही बात तो बोलेंगे। यदि अवसर उपयुक्त हो तो मारने-काटनेका आदेश देनेमें भी कोई संकोच नहीं होता। देहाभिमानी व्यक्ति ही मरने-मारनेको अनुचित समझता है। भगवद्दृष्टिमें शरीर मिटने-बदलनेका कुछ भी सत्त्व महत्त्व नहीं है। यदि कोई शरीर दोष-दुष्कर्मोंके द्वारा नित्य अविनाशी परमात्मासे विमुख कर रहा हो तो साहसपूर्वक उसके नियमन और निवारणका समुचित मार्गदर्शन भगवान् ही करते हैं। विषण्ण अर्जुनके सामने मधुके मारनेवाले मधुसूदन भगवान् बोल रहे हैं। युद्धके द्वारा आसुरी स्वभाववाले आततायियोंके वधकी प्रेरणा अर्जुनको भी उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली है-इसी भावका द्योतन करानेके लिये इस श्लोकमें (मधुसूदन) शब्दका प्रयोग दिया गया है।

●

: 2 :

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ 2 ॥

'हे अर्जुन! इस विषय, देश और कालमें किस कारणसे यह कश्मल तुम्हारे सदृश वीर पुरुषकी बुद्धिमें छा गया है? यह आर्य पुरुषोंके द्वारा सेवित मोक्षका साधन नहीं है। इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती और लोकमें कीर्ति भी नहीं हो सकती।'

संजय धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं कि इसके बाद भगवान्की वाणी है। गीताके विभिन्न स्थलोंपर श्रीकृष्ण, मधुसूदन, योगेश्वर इत्यादि भगवान्के अनेक नामोंका प्रयोग किया गया है। अर्जुनके भी पार्थ, कौन्तेय, धनंजय, परंतप, गुडाकेश आदि नाम व्यवहृत हुए हैं। वे सब यथास्थान साभिप्राय हैं। प्रकृत प्रसंगपर ध्यान दीजिये, प्रथम श्लोकमें कहा गया है कि विषादग्रस्त अर्जुनसे मधुसूदन यह बात बोले—'**विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।**' और ठीक इसके बाद ही दूसरे श्लोकको प्रारम्भ करते हुए 'श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् बोले' कहा। आततायियोंके विनाशकी दृष्टिसे पराक्रमशील मधुसूदनका बोलना ठीक है; किन्तु केवल आततायियोंका वध करना मात्र ही श्रीकृष्णखे उपदेशका प्रयोजन नहीं है, अर्जुनके शोक-मोहकी निवृत्ति मुख्य प्रयोजन है। युद्ध करो, प्राणायाम करो, माला फेरो, अथवा अमुक-अमुक भोग भोग लो, इतना कहने या करानेसे ही अज्ञानमूलक शोक-मोहकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रयोजनकी पूर्ति तत्त्वज्ञानसे होगी।

आत्मज्ञ पुरुष ही शोकसे पार होता है—'**तरति शोकमात्मवित्।**' तत्त्व-साक्षात्कारके लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष और उनके उपदेशकी आवश्यकता है, '**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**' भगवान् यश, ऐश्वर्य, श्री, धर्म, ज्ञान और वैराग्यकी पूर्णताके प्रकट प्रतीक हैं।

प्रज्ञाकी उपाधिसे युक्त परमात्माकी ही संज्ञा भगवान् है। इसलिये अर्जुनके अज्ञानमूलक शोक-मोहकी निवृत्तिके लिये पूर्ण ज्ञानसम्पन्न श्रीभगवान् बोले। पराक्रमकी उपाधिसे युक्त मधुसूदन और प्रज्ञाकी उपाधिसे युक्त भगवान् हैं। ज्ञान और कर्मसे समन्वित उच्चतम जीवनकी प्राप्तिके लिये प्रज्ञा और पराक्रम दोनों ही अपेक्षित हैं। अतएव दोनों अभिप्रायोंकी दृष्टिसे अर्जुनसे 'मधुसूदन बोले' कहकर 'श्रीभगवान् बोले,' भी कहा। माया जिसकी उपाधि है, उस चेतनको ईश्वर कहा जाता है। प्रज्ञा, पराक्रम आदि मायाकी ही वृत्तियाँ हैं। इसलिये कार्य-कारणका अभेद ध्यानमें रखकर ही भगवान्में तत्तद् वृत्तियोंकी उपाधिका अध्यारोप किया गया है।

भगवान् तो सबके हृदयमें रहते हैं—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' और ईश्वरकी तो सब बातें नित्य होती हैं। ईश्वरका बोलना, चलना, ज्ञान आदि सब नित्य है। ईश्वर कभी बोलता है और कभी नहीं बोलता, ऐसी बात नहीं है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

श्वेता. उ. 3.19

वह बिना पैरके चलता है, बिना हाथके पकड़ता है, बिना नेत्रके देखता है, बिना कानके सुनता है; उसकी क्रिया रुकती नहीं—चलती ही रहती है।

यह ईश्वरका सदा बोलना-चलना आदि वेदान्त सिद्धान्तके विपरीत नहीं है। वेदान्तमें नित्य और सत्य इन दोनों शब्दोंका प्रयोग पृथक्-पृथक् अर्थोंमें होता है। सत्य उसे कहते हैं जो कभी बाधित नहीं होता। नित्य अनादि प्रवाहरूपसे प्रतीत होता रहता है; किन्तु तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जाता है। ब्रह्म नित्य है, ईश्वर नित्य है, जगत् नित्य है और जीव भी नित्य है। जिसे तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, उसके लिये तो जगत् नित्य भी है और सत्य भी; किन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर जगत्का सत्यत्व बाधित हो जाता है, उसके सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट जाती है, लेकिन जगत् नहीं मिट जाता। वह तो प्रवाहरूपसे नित्य बना ही रहता है।

ईश्वरका बोलना नित्य है और उसका बोलनेवाला होना भी नित्य है। जबतक प्रपञ्च है, जीव हैं, ईश्वरके भक्त हैं, तबतक ईश्वरका बोलनेवाला होना

भी नित्य है। यहाँ 'जबतक'का अर्थ कालका कोई अंश होना नहीं है। ज्ञानांशमें कालकी स्थिति है-कालांशमें ज्ञानकी स्थिति नहीं है। वेदान्तकी महिमा इसलिये नहीं है कि वह अत्यन्त प्राचीन है, अथवा वह भारतीय तत्त्वज्ञान है, या उसको व्यक्तिविशेषने प्रगट किया जो महान् है। कालके द्वारा, देशके महत्त्वसे या व्यक्तिके महत्त्वसे वेदान्तकी महिमा नहीं है। आत्मा और ब्रह्मके एकत्वका प्रतिपादक सत्य होनेसे वेदान्त महान् है। वेदान्तके प्रकाशसे जाति, देश, काल, व्यक्ति महान् होते हैं। जिस जातिमें, जिस देशमें, जिस समय, जिस व्यक्तिमें वेदान्तका प्रकाश हुआ, वह महान् हो गया।

ईश्वर-सम्बन्धी सब बातें नित्य हैं। ईश्वरकी वाणी सर्व देशमें, सर्व कालमें, सर्व जातिमें, सर्व वस्तुमें गूँज रही है। उसे कोई सुनता है, कोई नहीं सुनता। इसलिये देखना यह चाहिये कि ईश्वरकी वाणी सुन कौन रहा है? शोकग्रस्त अर्जुन जब कह रहा था—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ 1.28-30

उस समय भी भगवान् बोल रहे थे। ईश्वर उस समय मौन नहीं हो गया था। लेकिन अर्जुनके हृदयमें मैल आ गया था, इसलिये वह उस समय ईश्वरकी वाणी सुन नहीं सकता था। उसके हृदयमें ममत्वका मैल आ जानेसे ईश्वरकी वाणीका सुनायी पड़ना बन्द हो गया और अपनी वाणी-मोहकी वाणीको वह अपनी मानने लगा। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे मुक्त होकर, वाणीसे तादात्म्यापन्न होकर अर्जुन मानने लगा कि मैं ही बोल रहा हूँ। इतनी ममता, इतना मोह, इतना शोक बढ़ गया कि वह परा कृपासे आविष्ट हो गया। वाणी तो उस आवेशकी है; किन्तु भ्रमवश उसे अपनी मानने लगा।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्। 1.28

'अर्जुने कृपा नाविष्टा किन्तु कृपयार्जुन आविष्टः'-अर्जुन कृपामें आविष्ट नहीं हुए, कृपा अर्जुनमें आविष्ट हुई। मनुष्य भूतमें आविष्ट नहीं होता, भूतका आवेश मनुष्यमें होता है, इसी प्रकार कृपा ही अर्जुनमें आविष्ट हो गयी।

'श्रीभगवान् बोले'—अर्जुनको भगवान्‌की वाणी सुनायी नहीं पड़ती; किन्तु भगवान् तो बोलते हैं। भगवान् जो चाहते हैं, जिस तत्त्वका साक्षात्कार अर्जुनको करानेकी इच्छा रखकर बोलते हैं कि तुम्हें धर्मानुष्ठान रूप कर्तव्यका पालन करना चाहिये, उसे अभी अर्जुन समझ नहीं पाता है।

चित्त जब वासनारहित होता है, तब भगवान्‌की वाणी सुनायी पड़ती है। इसीको कहते हैं अन्तःकरणकी शुद्धि, जब हृदय वासनाके उपरागसे रहित हो, अपने ज्ञान-चन्द्रपर रागका उपराग न हो। उपराग कहते हैं ग्रहणको। ज्ञान प्रकाशस्वरूप, आनन्दरूप चन्द्र है। उसपर राग-वासनासक्तिसे ग्रहण लग जाता है। तुम्हारे भीतर ज्ञानरूपसे स्वयं भगवान् विराजमान हैं—**'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।'** (7.10)

तुम्हारे हृदयमें बुद्धि बनकर भगवान् बैठे हैं; किन्तु उनकी बात तुम सुनते कहाँ हो? यह पुत्र हैं, यह धन है, यह परिवार है, यह व्यापार है आदिमें आसक्ति करके तुम भगवान्‌की बात कहाँ सुन पाते हो कि ये सब अनित्य हैं। भगवान्‌की वाणी जब कहती है धन, पुत्र, परिवार, शरीरमें आसक्त होना उचित नहीं है, तब तुम कहाँ उसे सुनते हो? जबतक अन्तःकरणमें राग है, भगवान्‌की वाणी सुनायी नहीं पड़ती। सुनायी पड़नेपर भी समझमें नहीं आती। समझमें आनेपर भी मानी नहीं जाती। इसीलिये हम नित्य प्रार्थना करते हैं :—

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो वृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ तैत्ति. उ. 1.1.1

नेत्राधिष्ठातृ देवता मित्र (सूर्य) हमारी दृष्टिको शुद्ध रखें। हम किसीका पाप; किसीकी बुराई न देखें, हमारी दृष्टि शुद्धता ही देखे। हमारे हृदयमें मित्रभाव रहे। रसके अधिष्ठातृ देवता वरुण हमारे रसास्वादको पवित्र रखें। हम पवित्र भोजन करें। पवित्र-धर्मानुकूल विषयोंमें आनन्द लें। हम उत्तम स्थानपर आनन्द लें। धर्माधर्मका नियन्ता देवता अर्यमा हमें धर्ममें लगायें, अधर्ममें नहीं। हाथके-क्रियाशक्तिके अधिष्ठाता इन्द्र हमारे हाथको अच्छे काममें लगायें। हमारे हाथ कोई बुरा काम न करें। वाणीके नियन्ता बृहस्पति हमारी वाणीको पवित्र रखें। हम सत्य और प्रिय बोलें। हमारी वाणी असत्य, अप्रिय, अशुभका उच्चारण न करे। गति-चरणके देवता विष्णु हमारे पैरोंको उत्तम स्थानोंमें ले जायँ। हम उच्च गति प्राप्त करें।

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये स्थूल शरीरकी-इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति शुद्ध हो, यह प्रार्थना की जाती है। राग-द्वेषकी निवृत्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। वासनानुसार व्यवहारसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती। भगवान्‌की वाणीको सुननेके लिये हृदयको राग-द्वेषकी प्रेरणासे, स्ववासनानुसार चलाना नहीं होता। राग-द्वेषसे रहित अवस्थामें हृदयको ले जाओ।

भगवान् तो सदा बोलते हैं। भगवान्‌का लाउडस्पीकर सदा सावधान करता रहता है कि कोई उलटी गाड़ीपर न बैठे; लेकिन काम, क्रोध, लोभ, मोहसे आबद्ध लोग भगवान्‌की वाणीको सुन नहीं पाते।

गीताकी यह वाणी जीवकी वाणी नहीं है। जो पापी-पुण्यात्मा है, जो काम-क्रोध, लोभ-मोहसे ग्रस्त है, जो परिच्छिन्न है उसकी नहीं, यह भगवान्‌की वाणी है। यह अपौरुषेय वेदवाणी है, ब्रह्मसे तादात्म्यापन्नकी वाणी है। यह उसकी वाणी है, जिसकी दृष्टिमें अविद्या कभी थी ही नहीं। यह भगवान्‌की वाणी कैसी है?—**सारं सुष्ठु मितं मधु**

वाणीमें ये चार गुण होने चाहिये। जो दूसरोंके हृदयको चोट पहुँचाय, वह वाणी नहीं, वाण है। परमात्मा निर्वाण है। उसमें वाणका-दुःखका लेश भी नहीं है। वह किसीको दुःख नहीं दे सकता; क्योंकि दुःख उसके पास है ही नहीं। यह वाणी वाणकी घरवाली है। इसे सावधानीसे सम्हालकर रखो। यह किसीको पीड़ा देने-वेधनेके लिये नहीं है।

वाणीमें चार गुण होने चाहिये। 1. जो कुछ कहो उसमें तथ्य हो, सार हो। उसका तात्पर्य सुननेवालेकी समझमें आजाय। बिल्म नहीं बोलना चाहिये। मैं एक बार एक लेख पढ़ने लगा। लेख बहुत लम्बा और शुद्ध था। सब शब्द शुद्ध थे; किन्तु पूरा लेख पढ़ जानेपर भी पता नहीं लगा कि लेखक कहना क्या चाहता है? यह शब्दराशि विल्म है अर्थात् फिल्म है-भावके प्रदर्शनके लिये है। अतएव सार-सार बोलो—2. सुष्ठु बोलो तुम्हारी वाणी निर्दोष हो। 3. मित बोलो-जो कुछ कहना हो, उसे थोड़े शब्दोंमें कहो। अनावश्यक शब्द-वाक्यका विस्तार मत करो। 4. मधु बोलो-प्रिय लगनेवाले शब्दोंमें अपनी बात कहो।

भगवान्‌की यह वाणी 'सारं सुष्ठु मितं मधु' है, अतः उसका प्रत्येक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके प्रत्येक शब्द पर पूरा ध्यान देना चाहिये।

'**श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु**' यह बात हम लोग गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पढ़ते हैं। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान्‌के द्वारा गान की गयी ये बहुत-सी उपनिषदें हैं। उपनिषद्‌ज्ञान अनादि होता है। उपनिषद् ज्ञान होनेके साथ अविद्यानिवर्तक, दु:ख-शोकादि विनाशक और मोक्ष प्रापक होता है। ऐसे पुराने ज्ञानका उद्‌घोषक, प्राचीन संगीतका गायक यदि कोई निपुण व्यक्ति हो तो उस संगीतमें और अधिक माधुर्य एवं आकर्षण आ जाता है। गीतामें जो उपनिषदें हैं, वे हैं तो अनादि, किन्तु उन्हें श्री भगवान्‌ने गाया, इसलिये उनमें अधिक महत्त्व आगया।

इस अध्यायमें भगवान्‌के द्वारा बोले गये ये प्रथम दो श्लोक '**औत्थानिकोपनिषद्**' हैं। इनमें '**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।**' अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—'**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।**' भगवती श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत। क्षुरस्यधारा
निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

क. उ. 1.3.16

उठो! जागो! महापुरुषोंके समीप जाकर जानो; क्योंकि आत्मदर्शी पुरुष आत्मज्ञानके मार्गको छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण एवं दुर्गम बतलाते हैं।

ज्ञान सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देनेवाली अग्नि है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। 4.37

श्रीभगवान् श्रुतिको इन प्रथम दो श्लोकोंके '**औत्थानिकोपनिषद्**' में उद्घोषित करते हैं।

'**कुरुतः**' कहाँसे आया! '**किं**' पूछनेके लिये, आक्षेप करनेके लिये और जुगुप्साके लिये आता है। यहाँ भगवान् पूछते नहीं है। वे अर्जुनसे जिज्ञासा नहीं करते कि 'आपको यह कश्मल कहाँसे प्राप्त हुआ है?' भगवान् 'कुतः' कहकर आक्षेप कर रहे हैं कि यह तुम्हारे भीतर आने योग्य नहीं था। यहाँ हेतुपर आक्षेप है कि इसके आनेका कारण नहीं था।

यह जो कश्मल-मोह-मूर्च्छा आयी, उसका तो कोई कारण नहीं है। मोह-अज्ञान क्या कर्मफल है? यह कर्मका फल नहीं है, अतः प्रारब्धसे नहीं आ सकता! ईश्वरने इसे भेजा? ईश्वरके पास तो अज्ञान है ही नहीं, वह भेजेगा

कहाँसे? पिता-पितामहसे दाय-उत्तराधिकारमें यह आया नहीं। ठूँठमें भूतके समान यह अहैतुक भ्रममात्र है। एक मनुष्य दूसरेको पीट रहा था किसीने पूछा—'तुम इसे क्यों पीट रहे हो?' यहाँ पीटनेका कारण गाली देना हुआ, इस प्रकार इस कश्मलके आनेका तो कोई कारण है नहीं। तुम्हारे मोहका उपादान कारण क्या प्रकृति है? इसका निमित्त कारण क्या ईश्वर है? ऐसी तो कोई बात नहीं। इसका न कोई उपादान कारण है, न निमित्त कारण। अत: इसे नहीं आना चाहिये।

'त्वां'-अर्जुन! और यह मोह तुम्हें हुआ (यह अधिकारीपर आक्षेप है) तुम इन्द्र देवता-कर्मके अधिष्ठातृ देवताके पुत्र हो और तुम धनुष फेंककर निष्क्रिय होना चाहते हो, यह कैसे योग्य है?

अर्जुन—'अर्जनात् अर्जुन:' तुम तो उपार्जन करनेवाले हो। अर्जन करनेसे अर्जुनका नाम धनञ्जय पड़ा है। कीर्तिका उपार्जन भी अर्जुनने सबसे अधिक किया और यहाँ युद्धारम्भमें भी अर्जुन उपार्जन ही कर रहा है। यहाँ जिस ज्ञानका उपार्जन अर्जुनने किया, वह महावीर कर्ण, आचार्य द्रोण, परम भागवत भीष्म तथा धर्मराज युधिष्ठिर भी नहीं कर सके।

अर्जुनका एक अर्थ होता है सीधा। शाल वृक्षको अर्जुन और धवल कहते हैं। वह एकदम सीधा ऊपर जाता है। बिना मुड़े सीधे उन्नति करनेवाला अर्जुन। एक प्राचीन श्लोक है—

अग्रे दीर्घतरोऽयमर्जुनतरुः तस्याग्रतो वर्तिनी
सा घोषं समुपैति तत्परिसरे देशे कलिन्दात्मजा।
तस्यास्तीरतमालकाननतले चक्रं गवां चारयन्
गोप: क्रीडति दर्शयिष्यति स ते पन्थानमव्याहतम्॥

प्यारे पथिक! वह देखो, सामने सरल और लम्बा एक अर्जुन वृक्ष है। उसके आगे एक पगडण्डी है, जो अहीरोंकी बस्तीमें जाती है। उसके पास ही थोड़ी दूरपर कालिन्दी नदी है। नदीके तटसे लगा हुआ तमाल वृक्षका वन है, उसीमें झुण्ड-की-झुण्ड गायोंको चरानेवाला एक कृष्णवर्णका गोपाल है। वह तुम्हें ऐसा मार्ग बतायेगा, जिसमें कोई विघ्न-बाधा नहीं है और जिससे जाकर फिर लौटना नहीं होगा।

इस प्रकार जो सरल है, उज्ज्वल है और अर्जनशील है, उसमें कश्मल

क्यों आना चाहिये? फिर अर्जुन तो भगवान्‌का सखा है। नारायणकी ही एक मूर्ति है—'**सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्।**' यह बात महाभारतमें आयी है। भगवान्‌को उसने अपना सारथि बनाया है। वे जिसके जीवनरथके सारथि हों, उसमें मोह कैसे आ सकता है? भगवान्‌के भक्तमें भी मोह नहीं आता और अर्जुनके लिये वह स्वयं कहते हैं—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति।**' जो दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न हुआ है, उसमें भी मोह नहीं आना चाहिये। अर्जुनके लिये भगवान्‌ने गीतामें ही बताया है—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ गीता 16.5

अतः किसी भी प्रकार अर्जुनमें मोहका आना उचित नहीं है। 'त्वां' पदके द्वारा अधिकारीपर कटाक्ष है, 'तुमको! कर्मके अधिष्ठातृ देवता इन्द्रके पुत्र—तुम जैसे व्यक्तिको धनुष बाणका परित्याग कर देना, मोहके दलदलमें डूब जाना सर्वथा अशोभनीय है।'

'**त्वां**' के द्वारा भगवान्‌ने सूचित किया कि तुम्हारे लिये यह मोह अयोग्य है।

'**इदं कश्मलं**' यह प्रत्यक्ष कश्मल—केवल मनमें आकर रह गया होता तो भी कोई बात थी; किन्तु यह तो प्रत्यक्ष हो गया है।

कश्मल—मलका घनीभाव। सीधे शब्दमें कहें तो कसा हुआ मल। अपने धर्मसे-युद्धसे विमुख होना मल है। आवरण नहीं है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे दूर होगा। यह विक्षेप भी नहीं है कि इसे दूर करनेको उपासना करोगे। यह तो मल है, इसलिये इसको दूर करनेके लिये धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है।

'**मूर्च्छायां कश्मलं मोहः**' कश्मलका अर्थ है मूर्च्छा या मोह। गीतामें ही 'कश्मल' की व्याख्या है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 2.52

मोह ही कलिल-कश्मल है। ज्ञानको खो देना, चित्तका वैचित्त्य मोह है। इस मोहके दूर होनेका फल वैराग्य है। '**कश् गतौ**' से कश्मल शब्द बना है। जो गन्दगीकी ओर-अकर्मण्यताकी ओर ले जाय उसे कश्मल कहते हैं। यह

मोह तमोगुणका कार्य है—'**प्रमादो मोह एव च।**' (14.13) ये तमोगुणके कार्य गीतामें कहे गये हैं। अतएव इससे निकलनेके लिये धर्मानुष्ठानरूप सत्त्वाभिमुख रजोगुण आवश्यक है।

सञ्जयने जिसे परा कृपा कहा था—'**कृपया परयाविष्टो**' (1.28) उसीको यहाँ श्रीकृष्ण कश्मल कह रहे हैं। क्योंकि गुरुको स्पष्ट कहना चाहिये—

सचिव बैद गुरु तीन जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीन कर होइ बेगिहीं नास॥ रा. मानस

मन्त्री भयवश सत्य न कहकर चाटुकारी करने लगे तो राज्य नष्ट हो जायगा। वैद्य सच्ची बात न बताकर प्रिय बोले तो रोग मिटेगा ही नहीं और गुरु सत्य न बोले तो धर्मकी रक्षा नहीं होगी। अतः श्रीकृष्ण स्पष्ट कह रहे हैं कि यह कश्मल है। शिष्यका दोष गुरुको स्पष्ट बता ही देना चाहिये। अर्जुनने भी कोई सफाई नहीं दी, कोई प्रतिवाद नहीं किया कि 'मुझे मोह नहीं है।' उसने स्वीकार किया आगे-'**कार्पण्यदोषोपहतः स्वभावः।**' (2.7)

'**विषमे**'—यह परिस्थिति पर आक्षेप है कि यह मोह कितने अनवसरमें आया है। बहुत लोगोंको रोना आता है तो एकान्तमें रो लेते हैं, दिल हलका हो जाता है। कुछ लोग क्रोध आनेपर सिर पीट लेते हैं, अपनी वस्तुएँ तोड़-फोड़ देते हैं। यह क्या है? मोह है। यह कहो कि जीवन्मुक्तकी भाँति मोह आ ही गया है तो उसे दूर करनेका प्रयत्न क्यों करें?

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ 14.22

प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहमें-से कोई आये तो उससे द्वेष नहीं, कोई जाय तो उसे रखनेकी इच्छा नहीं। यह जीवन्मुक्तका स्वभाव है। अतः यदि मोह आया ही है तो उसे क्यों हटाया जाय? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यह '**विषमे**' बहुत ही अनवसरमें आया है और थोड़ा नहीं आया—'**समुपस्थितम्**'—भली प्रकार आया है।

यह मोह कैसे अनवसरमें आया है? '**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते**' (1.20) हथियार चलने ही वाले हैं। '**माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः**' (1.14) युद्धमें विजयदायी मंगल सूचक शंखनाद हो चुका। अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरको युद्धभूमिमें तुम ला चुके। तुम्हारे ही भरोसे वे युद्धोद्यत हुए, भीष्म

पितामह तथा दूसरे प्रतिपक्षियोंको शंख बजाकर युद्धकी चुनौती दे चुके और ऐसे कुअवसरमें यह मोह आया!

नीतिशास्त्रमें तीन प्रकारके लोग बताये गये हैं—1. अनागत विधाता अर्थात् आपत्ति आनेसे पहले ही उससे बचनेका उपाय सोच लेनेवाले, 2. प्रत्युत्पन्नमति अर्थात् विपत्ति आ जानेपर बचनेका मार्ग निकाल लेनेवाले और 3. दीर्घसूत्री जो समयपर कुछ सोच नहीं पाते। जो सोचनेमें ही रह जाते हैं और अवसर हाथसे निकल जाता है।

इस सम्बन्धमें एक कथा है कि सरोवरको देखने एक दिन मछुए आये। उन्हें देखकर कुछ मछलियोंने सोचा कि अवश्य ये अब हमें पकड़ने कल आयँगे। वे कूदकर पासके गड्ढेमें चली गयीं। दूसरे दिन मछुए आये तो अनागत विधाता मछलियाँ तो जा ही चुकी थीं, प्रत्युत्पन्नमति भी तुरन्त दूसरे गड्ढेमें कूद गयीं; किन्तु दीर्घसूत्रियोंने सोचा-'यद् भविष्यति तद् भविष्यति' जो होनेवाला होगा सो होगा और फल यह हुआ कि वे जालमें फँसकर मारी गयीं।

अतएव कोई भी निर्णय समयपर कर लेना उचित है। अवसर निकल जानेपर पश्चात्ताप—तमोगुण ही हाथ लगता है। यह कश्मल भली प्रकार आया है। इससे अच्छा तो था कि तुम दुर्योधनके, कर्णके अथवा भीष्मके वश हो गये होते। तुम तो कश्मलके वशमें ही गये। मोहने तुम्हारे तन-मनपर अधिकार कर लिया है।

'अनार्यजुष्टं'—*न आर्येर्जुष्टं इति अनार्यजुष्टं*-आर्य पुरुषोंने इसे कभी अपनाया नहीं है। किसी भी श्रेष्ठ पुरुषने शोक-मोहको मोक्षके लिये साधनके रूपमें कभी स्वीकार नहीं किया। अत: यह परमार्थके लिये-परलोकके लिये हितकारी नहीं है। यह न शम-दम-रूप बहिरंग साधन है, न श्रवण-मननादिरूप अन्तरंग साधन और न धर्म-उपासनारूप परम्परा साधन ही है। तब साक्षात् साधनकी तो चर्चा ही क्या?

इस कश्मलसे क्या पापकी निवृत्ति होगी कि यह धर्मके समान मलका निवर्तक हो? अथवा सांसारिक रागको यह ईश्वरभक्तिके समान दूर करेगा? यह योगकी भाँति चित्तकी चंचलताका निवर्तक भी नहीं और न ज्ञानके समान अज्ञानका नाशक है। संशय-विपर्ययका भी इससे निवारण नहीं होता। अत: यह मोक्षका साधक नहीं है।

'**अस्वर्ग्य**' स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतक जितने लोक हैं, उनमें-से भी कश्मल किसीकी प्राप्तिका साधन नहीं है। स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति धर्माचरण और उपासनासे होती है। नरककी प्राप्तिके लिये साधन नहीं किया जाता। वैसे तो आत्माको भी शास्त्रोंमें कहीं-कहीं लोक कहा है; किन्तु यहाँ स्वर्गसे तात्पर्य अपने-आपसे भिन्न देश, कालमें स्थितिको कहा है। ऐसे किसी लोकका साधन यह मोह नहीं है।

'**अकीर्तिकरं**' कहो कि परलोकमें भले हितकारी न हो, इस लोकमें सुख देता होगा; सो भी नहीं है। इस लोकमें भी यह अपयश ही देनेवाला है। यदि यह सोचो कि युद्ध न करेंगे तो सब स्वजन जीवित रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। सब कभी जीवित नहीं रहते। सबको छोड़ना ही पड़ता है। अत: पहलेसे छोड़नेकी तैयारी रहनी चाहिये। जैसे होटलमें जाकर टिक जाते हैं तो पता रहता है कि यह कमरा, यहाँके पड़ोसी छोड़ने पड़ेंगे। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'**प्रपायामिव संगमः,**' जैसे दूसरे चलकर आये और प्याऊपर बैठ गये, इधर-उधरसे आये दूसरे यात्रियोंसे भेंट हुइ, बातें हुई और फिर सबको अपने-अपने रास्ते जाना है, वैसे ही संसारमें ये स्वजन-सम्बन्धी मिल गये हैं। सबको अपने कर्मानुसार जाना है। यहाँ मोह कर लेनेसे दु:ख ही होगा।

कुछ लोग कश्मल-साधनाको ही साधन मान लेते हैं। यह चार प्रकारकी होती है—

1. कर्तृत्वमूलक साधना अर्थात् साधनामें कर्तापनका अभिमान कि मैं इतना जप, इतना तप, इतना ध्यान करता हूँ। मैं यह साधन कर लूँगा।

2. अकर्तृत्वमूलक साधना—अकर्मण्य हो जाना, निकम्मापन। मुझसे कुछ होगा ही नहीं, यह मानकर निराश हो जाना।

3. स्वातन्त्र्यमूलक कश्मल साधना—किसी निमित्त, सदाचार आदिको न मानकर उच्छृंखल हो जाना। शास्त्रका, गुरुका अनुशासन स्वीकार न करना। हमारे जो मनमें आयगा सो करेंगे—यह अभिमान।

4. अस्वातन्त्र्यमूलक कश्मल साधना—स्वयं अपनी बुद्धिसे कुछ सोचना ही नहीं। अन्धविश्वासी बन जाता। ये चारों ही कश्मल साधना हैं-मोह है। इनसे क्या होगा? इससे न परलोकमें कोई लाभ है, न लोकमें सुख या सुयश मिलता है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः । 2.35

महारथी लोग समझेंगे कि अर्जुन डरकर युद्धसे भाग गया। लोकमें अकीर्ति होगी—'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।' सम्मानित पुरुषके लिये अपयश तो मृत्युसे भी अधिक दुःखद है।

यह मोह न लोकके लिये हितकारी है न परलोकके लिये। मोक्षका यह साधन नहीं है। परिस्थितिके अनुकूल नहीं है। तुम्हारे जैसे वीरके लिये उचित नहीं है। इसका कोई निमित्त-उपादान कारण नहीं है। निर्निमित्त ही हृदयमें प्रवेश किया है इसने यह कूड़ा-कर्कटके समान है, इसे फेंक दो! अन्तमें तो मैं स्वयं तुम्हें कह दूँगा—'**यथेच्छसि तथा कुरु**।' किन्तु प्रिय अर्जुन! मैं चाहता हूँ कि उससे पहले तुम इस मोहसे छुटकारा प्राप्त कर लो; क्योंकि तुम्हारा यह कश्मल घनीभूत मोह है। तुम युद्ध करो या मत करो किन्तु यह तो समझ ही लो कि इस समय तुम मोहाक्रान्त हो रहे हो! मोहकी स्वीकृति देकर युद्ध करना अथवा न करना—दोनों ही गलत हैं। सत्पुरुषोंने कभी मोहका सहारा नहीं लिया। यह लोक-परलोक और मोक्ष तीनोंको ही बिगाड़नेवाला है। तुम्हें इसके वशीभूत कदापि नहीं होना चाहिये।

●

: 3 :

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 3 ॥

मेरी यशस्विनी बुआ पृथाके (कुन्ती) यशस्वी पुत्र, मेरे प्यारे भाई अर्जुन! तुम नपुंसक मत बनो। तुम्हारे सदृश वीर पुरुषके लिये यह उचित नहीं है। अपने हृदयकी क्षुद्र दुर्बलताका परित्याग कर युद्धके लिये खड़े हो जाओ! तुम स्वयं सन्तप्त मत होओ, सन्ताप दो; क्योंकि तुम परन्तप हो।'

'**क्लैब्यं मा स्म गमः**' नपुंसकताको मत प्राप्त हो। तृतीया प्रकृतिको क्लीब कहते हैं। जो सन्तानोत्पादन करके अपनी परम्पराको बनाये रखनेमें असमर्थ है, उसे क्लीब कहा जाता है। '**क्लीब् अधाष्टर्ये**' जिसमें उत्साह नहीं है किसी कामका उसे क्लीब कहते हैं। '**क्लैब्यं मा स्म गमः**' का तात्पर्य है कि तू नपुंसक है नहीं; किन्तु नपुंसकताको प्राप्त हो रहा है, क्षत्रियकी जो प्रकृति है, उसके विपरीत जाना चाहता है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59

तुम्हारी प्रकृति युद्ध करनेकी है। उसके विपरीत जानेकी चेष्टा कर रहे हो। श्रुति कहती है—'**शोकेन क्लीबते सर्वः**।' स्त्री हो या पुरुष, शोकके आवेगमें सब क्लीबताको प्राप्त हो जाते हैं। सबके जीवनमें यह क्लीबता आती है। असफलतासे, हीनभावसे ग्रस्त होना, निरुत्साह होना क्लीबत्व है। यह शारीरिक नहीं, मानसिक रोग है।

जब मेरी आयु 16-17 वर्षकी थी, तब अपनी जन्मभूमिसे थोड़ी दूर रहनेवाले एक स्वामीजी मेरा प्रेम हो गया था। वे स्वामीजी कलकत्ते चले गये तो मैंने उन्हें पत्र लिखा—'बाबा, मुझसे जप-ध्यान, भजन-पूजन आदि कोई साधन नहीं होता है।'

उस पत्रका स्वामीजीने जो उत्तर दिया, वह इतना सुन्दर था कि मुझे अबतक स्मरण है। स्वामीजीका पत्र 'क्लैब्यं मा स्म गमः'से प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने लिखा था—'तुम मनुष्य हुए, मनुष्योंमें भी ब्राह्मण हुए और अच्छे कुलमें जन्म पाया, विद्या पढ़ी, ईश्वरकी ओर चलनेकी इच्छा तुममें हुई, अब साधन-भजन नहीं करोगे, भगवान्‌की ओर नहीं चलोगे तो क्या भैंस चलेगी? जप-ध्यान भेड़ करेगी? पशुके लिये इन साधनोंका विधान है? अरे भाई, इस दो हाथ-पाँव, बुद्धि-हृदयवाले मनुष्यके लिये ही इन साधनोंका विधान है। इसे ही भगवान्‌की ओर चलना है। अतः 'क्लैब्यं मा स्म गमः' नपुंसक मत बनो।'

'क्लैब्यं मा स्म गमः' यह अर्जुनके लिये व्यक्तिगत आक्षेप भी है; क्योंकि अर्जुन एक वर्ष विराटनगरमें बृहन्नलाके रूपमें वहाँके नरेशके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नाच-गान सिखाता रहा है।

अर्जुन जब देवराज इन्द्रके अनुरोधसे स्वर्ग गया तो वहाँ एक रात्रिमें उर्वशी उसके पास शृंगार करके आयी और उसने अर्जुनसे अपनी काम-तृप्ति चाही। अर्जुनने कहा—'आप इन्द्रभोग्या हैं और देवराज इन्द्र मेरे पिता हैं। अतः आप मेरी माता हुईं। आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये।'

उर्वशीने शाप दिया—'अर्जुन, तुम मेरी इच्छा पूरी नहीं करते; इसलिये नपुंसक हो जाओ!'

अर्जुनने नम्रतापूर्वक कहा—'माता, मैं नपुंसक रह लूँगा; किन्तु आपके प्रति दुर्भाव नहीं करूँगा।'

उर्वशी अर्जुनके शुद्ध भावसे प्रभावित हुई और बोली—'मेरा शाप केवल एक वर्षके लिये रहेगा।'

उर्वशीका वह शाप अर्जुनके लिये वरदान बन गया। वे विराटनगरमें उस शापके कारण ही एक वर्ष बृहन्नलाके रूपमें छिपे रह सके। वहाँ भी ऐसा ही

प्रसंग आया। जब राजा विराटको पता लगा कि यह बृहन्नलाके रूपमें अर्जुन हैं तो उन्होंने प्रस्ताव किया अपनी पुत्रीसे विवाह करनेका। अर्जुनने कहा—'आपकी पुत्रीको मैंने शिक्षा दी है। वह मेरी शिष्या है, अत: पुत्रीके समान है। मैं उससे विवाह कैसे कर सकता हूँ?'

जब युधिष्ठिरको इस बातका पता लगा तो बोले—'बड़े घरसे तो यह सम्बन्ध आया है और हमको करना है युद्ध। इस सम्बन्धको अस्वीकार करना उचित नहीं है।' अत: सलाह करके अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ राज-विगटकी पुत्रीकी विवाह सम्पन्न हुआ।

अर्जुन सुभद्राके पति हैं और सुभद्रा श्रीकृष्णकी बहिन हैं। अतएव श्रीकृष्ण अर्जुनका परस्पर विनोद करनेका सम्बन्ध भी है। अर्जुन भी श्रीकृष्णसे परिहास करता था—

'**यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि**।' 11.41

श्रीकृष्ण भी मानो परिहास करते हैं—'अर्जुन, तुम एक वर्ष विराट नगरमें तो नपुंसक रह ही चुके हो, अब यहाँ युद्धभूमिमें भी नपुंसक मत बनो।'

अर्जुनको श्रीकृष्णके परिहाससे दु:ख हुआ कि मैं तो व्याकुल हो रहा हूँ, रो रहा हूँ और इन्हें हँसी सूझती है। श्रीकृष्णने इसे लक्षित किया और बोले—'पार्थ! मैं तुमसे परिहास नहीं कर रहा हूँ। तुम तो मेरे भाई हो। अपने भाईको मैं उचित सम्मति दे रहा हूँ।'

कुन्तीका एक नाम पृथा है। 'प्रथनात् पृथा' जिसका यश चारों ओर फैला हो उसे पृथा कहा गया है। यह वसुदेवजीकी बहिन हैं। कुन्ति देशके राजाके यहाँ गोद गयी थी, इसलिये इनका नाम कुन्ती पड़ा। वसुदेवजीकी बहिन होनेसे पृथा श्रीकृष्णकी बुआ हैं। इसलिये अर्जुन बुआके पुत्र होनेसे भाई हैं। '**पार्थ**' इस सम्बोधनके द्वारा श्रीकृष्णने अर्जुनको भाई कहा।

'**नैतत्त्वय्युपपद्यते**' त्वादृशे वीरे एतत् न उपपद्यते किं त्वयि' तुम्हारे समान जो दूसरे वीर हैं, उनके लिये भी इस प्रकार मोहग्रस्त होना उचित नहीं है, फिर तुम्हारे लिये तो यह कैसे उचित है?

अर्जुनने पूछा—'तब आप मुझे क्या करनेको कहते हैं?'

श्रीकृष्ण कहते हैं—'**परन्तप**' तुम तो शत्रुको ताप देनेवाले हो। तुम्हें

देखकर, तुम्हारा स्मरण करके शत्रु मन ही मन जलते रहते हैं कि वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सके। अतः,

'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ।'

हृदयमें दुर्बलता तो आती ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, क्षोभ आदि हृदयकी दुर्बलता हैं। हृदयमें दुर्बलता आना दोष नहीं है, उसे पकड़-कर बैठ जाना, उससे हार मान लेना दोष है। दुर्बलता आये तो उसे भगा दो। यदि काम, क्रोध बार-बार आते हैं, तो क्या तुम उन्हें बार-बार भगा नहीं सकते?

लोभ आये तो संतोष और अपरिग्रहके भावसे, कामको ब्रह्मचर्यनिष्ठासे, क्रोधको अहिंसा भावसे और मोहको विवेक करके माने नित्य-अनित्यका विचार करके भगा दो।

हृदयकी दुर्बलता आने-जानेवाली वस्तु है। उसमें आसक्त होकर उसीको बनाये रखना चाहते हो, यही भूल है। कमजोर दिलका मनुष्य दिनभर तो अकेले कमरेमें रहा और रात्रि हुई तो बोला—'मैं यहाँ नहीं रह सकता। मुझे डर लगता है। मैं दूसरे लोगोंके साथ रहूँगा।' यही हृदयकी दुर्बलता है। जिसमें अकेले रहनेका सामर्थ्य है, वही कैवल्य ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी है।

हृदयकी दुर्बलता यही है कि तुम दूसरेका सहारा लेकर रहना चाहते हो। स्त्री-पुरुषका सहारा, भाई-मित्रका सहारा आदि सब बाह्यालम्बन हैं और अन्तरालम्बन हैं धर्मभावनाका सहारा, प्राणायाम-ध्यानका सहारा, दिव्य विषयका सहारा। जितने आकार, प्रकार, विकार, संस्कार, निराकार, साकार हैं, सब आने-जानेवाले हैं। जो निःसंकल्प, निर्विकल्प चित्तकी स्थिति है, वही सबल, स्वस्थ, कैवल्य स्थिति है।

निराकार साकार रूप धरि आयउ कइ इक बारा।
सपने होइ होइ मिट गये रहेउ सारको सारा॥

तुम आश्रयभूत परब्रह्मका सहारा न लेकर विषयभूत प्रपञ्चका सहारा लेते हो, यही हृदयकी दुर्बलता है।

हृदयमें जो विराजमान परमात्मा है, उसे जानकर विपर्ययका नाश नहीं किया, विषयमें लग गये, यही हृदय-दौर्बल्य है और यह 'क्षुद्रं' क्षुद्र विषयक

होनेसे क्षुद्र है, यह खुदरा माल है, थोक राशि नहीं। क्षुद्र व्यक्ति स्थिर नहीं बैठ सकता। कभी कुर्सीपर बैठेगा, कभी खिड़कीपर खड़ा होगा, कभी टहलेगा। वह बार-बार अपना निश्चय बदलता रहता है। उसमें गम्भीरता, दृढ़ता नहीं होती। इसी प्रकार हृदयकी दुर्बलता स्थिर नहीं रहती। यह सती-साध्वी एकनिष्ठ नहीं, वेश्या है, अत: घरमें रखने योग्य नहीं है।

जीवनमें हर्ष-शोक, सम्पत्ति-विपत्ति, रोग-स्वास्थ्य, संयोग-वियोग आते-जाते ही रहते हैं। ये क्षुद्र हैं खटमल, मच्छर आदिकी तरह, जो पता नहीं कितने ही नित्य पैदा होते और मरते रहते हैं। इनकी चिन्ता कहाँ तक करोगे? अतएव '**त्यक्त्वा**' इस क्षुद्र हृदय-दौर्बल्यको त्याग दो।

त्यागे नैके अमृतत्वमानशुः (महानारायणोपनिषद् 10.5)

आजतक सृष्टिमें अमृतत्वकी प्राप्ति त्यागसे हुई है, रागसे नहीं। योगसे हुई है, भोगसे नहीं। अत: अपने हृदयकी क्षुद्रताको पहचानो, तुम्हारे देरतक क्या रहता है—संशय या श्रद्धा? राग या त्याग? रोग याद रहता है या परमात्मा?

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन। (वृहदा. 2.4.2)

अमृतत्व धनसे खरीदा नहीं जा सकता, अतएव '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ**' खड़े हो जाओ हृदयकी क्षुद्र दुर्बलताको त्याग कर।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत! (कठो. 1.3.14)

●

: 4 :

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ 4॥

अर्जुन कहता है—'मधुसूदन, मैं युद्धमें पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोणके साथ वाणोंसे प्रतियुद्ध कैसे करूँगा? शत्रुनाशन! ये तो पूजनीय हैं।'

अर्जुनने श्रीकृष्णको दो सम्बोधन दिये—मधुसूदन और अरिसूदन। इनका तात्पर्य है कि 'श्रीकृष्ण! मैं जानता हूँ कि आप पराक्रमके पक्षपाती हैं। मुझे आपका यह सिद्धान्त ज्ञात है कि आप दैत्यों और शत्रुओंका नाश करना चाहते हैं। मुझे यह भी पता है कि आपका यह अवतार ही दुर्जनोंके संहारके लिये हुआ है '**विनाशाय च दुष्कृताम्।**' (4.8)

आपने मधु जैसे दैत्योंको मारा है। पूतना, तृणावर्त, केशीका संहार किया। कंस, शिशुपाल आपके सम्बन्धी थे, किन्तु शत्रु थे, इसलिये उन्हें भी आपने मारा; लेकिन मुझे किनका वध करनेको कहते हैं? निवातकवच, कालिकेय जैसे सहस्रों दैत्योंका संहार करनेको मैं प्रसन्नतापूर्वक उद्यत हूँ; किन्तु ये पितामह भीष्म, ये द्रोणाचार्य! ये कौन हैं? ये न तो दैत्य हैं और न शत्रु।

पितामह भीष्मके कारण ही हमारा वंशवृक्ष चला है। अम्बा आदिका हरण करके वही ले आये। भगवान् व्याससे प्रार्थना करके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरको उन्होंने ही उत्पन्न कराया। वे हमारे पितामह हैं, आजन्म ब्रह्मचारी हैं, परम धर्मज्ञ हैं, ब्रह्मवेत्ता ही नहीं हैं, दूसरोंको ब्रह्मज्ञान देनेवाले हैं। इस प्रकार अपने वंशवृक्षके मूल पुरुष भीष्म, जो देवता सदृश हैं, श्रुति जिन्हें '**भीष्मो हि देवः**' कहती है, उनके और ज्ञानपरम्पराके मूल आचार्य द्रोणके युद्धमें कैसे सम्मुख होऊँगा?

'**संख्ये**' युद्धमें उनके सम्मुख कैसे होऊँ? संख्या शब्द भी उसी धातुसे बना है जिससे 'संख्य' बना है। संख्याकी ठीक स्थापना भी खण्डनात्मक ही है। जैसे, वर्ण कितने होने चाहिये? उसमें तीन या कम क्यों नहीं और पाँच या अधिक क्यों नहीं, यह स्थापना करके, तीन और पाँचका खण्डन करके ही चार वर्ण संख्या स्थापित होगी। तो जैसे एक संख्या दूसरीको काटकर ही अपना अस्तित्व बनाती है, वैसे ही 'संख्ये-युद्धभूमौ' युद्धभूमिमें भी दूसरोंको मार-काटकर अपना स्थान बनाया जाता है। जिनके प्रति प्रेमभाव अपेक्षित है उनके प्रति टुकड़े-टुकड़े कर देनेकी हिंसक भावना उत्पन्न करनेवाली 'संख्ये' युद्धभूमिमें तो जाना भी अपराध है।

'**संख्ये**' यह शब्द जोर देता है कि गुरुजनोंसे वाद-विवादमें भी सम्मुख होना अनुचित है। '**गुरुं हुं कृत्य त्वं कृत्य**' गुरुके साथ हुंकार करके या उन्हें तुम कहकर भी बोलना उचित नहीं। वे तो '**पूजार्हौ**' पूजा करने योग्य हैं। उनका सम्मान करना चाहिये। '**इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि**' उनसे बाणोंके द्वारा प्रतियुद्ध मैं कैसे करूँगा? जिनसे वाणीसे विवाद भी अनुचित है, उनसे बाणों द्वारा संग्राम कैसे किया जायगा?

'**प्रतियोत्स्यामि**' अर्जुन यहाँ युद्धकी बात नहीं करता है। अपनी ओरसे पहले बाण मारनेकी तो कल्पना ही उसके मनमें नहीं है। वह तो कहता है कि प्रतियुद्ध भी कैसे करूँगा? भीष्म पितामह या द्रोणाचार्य मुझे बाण मारेंगे तब भी मैं बदलेमें उनपर कैसे बाण चलाऊँगा? वे तो पूजा करने योग्य हैं। उनके लिये तो मैं अपना मस्तक भी दे सकता हूँ। उनपर बाण चलाना पड़े, इसकी अपेक्षा तो उनके बाणोंसे मेरा मर जाना भी कल्याणकारी है—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत॥

1.46

'**पूजार्हौ**' ये पूजनीय हैं। यहाँ अर्जुनमें विवेकाभास आया है। मोहका यह भी एक लक्षण है कि जब वह आता है तो मनुष्य अपनेको बड़ा विवेकी—बुद्धिमान समझने लगता है। यदि मोह अपने ठीक रूपमें आये तब तो मनुष्य उसे पहचान ही लेगा और दूर करनेकी चेष्टा करेगा; लेकिन मोह आता है

विवेक बनकर। मनुष्यका अपना मोहजन्य निर्णय ही उचित कर्तव्य जान पड़ने लगता है। अर्जुनके साथ यही हुआ है।

अर्जुन कहता है—'श्रीकृष्ण, आप कहते हैं कि मुझमें यह दुर्बलता अकारण आयी है; किन्तु यह अकारण नहीं है। इसका कारण है। आपने भले दैत्य और शत्रु मारे हैं; किन्तु ये भीष्म, द्रोण, कृप तो पूजनीय हैं। इनसे युद्ध न करनेका मेरा निर्णय उचित है।

आप कहते हैं, अनवसरमें मुझमें यह दुर्बलता आयी है; किन्तु युद्ध करने न करनेका निश्चय तो युद्धभूमिमें ही किया जाना चाहिये। '**इषुभिः प्रतियोत्स्यामि**' इनसे बाणोंसे युद्ध करूँ या न करूँ, यह निर्णय करनेका तो यही ठीक अवसर है।'

●

: 5 :

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ 5॥

'इन महानुभाव गुरुजनोंको बिना मारे इस लोकमें भिक्षा माँगकर खा लेना भी कल्याणकारी है। गुरुजनोंको मारकर उनके रक्तसे सने धन और सुखका ही तो भोग हम इस लोकमें करेंगे।'

श्रीकृष्णने कहा था कि युद्ध न करना मोक्ष, स्वर्ग आदिके प्रतिकूल है। अर्जुन कहता है—'**महानुभावान्**' ये भीष्म, द्रोण महान् प्रभावशाली हैं। अवस्थामें, पदमें, विद्याध्ययन, प्रज्ञा, तपस्या एवं अनुभवमें ये महान हैं। पितामह भीष्मको इच्छामृत्यु प्राप्त है। वे ब्रह्मचारी हैं। सभी दृष्टिसे महान् हैं। महान् तत्त्व—परमात्मतत्त्वका उन्हें स्वयं अनुभव तो है ही, दूसरोंको भी अनुभव करा देते हैं। इनको न मारना आप '**अनार्यजुष्टं**' कहते हैं; किन्तु मुझे तो इनको मारना ही अनार्यजुष्ट लग रहा है।

आप कहते हैं कि इन्हें न मारना '**अस्वर्ग्य**' है; किन्तु इनको मारना ही मुझे नरकका द्वार लग रहा है और फिर मुझे स्वर्ग चाहिये भी कहाँ—

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते। 1.35
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ 1.32

यह धर्म विचार भीष्म, द्रोण आदि तो करते नहीं है, ऐसा कहो तो ठीक है। उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, अतः वे धर्म नहीं समझ पाते हैं—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। 1.38

लोभके कारण उनका चित्त आच्छन्न है तो रहे; किन्तु हमारा विवेक तो ठीक है। आप युद्ध न करना '**अस्वर्ग्य**' कहते हैं; किन्तु हिंसा करके गुरुजनोंको

मारकर स्वर्ग कैसे प्राप्त होगा ? हिंसाजन्य स्वत्वको भी त्यागकर भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह कर लेना मुझे तो धर्म जान पड़ता है। यह ठीक है कि भिक्षा माँगना क्षत्रियके लिये उचित नहीं है; किन्तु गुरुजनोंका वध न करना पड़े तो भिक्षा भी मुझे कल्याणकारी जान पड़ती है।'

यहाँ 'भैक्षं' और 'भैक्ष्यं' यह दो प्रकारका पाठ मिलता है। भिक्षामें प्राप्त अन्न भैक्ष्य कहा जाता है। '**भिक्षाणां समूहः भैक्षं**' बराबर भिक्षा ही माँगनी पड़े—यह भैक्ष हुआ।

श्रीकृष्णने कहा था—'युद्ध न करना अकीर्तिकर है।' अर्जुन कहता है—'**हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्**।' अर्थात् यदि आपके कहनेसे युद्ध करके गुरुजनोंको हम मार दें तो उससे परलोक तो मिलेगा नहीं, '**इहैव**' इसी लोकमें हमें धन और सुख मिलेगा और लोग कहेंगे कि पाण्डव भीष्म-द्रोणादिके रक्तसे सने भोग भोगते हैं। इस प्रकार मुझे तो युद्ध करना अकीर्तिकर जान पड़ता है।'

गुरुजनोंको मारनेका त्याग करना मोक्षका हेतु और धर्म होना चाहिये; क्योंकि उनको मारनेसे इसी लोकमें अर्थ-काम मिलनेवाला है। अर्थ और कामका त्याग करके भी धर्म और मोक्षका साधन ही सत्पुरुषोंने श्रेष्ठ माना है।

इस श्लोकमें 'गुरु' तथा 'इह' शब्द दो बार आया है। यह कहता है कि युद्ध करनेसे केवल इस लोकके भोग मिलेंगे; किन्तु युद्ध न करनेसे धर्म, परलोक तथा कीर्तिकी भी रक्षा होगी।

अब इस श्लोककी दूसरी संगति देखना है; क्योंकि बात जिस समयकी बोलीमें कही गयी हो, उस समयके ढंगसे उसका अर्थ करना ठीक होता है। पुराने समयमें एक आक्षेपिकी संगति होती थी। उस ढंगसे इस श्लोकपर विचार करें।

अर्जुनने जब भीष्म और द्रोणको 'पूजार्ह' तथा 'महानुभाव' कहा तो श्रीकृष्णको इन महानुभावोंके अतीत जीवनकी बातें याद आने लगीं। उनके मुखपर कटाक्षपूर्ण हँसी आ गयी, मानो वे अर्जुनके प्रति अपना यह अभिप्राय बताने लगे कि 'अर्जुन! क्या पूछना है तुम्हारे इन महानुभावोंकी महत्ताको! बहुत-बहुत वन्दनीय हैं ये महानुभाव! लाक्षागृहमें तुम सबका दाह कर देनेकी योजनाके अवसरपर, भीमको विष देनेके समय, और भरी सभामें दुष्ट

दु:शासनके द्वारा जब द्रौपदी नंगी की जा रही थी, उस समय तुम्हारे ये सब गुरुजन वहाँ उपस्थित थे, मूक होकर शान्त बैठे रहे, इस अनर्थको अधिकारपूर्वक रोकनेमें किसीने कोई साहस नहीं दिखाया। कहाँ चली गयी थी उस समय इनकी धर्मनिष्ठा और महत्ता? यही हैं तुम्हारे अर्चनीय वन्दनीय गुरुजन? नि:सन्देह ये अर्थ-कामके गुलाम हैं। इनकी धर्मनिष्ठा एवं श्रेष्ठता उपहासास्पद है। अर्जुन! मुझे तो हँसी आती है इनपर और तुमपर भी, जो तुम इन गुरुओंके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट कर रहे हो।'

श्रीकृष्णने कुछ कहा नहीं; किन्तु उनके हँसनेका तात्पर्य अर्जुन समझ गया। क्योंकि सत्पुरुष अकारण नहीं हँसते हैं। अकारण हास्य मूर्खताका लक्षण है। नीति— शास्त्रका वाक्य है—

बालसखित्वमकारणहास्यं गर्दभयानमसंस्कृतवाणी।
स्त्रीषु विवादोऽसज्जनसेवा षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥ नीतिचाणक्य

बच्चोंसे-नासमझ लोगोंसे मित्रता करना, बिना कारणके हँसना, गधेकी सवारी करना, अशुद्ध भाषा बोलना, स्त्रियोंसे वाद-विवाद करना और दुर्जन व्यक्तिकी सेवा करना इन छ: कामोंसे मनुष्यका मान घट जाता है।

अर्जुनने श्रीकृष्णके हँसनेका तात्पर्य समझकर कहा—'माना कि ये भीष्म, द्रोण आदि अर्थकाम हैं—धनके लालची हैं; लेकिन हैं तो गुरुजन ही।'

'**हत्वार्थ कामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान्**' इसमें '**अर्थकामान्**' के आगे '**गुरून्**' पड़ा है। अत: 'अर्थकामान्' का अन्वय '**गुरून**' के साथ करना अधिक संगत है। 'भोगान' के साथ 'अर्थकामान्' का अन्वय करनेमें दूरान्वय होता है। दूसरी बात यह कि इस प्रकार 'गुरून्' का विशेषण 'अर्थकामान्' माननेका कारण है। इसके सम्बन्धमें महाभारतमें कथा आती है। युद्धके आरम्भमें धर्मराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण आदिके पास गये और उन्होंने आज्ञा माँगी—'हम युद्ध करें?'

उन्हें भीष्मने, द्रोणने भी कहा—'युद्ध करो।'

युधिष्ठिरने पूछा-'हमारा पक्ष उचित है?'

उत्तर मिला—'अपने स्वत्वके लिये युद्ध करना उचित ही है।'

युधिष्ठिर बोले—'जब हमारा पक्ष धर्मसंगत है, उचित है तो आप हमारे पक्षमें क्यों नहीं हैं? दुर्योधनकी ओरसे क्यों युद्ध करने आये हैं?'

इसका उत्तर भीष्मने, द्रोणने भी दिया और इसी श्लोकमें बार-बार दिया—

> **अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।**
> **इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥**
>
> महाभारत

'हृदयसे तो आपको ही महाराज मानते हैं। धर्म और न्याय आपके ही पक्षमें है और हृदयसे हम भी आपके ही पक्षमें हैं; किन्तु दुर्योधनने हमारी इतने दिनों धन देकर जो सेवा की है, उसके कारण हमारे हाथ बँधे हैं।'

अतः अर्जुन कहता है कि ये भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य भले ही महानुभाव न हों, पूज्य न हों, भले ही ये अर्थकाम हों; किन्तु इन्हें मारकर लाभ क्या होगा? इनके रक्तसे सने भोग ही तो हम इस लोकमें भोगेंगे।

आजकल अकर्मण्यता, कायरताके पक्षमें जितनी युक्तियाँ दी जाती हैं, सब अर्जुनने दे दी हैं।

बात यह है कि अर्जुन है बछड़ा और उपनिषद् हैं गायें। उन गायोंका दुहनेवाला है गोपाल। अब यदि बछड़ा अपनी क्षुधा प्रगट न करे, पूर्वपक्षकी युक्तियाँ न रखे तो उत्तरपक्षके रूपमें महान् अमृतरूप दूध '**सुधी भोक्ता**' समझदार उपभोग करनेवाले हम सब लोगोंको कैसे प्राप्त हो?

अर्जुनका विवेक यहाँ धर्माधर्मका, अथवा कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी जिज्ञासाका है।

: 6 :

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ 6॥

'हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये श्रेष्ठ क्या है—युद्धमें हम उन्हें जीत ले कि वे हमें जीत लें। जिन्हें मारकर हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्रके पुत्र तथा समर्थक युद्धके प्रमुख स्थलोंपर खड़े हैं।'

'**कतरन्नो गरीयो**' यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि कौरवपक्ष श्रेष्ठ है या पाण्डवपक्ष? प्रश्न यह है कि 'युद्ध भैक्ष्ययोरेवमध्ये नः कतरत् श्रेयः' युद्ध करना श्रेष्ठ है या अपने स्वत्त्वका त्याग करके भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह कर लेना।

'**अर्थकामांस्तु गुरून्**' धन लोलुप गुरुजन भीष्म-द्रोणादिको वह दे दिया जाय, जो वे चाहते हैं। उनकी इच्छा पूर्ण कर दी जाय। हमारे कुलका तो यह आर्दश ही रहा है कि अपने बड़ोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये अपना स्वत्व छोड़ दिया जाय। पितामह भीष्मको जब पता लगा कि उनके पिता मत्स्यगन्धाको चाहते हैं तो पिताकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उन्होंने अपना राज्याधिकार छोड़ दिया और आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। अतः गुरुजनोंकी इच्छा पूर्ण कर दी जाय, हम लोग अपना जीवन-निर्वाह भिक्षा माँगकर कर लेंगे।

मेरे एक मित्र हैं। कोई बात उन्हें स्वीकार न करना हो तो उसका खण्डन वे नहीं करते। वे उस बातमें दोष भी नहीं निकालते। वे कहते हैं—'यह बात मेरी समझमें नहीं आयी।' उनके भक्त समझ जाते हैं कि यह बात उनको स्वीकार नहीं है, उनके मतके अनुसार मानने योग्य नहीं है। इसी प्रकार अर्जुन भी युद्ध करना अनुचित ही है, यह तो नहीं कहता; किन्तु कहता है कि युद्ध करनेका औचित्य हमारी समझमें नहीं आता।

अच्छा, मानलो कि युद्ध किया ही जाय तो यह क्या निश्चित है कि युद्धमें हम ही विजयी होंगे? विषय और भोग मिलेंगे ही, यह पहलेसे निश्चिय मान

लेना तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। हम विजयी हो सकते हैं और विजित भी हो सकते हैं। युद्धमें जीत भी जायँ तो उसका परिणाम क्या?

इस प्रकार अर्जुनने युद्ध न करनेके पक्षमें कई तर्क दिये—

1. धर्म-विवेक उपस्थित किया उसने कि गुरुजनोंको मारना उचित नहीं है।

2. स्वजनोंको मारनेसे तो भिक्षा माँगना श्रेष्ठ है।

3. गुरुजन धनलोलुप भी हों तो धन उन्हें दे देना चाहिये।

4. यह निर्णय नहीं हो पाता कि युद्ध करना श्रेष्ठ है या नहीं?

5. युद्धमें जय-पराजय सन्दिग्ध है।

6. जिनको मारकर हम स्वयं जीवित नहीं रह सकते, उन्हें मारा कैसे जाय?

इस श्लोकका इस प्रकार अर्थ यह मानकर किया जाता है कि अर्जुनको शंका है कि युद्धमें किसकी विजय होगी? लेकिन उसको जय-पराजयमें शंका होना उचित नहीं है। अर्जुनके मनमें दृढ़ विश्वास है कि विजय तो मेरी ही होगी। भगवान् व्यासने अर्जुनसे कहा था कि विजय तुम्हारी होगी। बलरामजीने कहा था कि तुम विजयी होंगे। श्रीकृष्ण तो विजयका बार-बार आश्वासन दे ही चुके हैं। वे तो घोषणा कर चुके हैं कि दुर्योधन तथा उसके पक्षपाती मारे जायँगे। युद्धके प्रारम्भमें अर्जुनने श्रीकृष्णके कहनेसे भगवती दुर्गाकी स्तुति की और देवीने प्रकट होकर विजयी होनेका वरदान दिया, यह कथा भी महाभारतमें ही है। इन सबके वचनोंपर अर्जुनको विश्वास नहीं था उसे सन्देह है, ऐसा मानना अर्जुनके ऊपर अनुचित आक्षेप है।

युद्धके प्रारम्भमें रुक्मी एक अक्षौहिणी सेना लेकर अर्जुनके पास आया और बोला—'यदि तुम यह स्वीकार करो कि कौरवोंसे तुम डरते हो और विजयमें तुम्हें सन्देह है तो मैं तुम्हारे पक्षसे युद्ध करूँगा, अन्यथा कौरवोंके पक्षमें जाता हूँ।'

अर्जुनने उत्तर दिया था—'तुम ही नहीं, तुम्हारे समान और सहस्रों शूर मेरा पक्ष न लें और कौरवोंके पक्षमें चले जायँ तो भी मुझे कोई भय नहीं है। केवल वासुदेव मेरे रथपर बैठे रहें तो गाण्डीव लेकर अकेला ही—'**ससुरा-सुमानुषम्**' सम्पूर्ण, देवता, दैत्य और मनुष्योंको पराजित कर देनेमें समर्थ हूँ।'

वे भगवान् वासुदेव अर्जुनके रथपर विराजमान ही हैं, अतः अर्जुनको अपने विजयी होनेमें सन्देह तो हो ही नहीं सकता। अतएव इस श्लोकका अर्थ दूसरे ढंगसे होना चाहिये; क्योंकि अर्जुनके मनमें अपने पराजित होनेकी शंका आ ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण यह नहीं मानते कि अर्जुन डर गया है। वे कहते हैं—

'**भयाद्रणादुपरतं मन्स्यन्ते त्वां महारथाः।**' 2.35

'दूसरे महारथी समझेंगे कि तुम डरकर युद्धसे हट गये हो, यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम भयभीत नहीं हो।'

इसलिये '**कतरन्नो गरीयो**' का अर्थ है—'यदि ते नो जयेयुः तदा गरीयः यदि वा वयं जयेम तदा गरीयः।' जीत किस पक्षकी होना श्रेष्ठ है, यह विचार करना चाहिये। जिस पक्षकी विजय श्रेष्ठ हो, उसी पक्षकी विजय होने दी जाय। अर्जुनका तात्पर्य है कि जय-पराजय दोनों अपने अधिकारमें-अपनी मुट्ठीमें हैं;किन्तु विजय किसकी करनी उचित है, '**एतत् न विद्मः**' यह निश्चय मैं नहीं कर पा रहा हूँ।

जिनको मारकर हम लोग स्वयं जीवित नहीं रहना चाहते, वे धृतराष्ट्रके पुत्र और पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, भाई दुर्योधन आदि तो युद्धके मुख्य मोर्चेपर ही खड़े हैं। युद्ध हुआ तो पहले उन्हें मरना ही पड़ेगा। इस प्रकार युद्धमें कौरवपक्ष मारा जायगा और उनको मारकर हम लोग जीवित रहना नहीं चाहेंगे, अतः दोनों पक्षका नाश हो जायगा। यदि युद्ध न किया जाय तो अधिकसे अधिक यह होगा कि कौरव हमें मार दे। फिर भी विजयी होकर वे राज्य करेंगे,बचे रहेंगे। हमारा कुल नष्ट नहीं होगा। वंश-परम्परा चलती रहेगी। इस प्रकार मुझे तो यही उत्तम लगता है कि हम विजयकी आकांक्षा त्याग दें।

बात यह है कि चित्तमें जब कोई संस्कार बद्धमूल होता है तो हृदयमें ज्ञानका उदय भी हो तो वह उसी संस्कारसे आच्छन्न हो जाता है। किसीके प्रति यह भाव हो कि यह हमारा शत्रु है तो वह व्यक्ति चाहे जितने प्रेमसे, चाहे जैसी हितकी बात कहे, लगेगा यही कि वह कोई हानि पहुँचाना चाहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोहके संस्कार हों तो ज्ञान भी उनके रंगसे रंग जाता है, जैसे रंगीन काँचके बल्वमें विद्युतका प्रकाश रंगीन बन जाता है। यहाँ अर्जुनके मनमें मोह प्रबल है, अतः उसका विवेक भी मोहसे आच्छन्न ही व्यक्त हो रहा है।

अर्जुनकी दृष्टि कहाँ अटकी है? वह यहाँ किसकी बात कर रहा है? यह न ब्रह्मात्मैक्यकी बात है, न शुद्ध ब्रह्मकी, न मायाविशिष्ट ब्रह्म ईश्वरकी, न कूटस्थ आत्माकी, न कर्ता-भोक्ता जीवकी ही। अर्जुन तो यहाँ देहकी बात कर रहा है। उसकी बुद्धि शुद्ध ब्रह्म, सगुण निराकार, सगुण साकार ईश्वर, माया, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचमहाभूत आदिमें कहीं नहीं है। स्थूल देहाकारमें परिणत पंचीकृत पंचमहाभूतोंमें, जिन्हें मनसे अपना मान लिया, उस जीवसृष्टिमें अर्जुनकी बुद्धि अटकी है। अर्जुनकी दृष्टि ईश्वर-सृष्टिमें नहीं है, 'मैं-मेरा'में आबद्ध है। दु:ख जीवसृष्टिमें है, ईश्वरसृष्टिमें नहीं।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

तै. उ.3.1

जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें जीवित-स्थित रहते हैं, जिसमें चलते 'प्रयन्ति गच्छन्ति' क्रियाशील होते हैं, अथवा जिसमें सुखका अनुभव करते हैं। 'प्रीञ्' धातु 'तर्पण' भी है अत: प्रयन्तिका अर्थ 'तृप्यन्ति-सुखमनुभवन्ति' हुआ। जिसमें इच्छा पूरी होनेपर दूसरी इच्छाका उदय होनेतक कुछ सुखका अनुभव करते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं। इस श्रुतिमें 'यत:' पदका क्या अर्थ है? वैसे तो 'यत:' पदका अर्थ ब्रह्म है; किन्तु श्रुति स्वयं 'यत:' पदका अर्थ बतलाती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन-
जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै. उ. 3.6

'यत्' पदका अर्थ आनन्द। आनन्दसे यह सृष्टि हुई, आनन्दमें स्थित है, आनन्दमें क्रियाशील है और आनन्दमें ही यह लीन होती है। जगत्‌की उत्पत्ति जीवन, गति और प्रवेश आनन्दमें ही है। ईश्वरकी सृष्टिमें दु:ख है ही नहीं।

तब दु:ख कहाँसे आया? उस आनन्दाभिन्न प्रत्यक् चैतन्यको न जानकर। अर्जुन अज्ञानी जीवोंका प्रतिनिधि बनकर बोल रहा है। लोककल्याणके लिये जीवोंमें जो मोह है, उसका उसने अपनेमें आरोप कर लिया है। जैसे न्यायालयमें वकील अपने मुवक्किलसे तादात्म्य करके उसकी बातको अपनी कहकर बोलता है। उत्तम वकील वह है जो प्रतिपक्षी क्या-क्या कहेगा, इसके लिये पहलेसे तैयार होकर आता है। अर्जुनके मनमें जीवोंके उद्धारकी आकांक्षा है, अत: जो भी दोष जीवोंमें सम्भव हैं, सब अपनेमें

आरोपित करके बोल रहा है। अन्यथा अर्जुन तो नरका अवतार है, साक्षात् नारायणकी दूसरी मूर्ति है। उसमें मोह या अज्ञान कैसे आ सकते हैं?

लेकिन, अर्जुन जिस मोहको लेकर बोल रहा है, वह रागमूलक है। द्वेषमूलक या अभिनिवेशमूलक नहीं। अभिनिवेशमूलक मोह अतिशय दुष्ट होता है। इसका अर्थ है मरनेका भय और यह अर्जुनको नहीं है। वह तो मरनेको उद्यत है। वह तो कहता ही है—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ 1.46

द्वेषमूलक अभिनिवेश भी अर्जुनको नहीं है। वह तो कौरवोंको स्वजन कह रहा है। उनको विजय देना चाहता है। उसके मनमें अभिनिवेश और द्वेष नहीं है, अतः उसका पक्ष सत्पक्ष है। उसकी दुर्बलता है, राग और ममता। राग अज्ञानकी ही अभिव्यक्ति है, अतः अर्जुन अज्ञानमात्रसे पीड़ित है।

रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥ तृप्ती दीप
—पंचदशी 7.191

जिस वृक्षके कोटरमें अग्नि हो, वह हर-भरा कैसे रह सकता है। इसी प्रकार चित्तमें राग होना अज्ञानका चिह्न है। जिसके हृदयमें संसारका राग होगा, उसे रोना पड़ेगा '**प्रियं त्वां रोत्स्यति**'। तुम किसीसे प्रेम करोगे तो वह दो काम करेगा-एक तो तुम्हें रुलायेगा और दूसरे बाँधेगा, बन्धन देगा। 'रोत्स्यति'—रोध करेगा।

'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो'

अर्जुन कौरवोंके मोहमें पड़ा है। ये मेरे स्वजन हैं, इन्हें कैसे मारा जाय? इसका परिणाम है—

1. अर्जुन श्रीकृष्णके मतके विपरीत जा रहा है।
2. अपने क्षत्रियधर्मका त्याग करनेको तैयार है।
3. धर्मराज युधिष्ठिरके राज्यकी स्थापनामें बाधा पड़ रही है।

यह सब अनर्थ अर्जुनके मोहके कारण उपस्थित है।

●

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 7॥

'मेरा क्षत्रियोचित शौर्य-वीर्यादि स्वभाव अज्ञान एवं कायरतारूप दोषसे अभिभूत हो गया है। अपने धर्म अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। इसीलिये मैं आपसे पूछ रहा हूँ, विशेष करके मेरे लिये निश्चित रूपसे जो भी श्रेय:पक्ष— कल्याणकारीमार्ग हो, वह मुझे बतलाइये! मैं आपका शिष्य हूँ। शरणागत हूँ। मुझे शिक्षा दीजिये।'

अर्जुनने भगवान्‌की शरण ग्रहण की, यहाँसे गीताका प्रारम्भ और अर्जुनके ही शब्द—'**करिष्ये वचनं तव**' (18.73) पर गीताकी समाप्ति वैष्णव सम्प्रदाय मानते हैं।

अद्वैत सम्प्रदायमें 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' (2.11) से प्रारम्भ और 'मा शुचः' (18.66) पर ही समाप्ति मानते हैं।

उचित तो यही लगता है कि जब गायकका आलाप प्रारम्भ हो, तब संगीतका प्रारम्भ और जब उसका आलाप समाप्त हो, तब संगीतकी समाप्ति। श्रोताकी प्रार्थना और स्वीकृति तो उसके अंग ही होते हैं, अंगी संगीत है, वही गीता है।

अर्जुनने यहाँ अपने दोष बताये हैं। वह कहता है—'कार्पण्य दोषसे मेरा स्वभाव उपहत हो गया है। मेरा क्षत्रियत्व दब गया है। मुझे धर्मका ज्ञान नहीं है। धर्मके सम्बन्धमें मेरा चित्त मोहग्रस्त हो गया है।'

'**कार्पण्य**' क्या है? 'कृपणस्य भावः कार्पण्यम्' कृपणताका भाव कार्पण्य कहा जाता है। उपनिषद्‌में बताया गया है कि कृपण कौन है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।'

बृह. उप.

जिसे मनुष्य-देह मिला और फिर भी उसने अपने अविनाशी स्वरूपको नहीं जाना, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान हुए बिना ही मर गया, वह कृपण है। लोकमें कृपण उसे कहते हैं, जिसके पास धन था; किन्तु न उसका उसने भोग किया, न दान। गाँठमें धन बाँधे ही मर गया। अब मरनेपर निर्णय करो कि उस धनका उत्तराधिकारी कौन? मुट्ठी बाँधे रहना कृपणता है। अत: जिसने प्रपञ्चका त्याग नहीं किया, वह कृपण। यह कृपणता, यह कार्पण्य शुद्ध तत्त्वका ज्ञान न होने देनेके कारण सम्पूर्ण दोषोंका जनक है। आवरण और भ्रान्तिका हेतु होनेके कारण यह अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण स्वभाव उपहत हो गया है।

स्वरूप उपहित होता है और स्वभाव उपहत होता है। इस 'उपहित' तथा 'उपहत' का भेद समझ लेना चाहिये। बचपनमें मुझे शुक्राचार्य और शुकाचार्य भेद नहीं जान पड़ता था। 'शुक ' तथा 'शुक्र' में जो रेफका अन्तर है, वह ग्रहण नहीं होता था। आज भी लोग मुजफ्फरनगरके पास गंगाकिनारे 'शुकताल' को इसी भूलसे 'शुक्रताल' कहते हैं। वैसे, दैत्यगुरु शुक्राचार्यसे उस स्थानका कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ तो शुकदेवजीने परीक्षितको भागवत सुनाया था।

उपहतका अर्थ है मरा हुआ—मृतपाय और उपहितका अर्थ है ढका हुआ। स्वरूप उपाधियोंसे उपहित होता है, ढक जाता है और स्वभाव उपहत होता है—मृतप्राय हो जाता है। अर्जुन कहता है कि कार्पण्य दोषने मेरे क्षत्रिय स्वभावको लगभग मार डाला है।

'कार्पण्योपहतस्वभाव: ', दोषोपहत: स्वभाव: ', 'कार्पण्यदोषोपहत-स्वभाव: '—ये तीन खण्ड कर लो इसके। कार्पण्यसे स्वभाव उपहत हो गया, दोषोंसे स्वभाव उपहत हो गया। दोषोंकी चर्चा तो स्वयं अर्जुन कर ही आया है—

दोषैरेतै: कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकै:।
उत्साद्यन्ते जातिधर्मा: कुलधर्माश्च शाश्वता:॥ 1.43

कार्पण्यं-बद्धमुष्टित्वं। जिसे लेना ही आये, देना न आये। जिसने संग्रह करना ही सीखा, त्याग करना नहीं सीखा, वह कृपण। अत: कृपण वह जो संसारके भोगोंको-लोगोंको छोड़ न सके। अर्जुन अपने सम्बन्धियोंको छोड़ नहीं सकता, यही उसका कार्पण्य है।

अमृतत्व त्यागसे मिलता है, अतः त्याग अपनाओ। घरमें बच्चोंको त्यागकी शिक्षा दो। तुम्हारे घरमें दो बच्चे हैं तो बड़े बच्चेको सिखलाओ कि कोई अच्छी वस्तु मिले तो पहले छोटे भाईको देनी चाहिये। छोटे बच्चेको शिक्षा दो कि कोई भी वस्तु हो, पहले बड़ा भाई ले ले, तब छोटे भाईको लेनी चाहिये। बच्चोंमें फल, मिठाई, खिलौनेके लिये झगड़ा नहीं होना चाहिये। झगड़ा ही हो तो इस बात पर हो कि बड़ा भाई कहे कि छोटा उसके देने पर भी लेता नहीं है। छोटा कहे कि बड़ा भाई पहले नहीं खाता तो वह कैसे खा ले?'

जब घरमें अथवा समाजमें सब लोग अपनेको ही आगे रखना चाहने लगते हैं, तब निश्चय ही दुःख और संघर्षका वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकारकी दूषित मनोवृत्तिके कारण माता, पिता और समाजके वे समझदार लोग हैं जो पहलेसे त्याग सिखलानेवाली समुचित शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था नहीं करते। छोटी-छोटी वस्तुओंके त्याग-अभ्याससे ही आगे चलकर परमार्थके क्षेत्रमें सत्य-परमात्मवस्तुको प्राप्त करनेकी योग्यता आती है। उचित-अनुचितके विवेकके बिना ही केवल पाना और पकड़ना ही सीखा-सिखलाया गया तो इसमें किंचित् भी संशय नहीं कि मनुष्य परमार्थसे तो विमुख रहेगा ही, व्यक्ति जीवनमें और समाजमें क्लेश एवं संघर्षका भी हेतु रहेगा।

इस प्रकार जब धनका, पदार्थका मोह छूटेगा तो अन्नमयकोषका त्याग होगा, फिर प्राणमयका, मनोमयका, विज्ञानमयका और आनन्दमयकोषका भी क्रमशः त्याग होता जायगा। इस प्रणालीसे तुम परमार्थतत्त्वको पा सकोगे।

अर्जुन इस समय त्यागसे विमुख हो गया है। वह स्वजनोंके मोहका त्याग नहीं कर पाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अविद्या-परिवारका त्याग आवश्यक है। फिर अविद्याकी निवृत्तिके लिये तत्त्वज्ञानविषयक, अज्ञानका त्याग आवश्यक है, तत्त्वज्ञान होनेपर प्रपञ्चका बाध होता है। तत्त्वज्ञानसे पूर्व तो 'नेति नेति'के मार्गसे प्रपञ्चका अपवाद करना पड़ता है।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रीशंकराचार्यने निवृत्ति अथवा त्यागका अत्यन्त आग्रह प्रकट किया है। इसमें उनका उद्देश्य अपने सम्प्रदाय अथवा संन्यासियोंका समूह बढ़ाना नहीं है। यह निश्चित है कि जो त्यागके मार्गपर चलता है उसको ही परम सत्यकी प्राप्ति होती है। विषय-त्यागसे

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। आँखोंको स्वच्छ करनेके बाद ही किसी वस्तुको स्पष्टतासे देखा जा सकता है। किसी वस्तुको देखने समझनेके लिये सबसे पहलसे एकाग्रता आवश्यक है। एकाग्रता दो प्रकारकी होती है- समाधानकी एकाग्रता, तथा निदिध्यासनकी एकाग्रता। समाधानकी एकाग्रता बहिरंग साधन है। इसकी प्राप्ति विवेक, तथा शम, दम आदिसे होती है। निदिध्यासनकी एकाग्रता 'तत्' और 'त्वं' पदार्थके शोधनसे प्राप्त होती है। 'मैं-मेरे'का भेद जीव सृष्टि है, इससे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये पहले राग-द्वेषकी निवृत्ति आवश्यक है- '**यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**' शुद्ध होकर ही शुद्धसे मिला जा सकता है। पूर्ण तत्त्वकी प्राप्तिके लिये तो सम्पूर्ण ईश्वरसृष्टिका भी त्याग करना पड़ता है। किन्तु पहले जीवसृष्टिका त्याग, फिर ईश्वरसृष्टिका अपवाद-यह क्रमसाधना ही तत्त्वज्ञानकी योग्यता प्रदान करती है।

हमारा कार्पण्य यह है कि हम अनात्माका त्याग नहीं कर सकते। अर्जुन जीव सृष्टिका—'मैं-मेरे'के भावका त्याग नहीं कर पा रहा है। पहले जीवसृष्टिका त्याग करो, तब अन्तःकरणकी शुद्धि होगी। जीवसृष्टिका त्याग करनेपर ईश्वरसृष्टिका अपवाद करनेका अधिकार प्राप्त होता है और ईश्वरसृष्टिका अपवाद करनेसे पदार्थका शोधन होकर तत्त्वज्ञान होता है।

अब कहो कि हम जीवसृष्टिका तो त्याग नहीं करेंगे। यह शरीर मेरा, यह धन मेरा, यह मकान मेरा, यह स्त्री-पुत्र परिवार मेरा। यह जीवसृष्टि तो हम पकड़े रहेंगे, केवल ईश्वरसृष्टिका त्याग करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करेंगे तो तुम पूरी पृथ्वीके स्वामी थे ही कब? कब सम्पूर्ण मिट्टी या सम्पूर्ण पानीपर तुम्हारा अधिकार था कि तुम उसका त्याग करोगे? बहिरंग साधन छोड़कर अन्तरंगमें लगोगे तो आगे नहीं बढ़ोगे। जो शारीरिक त्याग नहीं कर सकता, उसके मनमें त्यागका भाव हो भी तो दुर्बल होगा। जब अवसर आनेपर कोई धनका त्याग कर सके, शरीरसे कष्ट उठा सके, तभी तो परीक्षा होगी कि उसमे त्यागका भाव है।

क्षत्रियस्वभाव निषेध प्रधान है। प्रपंचका बाध तो तत्त्वज्ञानसे होता है। पहले तो उसका अपवाद-निषेध ही करना पड़ता है, किन्तु अर्जुन कहता है कि इस समय कार्पण्यदोषसे अर्थात् मोहके कारण उसका यह स्वभाव उपहत-मूर्च्छित हो चुका है।

अर्जुनका स्वभाव उग्र क्षत्रिय स्वभाव है। वह युद्धसे विमुख होना जानता ही नहीं। महाभारत युद्धमें एक युधिष्ठिरके गाण्डीव धनुषकी निन्दा करनेपर अर्जुनने उनके विरुद्ध शस्त्र उठा लिया था। कथा ऐसी भी आती है कि श्रीकृष्णसे भी अर्जुनने युद्ध किया है। दुर्वासाकी प्रेरणासे श्रीकृष्णने गन्धर्वराज चित्ररथको मारनेकी प्रतिज्ञा की। चित्ररथने सुभद्राकी शरण ली और सुभद्राने उसे अभय दे दिया। अतः सुभद्राकी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये अर्जुनने श्रीकृष्णसे युद्ध करके गन्धर्वके प्राण बचाये। शत्रुको सहन न करना यह अर्जुनका निश्चित स्वभाव है। गीतामें इस स्वभावके विषयमें कहा गया है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

अर्जुनका यह स्वभाव मुमुक्षुका स्वभाव है, जो रागकी, काम-क्रोध-लोभ-मोहकी, दृश्य प्रपंचकी सत्ताको सहन ही नहीं करता। दृश्यके रूपमें उपस्थित किसी विषयके खण्डनसे हिचकता नहीं। इस 'स्वभाव'की व्याख्या गीतामें है-'**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**' अध्यात्म और स्वभाव पर्यायवाची हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29

अध्यात्मको जानेगा कौन? जो परमात्माका आश्रय लेगा।

'आत्मनि इति अध्यात्मं' शरीरके भीतरकी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाका नाम स्वभाव है। अर्जुन कहता है कि मेरे उस स्वभावमें आज बाधा पड़ गयी है। जैसे मशीनमें कपास डालनेपर सूत निकलना चाहिये, किन्तु जब नहीं निकलता तो समझा जाता है कि मशीनमें कहीं गड़बड़ी है-कुछ बिगड़ गयी है। इसी प्रकार अर्जुनके क्षत्रिय स्वभावमें आज गड़बड़ी आगयी है। क्षत्रियका स्वभाव गीतामें बताया गया है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ 18.43

शूरता-तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान देना और ईश्वरभाव-अपनेको समर्थ मानना, यह क्षत्रियका स्वभाव है।

अपनेमें जीवभाव-असमर्थताका भाव न आये, इन्द्रियोंपर मनपर

अधिकार रखो। यदि मन वशमें नहीं, जिह्वा, नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियाँ वशमें नहीं, तो ईश्वरभाव कहाँ रहा? फिर तो उसका लोप हो गया।

अर्जुन कहता है कि दुर्योधन, दु:शासन आदि शत्रुओंको सम्मुख देखकर, धर्मराज युधिष्ठिरको राज्यहीन देखकर मेरे मनमें शत्रुओंसे संग्राम करनेका उत्साह उमड़ता था। यह मेरा स्वभाव है। लेकिन कार्पण्यने उस स्वभावको घायल कर दिया है।

अब श्रीकृष्ण कहें कि अर्जुन, जब तुम यह समझ गये हो कि तुम्हारे स्वभावको कार्पण्यने घायल किया है, तब विचार करके अपने धर्मका-कर्तव्यका निर्णय कर लो; क्योंकि 'प्रज्ञा शरणं भूतानां' जब अपने मनमें सन्देह हो, कर्तव्याकर्तव्यमें विकल्प हो, तो बुद्धिकी शरण लेनी चाहिए। इसके उत्तरमें अर्जुन कहता है-'**धर्मसम्मूढचेता:**' चित्त सम्मूढ हो गया है।

'**असम्मोहो दम शम:**' इन्द्रियों और मनको वशमें कर लेना असम्मूढता है।

गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्।

अमूढ पुरुष उस अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं; किन्तु इस समय अर्जुनका चित्त सम्मूढ है। 'मुह् वैचित्त्ये' चित्तकी विपरीत अवस्था हो जानेका नाम मोह है।

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले। श्रीमद्भागवत

केवल अद्वितीय परमात्मतत्त्वमें विकल्प है, एकको अनेक देखना, द्रष्टाको दृश्य देखना ही सम्मोह है।

जितनी ज्ञानात्मक धातुएँ हैं, सब सकर्मक हैं-जैसे, वह संगीत जानता है, उसे निर्माणकला आती है। लेकिन 'चिती संज्ञाने' अकर्मक धातु है। इसका तात्पर्य है कि जो स्वयं प्रकाशित हो उसको चित्त कहते हैं। ऐसा चित्त मोहसे तादात्मयापन्न होकर सम्मूढ हो गया। विवेक वैराग्य नहीं हुआ, श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं हुआ, अत: मल, विक्षेप, आवरणकी निवृत्ति नहीं हुई। फलत: धर्मके सम्बन्धमें हमारा चित्त सम्मूढ हो गया है।

धर्मका अर्थ लोगोंने ईश्वर भी किया है, ब्रह्म भी किया है-'**एष सेतुर्विधरण:।**'

दूसरे वचन भी मिलते हैं-'**धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति**' तथा '**धर्मो धातु स्वभावत:।**'

अतएव '**धर्मसम्मूढचेता:**' का तात्पर्य है-आत्माके सम्बन्धमें, कर्तव्याकर्तव्य निर्णयके सम्बन्धमें हमारी बुद्धि सम्मूढ हो गयी है।

'**यच्छ्रेय स्यात्**' जो केवल प्रेय न हो, श्रेय हो। यह कठोपनिषत्का प्रसंग है। षट्चक्रकी साधनामें 'अ' से लेकर 'अ:' तकके अक्षरोंका न्यास दूसरे चक्रोंमें करते हुए 'क' से लेकर 'ठ' तकके दस अक्षरोंका न्यास हृदयकमलके दस दलोंमें किया जाता है। अत: 'क ठ' यह हृदयका बोधक है। कठोपनिषत्का अर्थ हृदयोपनिषत् है। इस उपनिषत्में प्रेयके त्याग एवं श्रेयके वरणका प्रतिपादन है। यही बात अर्जुन कह रहा है कि जो श्रेय है, वह मुझे निश्चित करके बतलाइये।

एक महात्मा कहा करते थे कि जो अपने अज्ञानको जान लेता है, वह ज्ञानकी ओर पहला पग बढ़ा देता है और जो अपनेको ज्ञानी जानता है, वह अज्ञानकी ओर जा रहा है, क्योंकि ज्ञानका अभिमानी बनना अज्ञानकी ओर जाना है। अभिमान ज्ञानका कार्य नहीं है, ज्ञान तो अभिमानका निवर्तक है। अर्जुनने ज्ञानकी ओर पहला पग यह बढ़ाया कि उसने अपने विवेकी होने, धर्मज्ञ होनेका अभिमान त्याग दिया। गीतामें ज्ञानका लक्षण बतलाते हुए- '**अमानित्वमदम्भित्वं**' आदि कहते हुए '**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा**' में ज्ञानका पहला लक्षण अमानित्व-अभिमानहीन होना बताया गया है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्याविनिवृत्तकामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै: गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्॥ 15.5

अमूढ वह है जिसमें कालका मान नहीं, मोह नहीं। मान कहते हैं मापको। एक मिनट, दो मिनट आदि कालका मान है। एक सेर, दो सेर आदि वस्तुका मान है। एक मील दो मील आदि देशका मान है। इस प्रकार देश, काल, वस्तुमें किसी भी नपी-तुली सीमासे जो अपना तादात्म्य नहीं करता, देश-काल-वस्तुसे अपनेको परिच्छिन्न नहीं मानता, वह निर्मान है। देश, काल, वस्तुसे अपनेको परिच्छिन्न मानना मान है। अभिमान तो आसुरी सम्पत्ति है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ 16.4

अतएव अभिमान करना आसुरी भाव है। थोड़ा-सा मान रहना दैवी सम्पत्ति-साधनका मार्ग है।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ 16.3

व्यवहारमें अभिमान मत करो, किन्तु थोड़ा-सा आत्मसम्मान, आत्मगौरव रखो। मैं साधु हूँ, मैं साधक हूँ, मैं वैष्णव हूँ, मैं भला ऐसी बुराई, ऐसे अपव्यवहार कैसे कर सकता हूँ? इस प्रकारका थोड़ा-सा मान साधनमें सहायक है और मानका सर्वथा त्याग ज्ञान है। परमार्थमें मानका सर्वथा त्याग है—

ज्ञान मान जहँ एकहुँ नाहीं।

जिसे अपनी भूल न दीखे, वह अन्धा है। जो समझे कि मुझसे भूल नहीं होती, वह अज्ञानी है। हम आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचाके चश्मेसे ही तो विषयको देखते हैं। हमारे ये यन्त्र अत्यन्त दुर्बल हैं। बहुत पासकी और बहुत दूरकी, बहुत छोटी या बहुत बड़ी तथा भूत एवं भविष्यकी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेमें हमारी इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। आँख केवल रूप पकड़ पाती है शब्द नहीं, कान शब्द ग्रहण करते हैं तो रूप नहीं, ऐसी ही दूसरी इन्द्रियोंकी दशा है। इनकी शक्ति सीमित है, एक अनुपातका ही ज्ञान इन्द्रियोंको हो पाता है। इन सामर्थ्यहीन दुर्बल यन्त्रोंके द्वारा प्राप्त ज्ञानको ही मनुष्य सच्चा और निर्भ्रान्त मान ले, यह सबसे बड़ा अज्ञान है।

अर्जुनको अपनी भूल दीखने लगी। उसका विवेकीपन अभिमान चला गया। वह समझ गया—'**युद्धे चाप्यपलायनम्।**'

यह मेरा क्षत्रियधर्म कार्पण्यदोषसे आहत हो गया है। मैं जो इन कौरवपक्षीय लोगोंका मोह नहीं छोड़ पाता हूँ, यह मायाका प्रपंच है। अवश्य मेरी बुद्धि कर्तव्यनिर्णयके सम्बन्धमें सम्मूढ हो गयी है। अतएव '**पृच्छामि**' पूछ रहा है।

जब अपनेको मार्ग न सूझ पड़े, अपनी बुद्धि भ्रममें हो तो दूसरेसे पूछ लेना चाहिये। एक बार मैं कहीं जा रहा था। कई बारका आया-गया मार्ग था, फिर भी दिग्भ्रम हो गया। मैंने सोचा, पूछना क्या-चले चलेंगे। बहुत देर चलनेपर एक गाँव मिला और पूछा तो पता लगा कि मैं अपने गन्तव्यसे उलटे

चार मील दूर चला आया हूँ। अब यदि पहले ही पूछ लेता तो इतना व्यर्थ चक्करमें क्यों काटना पड़ता!

श्रीकृष्णने पूछा—'क्या पूछते हो?' अर्जुन कहता है-'**यच्छ्रेयः स्यात्**' जो मेरे लिये कल्याणकारी हो '**तन्निश्चितं ब्रूहि**' वह निश्चित करके बतलाइये।

लोग अपने मनसे ही सम्मोहित रहते हैं। अपने मनके विरुद्ध बात पहले तो सुनना ही नहीं चाहते और संकोचवश सुन भी लें, तो मानना नहीं चाहते। अतः देखो यह कि तुम मनमुख हो या गुरुमुख? मनमुख? मनमुख प्रेयमार्गमें-मनको अच्छा लगनेवाले रास्तेमें जाता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। कठोपनिषत् 1.2.9

धीर पुरुष विवेक करता है कि मन इधर ले जा रहा है, यह बात मनको अच्छी लगती है, किन्तु भलाई इसमें नहीं, इसके विपरीत बातमें है। किसीने तुम्हारी बुद्धिकी प्रशंसा की-'आप बड़े बुद्धिमान् हैं', किसीने कहा-'आपकी पसन्द उत्तम है।' यह सब प्रेयका मार्ग-मूर्ख बननेका मार्ग है। प्रेम तत्काल मीठा लगता है, किन्तु उसका परिणाम कड़वा होता है और श्रेय पहले कड़वा लगता है, किन्तु उसका परिणाम मधुर होता है। अर्जुन कहता है कि मुझे प्रिय लगे या न लगे, किन्तु जिसमें निश्चित रूपसे मेरी भलाई हो, वह मार्ग मुझे बताइये।

कुछ लोग दस महात्माओंसे पूछते हैं और फिर करते वह हैं जो उनको पसन्द आता है। जैसे दस दूकानोंपर किसी वस्तुका भाव पूछा और जहाँ सस्ता मिला वहाँसे खरीद लिया। ऐसी बात नहीं-जिसमें निश्चित रूपसे भलाई हो, वह कहिये।

'**निश्चितं ब्रूहि**' इसका यह भी तात्पर्य है कि श्रुतिसे, शास्त्रसे, सद्गुरुसे, स्वानुभवसे जो भलाईका पूर्व सुनिश्चित मार्ग हो वह बतलाओ। प्रयोग मत करो। एक लोकोक्ति है-

सीखेगा नाऊका, कटेगा काऊका।

नाईका लड़का बाल बनाना तो सीख ही जायगा इसमें सिरमें या दाढ़ीमें छुरेके घाव तो किसी दूसरेके ही होंगे। डाक्टर लोग भी प्रयोग करते हैं। दवा नयी आयी है, परिणाम ठीक पता नहीं, रोगीको देकर देखते हैं। रोगीको लाभ हो या हानि, उनका अनुभव तो बढ़ता ही है।

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन च पेषितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं तद्वा भविष्यति॥ नीती

चाहे जिस पौधेकी जड़ ले आये, चाहे जो कुछ मिलाकर पीस दिया और चाहे जिस रोगके रोगीको दे दिया। अब परिणाम चाहे जो कुछ हो जाय।

अतएव ऐसा प्रयोग नहीं करना है। जिसने अपने काम, क्रोध, लोभ, मोहको वशमें नहीं किया, जिसने संशय-विपर्ययको मिटाया नहीं, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अज्ञान दूर नहीं किया, वह श्रेयका उपदेश क्या करेगा? लोग कहते हैं-'ऐसा हो सकता है, ऐसा होना सम्भव है।' अरे, जब तुम्हें ही अपनी बातमें पूरा विश्वास नहीं, तुम स्वयं सन्दिग्ध हो तो दूसरेका उससे सन्देह कैसे दूर होगा? इसलिये अर्जुन कहता है-'**निश्चितं ब्रूहि**' 'निश्चित-अनुभूत श्रेय बतलाइये।'

श्रीकृष्ण कहें कि मैं सर्व सामान्यके भलेका मार्ग बतला देता हूँ, जिसमें सबका भला, उसीमें तुम्हारा भी भला, तो यह बात अर्जुनको स्वीकार नहीं है। वह कहता है-'**मे ब्रूहि**' मुझे बतलाइये। मेरे अपने लिये जो निश्चित क्षेम हो, वही बतलाइये। मुझे पंचायती ज्ञान नहीं चाहिये।

बात यह है कि सबके संस्कार पृथक्-पृथक् होते हैं। सबकी वासनायें पृथक्-पृथक् होती हैं। अतः सबकी अज्ञानग्रन्थिके कार्य भी अलग-अलग होते हैं। किसकी गाँठ कैसे खुलेगी, यह गुरुको पृथक्-पृथक् विचार करना पड़ता है। अधिकारीके अनुसार साधन होता है। सबको एक ही साधनका उपदेश-काशी गये सो सब शिवमन्त्र लें और अयोध्या जानेवाले राममन्त्र-सब रोगोंमें अमृतधारा, यह ठीक मार्ग नहीं है। सबको इससे लाभ नहीं होता। अतः अर्जुन कहता है-'**मे ब्रूहि**' मुझे बतलाइये।'

'क्यों तुम्हें बतलायँ?' इसका उत्तर है-'**शिष्यतेऽहं**' मैं आपका शिष्य हूँ। जबतक मेरा कल्याण नहीं होगा, तबतक मैं बार-बार आपका शिष्य होता रहूँगा और तबतक मेरे कल्याणके लिए आपको भी मेरे साथ गुरु बनकर अवतीर्ण होते रहना होगा। अज्ञानके अन्धकारको जो दूर कर दे वह गुरु—

गु शब्दस्त्वन्धकारे स्यात् रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुरुगीता

'गु' शब्दका अर्थ है अन्धकार और 'रु'का अर्थ है उसका विनाशक।

अत: अज्ञानान्धकारको दूर करनेवाले होनेके कारण गुरुको गुरु कहा जाता है।

प्रात:काल गुरुका स्मरण करके ब्रह्मचिन्तन किया जाता है। ज्ञान-दाता गुरुका ध्यान करके, उनकी आज्ञा (मनमें) लेकर, तब ब्रह्मचिन्तन करनेकी विधि है। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि नि:संकल्प होना ही ब्रह्मचिन्तन नहीं है। नि:संकल्प होना तो शान्त होना है। आत्मा तथा ब्रह्मकी एकताके अज्ञानकी निवृत्तिके लिये '**सत्यं ज्ञानानन्तं ब्रह्म**' अथवा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थमें स्थित होना ब्रह्मचिन्तन है। समाधानसे निदिध्यासन बहुत ऊँची वस्तु है। समाधान नि:संकल्पता है और निदिध्यासन ब्रह्मचिन्तन है।

'**त्वां प्रपन्नम्**' मैं आपकी शरणमें हूँ। '**शाधि मां**' मेरा शासन करिये। '**शिष्यस्तेऽहं**' क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। वस्तुत: शिष्य शब्द शासनसे ही बना है। किसीको दण्ड देना शासन नहीं है। जिससे उसकी भलाई हो, ऐसी क्रियाका नाम शासन है। चोरको जो दण्ड दिया जाता है, वह इसलिये नहीं कि उसे कष्ट देना है। उसकी भलाई हो, उसका चोरीका स्वभाव छूट जाय, वह भला आदमी बने, इसलिये जो दण्ड चोरको दिया जाता है, वह शासन कहलाता है। अनुशिष्ट बनानेके प्रयत्नका नाम शासन है। जैसे वृत्तियोंका दमन हो, इन्द्रियाँ तथा मन वशमें हो जायँ. वासनाओंके अनुसार वह न चले, इस प्रकारका विधान जो गुरु करते हैं-उस विधानको शासन कहते हैं।

अर्जुन कहता है—'मैं आपका शिष्य हूँ, मेरा शासन करिये—**शाधि माम्**।' मैं यदि ठीक मार्गपर न चलता होऊँ तो दण्ड देकर भी मुझे ठीक मार्गपर लाइये। **शाधि**-मुझे शिक्षा दीजिये।

'**त्वां प्रपन्नम्**'-मैं आपकी शरणमें हूँ। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि भक्ति और प्रपत्तिमें अन्तर है। श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें ऐसा मानते हैं कि कलियुगमें भक्ति तो कठिन है, किन्तु प्रपत्ति-भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेना सरल है। गीतामें प्रपत्तिकी बात कई प्रकारसे आयी है।

सबकी प्रकृति एक-सी तो होती नहीं। अत: जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसके अनुसार और अपनी कामनाके अनुसार देवताओंकी शरण लेता है—'**प्रपद्यन्तेऽन्य देवता:**' कोई भूत पूजता है तो कोई भैरव या योगिनीकी आराधना

करता है। इन्द्र, कुबेर आदिकी भी शरण लोग लेते हैं। आपने वैदिक प्रार्थना सुनी है—

कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वै श्रवणो दधातु। वेद

'मैं विषयभोगका इच्छुक हूँ, कामेश्वर कुबेर मेरी कामनाओंको पूर्ण करें।' इस प्रकारके लोग एकसे कामना पूरी नहीं होती तो दूसरेका आश्रय लेते हैं। इस प्रकार अन्य देवताओंकी शरण लेनेवालोंको गीतामें आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका बतलाया है—

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः। 9.12

दैवी सम्पत्तिवाले भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। 7.14

इस मायाको वही पार करते हैं, जो मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं। भगवान् कहते हैं कि महात्मा भी मेरी शरण लेते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 7.19

बहुत जन्मोंके अन्तमें कोई ज्ञानी होता है और ज्ञानी होकर वह मेरी शरण लेता है। उसकी शरणागतिका स्वरूप है-'**वासुदेवः सर्वम्**' सब वासुदेव ही है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार गीतामें तीन प्रकारकी शरणागति हुई-(1) अन्योंकी शरणमें जाना, (2) आराध्यरूप भगवान्‌की शरणमें जाना और (3) अपनेको तथा सब दृश्यको ही वासुदेव समझ लेना। इनमें उत्तम पुरुषकी शरणागति तो महात्माकी है। अर्जुन '**त्वां प्रपन्नम्**' मध्यम पुरुष-सम्मुख उपस्थित श्रीकृष्णकी शरण ले रहा है। यह जिज्ञासुकी शरणागति है। जिज्ञासु गुरुकी शरण लेता है। अन्य पुरुषकी शरण-अन्य देवताओंकी शरण सकाम लोग लेते हैं।

एक महात्माने मुझे बतलाया था कि यदि अपने मनमें किसी विषयमें बहुत शंका हो, कोई बड़ा संशय चित्तमें हो, किसी विषयमें ठीक कर्तव्यका निश्चय न हो पाता हो तो रात्रिको सोते समय इस सातवें श्लोककी एक माला जप करके सो जाना चाहिये। जपके बाद दूसरा कोई कार्य, बातचीत या विचार नहीं करना चाहिये। ऐसा करते रहनेसे सात दिनमें ही ठीक उत्तर मिल जाता है। कोई विद्वान् या महात्मा बता दे या स्वप्नमें उत्तर मिले, मिल अवश्य जाता है। ●

: 8 :

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 8॥

'भले ही इस लोकमें निष्कण्टक एवं समृद्ध राज्यकी प्राप्ति हो जाय और परलोकमें देवताओंका आधिपत्य-इन्द्रपद भी मिल जाय, तथापि उसमें मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं दीखती जो मेरी इन्द्रियोंका शोषण, उत्पीड़न करनेवाले शोकको दूर कर दे।'

अर्जुनने गीतामें ही आगे स्पष्ट कहा है—

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते। 6.39

'आपके अतिरिक्त इस संशयको दूर करनेवाला दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। '**न हि प्रपश्यामि**' दूसरा कोई व्यक्ति या पदार्थ त्रिभुवनमें मुझे नहीं दीखता जो मेरे शोकको दूर कर सके।'

यदि शिष्यमें अनन्यता न हो, यही लगता हो कि वह दूसरेके पास चला जायगा, तो गुरु क्यों उसे समझानेका श्रम करे? जबतक शिष्यमें अनन्यता न हो, गुरु उसका उत्तरदायित्व क्यों ले? अर्जुन कह रहा है-'त्वदतिरिक्तं त्वदन्यत् किञ्चित् वस्तुजातं व्यक्तिजातं वा न पश्यामि यद् मम शोकमपनुद्यात्।' आपके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु या व्यक्ति मुझे नहीं दीखता, जो मेरे शोकको दूर करे।

'शोक कैसा है? **उच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।** यह मेरी इन्द्रियोंको सुखाये दे रहा है। मेरी यह अवस्था होती जा रही है कि नेत्रोंके सम्मुखकी वस्तु ठीक-ठीक दीखती नहीं, कान स्पष्ट सुन नहीं रहे हैं, नासिका कोई गन्ध नहीं ले रही है। रसना सूख रही है। कोई मुझे स्पर्श करे तो स्पर्शका पता नहीं लगता। हाथ

कार्य करनेमें असमर्थ हैं। बोलनेमें वाणी कष्ट पा रही है। पैरोंसे खड़ा होना कठिन है। मन विक्षिप्त हो रहा है। जैसे पक्षाघात हो गया हो, इस प्रकार मेरी इन्द्रियोंको यह शोक अशक्त बना रहा है। '**असपत्नमृद्धं**' युद्ध करके मैं विजयी ही होऊँगा, यह जानता हूँ, किन्तु सारी पृथ्वीका शत्रुहीन समृद्ध राज्य मुझे मिल जाय तो भी यह शोक दूर होनेवाला नहीं है।'

भूमिका राज्य शत्रुओंसे घिरा भी होता है और कंगाल राजा भी होते हैं। भारतसे भागकर पाकिस्तान गये हुए जैसे वहाँ नवाब कहे जाते हैं, ऐसे भी राज्यहीन राजा होते हैं। महाप्रस्थानसे पूर्व युधिष्ठिरने प्रद्युम्नके पौत्र वज्रनाभका अभिषेक मथुरामण्डलके राज्यपर किया तो वज्रनाभने कहा-'मथुरामण्डल तो प्रजाहीन निर्जन है। वहाँ राजाकी क्या शोभा?'

लेकिन, अर्जुन कहता है कि पूरी पृथिवीका शत्रुरहित राज्य मिले और वह खूब वैभव-सम्पन्न हो, तब भी उससे मेरा शोक मिटेगा नहीं।

युद्धमें विजय न पाकर मृत्यु ही पायी जाय तो स्वर्ग प्राप्त होगा। भगवान्ने भी गीतामें आगे कहा है—'**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्।**' (2.37)

अर्जुन कहता है कि केवल स्वर्ग ही नहीं, स्वर्गके देवताओंका आधिपत्य-इन्द्रपद भी मुझे मिल जाय, तब भी मेरा यह शोक बिना आपके हटाये दूर नहीं हो सकता।

●

: 9 :

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ 9॥

संजयने कहा—'शत्रुभयंकर अर्जुनने हृषीकेश भगवान्‌से अपनी युक्ति एवं प्रत्युक्तियोंका निवेदन किया और फिर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा श्रीकृष्णसे कहकर फिर चुप हो गया।'

'**एवमुक्त्वा**' अर्थात् '**कथं भीष्ममहं संख्ये**' से लेकर '**सुराणामपि चाधिपत्यं**' तककी बात कहकर अन्तमें '**न योत्स्य**' यह बोलकर अर्जुन चुप हो गया।

'**हृषीकेशं**' इन्द्रियोंमें बैठकर जो इन्द्रियोंका संचालन करता है, इन्द्रियोंका नियन्त्रण करता है तथा नेत्र, नासिकादि इन्द्रियोंके अधिदेवता सूर्य अश्विनीकुमारादिमें स्थित होकर जो उनका नियन्त्रण करता है, वह ईश्वर ही हृषीकेश है।

बाह्य पदार्थ—समष्टिगत अधिदैवकी उपाधिसे नियन्त्रणकर्ताका विचार करनेपर वह बहुत बड़ा लगता है और आन्तरिक पदार्थकी उपाधिसे नियन्त्रणकर्ताका विचार करनेपर वह छोटा-सा लगता है, लेकिन अध्यात्मका विचार इन्द्रियोंकी उपाधिसे किया जाता है और अधिदैवका विचार समष्टि पंचभूतकी उपाधिसे किया जाता है। एक शरीरमें जो मन इन्द्रियादिका अभिमानी होकर बैठा है, वह जीव है और समष्टिके पंचमहाभूत, सूर्य चन्द्रादिका जो अभिमानी है, वह ईश्वर है। ईश्वरका विवेक करना हो तो समष्टिका-मिट्टी, पानी, अग्नि आदिका विचार करना चाहिये और आत्माका विचार करना हो तो इन्द्रियोंका, मनका-अध्यात्मका विचार करना चाहिये। दोनोंका विचार अलग-अलग करना चाहिये। वाच्यार्थमें दोनों पृथक्-पृथक् रहते हुए भी लक्ष्यार्थमें उनकी एकताका प्रतिपादन महावाक्य करते हैं।

अन्त:करणकी शुद्धिके बिना तो परमात्माकी प्राप्ति होती नहीं। अन्त:करणकी शुद्धिके लिये पहले 'तत्' पदार्थका-समष्टिके नियन्ता ईश्वरका विचार करना आवश्यक है। समष्टिके नियन्ताका विचार करते समय जीवसृष्टिका-'मैं-मेरा'का चिन्तन छूट जाता है। इसके बाद जब आत्मचिन्तन-'त्वं' पदार्थका विवेक करते हैं तो कर्तापन छूटता है। ईश्वरके चिन्तनसे 'मम'की शुद्धि और अध्यात्मचिन्तनसे 'अहं'की शुद्धि होती है। पहले 'तत्' पदार्थका चिन्तन करनेसे पदार्थकी ठीक शुद्धि होती है। पहले ही 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करने बैठो तो बात समझमें ही नहीं आयगी। 'मैं अनन्त हूँ' यह मुखसे भले कह लो, जबतक ईश्वरकी अनन्तता समझमें नहीं आती, अनन्त शब्दका अर्थ ही समझमें नहीं आयगा। ज्ञानका मार्ग समझदारीका मार्ग है, मान लेनेका मार्ग नहीं है। अत: जो कहते हो, वह ठीक समझकर कहना चाहिये।

हृषीक कहते हैं इन्द्रियोंको, क्योंकि वे विषयोंका भोग देकर हर्षित करती हैं। ये इन्द्रियाँ जीवकी पतिव्रता पत्नियाँ हैं। ये घूमती तो अपने-अपने विषयोंमें हैं; किन्तु सोती अन्त:करणमें ही हैं और विषयोंमें घूमते हुए भी विषयोंका आनन्द स्वयं नहीं लेती, वह रस लाकर जीवको ही देती हैं। स्वयं विषयोंमें बँधती नहीं हैं। नेत्रको रूप उत्तम लगा तो उसका सुख लाकर जीवको दिया उसने। 'हर्षणाद् हृषीकम्' जीवको हर्षित करनेके कारण इनका नाम हृषीक है। जो इनको शक्ति देता है, इनका संचालक है, वह ईश्वर है। ईश्वर ही देहमें रसयिता, घ्राता, श्रोता आदिकी उपाधि ग्रहण किये बैठा है और वही समष्टिमें नेत्रके देवता सूर्य, स्पर्शके देवता वायु आदिकी उपाधिसे उनका संचालक है। उपाधि छोड़ दें तो ईश्वर एक ही है।

हृषीकेश ईश्वर नित्यप्राप्त है। जैसे इन्द्रियाँ नित्यप्राप्त हैं, जैसे इन्द्रियोंके विषय नित्यप्राप्त हैं, जैसे मन-बुद्धि आदि अन्त:करण नित्यप्राप्त है, वैसे ही इनका नियन्ता अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर भी नित्य प्राप्त है। तुम उसे पहचानते नहीं हो, अन्यथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके समान यह ईश्वर भी तुम्हारे अनुभवमें आजाय।

सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः।

वह सबको अपने वशमें किये है। अन्त:करणके भीतर स्थित होकर

वही वृत्तियोंका नियन्त्रण करता है और समष्टिमें वही पृथ्वी, जल आदि पंचतत्व, सूर्य-चन्द्रादि सब अधिदैव-अधिभूतका नियन्त्रण करता है। जीव और ईश्वर यदि भिन्न-भिन्न कालमें हों तो दोनों अनित्य सिद्ध होंगे, भिन्न-भिन्न देशमें हों तो ईश्वर परिच्छिन्न बन जायगा, अत: ईश्वर और जीव भिन्न नहीं हैं। जो कारण जगत्का नियन्ता है, वही एक देहका भी नियन्ता है। वह जीवसे पृथक् नहीं है।

'ई माया, तस्यां शेते इति ईश:' जो मायामें प्रविष्ट होकर स्थित है, वह मायोपाधिक ईश्वर ही इन्द्रियोंका नियन्ता जीव भी है।

श्रीकृष्णके लिये हृषीकेश शब्द आया और अर्जुनके लिये गुडाकेश। अर्जुनके लिये दूसरा विशेषण है **परन्तप**। ईश्वरकी दृष्टि कोई 'पर' होता नहीं, अत: ईश्वर परन्तप नहीं हो सकता। जीवकी दृष्टिमें 'स्व-पर'का भेद होता है, अत: जीव ही परन्तप हो सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिको तपानेवाला है वह। अर्जुनको परन्तप कहनेका तात्पर्य है कि इसका स्वभाव युद्धसे निवृत्त होना नहीं है। साधन करना जीवका धर्म है।

गुडाकेश: अर्थात् निद्राका स्वामी। निद्राके वश नहीं। वह अविद्याके वश नहीं हुआ है। जिस ताड़काको श्रीरामने मारा था, जो पूतना बनकर श्रीकृष्णके समीप पहुँची थी, वही गुडाका बनकर अर्जुनके पास आयी है; अर्जुन उसके वशमें नहीं हुआ है। उसमें जिज्ञासाका उदय हो गया है।

अर्जुनको '**गुडाकेश**' कहकर उसमें सब प्रकारकी योग्यता सूचित की गयी है। जिसके केश गुडा मुद्राके समान हों अर्थात् घुँघराले हों, उसे गुडाकेश कहते हैं। अंगुष्ठ और तर्जनीको मिलाकर गुडा मुद्रा बनती है। यह अर्जुनके सम्पूर्ण शारीरिक सौन्दर्यका उपलक्षण है। हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, स्वस्थ अर्जुन।

भगवान् शंकरका एक नाम 'गुडाक' है; क्योंकि वे ब्रह्माण्ड गोलमें व्यापक हैं। अर्जुनने अपने शौर्य-वीर्य, पराक्रमके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट कर लिया है और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुनको पाशुपतका दान किया है। वे ही उसके ईश हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्जुनके पास अन्त: सौन्दर्य एवं दिव्य ईश्वरीय प्रसाद भी हैं अर्थात् वे आधिदैविक शक्तिसम्पन्न हैं।

गुडाका अर्थ है निद्रा। अर्जुन उसके ईश-स्वामी हैं। यहाँ निद्रा शब्दसे अविद्याका ग्रहण करना चाहिये। वह साधन-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण

अविद्याके निवारणमें समर्थ है। संजय अर्जुनके लिये 'गुडाकेश' एवं 'परन्तप'का उपयोग करके सूचित करते हैं कि उसके लिये युद्धसे निवृत्ति अस्वाभाविक है उसके स्वरूपके अनुरूप नहीं है। हृषीकेश भगवान् उसे आदेश देकर अवश्य युद्धमें प्रवृत्त करेंगे।

शम-दमादि बहिरंग साधनोंकी अपेक्षासे काम-क्रोधादिको तपानेवाला होनेके कारण अर्जुन परन्तप है और अविद्याका, आवरणका भंग करनेवाला है, अन्तरंग साधन-सम्पन्न है, इस अपेक्षासे गुडाकेश है।

हृषीकेश भी इसे सहन नहीं करेंगे कि अर्जुन शत्रुओंको पराजित न करे। वे इन्द्रियोंके स्वामी ज्ञानदानको उद्यत हैं और यह परन्तप गुडाकेश है, शोक-मोह छोड़नेको प्रस्तुत है। अत: दुश्मनोंको तो यह मारेगा ही।

'न योत्स्य' जैसे बछड़ा जब भूख-प्याससे व्याकुल होकर गायकी ओर दौड़ते हुए गिर पड़ता है तो गाय स्वयं बछड़ेके पास दौड़ आती है। बछड़ेको स्नेहसे चाटने और दूध पिलाने लगती है। इसी प्रकार अर्जुन भी इसलिये **'न योत्स्ये'** कहकर चुप हो गया जिससे श्रीकृष्णमें अधिक वात्सल्य उमड़े। वे जीवोंको शीघ्र ज्ञानामृतका पान करायें।

'न योत्स्येति' इस अर्जुनकी बातमें असंगति है। अभी-अभी तो उसने कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

'मैं आपका 'शिष्य हूँ, आपकी शरणमें हूँ, मुझे समझाइये!' और अब कहता है-' मैं युद्ध नहीं करूँगा।' जब अपने ही मनकी बात करनी है, जब क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसका स्वयं ही निश्चय कर चुके हो तो गुरु क्या बतलायगा? उसे गुरु बनाया ही क्यों और उससे पूछा ही क्यों? अभी तो उसे बोलनेका बतानेका अवकाश भी नहीं मिला और अपना निश्चय पहले सुना दिया कि मैं तो युद्ध नहीं करूँगा।

अब देखना है कि अर्जुनने कहा किससे कि **'न योत्स्ये'**? उसने यह बात कही गोविन्दसे। *'गां वेदलक्षणां वेदयते इति गोविन्द:'* जो वेदरूपी गायको जानते हैं और जनाते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें वही ब्रह्माको वेदका ज्ञान देते हैं। वही ऋषियोंके हृदयमें वेदमन्त्रोंका स्फुरण करते हैं। वेदार्थको जो प्राप्त करते हैं, वेदोंके द्वारा जो प्रतिपाद्य हैं।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्। 15.15

यहाँ श्रीकृष्णके दो नाम संजयने लिये-हृषीकेश और गोविन्द। हृषीकेश होनेसे वे इन्द्रियोंके संचालक हैं, प्राणशक्तिके नियन्ता हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, अपने विचारके अनुसार काम लेनेमें समर्थ हैं। अतः अर्जुनसे जो चाहेंगे, वह करा लेंगे। दूसरा नाम दिया संजयने '**गोविन्द**' अर्थात् वेदवाणीके वही प्रवक्ता हैं, वेदोंके प्रतिपाद्य हैं, सर्वज्ञ हैं, अतः जो चाहेंगे, वह समझा देंगे।

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति। माण्डूक्यकारिका-29

यह तत्त्वज्ञानीकी महिमा है, सामर्थ्य है कि वह जिसको जो कुछ दिखाना चाहे वही दिखा सकता है। श्रीकृष्ण पौरुष, प्रभाव और प्रज्ञाके आकर हैं। समष्टि प्रज्ञा और समष्टि प्राण, दोनोंकी उपाधि स्वीकार करके साक्षात् ईश्वर अर्जुनके रथपर विराजमान है।

अर्जुनके लिये भी संजयने दो विशेषण दिये हैं, गुडाकेश-निद्रासे उपलक्षित तमोगुण, अज्ञान, अविद्याके निवारणमें तत्पर अर्थात् अन्तरंग साधनके लिये प्रस्तुत। दूसरा अर्जुनका नाम लिया **परन्तप**। यहाँ परन्तप धृतराष्ट्रके लिये सम्बोधन नहीं है। यह अर्जुनका नाम है। इसका तात्पर्य है-कामादि दोषोंको, रजोगुणको निवारण करनेवाला।

'**न योत्स्ये**' अर्जुन, 'युद्ध नहीं करूँगा,' यह कहकर '**तूष्णीं बभूव ह**' चुप होगया। '**न योत्स्ये**' यह निवृत्तिका सम्पूर्ण उपलक्षण है। यद्यपि यह निवृत्ति वैराग्यसे नहीं हुई है, मोहसे हुई; किन्तु क्रियामात्रसे निवृत्त होनेका उपलक्षण तो है ही और '**तूष्णीं बभूव**' यह वाणीकी निवृत्ति है।

वाचं यच्छ मनो यच्छ......

●

: 10 :

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ 10 ॥

'हे भारत! हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें विषण्ण अर्जुनसे उसका उपहास-सा करते हुए यह प्रवचन किया।'

'**भारत**' यह धृतराष्ट्रके लिये सम्बोधन है।'भा रत' प्रतिभामें रत अर्थात् बुद्धिमान् अथवा भरतवंशी धृतराष्ट्र! तुम स्वयं समझदार हो अतः समझ सकते हो कि ऐसे अवसरपर उन इन्द्रियोंके स्वामीने क्या कहा होगा? उनकी बात तुम्हारे कुलके अनुरूप ही होगी।'

'**प्रहसन्निव**'-परिहसन्निव भगवान् खुलकर हँसे नहीं, हँसते हुए-से, परिहास करते हुए-से बोले। श्रीकृष्ण वस्तुतः परिहास कर नहीं रहे हैं। उनके हृदयमें अर्जुनके प्रति असीम स्नेह, अपार वात्सल्य है। वे करुणावरुणालय हैं। लेकिन उनका स्वर वैसे ही परिहासका है, जैसे सदा अर्जुनसे हँसी करते हुए बोला करते थे।

'न हसन्ति तपस्विनः' महापुरुष जोरसे हँसा नहीं करते। बात यह है कि अज्ञानीके लिए जो बात अत्यन्त चिन्ताकारक, दारुण विपत्ति जान पड़ती है, ज्ञानीको उसमें कोई महत्त्व नहीं दीखता। संसारकी बड़ी-से-बड़ी समस्या उसे अत्यन्त साधारण लगती है। जैसे कोई जादूगर बाघ दिखलाये तो बच्चे, अज्ञानीजन चीखकर भाग खड़े होते हैं। उन्हें लगता है कि प्राण गये; किन्तु जो समझदार हैं, वे खड़े हँसते रहते हैं। वे जानते हैं कि यह बाघ केवल दिखावेका है।

जैसे किसी करोड़पतिके बालकसे कुछ पैसे खो जायँ और बालक रोने लगे, तो पिता हँसता है। बालकके लिये कुछ पैसे खो जानेका महत्त्व बहुत बड़ा है। उसके लिये यह बड़ी हानि है; किन्तु पिताके लिये यह कोई गणना करने योग्य बात ही नहीं है। इसी प्रकार जो समस्या अर्जुनको अत्यन्त गम्भीर, असमाधेय जान पड़ती है, उसे चुटकी बजाते उड़ा देने योग्य मानकर श्रीकृष्ण हँसते हुए-से बोल रहे हैं।

जो दुःख जीवदृष्टिसे अत्यन्त दारुण है, ईश्वरकी दृष्टिमें वह दुःख ही नहीं है। हमें यह दुःख क्यों है, क्योंकि हमने स्वामीकी सम्पत्तिको अपनी मान लिया है। ईश्वरके धनसे पृथक् अपना धन, ईश्वरके प्राणियोंसे पृथक् अपने प्राणी हमने मान लिये। जितनी सम्पत्ति है, सब ईश्वरकी है। जितने प्राणी हैं, सब ईश्वरके हैं। अब मालिककी इच्छा कि वह धनको एक दूकानमें, एक मुनीमके हाथमें रखे या दूसरी दूकानमें मुनीमके पास भेज दे। एक नौकरको एक दूकान पर रखेगा या दूसरे स्थानपर भेजेगा। इसमें किसीके दुःख करनेकी तो कोई बात है नहीं। ईश्वर किसी जीवको इस लोकमें रखे या परलोकमें, उसमें दूसरेको दुःख क्यों हो? लेकिन हम ईश्वरसे पृथक् अपनी बुद्धि, अपना संकल्प, अपनी क्रिया रखते हैं, इसीसे शोक होता है।

●

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ 11॥

श्रीभगवान् कहते हैं—'अर्जुन! तुमने अबतक शोक न करने योग्य पुरुषोंके सम्बन्धमें शोक प्रकट किया है, साथ-ही-साथ भाषण प्रज्ञावादका करते जा रहे हो। सच्चे प्रज्ञावान् पण्डित तो वे हैं जो मृत अथवा जीवित, किसीके लिये भी शोकसन्तप्त नहीं होते। प्रज्ञा और शोक एक कालमें एक अन्तःकरणमें नहीं रह सकते।'

'**त्वं**' अर्जुन, तुम्हारे जैसा वीर और बुद्धिमान् शोक करे, यह उचित नहीं है। '**प्रज्ञावादांश्च भाषसे**' बात करते हो ज्ञानियोंके समान और रोते हो '**श्यालाः सम्बन्धितस्तथा**' अपने सम्बन्धियोंके लिये। यह तो अत्यन्त असंगत बात है।

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसर बात।
कौड़ी कारन मोहबस करहिं बिप्र गुरु घात॥

बात तो लोग '**अहं ब्रह्मास्मि**' की करते हैं और दृष्टि कहाँ रहती है, पैसेपर या छोटी-छोटी-सी बातोंपर। एक सज्जनने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा—'बाबा! आपके कुछ आश्रमवासी निन्दा-स्तुतिकी बात करते रहते हैं, आप उन्हें रोकते नहीं?' बाबाने कहा—'तुम्हें उनकी शिकायत करनी है तो इन मच्छरोंकी भी शिकायत क्यों नहीं करते? ये भी तो हमेशा कुछ-न-कुछ भुनभुनाते रहते हैं। संसारके विविध दृश्य अखण्ड परमात्माके स्वरूपमें कुछ भी अस्तित्व नहीं रखते। ब्रह्मनिष्ठकी दृष्टिमें ऐसी बातोंका कुछ भी महत्त्व नहीं होता।'

राग-द्वेषसे प्रभावित होना ब्रह्मज्ञानका लक्षण नहीं है। अतः भगवान् चाहते हैं कि अर्जुनकी दृष्टि स्थूल देहपर न होकर तत्त्वपर हो। '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं**' के द्वारा शोकपर भगवान्ने आक्षेप किया और आगे '**धीरस्तत्र न मुह्यति**' (2.13) में मोहपर आक्षेप किया है।

शोक और मोह धारण करने योग्य नहीं हैं। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्ममें शोक और मोहकी प्राप्ति ही नहीं है। वह स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक देश-काल-

वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, अत: वह अनधिकृत है। उसके लिये शास्त्रका उपदेश नहीं है। जैसे सर्वधर्मरहित ब्रह्मके लिये शास्त्रका उपदेश नहीं है, वैसे ही सर्वधर्मविशिष्ट ईश्वरके लिये भी शास्त्रका उपदेश नहीं है। शास्त्रका उपदेश तो अल्पधर्मविशिष्टके लिये है। जो अल्पताकी उपाधि स्वीकार करके अपनेको कर्ता, भोक्ता, संसारी माननेवाला मनुष्य है, उसके लिये है। कोई विशेष अधिकारसम्पन्न पशु या देवता भी उपदेशका अधिकारी हो सकता है; किन्तु वह अपवाद ही माना जायगा। शास्त्र तो मनुष्यके लिये ही मुख्य रूपसे है।

अब देखो कि तुम्हारे जीवनमें दु:ख, अज्ञान तथा मृत्युका भय है या नहीं? दु:ख है तो तुमने अपनेको आनन्दरूप नहीं जाना। अज्ञान है तो तुमने अपनेको चित्स्वरूप नहीं जाना। मृत्युका भय है तो अपनेको सत्स्वरूप नहीं जाना। अपने-आप तो कोई भय नहीं; किन्तु शत्रुका भय है तो तुमने अपनेको अद्वितीय नहीं जाना। दु:ख, अज्ञान, मृत्युका भय—ये आये हैं तुम्हारे अज्ञानसे। इनकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता है।

आजकल हमारे नेता लोग कहते हैं कि उपदेश बहुत दिन सुना गया। अब उपदेशका नहीं, काम करनेका समय है; लेकिन इसका यह तो अर्थ नहीं है कि अब सब नेता सभाओंमें जाना और व्याख्यान देना बन्द करके खेत अथवा कारखानेमें काम करने लगेंगे। क्रियात्मक उपदेशका उनका तात्पर्य भी बुद्धि देना ही है। वे भी मनुष्यकी समझमें ही परिवर्तन करना चाहते हैं। भगवान् भी अर्जुनकी समझमें ही परिवर्तन करना चाहते हैं।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

गतासून्—जो मर गये हैं, वे पितर। अर्जुनने कहा है—'**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।**' भगवान् कहते हैं कि उन पितरोंके लिये विद्वान् शोक नहीं करते। जो लोग बिना सन्तानवालोंको तर्पण करते हैं, पिण्ड देते हैं, वे उन्हें भी दे लेंगे।

'**अगतासून्**' जो जीवित बच गये हैं उनके लिये भी शोक करना विद्वान् उचित नहीं मानते। '**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः**' यह अर्जुनने कहा था। योद्धाओंके मर जानेपर उनकी स्त्रियाँ बचेंगी और वे दुष्टा होकर वर्णसंकर उत्पन्न करेंगी, यह चिन्ता अर्जुनको है; किन्तु भगवान्‌ने इसे महत्त्व ही नहीं दिया। पता नहीं कितनी बार भरतकुलकी सन्तान-परम्परा उच्छिन्न हुई और

चली। पाण्डु, धृतराष्ट्र, विदुर आदि सब महात्माकी कृपासे ही उत्पन्न हुए हैं। और स्वयं पाण्डव भी तो देवपुत्र हैं। तब इस प्रकारकी चिन्ता ध्यान देने योग्य कहाँ रहती है? सभी वंशोंका उच्छेद महाप्रलयमें हो जाता है, तब क्या सृष्टिके प्रारम्भमें वे वंश नहीं चलते? इसलिये वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये धर्मका त्याग सर्वथा अनुचित है।

भगवान्ने इस श्लोकमें दो शब्द प्रयोग किये तत्त्वज्ञके लिये-प्रज्ञावान् और पण्डित। पण्डितका अर्थ है तत्त्वज्ञानपर्यन्त शास्त्रका स्वाध्याय। श्रवणकी प्रधानतासे पण्डित कहा गया है। प्रज्ञाका अर्थ है आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें बाधक समस्त संशय-विपर्ययको निवृत्त करनेमें समर्थ बुद्धि। मननकी प्रधानतासे प्रज्ञाका उल्लेख है।

प्रज्ञा और पाण्डित्य दोनों अपेक्षित हैं। शास्त्रज्ञानरहित बुद्धि मार्गदर्शकके अभावमें भटक जाती है और बुद्धिहीन विद्या जड़ताका रूप धारण कर लेती है। शास्त्रका केवल शब्द-बोध रह जाता है, तात्पर्य-ज्ञान नहीं होता।

यहाँ विचार करना है कि प्रज्ञा और पाण्डित्य किस विषयका अपेक्षित है। हमने बहुतसे ऐसे लोगोंको देखा है जो पढ़े कुछ नहीं हैं; किन्तु धन कमानेवाली बुद्धि उनमें बहुत है और ऐसे लोग तो बहुत अधिक हैं जो पढ़कर ऊँची डिग्री पा चुके; किन्तु उन्हें पत्र लिखना भी नहीं आता। लेकिन यह धन कमानेवाली प्रज्ञा या विद्या शोक दूर कर सकेगी? भोग और संग्रहसे शोक-मोहकी निवृत्ति नहीं होती। हमने बहुतसे धनी देखे हैं जो रोगी हैं, दु:खी हैं, लोकमें निन्दित हैं, अनेक दुर्व्यसनोंमें ग्रस्त हैं। हमने वकील, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल देखे हैं जो शराब पीकर गन्दी नालीमें पड़े रहते हैं। अत: धनसे या पढ़नेसे शोक-मोह नहीं मिटता।

प्रज्ञा ऐसी चाहिये कि भोग न हों, धन न हो, सम्बन्धी न हों तब भी दु:ख, जड़ता, और मृत्युका स्पर्श न करे। ये आयें तो बिना स्पर्श किये निकल जायँ।

आप स्वप्नमें मृत्यु देखते हैं, वियोग देखते हैं, दु:ख-शोकसे युक्त अपनेको देखते हैं; किन्तु जागनेपर क्या होता है? ये मृत्यु-वियोगादि सब बाधित हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि जो देश था स्वप्नमें, वह

अब नहीं है, जो काल था स्वप्नमें, वह अब नहीं है और जो पदार्थ थे स्वप्नमें, वह भी अब नहीं हैं। स्वप्नके दृश्यके साथ उसके देश और काल भी बाधित हो गये। अब कोई ऐसा उपाय चाहिये कि जाग्रत्‌में रहते जाग्रत्‌के देश, काल तथा पदार्थ बाधित हो जायँ तो जाग्रत्‌का दुःख, शोक भी बाधित हो जाय।

मेरे एक मित्र कहते हैं—'स्वप्नके दृश्य, स्वप्नके देश और कालमें तो सत्य ही थे, वे जाग्रत् होनेपर बाधित होते हैं। इसी प्रकार जाग्रत्‌के शोक, मोहादि जाग्रत्‌के देश, कालमें तो सत्य ही रहेंगे। वे समाधिकालमें, ब्रह्माकार वृत्तिके कालमें बाधित होते हैं।'

यहाँ यह विचारणीय है कि क्या ज्ञान कालमें होता है और कालमें मिट भी जाता है? ज्ञान-ब्रह्माकारवृत्ति भले किसी कालमें होकर फिर मिट जाती है, किन्तु ज्ञान तो मिटता नहीं। मिटती केवल वृत्ति है, ज्ञानस्वरूप तो नित्य है। अतएव तत्त्वज्ञानीके लिये स्वप्नके समान कालभेदसे दृश्यका या शोक-मोहका बाध नहीं होता। उसके लिये तो जाग्रत् कालमें ही जाग्रत् मिथ्या है। उसके लिये चाहे जितने आकार, प्रकार, संस्कार, विकार दीखते रहें, प्रतीति कालमें ही वे बाधित हैं। ज्ञान वृत्ति नहीं है, वृत्तिका प्रकाशक है। विषयाकारवृत्ति पृथक् कालमें, और ज्ञानकारवृत्ति पृथक् कालमें, ऐसा नहीं है। विषयाकार वृत्तिके समय भी उस वृत्तिका प्रकाशक ज्ञान ही है। अतः विषयाकार वृत्तिके कालमें ही वह वृत्ति बाधित है, इस दृष्टिकी प्राप्तिके लिये प्रज्ञा और पाण्डित्य चाहिये।

इस प्रज्ञा और पाण्डित्यकी प्राप्तिके लिये करना क्या चाहिए? जो विवेकके अत्यन्त निकट हो, वह करना चाहिये। जीवनमें दो धाराएँ हैं—कर्मकी धारा और ज्ञानकी धारा। व्यवहारमें दोनोंको मिलाकर चलना पड़ता है) नेत्र देखते हैं तब पैर उस मार्गपर चलते हैं। पैर कहीं चलकर जाते हैं, तब नेत्र वहाँकी वस्तु देख पाते हैं। इस प्रकार व्यवहारमें कर्म और ज्ञानका समुच्चय होता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदो भय॑ँ स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ई. उ. 11

यह कर्मज्ञानके समुच्चयको श्रुति बतलाती है। यह व्यवहारका ज्ञान है। यदि तुम्हें मृत्युका भय है तो तुमने अपनेको जड़ देहसे एक कर लिया है। यदि

तुमको अल्पज्ञताका भय है तो तुमने अपनेको ऐन्द्रियक ज्ञानसे एक कर लिया है। यदि तुमको दु:ख आनेका भय है तो तुमने अपनेको अन्य सम्पर्कजन्य सुखमें आसक्त कर लिया है। जिसमें अभिनिवेश है-जो अपनेको देह मानता है, उसीको मरनेका भय है। जिसे अपने मरनेका भय है, उसीको दूसरोंके भी मरने भय है।

पहले अपनेको देखो कि तुम कहाँ खड़े हो? लोगोंको अपने उच्च अधिकारका भ्रम हो जाता है। जहाँ खड़े हो जहाँ पैरके नीचेकी धरती तो दीखती नहीं, पर्वतके शिखरपर स्थित वस्तुको ठीक-ठीक जान लेनेका दावा करते हो। अत: अपनेको देखो और जहाँ हो, वहींसे चलनेका उद्योग करो, तब आगे बढ़ सकोगे। यदि देहमें अभिनिवेश है तो धर्मानुष्ठानसे ही वह निवृत्त होगा।

भगवान्ने गीताके इस दूसरे अध्यायमें दो बुद्धियोंका पृथक्-पृथक् निरूपण किया है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। 2.39

गीतामें दो बुद्धि बतायी गयी है-योग अर्थात् कर्म करनेकी रीति '**योग: कर्मसु कौशलम्**' और सांख्य अर्थात् आत्मा और अनात्माका विवेक करनेकी रीति। यह कर्म और ज्ञानका क्रमसमन्वय है।

मेरे एक मित्र पहले-पहल चश्मा ले आये। चश्मा ठीक नहीं मिला था। अब उससे ईंट तो दीखे, चट्टान और नाली जहाँ हो उससे भिन्न स्थानपर दीखे। फल यह हुआ कि वे चलना चाहें तो गिर पड़ें। यह इसलिये कि उनके ज्ञान तथा कर्मका समन्वय नहीं रह गया। कर्म और ज्ञानका सन्तुलन जब बिगड़ जाता है, तब दु:ख आता है। अतएव व्यावहारिक जीवनमें कर्म और ज्ञानका समन्वय बनाये रखना चाहिये।

यदि अभिनिवेश है—देहमें 'अहं' बुद्धि है तो धर्मका विवेक करो। पाप करनेसे नरककी प्राप्ति होती है, पुण्य करनेसे स्वर्ग मिलता है—यह विचार करते ही देहाभिनिवेश छूट गया। देहसे भिन्न स्वर्ग-नरक जानेवाले जीवका भान हो गया। देह तो छूट ही गया और आत्माका विवेक प्रारम्भ हो गया।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं

अर्जुनसे भगवान् पूछते हैं कि तुम भीष्म द्रोणादिके वाच्यार्थके लिये

शोक करते हो या लक्ष्यार्थके लिये? लक्ष्यार्थ तो सबका एक ही परमात्मतत्त्व है। उसके लिये शोक करना बनता नहीं। अब रहा वाच्यार्थ, उसमें जीवके लिये शोक करते हो या शरीरके लिये? जीव तो मारनेवाला नहीं है और शरीर किसीका अमर रहेगा नहीं।

इनको मारना मेरा कर्तव्य है या नहीं? यह विवेक तो योग बुद्धिका विवेक है, और आत्मा-अनात्माका विवेक सांख्यका विवेक है। यहाँ अभी भगवान् सांख्यका विवेक कर रहे हैं।

एक बात और यहाँ समझ लेनी चाहिये। दोष जितने हैं, सब स्वसंवेद्य हैं। मनुष्य स्वयं ही अपने दोष समझ सकता है। किसी कार्यको देखकर नहीं जाना जा सकता कि कर्तामें दोष है या नहीं? ब्रह्माजी सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न करते हैं, किन्तु उनमें काम नहीं है। विष्णु भगवान् लक्ष्मीको वक्षःस्थलपर रखते हैं, परन्तु उनमें लोभ नहीं है। रुद्र सम्पूर्ण सृष्टिका संहार करते हैं; लेकिन उनमें क्रोध नहीं है। अतः स्वयं अपनेको ही अपना दोष जान पड़ता है।

तुममें अभिनिवेश है तो धर्माचरण करो। तुममें द्वेष आता है तो अहिंसाको अपनाओ। तुममें राग है संसारका तो त्याग-वैराग्य अपनाओ और यदि अस्मिता है तो भगवान्‌की भक्ति करो। ये एक भी दोष नहीं हैं-केवल अविद्या है तो वह ज्ञानसे मिटेगी।

अविद्यादि पाँच क्लेशों-दोषोंका मूल अविद्या है—

अविद्या क्षेत्रं उत्तरेषाम्।

पाँच प्रकारके दोषोंकी निवृत्तिके लिये पाँच प्रकारके साधन क्यों अपनाये जायँ? सबकी जड़ अविद्या है तो उसीको क्यों न मिटा दें?

न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

जब अविद्या मिट गयी तो '**मूलं नास्ति कुतः शाखा**' जड़ ही कट गयी तो डाल पत्ते कैसे रहेंगे? यह बात तो ठीक है; किन्तु अविद्या मिटेगी कैसे? बिना विद्याकी उत्पत्तिके अविद्या मिटेगी नहीं। अतएव विद्याकी प्राप्तिका जो मार्ग शास्त्र सद्गुरु बतलाते हैं, वही मार्ग अपनाना होगा।

●

: 12 :

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥12॥

'मैं पहले कभी नहीं था, ऐसा नहीं अर्थात् मैं पहले भी था। तुम पहले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं अर्थात् तुम पहले भी थे। यह राजा पहले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं अर्थात् यह पहले भी थे। इसके बाद भी हम, तुम, यह-सब नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं अर्थात् सब रहेंगे। सबकी आत्मा कालसे अपरिच्छिन्न अविनाशी है।'

'**न त्वेवाहं**' इससे प्रागभावका निषेध करते हैं और '**न भविष्यामः**'से प्रध्वंसाभावका। हम, तुम तथा ये राजा लोग इस जीवनसे पहले भी थे और इस जीवनके पश्चात् भी रहेंगे। वर्तमानमें तो सम्मुख ही हैं, अतः वर्तमानका उल्लेख करनेकी आश्वयकता नहीं थी। यहाँ बताया कि आत्मामें कालपरिच्छेद नहीं है।

'**अहं**' '**त्वं**' '**इमे जनाधिपाश्च**'में तुम और यह राजा लोग, यह प्रयोग देहकी पृथक्ताकी दृष्टिसे किया गया है।

सबका लक्ष्यार्थ परमात्मा है, वह मरता नहीं है और वाच्यार्थ जीव है, वह भी मरता नहीं। अतः न तो 'तत्' पदार्थकी दृष्टिसे शोक करना उचित है, और न 'त्वं' पदार्थकी दृष्टिसे ही। अब रहा देह, यह देह क्या है? यह घटके समान दृश्य है। '**घट्यतेति घटः**' जो गढ़ा गया हो, वह घट। यह देह भी तो गढ़ा ही गया है, अतः यह भी घट ही है। इसे बहुत सन्तोंने घट कहा है। स्वप्नमें जो घट तुमने देखा, वह सत्य था? वह सत्य नहीं था, वह संस्कारके द्वारा बना था। यह देह भी तो कर्म संस्कारके द्वारा ही बना है।

जैसे अनेक घड़ोंमें भरे जलमें एक ही सूर्य नानारूपसे प्रतिबिम्बित होता है, वैसे इस देहरूपी घटमें स्थित जल स्थानीय अन्तःकरणोंमें एक ही आत्मतत्त्व नानारूपोंसे प्रतिभासित हो रहा है। आत्मा तो एक ही है, वह अनेक जान पड़ता है।

श्रीमद्भागवतमें कथा है कि कुरुक्षेत्रसे जब वसुदेवजी लौट आये, तब एक दिन श्रीकृष्ण-बलराम सदाकी भाँति प्रातःकाल पिताको प्रणाम करने गये। उस समय श्रीकृष्णकी वसुदेवजी स्तुति करने लगे—'आप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं।'

वसुदेवजीकी स्तुति सुनकर श्रीकृष्ण बोले—'पिताजी, यह आपकी महती कृपा है कि आपने हम पुत्रोंको तत्त्वज्ञानका यह उपदेश किया है। गुरु तथा पिता अपने सहज कारुण्यवश शिष्यों तथा पुत्रोंको इस प्रकार उपदेश करते ही हैं कि '**तत्त्वमसि**'।

वसुदेवजीने पूछा—'यह कैसी बात?' तब श्रीकृष्णने कहा—

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥

श्रीमद्भागवत 10.85.23

'सच्ची बात यह है कि मैं, आप, यह बड़े भाई, सब द्वारकावासी और यही क्यों, सब जड़-चेतन-जगत् परमात्मा ही है, ऐसा विवेक करना चाहिये। यह तो देहकी उपाधिसे ही सब भिन्न-भिन्न भासते हैं। उपाधिका त्याग कर दो तो भेद कहीं है ही नहीं। एक ही परमात्मा सर्वरूपोंमें प्रतीत हो रहा है और वह तो अपना स्वरूप ही है।'

●

: 13 :

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ 13॥

जैसे देहीके इस देहमें कुमारावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्थाएँ आती हैं, वैसे ही दूसरे देहकी भी उसे प्राप्ति होती है। धीर पुरुष इसमें मोह नहीं करते।

जो देहको 'मैं-मेरा' मानकर बैठा है, उसे कहते हैं देही। देह क्या? जिसके रहनेमें सन्देह हो, उसका नाम देह।

क्षणदूर्ध्वं न जानामि विधाता किं करिष्यति।

एक क्षण आगेका पता नहीं है कि क्या होनेवाला है और योजनाएँ कितनी बड़ी हैं—पूछो मत।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥ काव्यसंग्रह

कमलके पुष्पमें भ्रमर सायंकाल बैठा और कमल बन्द हुआ तो उसीमें बन्द हो गया। अब उसीमें बैठा वह सोच रहा था-रात बीत जायगी, सुनहला सबेरा होगा, सूर्योदय होगा तो यह कमल खिल उठेगा। लेकिन वह यह विचार ही करता ही रह गया। एक हाथी कहींसे आया और सरोवरमें घुसकर उसने कमलको उखाड़कर भ्रमरके साथ मुखमें धर लिया। इस प्रकार कालरूपी हाथी सदा सिरपर सवार है। ऐसी अवस्थामें देहके रहनेमें सदा ही सन्देह है।

'दिह उपचये' देहका अर्थ है राशि। मांस, मज्जा, हड्डी, चर्म, मल, मूत्र, रक्त, कफ आदिकी एकत्रकी हुई यह ढेरी है। इसीको लेकर लोग अभिमान करते हैं कि मैं सेठ हूँ, मैं नेता हूँ, मैं महापुरुष हूँ। यह तो मुर्दा है—शव है। यह टिकनेवाला नहीं है। जैसे किसीके घर न हो, केवल एक मोटर हो। वह उस मोटरमें ही रहे, सोये, खाये, चले। अब ऐसी मोटरके स्वामीके लिये क्या ठिकाना कि दुर्घटना कब हो जायगी! यह देह ऐसा ही वाहन है।

'**अस्मिन् देहे**' इदंतया प्रतीयमाने दृश्ये-जो 'यह'के रूपमें प्रतीत हो रहा है। तुम कौन हो-इदंताका अतिक्रमण करो। यह देह, यह अनात्मा है। इदंतानाक्रान्त आत्मा है। जो 'यह' के रूपमें प्रतीत होता है, उस सबका त्याग करनेपर जो शेष रहता है, वह आत्मा है।

'**कौमारं**' '*कुमारयन्ति खेलन्ति इति कुमाराः*' जो खिलौनोंसे खेलते हैं वे कुमार हैं। कुमारावस्था गयी और युवावस्था आयी। उसके पश्चात् आयी जरा, शरीर जीर्ण हो गया। नेत्रकी ज्योति क्षीण पड़ गयी, कान कम सुनने लगे, नाक गन्ध नहीं लेती, दाँत गिर गये, केश श्वेत हुए, हाथ हिलते हैं, पैर चलनेमें डगमगाते हैं, पेट भोजन पचा नहीं पाता। यह सब मृत्युकी चेतावनी है कि सम्हल जाओ! बुढ़ापा मृत्युकी पूर्वावस्था है। कुछ लोग जीवित ही मरे हुएके समान रहते हैं।

जीवित सव सम चौदह प्रानी।

जो गुरुको, माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, जो ईश्वर और गुरुका कृतज्ञ नहीं, जिसने कमाना तो सीखा, खर्च करना और दान करना नहीं सीखा, ये सब लोग जीवित रहते भी मरे हुएके समान हैं। इनका जीवित रहना व्यर्थ है।

जैसे कुमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आती हैं, वैसे ही मृत्यु भी देहकी एक अवस्था ही है। देहान्तरप्राप्तिमें क्या होता है? मिट्टी, पानी आदि पंचभूत वही-के-वही रहते हैं और अन्तःकरण भी वही रहता है। केवल आकृति बदलती है। बच्चे आटा या गीली मिट्टी ले लेते हैं और उसमें कभी हाथी बनाते हैं तो कभी घोड़ा, कभी मनुष्य बनाते हैं तो कभी पक्षी। एक आकार बनाते हैं और उसे मिटाकर आटेका फिर गोला बना देते हैं। फिर दूसरा

आकार बनाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माजी भी पंचभूतोंमें आकार बनाते रहते हैं। बनती बिगड़ती आकृति है, बच्चेके हाथका आटा ज्यों-का-त्यों रहता है। तुम अपनेको आकृति क्यों समझते हो? अपनेको आटा समझ लो, अपनेको तत्त्व समझ लो। चाहे कोई आकृति बने और कोई बिगड़े, उस आटेको समझो, वही तत्त्व है। '**धीरस्तत्र न मुह्यति**' इस आकार और नाम बदलनेके प्रसंगमें धीर पुरुष मोहित नहीं होते।

घरपर कुछ और नाम था, संन्यास लिया तो और दूसरा नाम हो गया। गुरु तो चुनकर नाम रखते हैं। शास्त्रकी आज्ञा है कि नाम 'तत्' पदार्थका वाचक हो या 'त्वं' पदार्थका बोधक, देहका बोधक नाम नहीं होना चाहिये। नाम देहातीत तत्त्वका ही बोधक होना चाहिये। यह नाम बदलनेमें मोहका तो कोई कारण नहीं है।

धीर पुरुष कौन? जिसमें धैर्य हो। घरमें कोई गड़बड़ हो जाय तो व्याकुल न हो भले ऊपरसे व्याकुलता दिखाये; किन्तु दिखाये समझदारीसे। मेरे एक मित्र हैं। अच्छे पुरुष हैं, शास्त्रोंका मनन किया है। उनका पौत्र मर गया तो उन्होंने सिर पीटकर रोना प्रारम्भ कर दिया। सब घरके लोग और सम्बन्धी उनको समझानेमें लग गये कि आप तो महात्मा हो, ज्ञानी हो, आपको शोक नहीं करना चाहिये। वे थोड़ी देर रोते रहे फिर बच्चेका शव ले गये, उसे गाड़ दिया गया। जब लौटे तो उनसे एकान्तमें मैंने पूछा—'सचमुच तुम्हें इतना शोक था?'

वे बोले—'स्वामीजी, मैंने तो यह युक्ति की थी। यदि शोक न करता तो दूसरे सब रोते-चिल्लाते और मुझे ही सबको समझाना पड़ता। मृत्यु अवश्यम्भावी है, देह नश्वर है आदि बातें सब-के-सब दुहराते-दुहराते मैं तंग आजाता। मैं रोने लगा—अज्ञानी बन गया तो दूसरे सब ज्ञानी बनकर मुझे समझाने लगे। इस प्रकार वे सब लोग शोकके आक्रमणसे बच गये और मैं उनको समझानेकी झंझटसे बच गया।' इस प्रकार कोई अभिनय भी करना हो तो अपने भीतर धैर्य बनाये रखो।

धीर पुरुषको चाहिये कि घरमें सब भोजन कर चुकें, नौकर भी खा चुकें, तब खाय। इससे कभी-कभी उसको उपवास करना पड़ेगा; किन्तु घरमें अन्नका अभाव कभी नहीं होगा। सबके लिये कपड़े सिल-बन जायँ तब अपने

लिये बनवाये। दूसरी सुवधायें भी तब स्वीकार करे, जब घरके सब लोगोंको मिल जायँ और जहाँ परिश्रम करनेकी बात हो, कष्ट उठाना हो, विपत्ति झेलनी हो, वहाँ सबसे पहले आगे बढ़े। ऐसा होनेपर परिवारमें झगड़ा कभी नहीं होगा। घरमें सुख शान्ति बनी रहेगी।

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक आदिके निमित्त उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तमें विकार नहीं आता, वही धीर पुरुष हैं।

वृन्दावनमें एक बार एक भूमिसे मिट्टी लेनी थी एक आश्रमको। मिट्टी लेनेवाले गये तो जिनका भूमिसे कुछ लगाव था, वे मना करने लगे। दोनों ओरसे बात बढ़ गयी। मारपीट होनेकी तैयारी हो गयी। इतनेमें जिनके आश्रमके लिये मिट्टीकी आवश्यकता थी, वे महात्मा आये और अपने आदमियोंको उन्होंने कहा—'तुम लोगोंका हठ ठीक नहीं है। ये लोग जहाँ-जहाँसे बतायँ, वहाँसे मिट्टी ले लो।' बस झगड़ा मिट गया। दूसरा पक्ष यह बतानेमें लग गया कि कहाँ-कहाँसे मिट्टी ली जाय।

इस प्रकार इस 'शौकानौचित्योपनिषद्'में अबतक चार बातें बतलायी गयीं—1. अपने हृदयमें धैर्य रखना चाहिये। छोटी-मोटी बातोंमें मोहित नहीं होना चाहिये। 2. मृत्युको बाल्य, युवा, बुढ़ापेके समान शरीरकी अवस्था समझना चाहिये। 3. आत्माको नित्य समझना चाहिये और 4. प्रज्ञा तथा पाण्डित्यके आश्रयको लेकर शोक-मोहके वशमें नहीं होना चाहिये।

: 14 :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ 14॥

'बुद्धिमान अर्जुन, यह इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जानेवाले विषय सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःख देनेवाले हैं। ये आने-जानेवाले— अनित्य हैं। भारत, इनको सहन करो!'

इस श्लोकमें '**मात्रास्पर्शास्तु**'में जो 'तु' है वह भिन्नोपक्रममें है अर्थात् यहाँसे नवीन बात प्रारम्भ हुई है। अथवा इस 'तु' से यह सूचित है कि अर्जुनके मनमें प्रश्न उठा-'आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है, अतः मृत्युका शोक नहीं करना चाहिये, यह बात ठीक है; किन्तु जीवनकालमें प्रियके संयोगसे सुख तथा अप्रियके संयोगसे दुःख होता है, यह बात भी प्रत्यक्ष है। मैं भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदिको बाण मारूँगा, उनके शरीरमें घाव होगा, रक्त बहेगा। इससे उन्हें दुःख होगा। उनका दुःख देखकर मुझे भी दुःख होगा। मृत्युके लिये शोक-चिन्ता करना भले उचित न हो; किन्तु प्रत्यक्षमें जो पीड़ा दर्द आता है, मनके विपरीत परिस्थितिमें आनेपर जो दुःख होता है, उसकी निवृत्तिके लिये क्या उपाय है?'

अर्जुनने यह प्रश्न किया नहीं। प्रश्न उसके मनमें आया। लेकिन वक्ता वह उत्तम होता है जो अपनेको श्रोताकी परिस्थितिमें रखकर देख ले कि उस अवस्थामें उसके मनमें क्या प्रश्न उठेगा और श्रोताके बिना पूछे ही उस प्रश्नका उत्तर दे दे।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।

दूसरेकी परिस्थितिमें अपनेको ठीक-ठीक रखनेसे उसके चित्तके भावका पता लग जाता है। अत: श्रीकृष्ण मानो इस 'तु' के द्वारा सूचित करते हैं कि अर्जुन! तुम जो सोच रहे हो, वह मैं समझता हूँ। लेकिन तुम्हारा यह सोचना ठीक नहीं है।

श्लोकमें अर्जुनके लिये दो सम्बोधन है-'**कौन्तेय**' तथा '**भारत**'। कुन्तीका अर्थ है कुन्त-संगीनके समान रहस्यभेदिनी बुद्धि और भारतका अर्थ है भा-प्रतिभामें रत-प्रतिभाशाली। अत: अर्जुन तुम रहस्यदर्शिनी तीक्ष्णबुद्धि तथा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-इन दोनोंसे सम्पन्न हो। कौन्तेयका तात्पर्य माताकी ओरसे पवित्र कुलमें होना है। और भारतका अर्थ पिताकी ओरसे भी पवित्र भरतवंशमें उत्पन्न होना है। इसलिये तुम्हें इन छोटी बातोंकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

'मात्रास्पर्शा: ' मात्राका अर्थ श्रीशंकराचार्यजीने किया है *'मीयन्ते विषया आभि:'* जिनसे विषयोंका ज्ञान प्राप्त किया जाय, वे मन तथा इन्द्रियाँ। 'मात्र' शब्द आप जानते हैं। 'सन्मात्र' इसमें मात्रका अर्थ है 'केवल'। 'तन्मात्रा'का अर्थ भी 'केवल' ही होता है 'तदेवेति तन्मात्रं।' पंचीकरणके पूर्व जो भूत सूक्ष्मकी अवस्था होती है, उसको तन्मात्रा कहते हैं, जैसे-गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा आदि। ये जो पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं, इनमें तो सब मिले हुए हैं। पृथिवीमें आठ आना पृथ्वी तथा दो-दो आने अन्य चारों महाभूत। जलमें आठ आना जल तथा दो-दो आने शेष चारों। लेकिन पंचीकरणसे पूर्वावस्था जो पृथिवीकी है, उसीको गन्धतन्मात्रा कहते हैं। उदाहरणके लिये गुलाबके पुष्पको लो। उसमें पञ्चीकृत पंचमहाभूत हैं। अतएव उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द सभी हैं, किन्तु नेत्रमें केवल रूप है। नासिकामें केवल गन्ध है। इन्द्रियोंमें ये महाभूत रूपमें हैं और बाहर पंचीकृत रूमें हैं। उपनिषद्‌में आया है—

आनन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति।

मात्राका अर्थ खण्ड-अंश। नाप-तौलमें मात्रा शब्द आता है—इतनी मात्रा। कालमें मात्रा है परिणाम होना-बदलना। देशमें मात्रा है परिमाण, उसकी माप और वस्तुमें परिणाम मानता है। वह कालमें बदलती है और देशमें फैलती है। इस प्रकार मात्राका अर्थ है परिच्छिन्तता-टुकड़े-टुकड़े होना। इन्द्रियाँ, मन, विषय-ये सब परिच्छिन्न हैं, टुकड़े-टुकड़े हैं। इन विषयोंके

ग्रहण करनेके करणको मात्रा कहते हैं। इन मन तथा इन्द्रियोंके साथ विषयका जो संयोग-स्पर्श है, उसका नाम हुआ मात्रास्पर्श। गीतामें स्पर्श शब्द विषयके अर्थमें आया है—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्। (5.27)

'बाह्यान्स्पर्शान् बहिः कृत्वा' बाहरी विषयोंको भीतर मत आने दो। उन्हें बाहर ही निकाल दो। कान शब्द न सुनें, नेत्र रूपमें आनन्द न लें, नाक गन्धकी ओर आकर्षित न हो। अब तुम कहो कि हम ऐसा नहीं करेंगे। तब क्या होगा?

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (5.22)

संस्पर्शज—देखनेमें, छूने, सूँघने, सुनने, रसलेनेमें जो भोग सुखदायी जान पड़ते हैं वे दुःखकी योनि हैं। दुःख उनसे उत्पन्न होते हैं।

बहुतसे लोग अपना शोरूम विभिन्न प्रकारकी वस्तुओंसे सजाते हैं। एक ओर चित्र हैं, एक ओर मूर्तियाँ हैं, कहीं खिलौने हैं, कहीं कोई प्राचीन बर्तन या अन्य वस्तु है। इसी प्रकार यदि तुम चाहते हो कि धन, यश, स्त्री-पुत्रका मोह भी रहे, अभिमान भी रहे हृदयमें और ज्ञान भी एक ओर आजाय, तो वह तुम्हारे शोरूमकी शोभा बनकर नहीं रह सकता। ज्ञान तो अभिमानको चूर-चूर करनेवाला है। जो किसी महापुरुषकी सेवामें नहीं रहे, किसी महात्माकी चरण धूलि न ले, उसे ज्ञान कैसे हो सकता है? अभिमानीको ज्ञान नहीं मिलता।

एकबार एक संस्कृतके विद्वान् मेरे पास वृन्दावनमें आये। सिरहाने तकियेकी ओर बैठ गये। मैंने पूछा-'आप कैसे पधारे?'

वे बोले-'आपसे श्रीमद्भागवत पढ़ने आया हूँ।' मैंने कहा-'आप तो स्वयं विद्वान् हैं, मैं भला आपको क्या पढ़ाऊँगा!'

कहने लगे—'हाँ, कुछ मैं आपको बता सकता हूँ, कुछ आप भी मुझे बता सकते हैं।'

इस प्रकार जब हृदयमें श्रद्धा नहीं, अपने अभिमानको त्यागनेको तुम उद्यत नहीं, अपनी मान्यताओंको छोड़ना नहीं चाहते, तो तुम्हारी मान्यताओंकी गन्दगीमें आकर ज्ञान नहीं बैठेगा।

एक महात्माने मुझसे कहा था—'तुम अपनी सारी मान्यताएँ छोड़नेको तत्पर हो, तो मैं ज्ञानचर्चा कर सकता हूँ।'

अपनी मान्यताको न छोड़ पाना और तुष्टि, ये दोनों ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधक हैं। कोई सन्तोष कर लेते हैं कि वे अमुक आचार्य या सन्तके शिष्य हैं, अब भला साधन-भजन क्यों करें? कोई सन्तुष्ट हैं कि हम तो धाममें ही रहते हैं। इसी प्रकार जप-तप आदिकी तुष्टि है कि हमने तो इतना साधन कर लिया। यह सब साधनके विघ्न हैं; इनसे अभिमान ही बढ़ता है और अभिमानकी वृद्धिका नाम ज्ञान नहीं है।

ये जितने संस्पर्श अर्थात् भोग हैं, इनमें दु:ख घुसा है-यह बात पहिले समझ लो यदि ज्ञानके मार्गपर जाना है। जब तुमको चखने, सूँघने, छूने आदिमें आनन्द मिलने लगे, तो समझो कि तुम दु:खके मार्ग पर जा रहे हो। दु:खोंको पेटमें रखने, उत्पन्न करनेवाली, उन्हें दूध पिलानेवाली मैयाका नाम है — 'मात्रास्पर्श'। कोई 'मात्रा' शब्दका अर्थ इन्द्रिय करते हैं और कोई विषय, परन्तु दोनों ही मतमें 'मात्रास्पर्श' शब्दका अर्थ इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला विषयभोग ही है।

'**शीतोष्णसुखदु:खदाः**' शीत-उष्ण पृथक् समझना चाहिये; क्योंकि कभी सर्दी सुखद होती है, कभी दु:खद। शीतकालमें गर्मी सुख देती है और ग्रीष्ममें दु:ख। अनुकूल स्थानपर सर्दी या गर्मी मिले तो सुख, प्रतिकूल स्थानपर मिले तो दु:ख। अत: सर्दी और गर्मी न सुख है-न दु:ख। एक दूधका गिलास एकको दिया तो उसने झट उसे नीचे रख दिया और हाथ मलने लगा कि बहुत गरम है। वही गिलास रसोइया या दूसरे व्यक्तिने मजेसे उठाकर पी लिया। यदि वह गिलास सुख या दु:ख देनेवाला होता तो दोनोंको दु:ख या सुख देता।

जन मरणे धन हरणे।

किसी स्वजनके मरने या धनके नष्ट होनेपर दु:ख होता है। यही दो बड़े अवसर हैं दु:खके। लेकिन दु:ख या सुखकी प्रथम संवेदना ही तीव्र होती है। गाँवमें हैजा पड़े और प्रतिदिन दस-पाँच व्यकि मरने लगें तो पहिले व्यक्तिके मरनेपर जितना दु:ख होगा, दूसरेके मरने पर उतना नहीं होगा और आगे चलकर तो दु:खानुभव बन्द ही हो जायगा। जीवनमें जो बड़ा-से-बड़ा दु:ख आता है, वह भी थोड़े दिनोंमें सहन कर लिया जाता है।

इसी प्रकार सुख भी थोड़े दिनमें विस्मृत हो जाता है। किसीको एक लाख रुपया मिल जाय तो पहिले वह सुखी होगा। लेकिन थोड़े दिनोंमें ही वह

उसकी प्रसन्नता चली जायगी। उलटे अधिक रुपया कमानेकी चिन्ता होने लगेगी।

ये सुख-दु:ख जब आते हैं, तब तो भयंकर बाघ जैसे लगते हैं, किन्तु सह लेनेपर घरकी बिल्लीके समान हो जाते हैं। बिना अभ्यास, बिना प्रयास, बिना साधनके ही ये थोड़े दिनोंमें सह्य हो जाते हैं। जब सहज स्वभावसे थोड़े दिनमें दु:ख अपनी दु:खरूपता और सुख अपनी सुखरूपता छोड़ देते हैं तो यदि कोई अभ्यास करे इन्हें सहनेका, बुद्धिमानीपूर्वक सह ले तो सुख या दु:ख उसका क्या बिगाड़ सकते हैं?

एक सज्जनने अपने यहाँ आदर्शवाक्य लिखकर टाँग रखा था—'यह भी न रहेगा।' संसारकी कोई वस्तु सदा नहीं होगी। कभी मूँछ रखना शानकी बात मानी जाती थी, अब मूँछ न रखना सौन्दर्य माना जाता है। कभी स्त्रीका शरीर ढका रहना पवित्रताका प्रतीक था, अब अधिकसे अधिक शरीर खुला रहना सभ्यता हो गया है। इसी प्रकार सुख-दु:खकी कल्पना बदलती रहती है। इसलिये कहा गया है—

सराहो मत, सराहो मत, निन्दना पड़ेगा।
निन्दो मत, निन्दो मत, सराहना पड़ेगा।

किसीकी बहुत प्रशंसा मत करो, पता नहीं कब उसकी निन्दा करनी पड़े। किसीकी निन्दा भी मत करो, उसकी प्रशंसा करनी पड़ सकती है। मनुष्यके जीवनमें बहुत ऊँचा-नीचा समय आता है।

'**आगमापायिनो**' ये सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी रहनेवाली वस्तु नहीं है। यह आने-जानेवाली है।

जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फल लगा, वह एक दिन झड़कर रहेगा। जो अग्नि जलेगी, वह बुझकर रहेगी। जो कल जेलमें थे, वे आज कुर्सियोंपर हैं। यह संसारका नियम ही है कि यहाँका पद, मान, धन अथवा दु:ख, विपत्ति, दारिद्र्य टिकते नहीं। ये सब ठोस वस्तुएँ नहीं हैं। ज्ञान, भक्ति, सच्चरित्रता ठोस वस्तु हैं। हमने देखा है कि जाने कितने धनी कंगाल हो गये और जो कंगाल थे, वे अब बड़े कोठीवाले हैं। तुम अपनेको देखो कि तुम कहाँ हो? तुम्हारे मनमें महत्त्वबुद्धि किसकी है?

'**आगमापायिनो**' पैदा होना आगम है और मृत्यु अपाय है। संयोग आगम है और वियोग अपाय। आगमका अर्थ है आना-आमदनी होना और अपायका अर्थ है चले जाना-खर्च हो जाना। यह जीवनमें सुख-दु:खका आना नहीं है, यह तुम्हारे खातेका आय-व्यय है। हमने देखा है कि जब बहुत पैसा है तब तो लोग 'अहंग्रहोपासक' रहते हैं और जब पैसा चला गया तो 'दासोऽहं' बन गये। इसका अर्थ है कि निष्ठा कहीं नहीं है।

जाग्रत् अवस्थामें जो दु:ख या सुख था, वह स्वप्नमें नहीं रहता। स्वप्नमें जो दु:ख या सुख था, जाग्रत्में नहीं रहता। सुषुप्तिमें तो न जाग्रत्का सुख-दु:ख रहता, न स्वप्नका। इसी प्रकार जाग्रत्की सर्दी-गर्मी स्वप्नमें नहीं और स्वप्नकी जाग्रत्में नहीं। ये अवस्थाओंमें अदलते-बदलते रहते हैं। जाग्रत्में जो करोड़पति है, स्वप्नमें अपनेको भिखारी देखता है और स्वप्नमें जो अपनेको धनी देखता है, जाग्रत्में भिखारी है। स्वप्नमें जो अपनेको गोवध करते देखता है, जाग्रत्में याज्ञिक ब्राह्मण है और जाग्रत्में जो पापी है, स्वप्नमें अपनेको बड़ा पुण्यात्मा देखता है। अत: ये सब आने-जानेवाले पदार्थ हैं।

धन और सुख भी एक वस्तु नहीं है। धन बैंक या तिजोरीमें रहता है और सुख हृदयमें। धन रहनेपर भी मैंने धनियोंको बहुत दु:खी देखा है। धन तो जाकर दु:ख देता ही है, रहता है तब भी दु:ख देता है।

'**अर्थानामर्जने दु:खं**' धनके कमानेमें दु:ख, जानेमें दु:ख तथा रहे तो रक्षाकी चिन्ता और अभिमान। संसारके पदार्थोंमें-भोगोंमें सुख है, यह तो मिथ्या धारणा ही है। संसारके विषय आने-जानेवाले हैं। इन्हें जो पकड़कर रखना चाहेगा, वह अवश्य ही दु:खी होगा।

भाग भाग रे फक़ीरका बालका!
कनक कामिनी दोउ बाघ लागैं।
पकड़के खायगा पड़ा चिल्लायगा
बड़ा बेकूफ तू नहीं भागै?

ये सुख-दु:ख स्वप्नमें तो आते-जाते हैं ही, जाग्रत्में भी नहीं टिकते। एक सज्जनने संकल्प किया कि सवा करोड़ रुपयेकी लागतका मन्दिर बनावायेंगे। भूमि ले ली गयी, नीवँ पड़ गयी; किन्तु सरकारने उनकी कोई भूल पकड़ ली और सारी योजना धरी रह गयी। इसलिये धर्म करनेका

संकल्प हो तो उसे पूरा करनेमें देर नहीं करना चाहिये और कोई बुरा काम करना हो तो उसे टालते जाओ। उसे करनेकी ऐसी तारीख रखो जो बारह महीनेमें कभी न पड़ती हो।

एक सेठने मुनीमसे कोई बुरा काम करनेको कहा। बोले—'मुनीमजी, काम तो बुरा है; किन्तु करना तो है ही।'

मुनीम नौकर ठहरा। स्वामी आज्ञा दे तो मना कैसे करें, अतएव स्वीकार कर लिया।

सेठने पूछा—'कब करेंगे आप?'

मुनीमजी बोले—'इकतीस जूनको कर देंगे।'

उस समय तो सेठजीने ध्यान दिया नहीं; किन्तु जब जूनका महीना बीत गया तो उन्होंने पूछा—'मुनीमजी, आपने वह काम तो किया नहीं!'

मुनीम बोले—'वह तारीख ही नहीं आयी।'

सेठ—'फिर आपने ऐसी तारीख बतायी ही क्यों?'

मुनीम—'क्षमा करें! बुरे कामके लिये ऐसी ही तारीख रखना चाहिये जो कभी न आये।'

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। चाणक्यनीति

मृत्यु केश पकड़ रखा है और सिर काटने ही वाली है, ऐसा मानकर धर्माचरण करे।

इस प्रकार ये सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी जाग्रत्के स्वप्नमें नहीं रहते, स्वप्नके जाग्रत्में नहीं रहते और सुषुप्तिमें तो रहते ही नहीं; किन्तु आत्मा सदा रहता है। ये आत्माके धर्म नहीं हैं, आने-जानेवाले हैं, अतएव '**अनित्याः**' अनित्य होनेसे देहकक्षामें हैं, देही कक्षामें नहीं हैं। देह अनित्य है, देही अनित्य नहीं है।

कुछ लोग सुख-दुःखको आत्माका स्वभाव मानते हैं, कुछ लोग इन्हें आत्माका गुण मानते हैं और कुछ इनको आत्माका धर्म मानते हैं, किन्तु यदि सुख-दुःख आत्माके स्वभाव, गुण या धर्म हों तो मुक्तिको तिलाञ्जलि देनी होगी।

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनो साक्षिता नास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा॥

आत्मा यदि दु:खी हो तो उसके दु:खी होनेका साक्षी कौन होगा? जो दु:खी है, वह साक्षी नहीं हो सकता और जो साक्षी है, उसे दु:ख नहीं होता।

नर्ते स्याद् विक्रियां दु:खी साक्षिता का विकारिण:।
धी विक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रिय:॥

बिना विकारके दु:ख नहीं होता और जो विकारी है, वह साक्षी नहीं हो सकता। मैं बुद्धिके सहस्र-सहस्र विकारोंका साक्षी हूँ, अत: मेरा स्वरूप निर्विकार है।

आत्मा कर्त्रादि रूपश्चेन्माकांक्षीस्तर्हि मुक्तताम्।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेदौष्ण्यवद् रवे:॥

यदि आत्मा कर्ता-भोक्तारूप हो तो मुक्तिकी आकांक्षा ही त्याग दो; क्योंकि जैसे सूर्य कभी उष्णता नहीं छोड़ता, वैसे ही जिसका जो स्वभाव है, बदलता नहीं है।

इसलिये अपने स्वरूपमें न सर्दी है न, गर्मी, न सुख है, न दु:ख, न आना है, न जाना। ये आने-जानेवाले सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी तो मात्रास्पर्श हैं। '**तांस्तितिक्षस्व**' उनसे मित्रता-शत्रुता मत करो। उनको क्षमा कर दो। तितिक्षा शब्द 'तिज्' धातुसे क्षमाके अर्थमें बना है। तितिक्षाका अर्थ है सहन करना।

तुम कालबादेवी रोडपर खड़े हो। उस मार्गसे भिक्षुक जाता है तो उसे मारने नहीं दौड़ते और सेठ निकलता है तो उसके पाँव नहीं चूमते। उसपर कुरूप भी जाते हैं, सुन्दर भी जाते हैं। तुम तो केवल तटस्थ दर्शक हो।

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। स्वप्रावासदत्तम्

सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी तो रथके पहियेके समान नीचेसे ऊपर और ऊपसे नीचे आते-जाते रहते हैं। तुम्हारे कान जब स्तुति-निन्दा दोनों सुन लेते हैं, तुम्हारे नेत्र जब रूपवान्-कुरूप दोनों देख लेते हैं, तुम्हारी नासिका जब सुगन्ध-दुर्गन्ध दोनों सूँघ लेती है, तुम्हारी रसना जब सुस्वादु-कुस्वादु दोनों चख लेती है, तुम्हारी त्वचा जब मृदुल-कठोर दोनों छू लेती है और तुम्हारा मन जब शुभ-अशुभ दोनों सोच लेता है, तब तुम क्या इन सबको सह नहीं ले सकते?

पृथिवीकी कोई 'भूरसि भूमिरसि' कहकर पूजा करते हैं, कोई उसपर थूकते हैं, किन्तु वह दोनोंको सह लेती है, क्योंकि पृथिवी तत्त्व है। जलमें,

अग्निमें, वायुमें लोग सुगन्धित वस्तुएँ भी छोड़ते हैं और अपवित्र वस्तुएँ भी; किन्तु ये उन्हें सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार शरीर जन्म-मृत्यु धारण करता है, तुम नहीं करते। तुम तत्त्व हो, साक्षी हो, सर्वाधिष्ठान हो। तुम देहके सुख-दु:खसे प्रभावित मत हो।

तितिक्षा भी दो प्रकारकी होती है। एक तो सुख-दु:खको सत्य मानकर उन्हें तप-बुद्धिसे सहन करते हैं और एक उन्हें ठीक समझकर-उनका स्वरूप बाधित समझकर उनकी उपेक्षा कर देते हैं। जैसे होलीके दिनोंमें लड़के यात्रियोंको तंग कर रहे थे। उन्होंने एक मनुष्यपर रबरका साँप फेंका तो उसे वास्तविक समझकर वह चिल्ला पड़ा और झटककर साँपको उसने दूर फेंक दिया। थोड़ी देरमें दूसरा मनुष्य निकला तो उसपर भी लड़कोंने वही साँप फेंका। वह मनुष्य जानता था कि यह नकली साँप है, अत: उसने उसे लेकर हाथमें कंगन की भाँति लपेट लिया और बोला—'चलो एक रुपयेकी वस्तु तो मिली।' अब फेंकनेवाले ही दौड़े आये और गिड़गिड़ाने लगे कि उनकी वस्तु उन्हें लौटा दी जाय। इस प्रकार एक तो सुख-दु:खको सत्य मानकर, अपनेको उनका भोक्ता मानकर उन्हें सहना होता है और दूसरे उनका अपनेसे कोई सम्बन्ध ही नहीं, अपने स्वरूपको वे स्पर्श ही नहीं करते, यह समझदारीकी तितिक्षा है।'

●

: 15 :

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ 15॥

'नररत्न अर्जुन! जिस सुख-दुःखमें समरस धीर पुरुषको मात्रास्पर्श व्यथित नहीं करते हैं, वह अमृतब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य होता है।'

गीतामें 'अमृतत्व' ज्ञेयतत्त्वको जान लेनेको—अपने स्वरूपके ज्ञानको कहा गया है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। 13.12

'**एते**'का अर्थ है 'मात्रास्पर्श' अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषय।

भगवान्ने अर्जुनको यहाँ '**पुरुषर्षभ**'-पुरुष–ऋषभ कहा है। ऋषभका अर्थ है श्रेष्ठ। श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवजीने अपने नामके सम्बन्धमें बताया है—'**अतो हि मां ऋषभं प्राहुरार्याः।**' भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं और वे कहते हैं कि अर्जुन, तुम तो पुरुषोंमें श्रेष्ठ हो। अर्थात् तुम तो उत्तम अधिकारी हो। जिसे ये मात्रास्पर्श व्यथा नहीं पहुँचाते वह साधारण पुरुष भी अमृतत्व प्राप्त कर लेता है।

'**न व्यथयन्ति**' व्यथा नहीं देते, विचलित नहीं करते। मनुष्य अपने स्वरूपसे विचलित होता है, तभी व्यथाका अनुभव करता है। तुम हो अमर और अपनेको मरणधर्मा मानते हो, ज्ञानस्वरूप होकर अपनेको जड़ मानते हो, आनन्दस्वरूप होकर भी दुःख मानते हो। तुम अपना सत्स्वरूप, चित् स्वरूप और आनन्दस्वरूप छोड़कर क्यों अपनेको मरनेवाला, अज्ञानी और दुःखी मान रहे हो? किसीने हाथ पकड़कर तुम्हें अपने स्वरूपसे बाहर खींच लिया है। अपने स्वरूपसे तुम विचलित हो गये हो। ऐसा किसने किया है? मात्रा-स्पर्शने—इन्द्रियोंसे होनेवाले विषयोंके स्पर्शने।

कुछ लोगोंको होटलका भोजन जीभपर चढ़ जाता है। उन्हें घरका भोजन अच्छा नहीं लगता। उन्हें घरसे बाहर किसने किया? होटलके भोजनने। इसी प्रकार जब हम अपने-आपमें सुख, प्रकाश एवं जीवनका अनुभव न करके बाह्य विषयोंसे सुख पाना चाहते हैं, तब बाह्य विषय हमें बाहर घसीट लेते हैं—बहिर्मुख कर देते हैं। हमें आत्मसुख अच्छा नहीं लगता, विषयसुख, विषयोंका ज्ञान अच्छा लगता है। यह दु:ख पानेका मार्ग है। ईश्वरकी प्राप्ति उसे होती है, जिसे विषय घसीटकर हृदयसे बाहर नहीं ले जाते।

'एते मात्रास्पर्शा:' यहाँ मात्रास्पर्शका बहुवचनमें प्रयोग है और 'पुरुषं' एक वचन है। मात्रास्पर्श अर्थात् विषय तो बहुत हैं, किन्तु ये जिसे व्यथा न दे सकें, ऐसा पुरुष करोड़ोंमें कोई एक होता है—ऐसा तात्पर्य है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:॥ 7.3

हजारों मनुष्योंमें-से कोई एक तो प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले सहस्रोंमें कोई एक विरला है जो विषयोंके आकर्षणसे बचे। ऐसा पुरुष कौन? 'धीरं' धीरका अर्थ है बुद्धिमान् '*धी: अस्यास्ति', धीमान्-धीर:,* अथवा '*धियं ईरयति'* बुद्धिको जो प्रेरित करता है। '*धियं राति इति धीर:'* बुद्धिकी प्रेरणाको जो ग्रहण करता है। '*अवधीरयति विषयान्'* विषयोंका अपवाद करता है। '*धत्ते इति धी:'* धारणात्मिका शक्तियुक्त बुद्धिका नाम धी है; वह जिसकी हो, वह धीर। जो दु:ख, शोक आदिके समय उनसे अभिभूत न होकर चित्तको रोकनेमें समर्थ हो। काम-क्रोध आदिके निमित्त आनेपर जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें रख सके। जो इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरणसे हटाकर वशमें रखे, उसे धीर कहते हैं।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण:।
नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् वाचोविग्लापनं हि तत्॥

बृ. उ. 4.4.21

धीर पुरुषको चाहिये कि परमात्माको जानकर उसीमें अपनी प्रज्ञाको स्थिर रखे, विषयोंमें न जाने दे और बहुतसे शब्दों (शास्त्रों)का अध्ययन भी न करे; क्योंकि यह तो वाणीको व्यर्थ कष्ट देना है।

सब पढ़ाई-लिखायीका तात्पर्य अपनी आत्मामें परमात्माको जानना ही है। जान गये तो पढ़ने-लिखनेका प्रयोजन पूरा हो गया। अब अपनी जीभ और मनको शब्द एवं उनके अर्थ रटनेमें क्यों लगायँ? बुद्धिको विक्षिप्त क्यों रखें? तब तो चित्तवृत्तिको ब्रह्माकार ही रखना चाहिये। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने कहा—

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परेतत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥

यदि परमतत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ तो तुम्हारे अध्ययनका घटाटोप—चार-चार विषयोंका आचार्य होना निष्फल है और यदि परमतत्त्वका ज्ञान हो गया अध्ययनका प्रयोजन ही पूर्ण हो गया। फिर अध्ययन करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं रहा।

ज्ञात्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

उस परमतत्त्वको जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक छोड़ देते हैं। ये विषयोंके संस्पर्श किसको विचलित नहीं करते? जो धीर है, जिसमें धारणात्मिका बुद्धि है, जो विपरीतसे विपरीत परिस्थितिमें अपना धैर्य नहीं छोड़ता।

आजकल नेताका चुनाव मतदानसे होता है, किन्तु यदि इन्द्रियोंका मत लोगे तो वे अन्तर्मुखताके पक्षमें कभी मत नहीं देंगी। उनका मत तो संसारके विषयोंकी ओर जानेके पक्षमें होगा। अतः इन्द्रियोंका मत नहीं लेना है, इनकी रुचि नहीं रखनी है। इन्द्रियों और मनको जीवात्माकी आज्ञा माननी है। गुरु अपने शिष्योंके मतदानसे निर्णय नहीं करता। शिष्योंको गुरुकी आज्ञामें रहना पड़ता है।

'**समदुःख सुखं धीरं**' धीर वह जो दुःख-सुखमें समान रहे। इस दुःख-सुखको सम्बन्धमें भी विभाजन कर लेना चाहिये।

1. दुःख-सुखके निमित्त आते हैं। जिन निमित्तोंसे दुःख-सुख होता है, वे स्वयं दुःख या सुख नहीं हैं। मित्रका वियोग, शत्रुका संयोग, धनकी प्राप्ति या विनाश, स्वजनका मरण आदि निमित्त हैं दुःख या सुखके? ये निमित्त भी यदि कभी स्वेच्छासे स्वीकार किये जायँ तो उनमें दुखरूपता नहीं रहती। जैसे गर्मीमें धूपमें रहना दुःखका निमित्त है, किन्तु जो पंचाग्नि तापते हैं, उन्हें यह निमित्त दुःख नहीं देता।

वृन्दावनमें संगमरमरके टेढ़े खम्भोंका श्री शाहबिहारीजीका मन्दिर है। यह मन्दिर लखनऊके बड़े भारी रईस शाह कुन्दनलाल तथा शाह फुन्दनलालने बनवाया है। इन दोनों भाईयोंने अपने नाम ललितकिशोरी एवं ललितमाधुरी रख लिये थे और वृन्दावनमें ही निवास करते थे। इनके यहाँ नियम था कि जब रासलीला हो तो सब दर्शक खड़े रहें, क्योंकि ठाकुरजी खड़े होकर नृत्य करें तो दूसरोंका बैठे रहना उचित नहीं है। एक बार एक महाराजाने सूचना दी कि वे रासलीला देखने आयँगे। महाराजाको बैठनेके लिये कुर्सी रख दी गयी और जब वे आये, ललितकिशोरीजीने उनका आगे जाकर स्वागत किया और रास मण्डलमें लाकर पहले ही बैठने लगे। नाईने ललितकिशोरीजीका कान पकड़कर उठा दिया। सब लोग चौंक पड़े। भरी सभामें नाईने अपमान किया था। पूछने पर बोला—'तुम्हें इस नियमका पता नहीं है कि रासलीलामें खड़े रहना चाहिये? श्रीठाकुरजी नृत्य करेंगे तो तुम बैठे रहोगे?' अब नियमका पता लगनेसे महाराजा भी खड़े ही रहे। इतना अपमान हुआ, किन्तु योजना अपनी थी, निमित्त स्वयंका बनाया था, अतएव इस अपमानका ललित किशोरीजीको कोई दु:ख नहीं हुआ।

सुख-दु:खके निमित्त भी दो प्रकारके होते हैं एक तो समष्टिप्रारब्धजन्य और दूसरा व्यष्टिप्रारब्धजन्य। जैसे गाँवकी पंचायतमें जो गैस लैम्प जलता है, वह किसका है? वह पंचायती है। पूरे गाँवके लोगोंका पैसा उसमें लगा है। इसी प्रकार पृथिवी, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, सूर्य-चन्द्र आदि समष्टि प्रारब्धसे बने हैं। महामारी, भूकम्प, अकाल पड़ना, युद्ध, अतिवृष्टि आदि दु:खके निमित्त समष्टि प्रारब्धसे आते हैं और ज्वर, चोट लगना, धनहानि आदि वैयक्तिक दु:खके निमित्त व्यष्टि प्रारब्धसे आते हैं।

2. सुख-दु:खके निमित्त आनेपर मनमें सुखाकार और दु:खाकार वृत्ति होती है। यदि सुख-दु:खके निमित्त आनेपर भी मनमें सुखाकार या दु:खाकार वृत्ति न आये तो सुख-दु:ख नहीं होगा। बच्चे अनेक बार खेलमें गिरते हैं, चोट लगती है; किन्तु हर बार रोते नहीं। कई बार वे उठकर हँसते हुए खेलमें लग जाते हैं। चोट तो लगी, दु:खका निमित्त आया, किन्तु मनमें दु:खाकार वृत्ति नहीं बनी, इससे दु:ख नहीं हुआ।

3. मनमें सुखाकार वृत्ति आनेपर 'मैं सुखी' 'मैं दु:खी' इस प्रकारका

अभिमान होना। सुख या दु:खके निमित्त तो प्रारब्धके अनुसार आते हैं। राग-द्वेषके अनुसार वृत्ति बनती है। जिसे धनमें बहुत राग है, उसे धनहानिसे बहुत दु:ख होगा। वैराग्यवानको कम दु:ख होगा। लेकिन दु:ख होनेपर उसे अपनेसे चिपका लेना भिन्न बात है। प्रारब्ध तो ज्ञानी पुरुषका भी होता है। उसे भी धनहानि, रोग, मृत्यु संयोग-वियोग, मान-अपमान जैसे निमित्त जीवनमें प्राप्त होते हैं। जैसा जीवन उसका चला है-उसके अनुसार उसके मनमें राग-द्वेष होता है और उस राग-द्वेषके अनुसार सुखाकार या दु:खाकारवृत्ति भी उसके मनमें बनती है, किन्तु 'मैं सुखी' 'मैं दु:खी' इस प्रकारका अंहकार उसमें नहीं आता। यह अहंकार प्रारब्धका कार्य नहीं है। यह अज्ञानसे होता है, अत: धीर पुरुषमें यह नहीं आता।

सुख-दु:खमें समता कर्मयोगकी भी होती है, भक्तकी भी और ज्ञानीकी भी। कर्मयोगी सुख-दु:खको अपने प्रयत्नसे समान बना लेता है।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। 2.38

वैसे तो सुख-दु:ख जाने जाते हैं, बनाये नहीं जाते, क्योंकि सुख-दु:ख फलात्मक वृत्ति है। इन्हें साक्षिभास्य कहते हैं। इनमें बँटवारा करो कि कितना इनमें साक्षी है, कितना आभास है। सुख और दु:खमें जो 'ख' है, यह साक्षी है। 'कं ब्रह्म-खं ब्रह्म' के अनुसार यह 'ख' आत्मा है और 'सु' तथा 'दु:' अर्थात् सुष्ठुत्व और दुष्टत्व-यह ब्रह्मके अज्ञानसे आया है। सुखी भी आत्मा, दु:खी भी आत्मा अत: सुख-दु:ख दोनोंमें आत्मा तो है ही। अपने हृदयकाशमें निर्मलता, प्रकाशका रहना सुख है और उसमें गन्दगी, मलिनताका आना दु:ख है। कर्मयोगी हृदयको निर्मल रखता है। हृदयमें धुँधलापन नहीं आने देता। वह कहता है, अपना अधिकार तो प्रयत्न करना ही है। फल देना ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। 2.47

हमने इस जन्ममें किया तो पुण्य, किन्तु हमें मिलता दु:ख है, तो यह ईश्वरकी इच्छा है कि वह हमें अभी इस जन्मके पुण्यका फल न देकर पिछले जन्मोंमें किये गये पापका फल देना ठीक समझता है। हमने इस जन्ममें काम तो बुरा किया, किन्तु हमें मिलता सुख है, तो भगवान् अभी हमें पूर्वजन्मके पुण्यकर्मका फल दे रहे हैं।

इसमें एक विशेष बात ध्यान रखनेकी है कि अपने ऊपर सुख-दु:ख आये तो सहन कर लेना चाहिये। दूसरेको सहानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। एक सज्जन मुझे गाली दिया करते थे। पूछा उनसे कि गाली क्यों देते हो? तो बोले—'इसलिये गाली देता हूँ कि तुममें सहन करनेकी शक्ति आजाय।' यह अनुचित पद्धति है। गाली सुनकर सह लेनेसे मुझमें तो सहनशक्ति आयगी, किन्तु गाली देनेवालेको गाली देनेका, दुसरेको दु:ख पहुँचानेका प्रयत्न करनेका फल भोगना पड़ेगा।

सुख-दु:ख भक्तके लिये भी समान होता है। कर्मयोगी तो अपने प्रयत्नसे सुख-दु:खको समान करता है, किन्तु भक्तकी दृष्टि सुख-दु:खपर नहीं होती। उसकी दृष्टि इनको देनेवाले पर रहती है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदु:खेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

गीता 12.18-19

मित्र आये या शत्रु, भक्त देखता है कि इन दोनों रूपोंमें मेरे प्यारे प्रभु ही पधारे हैं। कोई उसकी प्रशंसा करे या गाली दे, वह समझता है कि उसके प्रियतम ही उससे व्यवहार कर रहे हैं। सरदी हो गरमी, सुख आये या दु:ख, उसे तो यह प्रतीत होता है उसके प्रभु ही उसके लिये ये उपहार भेज रहे हैं। वह कहता है—

देख मृत्युका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ?

एक भक्तसे मिलना हुआ तो वे बोले—'दु:ख इस बातका है कि भगवान्‌की निरन्तर स्मृति बनी नहीं रहती।'

मैंने कहा—'विस्मृति भेजनेवाले भी तो वही हैं।'

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।

जो स्मृति देनेवाला है, वही विस्मृति भी देनेवाला है। जिसने जाग्रत् अवस्था भेजी ज्ञानके रूपमें, स्वप्नास्था भेजी स्मृतिके रूपमें, वही सुषुप्ति भेजता है विस्मृतिके रूपमें। जिस चिकित्सकने दवा दी है, रोग भी उसीने दिया है। जिस माताने दूध पिलाया, उसीने चपत लगायी।

भक्तका दृष्टिकोण यह है कि वह वस्तु नहीं देखता, कार्य नहीं देखता, व्यक्ति नहीं देखता। वह उसमें परमेश्वरका हाथ देखता है। कर्मयोगीके जीवनमें सुख-दुःखका समीकरण है और भक्तके जीवनमें सुख-दुःखके दातापर दृष्टि है। गुणातीतकी स्थिति इन दोनोंसे ही विलक्षण है। गुणातीतके सम्बन्धमें गीतामें आया है—

समदुःखसुखः स्वस्थः (14.24)

गुणातीत 'स्वस्थ' है—अपने स्वरूपमें स्थित है। गंगाके तटपर एक व्यक्ति बैठा है। गंगाकी धारामें कभी पुष्प बहते जाते हैं और कभी मुर्दे, लेकिन वह व्यक्ति तो केवल द्रष्टा है। इसीको तटस्थ कहते हैं। उसका न पुष्पोंसे सम्बन्ध बना और न मुर्देसे। एक व्यक्ति पर्वतके शिखरपर बैठा है। नीचे बाढ़ आयी और बह गयी। इसी प्रकार मायाकी धारामें-प्रतीतिकी धारामें सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भोग-रोग-योग आते-जाते रहते हैं। रजोगुणमें भोग आता है, तमोगुणमें रोग आता है, सत्त्वगुणमें भोग आता है, किन्तु अपने स्वरूपमें न रोग है, न भोग और न योग। समुद्र भले सूख जायँ, किन्तु साधुका कमण्डलु नहीं सूखता। आकाश भले हिल जाय, पर साधुका आसन नहीं हिलता।

साधनका स्वरूप यह है कि तुम जो भी बनना चाहते हो, वैसा संग करो, वैसा चिन्तन करो। जिनको विवाह करना है, उन्हें विवाहित लोगोंका साथ करना चाहिये। इससे उन्हें गृहस्थ जीवनमें रहनेकी, बच्चोंके पालन-पोषणकी शिक्षा मिलेगी, इसी प्रकार यदि तुम चाहते हो कि हम भगवान्के वैकुण्ठ धाममें जाकर श्रीनारायणकी चरणसेवा करें तो आज ही से ध्यान करना प्रारम्भ कर दो कि शेषशायी नारायणके श्रीचरणोंको गोदमें लेकर तुम दबा रहे हो। श्रीराधाकृष्णको ताम्बूल खिलाना चाहते हो तो अभीसे ध्यान करो कि कल्पवृक्षके नीचे युगल सरकार गलबहियाँ डाले खड़े हैं और सखीके रूपमें उपस्थित होकर तुम ताम्बूल खिला रहे हो। तुम चाहते हो कि तुमपर मृत्युकी छाया न पड़े, तुम्हें दुःख न हो तो आजसे ही समत्वको धारण करो।

कर्मयोगी प्रयत्नशील होता है, चिन्तनशील होता है। और गुणातीत अपने-आपमें स्थित होता है। तुम्हें क्या बनना है? जो बनना चाहते हो उसके लिये अभीसे प्रयत्न प्रारम्भ करो। यदि किसीको रामेश्वरकी यात्रा करनी है तो मार्गमें भिक्षा देनेवाले गाँव भी मिलेंगे और ऐसे भी गाँव मिलेंगे, जहाँ भिक्षा न

मिले। भिक्षा मिले तो और न मिले तो भी तुम अपनी यात्रा बन्द मत करो, तब रामेश्वर पहुँचोगे। चले बद्रीनाथ जानेके लिये, मार्ग समान मिला तो चलते गये, उतराई आयी तो बहुत प्रसन्न हुए और जब चढ़ाई आयी, साँस फूलने लगी तो बोले—'अब तो हमसे चला नहीं जायगा।' इस प्रकार कोई गन्तव्य तक नहीं पहुँचा करता।

मैं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठ।

चले थे भगवान् नारायणकी प्राप्ति करने और चर्खा लेकर बैठ गये—

निकले थे हरिभजनको, ओंटन लगे कपास।

कहने लगे—'चर्खा ही चक्र है, '**एवं प्रवर्तितं चक्रम्**'। हमें तो नारायणका तादात्म्य प्राप्त हो गया।' यह साधकका लक्षण नहीं है। साध्यकी प्राप्तिके लिये सुख-दु:खको सम करके, धीर बनकर चलना होता है।

ध्यान देनेकी बात यह है कि भगवान् केवल 'दु:ख सहते चलो'-यह बात नहीं कह रहे हैं। '**समदु:खसुखं**' सुख भी सहते चलो, यह कह रहे हैं। दु:खसे बड़ा विघ्न सुखमें परमार्थके लिए है। सुखमें बन्धनात्मिका शक्ति अधिक है दु:खकी अपेक्षा। दु:खमें किसीकी आसक्ति नहीं होती कि वह बना रहे। दु:खमें विकर्षण शक्ति है, वह दूर फेंकता है। दु:खसे घबड़ाकर लोग साधन तथा ईश्वरपर अविश्वास कर बैठते हैं, लेकिन सुख अपनेमें बाँधता है, जैसे बिजलीकी एक करेण्ट अपनेसे दूर फेंकती है और एक पकड़ लेती है।

मेरे एक परिचितने बतलाया कि वे गुरुकी खोजमें हिमालयमें मार्गसे बहुत दूर निकल गये। वहाँ उनको एक महापुरुषका दर्शन हुआ, किन्तु वे महात्मा समाधिस्थ थे। अब जबतक उनकी समाधि न टूटे, ये कैसे वहाँ प्रतीक्षा करें? खायँ क्या? अचानक इनको एक कटोरा मिल गया और कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि कटोरेमें अपने-आप प्रतिदिन भोजन आजाया करेगा। कटोरेमें समयपर भोजन आने लगा। अब उन सज्जनके मनमें आया कि मुझे तो सिद्धि प्राप्त हो गयी। वे कटोरेका चमत्कार दिखलाने लौट आये, किन्तु हरिद्वार आनेपर कटोरा हाथसे गिरा और फूट गया। वे दु:खसे पागल हो गये, फिर हिमालयमें गये; किन्तु गुरुके दर्शन उनको फिर नहीं हुए।

कभी-कभी अपना संकल्प अनायास पूरा हो जाता है। गिरिनार पर हम लोग चढ़ रहे थे-बीचमें भूख लगी। इच्छा हुई कि कोई भिक्षा करा देता तो

अच्छा था। इतनेमें एक व्यक्तिने पीछेसे पुकारा-'आप लोग भोजन करके जायँ।' ऐसी बातें अनेक बार होती हैं। कभी साधन करते समय साधकका शरीर भूमिसे कुछ ऊपर उठ जाता है, कभी देवताका दर्शन होता है, कभी कोई शब्द, दृश्य या गन्ध आने लगती है। इनमें फँसना नहीं चाहिये। जबतक ब्रह्मात्मैक्यका अपरोक्ष साक्षात्कार न हो, प्रयत्नको शिथिल मत होने दो।

कुछ लोगोंको ब्रह्मज्ञान तो दूर, नित्यानित्यविवेक भी ठीकसे नहीं है; किन्तु सन्तोंसे सुने, शास्त्रोंमें पढ़े विचारोंके संस्कार कभी जागते हैं। एक छाया-सी विवेककी आती है। यह केवल स्मृति है। वे उसीको मान लेते हैं। समझ लेते हैं कि उन्हें तो तत्त्वदर्शिनी प्रतिभा प्राप्त हो गयी। ऐसे भ्रममें मत पड़ो। संकल्पकी सिद्धिसे, इष्टके दर्शनसे जो सन्तुष्ट हो गया, वह लक्ष्यसे च्युत हो गया। दु:खसे हारो मत और सुखमें फँसो मत, तब तुम अमृतत्वके अधिकारी होंगे।

'**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' जो सुख-दु:खमें समान रहता है, धृतिका त्याग नहीं करता, वह अमृतत्वका अधिकारी होता है। लेनिक पहिले अमृतत्वको प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तब उसका अधिकारी बननेकी बात उठे। जब कोई कहता है-'तुम यह साधन करो तो अमुक फल प्राप्त होगा', उस समय जिसकी इच्छा वह फल पानेकी है, उसीकी रुचि उस व्यक्तिका बताया साधन करनेमें होगी। जिसकी इच्छा ही उस फलको पानेकी नहीं है, वह उस व्यक्तिकी बातपर ध्यान भी क्यों देने लगा? अतएव सुख-दु:खमें समान रहनेकी प्रवृत्ति तो उसकी होगी जो अमृतत्वको प्राप्त करना चाहता हो।

आजके युगमें यदि कहो कि सुख-दु:खमें समान रहनेसे धन मिलेगा यश मिलेगा ऊँचा पद मिलेगा, तब तो भले लोगोंकी सुखदु:खमें समान रहनेकी प्रवृत्ति हो, किन्तु अमृतत्वकी बात करो तो वे उसे सुनना ही नहीं चाहेंगे।

आप सत्संगमें आते हैं। संस्कृतमें कहे गये श्लोकका अर्थ ही अपनी भाषामें जानने तो नहीं आते हैं। यह काम तो एक संस्कृतके पंडितको नौकर रखकर भी कर सकते हैं अथवा किसी विद्वान्के पास जाकर मुफ्तमें भी श्लोकका अर्थ पूछ ले सकते हैं। सत्संगमें आकर यदि आपने श्लोकका केवल अर्थ ही समझा है तो आपने पण्डितका संग ही किया, सत्संग नहीं। सत्संगमें आकर अमृतत्वको प्राप्त करनेकी इच्छा आपमें जागी या नहीं, यह देखिये!

महर्षि याज्ञवल्क्य जब संन्यास लेनेको उद्यत हुए तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंसे कहा-'आओ, मैं तुम लोगोंमें, घरकी सम्पत्ति बाँट दूँ।' महर्षिकी एक पत्नीने पूछा-'इस धनसे मुझे अमृतत्व मिल जायगा?' याज्ञवल्क्यको कहना पड़ा-

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।

सम्पूर्ण विश्वका धन भी किसीको मिल जाय तो उस धनसे भी अमृतत्व पाया नहीं जा सकता। महर्षिकी पत्नी बोली—

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।

जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती, उस धनको लेकर क्या करूँगी?

अमृतत्व तो सब कुछ त्याग करने पर ही मिलता है। लेकिन अधिकांश लोग अमृतत्व नहीं चाहते। वे विनाशीको-मुर्देको चाहते हैं। वे धर्मशालामें आने-जानेवालोसे, प्याऊपर आनेवालोंसे या सड़कपर चलनेवालोंसे प्यार करते हैं। जो बुलबुला फूटनेके लिये उठा है, उसे फूटा हुआ ही समझना चाहिये। संसारके समस्त पदार्थ मरणशील हैं, साक्षात् मुर्दे ही हैं। इन मुर्देकी प्रीतिके बलपर कोई अमर होना चाहे, सुख पाना चाहे, यह सर्वथा असम्भव है। इसका फल दु:खके अतिरिक्त और क्या मिलना है?

बहुतसे लोग सोचते हैं कि हमारा शरीर भले अमर न रहे, कीर्ति अमर रहेगी। इसके लिये वे धर्मशाला, कुँआ, तालाब, मन्दिर-स्कूल या अस्पताल बनवाते हैं। ये कार्य उत्तम हैं, इन्हें करना चाहिये; किन्तु यह समझना चाहिये कि लौकक कार्योंसे होनेवाली कीर्ति अमर नहीं रहती। वह धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। पता नहीं कितने विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी हुए और अब उनका नाम भी कोई नहीं जानता। कीर्ति भी तत्त्वके आधारपर होनेवाली ही स्थायी होती। श्रीकृष्णकी कीर्ति उनके पृथ्वीपर रहते हुए जितनी थी, उससे आज कहीं अधिक है।

पहले तो अमृतत्वकी इच्छा होना ही कठिन है। इच्छा होनेपर अमृतत्वको समझना कठिन है। परमार्थके मार्गमें चलनेवाले साधकोंकी भी अमृतत्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। रसेश्वर सम्प्रदाय कहता है कि योगके द्वारा तथा औषध-सेवनसे हम तुम्हारे देहको ही अमर कर देंगे। लेकिन जिसमें रोग आते हैं, विकार आते हैं, बुढ़ापा आता है, जिसमें रक्त घटता-बढ़ता

है वह शरीर कहीं अमर हो सकता है? यह देहके अमरत्वकी कल्पना ही देहके मोहसे उत्पन्न हुई है।

ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तः द्विपरार्ध परायुषः।

जो सब देहोंका निर्माता ब्रह्मा है, वह भी मर जाता है। यह बात कुछ लोगोंने समझी तो बोले—'स्थूल देह अमर भले न हो, सूक्ष्म देह तो अमर है। हम यज्ञ करके स्वर्ग जायँगे और वहाँ अमृतपान करेंगे।'

अपाम सोमं अमृता अभूम।

लेकिन कर्म करनेमें शक्ति लगती है और कर्मसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह एक सीमापर समाप्त हो जाती है। तुम गेंद फेंको तो उसे फेंकनेमें शक्ति लगी! गेंद कुछ दूर जायगी; किन्तु एक सीमातक जाकर गिर जायगी। अतएव श्रुतिने कहा '**नास्त्यकृतः कृतेन**' किये हुए कर्मोंसे अकृत-मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

उपासकोंने कहा—'हम उपासनाके द्वारा अन्तःकरणको वेगपूर्वक ले जाकर तत्पदार्थमें डाल देंगे, उससे सायुज्य प्राप्त कर लेंगे। लेकिन जो डाला जायगा, उसे कभी निकलना भी पड़ेगा। भेद रहेगा तो अलग होना पड़ेगा।

योगाचार्य कहते हैं—'प्रवर्तमानवृत्तिसे नहीं किन्तु निवर्तमानवृत्तिसे मोक्षकी—अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। आगे—बाहरकी ओर जाकर नहीं, अपने भीतर लौटकर, त्वं-पदार्थमें ही स्थित होकर अमृतत्वकी उपलब्धि होगी।' लेकिन लौटनेमें प्रतिलोम वृत्तिमें भी खंड रहता है, परिच्छिन्नता रहती है। इससे अमृतत्वकी उपलब्धि नहीं होती।

गीतामें अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन त्रिगुणोंका अतिक्रमण-गुणातीत होना बताया गया है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देहीदेहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ गीता 14.20

यहाँ गुणातीत होनेसे किसका बोध होता है। मनुष्यका देह गुणातीत होता है जीव होता है या आत्मा? मनुष्यका देह जिस द्रव्यसे बना है, वह तो तमोगुणका कार्य है! यह शरीर मिट्टीका बना है। मृत्तिको ही मृत्तिका कहते हैं, जो रौंदी जाय 'मर्दनात्' वह मृत्ति। इस शरीरमें जो क्रियाएँ होती हैं, वे रजोगुणका कार्य हैं। जो विचार आते हैं, भावनाएँ हैं, वे सत्त्वगुणका कार्य हैं।

शान्ति, दान्ति, उपरति आदि और महावाक्यजन्य अखण्डार्थधी भी सत्त्ववृत्तिका परिणाम है। इसीसे वह भी अविद्याकी निवृत्तिके साथ बाधित हो जाती है।

यहाँ यह विचार करना है कि त्रिगुणोंका अतिक्रमण करके जो अमृतत्व प्राप्त होता है, वह साध्य अमृत है या सिद्ध अमृत है। जैसे वैद्य लोग अनेक ओषधियाँ कूट-पीसकर, भट्ठीमें चढ़ाकर रसायन बनाते हैं, वैसे ही शरीर या मनके प्रयत्नसे बना हुआ अमृत उसे मानो तो वह विनाशी होगा। क्योंकि—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। 13.12

मैं उस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन करता हूँ, जिसे जानकर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। इसका अर्थ हुआ कि वह अमृत ज्ञानसिद्ध है। जो वस्तु पहलेसे विद्यमान होती है, वह ज्ञानसे जानी जाती है। नित्यप्राप्त होनेपर भी अज्ञानके कारण जिसे अप्राप्त मानते थे, ज्ञान होनेपर उसकी अप्राप्तिका भ्रम मिट गया, प्राप्त तो वह थी ही।

परमात्माका स्वरूप तो मृत भी है और अमृत भी, सत् भी है और असत् भी।

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (9.19)

तुम गलत स्थानपर उलझ गये हो। तुमने परमात्माके मृत्युरूपसे प्रेम कर लिया है। यह जो प्रतीयमान-दृश्य जगत् है, यह परमात्माका मृत्युरूप है। '**आगमापायिनोऽनित्याः**' जो इसमें फँसेगा, इससे आसक्ति करेगा, वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा रहेगा। मृत्युका हेतु होनेसे इसे मृत्युरूप कहा गया है। परमात्माका जो आन्तररूप है, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न स्वरूप है, उसे जाननेवाला अमृत होगा। परमात्मामें मृत-अमृतका भेद नहीं है। जिज्ञासुकी आसक्तिके भेदसे इन रूपोंका वर्णन है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं अमृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

गीता 14.27

इस अमृतस्वरूपकी प्राप्तिका प्रयत्न तब होगा जब दृष्टि संसारसे ऊपर उठेगी। यदि बचपनका त्याग न करो तो यौवनकी दृष्टि कैसे मिलेगी? बचपनमें तुम दस आने पाकर सन्तुष्ट हो जाते थे, अब दस हजार चाहते हो। दस हजार

मिल जाय तो भी सन्तोष नहीं होगा। करोड़पति होकर भी अरबपति बननेकी कामना बनी रहती है। यह तो उन्नति नहीं हुई। यह अधिक अज्ञानकी ओर जाना हुआ। अतः दुःखसे छूटनेका उपाय है भोगोंसे ऊपर उठना।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

वाजसनेति संहिता 39.92

उस परमात्माको जानकर ही मृत्युसे पार हुआ जा सकता है। दूसरा कोई मार्ग मृत्युसे छूटनेका नहीं है।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति। महावाक्योपनिषद् 3

'तं' उस परमात्माको 'एवं' इस रीतिसे—आत्मासे अभिन्न रूपमें जानकर 'इह' इस जीवनमें ही अमृत हो जाता है। यह जीवन्मुक्तिका वर्णन है। लोकान्तरमें जाकर अमृत नहीं होता। 'इह' इसी लोकमें, इसी कालमें अमृत हो जाता है।

अब देखो कि तुम अमृत हुए या नहीं? यदि नहीं हुए तो 'तमेवं' विद्वान् भी नहीं हुए। 'अमृत' अविनाशी कहकर उसे सत्स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप बतलाया; क्योंकि अमृत स्वादिष्ट-आनन्ददायी होता है। 'तमेवं विद्वान्'से ज्ञानस्वरूपता बतलायी।

●

: 16 :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16 ॥

'असत्‌का भाव— अस्तित्व नहीं होता और सत्‌का कभी अभाव नहीं होता। इन दोनोंका अन्त— सिद्धान्त तत्त्वदर्शियोंने देख लिया है।'

तत्त्वदर्शियोंने इन दोनोंका अन्त देख लिया है, अपरोक्ष साक्षात् कर लिया है कि सत्-असत्, भाव-अभावका अन्तिम सिद्धान्त क्या है? यह एकने नहीं, बहुतसे तत्त्वदर्शियोंने देखा है।

'**तत्त्वदर्शी**' 'तदिति सत्यनाम' तत् यह सत्यका नाम है। 'यत् तदिति उच्यते तत्सत्, यत् सदिति उच्यते तत्तत्' जो तत् कहा जाता है, वह सत् है और जिसे सत् कहते हैं, वह तत् है अर्थात् सत् और तत् एक ही हैं। एक ही विभक्तिसे दोनों बनते हैं। अविनाशी, एकरस, निर्विकार, अद्वितीयको ही 'तत्' कहा जाता है। 'तदिति सर्वनाम' तत् यह सर्वनाम है। जैसे सभी अपने लिये 'मैं'का प्रयोग करते हैं, वैसे ही सभीके लिये तत्—वहका प्रयोग होता है। अतः सबमें जो एक वस्तु है, उसका नाम तत् है। 'तदिति ब्रह्मणो नाम' तत् ब्रह्मको कहते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' उस ब्रह्मके भावको तत्त्व कहते हैं— 'तस्य भावस्तत्त्वम्।' जैसे घड़े बहुतसे हैं; किन्तु 'घटत्व' सबमें एक ही है। जिसकी सत्ता, उपस्थिति, प्रकाश सबकी पृथकताको प्रकाशित करे उस एकका नाम है तत्त्व। इसे सत्तासामान्य या महासामान्य कहते हैं। 'तुम', 'मैं' यह देहके भेदसे भेद है। गोरा, काला, तेज चलनेवाला, मन्द चलनेवाला आदि देह तथा देहके धर्म हैं। इनमें तुमने अपनेको बाँध रखा है। यह जो दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र, नाक, कानवाला है, वह देह है। ऐसे सब देहोंमें जो एक है, वह तत्त्व है। जिसने उसे देखा, वह तत्त्वदर्शी है।

तत्त्वदर्शनका अर्थ है—यथार्थ दर्शन। वस्तुपर रंग करके उस रंगको देखना या नेत्रपर रंगीन चश्मा लगाकर देखना यथार्थ दर्शन नहीं है। वस्तुपर लगा रंग या चश्मेका रंग तो अध्यारोपित है, ऊपरसे लादा गया है। अधिकका, जो उसमें नहीं है, उसका उसमें आरोप करना अध्यारोप है।' अनध्यारोपितं रूपं तत्त्वम्' अध्यस्तका निषेध कर देनेपर जो बच रहे, वह तत्त्व है।

अध्यस्तका त्याग करना पड़ता है तत्त्वको जाननेके लिये। 'अध्यस्यते—निक्षिप्यते अन्यस्मिन् अन्यः इति अध्यासः।' दूसरेके ऊपर दूसरेको डाल दिया, तो यह ऊपरसे डाली गयी वस्तु अध्यस्त हुई। तुमने अपने ऊपर अविद्या, अन्तःकरण आदि डाल लिया है, यह अध्यास है। अथवा 'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः अध्यासः' जो जैसा नहीं है, उसको वैसा मानना अध्यास है। ऐसे अध्यारोप=अध्यासको दूर करके जो वस्तुको देखे, उसे तत्त्वदर्शी कहते हैं। 'दृशिः सर्वत्र ज्ञानार्थः' 'दृश्' धातु सर्वत्र ज्ञानार्थक होती है, अतः तत्त्वदर्शीका अर्थ है तत्त्वज्ञानी-तत्त्वको जाननेवाला।

तत्त्वदर्शी तत्त्वको किस रूपमें जानते हैं? अपनेसे अभिन्न रूपमें, क्योंकि तत्त्व यदि परिच्छिन्न हो तब उसे अन्यके रूपमें जाना जा सकता है। यदि तत्त्व सर्वात्मक हो तो उसे 'मैं'से अभिन्न रूपमें ही जाना जायगा। 'मैं'से अभिन्न रूपमें ही अपरिच्छिन्न तत्त्वका दर्शन होगा।

आजकलके विद्वान् कहते हैं कि 'अमुक कालमें जब समाजमें हिंसा बहुत बढ़ गयी, तब बुद्धने अहिंसावाद-शून्यवादका दर्शन प्राप्त किया। जब अमुक समयमें नास्तिकता बहुत बढ़ गयी, तब श्रीरामानुजाचार्यने भक्तिका दर्शन प्राप्त किया।' लेकिन जो अमुक कालमें, अमुक परिस्थितिमें, अमुक प्रयोजनसे तत्त्वका दर्शन किया जाता है, वह तत्त्वका दर्शन नहीं है। जो इतिहासके साथ दर्शनको जोड़ते हैं, वे तत्त्वदर्शनको समझते ही नहीं। देश-भेदसे, काल-भेदसे, प्रयोजन-भेदसे जिस दर्शनमें भेद होता है, वह वास्तविक नहीं, काल्पनिक दर्शन है।

वस्तु तत्त्वका दर्शन वह है जो देश-भेदसे, काल-भेदसे, स्थिति-भेदसे प्रभावित नहीं होता। वह चाहे आज प्राप्त हो या दस सहस्र वर्ष पूर्व किसीको प्राप्त हुआ हो, भारतमें या अन्य देशमें, वह एक ही होगा।

इसीलिये वैदिक सिद्धान्त है कि जब अन्तःकरण सम्पूर्ण संस्कारोंसे विरहित होगा, तभी तत्त्वका साक्षात्कार होगा। यदि अन्तःकरणमें कोई कर्मका, योगका, उपासनाका, लोकोपकारका संस्कार है तो ऐसे अन्तःकरणमें जो दर्शन होगा, वह वासनोपरक्त दर्शन होगा। उसमें संस्कारका रंग चढ़ा होगा। उसमें ब्रह्मलोककी, लोकोपकारकी, यशकी या उच्च पदकी कोई-न-कोई वासना होगी। वह शुद्ध तत्त्वका दर्शन नहीं होगा। इसलिये उपनिषदोंका

यह सर्वथा निश्चित सिद्धान्त है कि शुद्धान्तःकरण हुए बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानमें देश, काल या व्यक्तिका सम्बन्ध नहीं है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

कठोपनिषद् 9.2.23

शास्त्रोंका चाहे जितना पाण्डित्य कर लो, किन्तु यदि दुश्चरित्र नहीं छूटे, काम-क्रोध आदि दोष नहीं गये, मनोराज्य निवृत्त नहीं हुआ और सिद्धिकी उपेक्षा नहीं हुई तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। जबतक श्रवण-मनन-निदिध्यासन—इन अन्तरंग साधनोंके साथ विवेक-वैराग्य आदि बहिरंग साधन नहीं होंगे, तबतक तत्त्वका साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता।

अब कहो कि हम उपनिषदोंको नहीं मानते, तब उपनिषदोंको छोड़कर जो तत्त्वका दर्शन तुम करोगे, वह तुम्हारी कल्पना भले हो सकती है, यथार्थ तत्त्वका साक्षात्कार वह नहीं होगा।

लोग कहते हैं—'यह आधुनिकतम तत्त्वदर्शन है। यह तत्त्वदर्शन मार्क्स या फ्रायडने प्रस्तुत किया है।'

दूसरे कहते हैं—'यह शंकराचार्यसे भी बहुत प्राचीन तत्त्वनिरूपण है।'

काल सत्यको प्रगट करनेमें समर्थ नहीं है, यह जानना चाहिये। मार्क्सका दर्शन क्या? रोटी और कपड़ा-अर्थका निरूपण है। और फ्रायडका दर्शन क्या? भोगका निरूपण। यह सब निरूपण देहको लेकर हैं। सत्यका दर्शन यह नहीं है। सत्य तो जब बुद्ध नहीं हुए थे, शंकराचार्य नहीं हुए थे, तब भी वही था और लाखों करोड़ों वर्ष बाद भी वही रहेगा। तत्त्वके दर्शनपर समयका प्रभाव नहीं पड़ता। सर्व देशमें, सर्व कालमें, सर्व जातिमें तत्त्वदर्शन एक ही होता है।

'**तत्त्वदर्शिभिः उभयोः अनयोः अन्तः दृष्टः**'। इसे समझनेके पूर्व यह जान लेना चाहिये कि गीतामें तत्त्वदर्शी और ज्ञानीमें कुछ अन्तर बताया गया है—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। गीता 4.34

यहाँ एक ही स्थानपर ज्ञानी और तत्त्वदर्शी, इन दोनों शब्दोंका प्रयोग ही दोनोंमें अन्तर बतलाता है। ज्ञानी अर्थात् जानकार और तत्त्वदर्शी अर्थात् अनुभवी। श्रुतवेदान्त पुरुष षड्लिंगद्वारा तत्त्वका निश्चय कर चुका कि सब

उपनिषदोंका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन है, ऐसा व्यक्ति केवल शास्त्रज्ञानी है। शास्त्रपारदृश्वा परोक्षज्ञानीके लिये गीताने ज्ञानी शब्दका प्रयोग किया। अपरोक्ष साक्षात्कारसम्पन्नके लिये तत्त्वदर्शी कहा।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

गीता 3.33-34

ये श्लोक ज्ञानीके सम्बन्धमें हैं। देह तथा इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको जितना साधना चाहिये तत्त्वज्ञानके पूर्व, उतनी वह साधे नहीं होता। अतः उसकी इन्द्रियाँ और मन पूर्व संस्काराभ्यासके अनुसार चेष्टा करते हैं। इसीसे कहा कि 'ज्ञानवान् अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है।' लेकिन जो तत्त्वदर्शी है, उसने तो तत्त्वदर्शनसे पूर्व ही अपनी प्रकृतिको अपने वशमें कर लिया है। अतः '**तयोर्न वशमागच्छेत्**' काम-क्रोध, राग-द्वेषके वश मत होना, यह विधिवाक्य ज्ञानीके लिये है, तत्त्वदर्शीके लिये नहीं है।

जो परम्परासाधन, बहिरंगसाधन तथा अन्तरंगसाधनसे सम्पन्न होकर ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव करते हैं, वे तत्त्वदर्शी हैं। जो पूरी तरह इन्द्रियों तथा मनकी प्रकृतिको अपने वशमें किये बिना ही अपनेको ज्ञानी मान बैठे, उन्हें ज्ञानी कहा गया। होना यह चाहिये कि ज्ञानीमें महात्मापन हो। वेश बदल लेनेसे, गेरुआ पहिन लेनेसे, शिखा-सूत्रका त्याग कर देनेसे कोई महात्मा या ज्ञानी नहीं हो जाता। परमेश्वरका यथार्थ अनुभव होना चाहिये। जगत् जीव तथा ईश्वरका जिसने ठीक-ठीक अनुभव किया है, वह महात्मा है।

'जीवन्मुक्ति विवेक' में तत्त्वज्ञानीके दो भेद बतलाये गये हैं—ज्ञान् होनेके पूर्व जिसने उपासना की है, वह कृतोपास्ति और ज्ञान होनेके पूर्व जिसने उपासना नहीं की, वह अकृतोपास्ति है।

जो शास्त्रज्ञानी है, उसके सम्मुख युक्ति तो नहीं चलेगी; किन्तु वह तत्त्वका अनुभव नहीं करा सकेगा। जो अनुभवी है; किन्तु शास्त्रका अध्ययन जिसने नहीं किया है, वह विपक्षकी युक्तियोंका समाधान नहीं कर सकेगा। इसलिये शास्त्रज्ञानी और अनुभव-सम्पन्न—दोनों होना चाहिये।

'तच्च तच्च तच्च तानि तेषां भावस्तत्त्वम्' जगत्, जीव और ईश्वर—इन तीनोंका भाव तत्त्व है। 'यत्र जगज्जीवेश्वरभेदो नास्ति' जगत् जीव और ईश्वर तीनोंका अस्तित्व रहते हुए, तीनोंका अपवाद कर देनेपर जो ज्यों-का-त्यों उपस्थित है, उसको तत्त्व कहते हैं। उसका दर्शन—दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार जिसने किया है, वह तत्त्वदर्शी है।

परोक्षमें इन्द्रियोंकी गति नहीं है। 'अक्षेभ्यः परः परोक्षः' जो दीवारके उस पार है, जिस विषयको ग्रहण करनेमें इन्द्रियाँ किसी प्रतिबन्धके कारण असमर्थ हैं, उसे परोक्ष कहते हैं। स्वर्गादि लोक परोक्ष हैं।

प्रत्यक्ष—'अक्षं अक्षं प्रति भिद्यते इति प्रत्यक्षः' प्रत्येक इन्द्रियके साथ जिसका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध होता है, वह प्रत्यक्ष है। रूप, रस, गन्धादि प्रत्यक्ष हैं।

अनुमान—'मानं अनु' जो मानके—प्रत्यक्षके पीछे चले उसे अनुमान कहते हैं। कोई अनुमान व्याप्तिग्रहके बिना नहीं होता और व्याप्तिग्रह प्रत्यक्षके बिना नहीं होता।

अपरोक्ष—जो स्वर्गादि समान परोक्ष भी नहीं है और शब्दादिके समान प्रत्यक्ष भी नहीं है, वह साक्षिभास्य अपरोक्ष है। 'अहं घटं जानामि' अथवा 'अहं दुःखी, अहं सुखी' इस प्रकारका जो जानना है, जो बिना किसी इन्द्रियगोलकका प्रयोग किये हम स्वयं अनुभव करते हैं, वह साक्षिभास्य है। यह भी साक्षिभास्य होनेसे व्यवहित अपरोक्ष है। साक्षात् अपरोक्ष तो साक्षिभास्य नहीं, स्वयं साक्षी है।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत् तथा स्वप्नमें नहीं है। स्वप्नावस्था जाग्रत् और सुषुप्तिमें नहीं है। जाग्रत् अवस्था स्वप्न तथा सुषुप्तिमें नहीं है। राग-द्वेषादि सुषुप्तिमें नहीं रहते। अतः ये सब भास्य कोटिमें हैं। जो इनके रहनेपर भी रहता है और इनके न रहनेपर भी रहता है, जो स्वयंप्रकाश, भासक, साक्षी है, वह साक्षात् अपरोक्ष है। उसको देखनेके लिये अवस्थाकी आवश्यकता नहीं है। धर्म, कर्म, योग, उपासनाकी जरूरत नहीं। बिना किये, बिना पाये, बिना त्यागे, जो है—वह अपना आपा है। उसे जाननेवाला तत्त्वदर्शी है। ऐसे बहुतसे तत्त्वदर्शी हुए हैं—ऋभु, निदाघ, वसिष्ठ, वामदेव, जनक आदि। उन्होंने 'अनयोः उभयोः अन्तः दृष्टः' इन दोनों पदार्थोंका अन्त देखा है।

पदार्थ किसे कहते हैं? कण्ठ-तालु आदिसे जो शब्द निकला, उसको पद कहते हैं। इस पदका एक अर्थ होता है मनमें। जैसे घड़ी शब्द कहा तो मनमें एक वस्तु विशेष आती। इस प्रकार बोले गये पदका जो अर्थ मनमें आता है, वह वस्तु पदार्थ है। बाहर जो यह घड़ी है, यह 'घड़ी' शब्दका अर्थ— पदार्थ है।

यहाँ सत् और असत् दोनों पदार्थोंका अन्त देखनेकी बात कही जा रही है। नासदीय सूक्तमें आया है—

नासदासीन्नासदासीत्तदानीम्।

सृष्टिके मूलमें न सत् था, न असत् था। गीतामें कहा गया है—

न सत्तन्नासदुच्यते। 3.12

उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्।

सदसच्चाहमर्जुन। 9.19

वही सत् भी है और असत् भी।

सदसत्तत्परं यत्।

सत्-असत् और उससे परे भी वही है।

'सत्का अन्त' ऐसा अर्थ न करना पड़े, इसलिये आचार्योंने 'अन्त'का अर्थ सिद्धान्त किया है, किन्तु गीतामें तो 'न सत्तन्नासदुच्यते' आया ही है। अत: सत् और असत्का जो अन्त है, उसे तत्त्वदर्शी महात्माओंने देखा है।

'**नासतो विद्यते भाव:**' असत्का भाव नहीं होता। जो है ही नहीं, उसकी उत्पत्ति कहाँसे होगी और उत्पत्ति नहीं है तो विनाश भी नहीं है।

'असत्' अर्थात् जो 'अस्ति' प्रत्ययका विषय नहीं है। वस्तुको देखकर कहते हैं कि वह है। घड़ी है, इस शब्दमें घड़ी विषय है और मैं घड़ीको जानता हूँ, यह आलम्बन हुआ। इनमें-से सत् कौन है? विषयी कहेगा कि घड़ी अर्थात् विषय सत् है। लेकिन जाननेवाला न हो तो घड़ीका ज्ञान होगा।

बौद्ध दर्शनके अनुसार घड़ीका ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है और जिसे ज्ञान हो रहा है, उसे आलयविज्ञान कहते हैं। इस मतके अनुसार जब शून्यका ज्ञान होता है, तब प्रवृत्तिविज्ञान—सन्तान-परम्परा तथा आलयविज्ञान-दोनोंका उच्छेद हो जाता है। यह सर्वोच्छेद ही मोक्ष है।

देहाकारमें परिणत पंचभूतके संघातभंग अर्थात् देहकी मृत्युसे ही मोक्ष

केवल चार्वाकि—भौतिकवादी ही मानते हैं। उनके मतसे अधिभूत ही सब कुछ है। अध्यात्म और अधिदैव कुछ है ही नहीं। लेकिन बौद्ध भीतरके आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी मृत्युको मोक्ष मानते हैं।

उपासक कहते हैं कि आधिदैविक व्यक्तित्वका भी उच्छेद होना चाहिये व्यष्टिकी इन्द्रियोंके जो अधिदेवता अग्नि, सूर्य, अश्विनीकुमारादि हैं और समष्टिमें जो इनके मूलभूत देवता हैं, उन सबका लय परमात्मामें होना चाहिये। जब सूर्य, चन्द्र इन्द्रादि सब देवता, परमदेवता ईश्वरमें लीन हो जायँगे तो अपने-आप आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् गौण हो जायगा।

अद्वैत वेदान्तका मोक्ष इनसे बहुत विलक्षण है। केवल आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक व्यक्तित्वका नाश इसमें मोक्ष नहीं माना गया है। व्यक्तित्वका नाश अविनाशी, परिपूर्ण, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वकी उपलब्धिसे होना चाहिये। ब्रह्म तथा आत्माकी भेद-भ्रान्तिका उच्छेद होना मोक्ष कहा गया है।

केवल ईश्वरका ज्ञान या केवल आत्माका ज्ञान ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान नहीं है। जीव और ईश्वर, दोनोंकी उपाधियोंका अपवाद करके अखण्डार्थका बोध प्राप्त होनेपर अविद्या निवृत्त हो जाती है और आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्वों तथा इनकी समष्टियोंका बाध होता है। यही अद्वैत वेदान्तमें मोक्ष है।

'असत: भावो न विद्यते'। इसमें देखो कि अस्ति प्रत्ययका विषय कौन है और आश्रय कौन है। लोकमें 'घड़ा' यह अस्ति प्रत्ययका विषय है और 'मैं घड़ेको जानता हूँ', यह अस्ति प्रत्ययका आश्रय है। दोनों सत्य हैं लौकिक दृष्टिमें।

असत्का भाव नहीं हुआ करता और सत्का विनाश नहीं होता, अत:

इतश्च शोकोऽनर्हः

इनके सम्बन्धमें शोक करना उचित नहीं है।

जो है नहीं, 'असत्' है, उसका जन्म नहीं हो सकता और जन्म ही नहीं तो मृत्यु कहाँसे होगी? जैसे कहा—'वन्ध्यापुत्र', इसमें असत् क्या है, लोकमें वन्ध्या स्त्री भी होती है और लोगोंको पुत्र भी होते हैं। अतएव 'वन्ध्याका पुत्र' इसमें जो 'का' है, सम्बन्ध है, वही असत् है। इसलिये 'वन्ध्याका पुत्र' इस

समस्त पदका अर्थ असत् है। जैसे कोई कहे—'यह गन्धर्व नगरके महाराज वन्ध्यापुत्रकी खपुष्पका मुकुट पहिने, शशशृंगका धनुष लिये आते हैं,' तो यह पूरा वाक्य असत् है; क्योंकि न तो गन्धर्व नगर होता है, न वन्ध्यापुत्र ही। न खपुष्प कोई वस्तु है और खरगोश (शश) के सींग होते हैं।

'**नाभावो विद्यते सतः**' सत्का अभाव नहीं होता। सत् कभी मरता नहीं और जो मरता नहीं, वह जन्मता नहीं। न सत् जन्मता-मरता और न असत् जन्मता-मरता। महात्माओंने इसका रहस्य समझा है। 'असत्' क्या?

स्वाधिकरणे अत्यन्ताभाववत्त्वं मिथ्यात्वम्। ब्रह्मसूत्र

जो जहाँ दीखे पर हो नहीं, जैसे रस्सीमें सर्प दीखे; किन्तु वहाँ हो नहीं। इसीका नाम अनिर्वचनीय भी है। '**नासतो विद्यते भावः**' प्रपंचरूप असद् वस्तुका कभी भाव-विद्यमानता नहीं है और '**नाभावो विद्यते सतः**' आत्मरूप सद्वस्तुका कभी अभाव-विनाश नहीं है। न अपना जन्म-मरण है, न सत्-असत्का जन्म-मरण है, तब शोक किसके लिये और क्यों किया जाय?

भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया है और उसे व्यासजीने महाभारतमें ग्रथित किया है। व्यासके पुत्र शुकदेवजी, शुकदेवजीके शिष्य गौड़पाद, गौड़पादके शिष्य गोविन्दपाद और गोविन्दपादके शिष्य श्रीशंकराचार्य। अतः गीताका तात्पर्य क्या शुकदेवजीने बताया और क्या गौड़पादाचार्यने बतलाया, यह जानना आवश्यक है। श्रीगौड़पाद कहते हैं—

नास्त्यसद्धेतुकमसद् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत् कुतः॥ माण्डूक्य.

सदसत्का चिन्तन करते हुए देखो कि क्या सत्से असत्की उत्पत्ति हुई? यदि उत्पन्न होनेवाला पदार्थ असत् है, तो उत्पन्न क्या हुआ? फिर तो सत् ज्यों-का-त्यों रहा। सत्से सत्की उत्पत्ति हुई, ऐसा मानो तो पहिले सत्से दूसरे सत्में कुछ अन्तर है या नहीं? अन्तर है तो दूसरा सत् सद्भिन्न अर्थात् असत् हुआ।

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः॥

पंचदशी 1.1.50

निराकारसे साकारकी उत्पत्ति हुई? या निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति हुई? या निराकारसे निराकारकी, निर्गुणकी उत्पत्ति हुई, या साकारसे साकारकी,

सगुणसे सगुणकी उत्पत्ति हुई? सत्‌से असत्‌की उत्पत्तिका कुछ अर्थ ही नहीं। असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि जो है ही नहीं, उससे उत्पन्न कुछ कैसे होगा? असत्‌से असत्‌की उत्पत्तिका भी कुछ अर्थ नहीं और सत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कहनेपर दोनों सत्‌में क्या अन्तर है, यह बतलाना पड़ेगा। यदि भेद होगा तो सत् दो होंगे। एक सत्‌से दूसरा जब भिन्न होगा, तब दोनों असत् हो जायेंगे। अत: किसीसे किसीकी उत्पत्ति नहीं हुई, सब ज्यों-का-त्यों है।

ना कछु हुआ न है कछू, ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपनारूप अपार॥

अपना स्वरूप साक्षात् अपरोक्ष, अनुभवस्वरूप है। उसमें न कुछ हुआ है, न है और न होनेवाला है।

वेदान्तमें सत्‌का प्रयोग दूसरी दृष्टिसे किया जाता है और संसारमें, लोकके व्यवहारमें सत्-असत्‌का प्रयोग दूसरी दृष्टिसे होता है। यह सच्ची बात है कि मोक्षदशामें सत् प्रत्ययके विषयका भी उच्छेद हो जाता है और उसके आश्रय परिच्छिन्न व्यक्तित्व अहंका भी उच्छेद हो जाता है। बौद्धोंके इस अनुभवमें दोष नहीं है कि आश्रय एवं विषय दोनोंका उच्छेद होनेसे मोक्ष होता है। लेकिन देखना यह है कि अहमर्थमें चेतनका सम्बन्ध है या नहीं है। यदि चेतनका सम्बन्ध है तो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका उच्छेद नहीं होता। केवल व्यक्तित्व-आभासमात्र चेतनका उच्छेद होता है। बौद्ध अन्त:करणमें जो आभासमात्र चेतन है, उसीका उच्छेद मानते हैं। ब्रह्मी चर्चा उनके यहाँ नहीं है।

'**नासतो विद्यते भाव:**' एक अर्थ यह भी कि बुरा काम करके उसका फल अच्छा नहीं मिल सकता। '**नाभावो विद्यते सत:**' अच्छे कर्मका कभी नाश नहीं होता। अत: अर्जुन, यदि तुम अपने धर्मका पालन करोगे तो उसका उत्तम फल अवश्य होगा और ये कौरव जो अन्याय, अधर्मपर तुले हैं, उसका दुष्परिणाम भी उन्हें अवश्य प्राप्त होगा। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:**' धर्मके तत्त्वको जाननेवालोंने इन पाप और पुण्यका फल दु:ख तथा सुख ठीक-ठीक जाना है।

'**नासतो विद्यते भाव:**' श्लोकका दूसरा उपासनापरक अर्थ करें तो यह होगा कि जो असत् संसारके नाशवान् भोगोंमें आसक्त हैं, उन्हें सत्स्वरूपा

भगवद्भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और '**नाभावो विद्यते सत**' जो सत्स्वरूप परमात्मामें लगे हैं उनके हृदयमें अभक्ति-नास्तिकता कभी आ नहीं सकती। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**' भक्तिसे मर्मज्ञोंने इन दोनोंका अन्त देख लिया है कि जो नाशवान् भोगोंमें लगेगा, वह विनाशको प्राप्त होगा और जो परमात्मामें लगेगा, उसे परमात्माकी प्राप्ति होगी।

मेरे एक परिचित पूछते हैं कि 'सत्' शब्दका अर्थ धर्म और भक्ति किस गीताके टीकाकारने किया है? उनके प्रश्नका कारण यह है कि परिभाषावादी वेदान्ती एकमात्र अबाधित्व ही सत्का लक्षण मानते हैं कि लेकिन सत् शब्दका तथा असत् शब्दका भी प्रयोग गीतामें और भी कई अर्थोंमें किया गया है और जब कोई ग्रन्थकार अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दके अर्थ स्वयं बता दे, तब यह अपेक्षा नहीं रह जाती कि दूसरा कोई भाष्यकार उस शब्दका वैसा अर्थ करता है या नहीं। गीतामें भगवान्ने सत् शब्दका अर्थ बताया है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

गीता 17:26-27

सद्भाव, साधुभाव-हृदयमें उत्तम भाव, श्रेष्ठ कर्म, यज्ञ, तप, दानमें स्थिति तथा यज्ञ-तप-दानके निमित्त किये जानेवाले कर्म, इन सबको 'सत्' कहा जाता है। इस प्रकार सात अर्थोंमें 'सत्' शब्द प्रयुक्त हुआ। यहाँ यज्ञके लिये सूखी समिधा ढोना, गोबरसे यज्ञमंडप लीपना भी 'सत्' है, यह भगवान्ने कहा।

इसी प्रकार 'असत्' की परिभाषा भी वहीं गीतामें कर दी गयी है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ गीता 17.28

अश्रद्धापूर्वक किया गया हवन, दान, तपस्या और भी जो कुछ किया जाय, 'असत्' कहा जाता है। उसका न परलोकमें कोई फल है, न इस लोकमें। जिस कर्मसे किसी फलकी उत्पत्ति न हो, वह असत् है। श्रद्धाहीनके द्वारा किये गये कर्म निष्फल होनेसे असत् हैं।

इससे भिन्न अर्थमें भगवान्ने ही गीतामें सत्-असत् शब्दका प्रयोग किया है— **न सत्तन्नासदुच्यते**। 13.12

परमात्मा सत् और असत् दोनों शब्दोंका वाच्यार्थ नहीं है। 'न उच्यते' अर्थात् अनिर्वचनीयं वर्तते। वाच्यार्थमें लक्ष्यार्थ रूपसे जो एक विद्यमान है, सत्-असत् दोनोंका जो लक्ष्यार्थ है, उसीको यहाँ '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'में 'सत्' कहा गया है।

वस्तुतः भाव और अभाव दोनों प्रकाश्य हैं, दोनों जड़ हैं, दोनों अनात्मा हैं। सत्का अर्थ है स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न तत्त्व। परमात्मा भाव-अभाव दोनोंका प्रकाशक है। सद्वस्तु स्वयंप्रकाश, अविनाशी है और असद् वस्तु आगमापायी, जड़, सत्ताशून्य, प्रतीतिमात्र, अनित्य है। तत्त्वदर्शियोंने इन दोनोंका यथार्थ निश्चय कर लिया है।

श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने भी इस तत्त्वका विचार किया है। सृष्टि सत् है या असत् इस सम्बन्धमें वेदस्तुतिमें कहा गया है—

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥

श्रीमद्भागवत 10.87.36

सत्से उत्पन्न सत् कहो तो यह तर्कसे असंगत है, क्योंकि दोनों 'सत्'में भेद बताना होगा और भेद होनेपर दोनों ही 'सत्' नहीं रहेंगे। पहिले सत्से दूसरा सत् न्यून सत्तावान् होगा। पहिला सत् त्रिकालाबाधित, परिपूर्ण होगा और दूसरा सत् उत्पन्न हुआ, अपूर्ण, पहिले सत्से विलक्षण, अतः असत् होगा। त्रिकालाबाधित सत्से उत्पन्न होनेसे ही वह सत् नहीं हो सकता। इसी बातको उसी वेदस्तुतिके दूसरे श्लोकमें और स्पष्ट किया है—

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥

श्रीमद्भागवत 10.87.85

जो कहते हैं कि असत्‌का जन्म होता है-अर्थात् मोक्ष अभी तो असत् है, किन्तु जब योग करेंगे, तब उत्पन्न हो जायगा और '**सतो मृतिं**' बन्धन अभी तो सत् है; किन्तु साधन करनेसे वह नष्ट हो जायगा। '**उत आत्मनि ये च भिदां**' शरीरोंमें अलग-अलग आत्मा है। '**विपणमृतं**' यह संसार लेन-देनका है, सच्चा है, आवागमनका है, जैसा कर्म करो वैसा फल पाओ। '**स्मरन्ति उपदिशन्ति त आरुपितैः**' ऐसे लोग केवल अध्यारोपापवादसे ऐसा कहते और सोचते हैं।

'**नासतो विद्यते भावः**' असत्‌का न जन्म है और न मृत्यु है। जैसे अवतारोंकी जयन्ती-वर्षगाँठ मनायी जाती है और महात्माओंका निर्वाणोत्सव मनाया जाता है, वैसे बन्ध्यापुत्रकी जयन्ती कब होगी? उसका निर्वाणदिवस कब होगा?

'**नाभावो विद्यते सतः**' सत्‌का अभाव=नाश नहीं होता। नाश नहीं अतः जन्म भी नहीं। ब्रह्मकी भी जयन्ती और निर्वाणोत्सव नहीं मनाये जा सकते।

'अनारोपितकारं तत्त्वम्' आकारका आरोप किये बिना जो वस्तु है, उसे तत्त्व कहते हैं। जैसे हार कुंडल, कंकण, अँगूठी आदि आकारको छोड़ दें तो इनमें जो सोना है, वह तत्त्व है; इसी प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-महेश, घट-पट-मठ, पशु-पक्षी-मनुष्य, पेड़-पानी-पत्थर आदि आकारोंका आरोप किये बिना जो सन्मात्र, चिन्मात्र वस्तु है, उसे कहते हैं तत्त्व। उस तत्त्वको जाननेवाले तत्त्वदर्शी हैं। उन्होंने देखा है कि तत्त्व न अस्ति प्रत्ययका विषय है, न आश्रय है और न अस्ति प्रत्यय है। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणके विभागसे रहित, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न एकमात्र सन्मात्र वस्तु है। सन्मात्र वस्तु अपनेसे अभिन्न है।

'उभयोः सदसतोः' इन दोनों सत् और असत् 'अनयोः भावाभावयोः' तथा भाव और अभावका भी अन्त तत्त्वदर्शियोंने देखा है। वह—

एक कि दोय? न एक, न दोय।
यहाँ कि वहाँ? न यहाँ, न वहाँ॥

●

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ 17॥

'उसे अविनाशी जानो जिससे यह सम्पूर्ण व्याप्त है। इस अव्ययका विनाश कोई करनेमें समर्थ नहीं।'

'तु' असतो व्यावृतम् 'तु'का प्रयोग असत्से विलक्षण बतानेके लिये श्लोकमें हुआ है। *यद्यद् कदाचिद् नास्ति प्रत्यय विषयो भवति तत् न,* ज़ो-जो कभी भी 'नास्ति' प्रत्ययका विषय होता है, वह नहीं। जाग्रत्में स्वप्नके विषय नहीं हैं, स्वप्नमें जाग्रत्के विषय नहीं हैं, सुषुप्तिमें न स्वप्न है, न जाग्रत्। बहुतसे जाग्रत्के विषय जाग्रत्में ही 'नहीं'का विषय बन जाते हैं। जैसे पैसा कभी था, अब नहीं है, बुढ़ापेमें बचपन या जवानी नहीं है। समाधिमें यह संसार और सुषुप्ति नहीं रहती और जाग्रत्में समाधि नहीं है। लेकिन 'मैं नहीं हूँ', यह अनुभव किसीको कभी होगा?

एक सेठपर बहुत कर्ज हो गया। उसने एक वकीलसे सलाह माँगी। वकीलने अपनी फीस तय कर ली और सलाह दी कि कोई कुछ पूछे, तुम 'टें'को छोड़कर कुछ मत बोलना। कर्जदारोंने दावा किया। सेठ न्यायालयमें गया; उससे उसका नाम, पिताका नाम या और जो कुछ पूछा गया, सबके उत्तरमें वह कहता—'टें'। डाक्टरोंने जाँच की; किन्तु वह तो 'टें'को छोड़कर कुछ बोलता ही नहीं था। पागल समझकर उसे न्यायालयने छोड़ दिया। अब वकीलने अपनी फीस माँगी तो बोला—'टें'। वकीलने कहा—'हमारा बताया उपाय हमारे ही विरुद्ध?' लेकिन वह तो 'टें' सीख गया था? वकीलको भी निराश होना पड़ा। इसी प्रकार ईश्वरने कृपा करके मनुष्य देह दिया और गुरुने कृपा करके सदसद्-विवेक कराया। उस ईश्वर और गुरुको भी, एक अवस्था आती है, जब 'टें' कर दिया जाता है, उनका भी बाध हो जाता है, लेकिन अपने-आपको तुम 'टें' कर सकोगे? 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव किसीको सम्भव है?

तस्मान्नह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।

आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं है।

'**अविनाशि तु तद्विद्धि**' '*तत् तु अविनाशि विद्धि:*'। 'नाभावो विद्यते सत:' '*यस्य सत: अभावो न विद्यते तत् सत् तु अविनाशि विद्धि*'। जिस सत्‌का कभी अभाव अनुभवमें नहीं आता है, उस सत्‌को अविनाशी समझो। अर्थात् अविनाशित्व ही सत्‌का लक्षण है।

अब देखो कि वाणीका सत्य किसको कहते हैं। जैसा देखा, जैसा सुना, जैसा अनुभव किया, ठीक वैसे कह दिया, यह वाणीका सत्य है? यह सत्य तो है; किन्तु विवेकरहित सत्य है। जिससे बोलनेवाले और सुननेवालेकी भलाई होती हो, ऐसी बात कहना सत्य है। जिससे बोलनेवाले और सुननेवालेका अहित होता हो, वह वचन सत्य नहीं है।

न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्त्ववचनं मृषा।
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम्॥

सच कह देना ही सच नहीं है और सच न कहना ही झूठ नहीं है। जिससे प्राणियोंका आत्यन्तिक हित हो, ऐसी बात बोलना सत्य है।

बौद्धोंने सत्‌की परिभाषा की है-जिससे संसार-व्यवहारकी सिद्धि हो। जैसे सच्चा रुपया वह जो बाजारमें चले, जिसके बदले हम अभीष्ट वस्तु खरीद सकें और जो रुपया न चले, वह असत्। लेकिन कभी-कभी सच्चा रुपया भी खोटा बता दिया जाता है और खोटा रुपया भी चल जाता है। अत: कहा गया कि जिस कारणमें व्यवहारका अवस्थान है, वह कारण सत् है। रुपया चाँदीका है। चाँदीमें रुपयेका नाम, रूप तथा वजन तो पीछे बना, रुपया गला दें तो नाम-रूप-वजन नहीं रहेगा। अत: नाम-रूप-वजन बननेसे पहिले जो वस्तु थी और नाम-रूप-वजन मिट जानेपर जो वस्तु रहेगी, वह सत् है। अबाधितांशका नाम सत् है।

'अविनाशी' अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न। सत्य देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न होता है। आत्मा सदा अपरोक्ष है, अत: सदा प्रिय है और सदा ज्ञानस्वरूप है। संसारकी वस्तुएँ तो कभी प्रत्यक्ष होती हैं, कभी परोक्ष होती हैं और कभी अपरोक्ष होती हैं, किन्तु आत्मा सदा अपरोक्ष रहता है, नित्य सत्स्वरूप है। नित्य सत्स्वरूप होनेसे नित्य चित्स्वरूप और नित्य आनन्दस्वरूप है। इसीसे कहा—'**नाभावो विद्यते सत:।**'

'अविनाशि' घड़ा कालपरिच्छिन्न है, अत: विनाशी है। घड़ेका प्रागभाव

भी है और प्रध्वंसाभाव भी। अर्थात् घड़ा बननेसे पहिले नहीं था और फूटनेके बाद नहीं रहेगा। जो कालपरिच्छिन्न है, वह देशपरिच्छिन्न भी होता है। नैयायिक मानते हैं कि परमाणु कालपरिच्छिन्न नहीं है, किन्तु देशपरिच्छिन्न है। लेकिन वेदान्त मानता है कि जिसमें कालपरिच्छिन्नता, देशपरिच्छिन्नता और वस्तुपरिच्छिन्नता न हो, वह सत् है।

वस्तुपरिच्छेद तीन प्रकारका होता है। सजातीय-जैसे मनुष्य-मनुष्यमें भेद है। विजातीय-जैसे मनुष्य-पशुमें भेद है। स्वगत-जैसे अपने हाथ-पैरमें भेद है। इसके अतिरिक्त पंचविध भेद भी वस्तुपरिच्छेदमें ही माना जाता है-1. जीव-जगत्का भेद 2. जीव-जीवका भेद 3. जगत्-जगत्का भेद 4. ईश्वर-जगत्का भेद और 5. ईश्वर-जीवका भेद। ये भेद भी जहाँ हों, वह विनाशी है।

नैयायिक कहते हैं कि परमाणुमें देशपरिच्छेद है; किन्तु वह विनाशी नहीं है। आकाशमें वस्तुपरिच्छेद है, किन्तु वह विनाशी नहीं है। लेकिन वेदान्त मतमें जीव तथा आकाशको भी विनाशी ही मानते हैं।

'**अविनाशि तु तद्विद्धि**' उस त्रिकालाबाधित, परिपूर्ण, वस्तुपरिच्छेद, काल परिच्छेदसे रहित तत्त्वको जानो। अब प्रश्न उठा कि हमारा उससे सम्बन्ध क्या? हम उसका अनुभव कैसे करेंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं-'**येन सर्वमिदं ततम्**' वह सद्वस्तु सर्व देशमें, सर्व कालमें, देश-काल-वस्तुके रहते हुए ही विद्यमान है। उसका अनुभव वैकुण्ठमें ही होगा या महाप्रलय हो जानेपर ही होगा, ऐसी बात नहीं है।

'**इदं सर्वं ततम्**' मनुष्य-पशु, कीड़े-पतंगे, वृक्ष-तृण, मिट्टी-पानी आदि सबमें वह इस प्रकार व्याप्त है, जैसे वस्त्रमें सूत ताने-बानेके रूपमें व्याप्त है। जैसे हार, कुंडल, कंकणमें स्वर्ण व्याप्त है। 'इदं दृश्यमानं ततम् व्याप्तं' वह अद्वितीय सत्ता ही सबमें व्याप्त है। कारण रूपसे कार्यमें व्याप्त है, यह नहीं कहते। वही स्वयं सर्वत्र है। जगत्के रूपमें भी वही प्रतीयमान है।

'**येन सर्वामिदं ततम्**' यह गीताका बड़ा प्रिय वाक्य है। बार-बार इसकी आवृत्ति गीतामें हुई। उत्तम पुरुषमें आया है-'**मया ततमिदं सर्वम्**' मध्यम पुरुषमें अर्जुन स्तुति करता है—

त्वया ततं विश्वमन्तरूप गीता 11.38

प्रथम पुरुषके रूपमें यहाँ आया—'**येन सर्वमिदं ततम्।**'

इसका तात्पर्य है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तत्त्वकी सभी दृष्टियोंसे यह विश्व केवल परमात्मा है। 'मैं' 'तुम' 'यह' सब रूपोंमें वही सद्वस्तु है।

आत्मैवेदं सर्वम्।
स एवेदं सर्वम्।
अहमेवेदं सर्वम्।
ब्रह्मैवेदं सर्वम्।

श्रुतिके ये चार मन्त्र हैं जो स्पष्ट बतलाते हैं कि मैं, तुम, वह, ब्रह्म सब एक ही तत्त्व है। एक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा ही परिपूर्ण है।

भगवान् अपने भक्त तथा प्रिय सखा अर्जुनको सत्यकी पहचान बता रहे हैं। 'किं तत्सत् यत् सर्वदा एवास्ति?' वह सत्य कौन-सा है, जो सदा रहता है? इस सम्बन्धमें श्रीकृष्ण एक आज्ञा दे रहे हैं-'तत् सत् त्वं विद्धि' उस सत्यको तुम जानो। उस सत्यके होनेसे किसीको कोई लाभ नहीं है। 'वासुदेवः सर्वम्' वह तो मनुष्य-पशु, कीड़े-पतंगे आदि सर्वरूपमें विद्यमान ही है। प्रश्न यह है कि तुमने उसे जाना या नहीं? ब्रह्मके होनेसे कोई लाभ नहीं। उसको जाननेसे मोक्ष होता है।

तुमने सत्को जान लिया तो मृत्युका नाश हो गया। उस सत्को चित् रूपसे जान लिया तो अज्ञान मिट गया। उस सत्-चित्को आनन्द रूपसे जान लिया तो दुःख दूर हो गया। जीवन पूर्ण ही उसको जाननेसे है।

मृत्यु, अज्ञान और दुःख तीन वस्तुएँ नहीं हैं। जिसे मृत्युका भय है, वही दुःखी है और वही अज्ञानी है। जिसे अज्ञान है, उसीको दुःख और मृत्युका भय है। जिसे दुःख है, उसे ही मृत्यु, भय तथा अज्ञान है। मृत्यु सत्का, अज्ञान चित्का और दुःख आनन्दका विरोधी है। जैसे सच्चिदाननद एक है, वैसे ही दुःख, मृत्यु और अज्ञान भी एक साथ रहते तथा साथ ही नष्ट होते हैं।

'**तद्विद्धि**' तुम्हें जो अपने स्वरूपका अज्ञान है, उसे मिटानेके लिये ज्ञान प्राप्त करो। जब ज्ञानसे अज्ञान मिट जायगा, तब मृत्यु और दुःख भी मिट जायँगे।

इस दृष्टिकोणसे उपनिषदोंको देखो तो पता लगेगा कि क्यों अज्ञानके नाशसे मृत्यु तथा दुःखका नाश कहा गया।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति

'उसे जानकर मृत्युके पार हो जाता है।' यदि अज्ञान और मृत्यु दो वस्तु हों तो ज्ञानसे मृत्यु कैसे होगी, कैसे टलेगी? एककी मृत्युसे दूसरेकी मृत्यु कैसे होगी? कोई कहता है—'पिताजी मर गये।'

दूसरेने पूछा—'चाचाजी कैसे हैं?'

उसने कहा—'जी, मैंने बताया न कि वे मर गये।'

बताया तो उसने था कि 'पिताजी मर गये', लेकिन उसका तात्पर्य है कि 'जिसे मैं पिताजी कहता हूँ, उसीको तुम चाचाजी कहते हो।' यहाँ पिताजी तथा चाचाजी दोनों एक व्यक्तिके लिये है। इसी प्रकार जब अज्ञानके नाशसे मृत्युका नाश कहा गया तो मृत्यु और दुःख ये पर्यायवाची हुए।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति।
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

अज्ञानकी निवृत्तिसे समस्त दुःख, क्लेश, बन्धन मिट जाते हैं।

इह चेदवेदीदथसत्यमस्ति।
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥ केनोपनिषद् 2.5

इसी जीवनमें ही उस परमार्थ तत्त्वको जान लिया तो अज्ञान, दुःख, मृत्युकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो गयी। तब तो तुम्हीं सत्य हो और यदि नहीं जाना तो महान् विनाश हुआ।

वह सत्य क्या है? अविनाशी अबाधित। जिसके मिथ्यात्वका निश्चय कभी कोई कर ही नहीं सकता। विनाश और अज्ञान पर्यायवाची हैं, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जैनमतमें सोना द्रव्य है और हार, कुण्डल आदि पर्याय हैं। इस अर्थमें पर्यायका प्रयोग हम नहीं करते हैं।

'णस् अदर्शने' व्याकरणके अनुसार नाशका अर्थ है अदर्शन। जिस वस्तुको देखनेमें हम असमर्थ हैं, उसका हमारे लिये नाश हो गया। जैसे वैज्ञानिकोंने अब जो कुछ नवीन धातुएँ ढूँढ़ निकाली हैं, वे अबतक ज्ञात नहीं थीं, इसलिये अबतक उनका नाश था। इस नाशका अर्थ हुआ न जानना-अज्ञान, इसीसे अपनेको ब्रह्म जानना सद्भाव है और अपनेको ब्रह्म न जानना असद्भाव है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः।
असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्॥ पञ्चदशी 6.16

ब्रह्म ही है, यदि ऐसा जाना तो ब्रह्म हो गया और ब्रह्म नहीं है, ऐसा कहता है तो स्वयं असत् हो गया।

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो नहीं है, वह प्रत्यक्ष हो रहा है और जो है, वह दीख नहीं रहा, अनुभवमें ही आ रहा है।

काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः।

उल्लूको दिन ही रात दीखती है। इसी प्रकार अज्ञानीको ब्रह्म ही संसार दीख रहा है।

'अविनाशी'का अर्थ हुआ सत् स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप, क्योंकि विनाश, अज्ञान और दुःख पर्यायवाची हैं। अतः अविनाशी वह, जिसमें मृत्यु नहीं, अज्ञान नहीं और दुःख नहीं। अब वह अद्वितीय है, यह बतलानेके लिये कहते हैं—'**येन सर्वमिदं ततम्।**'

'येन सत्येन अविनाशिना इदं सर्वं ततं व्याप्तं परिपूर्णम्' जिस अविनाशी सत्यसे यह सम्पूर्ण प्रपंच परिपूर्ण है।

श्रुतिने कहा है कि उस परमात्मासे ही यह विश्व 'जायन्ते' उत्पन्न होता हैं, 'जीवन्ति' उसीमें जीता है, 'प्रयन्ति' उसीकी ओर जा रहा है या तृप्त हो रहा है और 'अभिसंविशन्ति' उसीमें प्रवेश कर जाता है। इन चारमें पहिले 'सन्ति' अर्थात् 'हैं' और अन्तमें 'म्रियन्ते' मरते हैं, ये दो अध्याहार कर लेनेसे षड्भावविकार हो जाते हैं। जिसमें ही ये छः विकारवाला सम्पूर्ण प्रपञ्च है, वह अविनाशी सत् है।

यहाँ यह नहीं कहते कि वह कारण है और जगत् कार्य है। वह व्यापक है और जगत् व्याप्य है। वह बड़ा है और जगत् छोटा है। इस प्रकार दो तत्त्व बताना यहाँ इष्ट नहीं है। अन्यत्र कारणका निषेध करनेके लिये पहिले ब्रह्ममें कारणताका अध्यारोप किया जाता है और स्वरूपज्ञान होनेपर वह अध्यारोपित कारणता निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार अद्वितीयताके प्रतिपादनके लिये ही कहा गया है-'**येन सर्वमिदं ततम्।**'

अब यदि कोई उस सत्यका नाश ही करनेपर तुल जाय तो क्या होगा? इसका उत्तर दिया-'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।**'

कोई इसका विनाश नहीं कर सकता। इस अव्ययका कभी अदर्शन-परोक्ष नहीं होता। यह तो नित्य साक्षादपरोक्ष है।

'साक्षादपरोक्षं विद्यमानस्यास्य अव्ययस्य विनाशं कश्चित् न कर्तुं अर्हति' इस साक्षादपरोक्ष विद्यमान अव्ययका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है।

बिना इन्द्रिय साहाय्यके, बिना मनकी भावनाके, बिना बुद्धिके विचार, निर्णयकी अपेक्षा किये, यह तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सबका प्रकाशक है। इसका विनाश-लोप-अदर्शन करनेमें कोई समर्थ नहीं है। ब्रह्मा भी चाहे तो इसका विनाश नहीं कर सकता।

सत्का विनाश कौन करेगा, सत् या असत्? यदि कहो कि असत् सत्का विनाश करेगा तो जो असत् है, है ही नहीं, वह किसीका विनाश कैसे करेगा? कहो कि सत् सत्का विनाश करेगा तो जो विनाश करनेवाला सत् है, वह तो बचा ही रहेगा। फिर सत्का विनाश कहाँ हुआ? बौद्धोंके समान यदि यह चित् क्षणिक है तो स्वयं वह 'सत्'में स्फुरित होता है। यदि कहो कि दु:ख सत्का विनाश करेगा तो दु:खका अधिष्ठान तथा प्रकाशक कौन है? दु:खका तो कोई अधिष्ठान तथा प्रकाशक होगा, तभी दु:खका अनुभव होगा। अत: **'स्वतो न नाश: परतो न नाश:'** न सत्का अपने-आप नाश होता, न दूसरेके द्वारा।

कभी-कभी सम्बन्धीके नाशसे भी नाश माना जाता है। एक सेठजी मर गये तो उनका मुनीम रोता हुआ मेरे पास आया कि—'मैं तो मर गया। सेठजीके कारण ही मेरी जीविका थी।' कभी कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है और कभी कार्यके नाशसे कारणमें-से कारणत्वका नाश माना जाता है, किन्तु इस प्रकारसे भी सत्का नाश सम्भव नहीं है।

न तस्य कार्यं करणं च श्रूयते।

उसका न कोई कार्य है, न करण है। उसमें उपादान, निमित्त कारण भी नहीं हैं।

न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिप:।

उसका कोई सम्बन्धी भी नहीं, क्योंकि वह अद्वितीय है। अत: उसका नाश करनेवाली भी कोई वस्तु नहीं है। वह अव्यय है अर्थात् उसमें-से कुछ खर्च नहीं होता, कुछ घटता नहीं। नित्य वह एकरस रहता है।

कई वस्तुएँ आरम्भसे बनती हैं। जैसे मोटरके पुर्जे एक स्थानपर लाकर मोटर बनाते हैं। इसी प्रकार नैयायिक सृष्टिको परमाणुओंसे बनी मानते हैं। उनका मत आरम्भवाद कहलाता है। दूसरे परिणामवादी हैं। वे कहते हैं कि

ब्रह्मका परिणाम होकर सृष्टि बनी है। जैसे धातुको गलाकर, साँचोंमें ढालकर मोटरके पुर्जे बनाये जाते हैं। धातुमें ही विकार होकर परिणाम होता है। विवर्तवाद इनसे भिन्न है। जैसे आकाशमें कोई परिवर्तन हुए बिना ही वह नीला दीखता है। जैसे रस्सीमें हुए बिना साँप दीखता है। विवर्तका अर्थ है विपरीत वर्तन। वस्तुका जैसा स्वभाव है, उससे विपरीत जान पड़ना विवर्त है। सत्स्वरूप परमात्मामें सृष्टि भासती है। अव्यय परमात्मामें विनाशी जगत् दीखता है। ऐसा क्यों होता है? परमात्मा अव्यय क्यों नहीं दीखता?

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

गीता 7.25

जीवलोक मूढ़ अर्थात् मोहाविष्ट हो गया है और परमात्मा मायाविशिष्ट हो गया है। मोहग्रस्त जीवोंको माया दीखती है, परमात्मा नहीं दीखता। जीव यदि ईश्वरको नहीं देखते तो वे तो मोहावेशमें हैं, किन्तु ईश्वर दयालु है, सर्वशक्तिमान् है, वह स्वयं क्यों मायाका पर्दा दूर करके दर्शन नहीं देता? इसका समाधान है-'योगमाया-*योगाय या माया तथा समावृतः*।' परमात्मा चाहता है कि कि जीवोंके मनमें उससे मिलनेकी व्याकुलता जागे, वे मुमुक्षु बनें, जिज्ञासु बनें, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके उसे प्राप्त करें। जैसे माँ खम्भेकी आड़में छिपकर अपने बच्चेको देखती है कि वह क्या करता है। यदि बच्चा खिलौनोंसे खेलने लगता है तो वह दूसरे काममें लग जाती है। यदि बच्चा यह समझकर कि माँ नहीं है, चोरी करनेमें या अपनेको गन्दा बनानेमें लगता है तो माँ उसे ताड़न करके ठीक मार्गपर लाने योग्य मानती है और यदि बच्चा रोने लगता है, माँके लिये व्याकुल होता है तो वह उसे गोदमें उठा लेती है।

जीव मोहग्रस्त हो गया है। वह पहचानता नहीं '**मामजमव्ययम्**'। अव्ययको न जानना, उसे संसार मानना, व्ययशील मानना अज्ञान है। परमात्माका सच्चा स्वरूप अव्यय है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। गीता 14.27

वह अव्यय है-अमृत है, उसे कोई मिटा नहीं सकता।

●

: 18 :

'आप हमें यह काम करनेकी आज्ञा दीजिये', और किसीसे कहें कि—'हम अपना यह काम करने जा रहे हैं, आप अपनी रजामंदी जाहिर कर दीजिये'—तो दोनोंमें फर्क हुआ न! आज्ञा दूसरी चीज होती है और अनुज्ञा दूसरी चीज होती है। एक आदमी कहता है, हम तो यह करेंगे ही करेंगे, तो आप अपनी दृढ़ता बता देंगे। जैसे हमको यह काम करनेमें थोड़ी दृढ़ता आ जाय। हम तो कह ले जायँ, हम समर्थन ले जायँ। हम समर्थन नहीं करेंगे। 'तुम चाहे समर्थन करो चाहे मत करो, हम तो यह करेंगे ही।'

इन बातोंमें आज्ञा दूसरी होती है और अनुज्ञा दूसरी होती है। अब यह विचार करो कि यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनको युद्ध करनेकी आज्ञा दे रहे हैं। चित्तमें-वृत्तिमें आया हुआ जो प्रतिबन्ध है उसको मिटानेके बाद जो युद्धकी प्रवृत्ति है, उसका अनुमोदन कर रहे हैं? अर्जुन भरतवंशी क्षत्रिय है। आपसमें पार्टीबन्दी है, पाण्डवोंमें और धार्तराष्ट्रोंमें विवाद है। गुरुजन दो पक्षमें उपस्थित हैं, दोनोंकी बात अभी सुनी जा चुकी है। युद्धका सारा निश्चय हो चुका है, सेनापति चुने जा चुके हैं, शंख बजाये जा चुके हैं और—

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ (1.20)

शस्त्र चलनेवाले हैं। अर्जुनने उठाया धनुष।

धनुष उठाया और फिर क्या किया? फिर धनुष-बाण फेंक दिया—

विसृज्य सशरं चापं (1.47)

अब क्या हुआ? पहले धनुष-बाण उठाया और फिर फेंक दिया। तो कोई-न-कोई-ऐसी बात दोनोंके बीचमें आ गयी जिसके कारण धनुष-बाण फेंक दिया तो भगवान् यह नहीं कहते हैं कि धनुष-बाण फेंकना या धनुष-बाण उठाना। भगवान् नहीं कहते हैं धनुष-बाण फेंकनेके लिए। शोक-मोह बीचमें आ गया न! वह है बड़ा विघ्न! भगवान्‌ने यह समझाया कि जिस शोक-मोहसे युक्त, वशीभूत होकर तुमने धनुष-बाण फेंक दिया, वह शोक-मोह-लोभ गलत है। वाच्यार्थकी दृष्टिसे भी शोक नहीं और जो है, वह आत्माके अज्ञानसे है। आत्माका स्वरूप जो है, कैसा?

तब क्या हुआ? व्याकरणवालोंने इसको बना रखा है—

अपवादापवादे उत्सर्गस्यैव स्थितिः।

अपवादका अपवाद कर देने पर जो पूर्वनियम है, वह लागू हो जाता है। एक आदमीको कहा—'भाई, आज तो चावल-दाल पकने दो।' 'रोज-रोज हमारे लिए भात जरूर बनाना खानेको।' कह दिया। अब करनेवाला—भात बनानेवाला उठा। उसने चावल भी ले लिया, दाल भी ले लिया, बटलोई भी चढ़ा दी, आग भी जला दी। पानी गरम हो गया। उसके बाद उसके मनमें खयाल आया कि आज तो एकादशी है। आज चावल नहीं खाना चाहिए।

अब उसने चावल एक तरफ रख दिया, दाल एक तरफ रख दिया, पानीकी बटलोईको उतार दिया और आग बुझा दिया और एक ओर बैठ गया कि आज चावल नहीं बनायेंगे।

अब एक सज्जन आये और बोले—'अरे भाई! यह चावल धो लेनेके बाद, बटलोई चढ़ा देनेके बाद तुमने फिर उतार क्यों दिया?' बोला कि आज एकादशी है न! तो आज तो चावल पकाना व्रतके विरुद्ध है, उसने कहा—'भले मानुष आज एकादशी नहीं है। आज तो अभी नवमी है।' तो बोले,'तब! तब चढ़ा दो बटलोई और बनाओ चावल।' यह क्या हुआ? यह जो बीचमें प्रतिबन्ध आ गया था, बीचमें जो भूल आ गयी थी, उस भूलको मिटाया गया।

क्षत्रियके लिए तो युद्ध करना धर्म है न! हो जाओ तैयार, युद्ध करनेके लिए तैयार! और बीचमें यह एकादशी आ गयी, भूल थी। आज एकादशी नहीं है, चढ़ा दो बटलोई। तो भगवान्‌ने भूल मिटा दी। आज एकादशी नहीं, नवमी है, चढ़ा दो बटलोई! चढ़ा दो चावल। इसीको बोलते हैं—

अपवादापपवादे उत्तरपूर्ववत् स्थितिः।

शास्त्रका नियम है। एकादशीका भ्रम होनेसे चावल उतार दिया था। एकादशीका भ्रम मिट जानेसे फिर चावल चढ़ा दिया गया।

तस्माद्युध्यस्व भारत। (2.18)

यह युद्ध जो है, यह अनुज्ञा है, विधि नहीं है।

एक बार हम लोग वृन्दावनसे चले मुम्बईके लिए। मोटर पर बैठ गये, दो मील निकल आये। यह हुआ कि घड़ी तो बाथरूममें छूट गयी। अब क्या होगा? कोई उठा लेगा वहाँसे। खो जायगी; तो क्या करें? मोटर भेज दी गयी या मोटर लौटा दी गयी, समझो फिर हुआ कि भाई, देख तो लो, साथमें है तो नहीं? अब देखा, तो घड़ी तो साथमें है! यह तो बाथरूममें नहीं छोड़ी है। अब मोटरके ड्राइवरको क्या बतानेकी जरूरत है? जब मालूम हो गया कि घड़ी छूट जानेके भ्रमसे हम लौट रहे थे, वह घड़ी तो खोयी नहीं। अपने पास ही है। तो अब? अब मोटर रोकनेकी जरूरत नहीं है। जैसे स्टेशनके लिए चल पड़े थे, वैसे चल पड़े। तो यह क्या हुआ? घड़ीका खोनारूप जो भ्रम हो गया था, घड़ी खो गयी ऐसा भ्रम जो बीचमें आगया था, इसलिए मोटरकी गति उलटी हो गयी थी। अब? अब भ्रम मिट गया, तब? तब मोटर सीधी चलने दो। बोले कि नहीं, हम तो भ्रम मिट जाने पर भी मोटरको उलटी ही चलावेंगे। तब? तब मुम्बई जानेका खयाल छोड़ दो। यह बात हुई न? इसीको बोलते हैं—

तस्माद्युध्यस्व भारत।

आत्मज्ञानको हेतु बनाकरके युद्धके लिए आज्ञा देना कि आत्मा अविनाशी है, आत्मा अप्रमेय है, आत्मा नित्य है, आत्मा शरीरी है, इस बातको हेतु बनाकरके युद्धके लिए आज्ञा देना तो बनता ही नहीं है। तो 'अप्रमेयस्य· अनाशिनो' यहाँ तक जो बात कही गयी है, वह तो एक देहको बतानेके लिए।

अनाशिनो अप्रमेयस्य। 2.18

यहाँ जो बात कही गयी वह तो देहको अनित्य बतानेके लिए कही है। तो अब तो कोई शोक नहीं रहा न! अब तो कोई भूल नहीं रही। भूल नहीं रही तो—

तस्माद्युद्ध्यस्व भारत।

खड़े रहो अपनी जगह पर।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ 1.14

वहाँ दिव्य शङ्ख बजाया था—**धनुरुद्यम्य पाण्डवः**। जैसे तुम खड़े हुए थे वहाँ पहुँच जाओ। अब बीचवाली जो तुम्हारी अवस्था थी, वह मोहमूलक थी। वह बीचवाली तुम्हारी अवस्था उचित नहीं लगती। इसलिए उस अवस्थाको छोड़कर पहली अवस्थामें आजाओ। इसलिए 'युद्ध्यस्व' यहाँ विधानरूप नहीं है। वह जो पहली अवस्था है, पूर्वारम्भ, जो पहले किया हुआ आरम्भ है, उस शुरुआतको पूरा करनेके लिए अनुवाद मात्र है, अथवा अनुज्ञा मात्र है। यह पहली स्थितिको दुहराना है।

अब भगवान् इसके बाद दो श्लोकमें 'मूलोपनिषद्' बोलते हैं। इसका नाम 'मूलोपनिषद्' है, 'सिद्धान्तोपनिषद्' है।

नासतो विद्यते भावो 2.16

उसके बाद दो श्लोकमें 'सदसद्विवेकोपनिषद्' है और अगला जो है, वह 'मूलोपनिषद्' है। मूलोपनिषद् क्या होता है भाई? मूलोपनिषद्का अर्थ है, इस गीताके भी पहले जो मौजूद 'कठोपनिषद्' है, नचिकेता और यमका संवाद, उस संवादमें अर्थतः और शब्दतः दोनों प्रकारसे कुछ थोड़ा फेरफार कर लिया है। थोड़ा फर्क डाल करके भगवान्ने 'कठोपनिषद्'के दो मन्त्र बोल दिये हैं। 'भगवद्गीतोपनिषद्', 'सिद्धान्तोपनिषद्', 'सदसद्विवेकोपनिषद्', 'तितिक्षामृतोपनिषद्' 'मोहावैचित्योपनिषद्', गीतासु उपनिषत्सु। उपनिषत्सु=बहुत सारी उपनिषदें हैं। यह क्या है? यह मूलोपनिषद् है। मूलोपनिषद्=भगवद्गीताका जो मूलभूत उपनिषद् जो कठोपनिषद् है, उस कठोपनिषद्के जो दो मन्त्र शब्द और अर्थ—कुछ अर्थके रूपमें और कुछ शब्दके रूपमें—दोनों मिलाकर भगवान् यह मूलोपनिषद् सुनाते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 2.19

मूलोपनिषद्का यह कहना है कि मनुष्य न जानकरके बन्धनमें फँसता है और जानकरके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जाननेसे जो चीज मिलती है वह पहलेसे मिली हुई होती है और न जाननेसे जो चीज खो जाती है, वह दरअसल खोयी हुई नहीं होती है। अब घड़ी क्या खो गयी थी? वह खोयी नहीं थी, वह तो अपने पास ही थी। बीचमें नासमझी आगयी थी। जो चीज नासमझीसे खोयी हुई होती है, वह समझदारीसे मिल जाती है। देखो, ज्ञानसे मुक्ति मिलती

हैं और अज्ञानसे बन्धन होता है। इसका अर्थ क्या है? बन्धन हुआ नहीं है। तुमने अपनेको न जान करके बन्धनमें डाल दिया है और मुक्ति मिलनेवाली नहीं है, वह तो मिली हुई है, तुम्हारा स्वरूप है।

'मूलोपनिषद्'का सिद्धान्त है—अज्ञानमूलक बन्धन और ज्ञानमूलक मुक्ति। वह बन्धनको असत् और तुमको सत्स्वरूप आत्मा बतानेके लिए है। बन्धनकी जो निवृत्ति है, वह अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त नहीं है। इसलिए आत्मा मुक्तिस्वरूप है। यही बतानेके लिए सब उपनिषदोंमें ज्ञान-अज्ञानका विवेक होता है। जान लिया तो बन्धन मिट गया। अरे भलेमानुष! जाननेसे क्या मकान मिट जाता है? जाननेसे शरीर नहीं मिटता है। लेकिन जाननेसे रज्जु-सर्प मिट जाता है। क्योंकि था ही नहीं। इसलिए रज्जु-अधिष्ठानका ज्ञान हुआ और सर्प मिट गया। क्यों? बोले—सर्प था ही नहीं। इसलिए जाननेसे मिट गया। जाननेसे जो चीज मिट जाती है, वह होती ही नहीं। जो चीज न जाननेसे होती है, वह भी दरअसल होती नहीं, खोती नहीं है।

अब देखो, वहाँ 'मूलोपनिषद्'की यही तो विशेषता है। साफ-साफ वेदान्तका सिद्धान्त यहाँ है। किसी भी अन्य सिद्धान्तमें उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। व्याख्या भले कोई करे। बन्धन और मोक्ष अज्ञान और ज्ञानमूलक ही है, इसलिए—

तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति।

यह जो श्रुति है न, यह बिलकुल स्पष्ट है। इसीसे—

वेदान्तमेतं पुरुषं महान्तम्।

इस श्रुतिका अर्थ अगले श्लोकमें लेनेवाले हैं।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 2.21

सः वेदाविनाशिनम्—'सः वेद आत्मानम्-अजम्-अविनाशिनम्' माने जो अपने आत्माको जान लेता है, वह कर्ता-भोक्ता नहीं होता। और यहाँ बताते हैं कि जो अपने आपको नहीं जानता, वही कर्ता-भोक्ता है। तो अपनेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व अज्ञानमूलक हैं और ज्ञानसे कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी निवृत्ति हो जाती है। यह बात देखो, अन्वय-व्यतिरेकसे दो श्लोकोंमें साफ-साफ बतायी गयी। कौन ऐसा सिद्धान्त दुनियामें है जो आत्माको अकर्ता और

अभोक्ता मानता है। कोई कहे तो कहते हैं—आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, प्रयोज्य भोक्ता है। बोले—'अभी कर्ता तो नहीं है, भोक्ता है।' कहीं-न-कहीं गड़बड़ा देंगे। गीताकी पूरी बात नहीं आयेगी। पूरी बात तो तब आयेगी जब आत्मा अकर्ता भी हो और आत्मा अभोक्ता भी हो। आत्मा अविनाशी भी हो, आत्मा अपरिच्छिन्न भी हो, आत्मा असंसारी भी हो।

यः एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

यः एनं आत्मानं हन्तारं वेत्ति स न विजानाति। यश्च कश्च एनं आत्मानं मन्यते स न विजानाति। तं तौ आत्मानं न विजानाति। उभौ तौ एनं न विजानीतः। वह जो ऐसा समझता है कि यह आत्मा हन्ता अर्थात् हनन क्रियाका कर्ता है, *स आत्मानं न विजानाति।* वह अपने आपको नहीं जानता।

फिर तुम यह चिन्ता मत करो कि हम भीष्म-द्रोणके हन्ता हैं। जानते नहीं तुम अपनेको? बोले—महाराज, मैं तो ठीक जानता हूँ कि मैं हन्ता नहीं हूँ। परन्तु वे जानते हैं कि मैं उनका हन्ता हूँ। वे लोग अज्ञानी हैं!

यश्च एनं हन्यतम् मन्यते स विजानाति। वे भी अज्ञानी, तुम भी अज्ञानी। मारनेवाला, मरनेवाला जानते हो। करनेवाला और मरनेवाला जानते हो। यहाँ तो युद्धका प्रसंग है। इसलिए हन्ता और हतका, मारनेवाला और मरनेवालाका मतलब निकल आता है। लेकिन उपनिषद्में जहाँ यह है, वहाँ तो युद्धका प्रसंग नहीं है न! वहाँ तो आत्माका स्वरूप क्या है? नचिकेता, बड़ा दृढ़ सात्त्विक पुरुष है। बात बूढ़ी (पुरानी) बननेसे कहना पड़ता है, क्या कहते हो? बात बूढ़ी (पुरानी) ब्राह्मणोंसे लेकर हमारे तक विधानरूप रहे। हम तुम्हारे किसका नाम लें? हमें किसको देंगे? उनके बाप समझ गये। बोले—'बेटा! हम तुमको यमको देंगे।' नाम ले लिया। क्रोध आगया। बस! 'हम तुमको मौतको देंगे।'

उसने कहा—'अच्छा, हमारे बापकी बात सच्ची। हम मौतके सामने जाते हैं।' और देखो, दूसरे काण्डके तीसरे अध्यायमें नचिकेताने जो प्रार्थना की है, 'हमको यह बताओ कि मरनेके बाद आत्मा रहती है कि नहीं रहती? अगर रहती है तो उसका क्या स्वरूप है?'

अब मृत्यु ही ठीक बता सकता है, क्योंकि मृत्यु शरीरको तो मिटा देता है और शरीरको मिटाकर जो मृत्यु रहता है, जो निवृत्ति रहती है, जो अभाव रहता

है, सुषुप्तिमें, समाधिमें जहाँ सर्वका निषेध हो गया है, अपवाद है, जहाँ केवल मृत्यु ही मृत्यु शेष है, वहाँ देखो आत्मा झिलमिला रही है। आत्मा न मरनेवाला है, न मारनेवाला है। हुआ ज्ञान, मानो योगवासिष्ठ ही आगया।

योगवासिष्ठके योगीने कहा—'महाप्रलयका चिन्तन करो!' निःसंकल्प हो जाओ! सबका बाध कर दो! सबका निषेध कर दो! देखो वहाँ आत्मतत्त्व। लेकिन केवल ऐसा करनेसे ही ब्रह्मात्मज्ञान नहीं होता है। केवल निःसंकल्प हो जानेसे या केवल मृत्युके पास पहुँच जानेसे आत्मज्ञान नहीं होता। उसके लिए उपदेशकी, विवेककी जरूरत पड़ती है। वहाँ युद्धका प्रसंग नहीं है। इसलिए यहाँ हन्ता और हत—मारनेवाला और मरनेवाला मानते हो तो यहाँ इसका अर्थ है। और वहाँ करनेवाला और किया जानेवाला मानते हो तो कर्मका कर्ता और कर्मका फल, कर्मका विषय अर्थ किया जायगा, वह किस चीजके लिए किया जायगा?

एक आदमीने हाथमें बन्दूक ली और मार दी। तो बन्दूक है एकके हाथमें। गोली लगी है दूसरेकी छातीमें। जिसकी छातीमें गोली लगी वह मारा गया था और जिसने हाथमें बन्दूक उठायी वह मारनेवाला हुआ। बोले—आत्मा न वह बन्दूकसे युक्त हाथवाला है और न तो छातीवाला है। दोनों शरीरोंमें दोनोंसे बिलकुल जुदा है। तो—

नायं हन्ति न हन्यते।

अब यदि तुम्हें 'अहं'को पहचानना हो, तो 'अयं'को जुदा करो। अयं न हन्ति। अयं न हन्यते। अब न हन् हुआ न? न अहम्। ना हन्ति, ना हन्त। न हन्यते। न हन्त। अब 'न' का 'अ' कर दो। तब क्या हुआ? अ हन्ति और अ हन्यते। तत् तावत् इति अहम्। अब कौन है? न हन्ति इति अहम्, न हन्यते इति अहम्। अब कौन है? अब यहाँसे 'अहम्' पद ही चलता है।

●

: 19 :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

2.19-20

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्रकी समझ पर, अर्जुनकी समझ पर थोड़ा आक्षेप करते हैं। मित्रकी मान्यता पर यदि प्रेमसे चोट की जाय तो और भी मजा आता है। थोड़ी दिल्लगी हो जाती है। बोले—'अर्जुन! संसारमें दो तरहके मनुष्य अज्ञानी हैं। बस, दो ही अज्ञानी हैं। दूसरा कोई नहीं।' बोले—'कौन?'

जो अपने इस आत्माको मारनेवाला मानते हैं, एक तो हुए अज्ञानी ये। और दूसरे, जो इस आत्माको मरनेवाला मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। यह आत्मा न मरता है न मारा जाता है।

नायं हन्ति न हन्यते।

यहाँ वध्य भीष्म आदि हैं और मारनेवाला है अर्जुन। इन दोनोंका प्रसंग साथ-साथ है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रसंगमें जुड़ जाता है। परन्तु कठोपनिषद्‌में जहाँ इन दोनों मन्त्रोंका अर्थ है, वहाँ तो युद्धका प्रसंग है नहीं। वहाँ तो अपने पिताको प्रसन्न करनेका वर माँगके मानो अपनी धनेच्छाको इज्या-इच्छा-इष्टा जो है, उसको पूरी करते हैं और अग्निविद्याको ठीक-ठीक समझ करके नचिकेताने यह प्रश्न उठाया कि—

स्थूल देह मरनेके बाद आत्माके विषयमें जो संशय किया जाता है कि 'मरनेके बाद आत्मा है कि आत्मा नहीं है?' स्थूल देह मरता है और आत्मा जो है, वह नहीं मरती है। यथावत् आत्माका निरूपण करनेके लिए मानो इनके

भूतोंका जो रूप और आकार है, देहाकार परिणामको प्राप्त करके भूत ही देहाकार दिखायी पड़ रहे हैं। इनसे अलग आत्मा है कि नहीं? यह जन्मके पहले था कि नहीं? और मरनेके बाद यह रहता है कि नहीं? योगत्रयके विशिष्ट जीवका, यह नचिकेताका मूल प्रश्न था और इसके उत्तरमें यह बात कही गयी कि—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन् मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ कठ. 1.2.19

वहाँ बताया कि भोगको स्वीकार करके जो कर्मका कर्ता है, वह आत्माका सच्चा स्वरूप नहीं है। और, किसी भी किये हुए कर्मके फलका जो भोक्ता है, वह भी आत्मा नहीं है। आत्माका शुद्ध स्वरूप बतानेके लिए यहाँ यह कहा गया कि आत्मा न करनेवाला है न भोगनेवाला है। माने वह न तो हेतुवाला है, न तो फलवाला है।

जरामरणजन्माः निर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः। कठो.

आत्मा जो है वह जन्मसे, जरासे, मरणसे स्वभावसे ही मुक्त है। इसका सम्बन्ध इन पदार्थोंसे है नहीं, फिर कर्तव्य-सम्बन्ध भासता कैसे है? भासता है कि हमने पाप किया, हमने पुण्य किया। हम सुखी हुए, हम दुःखी हुए। तो बोले—

यावद्धेदफलादयः तावद्धेतुफलोदयः।
क्षीणे हेतुफलादीनि संसारे न प्रवर्तते॥

माण्डूक्यकारिका

गौडपादाचार्यने माण्डूक्यकारिकामें बताया कि—

यावद् हेतुफलादयः तावद् हेतुफलोदयः।

जबतक हेतु=कर्म और फल=शरीर, सुख-दुःखके साथ आविष्ट हैं, माने हम इनको अपना आपा मानते हैं, तबतक 'हेतु फलोदयः'—कर्म भी होते रहते हैं, पाप-पुण्य और सुख-दुःख भी आते रहते हैं। फल पर फल और देह पर देह मिलते रहते हैं। जायस्व म्रियस्व।

क्षीणे हेतुफलादीनि संसारे न प्रवर्तते।

यदि एक मनुष्य अपनेको कर्म और फलसे ऊपर जान गया, और पाप-पुण्य और सुख-दुःखसे अपनेको असंग जान गया, यदि किसीने अपनी

अभेदता और असंगताको जान लिया तो फिर संसारकी=जन्म-मरणकी प्रवृत्ति नहीं होती है। फिर न तो पैदा होना है, न तो मरना है। मोक्ष हो गया।

क्यों यह मनुष्य अपने साथ कर्म और फलको बाँध लेता है ? यह आत्मा अजर और अमर तो स्वभावसे ही है। अब इसी प्रसंगमें यह भी बताया गया। जो मंत्र बोला गया—'कठोपनिषद्'में कि आत्मा जो है, वह कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे और अन्त:करणके सम्बन्धसे बिलकुल जुदा है। तो असलमें कर्तापना जो आता है, वह सामान्य कर्ममें नहीं आता है। आप देखना, कभी आपके शरीरमें खुजली हो और आपने हाथसे खुजला दिया, तो खुजलानेमें मैंने बड़ी बहादुरीका काम किया', ऐसा आपको अभिमान नहीं होता—'मैंने कोई पाप कर दिया', यह ग्लानि भी नहीं होती। शरीर खुजलानेमें शरीर खुजलानारूप कर्मसे न तो कोई अपनेको पापी मानता है, न तो पुण्यात्मा मानता है। इसलिए—*'संसारी केवलं कर्म चेतन आत्माति चिद्विषयम् हि इदम्।'*

यह तो शरीरके लिए आवश्यक कर्म है। इसको करके कोई पापी नहीं होता। विवशात् कर्म-कर्म नहीं है। परन्तु कोई यह हठ करे कि हम तो पवित्र स्थान पर, गंगाजीकी धारामें, पवित्र स्थान पर, तटपर बैठकर ही लघुशंका करेंगे, तो लघुशंका करना पाप हो जायगा।

इसका मतलब यह है कि जब कोई मनुष्य जानबूझकर, संकल्प करके कोई पाप-कर्म करता है, तब उसमें पापीपनेका अभिमान उदय हो जाता है और जानबूझकर कि मैंने बहुत बड़ा काम किया, सुखकी प्राप्तिके लिए, पुण्य होता है। पलकके उठाने-गिरानेमें, अथवा नाड़ीके चलनेमें, अथवा श्वासके आने-जानेमें, अथवा शौच-लघुशंकामें यदि जान-बूझकर विधिका विरोध था कि निषिद्ध कर्म नहीं किया जाय, तो पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। जहाँ सब आसक्ति बस गयी, वासना बस गयी, जहाँ अभिमान बस गया, जहाँ हम कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, वहीं पाप और पुण्यकी उत्पत्ति होती है। उसीका फल भोगना पड़ता है।

हम कर्मसिद्धान्तका निरूपण अभी करना नहीं चाहते हैं। हम आपको यह बताना चाहते हैं कि यहाँ 'अहिंसा' और 'हत' शब्द जो हैं, वह कर्ता और हन्ताके लिए पड़ा हुआ है। 'मैं कर्म करनेवाला हूँ'—यह जो अभिमानी है, वही हन्ता है। 'हनन' क्रिया कर्ममात्रका उपलक्षण है और यहाँ जो 'हत'

शब्द है, 'हनन' क्रियाका फल होना, 'हनन' वस्तु होना, यह हत होना है। कर्ममात्रका फल विषय है माने भोक्तापन है। ये कह रहे हैं कि 'आत्मा न तो कर्ता है, न तो भोक्ता है, और—

उभौ तौ न विजानीतो। क्रिया सम्बन्धे न वर्णनं उज्जहारं एनं पुनः पुनः।

जिसका वर्णन किया जा रहा है, जीवात्माका, उस आत्माको जो सर्वदा कर्ता मानता है, वह भी अज्ञानी है। और जो कर्मफलका भोक्ता मानता है वह भी अज्ञानी है। आत्मा न कर्ता है और न भोक्ता है। तब यह प्रसंग स्वतः निषिद्ध हो गया। क्योंकि देहके द्वारा कर्म तो होते हुए भी देखे जाते हैं और फल भोगते हुए भी देखे जाते हैं, तो 'आत्मा' नामकी कोई वस्तु इस देहसे अतिरिक्त है। वह भी—

नायं हन्ति न हन्यते इति उच्यते।

जिसके सम्बन्धमें यह बात कही जा रही है कि न यह हनन क्रियाका कर्ता है, न किसीको मारता है, माने न कर्ता है और, 'न हन्यते' भोक्ता है। इस प्रसंगको थोड़ा विस्तारसे यदि बोलें, क्योंकि यह 'मूलोपनिषद्' है— 'कठोपनिषद्'। एक 'गीता-उपनिषद्=भगवद्गीतोपनिषद्' होती है और एक अपौरुषेय वेदवाणीरूप जो उपनिषद् है, वह 'मूलोपनिषद्' है।

वह 'मूलोपनिषद्' है और पौरुषेय भगवद्वाणीरूप जो उपनिषद् है, वह भगवद्गीता—उपनिषद् है। भगवान् स्वयं पुरुष हैं और वे उपनिषद्के द्वारा वेदतत्त्वका अनुभव करके बोलते हैं तो 'मूलोपनिषद्' कहनेका अभिप्राय है, प्राचीन उपनिषद्=अपौरुषेय उपनिषद् शब्दतः भी, अर्थतः भी।

अब गीता पर थोड़ा ध्यान दें। और, भौतिक दृष्टिसे विचार करें कि जो आप कर्म करते हैं उसकी जिम्मेवारी आप पर कहाँ तक है? तो तीन बातें तो बिलकुल भौतिक दृष्टिसे हैं। एक तो मनुष्यके माँ (बाप)की सत्ता। उसके माँ-बापकी, फिर उसके माँ-बाप। उसके माँ-बापकी और उसके माँ-बाप। वह जो परम्परा अनादिकालसे प्रवाहित होती हुई आरही है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो हम चले आरहे हैं। जैसे आमकी मिठास, आमका सोंधापन समझो, दशहरी आमका स्वाद दूसरा, लंगड़ा आमका स्वाद दूसरा, जैसे चलता है वैसे मनुष्यरूप शरीर भी फलरूप ही है दो तरहके फल होते हैं। एक डाँटीसे अपने आप ही अलग हो जाते हैं और एक करना पड़ता है। यह मनुष्य भी

माँके पेटमें जुड़ा रहता है। जब नालच्छेदन होता है तब मूलसे जुदा कर दिया जाता है। वंशसे, माँ-बापके शरीरसे निकलनेवाला यह फूल तो मातृवंशमें और पितृवंशमें, जो-जो गुण-धर्म-स्वभाव, स्वाद-कड़वाहट, मिठास थोड़ी-थोड़ी होती है। ब्रह्मासे लेकर अब तक जितने संस्कारी पूर्वज हमारे हुए हैं, उनके संस्कारका कुछ अंश इस शरीरमें भी आता है। थोड़ा वसिष्ठका भी होता है, थोड़ा शक्तिका भी होता है, थोड़ा पराशरका भी होता है, थोड़ा व्यासका भी होता है। हमारे गोत्रप्रवर्तक ऋषि हैं; उनका थोड़ा अंश होता है। जिनके द्वारा शिक्षा ग्रहण की जाती है वे तो नादप्रवर्तक ऋषि हैं। दो प्रकारके बाप होते हैं। एक वीर्यबिन्दुसे बाप होता है और एक नादबिन्दुसे बाप होता है।

जो प्राण खींच करके, मन्त्रदान करके कर्ण द्वारा जो वीर्याधान होता है, और माताके द्वारा जो वीर्याधान होता है, दोनोंसे ही मनुष्यके शरीरमें संस्कार आते हैं।

माता-पितासे जो संस्कार आते हैं, वे अध्यासवत् संस्कार आते हैं। अध्यासके समान बिना विवेक किये ही उनके वे संस्कार अपने जीवनमें आजाते हैं। और, गुरुकी शिक्षासे जो संस्कार आते हैं, वे जानबूझकरके मनुष्यकी भलाईके लिए उसके शरीरमें डाले जाते हैं। इसलिए रक्तप्रवाहसे आया हुआ जो संस्कार है, वह अच्छा-बुरा दोनों तरहका होता है। गुरुरूप पितासे आया हुआ जो संस्कार है, वह हमारी अच्छाईके लिए ही आया हुआ होता है। इसलिए बुराईके संस्कार नहीं आते हैं। जहाँ वह छिप करके कुकर्म करेगा, कुसंग करेगा, वहाँ बुराईके संस्कार भी आवेंगे। वह बात दूसरी है।

अब समझो, हम जो कर्म करते हैं, उसमें हमारे पूर्वजोंके संस्कारका कितना प्रभाव है, हमारी शिक्षा-दीक्षा और समझपर कितना प्रभाव है, माने सामाजिक जो परिस्थिति है, वह हमारे शारीरिक कर्म और भोगको प्रभावित करती है, यह मोटी बात सुनायी।

अब दूसरी बात देखो संसारकी। वह क्या है? आप जहाँ अपना हाथ उठाकर किसीको तमाचा भी मार सकते हैं और हाथ उठाकर किसीको दान भी कर सकते हैं, इसमें कर्त्तापन कहाँ मालूम पड़ता है? परन्तु आप यदि वहाँसे दो फीट, दो मीटर आकाशमें हों तो यही आपका हाथ और यही

आप—उस समय क्या हाथ उठा करके दान कर सकते हैं? किसीको चाँटा मार सकते हैं? वहाँ इन्द्रदेवता आप पर हाथ उठाने देनेका अनुग्रह नहीं करते हैं। लेकिन धरती पर आप रहते हों, जिस शरीरमें आप रहते हों तो इन्द्र देवताके, अनुग्रहसे इस धरतीपर हाथ दान करनेके लिए उठता है और चाँटा मारनेके लिए आपका हाथ उटता है। यदि भूमण्डलका जो वातावरण है, जो इसी हवासे बना है, उससे ऊपर चले जाओ तो इस ढंगसे बना है कि आप बोलना चाहो तो बोल नहीं सकते, हाथ उठाना चाहो तो हाथ उठा नहीं सकते। इसका अर्थ है कि समष्टि-देवताके अनुग्रहके बिना कोई भी मनुष्य अपना कर्म करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। सबकी सारी जिम्मेवारी मनुष्यमें कहाँसे आवेगी? कर्मकी सारी जिम्मेवारी मनुष्यमें नहीं आसकती। वह तो जैसे वातावरणमें रह रहा है, लन्दनमें लन्दन सरीखा, पेरिसमें पेरिस सरीखा, अरब-में-अरब सरीखा, रूसमें रूस सरीखा, भारतमें भारत सरीखा, अन्तरिक्षमें अन्तरिक्ष सरीखा, स्वर्गमें स्वर्ग सरीखा—जैसे वातावरणमें मनुष्य रहता है, सामाजिक वातावरण और प्राकृतिक वातावरण, वही हमारे कर्मके प्रेरक होते हैं।

हमारे कम्युनिस्ट भाई=कर्मनिष्ठ, उनको केवल कर्म ही कर्म, श्रम-ही-श्रम प्यारा है। ये शरीरसे तो चिकना-चुपड़ा बना रहना चाहते हैं, दिलको चिकना रखनेके लिए भी कुछ तेल-फुलेल चाहिए अथवा ईश्वरका विश्वास चाहिए अथवा आत्मा-अनात्माका विवेक चाहिए। इसका विश्वास नहीं करते। ये जो कम्युनिस्ट भाई हैं हमारे, ये कहते हैं—अपनी सभ्यताने समाजका वातावरण ही ऐसा बना दिया है कि मनुष्यको पत्थरके सामने हाथ जोड़े बिना रहा नहीं जा सकता। किसी सेठ-साहुकारकी खुशामद किये बिना रहा नहीं जा सकता। तो स्वार्थी लोगोंने समाजका वातावरण ही ऐसा बना दिया है, इसलिए ऐसे कर्म होते हैं।

अब श्रीकृष्ण भगवान्ने यह मत समझना कि श्रीमद्भगवद्गीतामें इन सब बातों पर दृष्टि नहीं डाली है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

भगवान् कहते हैं—एक स्वभावज कर्म है। एक—'क्षात्रं कर्म

स्वभावजम्, युद्धे चाप्यपलायनम्' (गीता 18.43) युद्धमें न भागना—'दानं ईश्वरभावस्य' यह क्या है ? युद्धमें न भागना यह क्षत्रियोंका कर्म है। नेच्छसि यन्मोहात्—तुम नहीं करना चाहते हो, तुम्हें मजबूर होकर कर्म करना पड़ेगा। अर्थात् मनुष्य अपने स्वभावज कर्मसे मजबूर है। जैसा उसका स्वभाव पड़ गया है, जैसा उसका संस्कार बन गया है, वैसा वह कर्म करता है। इसपर भी भगवान्की दृष्टि है। और देखो, ऐसा नहीं है कि एक दृष्टिकोण उसमें छूट गया हो। कहते हैं, मनुष्य काम और क्रोधसे इतना अधीर हो गया है। जब अर्जुनने पूछा कि मनुष्य पाप क्यों करता है ? तो क्या कहा भगवान्ने ?

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 3.37

बोले—'तुम्हारे साथ तुम्हारा दुश्मन लग गया है। वह तुमसे पाप करवाता है। कामक्रोधकी प्रेरणासे तुम पाप करते हो। साफ-साफ बता दिया भगवान्ने।'

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्........ ॥ 3.33-34

केवल रागद्वेषके अधीन नहीं होना। 'तुम अधीन नहीं होओ'—इतनी बात यहाँ भगवान् बता रहे हैं। अच्छा, देखो दातापनेकी बात भी ध्यानमें रखो। तब मालूम पड़ेगा। वह तो इकट्ठी सब बात है। परन्तु जुदा-जुदा सुना रहा हूँ आपको।

वह कहते हैं—विराट् रूपसे जब अर्जुनको दर्शन देते हैं तब बोलते हैं कि—'अर्जुन! यह भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन तो मर चुके हैं। देख उनका लोथड़ा, मुर्दा देख!'

अर्जुनने कहा कि—'बाबा! मैंने नहीं मारा है। इनके मरनेका पाप हमको न लग जाय।'

बोले—'हाँ, तुमने नहीं मारा है—'

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ 11.33

तू तो निमित्तमात्र है। मैंने पहले ही उनको मार डाला है। अब देखो, विराट् रूपसे जो ईश्वर है, उसका स्वरूप जरा देखो! उसके हाथोंमें इन्द्रका

निवास है। असलमें इन्द्र—उसके हाथोंमें इन्द्र कल्पित हैं। उसकी वाणीमें अग्नि-देवता कल्पित है। उसके पाँवमें उपेन्द्र देवता कल्पित है। इसीसे देखो उपेन्द्र देवता-पाँवकी पूजा होती है न? पाँवकी पूजा माने मनुष्यकी पूजा नहीं। पाँवकी पूजा माने गति देनेवाले, प्रगति देनेवाले, आगे बढ़ानेवाले जो उपेन्द्र देवता हैं, उपेन्द्र! उनकी पूजा। ईश्वरकी पूजा। इस पूजाका अर्थ यह नहीं समझना कि हड्डी-मांसकी पूजा! हड्डी-मांसकी पूजा नहीं होती है, उसमें रहनेवाले उपेन्द्र देवताकी पूजा होती है।

बोले—भाई, एक बात ध्यानमें रखो। क्या? यहाँ विष्णु भी उपेन्द्र हो गया है। इन्द्र कौन? हाथमें इन्द्र देवता है। मनुष्यमें कर्म करनेकी इच्छा होती है न! कर्मके द्वारा इन्द्रकी पूजा होती है। तो उसमें पाँवमें उपेन्द्र और हाथमें इन्द्र तो इन्द्र उपेन्द्रसे बड़ा हुआ? हाँ, कर्म बड़ा है और गति छोटी है। जैसा-जैसा कर्म करोगे, वैसी-वैसी गति होगी। तो इन्द्रका संचालन हाथमें है और विष्णुका संचालन पाँवमें है। फलदाताके रूपमें गति देनेवाले विष्णु पाँवमें हैं और कर्मकी प्रेरणा देनेवाले इन्द्र हाथमें हैं। कर्मके अनुसार जब गति होती है, तो इन्द्र बड़ा हो गया और उपेन्द्र फलदाता छोटा हो गया। क्योंकि उसको कर्मके अनुसार फल देना पड़ेगा। तो वहाँ विष्णुकी संज्ञा 'उपेन्द्र' हो गयी। उपेन्द्र!

यह इन्द्र—उपेन्द्र जो देवता—हम लोग तो किताबमें पढ़कर छोड़ देते हैं कि अमुक इन्द्रियका अमुक देवता है। मनकी अमुक वृत्तिका अमुक देवता है। फल देवता छोटा हो गया। हाथका देवता इन्द्र, पाँवका देवता उपेन्द्र! वह केवल जबानी नहीं है। केवल नाम-जप करनेके लिए नहीं लिखा है, न रटनेके लिए लिखा है। उसमें विचार है, उसमें विवेक है। उसमें एक चीज है। तो सब काम रट लेनेसे नहीं हो जाता है, उसपर विचार करना पड़ता है, विवेक करना पड़ता है, मनन-चिन्तन करना पड़ता है, तब वह बात निकलती है।

अब यहाँ देखो, विराट् रूपमें भगवान् उपेन्द्र जिनके पाँवमें कल्पित और इन्द्र जिनके हाथमें कल्पित, वह कह रहे हैं—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव।

जयपुरके एक पण्डित थे, उन्होंने संस्कृतके और अंग्रेजीके शब्दोंका बहुत मिलान किया था। तो वे बोले—'इन्द्र जो है, इससे अंग्रेजीमें कौन-सा शब्द बना? 'इथर' तो बोले—'इन्दरसे इथर कैसे हो गया? जैसे सुन्दरसे

सुथरा हो गया, वैसे इन्दरसे इथर हो गया। बोले—हाथसे काम होता है, तो इन्द्रदेवताकी सहायतासे होता है। इथरकी सहायतासे होता है। इथरका घनत्व कहाँ कितना है? उसका दबाव हाथके उठाने-बैठानेमें कितना पड़ता है? उसके अनुसार हाथसे काम होता है। 'मयैवैते निहता: पूर्वमेव।' सम्पूर्ण विश्वसमष्टि स्थूल विश्वका अभिमानी बनकर बैठा हुआ जो विराट् है वह मरण और जीवनमें हेतु है। व्यष्टि मनुष्यका। इसमें कोई हेतुवाद नहीं है। इसलिए देखो, वातावरणका प्रभाव पड़ता है। मनुष्यके कर्म पर यह बात भी कही गयी। इस जगहसे ज्यादा तो साफ है एक जगह—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर:।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतव:॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु य:।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति:॥

गीता 18.14-16

जो आत्माको कर्ता-भोक्ता मानता है, 'न स पश्यति'। माने अन्धा है। साफ-साफ उसका अर्थ यही है।

बोले—भाई, अन्धा भी होवे और भलेमानुष भी होवे। बहुत अच्छा! आँखसे बुराई देखनेवालेकी अपेक्षासे तो भलेमानुष अन्धा है। बोले—वह भलेमानुष भी नहीं है। 'दुर्मति:'। जो आत्माको कर्ता मानता है और शरीरको नहीं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

इनको कर्ता नहीं मानता है, वह तो दुर्मति है। नासमझ नहीं। नामसझ तो होता है अमति—अबुद्धि। 'दुर्मति' माने 'दुष्टा मतिर्यस्य'—उसकी मति तो दूषित है, दोषग्रस्त है, जो अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है।

अब देखो, इससे भी आगेकी बात सुनाता हूँ। शरीरमें कर्ता कौन? तो पहले बताया काम-क्रोध आदि जो व्यक्तिके अपने संस्कार हैं और स्वभाव जो पूर्व-पूर्व पीढ़ियोंसे और पूर्व-पूर्व जन्मोंसे बना हुआ है सो और विराट्। और, बोले—'गुण'—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ 3.27

प्रकृतिके गुण हैं सत्त्व-रज-तम। जब सत्त्वगुणका उदय होता है तब भगवान्का ध्यान करनेका मन होता है। जब रजोगुणका उदय होता है, तब सिनेमा देखनेका मन होता है। जब तमोगुणका उदय होता है तब अपना काम-धन्धा छोड़कर भगवान्को छोड़कर पड़े रहनेका, निकम्मापन हावी हो जाता है।

कर्ममें प्रवृत्ति होती है रजोगुणसे। ध्यानादिमें प्रवृत्ति होती है सत्त्वगुणसे। समाधि भी लगती है सत्त्वगुणमें। यह विवेकका उदय भी होता है सत्त्वगुणमें। सत्त्वगुणमें जो शान्तवृत्ति है, उसको समाधि कहते हैं। जो विचार प्रधान बुद्धि है, जिसमें निश्चय होता है, विवेकात्मिका बुद्धि, वह क्रियाशील वृत्ति है सत्त्वगुणकी और उसमें भी देवताकी पूजा होती है, दान होता है। माने द्रव्यके संयोगसे सत्त्वगुणका क्रियान्वित होना और भावके संयोगसे सत्त्वगुणका क्रियान्वित होना। और, द्रव्य-क्रिया-भावके संयोगको छोड़ करके समाधिमें सत्त्वगुणका बैठ जाना—ये सब सत्त्वगुणके अनेक भेद होते हैं। जीवनका रहस्य समझने योग्य है। जो जीवनका रहस्य नहीं समझता, वह ईश्वर और परमेश्वरको मान तो लेगा, श्रद्धाकी अधिकतासे मान तो लेगा, लेकिन उसकी समझमें बात आनेवाली नहीं है। समझमें आना दूसरी चीज है और मानना दूसरी चीज है। अब देखो, गुण क्या करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि कुर्वाणि गुणै सर्वशः।

गुणों पर जिम्मेवारी है। इससे भी आगे चलो तो सीधे प्रकृति पर जिम्मेवारी है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ 13.29

बादमें भगवान्ने कहा, बाध कर दिया—ये प्रकृति, गुण कुछ नहीं कर सकते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9.10

मैं हूँ मालिक और प्रकृति और प्रकृतिके गुण और विश्वसमष्टि स्वभाव और यह मनुष्यमें आनेवाली वृत्तियाँ, ये मेरी अध्यक्षताके बिना कुछ नहीं कर

सकतीं। मैं सबके ऊपर सवार होकर देखता रहता हूँ। कहीं हमारा प्यारा जीव सर्वदाके लिए हमसे विमुख न हो जाय। हमेशाके लिए हमसे विमुख न हो जाय। मैं निगरानी रखता हूँ। नजर रखता हूँ। बादमें तो छाती ठोंककर कह दिया—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 18.61

ईश्वर चला रहा है। देखो, क्रम-क्रमसे बात कहाँ गयी? मनुष्यके पाप-पुण्य चला रहे हैं, कि वातावरण चला रहा है कि पूर्व-संस्कार चला रहे हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ीके संस्कार चला रहे हैं कि गुण चला रहे हैं कि प्रकृति चला रही है कि विराट् चला रहा है कि ईश्वर चला रहा है।

बोले—भाई, गीताका दृष्टिकोण बिलकुल विलक्षण है। इसके सम्बन्धमें आत्मा तो कर्ता किसी भी हालतमें है नहीं। क्योंकि तत्त्वदर्शीका यही अनुभव है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मीषन्निमीषन् अपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

गीता 5.8-9

इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयमें बरत रही हैं। 'अहं किञ्चित् नैव करोमि।' यह आत्मा जो है, वह तो विचित्र है। अद्भुत अनिर्वचनीय इसका स्वरूप! यह तो अहंकारके भावसे कर्ता बन गया है। और, लेपके भावसे भोक्ता बन गया है।

यस्य नाहं कृतो भावो। 18.17

यह कृर्तत्वका निषेध हुआ। और,

बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। 18.17

यह भोक्तृत्वका निषेध हुआ।

हत्त्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते। 18.17

यः एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो......॥ 2.19

दोनों अज्ञानी हैं कि 'अहंकृत भाव' है। 'अहंकृत भाव' है कर्तामें और लेपभाव है भोक्तामें। इसलिए 'उभौ तौ न विजानीतो'। 'नायं हन्ति न हन्यते।' अब देखो भाई! आत्मा तो कर्ता नहीं है। साफ-साफ श्रीकृष्णने तो अपनेको बचा ही लिया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15

साफ बता दिया कि अपने स्वरूपका जो अज्ञान है, वही मोहका हेतु है और यह मोहके कारण ही शोककी प्राप्ति हो रही है। इसलिए अर्जुन! यदि तुम अपनेको कर्ता-भोक्ता मानते हो तो यह बिलकुल गलत है। एक बात!

बोले—'अच्छा, भाई! आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है!' यह अद्वैतसिद्धान्त जो है, अपने शङ्कराचार्य भगवान्‌का केवलाद्वैत जिसको बोलते हैं, उसके सिवाय दूसरे किसी सिद्धान्तमें यह अन्तर्भूत होनेवाला नहीं है। करो कोई कोटि उपाय! आत्माको नितान्त अकर्ता और नितान्त अभोक्ता कहनेवाला दूसरा कोई पंथ, दूसरा कोई सम्प्रदाय है ही नहीं। यह बिलकुल उपनिषद्‌का यही सिद्धान्त है। जब आत्माके बारेमें यह बात कही गयी कि कर्मका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो कोई यह कहनेके लिए आगये के अच्छा, जैसे सांख्यवादी विवेक करते हैं, यह सब प्रकृतिका कार्य है, यह प्रकृति है, गह प्रकृति-विकृति है और असंग दृष्टा जो चेतन पुरुष है, वह बिलकुल जुदा है और वह कर्ता नहीं है। तो अलग-अलग जो आत्मा है वह तो कर्ता होवे, अकर्ता होवे, परन्तु एक ईश्वर नामकी चीज और जुदा है, वही सब कुछ करता है। यह मत समझना कि गीतामें यह है कि व्यष्टिमें रहनेवाला तो अकर्ता रहे और समष्टिमें रहनेवाला आत्मा कर्ता हो जाय। ऐसा नहीं हो सकता। यह तो अभोक्ता रहे और वह भोक्ता हो जाय। दो श्लोक उदाहरणके रूपमें आपको बता देता हूँ—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ 13.31

अनादित्वात् निर्गुणत्वात्। यह तो हेतुकी चर्चा है। परमात्मायमव्ययः। अयं अव्ययः परमात्मा। अयम्। अयम् माने तो आप जानते ही हैं, कौन?

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ 13.22

उसीका नाम परमात्मा है जो इस देहमें रहता है, उसका नाम परमात्मा है। इस देहमें भी है, उस देहमें भी है, सब देहमें भी है, वह परमात्मा। उसका नाम हैं परमात्मा। और वह 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय।' नखसे लेकरके शिखापर्यन्त इस शरीरमें रहता हुआ भी—'शरीरस्थोऽपि'—यह नहीं कि शरीरसे बहिर्भूत रहकरके वह गोलोकमें, वैकुण्ठमें अथवा किसी निराकार-निर्विकार स्थलमें रहकरके वह अकर्ता और अभोक्ता है। सो बात नहीं। 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय'—इस शरीरमें रहता हुआ 'न करोति'। 'कर्ता न भवति' 'न लिप्यते'—'भोक्ता न भवति'। इस शरीरमें रहता हुआ भी वह कर्ता और भोक्ता नहीं है।

तो देखो, यह सब बात आपको सुना रहा हूँ कि आप गीताका करते हैं स्वाध्याय। तो कहीं 'वाचयामास भारतम्'—बाँच गये। बाँच गये के माने क्या होता है?

एक सज्जन आये हमारे पास एक बार। अंग्रेजी बहुत पढ़े थे। बोले—'वेदान्त सीखनेका मन है, तो आप हमको कोई ऐसा ग्रन्थ बताइये कि वेदान्तकी सारी बातें मालूम पड़ जायँ।' तो मैंने उनको बताया कि आप 'पञ्चदशी' पढ़ लीजिये। वेदान्तके जो ऋजुग्रन्थमें प्रक्रिया ग्रन्थ हैं, उनमें 'पञ्चदशी' सबसे सरल भी है, सीधी है और उसके निरूपणकी प्रणाली बड़ी अच्छी है, तो उन दिनों रामावतार शर्मा विद्याभास्करकी यह जो रामकृष्णकी संस्कृत टीका है, उसके आधारपर अच्युतमुनिकी देखरेखमें लिखी गयी थी। बहुत बढ़िया मानी जाती थी और मोटी भी है। मैंने कहाकि तुम इसीको पढ़ो। बोले, ठीक है। मैं तो समझता था कि ये पढेंगे तो मेरे सामने पढ़ेंगे। थोड़ा पूछते-पाछते भी जायेंगे। उन्होंने पुस्तकालयमें से पञ्चदशी ली और जाके पढ़ना शुरू कर दिया। दो दिनके बाद मेरे पास आये और बोले—यह आपने बताया था कि पञ्चदशी पढ़ लो, सो मैंने पढ़ लिया। अब दूसरा ग्रंथ बताइये कौन-सा पढ़ें?

तो भाई! ऐसे वेदान्तको कोई घास-फूस समझके पढ़े, कोई जासूसी कहानी हो, कोई तिलस्माती उपन्यास हो और इस ढंगसे सोचे कि हम पढ़ते जायेंगे, और हमारी समझमें आता जायगा, ऐसी बात नहीं है। इसके लिए सचमुच थोड़ी बहुत समझकी जरूरत होती है। और समझ न हो तो पहले संस्कार डालनेकी जरूरत रहती है। चाहे समझमें आवे चाहे नहीं आवे, सुनते जाओ, सुनते जाओ। साधु लोग ऐसा कहते हैं कि गाँवमें भिक्षा माँगने जाते हैं तो दो घरमें मिलती है, दो घरमें नहीं मिलती है। तब भी आगे बढ़ते चलते हैं। और बादमें जिन लोगोंने आज नहीं दिया, वे फिर कल देते हैं, परसों देते हैं। जब देखते हैं, कि यह आदमी बार-बार इस गाँवमें आता है, हम कभी भिक्षा नहीं देते हैं, तो उसके मनमें भी देनेका संस्कार आ जाता है।

इसी प्रकार ये जो वेदान्तके ग्रन्थ हैं, एक बार सुननेसे समझमें नहीं आवे, तो दूसरे दिन समझेंगे। दूसरे दिन समझमें नहीं आवे तो तीसरे दिन समझेंगे। बार-बार समझो। अच्छा, तो बार-बार समझो, यह बात भी इसी श्लोकमें कही हुई है जो हमारे सामने है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

यह 'एनं' जो है न, 'एनं' जिसको कहा है,वह ऐसे होता है 'एतम्' । एक बार कहना हो तो—'य एतम् वेत्ति हन्तारम्'-'एतम्' आत्मानं हन्तारं वेत्ति'। 'एतम्' होता है। एक बार बोलना हो तो 'एतम्' है। बार-बार कहना हो तो उसको 'एनम्' बोलते हैं संस्कृतमें। 'एनम्' का अर्थ है कि इसका बार-बार वर्णन पूर्वश्लोकोंमें हुआ है। और अब भी कर रहे हैं। उस आत्माको—माने उस आत्माका वर्णन बार-बार किया जाता है, तब यह समझमें आता है।

मनुष्य आकारका प्रेमी हो गया है। यह नामरूपका प्रेमी हो गया है। एक सज्जन आये आगरेमें। देखो, नामका प्रेम बताते हैं कि कैसा होता है? नामकी बात।

एक वेदान्ती उसके पास पहुँच गये। बोले—'महाराज! आपका शुभनाम?' तो बोले—'मेरा नाम तो शीतल प्रसाद है।' बैठे थोड़ी देर, चर्चा चली कि, आत्माका न नाम है न रूप है। फिर थोड़ी देर बाद बोले कि 'महाराज आपने अपना नाम बताया था, सो मेरे ख्यालमें नहीं रहा। एक बार

फिर जरा आप बता दीजिये।' बोले—'भाई, मेरा नाम शीतल प्रसाद।' फिर चर्चा चली कि आत्मा निराकार, निर्विकार, निर्धर्मक है। उसमें नामरूप बिलकुल कल्पित है। फिर बोला—महाराज! आपका नाम फिर भूल गया।' बोले—'भाई, कह तो दिया, मेरा नाम शीतल प्रसाद। क्या रखा है नाममें?' अब महाराज थोड़ी देर चर्चा चली, आत्मा और ब्रह्म तो बिलकुल एक ही है, कोई फरक नहीं है दोनोंमें। फिर बोले—'महाराज! फिर आपका नाम भूल गया।' तो बोले—'अरे बेवकूफ! तू नाम लेके क्या करेगा? भाग जा। बार-बार नाम पूछता है?' अब लाल हो गये। आँख लाल हो गयीं, भौंहें चढ़ गयीं। तो बोले—'महाराज! एक निवेदन मैं आपसे करूँ? आपका नाम शीतलप्रसाद नहीं है, भूल गये हैं आप, गलत बोल रहे हैं। आपका नाम ज्वालाप्रसाद है। मुझे ठीक आपका नाम मालूम है। आप अपना नाम भूल गये हैं।'

हमारे दिल्लीमें एक सत्संग होता था। एक सज्जनका नाम नारायणदास था। २०-२५ वर्षसे वे सत्संगमें आते थे। उनका नाम नारायण दास। जब वेदान्तका संस्कार थोड़ा पड़ा, पञ्चदशी पढ़ी तो उन्होंने कहा कि 'यह नारायणदास नाम तो बिलकुल ठीक नहीं है।' बोले—'हमको तो ब्रह्म नाम पसंद है।' 'अच्छा, आजसे तुम्हारा नाम नारायणदास नहीं, आजसे तुम्हारा नाम ब्रह्म। नाम बदल गया, लेकिन शरीर तो वही रहा।

बोले—'ये लम्बी नाक हमको पसंद नहीं है। यह छोटी आँख हमको पसंद नहीं है। ये जो हमारे दाँत हैं, ये बहुत नन्हें-नन्हें हैं, ये भी हमको पसंद नहीं हैं। सो बात नहीं। दाँत नन्हें-नन्हें पसंद, आँख छोटी ही पसंद और नाक लम्बी चिपटी ही पसंद। आकार जो हैं, उसमें अहं करके बैठे हुए हैं। इसको तो, अपने विचारको हटानेके लिए बिलकुल राजी नहीं हैं। आकारमें से जो अहंपना है, आकारमें जो मैं-पना घुसा हुआ है, शकलसूरतमें, मैं गोरा, मैं काला, मैं लम्बा, मैं नाटा, मैं एक मनका, मैं दो मनका, और मेरी दाढ़ी कोई धूपमें सफेद नहीं हुई है, और मेरे बाल यों ही नहीं बढ़े हैं। बालका तो इतना अभिमान। दाढ़ीकी सफेदीका इतना बड़प्पन! और बोले कि भाई। हम निराकार निर्विकार ब्रह्मवस्तु! थोड़ा अभिमानको हटाओ, इसमेंसे अहंकारको थोड़ा अभिमानको हटाओ, इसमेंसे अहंकारको थोड़ा जुदा करो। देहातीत आत्माका थोड़ा चिन्तन करो, ध्यान करो। यह ब्रह्मपना जो होता है वह

सत्संगमें आकरके तो ब्रह्म रहे और घरमें और दुकानमें जा करके फिर जीव हो जाय, ऐसा जो ब्रह्मपना है, वह फसली मौसमी ब्रह्मपना है!

ग्राहकके साथ जब अपना ब्रह्मपना रहे, दुकानदारके साथ जब अपना ब्रह्म रहे, पति और पत्नीके साथ जब अपना ब्रह्मपना रहे, तब देखो वहाँ क्या असंगता? तो इसका यह मतलब नहीं कि यह ब्रह्मज्ञान है। यह ब्रह्मज्ञान नहीं है, यह अन्त:करणकी शुद्धिका मार्ग है। जिसका व्यवहार शुद्ध होता है उसका अन्त:करण शुद्ध होता है और जिसका अन्त:करण शुद्ध होता है, वह महावाक्यार्थको समझनेमें समर्थ हो जाता है।

तो भाई! यह जो आत्मदेव हैं, यह न नाम है, न रूप है। अपने बेटेका नाम किसीने ब्रह्मानन्द रख लिया तो बेटा ब्रह्मानन्द नहीं हो गया। हमारे एक निर्विकारजी हैं। उनका नाम ही निर्विकारजी है। वृन्दावनमें बहुत दिन रहे हमारे पास। उनका नाम निर्विकारजी। और महाराज, रोटी अगर गरम-गरम उन्हींकी थालीमें न पड़े तो पटक दें थाली। चित्तकी स्थिति ऐसी कि पहली रोटी तवा परसे जो आखिरी उतरी वह उनकी थालीमें पड़े। और न पड़े तो थाली पटक दें। ऐसी उनकी मनोवृत्ति। ऐसा करते थे यह मैं नहीं कह रहा हूँ। लाल-लाल! बस, पूरा विध्वंस करनेके लिए बिलकुल तैयार। और नाम निर्विकार! तो आप भी यदि अपना नाम निर्विकार रखते हो तो और उससे सन्तुष्ट हो जाते हो तो, इसका अर्थ है कि आपके हृदयमें परमात्माकी प्राप्तिकी जो जिज्ञासा होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई। जो इस संसारके दु:खसे मुमुक्षा होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई। उसके लिए जो व्याकुलता होनी चाहिए थी, वह नहीं आयी। अपना नाम ही निर्विकार रखकर सन्तुष्ट हो गये? तो कहीं देहको ही शंड-मुशंड बनाकर तृप्त हो गये। यह तो तुष्टिकरणकी भावना है, वह गलत है। बड़ी व्याकुलताके साथ अपनी खोज जारी रखनी चाहिए। जबतक अपने स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान होकरके अनात्म सत्ताका, अचिद् सत्ताका, दु:ख सत्ताका जबतक बाध नहीं हो जाता कि न तो दु:ख सत्ता है न तो अचिद् सत्ता है, तबतक अपना प्रयत्न जारी रखना चाहिए।

इसका प्रारम्भ यह है कि विवेक करके अपनेको देहसे जुदा करो।

नायं हन्ति न हन्यते।

परमात्माका असली स्वरूप क्या है? परमात्मा स्वयं न किसीके द्वारा

बाधित होता है और न किसीको बाधित करता है। यह 'बध्' धातु जो है न, वह बड़े-बड़े रूप धारण करती है। किसी-किसी धातुका रूप इतना बदल जाता है, कि उसको पहचानना मुश्किल हो जाता है।

'अद्' धातुका 'त्' प्रत्यय करने पर क्या रूप होता है? अब धातुके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता है। 'जग्धम्' हो जाता है, 'अत्तम्' नहीं, 'अदतम्' नहीं। 'जग्धम्' हो जाता है और भला भूतमें लेट-लकारमें क्या रूप हो जाता है? बोले—'जघात' हो जाता है। देखो, कहाँ 'अद्' और कहाँ 'जघात'। कहाँ 'अद्' और कहाँ 'जग्धम्'? इतना फरक पड़ जाता है। तो कभी-कभी अपने बारेमें ठीक-ठीक विचार करके, ठीक-ठीक विचार करके मनुष्यको अपनेको देहसे थोड़ा ऊपर उठाना चाहिए।

नायं हन्ति न हन्यते।

यह वध—परब्रह्म परमात्मा। किसीका वध नहीं करता। यह ऐसे हैं, जैसे मरुस्थलमें दिखायी पड़ रहा है पानी। समुद्र उमड़ता हुआ! देखनेवालेको मालूम पड़ता है कि कहीं दस हाथ पानी है, कहीं पचास हाथ पानी है, कहीं दो हाथ पानी है! वहाँ तो मरुस्थल है वह मरुस्थल! क्या तुम्हारी जबानको रोकता है कि नहीं, ऐसे मत बोलो? दो हाथ है, पचास हाथ है, दस हाथ है? वहाँ तो पानी ही नहीं है! मरुस्थल जो अधिष्ठान है, अधिष्ठानरूप जो मरुस्थल है, वह न तो स्वयं किसीमें अपना अध्यारोप करता है और न तो स्वयं किसीका अपवाद करता है। यह तो जो अज्ञानी पुरुष है, उसके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अध्यारोप और अपवाद करना पड़ता है। अध्यारोप भी हितैषितासे किया जाता है और अपवाद भी हितैषितासे किया जाता है। जब हम किसी मनुष्यको कहते हैं—'तुम देह नहीं हो, जीव हो, पापी-पुण्यात्मा हो, सुखी-दु:खी हो, स्वर्गादिमें आने-जानेवाले हो।' बोले—'यह तो तुम अध्यारोप बोल रहे हो।' कि—'हाँ, हम अध्यारोप ही बोल रहे हैं। हम समझते हैं कि अध्यारोप है। हम बोलते हैं कि—'वैकुण्ठमें जानेवाले हो, गोलोकमें जानेवाले हो, कैलाशमें जानेवाले हो,' तो बोले—'तुम अध्यारोप बोल रहे हो।' हाँ, हम अध्यारोप बोल रहे हैं। हम जानते हैं, हम इतना समझते हैं कि इसका नाम अध्यारोप है। भला!

'क्यों बोल रहे हो?' यों बोल रहे हैं कि देहमें, जो नरकमें तुम गिरे हुए हो, हड्डी-मांस-चाममें तुम अपनेको मैं करके जन्मनेवाला, मरनेवाला मान रहे

हो, दो मनका मैं माने दस सेर विष्ठा भी मैं ही। दो मनका मैं माने तीन-चार सेर पिशाब भी मैं ही। तो यह जो तुम विष्ठा-मूत्रमें अपनेको मैं किये बैठे हो, इसका अपवाद करके हम तुम्हारे अन्दर जीवत्वका अध्यारोप कर रहे हैं, तुम्हारी भलाईके लिए।

बोले—'हम देह-वेह तो छोड़ेंगे नहीं, देहमें तो मैं बनाये भी रखेंगे और अपनेको ब्रह्म भी जानेंगे। हम तुम्हारे अध्यारोपको नहीं मानेंगे। हमारा तो सोलहों आना अपवाद ही है।'

इसका फल क्या होगा? देहाभिमानकी निवृत्ति नहीं हो करके—

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
नासौ ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ॥

अष्टावक्रगीता

अष्टावक्र महामुनीश्वरने कहा कि अपनेको मुक्त भी मानना और अपनेको देही भी मानना=देहवाला भी मानना! बोले—'न तुम ज्ञानी न योगी। तुम कौन? केवलं दुःखभागसौ। केवल दुःखी। क्योंकि जितनी सुख-दुःखकी चोट तुम्हारे शरीर पर पड़ेगी, उसको तुम अपने ऊपर मान करके जिन्दगी भर रोते रहोगे। तो यदि तुम्हारा मन यही हो कि हम रोनेवाले ब्रह्म रहें। जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख हमको न मिले। जैसा कीड़ा ब्रह्म है, जैसा मकोड़ा ब्रह्म है, जैसा पञ्चदशीमें कहा—

श्वविड्वराहतुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद् भवान्।
सर्वधीदोष-संत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्॥

पञ्चदशी 4.57

अपने मनसे दोषोंका अध्यास करके आप ब्रह्मज्ञानी हैं, देवताके समान। देवताके समान रहो! यह मलमें-अपनेको विष्ठामूत्रमें मत मिलाओ। तो विष्ठामूत्रसे ऊपर उठानेके लिए। यदि बच्चा जिद्द करे कि 'ये विष्ठामूत्र जो शरीरमें लगा हुआ है, उसको नहीं धोने देंगे।' बोले—'अरे! तू राजा बेटा! तू राजा बेटा हो करके मैलमें रहेगा? कोई राजा बेटा हो करके मैलमें सोता है?' बोले—'माँ! तू तो बड़ी झूठी है।' 'क्यों?' मैं राजा बेटा कहाँ हूँ? मैं तो गरीब बेटा हूँ।

देखो! उस बच्चेने जो तर्क-वितर्क किया, वह ठीक किया? गलत

किया। माँ उसको राजा बेटा कहकर उत्साहित करना चाहती है कि उसके शरीरको धो सके। उसके शरीरमें जो मैल लगा हुआ है उसको साफकर सके, और बेटा कहता है, 'मैया, तू झूठी है।' मैं तेरे हाथ साबुन नहीं लगवाऊँगा, क्योंकि तू मुझे राजा बेटा बोल रही है। मैं राजा बेटा नहीं हूँ।'

इस प्रकारसे करुणाको अस्वीकार कर देना, यह बुद्धिमान् पुरुषका लक्षण नहीं है। जो त्रुटि होवे, जो देहाध्यास होवे, जो देहाभिमान होवे, जो नामरूपसे आसक्ति होवे, उसको छुड़ानेवाला यदि कोई क्रम-क्रमसे उसको ऊपर उठानेकी युक्ति बतावे, क्योंकि यदि क्रम-क्रमसे नहीं उठेंगे तो एकाएक ऊपर उड़ बैठनेका जो अभिमान है, उसपर भी थोड़ा चिन्तन करना पड़ेगा, थोड़ा विचार करना पड़ेगा। तो भाई मेरे! यह विचार करो कि ब्रह्म जो है, उसका स्वरूप कैसा?

आत्मा और ब्रह्मकी जहाँ एकता, वहाँ स्वरूप कैसा?

नायं हन्ति न हन्यते।

'नायं हन्ति'—नायं हन्तिका अर्थ है, कर्मं न हन्ति, फलं न हन्ति, भोगं न हन्ति। भोगायतनं शरीरमपि न हन्ति। भूतसूक्ष्ममपि न हन्ति। कहाँ तक सुनावें? अविद्यामपि न हन्ति। यह जो ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा है, अविद्याका भी निवर्तक नहीं है। अविद्यामपि न हन्ति। अविद्यया अपि न हन्यते। अविद्याका भी वह हनन नहीं करता है। और अविद्याके द्वारा हत होता भी नहीं—

नायं हन्ति न हन्यते।

न तो अविद्याने ब्रह्मका कुछ बिगाड़ा, और न तो अविद्याको नष्ट करता है। यह तो व्यावहारिक वृत्तिका काम है। महावाक्यजन्य वृत्तिका काम है, जो अविद्याको मारती है। और, यह अविद्या जो है, राग-द्वेषको उत्पन्न करके आभासको ही मारती है, ब्रह्मको नहीं मारती है।

अविद्याका दु:ख ब्रह्मको नहीं है, ब्रह्मके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति भी नहीं है। तब? तब, यह तो सारेके सारे व्यावहारिक हैं। जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव हैं, वे कैसे हैं?

नायं हन्ति न हन्यते।

वह तो स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक तत्त्वरूप धरतीके समान, जलके समान, अग्निके समान वायुके समान, आकाशके समान, प्रकृतिके समान स्वयं परिपूर्ण अपने स्वरूपमें विराजमान हैं।

यह बध्य-बाधक भाव जो है, यह तो मायिक है, आविद्यक है, प्रातिभासिक है। आत्माके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यह बात है कि भाई! दर्शनका जहाँ विषय होता है, वेदान्तका जहाँ विषय होता है, वहाँ कभी-कभी थोड़ी बात मुश्किल हो जाती है। तो उस मुश्किलको भी समझनेकी कोशिश करनी चाहिए और आगे कभी किसी-न-किसी दिन बढ़िया बात भी तुम्हारी समझमें आजाय जिससे तुम्हारी तबियत खिल जाय, वह बात भी तो किसी-न-किसी दिन आनेवाली है।

भक्तिका प्रसंग आता है तब देखो, दूसरी बात। वेदान्तका प्रसंग आता है तब दूसरी बात। धर्मका प्रसंग आता है तब दूसरी बात। तो वह तो जिस प्रसंगमें जिसकी बात होती है, दूसरेके व्याहमें दूसरेका गीत नहीं। नहीं तो सुना दें वृन्दावनबिहारीकी बात। परन्तु ब्रह्मके प्रसंगमें वृन्दावनविहारीकी बातमें निराकार-निर्विकारीकी बात नहीं। यह तो विभाग है, पूर्वापर समुद्रवत् विभाग है। 'पंचदशी' में बताया है—

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित्।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते॥
देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः।
कर्मी प्रवर्ततामाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम्॥

पञ्चदशी 7.74-75

एवं च कलहः कुत्र सम्भवेत् कर्मिणो मम।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत्॥

पञ्चदशी 7.71

जहाँ देह अन्तःकरण, प्रपञ्चकी चर्चा है, जहाँ शुद्धि-अशुद्धिकी चर्चा है, धर्म है, उपासना है, योग है, जहाँ तत्त्वनिरूपणकी चर्चा है, वहाँ सबका अपवाद है, अपने स्वरूपका बोध है। ज्ञान है। वहाँ किसी प्रकारका वैर-विरोध नहीं है। यह तो भूमिकाभेदसे इनकी व्याख्या होती है। इस प्रकार 'नायं हन्ति न हन्यते'—इस प्रसंगमें स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्वका अनुभव करो।

●

: 20 :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैवं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

ये जो 'कठोपनिषद्' के दो मन्त्र कुछ शब्द बदल करके और अर्थ वह जिस प्रकार किये गये हैं इनको 'मूलोपनिषद्' कहते हैं। माने जो पहलेसे ही प्रसिद्ध, गीताके पहले अपौरुषेय वेदवाणीके रूपमें प्रसिद्ध उपनिषद् है, यह उपनिषद् इस गीतामें भी उद्धृत किये गये हैं। इसके भी दो मन्त्र हैं और थोड़ा बदल भी दिया है।

प्राचीन पण्डित होते हैं न! हम तो नये पण्डित और कुछ पुराने भी हैं ऐसा समझो। मौके पर थोड़े नये भी बन जाते हैं और भीतर-भीतर पुराने ही रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने ये बदल क्यों दिये? दो-तीन शब्द दूसरे मन्त्रमें भी और पहले मन्त्रमें भी। प्राचीन पण्डित बताते हैं और हमसब लोग जानते हैं कि पहले वेद-उपनिषद्के पाठमें एक प्रकारके अधिकारीका निश्चय होता था। तो वहाँ यह बात बतायी जाती थी कि अर्थज्ञानमें तो कोई भेद नहीं है। इसी अर्थको कि 'आत्मा ब्रह्म है', उपनिषद्के द्वारा जानना, पुराण-इतिहासके द्वारा जानना, भाषाके ग्रन्थके द्वारा जानना—तो पूँजीमें तो कोई भेद नहीं है। उससे लाभ उठा सकते हैं। लेकिन उनकी सुरक्षाका जो बोझ है, उसका ज्यों-का-त्यों जटा-घनपाठ, उसकी जो विकृति और प्रकृति है और उसमें उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरोंके जो भेद हैं, उनसे अर्थ-निर्णयमें सहायता मिलती है, उसकी सुरक्षाका भार केवल उन लोगों पर है, जो संस्कारसंपन्न हैं।

यज्ञोपवीतादि-संस्कारसे सम्पन्न जो व्यक्ति होते, वे स्वर सहित जटा सहित वेदोंका पाठ करते थे। वे उपनिषदोंका पाठ करते थे और बाकी लोग केवल अर्थका अध्ययन करते थे। उच्चारणमें अधिकारका भेद पहले माना जाता था। गीतामें जब ये मन्त्र लिये गये उपनिषद्के तो मन्त्रकी आनुपूर्वी यदि ज्यों-की-त्यों रखी जायगी तो गीताका उच्चारण भी सब नहीं कर सकेंगे। सब कर सकें इसलिए गीतामें परिवर्तन किया।

भारतव्यपदेशेन हि आम्नायार्थं प्रदर्शितः।
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा॥
इति भारतमाख्यातं कृपया मुनिना कृतम्।

'हरे राम, हरे राम'—यह जो मन्त्र है यह 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण'—यह 'कलिसंतरण उपनिषद्'का है। जो सनातनी हैं, जिनका बोलबाला काशीमें विशेषरूपसे रहता है, उन लोगोंने तथा चैतन्य महाप्रभुने पहले 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' कर दिया और बादमें 'हरे राम, हरे राम' और बाद में 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण'। इसका उत्तर भी काशीके पण्डित यही देते हैं कि इस दृष्टिकोणसे ही चैतन्य महाप्रभुने इस मन्त्रकी आनुपूर्वीको बदल दिया है। तो 'गीता'में उसका समावेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने मन्त्रकी आनुपूर्वी ही बदली और शब्दकी आनुपूर्वी भी बदली। मन्त्रकी आनुपूर्वी क्या बदली? कि इसमें—

न जायते म्रियते वा कदाचित् पहले है और—

य येनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

यह जो मन्त्र है, यह दूसरा है। तो इन्होंने पहले '**हन्ता च मन्यते हन्तुम्**'को पहले कर दिया और '**न जायते म्रियते**'को बादमें कर दिया। और दोनोंमें दो-दो, तीन-तीन शब्द बदल भी दिये। इसलिए अब इसमें शब्द और आनुपूर्वी नहीं होने के कारण वेदत्व नहीं रहा। वेदत्व नहीं रह गया, इसमें इतिहासत्व आ गया। माने यह महाभारतका अवयव बन गया। इतिहासके एक कालमें श्रीकृष्णने अर्जुनको इसका उपदेश किया है। यदि यह वेदवाणीके रूपमें रहता तो इतिहासके एक कालमें इसका उपदेश किया गया है, यह बात सनातनधर्मी नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि यह तो कल्पसे कल्प मन्वन्तर, युगसे युग यह जो अपौरुषेय वेदवाणी है, शब्दराशि है, वह नित्य है।

शब्दको द्रव्य मानते हैं मीमांसक लोग। वेदान्ती लोग तो समझो,

आकाशको द्रव्य मानते हैं और शब्दको गुण मानते हैं। नैयायिक लोग और मीमांसक लोग तो शब्दको ही द्रव्य मानते हैं। ये जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य नित्य हैं, शब्दरूप द्रव्य भी नित्य है और उनमें जितनी आनुपूर्वी नित्य हैं, वह वेदवाणी अपौरुषेय वेदवाणी है, और जिनकी आनुपूर्वी नित्य नहीं है, उसको कहते हैं 'आर्ष' अथवा 'लौकिक पुरुषके द्वारा बोली हुई वाणी।' उपनिषद्में और गीतामें जो भेद है, यह बात बिलकुल स्पष्ट है।

अब यह देखो—

हन्ता चेन् मन्यते हन्तुम्। कठ. 1.2.19

वैदिक व्याकरणकी रीति से बोला हुआ वाक्य है और—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

यह लौकिक व्याकरणकी रीतिसे बोला हुआ वाक्य है। इसलिए महाभारतमें यह लौकिक व्याकरणकी रीतिसे बोला हुआ वाक्य ही होना चाहिए। इसलिए भी श्रीकृष्ण भगवान्के द्वारा किया हुआ यह परिवर्तन अभीष्ट है।

अच्छा, कल एक सज्जन कह रहे थे, कि पहले हमको एक-एक शब्दका अर्थ बताना और उसके बाद उसका भाव बताना। तो वैसे तो जब कोई भाग्यवान् भी मेरे पास पढ़नेके लिए आता है, तो कहता है कि हमको एक-एक शब्दका अर्थ बताओ। तो हम उसको कहते हैं कि पहले किसी पाठशालामें जाओ और भागवत पढ़ लो। उसके बाद आकर तकलीफ देना, क्योंकि हम एक-एक शब्दका अलग-अलग अर्थ बतानेमें अपना दिमाग खर्च करना नहीं चाहते हैं। हम तो उसका जो भाव है, अभिप्राय है उसीके सोचनेमें अपनी बुद्धि लगाते हैं, जैसे गंगा किनारे बैठकर बोलते न, तो यों कहते कि गीता तो हमारी ही वाणी है, ऐसे। हमको इसमें कोई संकोच नहीं होता। इसके एक-एक अक्षरके एक-एक शब्दके, एक-एक भावके हम उतने ही जिम्मेवार हैं जितने जिम्मेवार श्रीकृष्ण हैं। हमको उसमें कोई बात, कोई शब्द गलत मालूम नहीं पड़ता है। यह हमारी वाणी, हमारा भाव, इसमें हमारा एकात्म हो गया इतना ही नहीं; यों भी कह देते—गीताके वक्ता श्रीकृष्णका नाम तुम लेते हो, वे हमारे हृदयमें कब अवतार लेते हैं, और कब लीला करते हैं, लीला कब संवरण करते हैं, कब जागते हैं और कब सोते हैं, कब बोलते हैं और कब नहीं बोलते हैं, उनका निवासस्थान हमारी आत्मा है, भला!

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। 15.6

उन्होंने अपने जिस परम धामकी चर्चा की है न, वह तो धाममें रहनेवाले धाममें लीला करते हैं, धाममें रहते हैं, धाममें उनका जागरण होता है। वह धाम कौन-सा है?

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अपने स्वरूपका नाम ही वह धाम है। तो भाई आओ, ऐसे ही सही।

यः=जो, एनं=इस आत्माको, हन्ता=मारनेवाला, वेत्ति=जानता है, यश्च=जो पुरुष। एनं आत्मानं हतं मन्यते=इस आत्माको मारा जानेवाला मानता है। उभौ=ये, तौ=वे-वे दोनों, आत्मानं न विजानीतः=अपने आपको नहीं जानते हैं। अयं न हन्ति न हन्यते=अयं=यह आत्मा अपना आपा न हन्ति=न किसीको मारता है। हन्ति=मारता है। न हन्यते=न मारा जाता है। तो यहाँ यह जो श्लोक है,

यः एनं वेत्ति हन्तारम्।

यह क्रियाका, कर्मका निषेध करनेके लिए है। और अब जो दूसरा श्लोक प्रारम्भ है, यह विक्रियाका निषेध करनेके लिए है। उसको विकार कहते हैं, उसको विक्रिया कहते हैं। यह आत्मा जो है, वह न क्रियाका कर्ता है और न क्रियाके फलका भोक्ता है। इस लिए कर्मके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं; इसलिए फलके साथ भी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं। यह कर्मसम्बन्ध-निरपेक्ष है।

अब देखो, अगर देहको मैं मानकर अस्वीकार करोगे तो यह बात कभी घटित नहीं होगी। तुम न अकेले आँख हो, न अकेले पाँव हो। आँखसे देखते हो, पाँवसे चलते हो। तो पाँवसे जुदा आँखवाले हो और आँखसे जुदा पाँववाले हो। अर्थात् कर्म और वृत्तिज्ञान इन दोनोंसे तुम न्यारे हो। क्रिया-विक्रिया जितनी होती है, वह कर्म और वृत्तिज्ञानसे तादात्म्य करके ही क्रिया होती है। अपने आप होनेवाली जो क्रिया-विक्रिया है, उसके साथ भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए अगला मन्त्र है।

यह विक्रिया क्या है? विक्रिया=बिगड़ना। विकार=बिगाड़। इस शरीरमें बनाव-बिगाड़ अपने आप होते रहते हैं। जो बनता और बिगड़ता है उसका नाम विक्रिया है। आत्मा अविक्रिय है, अर्थात् उसमें न तो बनाव है और न तो बिगाड़

है। बनाव-बिगाड़का नैरुक्तलोग छः विभाग करते है—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। ये छः विभाग निरुक्तके जाननेवाले विक्रिया बताते हैं। एक वस्तु पहले अंकुरित होती है। पूर्वावस्थाका परित्याग करके उत्तरावस्थामें आती है। अपनी पहली हालत छोड़कर दूसरी हालतमें आती है। जब आती है तब हैं, इस तरहसे मालूम पड़ता है। फिर वह बढ़ने लगती है, फिर वह बदलने लगती है, फिर वह घटने लगती है और अन्तमें नष्ट हो जाती है। इस दुनियामें जितनी भी चीजें दिखायी पड़ रही हैं, उनमें ये छः विक्रियाएँ होती हैं। इनको विक्रिया बोलते हैं।

अपनी पहली हालत छोड़कर पैदा होना और लोगोंके द्वारा 'है'के रूपमें अनुभव होना और उसका बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना—ये छः बातें प्रत्येक वस्तुमें देखनेमें आती हैं। पर यह जो आत्मदेव हैं—

जाग्रत स्वपन सुषुपति तुरिया।
ये सब आत्मदेवकी पुरिया॥

ये सब आत्मदेव-आतमदेवकी पुरी हैं, पुरी। पुरी=रहने की जगह। खानेवाली पूरी नहीं। रहनेवाली पुरी। जाग्रतमें मैं, स्वप्नमें मैं, सुषुप्तिमें मैं, समाधिमें मैं और ये आपसमें अदलबदल जायँ तो मैं, और बिलकुल न रहे तो मैं। यह जो आत्मदेव हैं, वे कभी विक्रियाको प्राप्त नहीं होते। तो '**अयं आत्मा कदाचित् न जायते न वा म्रियते।**' यह जो आत्मदेव हैं, वे कभी पैदा नहीं होते और मरते भी नहीं।

अयम् आत्मा भूत्वा पुनः भूयो भविता न। अभविता च न।

शङ्कराचार्य भगवान्‌ने—

भूत्वा भविता वा न भूयः।

इसमें भूत्वा और भविताके बीचमें एक अकार भी साथ माना है।

भूत्वाऽभविता वा न भूयः।

भूत्वा=होकर। भविता=होनेवाला। भूयः=पुनः फिरसे। यह अजन्मा है=इसका जन्म नहीं होता। नित्य है=इसकी मृत्यु नहीं होती। यह शाश्वत है=हमेशा एक सरीखा है और पुराण है=सम्पूर्ण शरीरोंमें व्याप्त होकर उनको जीवित रखता है। न हन्यते हन्यमाने शरीरे=शरीरके हन्यमान होने पर भी=इसपर चाहे जितनी चोट पड़े, कितना अदला-बदली होवे, कैसे भी मरे-

जरे-तरे। मरे चाहे जरे चाहे तरे। यह आत्मा जो इसमें बैठा हुआ है, यह न मरता है न जरता है न तरता है। ऐसा अत्मदेव इस शरीरके भीतर बैठा हुआ है। अब—

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अयम् आत्मा कदाचित् न जायते। कदाचित् न म्रियते।
कदाचित् न भूत्वा न भविता।
कदाचित् भूत्वा अभविता न, कदाचित् न भूत्वा भविता न।

ये सब बात समझने लायक है। जैसे आमका जन्म होता है। आप जानते हैं न, जब हेमन्त ऋतु अथवा शिशिर ऋतु आती है, तब आमके वृक्षमेंसे बौर निकलती है। उसमें टिकोरे लगते हैं। वह बढ़ता है, फिर उसमें परिपाक प्रारम्भ होता है। अन्तमें पककर वृक्षको छोड़कर गिर पड़ता है और फिर धरतीमें वह सड़ जाता है। फिर बीज जो उसमें रहता है, उसमेंसे आमका वृक्ष निकलता है। उसमें फिर पत्ते लगते हैं, फिर बौर लगते हैं, फिर फल निकलते हैं। आमके फलके साथ ये सारी बातें लगी हुई हैं।

अब देखो कि उसमें है क्या? मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमान। ये पाँच चीजें उसमें हैं। बोले—'ये पाँच चीजें तो आममें ही नहीं। इमलीमें भी हैं और आँवलेमें भी हैं, नींबूमें भी हैं, आदमीके शरीरमें भी हैं। पशुके शरीरमें भी हैं और पक्षीके शरीरमें भी हैं। ये पंचभूत जो हैं ये तो उपादानकारण भूत सबमें हैं। इसमें आमकी विशेषता क्या रही? तो सत्तारूपसे, सामान्यरूपसे रूप सबमें है। पर आमका जो संस्कार है न, बीजसंस्कार वह उसकी विशेषता है। आमका जन्म पंचभूतसे सिर्फ नहीं हो जाता। नहीं तो पंचभूतमें एक आम, एक इमली, एक नींबू, एक आँवला कैसे होता? उस फलका जो अनादिसंस्कार है, वह उसमें प्रवाहित होता रहता है। वह जिस पंचभूतमें जुड़ता है, उसमें आम पैदा होता है। वह संस्कार जिसमें जुड़ता है उसमें इमली पैदा होती है। वह संस्कर जिसमें जुड़ता है, उसमें नींबू पैदा होता है। इसी प्रकार पशुके संस्कार, पक्षीके संस्कार, संस्कार होते हैं भाई।

एक ही पंचभूतमें संस्कारभेद कहाँसे? बोले—' अभी संस्कारकी बातको छोड़ दो। अपवाद कर दो इसका। इसको उचंत खातेमें लिख दो, बट्टेखातेमें

डालो अभी संस्कारको, कि आम और इमलीमें भेद कैसे होता है?' वह तो जब पुनर्जन्मका विचार करेंगे तहके लिए,

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। 2.22

एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरका ग्रहण कैसे होता है? संस्कारका प्रसंग तो आवेगा। अभी तत्त्वका प्रसंग लो। अब प्रश्न यह हो गया कि ये पंचभूत कैसे हुआ? एक ही सत्तामें में पञ्चत्व कहाँसे आया? पञ्चत्व—एक प्रकृति अथवा एक ढंगके परमाणु अथवा समभोग, एक ही ईश्वर, एक ही माया, एक ही ब्रह्ममें यह पञ्चत्व कहाँसे आ गया? ढूँढोगे तो इसके मूलमें त्रित्व मिलेगा। और पञ्चीकरणके मूलमें त्रिवृतकरण मिलेगा।

त्रिवृतकरणके तीन भेद होते हैं। द्रव्य, क्रिया और ज्ञान, और ये कहाँसे होते हैं? सांख्यवादी कहते हैं—सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके अनुसार होते हैं। वेदान्तवादियोंको त्रिगुण बोलनेकी कोई जरूरत नहीं। वे कहते हैं—ये सत्-चित्-आनन्दके प्रधान भाव-गौणभावसे होते हैं। तीन तो हैं सबके सब।

बोले इस एक ही ब्रह्ममें सत्पना-चित्पना-आनन्दपना कहाँसे आया? बोले—भाई, विधि ओरसे चलते हैं और संम्पूर्ण सृष्टिका कारणत्व उसमें आरोपित करते हैं तो जैसे समझनेके लिए कारणत्वका आरोप करते हैं, वैसे समझनेके लिए त्रित्वका भी आरोप कर लो।

बोले—यह त्रित्व भी आया कहाँसे? एक ब्रह्ममें तीनपना कहाँसे आया? तो मायासे आया। अच्छा, तो ठीक है। ब्रह्ममें एक ऐसी जादूकी शक्ति है जिससे वह एक होनेपर भी अपनेको त्रिधा दिखा देता है—

स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति।

श्रुति सब रूपसे बोलती है—त्रिधा।

तो जरूर सगुण ब्रह्म होगा? कौन कहता है कि नहीं है? सृष्टिके कारणरूपसे वाच्यार्य ही है न? बीज-विशिष्ट ब्रह्म है। बीजविशिष्ट ब्रह्म है, इसलिए मायाविशिष्ट ब्रह्म ही कारण है।

अच्छा, तो तुम ब्रह्मको मायाविशिष्ट क्यों मानते हो? भाई! हमारे साथ अविद्या लगी हुई है। हमारी अविद्या मिटी कि नहीं मिटी? बोले—अभी तो नहीं मिटी है। तब इसको मिटानेकी कोशिश करो जब आत्मा और ब्रह्मका भिन्न-भिन्न होना—आत्मा और ब्रह्म भिन्न-भिन्न है ऐसी जो अविद्या, इस अविद्याको

मिटानेवाली विद्यावृत्तिका उदय हो जाता है तब अविद्या मिट जाती है। जब अविद्या नष्ट हो जाती है, तो ब्रह्म और आत्माकी एकतामें वह जो कल्पित माया है, उसका कहीं पता ही नहीं चलता। तब सत्-चित्-आनन्द तीन भी नहीं है। और सच पूछो तो ब्रह्म एक भी नहीं है। क्योंकि जो एकल है वह सांख्य है। क्योंकि 'एक' कहनेसे तो सृष्टिका कहीं पता ही नहीं चलता है। तब सत्-चित्-आनन्द तीन भी नहीं हैं।

एकमेवाद्वितीयम्।

'एक' कहनेके बाद भी श्रुति 'अद्वितीय' बोलती है। अद्वितीय बोलनेका अर्थ क्या हुआ? एक+एक=दो हो जाता है। एकका आधा भी होता है और एक+दो को एक कर दें तो तीन हो गये। तीनको तीन कर दें तो नव हो गया। एक को तीन कर दें—एक+एक+एक=तीन और तीन+तीन+तीन=नव। बहुत्वका बहुत्व। एकका बहुत्व तीन और तीनका बहुत्व नव। तो इस तरहसे तो कहीं संख्याका पार नहीं होगा। संख्या तो गुण है, गुण। संख्या तत्त्व नहीं है। तत्त्व जो होता है वह संख्याके समान गुण नहीं होता है। वह तो अद्वितीय होता है। न आगे कोई न पीछे कोई, न बगलमें कोई। न नीचे न ऊपर। अद्वितीय वस्तु जो है वह बड़ी विलक्षण होती है।

अपने आत्माको अद्वितीय ब्रह्म जाने बिना, देश-काल-वस्तु और स्वगत भेदसे रहित जाने बिना, ब्रह्मको जाने बिना, अविद्या और मायाकी निवृत्ति नहीं होती। और, जबतक अविद्या और मायाकी निवृत्ति नहीं होती है, तबतक मायाके कारण एक सच्चिदानन्दघन—तीन और तीन और तीनमें, फिर पाँच और पाँच और पाँचमें, फिर असंख्य। यह मायामयीका खेल है।

एक अद्वितीयको न पहचाननेके कारण ही वह अनेक रूपमें दिखायी देती है। एक नट हजार नट मालूम पड़े, काहेके कारण? मायाके कारण। नटमें माया है। एक कुत्ता शीश महलमें गया और वह अपनेको हजार देख रहा है। देख-देखकरके भोंक रहा है—

भ्रमि-भ्रमि भूँकि मर्‌यो।
आपुनको आपुन हि विसर्‌यो।

कुत्तेके लिए तो होता होगा सो होता होगा; हम बच्चे थे भाई बच्चे! आगरेके शीशमहलमें चले गये। आगरेमें जो किला है न, किलेमें एक

शीशमहल है। शीशमहलमें उसने क्या किया, उस दिखानेवालेने? हमारे जानेके पहले ही एक दीपक जलाकर रख दिया। अब उसमें हम देखें, तो हजारों दीपक जल रहे हैं। राम-राम! ये हजारों दीपक जल रहे हैं? बुझा दिया तो एक भी नहीं। एक दीपक बुझ गया तो हजारोंमें-से एक भी नहीं। खुद ही हजार होकर दीख रहे उसमें। तो यह शीशेकी उपाधिसे! ठीक, इसीको उपाधि बोलते हैं। शीशेकी उपाधिसे एक मनुष्य सहस्त्र मनुष्यके रूपमें भास रहा है। मायाकी उपाधिसे, अब इस अन्तःकरणकी उपाधिसे एक आत्मा ही अनेक रूपसे भास रहा है।

अब देखो, क्रिया और विक्रिया पर थोड़ी वृत्ति डालो। यह विक्रिया क्या हो रही है? आमके बीजमें विक्रिया हो रही है—जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। पंचभूतमें विक्रिया हो रही है और कारणमें, प्रकृतिमें विक्रिया हो रही है। लेकिन यह जो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व आत्मा है, उसमें किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं हो रही है। यह तो साक्षी है, यह चेतन है।

एक बारकी बात है। हरद्वारके कुम्भमें हम लोग घूम रहे थे। वहाँ एक मिल गये ऐसे सज्जन जो यह तो मानते थे कि संसारके रूपमें भगवान् ही बने हुए हैं। यह तो मानते थे, हम भी वही, तुम भी वही, यह भी वही, वह भी वही। भावसे आँख बन्द करके ब्रह्मको देखनेवाले जो लोग होते हैं, उनका आँख बन्द करने पर ब्रह्म दिखायी पड़ता है और खुली आँखसे ब्रह्म नहीं दिखायी पड़ता। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष होते हैं उनको खुली आँखसे भी ब्रह्म ही है और बन्द आँखसे भी ब्रह्म ही है। आँखके खुलने और बन्द होनेका ब्रह्म पर कोई असर नहीं पड़ता है। वह समाधिमें भी ब्रह्म हैं और चलते-फिरते-बोलते भी ब्रह्म है, भला!

यह देखो, मनमें दुःखाकार वृत्ति आती है कि नहीं? बोले—भाई! जबतक जिज्ञासु है, उसके चित्तमें वैराग्य नहीं होगा, दुःखाकारवृत्ति आजायगी, तो उसका ब्रह्मचिन्तन छूट जायगा। यदि उसका ब्रह्मचिन्तन छूट गया तो? उसका ब्रह्म ही छूट गया। यदि उसका ब्रह्मचिन्तन छूट जायगा तो जिज्ञासुका सत्यानाश हुआ। उसका तो ब्रह्म ही छूट गया, उसका तो परमात्मा ही छूट गया। जो ब्रह्मज्ञ हैं न, ब्रह्मज्ञ! पञ्चदशीमें आप लोगोंने पढ़ा होगा वह श्लोक—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥

चाहे चाण्डालके घरमें शरीर छोड़े और चाहे काशीमें छोड़े, चाहे हाय-हाय करता हुआ धरतीमें लोट रहा हो, चाहे स्मृतिका नाश हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह स्मृति नष्ट हो गयी हो। जहाँ ज्ञानमें स्मृतिकी अपेक्षा होती है, वह सच्चा ज्ञान नहीं है। वह सच्चा अनुभव नहीं है। स्मृतिकी जरूरत है सामग्री तैयार करके प्रज्वलित महावाक्यजन्य वृत्तिज्ञानरूप महान् अग्निकी, उस अग्निके द्वारा अविद्याको भस्म करनेके लिए तो स्मृतिकी जरूरत है। परन्तु अविद्याके भस्म हो जानेके बाद प्रयोजन ही नहीं रहा। रोटी बनानेके लिए आगकी जरूरत है चूल्हेकी जरूरत है, लकड़ीकी जरूरत है और रोटी बन गयी, पका लिया, खा लिया, मस्त हो गये। अब तो बुझाओ आग जल्दीसे, नहीं तो दूसरी जगह आग लगनेका डर है। जैसे वृत्तिज्ञान भी नष्ट है, वह अपने आप ही बुझ जाता है। अविद्यानाशके साथ ही बुझ जाता है। इसलिए वृत्तिरूपसे ब्रह्मज्ञान रखनेकी जरूरत केवल अज्ञको होती है, मुमुक्षुको होती है, जिज्ञासुको होती है। ब्रह्मवेत्ताको वृत्तिरूपसे ब्रह्मज्ञान बनाये रखनेकी जरूरत नहीं होती। इसलिए जैसे मच्छर-वच्छरके अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारकी वृत्तियाँ आती रहती हैं और जाती रहती हैं, वैसे यदि दूसरोंको देखनेमें अपने अन्दर भी आती हैं और जाती हैं तो भ्रम है। जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह एक अन्तःकरणवाला नहीं है। वह एक अन्तःकरणवाला जिम्मेदार नहीं है। एक अन्तःकरणके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उसमें क्या वृत्ति उदय हुई और उस वृत्तिवाला मैं, यह जो भ्रान्त अभिमान है, यह भ्रान्त अभिमान नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माको कभी नहीं होता।

सृष्टि बनती है और प्रलय होता है और वह अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों विराजमान! नित्य विराजमान है। तो यह जो विक्रिया हो रही है, देखनेमें आ रही है, वह आत्मामें नहीं है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

तो बात यह है कि जो लोग केवल आँख बन्द करके ही ब्रह्मानुभूति करते हैं, या वृत्तिको निःसंकल्प करके ही ब्रह्मानुभूति करते हैं या 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहे तभी ब्रह्मानुभूति करते हैं, वे वृत्तिमान हैं, वे अन्तःकरणी हैं और करणवान् होनेसे—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।

करणहीन जो ब्रह्म है, अन्तःकरणरहित जो ब्रह्म है, कार्यरहित जो ब्रह्म है, उसके साथ उन्हें अभी एकत्वका बोध नहीं है। वे तो अन्तःकरणी हैं। करणी ब्रह्म हैं, ब्रह्म तो—

तं अकरणः स्वराट्।

अकरण है, इसलिए करणकी अवस्थाको अपने अन्दर आरोपित करना और करणकी अवस्थासे अपनेको प्रभावित मानना, यह ब्रह्मज्ञानकी पहचान नहीं है। यह ब्रह्मज्ञान नहीं है। वह तो—

तनुं त्यजत वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा किं मुखं भुवि नष्टस्मृतिरपि॥ पञ्चदशी

क्योंकि प्रयोजन वृत्तिका है ही नहीं। जो वृत्तिका प्रयोजन था, वह सम्पूर्ण हो चुका है। तो भाई! यह मानना कि यह भी ब्रह्म, यह भी ब्रह्म! माने क्या ब्रह्म कुछ बना हुआ है? ब्रह्म सब कुछ बन गया है? मैंने उनसे पूछा, उस सज्जनसे, 'भाई! तब तो चेतन परिणामी हुआ न! जो सब कुछ बना हुआ है?' परिणामी=बदलनेवाला परिणाम=एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना। शताधिक अन्यया-भाव अथवा समानसत्ताका होना। अब देखो, चेतन यदि परिणामी होवे तो उस परिणामको देखनेवाला कौन? उसका साक्षी कौन? कौन जानता है कि परिणाम हो रहा है? और जो परिणाम होनेका साक्षी है, वह परिणामसे जुदा है। इसलिए चेतनसे परिणामरूप सृष्टिमें विकार-वृकार ये सब नहीं होते हैं, बल्कि विवर्तरूप ही होते हैं। ये विरुद्धरूप ही वर्तन विचारे विकाररूप हैं। तो—

न जायते म्रियते वा कदाचित्।

ब्रह्ममें न माया पैदा हुई न अविद्या। न माया-अविद्यामें कोई त्रिगुण पैदा हुआ, न अहंकार। न त्रिगुण-अहंकारमें द्रव्य-ज्ञान-क्रिया उत्पन्न हुए। और, न ये व्यक्ति, अन्तःकरण और जन्म-मरण। व्यक्तिका अन्तःकरण दिखायी पड़ता है, इसका भी आत्मासे, ब्रह्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये विकार तो अपने आप ही बिना हुए ही दिखायी पड़ रहे हैं। तो—

न जायते म्रियते वा कदाचित्।

मस्त रहो। माने, फिकर इसकी छोड़ो। 'कदाचित् न जायते'—पहले कभी पैदा नहीं हुआ है। अब पैदा नहीं होगा। कदाचित्का अर्थ है 'कभी'—

काल सम्बन्धसे उत्पत्ति नहीं है और, न म्रियते=कभी मरता भी नहीं है। आत्मदेव कभी नहीं मरता है। घड़ा फूटता है, मिट्टी नहीं। पंचभूत नष्ट होते हैं, अहंकार नहीं। अहंकार नष्ट होता है, प्रकृति नहीं। प्रकृति भी ज्ञानसे बाधित हो जाती है, आत्मा नहीं, आत्मा साक्षात् ब्रह्म है। उसमें न जन्म है और न मरण है। यह जन्मना-विक्रिया है, बिना हुए होता है।

इसलिए जो लोग सोचते हैं कि हम सृष्टिका जन्मना-मरना ही बन्द कर देंगे, वे सृष्टिके स्वभावको जानते ही नहीं हैं। जो दवा बनायी जायगी कि आदमी मरे नहीं, जिस दवाके खानेसे आदमी नहीं मरेगा, जिस इंजेक्शनके लगानेसे आजके वैज्ञानिक ऐसा उपाय कर रहे हैं कि अभी तो मनुष्य सौ वर्ष जिन्दा रहता है, एक ऐसा इंजेक्शन बनावेंगे कि जिससे मनुष्य चार सौ वर्ष जिन्दा रहेगा। फिर ऐसा निकालेंगे कि हजार वर्ष जिन्दा रहेगा। और, फिर ऐसा निकालेंगे कि मनुष्य कभी मरे ही नहीं। मुर्देमें इंजेक्शन लगावेंगे और वह जी जायेगा। आत्मवटी मुँहमें डालेंगे और वह जिन्दा हो जायेगा। आत्मरसका इंजेक्शन लगा देंगे—ऐसा ये वैज्ञानिक लोग सोचते हैं।

लेकिन, ये जो आत्मरस और आत्मवटी बनेगी वह भी सौ वर्ष रखी रहने पर, हजार वर्ष रखी रहने पर बिगड़ जायगी। उसकी शक्ति नष्ट हो जायगी। क्योंकि ये विकार जो हैं, ये संसारकी वस्तुओंमें स्वाभाविक हैं।

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

जो चीज स्वाभाविक हो रही है—उस दिन क्यों नहीं रोये जिस दिन तुम्हारे मूँछ-दाढ़ी निकली ? रोना चाहिए था न ? क्योंकि एक झगड़ा बढ़ गया। उस्तरा लेकर बैठो, रोज-रोज एक घंटा उस्तरा लेकर बैठो। घंटे भरमें तो हजारों रुपये कमा लेते हो ! मुम्बईके लोग तो घंटे भरमें हजारों रुपये इधर-उधर कर लेते हैं। अब उनको जो बाथरूममें बैठना पड़ता है दाढ़ी-मूँछ साफ करनेके लिए। यह जिस दिन पैदा हुई उस दिन रोना चाहिए था! स्त्रियाँ धनी हैं कि उनके दाढ़ी-मूँछ नहीं हैं। ईश्वरने उनको कैसा बढ़िया बनाया कि उनको यह विकार ही नहीं है। ये विकार हैं, उनको पैदा नहीं किया जाता है शरीरमें। बचपन-जवानी पैदा नहीं किया जाता है शरीरमें। ये मनुष्य पैदा नहीं करता है ये होते हैं। इसका नाम विकार है। जैसे दाढ़ीके बाल उगते हैं, तो बूढ़े होने पर झड़ जाते हैं अपने आप ही। देखो न हमारे सामने तो ऐसा भोजन आता है कभी-कभी कि उसमें

चार-चार बाल निकल आते हैं। तो अपने-आप ही झड़ते हैं, कोई तोड़कर थोड़े डालते हैं? अपने आप ही झड़ जाते हैं।

एक बार यहाँ बाल निकलता था, तो हम लोग दिखाते थे कि देखो, यह बाल निकला। बसन्त बहन थीं यहाँ। वह कहती थीं कि काला है कि सफेद है? माने, उसका मतलब था कि 'काला है तो मेरा नहीं है।' इसलिए फिर खोज होती थी कि बाल जो निकला वह सफेद कि काला? अब वह जानबूझकरके कोई उसमें थोड़े ही डालता है? अपने-आप ही टूटके गिरता है। बाल कोई अपना सफेद करता है? काला बनानेके लिए दवा लगाते हैं, तेल लगाते हैं, पर सफेद हो जाते हैं। इसीका नाम विक्रिया है। तो ये जन्म-मरण क्या हैं? इसीसे देखो—

अभूत्वा भविता जो पहले न दिखता हो, न रहा हो और हो जाय—अभूत्वा भविता जायते और भूत्वा। अभविता=म्रियते—जो पैदा हो करके फिर नहीं रहता है, उसको बोलते हैं 'म्रियते'। भूत्वा-अभविता और म्रियते-जायते।

शङ्कराचार्य भगवान्ने इसका अर्थ बहुत खुलासा करके बताया है। 'भूयः'का क्या अर्थ है? एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें आना। दूसरी अवस्थाको छोड़कर फिर तीसरी अवस्थामें जाना यह भूयो भूयः। जो 'भूत्वा अभविता' है और अभूत्वा भविता है, इसीका नाम जन्म-मरण है। अब कदाचित्को इसके साथ और जोड़ दो। कदाचित्का अर्थ है, केवल इसी माँ-बापसे नहीं, ब्रह्मासे भी पैदा नहीं हुआ और ब्रह्माके मरने पर भी नहीं मरेगा—कदाचित्। 'अभूत्वा' माने ब्रह्माकी सृष्टिके पहले नहीं था और बादमें हो गया या बादमें प्रलय होगा तब अभूत्वा-भविता। प्रलयकालमें अभूत्वा हो जायगा। प्रलयकालमें नहीं रहेगा और सृष्टिके पूर्व नहीं था और सृष्टिके प्रारम्भमें पैदा हो गया। ये दोनों बात आत्माके साथ नहीं हैं। न तो इस शरीरके साथ पैदा होता और मरता है और न तो सृष्टिके प्रारम्भके साथ पैदा होता और मरता है, यह इसका अर्थ है। कदाचित्का अर्थ यह हो गया।

आप केवल गीता बाँच जाओगे, हिन्दी बाँच जाओगे तो बात समझमें नहीं आयेगी। इसका भी, ज्ञानका भी एक सम्प्रदाय होता है।

ज्ञानका एक सम्प्रदाय होता है। वह एक चेतन पुरुषमें-से निकलता है और दूसरे चेतन पुरुषके हृदयमें जाकरके बैठता है। यह चाहे कितने अखबार

छापो, कितनी किताबें निकालो, उससे ज्ञानका संचार नहीं होगा। किताब वही बात तुम्हें बता सकेगी जो तुम पहलेसे जानते हो। और चेतन पुरुष वह बात तुमको बतावेगा जो तुम पहलेसे नहीं जानते हो। क्योंकि वह तुम्हारे अज्ञानकी पर्तोंको पहचानता है। वह क्रम-क्रमसे उसको दूर करेगा। अब देखो, जोड़ो—

'अजो—न जायते। नित्यः—न म्रियते। शाश्वतः। भूत्वा-अभविता। अजः न जायते इति अजः। यह व्युत्पत्ति हो गयी। 'अस्मात् पूर्वं एव अजः।' क्योंकि वह पूर्वसे ही अज है। और अज भी दो तरहका होता है। जो अजाके साथ विवाह करता है सो अज एक जो अजाके साथ विवाह नहीं करता है सो अज दो। अज=बकरा होता है संस्कृतमें।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्
बह्वीः प्रजाः सृजमाणां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

एक बकरी है बकरी। वह कैसी है? तीन रंग। एक बकरी और रंग तीन—लोहित शुक्लकृष्णाम्। लाल भी सफेद भी और काली भी। बकरी कई रंगकी होती है न? रंग-बिरंगी बकरी होती है। तो बकरीके तीन रंग हैं। सत्त्व-रज-तम ये लोहित-शुक्ल-कृष्ण तीन रंग हैं। और—

बह्वीः प्रजाः सृजमाणां।

बच्चे बहुत देती है। जो बहुत बच्चे दे सो बकरी, मानुषी नहीं। पलटनकी पलटन। एकके घरमें गया तो बोले—'यह अट्ठारहवें नम्बरका बच्चा पैदा हुआ है। एक सज्जन हमारे साथ तीर्थयात्रामें गये थे रेलयात्राकी ट्रेनमें जो एक बच्चा पैदा हुआ वह उनके घरमें अट्ठारहवें नम्बरका था। ऐसे बताते हैं कि यह दसवें नम्बरकी लड़की है। यह बारहवें नम्बरका बेटा है। जब उनको परिचय देना होता है न? 'बह्वीः प्रजाः सृजमाणाम्।' बहुत संतान, बहुत प्रजाकी सृष्टि करनेवाली यह बकरी।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते।

एकने तो इस बकरीको मेलजोल करके अपनेमें मिला दिया है। और—

जहाति एनां भुक्तभोगां अजोऽन्यः।

एक बकरा ऐसा है जो उसके साथ मेलजोल नहीं रखता है, इस त्रिरंगी

प्रकृति बकरीके साथ। जो मिला रहता है, बच्चे पर बच्चेकी सृष्टि करता रहता है। यह बनाया, वह बिगाड़ा, यह किया—वह किया और जो इससे अलग रहता है वह मुक्त पुरुष है। बद्ध पुरुष और मुक्त पुरुषका यही लक्षण है।

अज:—यह कौन-सा अज है? 'न जायते'—'अजायां न जायते' इति। जो अजाके साथ सम्बन्ध करके उसमें सन्तानके रूपसे पैदा नहीं होता, वह ऐसा अजं है। यह मुक्त अज है। 'न जायते इति।' पत्नीको जाया बोलते हैं न? 'जायते यस्याम्' इति। जो पुरुष अपनी पत्नीके द्वारा जात बनता है, जातक बनता है, बच्चा बनता है, इसलिए पत्नीको जाया बोलते हैं।

अज कौन है? जो अजाके साथ, बकरीके साथ, प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ करके और उसके जो कार्य हैं, उस कार्यके साथ अपने आपको नहीं मिलाता, वह बच्चेवाला नहीं बनता। जो अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपमें स्थित है, वह अज है। 'न जायते' और 'न म्रियते।' उसकी मृत्यु भी नहीं होती।

'भूत्वा न भविता'की जगह क्या है? 'अयं शाश्वत:'। हमेशा एक रहता है और 'पुराण:' अतएव 'शरीरे हन्यमाने च न हन्यते।' वह पुराण है। वह सम्पूर्ण पुरोंको-शरीरोंको उज्जीवित करनेवाला पुराण है। पुराणि=शरीराणि—स्थूल सूक्ष्म कारण 'यस्यानि पुराणि उज्जीवयति।' जो इन तीनों पुरोंको, जो 'आतमदेवकी पुरियाँ हैं—'नव द्वारे पुरे'—'नैव कुर्वन् न कारयन्'। ये नव दरवाजेवाले जो पुर हैं, एकके बाद एक आवें और जायँ और वह कैसा? 'पुराणि उज्जीवयति प्रकाशयति' 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते।'

यह शरीरके हन्यमान होने पर—इसमें कहते हैं कि यह परमात्माका वर्णन है। उनसे यह पूछो कि शरीरकी मृत्यु परमात्मामें प्राप्त ही कहाँ है?

स पर्यगच्छक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धं अपापविद्धम्।

शरीर है ही कहाँ? शरीर है नहीं, तो हन्यमानताकी प्राप्ति नहीं है और हन्यमानताकी प्राप्ति नहीं है तो इस श्लोकमें ईश्वरका वर्णन नहीं। जिसके शरीरकी, भीष्म-द्रोण-अर्जुनके शरीरका अहन्तृत्व है, यह मरनेवाला और यह मारनेवाला, वहाँ आत्मामें जन्म और मृत्यु नहीं है, इसका वर्णन किया जा रहा है। तो असलमें यह प्रत्यगात्माका, अपने स्वरूपका वर्णन है।

●

: 21 :

विहित कर्म करनेसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और निषिद्ध कर्म करनेसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। क्रियामें धर्मोत्पादन या अधर्मोत्पादनका सामर्थ्य नहीं है। कोई काम ही ऐसा नहीं है जो धर्म पैदा कर दे या अधर्म पैदा कर दे। किसी भी कर्ममें ऐसा सामर्थ्य नहीं है। एकके लिए वही विहित है तो धर्म उत्पन्न होगा उससे और दूसरेके लिए वही कर्म निषिद्ध है तो उससे अधर्मकी उत्पत्ति हो जायगी। एक ही व्यक्तिके लिए जो विहित है उससे धर्मकी उत्पत्ति होती है। जैसे गृहस्थाश्रममें जो कर्म निषिद्ध है उससे अधर्मकी उत्पत्ति होती है, और संन्यासाश्रममें जो कर्म निषिद्ध है उससे अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

संध्यावंदन एक ही कर्म है। जिसके लिए विहित है, उसके लिए वह प्रत्यवायका निवारक होता है और जिसके लिए विहित नहीं है, उसके लिए प्रत्यवायका निवारक नहीं होता है। जिसके लिए निषिद्ध है उसके लिए प्रत्यवायका निवारक नहीं होता है। बल्कि प्रत्यवायका उत्पादक हो जाता है। निषिद्ध कर्म करनेसे प्रत्यवायकी उत्पत्ति हो जाती है। इस लिए कर्मकी कीमत नहीं होती है। कीमत होती है विधि और निषेधकी। इसलिए जो सामान्य चेष्टा है, वह तो तत्त्वज्ञानीके शरीरके द्वारा भी होती रहती है। लेकिन धर्माधर्मोत्पादनकी जो शक्ति है, वह तत्त्ववेत्ताके कर्ममें नहीं रहती है। क्यों? क्योंकि उसके लिए न कुछ विहित है और न कुछ निषिद्ध है। वह कर्त्ता नहीं है। कर्त्ताके लिए यह नियम होना है कि 'यह मेरे लिए कर्त्तव्य है और यह कर्त्तव्य मेरे लिए नहीं है।'

जो कर्त्तव्यसे ऊपर उठ गया, जो कर्तृत्वको देहमें छोड़कर, गुणमें छोड़कर, प्रकृतिमें छोड़कर, स्वभावमें छोड़कर, ईश्वरमें छोड़कर, जो अपने 'मैं' को ही उनसे उठाकर ले भागा, जिसने कर्मको, कर्त्तापनको, भोक्तापनको मिथ्यामें छोड़ दिया, असत्‌में छोड़ दिया, प्रकृति मात्रमें छोड़ दिया और जिसका 'मैं' अनादि-अनन्त-निर्विकार शुद्ध ब्रह्म है, उसके लिए न कुछ विधि है न कुछ निषेध है। इसलिए उसके शरीरसे जो क्रिया होती है उससे धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। यह तो स्वाभाविक क्रिया होती है।

दुनियादारोंकी गलती यह है कि वे समझ लेते हैं कि यह काम ही अच्छा-बुरा है और यह काम अच्छा-बुरा नहीं होता है। अपनेको अकर्ता जान लिया, इसलिए अब वह अधिकारी नहीं रहा। इसलिए अविद्यावद् विषयानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।'

इसलिए जो इसका अधिकारी है, वह उसको करता है।

अविद्या अविदुषाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

जितने शास्त्र हैं और जितने प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं, वे अज्ञानीके लिए होते हैं। यह तो हुई क्रियाकी बात। अब विक्रियाकी बात क्या है? जो समझेंगे, पूर्व-पूर्व संस्कारसे, व्यष्टि प्रारब्धसे, समष्टि प्रारब्धसे जो शरीरमें जन्म और मृत्यु और उसके बीचके विकार हो रहे हैं, दिखाई पड़ रहे हैं, अपने आप बचपन-जवानी-बुढ़ापा, ये सब विक्रिया हैं। विकारको ही विक्रिया बोलते हैं।

जो षड्भावसे विकार होते हैं, वर्षा होती है, प्रकृतिमें गरमी पड़ती है, जाड़ा पड़ता है, तो उसका किसीको पाप-पुण्य थोड़े लगता है? गरमीमें, लूमें तड़पके आदमी मरता है तो इसका पाप ईश्वरको लगता है ठंडमें बरफसे पालेसे जब लोग ठंडे पड़ जाते हैं, तो क्या उसका पाप लगता है ईश्वरको? कि प्रकृतिको लगता है? तो ये विक्रिया है। गरमी पड़ना, ठंडी पड़ना, यह प्रकृतिमें स्वभावसे ही हो रहा है। तो जैसे प्रकृतिमें विकार होते हैं, वैसे शरीरमें भी ठंडी बढ़ना, गरमी बढ़ना, टायफाइड हो जाता है तो उसका क्या पाप लगता है? न्यूमोनिया हो जाता है, तो उसका क्या पाप लगता है? तो शरीरमें विक्रिया हो जाना, जैसे न्यूमोनिया हो जाता है, वैसे ही बुढ़ापा आता है। जैसे शरीरमें जुकाम हो जाता है, वैसे ही बुढ़ापा आता है। ये सब शरीरकी स्वाभाविक

विक्रिया है। इनका सम्बन्ध आत्मदेवसे नहीं होता है। वह स्वभावसे अजन्मा है। इसलिए 'न जायते'।

वह स्वभावसे ही अजन्मा है, यह क्यों कह रहे हो? यह बोलनेका भी अभिप्राय यही है कि जो जन्मकी भ्रान्ति हो रही है, उसको निवारण किया जाय। अजत्वरूप धर्मकी स्थापना आत्मामें नहीं की जा रही हैं। बल्कि अज्ञानसे कल्पित जो जन्म, उस जन्मकी निवृत्तिके लिए आत्मामें अजत्वका अध्यारोप किया जाता है। आत्मामें अजपनाका स्वरूप नहीं, वह तो एक व्यावर्तक अध्यारोपित अजत्व है जो जन्मको मिटा देता है और जन्मको मिटा करके स्वयं निष्प्रयोजन हो जाता है। इसी लिए गौड़पाददादाने माण्डूक्यकारिकामें कह दिया—

अजः कल्पितसंवृत्त्या परमर्थेन नाप्यजः।

यह जो आत्मा अज कहा जाता है यह कल्पित संवृत्तिसे अज कहा जाता है। परमार्थमें अज भी नहीं है। अजत्व और जायमानत्व दोनों ही इसमें कल्पित रीतिसे हैं। ऐक अज्ञानसे कल्पित है और एक उस कल्पनाकी निवृत्तिके लिए जानबूझ करके शास्त्राचार्यों द्वारा कल्पित है। आत्मवस्तु तो ज्यों-की-त्यों अखण्ड! उसमें न जायमानता और न तो अजता। 'न जायते-अजः इति न जायते'।

नित्यः इति म्रियते। मरणका निषेध करनेके लिए 'नित्य' बोल दिया।

नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्। -कठ.1.2.28

श्रुति है कठोपनिषद्, उसमें—

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

इसके स्थान पर—

न अयं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्।

यह किसीसे पैदा नहीं हुआ, माने इसका कोई बाप नहीं है। ब्रह्मासे भी पैदा नहीं हुआ, प्रकृतिसे भी पैदा नहीं हुआ, ईश्वर भी इसका बाप नहीं है, स्वरूप ही है। तो नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्। कश्चित् मनुष्यः पशुः पक्षी वा न बभूव। यह कभी न मनुष्य हुआ, न पशु हुआ, न पक्षी हुआ।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्। -कठ. 1.2.18

विपश्चित् कुतश्चित् कश्चित्। यह जो ज्ञानी पुरुष है, यह जो आत्मदेव है,

यह किसीसे पैदा नहीं हुआ है। 'शाश्वतः' कहकर 'भूत्वा, भविता'का निषेध कर दिया।

यतःशाश्वतः अतः न भूत्वा भविता। 'भूत्वा, अभविता' और 'भूत्वा, भविता'। क्योंकि यह शाश्वत भावको प्राप्त है। इसलिए कल्पादिमें भी इसकी उत्पत्ति नहीं होती। और कल्पान्तमें भी इसका अन्त नहीं होता। नाशकल्पकी समाप्तिमें जब इसके कल्पका अन्त होता है तब इसका अन्त नहीं होता है। कल्पकी जब आदि होती है तब भी इसका जन्म नहीं होता।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे। कठ. 1.2.18

शरीरके हन्यमान होने पर भी यह हत नहीं होता है। क्योंकि पुराण है। यह शरीर नहीं है, शरीरसे परे है। यह आत्माका स्वरूप, इस सम्बन्धमें बताया। देखो, अपने बारेमें भी थोड़ी जाँच करना। हमारे पण्डित लोग होते हैं तो वे पहले बता देते हैं कि किस किताबमें क्या लिखा हुआ है। किस किताबका क्या सिद्धान्त है? लेकिन अपने जीवनमें वह सिद्धान्त क्या है? इसको वे नहीं देखते हैं और देखना यही है।

एक महात्माके पास हम लोग गये तो उनसे पूछा—'मनका क्या स्वरूप है?' हमारे मित्र स्वरूपानन्दजी थे, उन्होंने यह प्रश्न किया 'मनका क्या स्वरूप है?'

अब महात्माजीने बताना शुरू किया—चार्वाक्‌मतमें मनका स्वरूप, बौद्ध मतमें मनका स्वरूप, जैनमतमें मनका स्वरूप, न्यायमतमें मनका स्वरूप, वैशेषिक और मीमांसाके मतमें मनका स्वरूप, अलग-अलग! मनका स्वरूप कैसा? फिर उपासक सम्प्रदायोंमें शैवोंका, वैष्णवोंका, शाक्तोंका मनका कैसा स्वरूप? फिर बोले, भास्कराचार्यका, विज्ञानभिक्षुका ऐसा मनका स्वरूप। पतंजलि और सांख्यका मनका ऐसा स्वरूप! बताते-बताते थोड़ी देरके बाद फिर ऐसे हाथसे पकड़के बैठ गये। बोले—'भाई, मैं तो थक गया।'

मैंने कहा—'महाराज! आप और सबका मन मत-बताइये। आपने इतने दिनोंमें पढ़के, अनुभव करके, मनको देख करके अपने मनके सम्बन्धमें आपने स्वयं जो साक्षादपरोक्ष किया है, वही बता दीजिये।'

बोले—'भाई, सो बात तो हम नहीं कह सकते। जिसने जैसे जिसके

बारेमें जो कुछ लिखा है, सो बता देते हैं।' अरे! अपने मनको खुद देखना, यह बात दूसरी है। और अमुक किताबका यह सिद्धान्त, अमुक किताबका यह सिद्धान्त, यह बता देना, यह बात दूसरी है। यह जो आत्मज्ञान है, अजन्मा अविनाशी आत्मदेवका ज्ञान, यह किताबमें क्या लिखा है, इसीसे काम नहीं चलेगा। उसको अपने जीवनमें देखना पड़ेगा कि क्या है? अभी थोड़े दिन पहले, चार-पाँच दिनकी बात है। काशीमें स्वामी चिन्मयानन्दजीका व्याख्यान होनेवाला था। वे तो स्वामी तपोवनजीके शिष्य हैं। बड़े अनुभवी पुरुष हैं। मैंने तो उनकी कोई बात सुनी-समझी नहीं है। क्योंकि ये अंग्रेजीमें बोलते हैं और मैं अंग्रेजी जानता नहीं हूँ। तो उनका होनेवाला था व्याख्यान। उद्घाटन करनेके लिए आये इलाहाबाद हाईकोर्टके एक जज। उन्होंने जो कहा कि—'अर्जुनने कृष्णकी बात जो मान ली, और मान करके युद्ध किया यह सबसे बड़ी गलती। अगर अर्जुन युद्ध न करता, महाभारत युद्ध न होता तो हिन्दुस्तानका सत्यानाश नहीं होता। यह 'गीता'ने ही हिन्दुस्तानका सत्यानाश करवाया।'

सारा विज्ञान, सारी जानकारी जज साहबका व्याख्यान था। भला! क्या पूछते हो? फाँसी देनेकी सजा वे ही करते हैं। एक अपराधीको फाँसी देनेकी सजा वे ही देते हैं। और, दस अपराधी हों तो छोड़ देंगे सबको। आखिर फैसला ही तो है। वे कहते हैं, जितना भी ज्ञान होता है, उन्होंने बताया अपने व्याख्यानमें। हमारे पास एक व्यक्तिने लिख भेजा था कि जज साहबका ऐसा व्याख्यान हुआ। उन्होंने कहा—'जितना भी ज्ञान होता है, वह कर्मका ही अंग होता है कर्म करनेके लिए सारे ज्ञान होते हैं। जिस-जिस चीजको जानो, अपनेको जानो चाहे परायेको जानो, जान करके उसके अनुसार काम ही करना पड़ता है। यह जो तत्त्वज्ञान-तत्त्वज्ञान-तत्त्वज्ञान बोला जाता है, यह अगर कर्मका अंग नहीं है तो बिलकुल व्यर्थ है।'

अब देखो, क्या बात सुना रहे हैं हम आपको। 'यह चीज अच्छी है', यह अगर जानोगे, तो कर्म करना पड़ेगा। क्या? इसको पकड़के रखो अपने पास। इतनी अच्छी-चीज कहीं खो न जाय और यह जान लिया कि 'यह जहर है' तो इसको फेंक देना पड़ेगा, या कहीं दवाके काम आयेगा तो इसको रखना पड़ेगा। और नुकसान करनेवाला होगा तो उसको फेंक देना पड़ेगा। तो देखो,

यहाँ जो ज्ञान है, दोनों ही प्रकारका ज्ञान, अच्छाईका ज्ञान जो है, यह उपादेयताका अंग है, और बुराईका ज्ञान है, यह हेयताका ज्ञान है। वह छोड़ देनेका अंग है।

अगर दुनियामें तुम किसीको अच्छा-बुरा समझोगे, तो उसके अनुसार कर्म करना जरूर पड़ेगा। तो हुआ न संसारमें कर्मका अंग ज्ञान। अगर तुम देखोगे कि धरती बहुत अच्छी है, तो उस पर पाँव रखके चलोगे और यदि देखोगे कि धरती बहुत गंदी है, तो उसपर पाँव नहीं रखोगे। अच्छी-बुरी देखना यह ज्ञान हुआ और उसपर पाँव रखना या न रखना यह कर्म हुआ।

जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि जहाँ-जहाँ अच्छाईका ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ प्रवृत्ति होती है और जहाँ-जहाँ बुराईका ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँसे निवृत्ति होती है। यही देखनेमें आता है कि यह ज्ञान जो है, यह कर्मका ही अंग है। अब?

यह मत कोई नया तो है नहीं। यह मत भी पुराना है। जैमिनी महर्षिका जो मत है—'पूर्वमीमांसादर्शन' जिसको कहते हैं उसका मत ही यह है कि संसारमें जितने ज्ञान होते हैं, वे सब कर्मके अंग होते हैं। यहाँ तक कि अपने 'मैं' का जो ज्ञान है, वह भी कर्मका अंग है। वह कैसे?

बोले कि—'हम ब्राह्मण हैं।' 'अच्छा, आप ब्राह्मण हैं?' तो बोले, फिर आप सन्ध्यावंदन कीजिये। अग्निहोत्र कीजिये, वेदका स्वाध्याय कीजिये। ये अगर आप अपनेको ब्राह्मण जानते हैं तो ब्राह्मणपनेका काम कीजिये।

एक बार एक गुरु और एक चेला दोनों यात्रा कर रहे थे। यात्रा करते-करते वे दोनों जंगलमें पहुँच गये। सब जगह बिच्छू और सर्प और कीड़े। कहीं सोने-बैठनेकी जगह नहीं दिखायी पड़े। वहाँ एक आदमीने जंगलमें एक मचान बना रखा था। दोनोंने देखा कि यह मचान तो विश्राम करने लायक है। गुरुजी चेलाको बोले—'बेटा, तू चेला है और तुझे तितिक्षाका अभ्यास नहीं है, अभी सहनशक्ति ज्यादा नहीं है, जा तू थोड़ी देर इस मचानपर चढ़कर विश्राम कर ले। लेकिन जब मचानका मालिक आवे, तब कुछ बनना नहीं।'

अब वह गया और सो गया मचान पर। गुरुजी महाराज टहलते रहे। जागते रहें। इधर उधरसे मचानका मालिक आया और बोला 'अरे! कौन

हमारे मचान पर सोया हुआ है ? उठ!' तो चेला बोला—'भाई, मैं फकीर हूँ। तुम्हारे मचानपर बैठ करके, लेट करके विश्राम कर रहा हूँ। उसने उठाया डंडा और बोला—'बड़ा फकीरका बच्चा बना है! फकीरका बच्चा बना है तो मचानपर सोनेकी क्या जरूरत है ? खड़ा रह, जाग, बैठ करके भगवान्‌का भजन कर। अगर तुझे मचान पर ही सोना था तो फकीर क्यों हुआ ?' तो पीटा उसको। पीट करके मचान परसे उसको उतार दिया। अब वह आया। बोले—'गुरुजी! मैं तो पिटके आया हूँ।' गुरुजी बोले—'बेटा! कुछ बना होगा जरूर।' जो आदमी शरीरके धर्मको लेकर अपने ऊपर कोई बात आरोपित करेगा; अपनेको विरक्त भी मानना और पैसे भी गिनना, ये दोनों बात एक साथ नहीं रहती। अपनेको ब्रह्म जानना और सर्वविभासक होके रहना, यह दूसरी बात है। त्यागी भी और संग्रह भी! वैराग्य भी और मुहब्बत भी ? यह बात गलत है भला! संगति नहीं है। बोले—'अच्छा गुरुजी! आप बताओ', गुरुजी बोले—'अच्छा, हम बताते हैं।' टिक गये उधर।

इधर-उधर घूम-फिरकर कहीं जगह मिली टिक गये। इधर-उधर घूम-फिरके गुरुजी गये और शामको मचान पर ही सो गये और घर-घर नींद आ रही।' कहते हैं, कि ज्ञानीको नींद नहीं आती, तो ज्ञानी पागल होता होगा। नींद नहीं आवेगी तो पागल ही हो जायगा। 'सो गये वे।'

मचानका मालिक फिर आया और देखकर बोला—'अरे! आज आकर फिर सो गया ?' तो ये उठकर बैठ गये और आँख बन्द करके! अब वह बुलावे और बोले ही नहीं। उसके मनमें शंका हुई 'कोई जान-पहचानका तो नहीं है ? हमारा मित्र तो नहीं है ? कोई हमारा प्यारा तो नहीं है ?' उसने एक लकड़ी जलायी और देखा तो बोला—'अरे! यह तो कोई फकीर मालूम पड़ता है।' अब वह बुलावे तो बोले ही नहीं वह। मौन बैठे। तो बोला—'अच्छा महाराज! आप आराम कर लो! आज आप आराम कर लो! हमारा सौभाग्य है कि हमारे मचान पर आप सरीखे कोई फकीर आ गये।' तो भाई! आदमी जहाँ अपनेमें देहको लेकर, वेशभूषाको लेकर, संप्रदायको लेकर, समाजको लेकर देहमें अभिमान जोड़ता है, वहाँ उसका कर्तव्य उपस्थित हो जाता है।

'मैं ब्राह्मण हूँ'—तो फिर अग्निहोत्र करो, सन्ध्यावन्दन करो। 'मैं हिन्दू

हूँ' तो गायकी पूजा करो। 'मैं मुसलमान हूँ', तो 'कुरान पढ़ो और नमाज पढ़ो।' उसके साथ उसका सम्बन्ध है। ईसाई हो, तो चर्चमें जाओ। जहाँ-जहाँ अभिमान होगा, वहाँ-वहाँ कर्त्तव्यकी उपस्थिति होगी ही। ठीक है, संसारमें जितना 'विशेष मैं'का ज्ञान है, और 'विशेष अन्य'का ज्ञान है, वहाँ ज्ञानका फल अपने कर्तव्यको पूरा करना होता है। अगर कर्त्तव्य है तो यज्ञ करेगा और स्वर्ग भोगेगा। निष्काम है, तो अन्तःकरण शुद्ध करेगा और ज्ञान प्राप्त करेगा। लेकिन भाई, यह निर्विकार आत्माका, अविक्रिय आत्माका जो ज्ञान है, यह दूसरी चीज है। निष्क्रिय और अविक्रिय जिसमें कर्त्तृत्वपूर्वक कोई कर्म नहीं और स्वाभाविक रूपसे होनेवाले विकार नहीं, ऐसे आत्मदेवका जो ज्ञान है, ब्रह्मात्मैक्यका जो बोध है, वह ब्रह्मात्मैक्यबोध कर्मका अंग नहीं है। वह न कर्मका अंग है, न उपासनाका अंग है, न योगका अंग है। अपनेको निष्क्रिय जानकर, अपनेको निर्विकार जानकर, अविक्रिय जानकर शेष नहीं रहता है। संपूर्ण कर्मोंकी अपने आप ही निवृत्ति हो जाती है। यह अविक्रिय आत्माके ज्ञानका फल है। यदि कर्मकी निवृत्ति न होवे, हमेशा प्राप्त होते रहें तो पुण्यात्मा होगा, फलका भोक्ता सुखी-दुःखी होगा। और, सुखी-दुःखी हमेशा होता होगा तो मोक्षको तो तिलाञ्जलि दे दी। फिर कभी मोक्ष कहाँ प्राप्त होगा? इसलिए सब ज्ञान कर्मका अंग नहीं होता। जो कर्ता आत्माका ज्ञान है, वह कर्मका अंग होता है। जो भोग्य वस्तुका ज्ञान है, अच्छाई-बुराईका, वह कर्मका अंग होता है। भोग्य और भोक्ता, कर्म और कर्ता इन दोनोंसे विलक्षण अविक्रिय आत्माका जो ज्ञान है, वह कर्मका अंग नहीं होता। इसलिए साधक जो होवे, उसको ज्ञानीके कर्मका अनुसरण नहीं करना चाहिए। उसने अज्ञान निवृत्तिके पूर्व अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए जो-जो अनुष्ठान किये हैं, जो-जो साधन किये हैं, उन-उन साधनोंकी नकल करनी चाहिए। जिज्ञासुको और मुमुक्षुको सिद्धपुरुषके वर्तमान जीवनके कर्मका अनुकरण नहीं करना चाहिए।

हमारे उड़ियाबाबाजी महाराजके पास एक जिज्ञासु आये तो क्या किया उन्होंने? देखा कि उड़ियाबाबा प्रसाद बाँटते हैं, तो उन्होंने भी अपने साथ एक डब्बा रख लिया और उसमें मिश्री रख ली। उनके पास जो भक्त लोग आवें, जब उनके पास जायें तो उन्होंने प्रसाद देना शुरू किया। बाबाको कोई चन्दन लगाता तो लगवा लेते। फूलमाला पहनाता तो पहन लेते। उन्होंने

कहा कि—'हाँ-हाँ, ज्ञानी पुरुषको ऐसे ही रहना चाहिए। वे भी सिंहासनपर बैठ गये। चंदन लगवाने लगे, माला पहनने लगे, प्रसाद बाँटने लगे।

तब बाबाने कहा कि, 'भाई! तू भी सिंह, मैं भी सिंह! तो दो सिंह इकट्ठे नहीं रहते हैं। अब तुम स्वतंत्र विचरो।' तू सिद्ध हो गया, जा।' अब वह सिद्ध तो क्या हो गये? ज्ञानीकी रहनीका अनुकरण नहीं किया जाता है। ज्ञानीने अज्ञानकी निवृत्तिके लिए जो साधन किये हुए हैं, उनको अपने जीवनमें धारण करके अज्ञाननिवृत्तिके लिए प्रयास किया जाता है। यह लौकिक ज्ञानसे बिलकुल विलक्षण ज्ञान है। अजन्मा आत्माका, अमृत आत्माका, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माका।

बोले—'भाई, ये जैसा करते हैं, वैसा हम भी करेंगे।' 'तो तुम सिद्ध हो। तुम्हारे ब्रह्म होनेमें तो कोई संदेह नहीं। अब तुम महात्मा भी हो गये।' स्वतंत्र बरताव साधकके, जिज्ञासुके, मुमुक्षुके जीवनके लिए बिलकुल अनिष्टकारी होता है। उसको तो जैसे अविद्याकी निवृत्ति हो वैसे ही बरताव करना चाहिए। जिसकी अविद्याकी निवृत्ति हो गयी, प्रयोजन ही समाप्त हो गया। जहाँ प्रयोजन ही समाप्त हो गया, वहाँ विधि-निषेधकी प्रवृत्ति नहीं होती। अब बात क्या बतानी? यह जो आत्मदेव हैं, इनके सच्चे स्वरूपका जो ज्ञान है, वह कर्मका, उपासनाका अथवा योगका अंग नहीं है। वह तो केवल ब्रह्मात्म विषयक जो अविद्या है, उस अविद्याकी निवृत्तिके लिए ही है। वहाँ तो सम्पूर्ण कर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

गीता–2.21

एक नया आश्रम खुला है। काशीके समाचार हमारे पास आते हैं। बनारसी लोग तो बड़े विलक्षण होते हैं न? उन्होंने एक पारिवारिक आश्रम खोला है। पारिवारिक आश्रमका अर्थ यह होता है कि घरमें जो परिवार है, वह तो ईश्वरका दिया हुआ होता है। वह किसीको पसन्द आता है, किसीको नहीं आता है। अब माँ-बाप कोई पसन्द करके तो चुने नहीं जाते। पैदा हुए बेटाजी और ये ईश्वरके दिये हुए माँ-बाप पसन्द नहीं आये तो घर छोड़कर निकल गये। जब आपने ब्याह किया तब पसन्द करके ब्याह किया नहीं था, तो फिर ब्याही पत्नीको छोड़कर

बाहर निकल गये। तो बोले—' अच्छा, ठीक है, घरका परिवार तो पसन्द नहीं आया। अपनी पसन्दका एक परिवार बनावें।' तो अब अलग-अलग परिवार बनाकर चाचा बन गये, बाप बन गये, भाई बन गये, बहन बन गयी, बुआ बन गयी। पत्नीवाली बात मैं नहीं कह सकता। क्योंकि यह आश्रम है। नवीन परिवारनिर्माण! क्रान्तिकारी ' अक्रान्तिकारी आध्यात्मिक आश्रम।

'क्रान्तिकारी आध्यात्मिक आश्रम'में नये-नये रिश्तेदार बनाये जा रहे हैं। वे कहते हैं कि शङ्कराचार्यका जो तत्त्वज्ञान था, अविक्रिय आत्मज्ञान। अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय आत्मतत्त्व। अब इसका समय नहीं रहा। यह टिकाऊ नहीं है। ऐसी वैज्ञानिक उन्नति हो गयी। इस ठोस वैज्ञानिक जमानेमें जब रॉकेट बन रहे हैं, और अणुबमका आविष्कार हो रहा है, और जीवनको बढ़ानेकी कोशिश की जा रही है, जब मनुष्य शुक्रलोक, मंगललोक और चन्द्रलोकमें जाने-आनेकी तैयारी कर रहा है, तो यह अविक्रिय आत्मज्ञान किस कामका? बिलकुल व्यर्थ! अब तो वैज्ञानिक आश्रम बनाओ और वैज्ञानिक रीतिसे जीवन व्यतीत करो। अन्धी लकीर मत पीटो!

हमारे एक मित्रने लिखा है कि हम उनसे कहते हैं—'देखोजी, प्रकृतिका जो ऊँचा-से-ऊँचा विज्ञान है, सर्वप्रपंचका विज्ञान, वह शङ्कराचार्यके तत्त्वज्ञानके सामने टिक ही नहीं सकता। यह तुम्हारा अणुविज्ञान और यह तुम्हारा परमाणुविज्ञान और एनर्जी विज्ञान, ये जो शक्तिविज्ञान और ये जो मैटर-विज्ञान है, यह विज्ञान अविक्रिय आत्मतत्त्वज्ञानके सामने कहाँ टिकनेवाला है? यह तो ऐसा विज्ञान है,

एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

अगर एकको जान लो, तो सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। तो भाई! हमारे मित्रको उससे कुछ असंतोष हुआ, तो उन्होंने लिखकर भेजा और जिन्होंने आश्रम बनाया न, उन्होंने अपने सब पर्चे, सब सिद्धान्त और क्या-क्या परिवार बनाना चाहते हैं, वह सब भी हमारे पास भेजा है कि—'हम ऐसा-ऐसा करना चाहते हैं। हमारे इन-इन प्रश्नोंका उत्तर लिखकर भेजो?

अब आपको यह सुनाते हैं कि असलमें इसमें विक्षेपकी कोई बात नहीं है। क्यों? क्योंकि यह जो आत्मज्ञान है अविक्रिय आत्माका विज्ञान, यह असलमें जो संसारासक्त पुरुष हैं, उनके लिए नहीं है। जो प्रकारान्तरसे संसार

बना लेते हैं, सम्बन्ध बना लेते हैं, भोगमें और अर्थमें अत्यन्त आसक्त हैं, उनके लिए यह अविक्रिय आत्मविज्ञान है ही नहीं।

यह तो असलमें जो संसारसे छूट करके मोक्ष-पुरुषार्थको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह विज्ञान है।

योगिनो विभ्यते यस्मान् अभये भयदर्शिनः।

यदि स्त्री - पुरुष जो कि संयोगी हैं, ये इससे डरें और धन और धनी जो संयोगी हैं, वे इससे डरें, और जो कि कर्म और कर्मी हैं जो संयोगी हैं, वे इससे डरें और जो उपास्य और उपासक संयोगी हैं वे इससे डरें, और समाधि और योगी जो संयोगी हैं वे इससे डरें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह तो **अभये भयदर्शिनः।**

यह तो बिलकुल अभय पद अविक्रिय आत्मज्ञान है। वह संसारमें फँसे हुए लोगोंके लिए नहीं है। जो ब्रह्मलोक पर्यन्तके भोगको और उसके प्रापक कर्मको, सबको जो छोड़ देना चाहते हैं उनके लिए है। भौतिक वस्तुमें जिनकी प्रियता नहीं है उनके लिए है। यह कोई कम बात नहीं है कि—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणा निर्वेद माया नास्त्यकृतेऽकृतेन।

कर्मसे जो लोक प्राप्त होते हैं, उनकी परीक्षा करके उनसे वैराग्य करें, यह हमारे वेदान्तका, उपनिषद्का सिद्धान्त है। इसलिए अविक्रिय आत्मज्ञानका अधिकारी जो है, वह विरक्त पुरुष है और जो विरक्त पुरुष है, वह जब आत्माको जानता है—

कं घातयति हन्ति कम्।

यह उसके जीवनमें अपने आप ही आ जाता है। शङ्कराचार्य भगवान्‌ने इस श्लोककी व्याख्यामें इतने विस्तारसे संन्यासका निरूपण किया है, पृष्ठके पृष्ठ, तो मैंने तो वह। उनका शास्त्रीय विषय है, वह छेड़ा ही नहीं। क्यों नहीं छेड़ा? देखो, जब मनुष्यके मनमें पूर्वपक्ष होता है ठीक-ठीक, तब तो उसका उत्तरपक्ष समझमें आता है। अगर श्रोताके मनमें पूर्वपक्ष होवे ही नहीं ठीक, तो उत्तरपक्ष तो उसकी समझमें आवेगा ही नहीं। मीमांसाका पक्ष जिसको नहीं मालूम है, कर्मके पक्षमें वेदान्त पक्षकी बड़ी-बड़ी युक्तियाँ उसको बेकार लगेंगी। प्रमाणके सम्बन्धमें नैयायिकोंका पक्ष जिसको नहीं मालूम है, उसको वेदान्त-पक्षकी बड़ी-बड़ी युक्तियाँ निस्सार लगेंगी। तो आओ, इस उपनिषद्की चर्चा करें।

यह 'आत्मज्ञानमहिमोपनिषद्' - इसका नाम है। 'आत्मज्ञान-महिमोपनिषद्'—आत्मज्ञानकी क्या महिमा है ? अज्ञानकी महिमा आप पहले देख चुके हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो।..................

पहले यह श्लोक आगया। अज्ञानीको, जो आत्माको 'हन्ता' और 'हत' जानता है, माने कर्ता और भोक्ता जान्ता है, जो अपनेको कर्ता-भोक्ता जानता है सो अज्ञानी। और ज्ञानी कौन ?

नायं हन्ति न हन्यते।

ऐसा जो जानता है, सो ज्ञानी। आत्मज्ञानकी क्या महिमा है ? असाधारण महिमा है, माने ऐसी महिमा दूसरी किसी भी चीजकी है ही नहीं, जैसी महिमा आत्मज्ञानकी है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

यहाँ दूसरेकी चर्चा नहीं है, यह अपनी चर्चा है।

यः अधिकृतः पुरुषः।

जो अधिकारी पुरुष 'शमदमादि सद्गुणसंपन्नः'—शमदमादि सद्गुण-सम्पन्न है, ईश्वर और सद्गुरुकी कृपाका भाजन अनुशीलित-वेदवेदान्तज्ञ पुरुष है 'एवं वेद'—इस आत्मदेवको जानता है, माने अपने आपको जानता है। 'एनं' माने ?

वेदाहमेनं पुरुषं महान्तम्।

यहाँ 'एनं' काहेको कह दिया ? भाई ! कई श्लोकोंमें इसका वर्णन होता आया है। इसलिए 'एनं' कहा। या ऐसे भी कहो—

वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम्।

इस श्रुतिमें जो एतम् कहा हुआ है न, उस 'एतम्'के बाद फिरसे वही बात कहनी है, इसलिए 'एतम्'। 'एतम्'को जब दूसरी बार बोलना हुआ, तो 'एनम्' कह दिया। वही श्रुतिमें वर्णित जो एतम् है, वही है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति।

इसमें देखो, महावाक्य पड़ा हुआ है। 'एतम्' कौन है? 'त्वं' पदार्थ और 'तमेव विदित्वा' में 'तं' कौन है? यह 'तत्' पदार्थ। तो—'एतं तं विदित्वा'—यह इसका अन्वय हुआ।

एतं तं विदित्वा मृत्युं अत्येति।

इस आत्माको वह जानकर, माने यह और वहकी एकता जानकर मृत्युका अतिक्रमण प्राप्त करता है।

'तमेतम्'—इसीसे। दूसरी श्रुतिमें दोनों इकट्ठे हैं।

तमेतं वेदानुवचनेन, तं एतं, तं तत् पदार्थ। एतम् त्वं पदार्थम् च।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन तमेतम्।

यहाँ तं और एतं दोनोंकी एकता है। वही है यहाँ एनम्। यह एनम् कैसा है? तो चार बात इसके सम्बन्धमें बताते हैं—अविनाशिनं, नित्यं, अजम् और अव्ययम्। चार बात इसके सम्बन्धमें जानो।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितम्।
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

पहले धीर हो जाओ और फिर उसको जान लो। जाननेके बाद शोक नहीं है।

तरति शोकं आत्मवित्।

जो इसको जान लेता है, 'मत्वा धीरो न शोचति' वहाँ जो 'न शोचति' है, वह 'न शोचति' गीतामें कई बार दुहराया है—'हर्षशोकौ जहाति।' 'तरित शोकं आत्मवित्।'

जो इसको जान लेता है, तैर जाता है, पार कर जाता है। प्रतीयमान पदार्थोंमें चाहे कुछ भी प्रवाहित होता रहे, अधिष्ठानमें कुछ नहीं। स्वरूपभूत अधिष्ठानमें कुछ भी नहीं है। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह तो अध्यस्तमें है। जिसका अध्यस्तसे तादात्म्य मिट गया, वह तो अध्यस्तमें विराजमान, अध्यस्तमें दीखनेवाले जो पदार्थ हैं, उनके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है—

तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

अब बताते हैं, आत्मामें चार बातें जानो। एक-अविनाशी।

पलटू हम मरते नहीं, साधो करो विचार।
साधो करो विचार, पलटू हम मरते नहीं।

पलटू! विचार करो कि हमारा विनाश नहीं होता है। हमारी मृत्यु नहीं होती।

भाई! यह कैसे? हम तो मानते हैं कि हमारी मौत होती है। अच्छा, अब तक कितनी बार तुमने अपनी मृत्युका अनुभव किया? कितनी बार मरे हो? तो भाई, मोहब्बती लोगोंकी बात करो मत! दिनभरमें दस-पन्द्रह दफे मर जाते हैं और दस-पन्द्रह दफे जिन्दा हो जाते हैं। वे तो मर-मरकर जीते हैं और जी-जीकर मरते हैं। पाँच रुपया खो गया तो मर गये, और पाँच रुपया आगया तो जी गये। ये रागी लोग हैं। ये तो किसीको देख लिया तो जी गये और नहीं देखनेको मिला तो मर गये। इस तरह तो जिन्दगीमें दस-दस, बीस-बीस दफे आप मरते रहते हैं और जीते रहते हैं। यह खो गया तो मर गये। उसने गाली दी तो मर गये। उसने छीन लिया तो मर गये। तो ऐसी मौत तो आती-जाती रहती है और तुम अभी जिन्दाके जिन्दा ही हो। जैसे यह मौत आती है फिर भी जिन्दा ही हो। जैसे यह मौत आती रहती है, किसीके मर जाने पर, खो जाने पर, तुम कहते हो कि 'मैं मर गया।' यह क्यों? अतिशय राग होनेके कारण। ममता होनेके कारण, मोह होनेके कारण। ऐसे ही इस शरीरसे राग है, मोह है, ममता है। इसी वजहसे तुम इस शरीरके मरनेको अपनी मौत मानते हो। असलमें तुम्हारे अनन्त जीवनमें ऐसे-ऐसे हजारों खिलौने आते हैं और जाते हैं। ऐसी हजारों पोशाकें बनती हैं और टूटती हैं। इनके मरनेसे तुम मरते नहीं।

बोले—'नहीं भाई, हम तो मानते हैं कि हम मरते हैं।' कैसे मानते हो? तुमने अपनी मृत्युका अनुभव किया है इसलिए मानते हो कि तुमने अपनी मृत्युका कभी अनुभव नहीं किया है, फिर भी मानते हो? अबतक अगर कभी तुम मर गये होते तो आज न होते! कभी भी तुम्हारी पूरी मौत हो गयी होती—अधूरी हो गयी होती तो वह बात दूसरी है। अगर पूरी-पूरी मौत तुम्हारी आज तक हुई होती तो आज यहाँ बैठ करके यह कथा कैसे सुनते? और यह कथा कैसे बोलते? तो मृत्यु अननुभूत है। इसका अर्थ है कि आज तक किसीको मृत्युका अनुभव नहीं है।

हमको तीन-चार बार मालूम पड़ा कि हमारी मौत हो गयी, भला! एक

बार पानीमें डूबने लगा तो मालूम हुआ कि मौत आगयी। रातके समय 10.11 बजे गंगाजीमें डूबने लगे। कोई बचानेवाला नहीं था। और हमको तैरना आता नहीं था। अपने तो ब्रह्मविद्यामें ही तैरते हैं। अब इस जड़ पानीमें तैरकर क्या करेंगे? इसके लिए तो आप बड़े-बड़े तैराक यहाँ मौजूद ही हैं। अच्छा, उस समय ऐसा मालूम हुआ कि किसीने पीछेसे हमको ऐसा जोरदार धक्का दिया है कि मैं सूखेमें आगया। तो उस समय जो वृत्ति थी, कि 'अब डूबा तब डूबा', अब मरा तब मरा, उस वृत्तिमें मृत्युकी ही कल्पना बनी।

एक बार ऐसा बेहोश हो गया, मालूम पड़ा कि एक बुढ़िया स्त्री बड़ी भयंकर डाइन सरीखी, बाल बिखरे हुए, हाथमें खड्ग लिए हुए और शरीरमें झुर्रियाँ पड़ी हुई और बड़ी-बड़ी दाढ़ें! वह हमको खदेड़ रही है और हम भाग रहे हैं। इसीमें वह कल्पना जगी कि गदा लिये और वह लाल-लाल हनुमानजी आगये! यह कल्पना हो गयी। उन्होंने उसको खदेड़ दिया। और यह हुआ कि मौत आयी थी, भाग गयी। अच्छा, चलो!

दो बार भजन करते समय, प्राणायाम करते समय ऐसा अनुभव हुआ कि सारे शरीरमें-से प्राण खींच करके सिरमें आ गये। तो एक बार बड़ी घबड़ाहट हुई कि 'अब मरा, अब मरा, अब मरा। स्त्री-पुत्र, धन, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी, घर, पढ़ाई-लिखायी सब चौपट! अब तो मैं मरा!' बोले—'बाबा! अभी मैं मरना नहीं चाहता।' वैराग्यकी कमी जो थी, उसको दिखानेके लिए ईश्वरने यह लीला रची कि—'अभी शरीरसे तुम्हारा बड़ा मोह है। यह देखो, तुम्हें मरना पसन्द नहीं है।'

दूसरी बार जब ऐसा हुआ, तब तबियत नहीं घबड़ायी। सारे प्राण! मालूम पड़े कि सारे प्राण! न हाथ हिले, न पाँव हिले, न पलक हिले और होश बना हुआ! शरीर पर अपना काबू नहीं। एक-दो बार और हुआ ऐसा। तो उसकी चर्चा नहीं करते। लेकिन, मैं मर गया था? नहीं, मैं मरा नहीं था। मैं तो मौतको देख रहा था। मैं तो मौतका साक्षी था। मैं मर जाता तो मौतको जानता कौन? देखता कौन? आत्माकी मृत्यु नहीं होती है।

अच्छा, अब कहो कि भाई, हम तो कभी मरे नहीं हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि आगे मर जायेंगे। ऐसा क्यों सोचते हो? दूसरेको मरते देखते हैं न! दूसरोंको मरते देखते हैं तब रोते हैं। ऐसे लोगोंको हम जानते हैं कि सीता-रामके

विवाहका प्रसंग पड़े या रासलीलाका प्रसंग पड़े, तो उनकी आँखमें आँसू नहीं आयेंगे। है न, प्रसंग नाचनेका? लेकिन दशरथके मरनेका प्रसंग पड़े या श्रीकृष्णके वियोगका प्रसंग पड़े तो उनकी आँखमें आँसू आ जायगा। आँसू क्यों आता है? अपने घरकी कल्पना हो जाती है। जैसे कृष्ण छोड़कर चले गये, वैसे हमारा हमको छोड़कर कहीं न चला जाय! जैसे दशरथ मरे और कौसल्या-कैकेयी रो रही हैं, तो हमारे घरमें भी वैसे कोई मर जायगा तो हमारी भी वैसी ही दशा होगी। अपनी दशाकी कल्पना करके रोना आता है। यह नहीं समझना कि आँखमें आँसू आगये तो परमार्थ बन गया। है न? आ हा! कई-कई श्रोता तो ऐसे होते हैं कि वक्ताकी दाढ़ी हिलती देखकर अपने मरे हुए बकरेकी याद करते हैं। तो ऐसे लोगोंकी बात हम नहीं कर रहे हैं।

जो दूसरोंकी मौत तुम देखते हो, वह तुम शरीरकी मौत देखते हो कि जीवकी मौत देखते हो? तुम अगर शरीर हो, तो दूसरेकी मौत देखकर अपनी मौतकी कल्पना होती है और अगर तुम जीव हो, तो जीवको तो मरते हुए तुमने कभी देखा ही नहीं है। तुम अपनी मौतकी कल्पना क्यों करते हो? सचमुच अब आप थोड़ी गम्भीरतासे देखो तो अपनी मौतका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। सम्भव ही नहीं है।

क्यों सम्भव नहीं है? क्योंकि जब यह अनुभव होगा कि हमारी मृत्यु हो रही है, या मृत्यु हो गयी, तो उस मृत्युको जाननेवाला जो है, वही तो 'मैं' है। इसलिए यह 'मैं' अविनाशी है, अजर है, अमर है—

अशरीरं शरीरेषु।

शरीरमें यह अशरीर है। आत्माकी कभी मृत्यु नहीं होती। 'मैं'की मृत्युका कभी अनुभव ही नहीं होता। तो दो तरहसे मृत्यु है। एक तो मरनेवाली चीजोंमें अपनेको मिला देनेसे अपनी मौत मालूम पड़ती है और दूसरी? दूसरोंकी मौत देख करके, शरीरोंकी—अपनी मौतकी कल्पना कर लेते हैं। तो देहके साथ तादात्म्य और मृत्युकी कल्पना—ये दो ही मृत्युका भय उपस्थित करते हैं। न योग-सिद्धान्तमें, न उपासना-सिद्धान्तमें, न धर्म-सिद्धान्तमें; यहाँ तक कि किसी धार्मिक सम्प्रदायमें जो लोग आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं, मुसलमान और ईसाई आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं। वे भी आत्माकी मृत्यु नहीं मानते हैं। आत्माको सावयव माननेवाले जैन लोग भी आत्माकी मृत्यु नहीं मानते हैं। आत्माका

मोक्षदशामें, निर्वाणदशामें आत्माका उच्छेद माननेवाले भी शरीरके नाशसे आत्माकी मृत्यु नहीं मानते। वासनाकी निवृत्तिसे वे आत्मोच्छेदरूप मोक्षको मानते हैं।

बौद्धमतमें भी शरीरकी मृत्युसे आत्माकी मृत्यु नहीं है। केवल चार्वाक् महाराजको छोड़करके अथवा यों समझो कि मार्क्सवादियोंको छोड़करके, यों समझो कि जो केवल भौतिकवादी हैं, केवल भौतिकवादी चार्वाक्के अनुयायी, उनको छोड़करके ऐसा सृष्टिमें धार्मिक सम्प्रदाय कोई नहीं है, जो आत्माकी मृत्यु मानता हो, तो अपने आपको अविनाशी जानना—

यः एनं आत्मानं अविनाशिनं वेद।

जो इस आत्माको अविनाशी जानता है, वह—

कं घातयति हन्ति कम्।

अब इस ज्ञानका क्या नजारा देखनेको मिलता है, इसकी क्या महिमा है, यह 'आत्मज्ञानमहिमोपनिषद्' में भगवान् श्रीकृष्ण वर्णन कर रहे हैं—

: 22 :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ घातयति हन्ति कम्॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

2.21.22

जहाँ 'एनं' आत्मानं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्यय वेद'-'हे पार्थ! सः पुरुषः कथं कं घातयति, कथं कं हन्ति?'

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन! जिसमें इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा अव्यय पड़नेसे, मरने-मरवानेसे अलग हो जाता है, स्वरूपसे अलग है, इसके लिए तो 'अहम्' आक्षेपार्थक सर्वनाम है। मरने-मारने मरवानेका कोई कारण ही नहीं रहता। कारण पर आक्षेप करनेके लिए 'कथं' यह अव्यय है। यह भी सर्वनाम ही है। 'कस्मात् इति कथं ? हेतु पर आक्षेप करनेके लिए कथं है। वह कौन-सा कारण रहा कि किसीको वह मारने जाय? या कौन-सा कारण बाकी रह गया कि वह अपने मारने के लिए किसी दूसरेको निमित्त बनावे?

घातयति आत्मानं हन्तुं प्रयोजयति? किसीको चिढा दें, चिढ़ाके बादमें डंडा मारने लग जायँ। हमको कोई मारे, इसके लिए भी वह कोशिश नहीं करता है और किसी दूसरेको मारनेके लिए भी कोई प्रयत्न नहीं करता है और स्वयं मरता भी नहीं है। मृत्युका विषय भी नहीं है, मृत्युका कर्ता भी नहीं है और मृत्युका प्रयोजक भी नहीं है। माने अपनी मृत्युके लिए दूसरेको प्रेरित करना, दूसरेको मारना और दूसरेके मारे जानेपर मर जाना। मरना, मारना और मरवाना, यह क्या है? श्रुतिमें जो—'मृत्युं अत्येति' पद है न,

तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति।
एनं विदित्वा मृत्युं अत्येति।

मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। परमात्माको जान ले तो मौतकी धारा प्रतीतिमें ऊपर-ऊपर बह रही है और वह स्वयं स्वप्रकाश अधिष्ठान रूपसे विराजमान हैं, मौतसे परे।

अमृतो महि प्रत्युधाः।

यह मृत्यु जो है, झूठी दुनियामें झूठमूठ भान हो रही है और वह स्वयं सत्य अपने परमार्थ स्वरूपमें बैठा हुआ है। मृत्यु उसकी छाया भी नहीं छू सकती, न तो मौत आनेका कोई कारण है न तो मौतका कोई कर्ता है, न तो मौतका विषय है, न तो मौतका प्रयोजक है। 'मृत्युमत्येति'। 'कथं ते'-कारणका निषेध है और 'कं घातयति' 'कं हन्ति' प्रयोज्यका निषेध है।' कं घातयति' फलका निषेध है। और 'कं हन्ति' कर्मका निषेध है। और 'हन्ति' यह कर्ताका निषेध है। न वह मरता है, न वह किसीके मारे मरता है, न वह दूसरेके मारे मरता है, और न दूसरेकी मृत्युका हेतु बनता है। कौन ? जहाँ '**एनं आत्मानं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद।**

वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम्।

अब अविनाशी, नित्य ये दोनों जरा एकमें मिलते हुए-से मालूम पड़ते हैं। जो अविनाशी हैं, वह नित्य है। जो नित्य है वह अविनाशी है। परन्तु ऐसे-ऐसे मनवादी हैं कि लोक-परलोक उनको नहीं जानते हैं। जैसे प्रागभाव। देखो, प्रागभाव जो है वह अनादि होता है। घटका प्रागभाव अनादि है। परन्तु घटकी उत्पत्ति होनेपर उसका अन्त हो जाता है। घटका प्रध्वंसाभाव अनादि है। परन्तु घटकी उत्पत्ति होनेपर उसका अन्त हो जाता है। घटका प्रध्वंसाभाव सादि है परन्तु अनन्त होता है। तो उत्पत्तिवाला होकर अनन्त होना अनादि हो करके अन्तवाला होकर अनन्त होना और अनादि हो करके अन्तवाला होना, यह नैयायिकोंका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों ऐसा दो पदार्थ है। घड़ेका न होना, यह प्रागभाव है, लेकिन घड़ेकी उत्पत्ति होनेपर न होनेकी अनादिता मिट जाती है और घड़ेका जो फूटना है, वह फूटना सादि होता है। फूटनेकी शुरूआत होती है, परन्तु यह फूट जाना जो है, वह अनन्त ही होता है। फिर वह बनता-बनाता नहीं है. तो प्रागभाव अनादि होकरके भी सान्त है और प्रध्वंसाभाव सादि हो करके भी अनन्त है। यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। तो वह बात जरा थोड़ी कठिन पड़ेगी, उसको छोड़ देते हैं।

यहाँ 'अविनाशी' और 'नित्य' ये दो शब्द क्यों प्रयुक्त किये गये, इस बातको बहुत साधारण ढंगसे आप समझ लो कि 'अविनाशी' पदकी व्याख्या है सबका कारण होना। यह कहाँ है? कि भूल गया होगा-अविनाशी तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

अभी-अभी आपने दो तीन श्लोकके पहले 'अविनाशी' पदका अर्थ जाना है कि—'येन सर्व इदं ततम्? तत् निमित्तोपादानकारणके रूपमें प्रपंचमें व्याप्त है। उसका नाम अविनाशी है। तो अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होकर प्रपंचमें भरपूर रहना, कालमें हमेशा एकत्रित रहना, कालके पेटमें कभी न मरना, वस्तुपरिच्छेदसे राहित्य यह अविनाशीका लक्षण है। कालपरिच्छेद न होना यह नित्यका लक्षण है।

अच्छा, दूसरा अर्थ इसका देखो,'गीता' में यह बात बतायी गयी—

विनश्यत्सु अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 13.27

आँखवाला कौन और अंधा कौन? बोले—भाई, जिसकी दोनों आँखें रूपको देखती है वह आँखवाला और जिसकी न देखती हो सो अंधा। बोले—नहीं, गीतामें आँखवाला उसको कहते हैं—

यः पश्यति स पश्यति अन्यस्तु अंधः। जो ऐसा देखता है, वही देखता है। दूसरा तो अंधा है। क्या देखता है?'

विनश्यति अविश्यन्तं-जितने ये विनाश होनेवाले पदार्थ हैं, अदलने-बदलनेवाले पदार्थ हैं, इनमें जो अविनाशी तत्त्व भरा हुआ है, उसको जो देखता है सो सचमुच देखता है। यहाँ—

अविनाशिनं आत्मानं वेद स वेद, अन्यस्तु न वेद जो अपने आत्माको अविनाशीके रूपमें नहीं देखता है, वह नहीं देखता है। तो यह 'अविनाशी' भी गीतामें ऐसा है?

हमारे एक महात्मा थे। बड़ी तकलीफ उठाकर गया था तब उन्होंने यह बात बतायी। जो महात्मा आकर बताते हैं न, उसकी बातका असर थोड़ा कम पड़ता है और जिनके पास जाकर, थोड़ी तकलीफ उठाकर सुना जाता है, उनकी बातका असर ज्यादा पड़ता है। समयके बन्धनमें आगये, स्थानके बन्धनमें आ गये, व्यक्तियोंके बन्धनमें आगये! इन-इन लोगोंको इस-इस समयपर, इस-इस जगह पर जा करके सुनाना। तो स्वयं देश-काल-व्यक्तिके बन्धनमें आकर जब

महात्मा सुनाता है न, तो सुननेवालेके ऊपर उसका असर कम पड़ता है, और जब आदमी जिज्ञासासे व्याकुल होकर, मुमुक्षासे व्याकुल होकर, जब कोई प्रश्न उसके हृदयमें काट रहा है कि इस प्रश्नका समाधान होना चाहिए, इसका समाधान होना चाहिए। जब थोड़ी तकलीफ उठाकर चार दिन भूखे रहकर, दस-बीस मीलकी यात्रा करके जाता है, और वहाँ जब उस बातका उत्तर मिलता है, तो वह याद रहता है।

अपने गाँवसे कोई पचास मील दूर चुनारके पास विन्ध्याचलकी पहाड़ीमें, खोहमें रहनेवाले एक महात्माके पास गया। उन्होंने कहा कि 'गीताका पाठ किया करो। तो बात तो बहुत बढ़िया कही उन्होंने।' महाराज! गीता समझमें आवे कैसे?

बोले—यदि गीताके किसी शब्दका अर्थ तुम्हारी समझमें न आता हो तो उस शब्दको तुम पहले ध्यानमें बैठा लो और फिर गीताका पाठ करो कि—'हे गीता भगवति! भगवद्गीते!'

अम्ब त्वां अनुसंदधामि।

हे भगवद्गीते! हे माँ! मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। अम्ब! त्वामनुसंदधामि।'

'फिर देखो, कि गीतामें और कहीं उस शब्दका प्रयोग हुआ है कि नहीं? और प्रयोग हुआ है तो किस अर्थमें हुआ है? गीताकी व्याख्या गीतामें मिलेगी यदि निष्ठापूर्वक भावपूर्वक गीताका पाठ करोगे और ढूँढोगे कि गीतामें इस शब्दका प्रयोग कहाँ है?'

असलमें गीतामें सत्का विनाश, चित्का अज्ञान, आनन्दका विरोधी दुःख इन तीनोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है, जो मृत्यु है सो ही अज्ञान है और जो अज्ञान है सो ही मृत्यु है। अज्ञान होना अपने ब्रह्मस्वरूपका तिरस्कार हो जाना, तिरोधान हो जाना और अपनेको देशकटा, कालकटा, विषयकटा पदार्थ देह मान बैठना—एक प्रकारसे यह अनन्त ब्रह्मभावकी मृत्यु ही तो है न! और यह न जानना और मरना ये दोनों बिलकुल एक चीज है। जो नहीं जानता वह मर गया। जो यह नहीं जानता कि हमारे पास बहुत बड़ा खजाना है, वह गरीब हो गया, दरिद्र हो गया। उसका धनीपना नष्ट हो गया। तो देखो, गीतामें यह बात बतायी हुई है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणस्यति॥ 6.30

जो सर्वत्र सर्व कार्यमें, देशमें, कालमें, कार्यरूप वस्तुमें, अभिन्न-निमित्तोपादान रूप कारणरूपसे विराजमान मुझको देखता है, और 'सर्वं च मयि पश्यति'—और सर्वात्मक सम्पूर्ण यह नामरूप प्रपंच है दृश्य, इसको मुझ स्वयंप्रकाश अधिष्ठानमें अध्यस्त देखता है, 'तस्याहं न प्रणश्यामि'—उसके लिए मेरा नाश नहीं होता। मैं उसकी आँखसे ओझल कभी नहीं होता। वह मुझे साक्षात् अपरोक्ष देखता रहता है, और 'स च मे न पश्यति'। वह कभी मेरी आँखसे ओझल नहीं होता। माने, मैं उसे साक्षादपरोक्ष आत्मरूपसे अनुभव करता हूँ और वह मुझे साक्षादपरोक्षरूपसे अनुभव करता है।

'अविनाशी' पदका अर्थ है? साक्षादपरोक्ष स्वरूपभूत चेतनके रूपमें अनुभव करना, यही चेतनके रूपमें होना, यही 'अविनाशी' पदका अर्थ है। यही अविनाशीपना है।

'णश् न दर्शने'। 'ण श्' धातुका संस्कृतमें अर्थ होता है 'अदर्शन'। 'अविनाशी'का अर्थ हुआ दर्शन और जो 'वेदाविनाशिनं नित्यं'=साक्षाद-परोक्षदर्शनरूपम् साक्षादपरोक्षज्ञानके रूपमें अनुभव करना, यह उसको अविनाशी रूपमें अनुभव करना है।

ऐसा अविनाशी जो जाग्रतमें भी है, स्वप्नमें भी है, सुषुप्तिमें भी है, समाधिमें भी है, सृष्टिमें भी है, प्रलयमें भी है, ऐसा जो—विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्।

सम्पूर्ण विनाशी पदार्थोंमें जो अविनाशी है, जिसको श्रुतिमें इस ढंगसे बताया गया—**अशरीरं शरीरेषु**

सब शरीरोंमें जो शरीररहित है।

अनवस्थेष्ववस्थितम्।

स्थितिरहित पदार्थोंमें, अवस्थारहित पदार्थोंमें, चंचल पदार्थोंमें जो अचंचलरूपमें विराजमान है। महान्तम्=देशपरिच्छेदशून्यं विभुम्=सर्वोपादानरूपम्। महान् और विभु इस आत्माको जो पुरुष जान लेता है, वह धीर पुरुष कभी शोकग्रस्त नहीं होता। और उसको जानकर—

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

वह परमात्माको जान लेता है और शोकरहित हो जाता है। अब यह

नित्यता जो है, वह दो तरहकी है। एकको बोलते हैं 'परिणाम-नित्य' और एकको बोलते हैं 'कूटस्थनित्यः' प्रकृति भी नित्य है। उससे हमेशा ही महत्तत्वादिरूप कार्य होते रहते हैं।

महत्तत्त्वादि कार्य जो हैं, वह प्रतिलोग परिणामसे प्रकृतिमें लीन भी होते रहते हैं। प्रकृति नित्य है, परन्तु वह परिणामी नित्य है, बदलती हुई नित्य है। अदलते-बदलते हुए जैसे सोना हार भी बनता है, कुण्डल भी बनता है, कड़ा भी बनता है, लेकिन सोना-सोना ही रहता है। परमात्मा जो है, वह कूटस्थ-नित्य है। कूटस्थनित्यका अर्थ है, जैसे रज्जुमें सर्प, माला, धारा, भूच्छिद्र आदिमें आरोप होते रहते हैं पर भी रज्जु, यथास्थाणुवत् रहती है, बदलती नहीं है। उसको 'कूटस्थनित्य'। ये जो आत्मदेव हैं, ये प्रकृतिके समान अथवा स्वर्णके समान परिणामीनित्य नहीं हैं, कूटस्थनित्य हैं।

य एनमजमव्ययम्।

अजन्मा और अव्यय माने जन्ममरण-रहित। अजन्मा=न जायते। वृत्त्यारूढो न भवति इति अजः। अजका अर्थ है कि वृत्तिमें चढ़ करके, उतर करके ये कभी आभास नहीं बनते हैं।

परब्रह्म परमात्मामें जो आभासता है वह कल्पित है। वास्तविक नहीं है। समझानेके लिए चिदाभास वर्णन किया जाता है। चिदाभासका निषेध करनेके लिए यहाँ 'अज' कहा। कूटस्थनित्य अविनाशी साक्षादपरोक्ष जो आत्मदेव है, वह वृत्तिमें आरूढ़ होकर कभी आभास नहीं बनता उसका नाम अव्यय है। यहाँ 'अव्यय' शब्दका प्रयोग परमात्माके उत्तम भावको बतानेके लिए किया गया है।

ज्ञान होनेपर किस परमात्माकी प्राप्ति होती है जिज्ञासुको? जब ज्ञानके द्वारा मोहकी निवृत्ति हो जाती है तब मोहकी निवृत्ति होनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 15.5

जिस परब्रह्म परमात्मापदकी प्राप्ति होती है, इसमें यह बात नहीं कही गयी है—

आधीत्य ग्रथान् बहुलान्।

बहुत सारे ग्रन्थोंका अध्ययन करके।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

इस पर भी ज़रा ध्यान रखना चाहिए भला! पढ़ना-लिखना बहुत बढ़िया काम है। स्कूलमें, कॉलेजमें, युनिवर्सिटीमें, पाठशालामें बड़े-बड़े पंडित लोग पढ़ाते रहते हैं, पर परमात्माकी प्राप्ति किससे होती है? यह श्लोक नहीं भूलना।

महात्माओंकी परम्पराका नाश नहीं करना। अव्यय पदकी प्राप्तिके लिए महात्मा होनेकी जरूरत है। इस बातको काटना नहीं। यदि इस बातको काट दोगे तो वेदान्तपरम्पराकी रक्षा नहीं होगी, उसका सत्यानाश हो जायगा। गीता 15.5 निर्मानमोह, जितसंगदोष-अध्यात्मनित्य, विनिवृत्तकाम, सुखदुःखसंगोंके द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त जो अमूढ़ पुरुष है, उनको अव्यय पदकी प्राप्ति होती है। यह मत समझना कि यह कह देनेसे कि—'बिना सद्गुणोंके, बिना महात्मा हुए भी, बिना निवृत्ति हुए भी अव्ययपदकी प्राप्ति हो गयी। छोड़ो, इस ढकोसलेमें क्या रखा है? विनिवृत्त कामा कोई नहीं और निर्मानमोहा कोई नहीं।' ऐसे कहनेसे काम नहीं चलता है। इसके लिए साधन-भजनकी जरूरत पड़ती है। ऐसा जो साधन-भजन सम्पन्न होता है वह अमूढ होता है।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययम् तत्।

अमूढ होता है माने ज्ञानके द्वारा उसके मोहकी निवृत्ति हो जाती है। और, जब अमूढ होता है तब अव्यय पदकी प्राप्ति होती है। जिस अव्यय पदकी प्राप्ति अमूढ होनेपर होती है, वह कौन है? किस सातवें आसमानमें रहता है? या किस अन्तरालमें रहता है? वह सृष्टिके किस प्रारम्भमें रहता है? अथवा सृष्टिका कौन-सा अन्त होनेपर मिलता है? अथवा किस वस्तुके रूपमें मिलता है? बोले—**यः एनमजव्ययम्।**

बोले—'भाई, वह अव्यय पद दूसरा कोई नहीं, तुम्हारे आत्माका ही नाम यह''अव्यय पद' है। परन्तु उसको प्राप्त करनेकी चेष्टा तो करो।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

ममाव्ययमनुत्तमम् ।

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ 9.11

ममाव्ययमनुत्तमम्—परं भावं अजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। यह भगवान्का अव्यय भाव है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

मानें परमात्माके लिए भी 'अव्यय' शब्दका प्रयोग है और आत्माके लिए भी 'अव्यय' पदका प्रयोग है। अव्यय-अव्यय दोनों एक। अव्यय शब्दसे बताया कि जहाँ आत्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं है उस पदको जिसने जान लिया—

कथं स: पुरुष: पार्थ

कं घातयति हन्ति कम्।

दूसरी बात देखो—'पुरुष' शब्द पर भी ध्यान देना, क्योंकि आप लोग 'ईशावास्योपनिषद्'का पाठ रोज करते हैं।

एषावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि।

एषावशावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि।

यहाँ 'पुरुष' शब्द किसके लिए है? परमात्माके लिए है कि जीवके लिए है? साफ-साफ परमात्माके लिए है, भूलना नहीं। 'एषावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि'—यह आदित्यमण्डलमें सूर्यमण्डलोपाधिक परमात्मा है वह भी वही है। जो सूर्यमण्डलकी उपाधिसे बैठा हुआ है, वही अन्त:करणकी उपाधिसे बैठा हुआ है। जहाँ—

य: न व्यकृतेषाद् सवितुर्वरेण्यं भर्ग:।

जो सूर्य मण्डलमें विराजमान भर्ग है, वही हमारे बुद्धिमण्डलका प्रेरक है। वहाँ परमात्मा दूसरा, सो नहीं। जो बिजली पंखेको चला रही है वही बल्बमें जल रही है। बिजली तो एक ही है। जो समूचे मुम्बई शहरको प्रकाशित कर रही है बिजली, वही बिजली एक लट्टूमें बैठकर एक कमरेको भी प्रकाशित कर रही है। बिजली कहीं दो थोड़े ही है? तो ये घट ही जुदा-जुदा हैं। इनमें प्रज्वलित होनेवाली जो विद्युत् है, वह एक ही है।

यहाँ 'पुरुष:' शब्द किसके लिए है? पूर्णत्वात् पुरुष:। जो परिपूर्ण है सो पुरुष। अच्छा, वह एक मन्त्र भी आपने अभी सुना है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।

'पुरुष:' मानें पुरुषाकार मनुष्य नहीं। मनुष्यके लिए 'पुरुष' शब्द नहीं है। परमात्माके लिए 'पुरुष' शब्द है।

कथं स: पुरुष: पार्थ?

और यहाँ? वहाँ जो जाना जाता है, उसके लिए 'पुरुष' शब्द है और

यहाँ जो जाननेवाला है उसके लिए 'पुरुष' शब्द है। अगर उपनिषद्‌में एकवाक्यता नहीं करेंगे तो गीता, रामायण, महाभारतका कोई अर्थ समझमें नहीं आयगा। तो इसको वेद-वेदान्तसे मिला करके देखो। जो 'पुरुष' शब्दको वहाँ ज्ञानका विषय बताया हुआ है, वही पुरुष यहाँ ज्ञाताके रूपमें वर्णन किया गया है। तो—

कथं सः पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।

अब एक दूसरा प्रश्न उठाते हैं। क्या? अच्छा भाई, जो आत्मज्ञानी है वह तो हननसे और घातनसे परे हो गया। न मारता है, न मरता है, न मरवाता है। अब न कोई कारण, न कोई वासना है, न अविद्या है। अविद्या हो तो 'कथं'; 'कथं' जो है न, अविद्या भी नहीं रही। अविद्याकी निवृत्ति हो गयी तो भाई, ज्ञानी पुरुष के लिए यह बताना बिलकुल ठीक-ठीक है।

जो अज्ञानी पुरुष हैं और उस आत्माको नहीं जानते हैं, उनके लिए तो मृत्यु बहुत कष्टकारक थी। अज्ञानी पुरुष भी जो मृत्युसे नहीं, मृत्युके भयसे दुःखी होते हैं। मृत्युसे दुःखी होना दूसरी चीज है और मृत्युके भयसे दुःखी होना दूसरी चीज है। रास्तेमें चलते-चलते कभी हम देखते हैं, कोई कुत्ता या कुतिया सामने आगयी तो डंडा उठाया उसको मारनेको। डंडा मारा नहीं हैं, उठाया। अब डंडा देखते ही कुतिया काँय-काँय करके लोटने लग गयी। तो क्यों लोटी भाई? उसे डंडा लगा? डंडा तो नहीं लगा। डंडेके डरसे वह धरतीमें लोटने लग गयी। अच्छा, तुमको मृत्युकी डर लग गयी है, इसलिए तुम रोते हो, डरते हो? कि मृत्युके डरसे कल्पना करके रो रहे हो?

एक दिन हम कहीं जा रहे थे रास्तेमें, गाँव नहीं, जंगल था समझो। दोनों ओर बाड़ लगायी थी। सामनेसे आया एक सूअर। और दूसरी ओरसे आया मैं। सूअरको देखकर मैं खड़ा हो गया। खड़ा हो गया कि सूअर कहीं दाँत न लगा दे अपना और मुझे देखकरके सूअर खड़ा हो गया। जैसे सूअर मुझसे डरता था, वैसे में सूअरसे डरता था। डरनेकी हालतमें हमारा और सूअरका क्या भेद? अरे, आत्मा एक और डरनेकी वृत्ति भी एक। भयकी वृत्ति भी! केवल शकल-सूरत जुदा-जुदा रह गयी। उसका शरीर थोड़ा काला-सफेद था, मोटा तगड़ा था सूअर। अम्बालाके सूअर, पंजाबके सूअर बहुत जबरदस्त होते हैं। भगवान्‌का वराह अवतार इसी देशमें हुआ होगा पहले ऐसा

अन्दाज है। सिन्धके गधे भी बहुत मजबूत होते हैं, सवारीके काम आते थे। मारवाड़के ऊँट बहुत अच्छे होते हैं।

भयकी वृत्ति तो सबमें समान ही होती है! जो भयकी वृत्ति सूअरमें है, वही भयकी वृत्ति मेरे अन्दर भी है तो क्या फरक हुआ? मैं भी खड़ा हो गया और सूअर भी खड़ा हो गया। अब डरनेमें सूअर मुझसे बाजी मारकर ले गया। उसने बड़े जोरसे बाड़में धक्का मारा और छेद हो गया। उसमें-से वह निकल गया। लेकिन मैं उसको लाठी मार रहा था और न वह मुझपर दाँत मार रहा था। एक-दूसरेको देखकर दोनों भयभीत हो गये हैं। अगर मृत्यु होनेके एक सेकेण्ड पहले भी कोई मृत्युसे दुःखी हो रहा है, तो वह मृत्युका भय है, मृत्यु नहीं है।

मृत्युकालामृत्यवच्छेदेन मृत्युका भय नहीं होता है। जिस कालमें मृत्यु होता है उस कालमें भय नहीं होता है। तब तो यह भय बिलकुल बेकार आगया हमारे ऊपर। हम मौतसे डरते हैं, तो मोहसे डरते हैं, ममतासे डरते हैं, हम देखते थे, बनारसमें कचौड़ीगलीमें रहते थे। मणिकर्णिकाघाटके लिए लोग शव लिये जा रहे हैं,'राम-नाम सत्य है' और सो भी अपने लिए नहीं बोलते हैं 'रामनाम सत्य है!' वे मरे हुएके लिए बोलते हैं 'राम-नाम सत्य है।' अगर अपने लिए बोलते कि 'रामनाम सत्य है', चलो चल बसे, तो कोई बात नहीं।

यह जो मृत्युका भय समाया हुआ है मनमें, वह बड़ा बेकार! अब देखो, हमने कचौड़ीगलीमें बैठकर मणिकर्णिकाघाटपर बैठकर धुआँ सूँघते हुए, सैकड़ों मुर्दे अपनी आँखसे जलते हुए देखे हैं। किसीके जलनेका कोई दुःख नहीं होता था और जब कोई जान-पहचान, अपना दोस्त, नातेदार, रिश्तेदार आजाता था तो होता था, 'हाय-हाय! हाय!! मर गया!' तो दूसरे के मरनेपर जो दुःख होता है वह मोहके कारण और अपने मरनेका जो दुःख होता है वह भयके कारण। वह भयरूप वृत्ति है। इसके कारण दुःख होता है। मृत्युको तुमने कभी देखा तो है नहीं!

बोले—'अच्छा भाई, जो ज्ञानी हो, उसकी तो मृत्यु नहीं हो और मृत्युका भय भी नहीं होवे। लेकिन जो अज्ञानी है, उसको तो मृत्युका भय होना चाहिये।' बोले—अज्ञानी भी मर करके शरीर छूट जानेसे बिलकुल नष्ट हो जाता हो, सो बात तो है ही नहीं। क्यों? यह अज्ञानीकी गतिका वर्णन है, अगले श्लोकमें

ज्ञानीकी गतिका वर्णन नहीं है। क्योंकि आगे चल करके देहात्मवादीकी दृष्टिसे भी वह बात बतायी हुई है कि दु:ख नहीं करना चाहिए मरनेका।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो, नैवं शोचितुमर्हसि॥ 2.25

तुम अपनेको देह मानते हो, तभी तो मजबूर होकर रोज शौचालयमें जाना पड़ता है। कोई शौक है आपको शौचालयमें जानेका? जाना पड़ता है। जाना पड़ता है तब रोते क्यों नहीं कि हाय-हाय! गंदी जगहमें हमको जाना पड़ता है! वह कोई पवित्र स्थान तो नहीं है न! गंगामें स्नान करने तो नहीं जाते हो न! तीर्थयात्रा तो करने नहीं जाते न! कोई सिनेमा देखने जाते हो शौचालयमें? कोई क्लब है कि नाचघर है? मजबूर होकरके जाना पड़ता है। शौचालयमें-से निकलकर रोना चाहिए न कि हाय-हाय, हमको तो शौचालयमें जाना पड़ गया। अथवा जानेके पहले रोना चाहिए कि हमको तो शौचालयमें जाना पड़ रहा है। लेकिन वह तो मजबूरी है, उसमें तो जाना ही पड़ता है। हाँ, तो उसके लिए समय भी रखते हैं, सुविधा भी रखते हैं, उसमें सुख-शान्ति भी देखते हैं, क्योंकि यह तो मजबूरी है।

इसी प्रकार यदि तुम अपनेको देह मानते हो, तो देहका मरना तो मजबूरी है। यह बात—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

इस श्लोकमें आगे साफ कही हुई है। वह देहात्मवादीकी दृष्टिसे है। और यह परलोकमें गमनागमन करनेवाला सूक्ष्म-शरीर विशिष्ट आत्मा है इसकी दृष्टिसे अगला श्लोक बोला जा रहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।

यह 'आत्मज्ञानोपनिषद्' वह 'पुनर्जन्मोपनिषद्' है। 'पुनर्जन्मोपनिषद्' है कि अगर तुम अपनेको देह नहीं मानते हो, ब्रह्मात्मज्ञानी भी तुमने अपनेको नहीं बनाया, ब्रह्मात्मज्ञान भी प्राप्त नहीं किया, और अपनेको देह नहीं मानते, अपनेको जीव मानते हो! जीव माननेपर मृत्युकी क्या स्थिति है? तो ये बताते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।

बड़े मजेकी बात है। मरना तो खुशीकी बात है। ये वीर लोग जो मरते थे, युद्धभूमिमें वीर लोग मरते थे। जो जानकार थे उनको तो यह विश्वास

दिलाया गया था कि जो युद्धभूमिमें मरते हैं, वह सूर्यमण्डलको भेदन करके मुक्त हो जाता है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

सामने युद्धभूमिमें मरे; सूर्यमण्डल भेद करके जाय। देखो न, मारते मारते मरते हैं वीर पुरुष।

अच्छा, एक बातको छोड़ दें, तो समझ लो कि एक ऐसा आत्मा है जो इस शरीरको छोड़ करके नरक-स्वर्गमें जाता है। अब समय आगया है कि यह भी बतानेकी जरूरत पड़ती है। क्योंकि लोगोंकी समझमें यह आत्मा भी नहीं आती है कि जो देहसे अतिरिक्त है और एक देहसे दूसरे देहको प्राप्त करती है। आजकल ब्रह्म मान लेना बहुत आसान और अपनेको देह मान लेना भी बहुत आसान। क्योंकि भौतिकवादी जो हैं, डाक्टर हैं, वैज्ञानिक हैं वे देहवादका समर्थन कर रहे हैं। जब डाक्टर और साइन्स और भेदवादी-भोगवादी-अर्थवादी, आधेसे ज्यादा वे ही हैं दुनियामें जो यही बात कहनेवाले हैं कि—'देह ही सब कुछ है।' इनके बीचमें कुछ तो देह मान करके 'जीव' शब्दका विचार नहीं करते और कुछ अपनेको ब्रह्म मानकरके 'जीव' शब्दका ठीक-ठीक विचार नहीं करते। यह बात 'कठोपनिषद्' में बतायी हुई है।

उपनिषद्का नाम इसलिए ले लेता हूँ कि उपनिषद्के नामसे बात कहेंगे तो जो लोग वेद-वेदान्तपर श्रद्धा करनेवाले हैं, उनकी वृत्ति थोड़ी उधर ज्यादा जायगी। जो शरीर छूटनेके बाद, आत्माका अस्तित्व नहीं मानता है, उसके लिए कठोपनिषद्में इकट्ठी ही बहुत सारी गालियाँ दी हुई हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।

कठ. 1.2.5

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः—अविद्याके अन्दर बरत रहे हैं, अन्धेरेमें हैं। अभी तुम्हारी अकल अन्धेरेमें है। यह गाली ही तो हुई न? ये किसी सद्गुरुसे, शास्त्रसे सीख करके धीर नहीं हुए स्वयं धीर हैं। पण्डितं मन्यमानाः—हैं तो मूर्ख,

पर अपनेको पण्डित मानते हैं। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः—इधर-उधर भटक रहे हैं. कैसे? अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। अन्धेके पीछे अन्धा। यह बात तुम कैसे कह रहे हो? यह बात पुनर्जन्म न माननेवालोंके लिए कह रहे हैं। बोले—'ऐसे बोल रहे हैं कि अगला मन्त्र पढ़ो तो पता लग जायगा—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

कठ. 1.2.6

यमराज भगवान् कहते हैं, मृत्यु—भगवान् बोल रहे हैं। क्या?

न साम्परायः प्रतिभाति बालम्

जो बालक है, मूर्ख है, उसको यह बात मालूम नहीं पड़ती कि शरीर मरनेके बाद भी जीवन रहता है, साम्पराय्-परलोक। शरीर छूट जानेके बाद जीवका अस्तित्व, यह तो मूर्खको मालूम नहीं पड़ता। प्रमाद्यन्तम्-जो प्रमादी है, कभी खोज नहीं करता उसको नहीं मालूम पड़ता। एक तीसरी बात बड़ी विचित्र है, उपनिषद्में ही लिखी हुई है। इसलिए मैं मुम्बईमें सुना देता हूँ, नहीं तो सेठोंके डरसे चुप रह जाता। वह—**वित्तमोहेन मूढम्।**

साम्परायः न प्रतिभाति।

जो धन (फल) के मोहसे मूढ हो गया हो, उसको 'साम्पराय'-मरनेके बाद जीवकी क्या गति होती है यह भासती नहीं। तीन बात हुई—

एक तो बालक-मूर्ख और दूसरे प्रमाद्यन्तं-प्रमादीको, खोज न करनेवालेको और तीसरे 'वित्तमोहेन मूढम्'। वित्तमोहसे 'अयं लोको नास्ति परं इति मानी।'

न आत्मा है और न परलोक है ऐसा मानकरके बैठा हुआ है। जमराजने कहा—**पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।**

ऐसे लोग बार-बार मर-मरकरके हमारे पास आया करते हैं कि यह पाप किया, इसका दण्ड दो। हमने यह पुण्य किया है और इसका फल दो। तो जो परलोकको नहीं मानता है, वही जन्म और मृत्युके फन्देमें फँसता है। एक बात यह ध्यानमें रखो सारा वेदान्त व्यर्थ हो जायगा अगर अविद्यावान्‌का भी जन्म-

मरण नहीं होगा। अगर अज्ञानी भी नरकमें नहीं जाता है स्वर्गमें जाता है, ब्रह्मलोकमें जाता है तो अविद्याग्रन्थि नामकी कोई चीज ही नहीं है, अगर ऐसा होवे। अगर ऐसा होवे तो किस अविद्याग्रन्थिकी निवृत्तिके लिए वेदान्तज्ञानका उपयोग होगा। बिना ज्ञान हुए कोई जन्म-मरणके बन्धनसे छूट नहीं सकता। इसलिए ज्ञानकी सफलताके लिए भी जन्ममरणरूप जो बन्धन है उनको स्वीकार करके तब उसका अपवाद करना चाहिए और ऐसे ही कह दिया कि हम मानते ही नहीं, जाओ, तो न माननेसे कोई काम नहीं बनता।

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।

एक दिन आपको सुना चुका कि एक उपादानमें अथवा सदृश उपादानमें माने मिट्टीके परमाणु एक सरीखे, जलके परमाणु एक सरीखे, अग्निके परमाणु एक सरीखे, वायुके परमाणु एक सरीखे और आकाश एक सरीखा। सदृश उपादानमें अथवा प्रकृतिरूप एक उपादानमें अथवा विज्ञानरूप सदृश उपादानमें अथवा ब्रह्म अद्वितीय उपादानमें, अथवा मायारूप एक उपादानमें यह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी सृष्टि है, यह निमित्तके बिना, संस्काररूप निमित्तके बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। इसलिए कर्म-संस्कारके अनुसार मनुष्यका पुनर्जन्म होता है, यह बात मानना अपने वेद-वेदान्त-शास्त्रयुक्ति और अनुभवकी दृष्टिसे बिलकुल ठीक है। जब आत्मज्ञान होता है तब इसकी निवृत्ति होती है। बिना ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके जन्म-मरणका बन्धनकी निवृत्ति नहीं होती।

अच्छाजी, तो जो आदमी न तो अपनेको देह मानता है, न ब्रह्म जानता है, उसकी क्या गति होती है? उसको तो मृत्युसे बहुत डरना चाहिये।

बोले—'बिलकुल नहीं डरना चाहिये।' क्यों?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

'वेदाविनाशिनं नित्यं' और 'वासांसि जीर्णानि' के बीचमें यही सम्बन्ध है जो मैं कह रहा हूँ। 'सम्बन्धभाष्य' इसका नाम है। वह ज्ञानीके लिए और यह जीवात्मज्ञानीके लिए। तो वह ब्रह्मात्मैक्यज्ञानीके लिए और यह कर्त्तात्मक ज्ञानीके लिए। कर्त्रात्मक ज्ञानीके लिए—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'।

देहात्मज्ञानके लिए—'अथ चैनं नित्य जातं'—यह सम्बन्ध है। इसको बोलते हैं 'सम्बन्धभाष्य' दो श्लोकोंके बीचमें क्या सम्बन्ध है?

अब देखो; लोकको पकड़ो—

यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि वासांसि गृह्णाति।

जैसे नर=मनुष्य, वानर नहीं। यह नरकी बात कही जा रही है, वानरकी नहीं, ऊँटकी नहीं, बैलकी नहीं। वे यदि नंगे रहते हैं, और रहते ही हैं, तो उनको कपड़े पहननेका बन्धन नहीं है। आपने डार्विनकी थियरी तो सुनी होगी। क्या हुआ कि उसमें मनुष्यके पूर्वज पशु थे, तो यह बात कहीं-कहींके लिए तो सच्ची है। किसी-किसी देशके मनुष्य सम्भव है, पशुओंसे उत्पन्न हुए हों, लेकिन अब तो आप जानते हैं कि अब बन्द हो गया। अब बैल, ऊँट, गधे घोड़ेसे आदमीकी उत्पत्ति=पैदाइश नहीं होती। यह किसी एक काल और एक देशमें ऐसा रहा होगा।

किसी स्थानमें डार्विनकी थियरीमें। मैं बड़े प्रेमसे बचपनमें पढ़ता था। तो विकासवाद सम्बन्धी बहुत साहित्य मैंने पढ़ा है। और जो उनके दर्शन हैं, उनको भी पढ़ा। अब लोग लाकर किताब दिखाते हैं कि 'इसमें ऐसा लिखा है, इसमें ऐसा लिखा है', तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यह तो पहले सोचा हुआ है, यह हमारी बुद्धिमें आरूढ़ हुआ है।

हमने पुनर्जन्मकी खोज की, अनुसन्धान करते थे। मानते ही नहीं थे, कि बिलकुल नहीं मानेंगे। मान्यता तो अन्धे लोगोंकी है। कोई देखनेवाला लोग, आँखवाले लोग थोड़े मानते हैं? तो अब ऐसे लोग हैं जो नंगे रहनेका प्रचार करते हैं। एक द्वीप ऐसा छोटा-सा है, उसमें पाँच हजार लोग ऐसे रहते हैं नंगे कि जाकर कपड़े उतार देते हैं, नंगे रहते हैं। हमारे एक मित्र जापान गये थे। उनको वहाँसे लौटनेके बाद नंगा रहनेका शौक चर्रा गया। सुनते हैं कि वहाँ स्त्री-पुरुषके मिलन भी पैसे ले करके लोग दिखाते हैं, फोटो खिंचवाते हैं। तो वह जो इस तरहसे नग्नतामें लोगोंकी रुचि है, उनका जन्म डार्विनियन थियरीके अनुसार हुआ है। ऐसा न होता तो कैसे यह होता? अब हमारी बात क्या?

यथा नरः। यहाँ तो मनुष्य है, भाई! यहाँ तो आवरणभंग होनेके बाद ब्रह्म होता है। जबतक आवरण है, तबतक आवरण है। जब ब्रह्मज्ञान होकर निर्भ्रान्त निरावरण, निर्वस्त्र स्वरूप प्रकट होगा—जब आवरण-भंग हो गया तब उसको

निरावरण रहनेका अधिकार होता है। और जहाँ तक आवरणभंग नहीं हुआ, वहाँतक निरावरण रहनेका अधिकार नहीं होता। यह भी व्यवस्थित वस्तु है। मनुष्यकी बात कर रहे हैं। यही कपड़ा पहनता है। दूसरोंको तो न कारखाना चलाना आता है, न कपड़ा बुनना आता है और न रसोई पकाना आता है। न भविष्यके लिए सोचना आता है, न नया-नया आविष्कार करना आता है। यह तो मनुष्यकी बुद्धिमें ब्रह्मज्ञान होता है।

मनुष्यकी बुद्धिमें ब्रह्मज्ञान होता है, तो यह नर जो है, 'जीर्णानि वासांसि'—पुराने पड़े हुए कपड़े छोड़ दिये और दूसरे नये कपड़े पहन लिये। तो जो समझदार होता है, देखो न, स्त्रियाँ तो दिनभरमें अपनेको बहुत गौरवान्वित अनुभव करती हैं। सौ-सौ साड़ी रखी रहती है, प्रतिदिन नवीन-नवीन साड़ी पहनती हैं और अपनेको गौरवान्वित दिखाती हैं कि हम बड़े आदमी हैं। देखो, जितनी बार घरमें घुसें, उतनी बार नयी साड़ी पहन करके आवें। भले चौबीस घंटेमें-से बारह घंटे उसीमें जायँ, लेकिन वह साड़ी बदलनेमें अपनेको सुखी मानती हैं। तो यह शरीर क्या है ?

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

गृह्णाति—स्वेच्छासे। स्वेच्छासे मनुष्य कपड़े बदलनेको तैयार रहता है। एकको बदलकर चार-चार पहनना पसन्द करता है। ऐसा भी शौक हमने देखा कि एक साड़ीसे सन्तोष न हो तो चार-चार साड़ी अपने शरीरमें लपेट लें। अब तो नये जमानेके लोग, संस्कृत पढ़े हुए पण्डितको कपड़ा पहननेका बन्धन नहीं है और अंग्रेजी पढ़ी-लिखी औरतको कपड़ा पहननेका बन्धनसे मुक्त। और, यह मैं अंग्रेजी पर आक्षेप नहीं कर रहा हूँ। अंग्रेजी तो बहुत अच्छी चीज है।

अब यह देखो कि जीव है, उसकी क्या दशा है ? 'जीर्णानि शरीराणि'—जीर्णानि=जिसके प्रारब्ध समाप्त हो गये, माने बुड्ढा नहीं। यह नहीं कि सब बुड्ढे होकर मरते हैं तो मर गये। जब कपड़ा फट ही गया तब बदला तो क्या बदला ?

तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि।

जीर्णानि=जिसका प्रारब्ध समाप्त हो गया है, चाहे बच्चा है या जवान है, चाहे बुड्ढा है। बच्चेका प्रारब्ध भी समाप्त हो जाता है। एक जोगी था, वह जंगलमें बैठकरके योगाभ्यास कर रहा था; योगाभ्यास करते-करते उसके मनमें आया कि 'मैं राजा हो जाता' और उसी समय उसका शरीर छूट गया। एक

क्षणके लिए उसके मनमें राजा होनेकी वासना आयी। उस वासनासे ले जाकरके उसे राजाके घरमें पटका। और वह राजकुमार होकरके पैदा हुआ। अब थोड़े दिनोंके बाद उसको मालूम पड़ गया कि मैं तो राजकुमार हो गया। वासना थी वह पूरी हो गयी। जरा-सा प्रारब्ध समाप्त हो गया, फिर वह शरीर छूट गया। और छूट जानेके बाद फिर वह ऐसी जगह पर पैदा हुआ जहाँ योगी हो गया। तो वह जो राजकुमार। शरीरकी प्राप्ति थी, वह थोड़ी वासनासे थी, थोड़े प्रारब्धसे थी, तो थोड़े दिन रही, तो बच्चेका शरीर छूट गया।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

नवीन वस्त्र! हमारे ठाकुरजी कैसे? तो एक ईश्वर ऐसा है जो अपने बच्चोंके लिए उसके पास बहुत सारे पोशाक हैं। थोड़े दिनोंके लिए पहनता है और फिर नंगा कर देता है। हमारे ईश्वरके पास इतनी पोशाकें हैं कि एक-एक बच्चेके लिए चौरासी-चौरासी लाख पोशाकें बनाकरके रखी हैं। नेवलेकी पोशाक पहन लो; देखो, जिसको ऐसी पोशाक, मनुष्यकी पोशाकसे सन्तोष नहीं होता, वह नेवलेका चाम अपने शरीरपर लपेटते हैं, लोमड़ीका चाम लपेटते हैं। ये जो बाल बनते हैं, बालोंके जो कपड़े होते हैं, ये पशुओंके ही तो बाल होते हैं न? पुराने जमानेमें हमने मेमोंको देखा है। वे पशुओंके चाम अपने शरीर पर लपेटकर रास्ते पर घूमा करती थीं। हमने कहा, यदि ईश्वर अगले जन्ममें इनको इसी चामवाली योनिमें भेज दें तो ईश्वर क्या दोष है? क्योंकि वही चाम उनको ज्यादा पसन्द है। वह बड़े-बड़े रोएँवाले होते हैं न, चाम? मैंने देखा है पुरुषोंको, वे पहनते हैं जिनमें बड़े-बड़े रोम लगे होते हैं। अब उनको वह बहुत पसन्द है, तो ईश्वरने आगे व्यवस्था की कि जाओ, तुम तिब्बतमें पैदा हो और वहीं बड़े-बड़े रोएँवाला जो है न, वह सहज स्वभावसे तुम्हारे अन्दर रहेगा। सारी व्यवस्था ईश्वरकी हुई है। अब इसमें तो खुशी ही होनी चाहिए कि हमको नया ही मिल रहा है। इसमें डर क्या? इसमें मरनेका कोई डर नहीं।

भीष्म-शरीर छूटे, द्रोण-शरीर छूटे, अर्जुन-शरीर छूटे, इसमें मरनेका क्या डर? चौरासी लाखमें-से कोई नया-नया पोशाक पहनेंगे, तो नये-नये ढंगसे धरती पर चमकेंगे। अगर तुमने सूक्ष्म-शरीरको अपना आपा बना रखा है तो पुनर्जन्मसे मत डरो, मरो और जन्मों। हाँ, नये-नये शरीर, नये-नये कपड़े पहनो!

●

: 23 :

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ 2.23

अग्नि इस आत्माको भस्म करनेमें असमर्थ है। अर्थात् अग्निमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा पर कोई प्रभाव डाल सके।

आपः न क्लेदयन्ति।

आपः=जल। यह हमेशा बहुवचनान्तमें ही प्रयुक्त होता है संस्कृतमें। यह पानी एक नहीं होता है। बूँद-बूँद, कण-कण होता है न? तो यह जो कण-कण जलका होना है, उसको संस्कृतभाषामें बहुवचनमें ही प्रयुक्त होता है, रामः रामौ रामाःकी तरह नहीं होता है। 'आपः अपः अद्भिः। अपाम् अप्भिः' ऐसे नहीं होता है—

एनं न क्लेदयन्ति। एनं=आत्मानं। न क्लेदयन्ति=जल आत्मा पर अपना कोई विकार नहीं डालता है। जल इसको गला नहीं सकता, सड़ा नहीं सकता। न शोषयन्ति मारुतः=एनं न शोषयति। और यह जो मरुत् देवता हैं, यह मरुत् देवता मारुत् मरुत् एव मारुतः= यह मरुत् देवता इसको सुखाते नहीं हैं। गीला पदार्थ होवे, चिकना पदार्थ होवे, तो वह उसको सुखा-सुखाकर नष्ट कर देता है। परन्तु आत्मदेवको यह सुखा नहीं सकता।

इसका अर्थ यह है कि यह आत्मा जो वस्तु है, उसपर पञ्चभूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। क्यों? अविक्रियत्वात् पहले बता चुके हैं कि इसमें कोई विक्रिया उत्पन्न नहीं होती। निरवयत्वात्=कोई अंग ही नहीं है उसमें। कोई अवयव ही नहीं है उसमें। कोई अवयव ही नहीं है उसमें तो दो टुकड़े कैसे करेंगे? उँगलीमें कई पोरवे हैं, तब उसको काट करके जुदा-जुदा कर

सकते हैं। लेकिन जिसमें अवयव ही नहीं हो, अंग ही न हो, अवयव=हिस्से। जिसमें हिस्से ही न होते हों, जो दो परमाणुओंके संयोगसे बनता हो न तो वैज्ञानिक लोग क्या करते हैं कि अपनी रीतिसे परमाणुओंको जुदा-जुदा कर देते है। जब परमाणुका विश्लेषण हो जाता है, तब अणुका भंग हो जाता है। इसलिए अणु संयोजन, अणुवियोजन-अणुओंको जोड़ना और अणुओंको अलग-अलग करना—ये दो शस्त्र पहले बनाये जाते थे। एक 'समरांगणसूक्त' नामका ग्रन्थ है, बड़ौदाकी जो 'ओरियंटल सोसायटी' है, उसने उसको प्रकाशित किया है, गायकवाड महाराजने। वह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है—'समरांगणसूक्तधान'। उसमें बताया है कि बहुत पहले अणुसंयोजनास्त्र और अणुवियोजनास्त्र बनाये जाते थे। तो जो दो चीजोंसे जुड़कर बनता है, वह 'जरासंध'का नाम तो आप लोगोंने सुना ही होगा। तो वह 'जरासन्ध' होता है।

अब वायुके अवतार जो भीमसेन हैं, उसके दोनों अवयवोंको, सन्धिको अलग-अलग कर देते हैं, विश्लिष्ट कर देते हैं और विचारा मर जाता है।

यह जरासन्ध जो है, वह कंसका ससुर है। 'अस्ति' और 'प्राप्ति' माने इतना हमारे पास है और इतना और भविष्यमें प्राप्त होगा। ये अस्ति-प्राप्ति दोनों कंसकी पत्नी हैं। तो इतना है और इतना और होगा, इसीको बोलते हैं, अस्ति और प्राप्ति। यह कंस भी दूसरोंको दु:ख देकर सुखी होनेकी आशा रखनेवाला अभिमान है। उसकी दोनों पत्नियाँ जरासन्धकी बेटियाँ हैं। जोड़-जोड़ करके जरासन्धका निर्माण हुआ है।

अब आप यह देखो कि आपकी आत्मा ऐसी है जिस पर पञ्चभूतका कोई प्रभाव नहीं पड़ता—इतना इस श्लोकमें-से निकाल लीजिये। अस्त्र-शस्त्र, वायु, अग्नि, जल कोई आपको मटियामेट नहीं कर सकते हैं।

जब अंग्रेजोंका जमाना था और क्रान्तिकारी लोग चाहते थे कि अंग्रेजोंको भारतवर्षसे निकालें, तो कई ऐसे थे, जो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ते थे। 'गीता' हाथमें ली और हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये। उनको यह श्लोक बड़ा प्यारा था—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अंग्रेज लोगोंने कहा कि—'ऐसी कौन-सी वस्तु है कि क्रान्तिकारियोंको प्रेरणा मिलती है? इसका पता लगाओ।' तो पता लगाया गया कि यह 'गीता' नामकी वस्तु है, भारतवर्षमें, उसके पढ़नेसे मृत्युका भय दूर हो जाता है और हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ते हैं। तो यह ख्याल हो गया कि—'इसके लेखकको गिरफ्तार कर लो।'

भाई! मालूम ही नहीं है कि इसका लेखक कोई बीसवीं शताब्दीका थोड़े ही है? व्यासजीने भी गीता बनायी नहीं है।

व्यासेन ग्रथितं पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।

व्यासजीके लिए गीतारूपी मनका इतना पसन्द आया कि—

व्यासेन ग्रथितं पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।

इन्होंने महाभारतमें—'मध्ये महाभारतम्' एक शब्द है—महाभारतमें इन्होंने यह फूल जोड़ दिया है, यह मालामें जो मनका पिरो दिया है, यह महाभारत नहीं है। यह तो जैसे मालामें फूल लगाया हुआ है, ऐसे महाभारतमें ग्रथित है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

आत्माको मारनेका सामर्थ्य पञ्चभूतमें नहीं है। यह बात देखी आपने इस श्लोकमें। अब दूसरे श्लोकमें यह बात बताते हैं कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

गीता 2.24

दूसरे श्लोकमें यह बताते हैं कि आत्मामें इनसे कटने-पिटनेकी योग्यता नहीं है। पहले श्लोकमें यह बताया कि काटनेवालेमें योग्यता नहीं है और दूसरे श्लोकमें यह बताया कि कटनेवालेमें कटनेकी योग्यता नहीं है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

इसमें यह बात कही गयी कि अन्नमयकोश जो स्थूल शरीर है, वह आत्मा नहीं है। अन्नमयकोश स्थूलशरीर है, आत्मा नहीं है, आत्मा इससे बिलकुल विलक्षण है। जाग्रत् अवस्थामें जिस पञ्चभूतके देहाकार परिणत अंशको हम मैं-मैं-मैं करते रहते हैं, यह काला, यह गोरा, यह लम्बा, यह चौड़ा, यह इतना वजन, यह इतनी उमर।

इतनी लम्बाई-चौड़ाई। वर्दी जिससे नाप लेते हैं—इतनी लम्बाई-इतनी चौड़ाई। मशीन पर खड़े होकर जिसका वजन कर लेते हैं कि इसका इतना वजन! और तिथि जिसकी नाप लेते हैं कि इस दिन पैदा हुआ, जिसके बारेमें अनुमान कर लेते हैं कि इस दिन मर जायगा। पैदा होना—मरना कालके बीचमें होता है। लम्बाई-चौड़ाई देशके बीचमें होती है और वजन जो है, आप जानते ही हैं, वह तो विषयके बीचमें, होता है। यह जो देश-काल-विषयके बीचमें सीमित पाञ्चभौतिक शरीर है, यह आत्मा नहीं है। इसी पर पञ्चभूतका प्रभाव पड़ता है, और इससे विलक्षण जो आत्मदेव हैं, इसपर इसका प्रभाव नहीं पड़ता—

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥

आत्मा न मिट्टी है न पानी है, न आग है, न हवा है न आकाश है। तो है क्या? तुम इनके साक्षी आत्मदेव हो। यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो अपने आपको इस रूपमें जानो—

अच्छेद्योऽयं अदाह्योऽयम्।

पहले पञ्चभूतमें कर्तृत्वका निषेध है पहलेमें, दूसरेमें पञ्चभूतमें विषयत्वका निषेध है।

आत्मा, न हन्ता है न हत है। अर्थात् आत्माका हन्ता कोई नहीं है। यह बात पहले श्लोकमें बतायी गयी और आत्मा हत नहीं होता, यह बात दूसरे श्लोकमें बतायी गयी।

अच्छेद्योयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

छेदना न रहे, दाहना न रहे, यह 'छेदनं अर्हति इति छेद्यः' न छेद्यः अच्छेद्यः अयं अच्छेद्यः'। अयम्=साक्षादपरोक्ष। 'यह जो मैं है,'—छाती पर हाथ रखकर बोलते हैं कि 'यह जो मैं है', 'यह जो आत्मा है'। इसमें कोई छेदन-भेदन नहीं है—कैसा है? छेदना न रहे=इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं किये जा सकते।

आप जानते हैं, बरसातके दिनोंमें लम्बे-लम्बे निकलते हैं कीड़े। कोई-कोई जाति उनकी ऐसी होती है कि उनके दो टुकड़े कर दो तो दोनों जिन्दा रहते हैं। अब सोचो कि उसमें आत्मा नामकी वस्तु है, वह किसमें है? पहले हिस्सेमें है कि दूसरे हिस्सेमें है?

अरे! यह जो जीवन-मरण है, उसका सम्बन्ध आत्मासे नहीं है। आत्माके रहते ही शरीरके दो टुकड़े हो गये। हमने देखा गाँवमें सूअरके बच्चेको बलि देते थे न, गाँववाले लोग तो काट देते पर सूअरके दोनों हिस्से अलग-अलग थोड़ी देर तक तड़फड़ाते रहते थे।

एक 'अमीबा' नामका कीड़ा होता है। उस कीड़ेका नाम होता है 'अमीबा'। लोग परीक्षा करते हैं तो हमारे सामने दिखा सकते हैं। उस कीड़ेका स्वभाव यह है कि वह जब थोड़ा बड़ा होता है, तो अपने-आप ही दो टुकड़े हो जाता है। फिर दो टुकड़े भी जिन्दा होते हैं। वह भी कटकर दो टुकड़े हो जाते हैं। फिर उनके दो टुकड़े भी जिन्दा रहते हैं। थोड़ी देरके बाद फिर उनके दो-दो हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी जो वंशपरम्परा चलती है, वह टुकड़े-टुकड़े होकरके चलती है। अब सोचो, शरीरका तो हो गया टुकड़ा। यदि आत्मा भी कोई टुकड़ा होता तो एक नहीं रहता न? एकमें ही वह टुकड़ा रहना!

आत्मा एकमें नहीं, आत्मा तो आकाशके समान तत्त्व है, भला! उसके ग्रहणकी जो योग्यता है, वह अन्त:करणमें होती है। अन्त:करणमें जहाँ आभासग्रहणकी योग्यता रहती है, वहाँ अन्त:करण क्रिया करता है। जहाँ अन्त:करणमें-से आभासग्रहणकी योग्यता मिट जाती है; शीशा खराब हो गया तो उसमें अब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।

मृत्यु माने आत्माका कहीं आना-जाना नहीं, मृत्यु माने जो उपलब्धिस्थान है, उनका अयोग्य हो जाना। आँखमें देखनेकी शक्ति न रहना, कानमें सुननेकी शक्ति न रहना—

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥

श्रीमद्भागवत 3.31.45

जन्म क्या है और मरण क्या है? शब्द-रूप-रस आदि जो विषय हैं, उन-उन विषयोंके ग्रहणकी शक्ति जिन-जिन इन्द्रियवृत्तियोंमें हैं, वे-वे इन्द्रियवृत्तियाँ जब-जब अयोग्य हो जाती हैं, तब उसका नाम होता है पञ्चत्व। पाँच चीजें पाँचमें मिल गयीं और अहंमानात्=जब पञ्चभूतोंके किसी विकारको 'अहं' मान लेते हैं, माने जब मैं हूँ तभी इसीका नाम उत्पत्ति होता है।

उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्=किसी दृश्यको देखकर उसको मैं मान लेना—दृश्यको मैं मानना ही जन्म है। जो दृश्यको मैं मानेगा उसीका जन्म हुआ और जो दृश्यको मैं मानेगा उसीकी मृत्यु हुई। जो आत्मा है वह तो न कभी जन्मा न मरा, वह तो बिलकुल दोनोंसे जुदा। तो—

'अयं अच्छेद्य:।' यह पृथिवीके द्वारा विकृत नहीं होता है। छेदा नहीं जाता। कुल्हाड़ीसे तलवारसे, खड्‌गसे, बन्दूककी गोलीसे, भालेसे कोई चाहे कि हम इसे मार देंगे या रस्सीसे फाँसी-वाँसी लगाकर मार देंगे, और 'अयं अदाह्य:'=कोई चाहे कि इसे लकड़ीके भीतर रखकर आग लगा देंगे, या बिजलीसे मार देंगे, बोले—यह सब कुछ नहीं।

अक्लेद्योऽशोष्य एव च=पानीमें रखकरके गला देंगे, तो यह गलनेवाला नहीं है, कटनेवाला नहीं है, जलनेवाला नहीं है और अशोष्य च=सूखनेवाला नहीं है और बिखर करके आकाशमें मिलनेवाला नहीं है।

तो क्यों नहीं है? अब कुल मिलाकर आठ और इस श्लोकमें पाँच हेतु इसके लिए देते हैं। इस श्लोकमें पाँच हैं और अगलेमें तीन हैं।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

गीता 2.25

मैंने देखा कि याद करनेवाले ऐसे ही याद कर लेते हैं कि—'यत्र योगेश्वर: कृष्ण:'से पाठ करना शुरू करेंगे और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' पर बिलकुल आदि तक उलटा कर देते हैं। बहुत सारे हैं ऐसे, एक दो नहीं। ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो अंतसे शुरू करते हैं और आदि तक कर लेते हैं बिलकुल। आदिसे अंततक तो सीधा ही है। फिर अध्यायको उलटे क्रमसे। अमुक शब्दका गीतामें कितनी जगह प्रयोग है, यह शब्द किस श्लोकके अंतमें है? यह शब्द किस श्लोकके आदिमें है? ऐसे याद करके बताते हैं। इसकी परीक्षा होती है इसका प्रदर्शन होता है। एक शब्दका कितनी जगह पर प्रयोग है कि अलग-अलग अर्थमें प्रयोग है? यह सब होता है। यहनहीं कि हमने गीताका श्लोक पढ़ लिया तो पढ़ लिया।

अच्छा, किस गिनतीका कौन श्लोक है और किस श्लोककी कौन-सी गिनती है? दोनों तरफसे पूछते हैं। तो जो मन लगाते हैं गीतामें, उसको गीतामें

बड़ी सामग्री मिलती है। मन एकाग्र हो जायगा गीतामें किस संख्याका कौन सा श्लोक है? गीताके दूसरे अध्यायका 24 वाँ श्लोक कौन-सा है?

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्।

दूसरे दिन पूछा—'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्। किस नम्बरका श्लोक है? तो '24 नम्बरका श्लोक है।'

यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य गीतामें कहीं और हैं कि 'बस यही है? तो तत्काल गीतापर नजर गयी और मन यहाँसे वहाँ दौड़ने लगगया।

देशबन्ध:चित्तस्य धारणा इसका नाम धारणासिद्धि है, भला! धारणासिद्धि=अपने मनको गीताके श्लोकोंके घेरेमें बाँध लेना। यह योगोक्त धारणा है। देशबंधश्चित्तस्य धारणा'—यह धारणा जिसको सिद्ध हो जाती है, उसको ध्यान भी सिद्ध हो जाता है।

तो आओ, अब ये पाँच हेतु जो इस श्लोकमें हैं और तीन हेतु बादवालेमें, दोनों मिला करके आठ हेतुपर विचार करें अथवा केवल पाँचका ही विचार करें, क्योंकि यह श्लोक है विशेष करके स्थूलशरीरके सम्बन्धमें। अगला श्लोक सूक्ष्म और कारणशरीरके सम्बन्धमें है। इस लिए दोनोंका विषय-विभाग कर सकते हैं। अथवा पाँच भूतका तो आत्मापर प्रभाव नहीं है। अब इन पाँच हेतुओंके द्वारा बताते हैं कि देश और कालका प्रभाव भी आत्मापर नहीं है। पाँच भूत और देश-काल ये दोनों आ गये। तो पाँच और दो सात हो गये और अगले श्लोकमें बतायेंगे कि मनका भी प्रभाव नहीं है। कारणशरीरका भी प्रभाव नहीं है, ऐसा—

नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन:।

इसका नाम 'स्थाणु उपनिषद्' है। क्यों? ये दोनों श्लोक जो हैं, 'स्थाणु उपनिषद्' है। स्थाणु माने होता है जो एक सरीखा एक जगह रहे। तिष्ठति इति स्थाणु:। यह 'स्था' धातुसे 'णि' प्रत्यय करके उणादिमें रूप बनता है। 'स्थाणु:'। स्थाणु बोलते हैं, 'शिव' को। मजेसे सो रहा है। तिष्ठत्=भूतकी तरह खड़ा है। आप लोग 'ईशावास्योपनिषद्'का पाठ करते हैं न!

तद् धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्।
तस्मिन्नो मातरिश्वा दधाति॥ ई. उ. 1.4

एक 'तिष्ठत्' पदसे वहाँ ब्रह्मभावका वर्णन है। उसीका 'स्थाणु' पदसे यहाँ वर्णन है।

धावतः अन्यान् अत्येति।

दौड़नेवाली दुनियामें जितनी चीजें हैं, उन सबसे यह आगे है। तब तो यह भी दौड़ता होगा? दौड़-प्रतियोगिता होवे, वहाँ मीठासिंहकी तरह यह सबसे आगे पहुँचता होगा! बोले—'नहीं-नहीं, यह सबसे आगे पहुँचनेवाला नहीं है, बल्कि 'तिष्ठत् अत्येति'—दौड़ता नहीं है और दौड़नेवालेसे आगे रहता है। क्या मजा है? कालकी दौड़में, देशकी दौड़में। कालकी दौड़में रुद्रदेवता सबसे आगे।

'योगवासिष्ठ'में जहाँ आयु बतायी है, वहाँ रुद्रकी आयु अधिक बतायी हुई है। और आकार बनानेके लिए विषय चाहिए। आकारोंकी दौड़में, व्यक्तियोंकी दौड़में ब्रह्मा सबसे आगे। सारी व्यक्तियाँ जो हैं, ब्रह्मामें समा जाती हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥

गीता 8.18

देवताकी दृष्टिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बोलते हैं। ब्रह्माकी जो आयु है, हम लोगोंकी दृष्टिसे तो बहुत बड़ी है। 44 लाख बरस चतुर्युगीका एक दिन। और सहस्र चतुर्युगीके बराबर एक रात्रि। वैसे-वैसे 360 दिनका वर्ष और वैसे-वैसे 100 वर्ष ब्रह्माकी आयु और यह ब्रह्मा विष्णुका एक क्षण और वैसे क्षणोंका दिन और दिनोंका महीना और महीनोंका वर्ष और उन वर्षोंके हिसाबसे विष्णुकी सौ वर्षकी आयु और वह रुद्रका एक क्षण और उस हिसाबसे रुद्रकी सौ वर्ष आयु और वे? कि निराकार ईश्वरका एक संकल्प। और वे? महाप्रलय और निराकार ईश्वर मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें आरोपित और वह ब्रह्म अपनी आत्मा। सीताराम! सीताराम!! सीताराम!!! ऐसे गणना होती है। यह 'पुराण' है। इसका नाम 'पुराण' है भला!

आप लोग तो पुराणसे ज्यादा सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इसका नाम है 'पुराण।' अभी एक सज्जनने चिट्ठी लिखी है गंगा किनारेसे कि मेरी उमर पचीस वर्ष और मैं M.Com करके विश्वविद्यालयसे निकला हूँ और स्वस्थ भी

हूँ। सुन्दर भी हूँ और ब्रह्मचारीवेशमें रहता हूँ। ब्रह्मचारीका वेश मैंने धारण किया है। अब मेरी इच्छा है कि मैं विदेशोंमें जाकर भारतीय संस्कृतिका प्रचार करूँ। आप मेरी सहायता कीजिये।'

मैंने उनसे पूछा है कि आपने M.Com तो किया है, पर 'वाल्मीकि रामायण' कभी पढ़ा है कि नहीं? महाभारत कभी पढ़ा है कि नहीं? वेद-वेदान्तदर्शनसे कुछ संबंध है कि नहीं? और, इन ग्रंथोंको भी अंग्रेजीके माध्यमसे पढ़ना दूसरी बात है और इन ग्रंथोंके बिना भारतीय संस्कृतिका, ज्ञान? तीन दिन तो 'वाल्मीकि-रामायण' नहीं पढ़ी, दो दिन 'महाभारत' नहीं पढ़ा, छः दिन दर्शनशास्त्रमें खर्च नहीं किये, और ये अब विलायत जाकर भारतीय संस्कृतिकी महिमा कैसे बढ़ायेंगे? तो वे यही कहेंगे कि यहाँके अमुक वैज्ञानिकने यह कहा है, यहाँके अमुक अर्थशास्त्रीका यह मत है। वह यह दिखायेंगे कि हमने भारतवर्षमें रहकर तुम्हारी संस्कृति और तुम्हारे विद्वानोंका अध्ययन किया है। वह यह नहीं बता सकते कि हमने 'वाल्मीकि-व्यास' और 'जैमिनी-कणाद'-'गौतम' का अध्ययन किया है। भारतीय संस्कृतिका ज्ञान चाहिए न!

अब यह देखो, काल कितना लम्बा होता है? देश कितना लम्बा होता है? वस्तु कितनी लम्बी होती है। अगर यह बात नहीं समझोगे तो यह 'गीता'-का दर्शन क्या समझमें आयेगा?

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

स्थाणुः 'तिष्ठत्'। उपनिषद्में जिसको 'तिष्ठत्' कहा है वह यहाँ 'स्थाणु' है। उपनिषद्में भी 'स्थाणु' शब्द खूब मजेमें आता है, वेदमें भी आता है। 'खण्डन-खण्डखाद्य'के कर्ता 'स्थाणु' की वन्दना करके तब 'खण्डन-खण्डखाद्य' प्रारम्भ करते हैं—

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु।
ईश्वरमुमया न परं वन्देऽनुमयापि तमधिगतम्॥
केवलं उमासहायं अशरणं परमेश्वरं विभुम्।

केवल वे उमाके पास ही नहीं रहते हैं, वे अनुमाके पास भी रहते हैं। 'अन् उमा' तो यह कौन है? 'अणु' है। जिसमें कोई विकल्प चोर-सिपाही और भूत-प्रेत आदिका कोई अध्यारोप नहीं है। 'स्थाणु' बोलते हैं ठूँठको।

झाड़ी-वाड़ी कट जाती है, पत्ते-वत्ते नहीं रहते जंगलमें। खड़ा है स्थाणु। स्तब्धो तिष्ठति दिवि एकः।

श्रुतिमें—'स्तब्ध हो करके अकेले ही जो अंतरिक्षमें स्थित है, स्तब्ध! न हिलता है, न डोलता है, न चलता है न बोलता है। जगन्नाथ हो गया। 'दारुभूतं मुरारी'! लकड़ीका बन गया। हाथ नहीं कि करम करे। अकर्ता है। पाँव नहीं कि चले। पाँव और हाथ भी कट गये। और जो दीखता है, उसमें कोई सौन्दर्य नहीं है। यह तो जगन्नाथका रूप है।

यह जगन्नाथका रूप है। हाथ कटा, पाँव कटा, अचल है, अकर्ता है और लकड़ीका बना हुआ! अभोक्ता है। यह जगन्नाथ स्वामीका रूप है। स्थाणु है स्थाणु! इन्हींका नाम 'स्थाणु' है।

अविकल्पविषय एकः स्थाणु पुरुषः।

न इसमें चोरकी कल्पना है—'अनारोपिताकारम्'। न सिपाहीकी कल्पना, न भूत-प्रेतकी कल्पना। ऐसा यह स्थाणु आकारके आरोपसे सर्वथा विनिर्मुक्त। यह स्थाणु है।

नित्यः माने काल इसको स्वरूपसे नहीं काटता है, मरता नहीं है कभी। सर्वगतः माने देश इसको स्वरूपसे कभी नहीं काटता है, यह सब जगह भरपूर है। इस श्लोकमें यह विशेषता है 'सर्वगतः'।

सारी गीतामें 'त्वं' पदार्थको देश-परिच्छेदसे रहित यहाँ साफ-साफ कहा गया है। यहाँ 'तत्' पदार्थका निरूपण नहीं है, 'त्वं' पदार्थका निरूपण है। और इसमें ईश्वरका निरूपण नहीं, जीवका है।

जीवको सर्वगत कहना, जीवको सर्वव्यापी बोलना, यह कौन कहता है? भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे इसमें साफ-साफ सर्वगत शब्दका प्रयोग किया गया है। सर्वगत=देश जिसको काट नहीं सकता और स्थाणु=आकारकी कल्पनासे रहित। जिसमें आकारका केवल अध्यारोप ही होता है।

अचलोऽयं सनातनः=सर्वगतत्वात् अचलः। नित्यत्वात् सनातनः। सबमें रहनेके कारण चलकर कहाँ जायेंगे? जो चलता है वह एक जगहसे पाँव उठाकर दूसरी जगह रखता है। जो सर्वगत है, वह चलेगा कहाँ? इसलिये अचल है। देशमें चलना नहीं हो सकता। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम आदमीकी कल्पना है। जैसे, देखो हम बैठ गये तख्ते पर, हमारे आगे

लाउडस्पीकर हो गया और पीछे हो गया मैं और दाहिने हमारे स्वामीजी! बाँये यह मशीन समझो! दादाको बाँये बनानेका खयाल हमको नहीं होता; जान-बूझकर इसी लिए हमने नहीं बोला। मेरे ध्यानमें यह बात आयी कि दाहिने ही सब रहे। बाबा बाँये कोई न हो। गृहस्थके लिए तो बाँये भी चाहिए। उनके तो वामाङ्ग होता ही है!

अब यह देखो! अचल। हम जब एक शरीर बनकर बैठ गये तो पूरब हुआ, पश्चिम हुआ, उत्तर हुआ, दक्षिण हुआ, ऊपर हुआ, नीचे हुआ। पर दिग्भेदकी कल्पना कहाँसे आयी? हमारी परिच्छिन्नतामें से निकली। आप समझ लो कि हम एक कल्पना कर लें झूठी कि जिसकी समझमें न आता हो, वह झूठी कर ले कि 'मैं आकाश हूँ'। 'मैं चिदाकाश हूँ।' 'मैं चिदाकाश हूँ?' 'मैं ब्रह्म हूँ।' 'मैं ईश्वर हूँ।' झूठी कल्पना कर लो। जैसे बोलते हैं न, 'मान लो!' जैसे बच्चोंको सिखाते हैं, 'मान लो!' एक सज्जनने एक बालकसे कहा—'मान लो, तुम्हारे पास पांच लड्डू हैं।' उसने इधर-उधर देखा, बोला—'हमारे पास बिलकुल नहीं हैं।' नहीं हुआ तो क्या हुआ? अगर मान लो तो हम तुमको बतावें कि उसमें दो का भाग नहीं है। तो कैसे भाग दिया जायगा, बाँटा कैसे जायगा उसको? दो व्यक्तियोंको दो-दो दे दिया तो तुम्हारे पास एक बच रहा।

'हमारे पास हैं ही नहीं, तो हम दो व्यक्तियोंको देंगे कैसे और बाँटेंगे कहाँसे? यह बात गलत है, हम जानते ही नहीं।'

बोले—'अब इसको गणित नहीं आयेगा।' बिना अध्यारोपके, बिना स्वयं-सिद्धिको स्वीकार किये गणितके जो रहस्य हैं, वे किसीकी समझमें आते ही नहीं।

तो अब मान लो आप, फर्ज कर लो-इसीको बोलते हैं अध्यारोप। शिष्यको समझानेके लिए गुरुजन जो अध्यारोप करते हैं, 'तुम देह नहीं हो, तुम स्वर्गमें आने-जानेवाले कर्ता हो'—यह क्या है? यह अध्यारोप है। यह अध्यारोप स्वीकार करके तब अपवाद समझाया जाता है। पाँचमें अगर दो का भाग दें तो कितना बाकी बचा? एक। ऐसा बच्चोंका गणित है, भला! बड़ोंका गणित ऐसा नहीं है। अगर पाँचको दो-में बाँटना है तो आपको ढाई-ढाई बाँटना पड़ेगा। पर अपने हाथ कुछ नहीं लगाना पड़ेगा। हाथ

लगानेवाली जो नीति है न, कि हमारे पास इतना बच गया, यह बंदरबाँट है। इसका नाम बंदरबाँट।

दो आदमी आये कि 'भाई, हमारी रोटी बाँट दो।' इधरसे ज्यादा हो गया, तो जितना ज्यादा हो गया, 'वह हम तोड़कर खा लेते हैं।' फिर दूसरेमें दूसरी ओरसे ज्यादा हो गया तो अब हम इसमेंसे तोड़के खा लेते हैं' अब वह ज्यादा होता जाय और बंदर खाता जाय। दो-में-से किसीको एक टुकड़ा भी नहीं मिला। तो भाग देनेकी यह प्रणाली नहीं है कि पाँचमें-से दो का भाग दिया जाय और एक बच जाय! भाग देनेकी प्रणाली यह है कि जब पाँच बटे दो कर दो तो तुम्हारे पास कुछ न बचे, भला!

तो अब देखो, यह विचार करो कि अपने पास अपना आपा जो है, अध्यारोप कर लो कि आकाश है। भूताकाश है; यही कर लो; चित्ताकाश है, यह कर लो। चिदाकाश है, यह कर लो।

भूताकाश कर लो तो तुम्हारे भीतर क्या पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, यह लाउडस्पीकर क्या तुम्हारे उत्तर पड़ता है? यह खम्भा क्या तुम्हारे पीछे पश्चिम पड़ता है? नहीं, आकाशमें पीछे और आगे नहीं होता है। यह तो जब हम परिच्छिन्न देहसे तादात्म्य कर लेते हैं, तभी पड़ता है।

'अंचल' कहनेका अर्थ क्या हुआ? जब पूरब नहीं रहा, पश्चिम नहीं रहा; उत्तर नहीं रहा, दक्षिण नहीं रहा, निराकार निरवयव स्थाणुमें, जो कि सर्वगत है; नित्य है, उसमें चलना कहाँसे होगा?

बोले—अच्छा, जरा ठहरो, हम एक बात बताते हैं। कई चीजें ऐसी होती हैं जो देशमें नहीं चलती हैं, लेकिन कालमें यह चलती हैं। घड़ेका होना और घड़ेका फूटना यह काल है। तो यह घड़ेका कालमें चलना हुआ। घड़ेको एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रख दिया, तो यह घड़ेका देशमें चलना हुआ। घड़ा एक ही जगह रहकर घिस गया, तो यह उसका कालमें विलयन हो गया। विक्रिया हो गयी। आत्मदेव जो हैं, वे देशमें नहीं चलते, इसलिए तो अचल हैं और कालमें नहीं चलते हैं, इसलिए सनातन हैं। सदाभवः सनातनः। कालसे परिच्छिन्न होना दूसरी बात है। तो नित्य और सर्वगतः, यह तो देश-कालके स्वरूप-सम्बन्धका निषेध करनेके लिए है और अचल और सनातन जो है, यह देश-कालमें होनेवाले विकारका निषेध

करनेके लिए है। 'स्थाणु' यह आरोपित आकारका निषेध करनेके लिए है। ऐसे हैं ये आत्मदेव।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

आत्माका नाम आत्मा क्यों है? आत्माका नाम आत्मा इसलिए है कि 'आप्नोति इति आत्मा।' यह निरुक्तकी व्युत्पत्ति है। यह पाणिनीय व्युत्पत्ति नहीं है। यच्चाप्नोति माने कारण होनेके कारण, उपादान कारण होनेके कारण, अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होनेके कारण अपने कार्यमें व्याप्त होता है। यच्चाप्नोति—जैसे घटमें मृत्तिका व्याप्त है, जैसे रूपमें प्रकाश व्याप्त है, इसी प्रकार जो सम्पूर्ण कार्यमें व्याप्त है, उसको यच्चाप्नोति। यच्चाप्नोति माने? जैसे कार्यमें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण व्याप्त होता है।

यदादत्ते—माने जो ज्ञानस्वरूप होनेके कारण सबको ग्रहण करता है, गृहीता है, ज्ञाता है। यदादत्ते इति आत्मा। खा जाता है, चट् कर जाता है, जो सम्पूर्ण विषयोंका भोग कर लेता है। यच्चाप्नोति यदादत्ते। यच्चाप्नोति विषयानिह।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवति ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थं वेद यत्र सः॥

मृत्यु जिसकी चटनी है और ब्रह्म शक्ति और क्षत्रशक्ति=प्रज्ञाशक्ति और प्राण। ब्रह्मशक्ति माने प्रज्ञाशक्ति। क्षत्रशक्ति माने प्राणशक्ति जो है, महाप्राण। देखो, हमारे 'हित....जी' कल बोल रहे ते न, कि प्राणशक्ति जो है, महाप्राण! कितना जोशीला-कितनी शक्तिसे बोल रहे थे? ताकतसे बोल रहे थे, प्राणशक्तिसे बोल रहे थे। कई लोग बोलते हैं तो—'में-में' बोलते हैं न? तो क्या हैं? अल्पप्राण। अल्पप्राणका बोलना और महाप्राणका बोलना, वे दोनों अलग-अलग होता है। तो यह महाप्राण-यह प्रज्ञा और प्राण। प्रज्ञाकी प्रधानतासे कोई बोलता है, प्राणकी प्रधानतासे कोई बोलता है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टिमें जो ईश्वर है, वह प्रज्ञाशक्ति और प्राणशक्ति दोनोंका अनन्त खजाना और प्राण दोनोंकी उपाधि नहीं है। तो 'यच्चात्ति विषयानिह'। ब्रह्म और क्षत्र। प्रज्ञा और प्राण। मृत्युकी चटनी लगाकर जैसे कोई चाट गया हो, इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा उसको कहते हैं, यह आत्मदेव हैं।

'यच्चाप्य विषयानिह। यच्चाप्य संततो भाव:।' यह व्यापक बताया। देखो, 'यच्चाप्नोति'—यह अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। और 'यदादत्ते'—यह स्वयं प्रकाश सवविभासक है ज्ञानस्वरूप। और 'यच्चाप्य विषयानिह'—यह उमरमें सबसे बड़ा, कालसे अपरिच्छिन्न है। और 'यच्चाप्य संततो भाव:'— यह व्यापक बताया। सब जगह परिपूर्ण है, देशमें अपारेच्छिन्न है। उसीको बोलते हैं—

अस्मात् आत्मेति कीर्त्यते।

'आत्मा' शब्दकी चार व्युत्पत्ति है—'आप्नोति इति आत्मा'। 'यदादत्ते इति आत्मा'। 'आस्ति इत आत्मा'। और,'अतति इति आत्मा'।

'अत सातत्य गमने'—'अति सन्ततो भाव:'। चार व्युत्पत्ति 'आत्मा' शब्दकी है। इसलिए अचलोऽयं सनातन:।

अब कहते हैं, थोड़ा और आगे बढ़ो। देश-काल-पदार्थ और पंचभूत, इनका असर तो आत्मा पर नहीं पड़ता है। देखो, देशका भी नहीं। रूसमें होवे तो क्या? अमेरिकामें होवे तो क्या? आत्मा एक ही है, भला! ब्रह्मलोकमें होवे तो क्या? नरकलोकमें होवे तो क्या? आत्मा एक ही है। प्रलयकालमें होवे तो क्या? सृष्टिकालमें होवे तो क्या? आत्मा एक ही है। दुनिया चाहे जिस-जिस रूपमें बने-बिगड़े, जिस समय जैसा उत्थान हो, जैसा पतन हो, जैसी उथल-पुथल हो, चाहे जैसा आकार-प्रकार-संस्कार-विकार हो, इसका कोई असर नहीं पड़ता है। यह तो भौतिक प्रपंचका प्रभाव है।

भूतभौतिक प्रपंचका प्रभाव आत्मापर नहीं पड़ता है। यह बात बतायी। अब सूक्ष्म और कारण प्रपंचका प्रभाव भी आत्मापर नहीं पड़ता है, यह बात बतानेके लिए अगला श्लोक प्रारम्भ करते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

गीता 2.25

अयमात्मा अव्यक्त:। अयमात्मा अचिन्त्य:। अयमात्मा अविकार्य:। 'उच्यते' सब जगह लगाओ। 'अयमात्मा अव्यक्त: उच्यते।' 'अयमात्मा अचिन्त्य: उच्यते'। अयमात्मा अविकार्य: उच्यते।

तस्मात् एनं आत्मानं एवं विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि।

यह आत्मा अव्यक्त है। यह आत्मा अचिन्त्य है। यह आत्मा अविकार्य है। ऐसा वेदमें, वेदान्तमें सर्वत्र कहा गया है। अनुभवी पुरुषोंने, महापुरुषोंने कहा है। तस्मात्=इसलिए, एनं एवं विदित्वा= इस आत्माको इस तरह जानकर, 'अनुशोचितुं न अर्हसि'=तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। बात तो यह हो गयी कि तुम 'अनुशोचितुं न अर्हसि'। यह जड़ा कड़ा आक्षेप है। त्वं अनुशोचव्यं न भवसि।

'त्वं शोच्यः न भवसि'। 'इदानीं' तु ते न शोच्यः।'
'अस्मादस्य न शोच्यः।' इदानीं तु त्वमेव
शोच्यः भवति, अतः शोकमर्हसि, शोक योग्यः भवसि।

अर्जुन! भीष्म-द्रोण भी शोक करने योग्य नहीं हैं। इस समय तो तुम स्वयं ही शोच्य हो रहे हो। जैसे तुम शोकके योग्य बन रहे हो। शोक किसको बोलते हैं? 'शोच्यं अर्हसि इति शोच्यः'। जो शोकका अधिकारी है, उसको शोच्य बोलते हैं। जैसे, वेदान्तका अधिकारी कौन है?

वेदान्त ज्ञानका अधिकारी कौन? भाई! जिसमें योग्यता और आकांक्षा दोनों होवे। बड़े-बड़े बैरिस्टर हैं, जज हैं, बड़े-बड़े अकलमंद हैं, आप जानते हैं, महाराज! बालकी खाल खींचे ऐसे अकलमंद!

एकने प्रश्न किया कि 'क्यों जी! जिसे वेदान्तज्ञान होता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।' हाँ हो जाता है। इसमें क्या बात है?

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

'अच्छा, बताओ, मेरे मनमें क्या है? सर्वज्ञ हो गये तो बताओ। मेरे मनमें क्या है?'

बोले—'तुम्हारे मनमें 'क्या' पदका अर्थ है। बताओ!' बोले—तुमने क्या शब्द (पद)का उच्चारण किया है, तो निरर्थक कि सार्थक? बोले—'सार्थक।' 'तो जिस अर्थको ध्यानमें रखकर तुमने 'क्या' पदका उच्चारण किया है, वही अर्थ तुम्हारे मनमें है। तुम्हारे मनमें क्या पदार्थ है? किं पदार्थ है तुम्हारे मनमें? यह कहनेका नहीं है।

यह नहीं समझना कि यह कट जायगा। वक्ताने किस पदको देखते हुए 'क्या' पदका प्रयोग किया है। इसी 'क्या' पदका अर्थ, वही अर्थ उसके मनमें मौजूद है। बड़े-बड़े विद्वान्, वे तो कोई युक्ति, कोई अकल

चलने नहीं देते हैं। तो योग्यता तो उनके अंदर है। योग्यता तो है कि नीचे बैठते हैं। श्रद्धा न होती तो नीचे कैसे बैठते? अपने घरमें उत्तम सोफेपर बैठनेमें जो सुख मिलता है, वह टाटपर बैठनेमें थोड़े मिलता है? तो तितिक्षा भी तो है न! घण्टेभरके लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा समाधान सब ले करके यहाँ बैठे हैं। योग्यता तो है।

अब देखो, आकांक्षा है कि नहीं? जो अपना अभिमान दिखाना चाहता होगा, हमारे बड़ा भारी सत्संग चलता है, तो जो सत्संग चलानेवाले हैं, पैसेवाले हैं, तो उनके पास इसलिए भी लोग आते हैं कि सत्संगमें चलके नोट करने लगेंगे, सत्संग लिखने लगेंगे। प्रश्न करने लगेंगे। जान-पहचान हो जायगी तो अपने यहाँ नौकर रख लेंगे। या सिफारिश करके या कहके अपनी बेटीके ब्याहके लिए पैसे दिलवा देंगे। और आते हैं सत्संगमें। आकांक्षा उनका ब्रह्मज्ञानकी नहीं है न! उनकी आकांक्षा संसारकी है। पण्डित होने पर भी जहाँ आकांक्षा अशुद्ध है, वहाँ ब्रह्मज्ञान नहीं है। इसीका नाम अधिकार है। आकांक्षा ब्रह्मज्ञानकी है कि नहीं और उसको समझनेके लिए बुद्धिमें जितनी सामग्री-तैयारी होनी चाहिए, वह तैयारी कर ली कि नहीं? आपको कोई चीज दीखती है तो देखनेका मन भी होवे, आँख भी निरापद होवे, आँख साफ-साफ होवे तो चीज ठीक-ठीक दिखती है। आँखका साफ होना अन्तःकरणकी शुद्धि है। और आकांक्षाका होना यह लक्ष्यमें एकाग्रता है, एक वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा है। यह वेदान्तका अधिकार है।

अर्जुन क्या है? बोले—'अर्जुन! तुम वेदान्तके अधिकारी क्या होगे? तुम तो शोकके अधिकारी हो गये। लेकिन मैं बताता हूँ कि तुम शोकके अधिकारी मत बनो। तुम ज्ञानके अधिकारी ही बनो। मैं तुम्हें शोकका अधिकारी नहीं, ज्ञानका अधिकारी बनाना चाहता हूँ। अब ये बताते हैं न,'अव्यक्तोऽयं'=तुम स्थूल शरीर नहीं हो।'अचिन्त्योऽयं उच्यते'=तुम सूक्ष्म शरीर नहीं हो। 'अविकार्योऽयं उच्यते'=तुम विकार्य, विकृतिको प्राप्त होनेवाला जो कारण शरीर है, वह तुम नहीं हो। यह आत्मा जो है, यह स्थूल शरीर नहीं है, सूक्ष्म शरीर नहीं है, कारण शरीर नहीं है। और दूसरा इसका क्या अर्थ है?

अव्यक्त=प्रत्यक्षादि प्रमाणसे जाने जाते नहीं हो। पहले बताया कि

पदार्थ तुम्हारे अन्दर विक्रिया उत्पन्न नहीं कर सकते। अब बताते हैं कि नेत्र आदि जो प्रमाण हैं, वे तुमको विषय नहीं कर सकते। क्योंकि वे व्यक्तको विषय करते हैं। तुम अव्यक्त हो। तुम प्रत्यक्षादि-जन्य नहीं हो, इसलिए अव्यक्त और अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि-उनके द्वारा तुम जाने नहीं जा सकते।

'अचिन्त्योऽयं'=जहाँ चिन्ता हो सकती है, वहाँ अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, उपमान, अनुमान कुछ लग जायगा।

'अविकार्योऽयं उच्यते'=अविकार्य है माने किसी क्रियाके द्वारा उत्पन्न करके, संस्कार करके, उत्पादन करके, आप्य-उत्पाद्य-संस्कार्य-करके, उत्पादन करके, आप्य-उत्पाद्य-संस्कार्य-विकार्य ये चार जो हैं और विनाश्य भी कोई-कोई गिनते हैं, कुल पाँच। ये पाँच कोई-कोई गिनते हैं। ये पाँच बात आत्मतत्त्वमें नहीं हैं। इसलिए यह तो पदार्थ 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यजन्य जो ज्ञान है, उसीके द्वारा जाना जा सकता है। दूसरा कोई प्रमाण इसके सम्बन्धमें नहीं है।

तस्मादेवं विदित्वा एनं।

इसलिए कोशिश करो—

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

यदि भाई! इसी जीवनमें परमात्माको नहीं जाना, तो महान् विनाश। इस आत्माको जाननेकी कोशिश करनी चाहिए, नहीं तो तुम शोकके, दुःखके, मोहके अधिकारी हो जाओगे। इसी जीवनमें इस परमात्म-तत्त्वको जानना चाहिए।

●

: 24 :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ 2.25

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथि बने हैं, नरके नारायण ! नर अर्जुन और नारायण श्रीकृष्ण : उपदेश कर रहे हैं ऐसा जिससे अर्जुनका शोक निवृत्त हो जाय। इसका मतलब हुआ कि श्रीकृष्णको शोक करना पसन्द नहीं है। होवे तो भले, लेकिन कोई शोक न करे। क्योंकि रोना तो एक बारकी बात है। थोड़े आँसू गिरा लिये, थोड़ा फफक लिया, परन्तु शोक-मोहसे दब जाना, यह श्रीकृष्णको बिलकुल पसन्द नहीं है। इसलिए अपने मित्र अर्जुनको चित्तमें-से शोकका निवारण करनेके लिए यह प्रयास कर रहे हैं।

सारथि बन करके रथका संचालन करना, यह तो संसारके युद्धमें अपने मित्रको विजयी बनानेकी नीति है। महाभारतके युद्धमें अर्जुन विजयी हो जाय। और उपदेश जो कर रहे हैं, वह तो संसारका युद्ध जो है न, हृदयके भीतर शोक-मोहके शत्रु जो आक्रमण करते हैं, भीतरी शत्रुओंसे बचानेके लिए उपदेश है और बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे बचानेके लिए रथकी बागडोर अपने हाथमें लेकर सारथि और उपदेशकमें कुछ समानता तो होती है जरूर। सारथि जैसे अपने रथको दाँये-बाँये, आमने-सामने, आगे-पीछे ले चलता है, और रथ कैसे रहनेपर विजयी होगा, इसपर ध्यान रखता है, इसी प्रकार यह मनुष्यका मनोरथ है, जिसपर यह जीव रूप रथी चढ़ा हुआ है, यह मनोरथ जो है, यह किस दिशामें चले, तो जीव इस जीवन-युद्धमें विजयी होगा, जैसे रथपर सारथि होता है, रथको मोड़ देनेवाला, आगे बढ़ानेवाला, इसी प्रकार जीवनमें उपदेश करनेवाला जो उपदेशक-उपदेष्टा है, जो देशिक है, जो सद्गुरु है, वह हमारे मनको मोड़ देनेवाला होता है।

कहाँ मनको मोड़ दिया जाय, कहाँ मनको आगे बढ़ाया जाय, कहाँ मनको पीछे हटाया जाय, और रथी और सारथिमें मतभेद हो जाय और गुरु-शिष्यमें मतभेद हो जाय तो गाड़ी आगे नहीं चलती है। रथ आगे नहीं बढ़ता है।

अब देखो यहाँ, भगवान् श्रीकृष्ण बड़े कृपामय हैं। कृपामूर्ति श्रीकृष्ण कहते हैं—'अर्जुन! तुम शोकका अधिकरण होने योग्य नहीं हो।' 'नानुशोचितुमर्हसि।' तुम्हारे जिस हृदयमें उत्साह रहना चाहिए, विजयकी भावना रहनी चाहिए, ईश्वर भावना रहनी चाहिए। मेरी मैत्री, मेरी भक्ति, मेरी प्रीति रहनी चाहिए। तुम्हारे जिस हृदयमें तत्त्वज्ञानकी क्रीड़ास्थली होनी चाहिए, उसी हृदयमें तुम शोक-मोहको बसा रहे हो? 'अस्थाने एतत्'। यह बात बिलकुल अयोग्य है, अनुपयुक्त है, अनुचित है, क्यों? क्योंकि आत्माका इन बातोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

अव्यक्तोऽयं-पहले बतायी गयी बात कि 'पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश' इन पञ्चभूतोंमें आत्मापर असर डालनेकी कोई ताकत नहीं है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। फिर बताया गया—'अच्छेद्योऽयं, अदाह्योऽयं, अक्लेद्योऽशोष्य एव च। आत्माका स्वरूप ही ऐसा है कि इसपर किसीका असर नहीं पड़ सकता है। असर डालनेमें असर डालनेवाली शक्ति नहीं और जिसपर असर डालना है, वह चीज ऐसी ठोस कि उसपर किसीका असर पड़ न सके। फिर देश-कालका परिच्छेद नहीं है। और देश-कालके प्रभावसे कोई परिणाम-परिमाण=नापतौल और परिणाम=अदलबदल आत्मामें नहीं होती है। यह स्थाणु देवता है।

स्थाणु देवता है=विषयके विकल्प नहीं है। 'अविकल्पविषय एकः' स्थाणु पुरुषः। **श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु**'।

यह चोर है कि यह सिपाही है, कि यह भूत है कि यह पिशाच है? स्थाणु है न? उसमें कल्पना तो बहुत होती है। किसी भी कल्पित आकारके संस्पर्शसे वह रहित होता है। सामनेसे देखनेवाला उसे भूत समझे तो वह भूत नहीं हो जाता, चोर समझे तो वह चोर नहीं हो जाता। दूसरे लोग अपनी-अपनी

इन्द्रियोंसे और अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार और अपने-अपने अध्यासोंके अनुसार उस परमात्म-तत्त्वमें भिन्न-भिन्न आकारकी कल्पना करते हैं, परन्तु वह तो स्थाणु है। दूसरेके द्वारा कल्पित कोई आकार उसे स्पर्श नहीं कर सकता।

अनारोपिताकारं तत्त्वम्।

तत्त्व लक्षण क्या है? तत्त्वकी पहचान क्या है? जितनी शकल-शूरत, आकार-प्रकार-संस्कार-विकार आरोपित किये हैं उनका निषेध कर दो। हार-कुण्डल-कड़ेको देखना छोड़ करके एक बार सोनेको पहचानो। सोना क्या है? आकारके आरोपसे रहित और आकारोंके बनने-बिगड़नेसे असंस्पृष्ट स्वर्ण जो है, वह तत्त्व है।

अब दूसरे ढंगसे इसी 'स्थाणु-उपनिषद्' में बातको समझाते हैं—

अयमात्मा अव्यक्तः। अयमात्मा अचिन्त्यः।

अयमात्मा अविकार्यः। यह जो आत्मदेव हैं,'अयमात्मा,' का अव्यक्तः उच्यते श्रुतिभिः पुनः-पुनः! यह आत्मा जो है, यह श्रुति-शास्त्रमें महापुरुषोंके द्वारा बार-बार 'अव्यक्त' कहा जाता है। अब पहले 'अव्यक्त' शब्दको ले लें। क्योंकि लोग शब्दोंका अर्थ ऐसे ढंगसे लेते हैं। कि बोलनेवालेका अभिप्राय ही गड़बड़ा जाता है। जिस अर्थमें वक्ताने शब्दका प्रयोग किया है, यदि श्रोताने उसी अर्थमें उस शब्दको नहीं समझा, अपने मनमाने अर्थमें समझ लिया, तो वक्ताका अभिप्राय खो गया, गड़बड़ा गया, वह तो कचरेमें हीरा गिर गया।

मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें। हमारा हीरा कचरेमें, मैलमें खो गया। क्यों खो गया? कि हमने किसी शब्दका प्रयोग किया एक अर्थमें और श्रोताने उसको दूसरे अर्थमें ले लिया। तो अब देखो, 'अव्यक्त' शब्द है, उसका क्या अर्थ है? यहाँ ऐसे लोग भी हैं जो संस्कृतके मूल शब्दको ठीक-ठीक नहीं समझते हैं। अव्यक्त-अ=नहीं और व्यक्त=जाहिर। व्यज्ञ्यते इति+जो व्यंजित होवे, उसको बोलते हैं व्यक्त। जो अनजाहिरका जाहिर होना है, जो चीज बिलकुल साफ-साफ इन्द्रियोंके सामने नहीं थी, उसका इन्द्रियोंके सामने आ जाना, यह व्यक्त होना है।

यह दुनिया क्या है? यह दुनिया व्यक्त है। साफ-साफ मालूम पड़ता है

कि यह है। यह मर्द है, यह पशु है, यह पक्षी है। यह शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गंध है। यह हाथसे पकड़ लिया, यह पाँवसे चलके पहुँच गये, तो व्यक्तका अर्थ होता है, जो जाग्रतकालमें हमको साफ-साफ अनुभवमें आता है, उसको भी व्यक्त बोलते हैं। क्यों? वह भी जाहिर है। सुषुप्तिकालमें जाहिर नहीं था, स्वप्नकालमें जाहिर हुआ। और असलमें अंत:करणको भी व्यक्ति ही बोलते हैं, क्योंकि कार्य हैं ये। कार्य मात्रको व्यक्ति बोलते हैं। कार्य-जो कभी किसीसे पैदा हुआ हो, जाहिर हुआ हो, उसको बोलते हैं कार्य। उसको बोलते हैं व्यक्ति।

अच्छा देखो, इसकी भी एक भाषाका भेद बताता हूँ। सबकी समझमें नहीं आवे तो कोई बात नहीं। कार्य-कारणका विवेक एक है और द्रष्टा-दृश्यका विवेक दूसरा है। और, भोग्य-भोक्ताका विवेक तीसरा है। केवल सत्ताकी दृष्टिसे जब विवेक होता है तो वह बीजविशिष्ट सत्ता है और यह फल-विशिष्ट सत्ता है। यह कार्य-कारण-विभाग जो है, यह सत्तामें प्रधान रूपसे होता है। यह जड़के ही दोनों विभाग हैं। इसलिए कार्यकी उपाधिसे जीव और कारणकी उपाधिसे ईश्वर। कार्यकारण दोनों उपाधि हैं और ये जड़के विभाग है।

लेकिन जब चिद् वस्तुका विभाग करने लगते हैं तो मामला बदल जाता है। तब कार्य-कारण दोनोंके लिए 'दृश्य' शब्दका प्रयोग होता है। तब द्रष्टा जो है, चेतन जो है, यह जुदा है और एक ही वस्तु कार्य और कारण दोनों भासमान हैं, दोनों दृश्यमान हैं। इसलिए चिदचिद्-विवेक जब किया जाता है, तो कार्य और कारण शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता है।'

दृश्य-द्रष्टा शब्दका जो प्रयोग है, वह चिदभावकी प्रधानतासे है। (अन्त:) आध्यात्मिक विवेकका नाम चिदचिद्-विवेक है, दृश्य-द्रष्टा विवेक है। भौतिक विवेकका नाम कार्य-कारण विवेक है। और आधिदैविक है।

ईश्वरमें बड़ा मजा है, बड़ा रस है। तो हमारे वेदान्ती लोग हैं, उनको विवेकका भी एक रस होता है। कभी-कभी विवेकके रसमें इतने फँस जाते हैं, कि मननका रस नहीं आता है। विवेक जो है यह बहिरंग साधन है और मनन अन्तरंग साधन है।

साक्षात्कार अविद्याकी साक्षात् निवृत्ति है। कई लोग जो बरसोंसे

वेदान्तका विचार करते हैं, यदि उनके सामने यह प्रश्न आ जाय कि विवेक और मननमें क्या फरक है, तो बताना मुश्किल हो जायगा कि विवेक और मननमें क्या फरक है? विवेक बहिरंग साधन है, वैराग्यका हेतु। अच्छा-बुरा समझ करके जो-जो बुरा मालूम पड़े उससे वैराग्य करो। जो-जो कार्य मालूम पड़े उससे वैराग्य करो। जो-जो दुखः मालूम पड़े। संसारमें उससे वैराग्य करो। संसारका सुख भी नाशवान् है, इसलिए उससे भी वैराग्य करो। वहाँ वैराग्यका हेतु है। दो विषय उसमें हैं, उनको अलग-अलग करके एकको छोड़ना, एकको पकड़ना यह विवेकका काम है। शमदमादिको पकड़ना और रागद्वेषादिको छोड़ना, यह विवेकका फल है।

'तत्' और 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करना अपनी वृत्तिको तदाकार करनेमें मनन सहायक है। त्याग-ग्रहणके भेदको लेकर विवेक होता है और पदार्थ जो है, उसके चिन्तनकी प्रधानतासे मनन होता है। साक्षात्कार तो तब होता है जब चिन्त्य और चिन्तनका भेद ही मिट जाय। साक्षात्कार हुआ और चिन्तनका भेद मिटा।

यह बात मैंने इसलिए सुनायी आपको कि वेदान्तमें आप जैसे 'पंचदशी' पढ़ते हैं, तो शुरू-शुरूमें जो संवित्‌का विवेक आता है, वह चिद्भावका विवेक है। चिद्भावका विवेक—दृश्य क्या है और द्रष्टा क्या है? और जब आप पञ्चभूतका विवेक करते हैं तब कार्य-कारणका विवेक करने लग जाते हैं। तत्त्वविवेक, पञ्चभूत विवेक, पञ्चकोशविवेक—ये सब विवेककी कई प्रणालियाँ हैं। कई प्रणालियाँ! आप जब 'अव्यक्तोऽयं' का विवेक करते हैं, तो असलमें स्थूल शरीर भी एक व्यक्ति है। एक परिच्छिन्न जाहिर हुई चीज है और अंत:करण भी एक व्यक्ति है और एक परिच्छिन्न जाहिर हुई चीज है।

अब आत्मा क्या है? तो बोलते हैं, वह व्यक्त नहीं है। माने स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनोंसे जुदा है। 'व्यक्तादतिरिक्त: अव्यक्त:।'

जो व्यक्तसे अलग होवे, जो व्यक्तका प्रकाशक होवे, जो व्यक्तका मूलाधार होवे, व्यक्त जिसमें रह रहा है, जो व्यक्तसे जुदा रहके व्यक्तका अधिष्ठान है, जो व्यक्तका प्रकाशक है, जो व्यक्तको सत्तास्फूर्ति देनेवाला है, उसका नाम अव्यक्त है। तुम कौन हो? यह प्रश्न हुआ।

बोले—'अव्यक्तोऽयम्'—जो-जो चीज पहले नहीं थी और बादमें जाहिर हुई वह तुम नहीं हो। पहले नाक नहीं थी, आँख नहीं थी, हाथ नहीं थे, पाँव नहीं थे, बादमें जाहिर हुए, वह तुम नहीं हो। एक बूँद पानी था, तब तुम नाक-कान-हाथ-पाँवसे रहित एक बूँद पानी थे। उस पानीमें भी बीज था। तो जब बीज भी नहीं पड़ा था, तत्त्वमें, तब तुम सत्तारूपसे थे। अपनेको कार्यसं और संस्कारसे जुदा करो, तब तुम्हें अपना स्वरूप मालूम पड़ेगा।

अच्छा, एक बात। अब दूसरा देखो-अव्यक्त=न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन। पहले बताया था, देश काट नहीं सकता इसको और यह कट नहीं सकता। अब ये बताते हैं कि जितनी कटने और काटनेवाली चीजें हैं, वे किसी-न-किसी प्रमाणसे प्रत्यक्षसे जानी जाती हैं। यह तलवार है और यह खड्ग है। यह गला काटा गया है। तो कटनेवाला गला भी दिखता है और काटनेवाली तलवार भी दिखती है और आत्मा कौन है? अव्यक्त है। न यह तलवारके समान दिखता है, न यह गलेके समान दिखता है। यह क्या है? न यह कानसे सुनायी पड़ता है, न यह त्वचासे छुआ जाता है न यह नाकसे सूँघा जाता है, न यह जीभसे चखा जाता है।

अव्यक्तोऽयम्—अपने आपको देखो तुम कौन हो? बोले—'तुम अव्यक्त हो। तो यह जाहिर दुनिया है, यह तुम नहीं हो। अयम् आत्मा अव्यक्तः।

अच्छा, एक बात और 'गीता' में 'अव्यक्त' शब्द ईश्वरके लिए भी है। जीवके लिए भी है, जगत्के लिए भी है। तो असली अव्यक्त तो यह है। 'अव्यक्तोऽयम्' का असली अव्यक्त कौन है? ईश्वर भी अव्यक्त है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्त चेतसाम्। 12.5

वहाँ 'अव्यक्त' पद काहेके लिए है? ईश्वरके लिए-भला! अव्यक्तमें जिसका चित्त आसक्त है, निराकार ईश्वरमें, उसको थोड़ा क्लेश होता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 8.18

यह अव्यक्तसंज्ञक जिसमें लीन होते हैं, जिससे निकलते हैं वह चीज क्या है?

बोले—'प्रकृति है। बोले—'भाई! तुम एक ही चीजको जीवको भी कहते हो, प्रकृतिको भी कहते हो, ईश्वरको भी कहते हो?'

'हाँ, हाँ! हमारा मतलब यह है कि जीवमें भी अव्यक्त है, ईश्वरमें भी एक अव्यक्त है और प्रकृतिमें भी अव्यक्त है। त्रित्व जो है न, जीवका जीवत्व, प्रकृतिका प्रकृतित्व और ईश्वरका ईश्वरत्व, ये तीनों तो अध्यस्त हैं और अधिष्ठान रूप अव्यक्त है। परब्रह्म परमात्मा, वह तीनोंमें एक।'

'अच्छा, उसके लिए भी अव्यक्त शब्द है?' हाँ, उसके लिए भी अव्यक्त शब्द है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। 8.215

अव्यक्त अक्षर वही है। और भी है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ 12.3

अब देखो, परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त, ईश्वर अव्यक्त, प्रकृति अव्यक्त, आत्मा अव्यक्त! इसका अर्थ हुआ कि इन तीनोंमें तीनपना नहीं है, यह ऐसा अखण्ड चेतन परिपूर्ण है, जो अव्यक्त है। तब? नास्ति व्यक्तं यस्मिन्'—व्यक्ताद् व्यतिरिक्तः। यह हुआ विवेक। विवेक किया तब तो कहा कि यह देह है और देहसे मिलता पंचभूत है और उससे न्यारा है आत्मा। यह आत्माका विवेक हुआ, भला! और व्यष्टिसे जब समष्टिसे न्यारा है यह विवेक किया पंचभूतसे। पंचभूत व्यक्त है और ईश्वर है अव्यक्त।

जो विचारनेसे कतराते है न, उनकी वेदान्तमें निष्ठा नहीं है। किसी विचारसे, विवेकसे अपनेको बचाना जो चाहते हैं कि हम इस जीवनका विचार नहीं करेंगे, तो? अरे! नहीं करेंगे तो अज्ञान रहेगा। यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

यह ऐसी चीज है जिसको जान लेनेपर सब जान लिया जाता है। अगर किसी विचारसे, किसी बुद्धिसे, किसी युक्तिसे तुम घबड़ाते हो, तो तुम मायाका, अविद्याका निषेध कैसे कर पाओगे? भाई! यह तो बड़ी उच्च कोटिकी वस्तु है। तो व्यक्तसे जुदा है आत्मा, यह तो 'आत्म-अनात्म' विवेक है और ईश्वर, जीव प्रकृति सभी अव्यक्त है, यह पदार्थका चिंतन है और अपनेको ब्रह्मरूप जानकर अविद्याकी निवृत्ति, यह साक्षात्कार है।

अविद्याकी निवृत्तिके अतिरिक्त साक्षात्कारका और कोई लक्षण नहीं है। यह आँख बंद करके मानना नहीं है, इसमें तो परमात्माका दर्शन है। साक्षात् दर्शन है जिसमें ईश्वरत्व, जीवत्व, जगतत्व इनकी निवृत्ति हो जाती है। तो अब देखो, जिसको अव्यक्त ब्रह्म—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

वहाँ उपासनाके विषयके रूपमें जिस ब्रह्मका निरूपण किया गया है, वह कोई परोक्ष नहीं है। 'अव्यक्तोऽयं'—यही अव्यक्त है। लो, एक वाक्यता हो गयी न? यह 'असि' पदका अर्थ हो गया। जो लोग केवल 'त्वं' पदार्थका अर्थ ही विवेक करते हैं, कौन हूँ मैं? कौन हूँ मैं? कौन हूँ मैं? और 'तत्' पदार्थका विवेक करनेसे घबड़ाते हैं, कहीं पंचभूतका कोई अधिष्ठान है, और कहीं पंचभूतका कोई प्रकाशक है। अरे बाबा! यदि पंचभूतका कोई अधिष्ठान और प्रकाशक न हो तो इसे अंत:करणका कोई अधिष्ठान और प्रकाशक कहाँसे होगा? वह तो तुम्हारा बेटा होगा। अपने बेटेका नाम रख लोगे तुम। यदि इस शरीरको और अन्त:करणको प्रकाशित करनेवाला चेतन है तो इस समष्टिको भी प्रकाशित करनेवाला चेतन है। और जैसे देहातिरिक्त आत्माका विवेक करनेके लिए इस देहमें कर्म करनेके लिए कर्मेन्द्रियाँ अपना काम करना बंद कर देती हैं, या भीतर ही भीतर करती हैं तब साक्षी है। साफ-साफ मालूम पड़ता है और यह जो साक्षी है, एक शरीरकी कर्मेन्द्रियोंका साक्षी नहीं, बल्कि समग्र समष्टिमें सम्पूर्ण मनुष्य-पशु-पक्षी-जड़ जो कुछ है, उसका साक्षी है, वही इसका भी साक्षी है। उसका जो अधिष्ठान है, इसका भी अधिष्ठान है। तो उसका विचार करनेमें तो घबड़ाते हैं। तुम्हें 'त्वमसि' तो अच्छा लगता है, लेकिन तत् अच्छा नहीं लगता है। इसीको अशास्त्रीय वेदान्त बोलते हैं।

शास्त्रीय वेदान्त जो है,'तत्' पदार्थका भी विवेक करता है, 'त्वं' पदार्थका भी विवेक करता है। और दोनोंमें अनुस्यूत एक जो सन्मात्र है, चिन्मात्र है, आनन्द-मात्र है, उसकी एकता अपने आपसे बताता है। तो केवल 'त्वं-त्वं-त्वं' नहीं। यदि महावाक्यके अर्थको समझना है, तो 'तत्-तत्-तत्' भी 'तत्' तो होता भी वही है। 'तत्' और 'त्वं' जिसमें हों—'तत्' भी हो और 'त्वं' भी हो उसको 'तत्त्व' बोलते हैं।

'तत्त्वमसि' महावाक्यमें से तत्‌का तत् और 'त्वं' का 'त्व' दोनों मिला करके यह तत्त्व बन गया। तत्त्वमसि। जीव और ईश्वरके विवेकसे ईश्वरके कर्तृत्वसे और ईश्वरके सर्वज्ञत्वसे, ईश्वरके अन्तयामीत्वसे, उसके विवेकसे घबड़ाते हैं। जो 'ईश्वर' पदार्थका विवेक नहीं करते उनका अन्त:करण शुद्ध होना भी कठिन और उनके अन्दर जो महावाक्यका अर्थ है, उसका आविर्भाव होना भी कठिन। उसका अर्थ ही यह है कि शास्त्र-संप्रदायकी रीतिसे तत्वमसि+आदि-तत्त्वमस्यादि महावाक्यको समझना चाहिए। उस ढंगसे, उस रीतिसे उसके अंदर जो अर्थ है उसको समझना चाहिए।

'अव्यक्तोऽयम्'—यह जो आत्मदेव है, यह अव्यक्त है। अब लो! 'अचिन्त्योऽयम्'—दूसरी बात कहते हैं। 'अचिन्त्योऽयम्'। ठीक है भाई, किसी इन्द्रियसे न दिखायी पड़े। आँखसे न दिखाई पड़े प्रत्यक्ष=एक-एक इन्द्रियके द्वारा जो अलग-अलग ज्ञान होता है। अक्षं अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षं। आँखसे रूपका ज्ञान होता है। तो आँख किसी भी चीजके पूरे रूपको दिखाती है। मिश्रीको 'सफेद' आँख दिखायेगी, लेकिन मिठास जीभ बतायेगी। और सख्ती त्वचा बतावेगी। न तो त्वचासे मिठास और सफेदीका ज्ञान होगा। न तो आँखसे कठोरता और स्वादका ज्ञान होगा, और न तो त्वचासे उसके रूप और स्वादका ज्ञान होगा। माने हमारी इन्द्रियाँ अपूर्णका ज्ञान देनेवाली हैं। इसलिए किसी भी तत्त्वका ज्ञान संपूर्ण रूपसे किसी भी इन्द्रियके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता।

अच्छा भाई बोलो, 'अनुमान करेंगे।' प्रत्यक्ष-प्रमाणका निषेध करनेके लिए तो अव्यक्त है। प्रत्यक्षप्रमाणगम्यत्वं। आँख या नाकसे आत्माका ज्ञान नहीं होता है। तब बोले—'आओ, फिर अनुमान लगावें—'पर्वतो बह्निमान् धूमत्वात्।' बोले—भाई, पहले धूमका प्रत्यक्ष हुआ है कि नहीं? और धूमसे संबद्ध अग्निका प्रत्यक्ष हुआ है कि नहीं? माने अनुमान जो है, वह प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। रसोई घरमें यह देखा गया है कि अग्नि और धूमका सम्बन्ध है। व्याप्तिग्रहण है। ठीक-ठीक परामर्श हो गया है। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती ही है। जब यह व्याप्ति पहलेसे जीवनमें गृहीत होती है, तब धुआँको देखकर अग्निका अनुमान होता है। कल्पनाका नाम अनुमान नहीं

है, भला! संभावनाका नाम? कि 'ऐसा होना भी संभव है'—इसका नाम अनुमान नहीं है।

अनुमान तो एक प्रमाण है, एक प्रमा=यथार्थ ज्ञान अनुमानके द्वारा होता है। अनुमानकी हुई चीज भी कि जब तुम देखोगे कि यहाँ धुआँ उठ रहा है, और अनुमान करोगे कि आग है और पाँवसे चलकर वहाँ पहुँच जाओगे तो वहाँ आग मिलेगी कि नहीं मिलेगी? तो आग जब मिलेगी तो आग त्वचाको जलावेगी। आँखसे आग दिखायी पड़ेगी। उसपर रसोई पकेगी। प्रत्यक्ष होगी कि नहीं? तो अनुमान जिस चीजका होता है, वह चीज पहलेसे प्रत्यक्ष कहीं-न-कहीं की हुई होती है। और, अनुमान करनेके बाद भी वह प्रत्यक्षका विषय बनती है।

'कोई आत्मदेव हैं'—यह तुमने कब किस इन्द्रियसे देखा? और फिर अनुमान करनेके बाद किस इन्द्रियसे देखोगे? इसलिए अनुमान बिलकुल बेकार है। अनुमानकी भी प्रवृत्ति आत्मदेवतामें नहीं है। और अनुमान तो परोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें होता है।

'अव्यक्त' जो है, यह प्रत्यक्षका विषय नहीं है और 'अचिन्त्य' कहनेका अर्थ यह है कि वह परोक्ष भी नहीं है। उसके बारेमें अनुमान भी नहीं लगा सकते। तो 'चिन्त्य' माने चिन्ताका विषय जितना है, अतःकरणमें चिन्ता जिसकी की जाती है, उसका नाम 'चिन्त्य' है। पैसेकी चिन्ता, माँकी चिन्ता, बापकी चिन्ता, स्त्रीकी चिन्ता, पुरुषकी चिन्ता और संस्कृतमें तो 'चिन्त्य' शब्द बुरे अर्थमें लगाया जाता है। जब संस्कृतमें कोई अशुद्ध शब्दका प्रयोग होता है न, या कोई युक्तिहीन बात कही जाती है न, तब संस्कृतके पण्डित यह नहीं कहते हैं कि यह शब्द अशुद्ध है, और यह भी नहीं बोलते हैं कि यह युक्ति तुम्हारी गलत है। कहते हैं—'चिन्त्योऽयम्'। यह चिंतनीय है।' चिंतनीय है माने यह कहनेसे सिद्ध नहीं है।

बोले—'हम तो आत्मका ध्यान करते हैं बोले—'अचिन्त्यम्।'

चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।

अचिन्त्यका चिन्तन करोगे तो क्या होगा? कल्पित चिन्तन होगा। ठीक है, दूसरी वस्तुका चिन्तन करनेसे तो अच्छा है कि तुम आत्मदेवका चिन्तन करते हो। परन्तु फिर जो 'चिन्तासन्तानपरंपरा' चित्तमें बनेगी न, उससे

अन्त:करण नहीं छूटेगा। क्योंकि चिन्तन होगा अन्त:करणसे और यदि तुम चिन्तनवाले बने ही रहोगे, तब 'अन्त:करणसे जुदा तुम हो', यह बात तुम्हें कभी मालूम नहीं पड़ेगी। तो आत्मा चिन्तनसे भी जुदा है।

अरे, हमारे वेदान्तीलोग बोलते हैं, फिर क्या छोड़ें?' तो क्या बतावें कि तुम पापकर्म छोड़ो। अरे, वह तो हम कभीका छोड़ चुके हैं। हमारे अन्दर पापकर्म कहाँ है? अच्छा, तो यह बोलें कि 'हड्डी-चाम-माँस छोड़ो? बोले—अरे, वह तो अनात्मा है, पहलेसे छूटा हुआ ही है। अच्छा, ऐसी बात है? अच्छा, क्या बतावें कि रागद्वेष छोड़ो? बोले—राम-राम। हम शुद्ध अन्त:करण होके, वेदान्तके विचारी हो करके आये हैं श्रवण करनेके लिए। हमारे रागद्वेष कहाँ हैं कि छोड़ें? तो बोले—'अच्छा, हम तुमको एक ही बात छोड़नेकी बताते हैं।

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र या किंचित् हृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र=ध्यान छोड़ो। अरे बाबा! राम, राम।

'योगिनो बिभ्यति यस्मात् अभये भयदर्शिन:', योगी लोग हैं न, माने संयोगी लोग हैं वे वृत्तिके साथ ब्याह करके बैठे हुए हैं। वृत्तिको अपनी मानना और उसको बनाये रखना यह गृहस्थका लक्षण है, यह सन्यासीका लक्षण नहीं है। वह तो वानप्रस्थ जो भोग न करे, भोक्ता न बने और वृत्तिको रखे तो वानप्रस्थ और उसका भोग करें, वृत्तिको रखे और सुख ले तो गृहस्थ। जिसने उस वृत्तिको प्राप्त ही नहीं किया वह ब्रह्मचारी जिसने वृत्तिको प्राप्त ही नहीं किया अभी जन्म ही नहीं हुआ वह ब्रह्मचारी और सन्यासी उसको कहते हैं जो न वृत्तिका भोग करे, न वृत्तिको अपने साथ रखे।

वृत्ति माने? स्त्री, वृत्ति तो अब देखो! त्यजैव ध्यानं सर्वत्र। ध्यान छोड़ दो। ध्यान छोड़ दोगे तो ध्येय छूट जायगा। ध्येय ही नहीं रहेगा। तो बोले—'न ध्यान न ध्येय रहे', तुम रहो भला! यही तुम्हारा असली स्वरूप है। जहाँ ध्यान नहीं और जहाँ ध्येय नहीं, विक्षेपो वा समाधियाँ मनस: स्याद्विकारिण:।

समाधि लगे चाहे विक्षेप लगे, वह विकारी मनको लगता है, अपने आपको समाधि-विक्षेप नहीं लगता है।

'आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि'-तुम नित्य-शुद्ध-

बुद्ध-मुक्त। करिष्यसि? आत्मा हो। अब विचार करके क्या करोगे? विचार करनेकी भी जरूरत नहीं।

अच्छा बोले—'भाई, प्रत्यक्ष भी नहीं अनुमान भी नहीं, लेकिन सामान्य तो दृष्ट है। यह भी एक प्रकारका अनुमान है। यह क्या है? अच्छा, हमारे आँख हैं। किस प्रमाणसे मालूम पड़ता है? क्या सबूत है कि तुम्हारे आँख हैं अपनी नेत्रेन्द्रिय या अपना मन तुम कैसे जानते हो कि हैं? देखो, बहुत मजेदार बात है। अपनी आँख अपनी आँखसे कभी नहीं दिखती है। अपना मन अपने मनसे कभी नहीं दिखता है। आँख-आँखसे कभी नहीं दिखती है। अपना मन अपने मनसे कभी नहीं दिखता है। आँख-आँखको नहीं देखती, मन-मनको नहीं देखता।

तो बोले—कानको आँख देखती है? नहीं, कानको भी आँख नहीं देखती। बोले—नाकको आँख देखती है? कि नहीं। तो जीभको आँख देखती है? नहीं, वह स्वाद लेनेवाली इन्द्रिय है न? वह आँखसे थोड़े दिखती है? जो गंध सूँघनेवाली इन्द्रियोंका इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता। लेकिन हम सब लोग मानते हैं कि इन्द्रियाँ हैं।

आप लोग प्रक्रियाका स्वाध्याय तो बहुत अधिक करते हैं, प्रमाणग्रंथोंका स्वाध्याय भी करते होंगे कि यह प्रमाण क्या है? अच्छा, तो किताबकी शकलमें, कोई झूठी चीज बनायी हो तो? उसको भी आँख बना देगी। लेकिन जब उलट-पलटके देखोगे, उसके अक्षर पढ़े जायेंगे, तब समझमें आवेगा कि 'यह किताब है।' तो देखो, सामान्य तो नेत्र-इन्द्रियकी सिद्धि होती है, पर नेत्र होनेमें रूपग्रहणय्यान्युपपत्तिसे लेकर नेत्रकी सिद्धि होती है।

अब अर्थापत्ति, अनुपलब्धिकी ओर चलो। जब रूप दिखता है तो आँख है और रूप नहीं दिखता है तो आँख नहीं है। तो रूपके देखने और न देखनेसे आँखकी सिद्धि हो जाती है सामान्यरूपसे। सामान्यतः दृष्टः। सबके घरकी बात है। तो बोले—आत्मा भी सामान्यतः दृष्ट ही होवे। ऐसी कोई चीज दिखावे कि जिसके दिखनेपर तो आत्मा हो और न दिखनेपर आत्मा न हो। अरे! वह तो देखनेवाला भी है और न देखनेवाला भी है। लो भला! हम नहीं रहेंगे तो कुछ नहीं रहेगा?

अरे, वह अवस्था तो दिखाके बताओ कि तुम कब नहीं रहोगे? सच

बोलता है—'अचिन्त्योऽयम्'—यह आत्मा कैसा है? न चिन्तनका विषय है न चिन्तनरूप है, और न चिन्तक है। और आत्मा न व्यक्त है, न व्यंजन है न व्यंजक है। न जाहिर करनेवाला है, न जाहिर होता है न जाहिर हुआ है। और न चिन्ता करनेवाला है न चिन्तन है और न चिन्त्य है। बोले—देखो, आत्माके लिए तो 'अचिन्त्य' शब्दका प्रयोग है। ईश्वरके लिए भी क्या 'अचिन्त्य' शब्दका प्रयोग है? हाँ है—आठवें अध्यायमें देखना,'अचिन्त्य रूपम्'। परमात्मा जो रूप है वह अचिन्त्य है। और ब्रह्म?

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। 12.3-4

ब्रह्म भी अचिन्त्य है।

ब्रह्म अचिन्त्य है, ईश्वर अचिन्त्य है और आत्मा भी अचिन्त्य है। ये सब अनिर्वचनीय-अनिर्वचनीय-अनिर्वचनीय क्या है? बोले—बस, यह इदन्ता-मात्रम् जो आत्मतत्त्व है, अपना आत्मा है, इसीका बोधक यह 'अचिन्त्य' शब्द है। दूसरोंकी चिन्ता होती है, अपने आपकी चिन्ता नहीं होती है। यह कोई परोक्ष नहीं है, यह कोई बाजारमें सौदा करने गया नहीं है, यह कोई एक्सीडेन्टसे मरनेवाला नहीं है—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि।' चिन्ता तो उसकी करो जो कहीं बिछुड़ जानेवाला हो। कहीं परदेशमें भाग जानेवाला हो, कहीं मरनेवाला हो। कभी अपना दुश्मन बन जानेवाला हो, तो उसकी चिन्ता करो। यह आत्मा हो, तो उसकी चिन्ता करो। यह आत्मा तो सर्वदा अचिन्त्य ही अचिन्त्य है।

अब एक तीसरी बात बताते हैं—

अविकार्योऽयमुच्यते।

बोले—'अच्छा, यह प्रत्यक्ष देहादिवत् नहीं है। यह चिन्तनीय जो है, यह प्रत्यक्ष संस्काररूप, वासनारूप नहीं है। परन्तु विकार्य जो प्रकृति है, तद्रूप होवे? कारण ही तो कार्यरूपमें आता है न! तो फूट-फूटके यह आत्मा कारणरूप ही होवे। क्योंकि प्रकृतिमें विकृति होती है। विकार जितने होते हैं वे प्रकृतिमें होते हैं। विकार स्वयं प्रकृति है। तो देखो, 'गीता'में यह बात बतायी—

सविकारं उदाहृतम्। क्षेत्र जो है, सविकार है—

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ 6॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ 5॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ 6॥ 13.5.6

जहाँ विकार है वहाँ क्षेत्र है, वह शरीर है। 'अविकार्योऽयम् उच्यते' का अर्थ हुआ, 'महाभूतान्यहंकारो' से ले करके 'चेतना धृतिः' पर्यन्त जितनी चीजोंकी गणना है, वह इसमें नहीं है।

आप लोग तेरहवें अध्यायका पाठ करते ही होंगे, यह मान करके बोलता हूँ, क्योंकि आप लोगोंको सब 'गीता' कण्ठस्थ है। आप 'गीता' के अर्थोंका खूब बढ़िया चिन्तन करते हैं। अगर ऐसा न हो किसी-किसीका तो कर लेना। जिनको 'गीता' कण्ठस्थ है, जिन्होंने 'गीता' के अर्थोंका विचार किया है, उनके लिए तो कहते ही हैं और जिन लोगोंने 'गीता' नहीं पढ़ी है, कण्ठस्थ नहीं की है वे भी जरा पढ़ें कण्ठस्थ करें।

विकार जितना होता है, वह विकार कहाँ होता है? इसपर विचार करो। क्षेत्रमें होता है—'महाभूतान्यहंकारो अव्यक्तमेव च।' यह 'सविकारम् उदाहृतम्'—ये सब विकारवाले हैं। आत्मा कैसा है? अविकार्य है।

अविकार्य है माने 'विकार्याद् व्यतिरिक्तः' जो-जो विकारका विषय है, जो-जो विकारका आश्रय है, जो-जो विकार हैं, उन सबसे जुदा है। विकार सम्बन्धसे रहित है।

विकारका हिन्दी शब्द है 'बिगाड़'। विकार जो है न, वह हिन्दीमें बिगाड़ बन गया है। बिगाड़ माने जो अपने असली स्वरूपसे च्युत हो जाय। जो उसका असली स्वरूप है, उससे जुदा रूप ग्रहण कर ले। इसको बोलते हैं 'विकारी'। तो आपका आत्मा कैसा है? बोले—'अविकार्योऽयम्।' अच्छा इसका एक भाव बहुत विलक्षण है। वह जरा जो लोग वेदान्त पढ़ते हैं, उनको तो बहुत सुगम है। हम लोग कहानी भी पढ़कर सुना देते आपको जो सुनते ही बोल देते। लेकिन जब कोई शब्द आता है, सामने तो वह शब्द अपना इतना अर्थ देने लगता है कि उससे जो असली गम्भीर अर्थ होते हैं, वही अपने लिए ठीक-ठीक समय प्राप्त नहीं करते हैं। तो उनके लिए जो

हल्की-फुल्की बातें हैं वे कहाँसे आप लोगोंको सुनावें? राजारानीकी कहानी सुनावें? कि एक क्षत्रियके घरमें ले चलें आपको? कि किसीका हीरामोतीकी बात सुनावें?

इसमें अर्थ तो बड़ा विलक्षण है। यह 'विकार्य' शब्दसे चार बातका ग्रहण होता है—एक तो समझो कि आपके घरमें कोई चीज न होवे तो आप उसे दूसरेके घरसे ले आइये, उसको बोलते हैं संस्कृत भाषामें वेदान्तमें 'आप्य'। आप्य=प्राप्य। दूसरेसे प्राप्त करके ले आओ।

आपको कोई मन्त्र नहीं होता है, तो गुरुजीसे पूछ लो। वह कहेगा, मन्त्र आप्य हुआ। अच्छा, घरमें कोई चीज नहीं होवे, खीर पकी हुई नहीं होवे तो दूध-चावल उसमें मिलाओ और उससे परिपक्व चरुपुरोडाश—यज्ञके लिए चरु बन गया! यह पुरोडाश बन गया, यह दलिया बनी, यह लपसी बनी, यह खीर बनी। हाँ, बना लो, यह ठीक है। उत्पन्न करो, घरमें गेहूँ नहीं है, तो खेती करके पैदा करो। और तीसरी चीज क्या है? आपने घरमें दही-बड़ा बनाया। तो दही बड़ाको डाल दिया दहीमें, खतम! और काञ्जीबड़ा बनाना हो तब? काञ्जीबड़ाको रखना पड़ता है। दो दिन रखते हैं कि खटाश आयी कि नहीं? तो यह खटाश क्या है? यह 'विकार्य' है। इसमें विकार पैदा किया गया है।

अंगूर बर्तनमें भर करके रख दिया। सब तरहसे सड़ गया, तो क्या बना उसका? आसव बन गया। यह क्या हो गया? अंगूर विकार्य है। अंगूरमें विकार हो गया।

एक बात और आपके शरीर पर कोई गन्दगी लग गयी। धो दिया। वह क्या हुआ। यह संस्कार हो गया। बालमें मैल है, कपड़ेमें मैल है। साबुन लगा दिया। यह क्या हो गया? यह संस्कार्य हो गया। पालिश कर दी। केवल तख्तेमें पालिश नहीं होती है, कुर्सी-मेजमें पालिश नहीं होती है, शरीरमें भी पालिश होती है और यह भी तो एक तरहका कुर्सी-मेज ही है समझो। तो दोषापनयन-संस्कार जो है, वह साबुन लगाकर होता है। और लिपस्टिक-पाउडरमें जो संस्कार है, वह गुणाधानसे होता है।

यह जो आत्मदेव है, मैंने चार गुणोंका संस्कार, चार शब्दका प्रयोग किया—आप्य, उत्पाद्य, विकार्य और संस्कार्य। ये चार शब्द लोकमें चलते हैं।

जब यज्ञयागादि होता है, तो मन्त्र आदि प्राप्त किये जाते हैं, चरुपुरोडाश आदि जो हैं, वे उत्पन्न किये जाते हैं। यह सब प्रक्रिया वहाँ चलती है। अच्छा, अब आत्मामें देखो।

आत्मा जो है, यह किसी दूसरेसे प्राप्त करनेके लिए है? जैसे जब-गेहूँ किसीके घरसे ले आये, उधार ले आये, मेज उधार ले आये, शीशा उधार ले जाये या मन्त्र किसीसे माँग लिया, ऐसे आप्य आत्मा भी किसीसे ले आवेंगे? यह क्या अपने घरमें नहीं है? दूसरेके घरसे प्राप्त करनेके लिए नहीं है। दूसरा देगा नहीं इसको। बोले कि—'इन्होंने उठाकर अपना आत्मा हमको दे दिया है। आत्मा नहीं दे दिया!'

अच्छा, आप कहेंगे कि आत्माको उत्पन्न करें। तो क्या तुम नहीं हो? तो अन्य नहीं होनेके कारण तो यह आप्य नहीं है। और स्वयं विद्यमान होनेके कारण उत्पाद्य नहीं है। आत्माको पैदा करना नहीं है। और इसका कोई काञ्जीबाड़ा तो बनाना नहीं है। बिगाड़ना तो है नहीं, भला! इसमें कभी विकार होता ही नहीं। यह तो विकारका साक्षी है। यह विकारका अधिष्ठान है। विकार इसमें होता नहीं।

बोले—'इसका संस्कार करो।' तो वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वयं ज्ञानस्वरूप है। इसका संस्कार भी नहीं करना है। तो 'अविकार्योऽयमुच्यते'का अर्थ है कि न उसको कहीं जाकर पाना है, वह स्वयं प्राप्त है। इसको उत्पन्न नहीं करना है। यह तो अनादि नित्य है।

इसमें कुछ सड़ाना नहीं है, शराब तैयार नहीं करनी है, आपा तैयार नहीं करना है, कांजी तैयार नहीं करनी है, यह जो ज्यों-का-त्यों है। इसमें कोई मैल नहीं लगी है, निर्मल है स्वभावसे। तो इसमें संस्कार भी नहीं करना है।

यह साध्य नहीं है कि हवन कर-करके पैदा करेंगे। तब? यह जैसा-का-वैसा—

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।

इसलिए यह जैसा है वैसा 'एवं'। एवं=अव्यक्ततया, अचिन्त्यतया, अविकार्यतया एवं विदित्वा—व्यक्तका निषेध करके, चिन्त्यका निषेध करके, विकार्यका निषेध करके 'एवं एनं विदित्वा'—इस प्रकार सर्वनिषेधावधिरूपसे इस आत्माको 'एवं विदित्या'=ऐसा जान लो, ब्रह्म जान लो। इसका मतलब

यह है कि—'तो जाननेसे क्या होगा?' 'नानुशोचितुमर्हसि'—तो फिर तुमको शोक क्यों होगा?

अयं अस्मि इति पुरुषः।

आत्मानं चेद् विजानीयात् अयं अस्मि इति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

पञ्चदशी 7.35

शरीरं अनुसंज्वरेत्-मानो देहमें आग उठी। कौन जल रहा है? बोले—'मैं जल रहा हूँ।'

बोले—'बेवकूफ हैं।' सीधी बात क्या है? अरे, वह शरीर जल रहा है, तुम नहीं जल रहे हो। ऐसा ही अर्थ हुआ।

अब इसको 'विद्यारण्य स्वामी' ने बहुत आगे तक किया है। एक दिन यहाँके एक वेदान्तीने पूछा था—'यह तो आप अन्तःकरणको बिलकुल उड़ाये ही जा रहे हो! यदि अन्तःकरणें यह आवेगा, वह आवेगा, तो कैसा ज्ञान?'

शरीरमनुसंज्वरेत्—एते ज्वरा शरीरे तु त्रिषु स्वाभाविका मताः।

देहके जन्ममरणसे आत्माका जन्ममरण नहीं है। मनकी चंचलता और स्थिरतासे आत्मा चंचल और स्थिर नहीं होता। कारण शरीररूपमें निद्रा-बेहोशी आदि आनेसे आत्मा निद्रा-बेहोशी आदि आनेसे आत्मा निद्रा बेहोशीसे ग्रस्त नहीं होता। 'एते ज्वरा शरीरे तु त्रिषु स्वाभाविका मताः। किमिच्छन्न कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्। किं विषयजातं इच्छन् कस्य भोक्तुं कामाय।' किस आत्माकी कामनाकी पूर्तिके लिए और किस वस्तुके लिए मनुष्य इस शरीरके पीछे जलेगा? इसलिए **नानुशोचितुमर्हसि।**

तुम्हारे सरीखे समझदारको—'विदित्वा'का अर्थ यही है कि जानने-मात्रसे जिसकी निवृत्ति होती है, वह चीज पहले होती ही नहीं है।

●

: 25 :

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शचितुमर्हसि।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

गीता 2.26-27

तस्मात् एवं एनं विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि। इसलिए इस आत्माको इस रीतिसे-इस प्रकारसे आत्माका ऐसा स्वरूप जानकर तुम शोक करनेके योग्य नहीं हो।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि शोककी निवृत्तिके लिए कोई खास कर्म करनेकी जरूरत नहीं होती है कि अमुक काम करोगे तो शोककी निवृत्ति होगी, कोई खास तरहकी उपासना करोगे तो शोककी निवृत्ति होगी, या खास तरहका योगाभ्यास करोगे तो शोककी निवृत्ति होगी।

यदि शोककी निवृत्ति आप्य, होती, किसीसे माँग करके लाना होता तो या बनानी होती खीरकी तरह, उत्पाद्य होती या कांजीबड़ेकी तरह, शराबकी तरह विकार करना होता तो उसमें विकार करके शोककी निवृत्ति करनी होती तो सड़ा करके, गला करके या संस्कार करके उसको धोना होता, दोषापनयन या गुणाधान करके शोककी निवृत्ति है, पॉलिश करते हैं न; शोक-निवृत्ति न तो कोई पॉलिशका नाम है, न तो साबुनका नाम है, न किसी पकवानका नाम है, न किसी कांजीबड़ेका नाम है, न किसी दूसरेसे ले करके आना है। यह आप्य-उत्पाद्य-संस्कार्य-विकार्य नहीं है। शोककी निवृत्ति तो आत्माका स्वरूप ही है। माने शोक नामकी वस्तु है ही नहीं। तब कैसे होगी शोकनिवृत्ति?

बोले—अपने अशोक आत्माको जानो। शोकाकार वृत्ति और शोकाकार वृत्तिके अत्यंताभावसे उपलक्षित जो अपना नित्य-शुद्ध-बुद्ध-युक्त स्वरूप है उसको जान लो। शोक कहीं है ही नहीं। जान लेनेसे जिसकी निवृत्ति होती है और अज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, यह दरअसल प्राप्त होती ही नहीं है।

अज्ञानसे मणि प्राप्त हुई इसका मतलब क्या हुआ? अज्ञानसे काँच प्राप्त हुआ मणि नहीं। और अज्ञानसे मणि खो गयी इसका मतलब क्या हुआ? मणि खोयी नहीं, वह तुम्हारे पास ही है.। ज्ञानसे मणि प्राप्ति हो गयी, इसका अर्थ हुआ कि मणि तुम्हारे पास ही थी। तो 'विदित्वा' कहके शोक निवृत्तिका साधन-साक्षात् साधन यहाँ ज्ञानको बताया गया है। विदित्वा=ज्ञान समकाल शोककी निवृत्ति। यहाँ विदित्वा पदका अर्थ जो है, 'त्वा' जो प्रत्यय है, वह ऐसा नहीं है कि पहले जान लिया और पीछे शोककी निवृत्ति हुई, ऐसा नहीं। एक क्षणमें ज्ञान और दूसरे क्षणमें शोककी निवृत्ति, ऐसा नहीं। तब यह कैसा है? विदित्वा।

नानुशोचितुमर्हसि। उपविश्य भुंक्ते=बैठकर खा रहा है। तो खाना और बैठना दो काल नहीं है, एक ही कालमें खाना और बैठना दोनों हैं। तो विदित्वा। नानुशोचितुमर्हसि=ज्ञानमात्र ही, ज्ञान होना ही शोककी आत्यन्तिक निवृत्ति है।

भाई! समझानेमें तो, भगवान् श्रीकृष्णने कोरकसर कोई रखी नहीं है। फिर भी कोई न समझें? क्योंकि कई लोग तो ऐसे होते हैं, जिनमें सचमुच बुद्धि नहीं होती है, समझनेकी। उनको तो धीरे-धीरे समझाया जा सकता है, समझना चाहते हैं तो! और कोई ऐसे होते हैं जो समझकर भी न समझना चाहें। उनके लिए तो फिर विवशता ही रहती है। मजबूरी ही रहती है, कैसे क्या किया जाय? इसीलिए श्रीकृष्णने अगले श्लोकमें कहा—

अथ च एतावती प्रयत्ने कृतेऽपि। इतना समझाने पर भी 'अथ च'—मैंने इतना बड़ा लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया और फिर भी अर्जुन! तुम मान्यता छोड़नेके लिए तैयार नहीं हो तो तुम्हारी जरूरत नहीं है।

मान लो, हमारा समझाना व्यर्थ गया और 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'से लेकरके 'अनुशोचितुमर्हसि'—पर्यन्त जो कुछ मैंने किया, जो कुछ कहा वह

बिलकुल बेकार। उसके पहले जैसा तुम मानते थे, वैसा ही ठीक! तब भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। जरा संगति बैठा लेना इसकी।

'अथ च'का अर्थ यह है कि यदि मन्मतम् साधु न भवति, त्वन्मतमेव साधु भवति' अर्थात् यदि मेरा मत ठीक मालूम नहीं पड़ता, तुमको अपना ही मत ठीक मालूम पड़ता है—

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।

अब देखो, मैंने यह संगति बैठा करके एक बात यहाँ आपके सामने की कि अर्जुन नास्तिक नहीं था, अर्जुन आस्तिक था। क्यों?

पतति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया: ॥ 1.42

अर्जुन मरनेके बाद पितरोंका अस्तित्व मानता है, श्राद्ध भी मानता है—'लुप्तपिण्डोदकक्रिया: ।' अर्जुन श्राद्ध पर विश्वास रखता है। पितरोंका अस्तित्व मानता है और नरकलोक भी मानता है। 'लोकमें ही नरक है' 'इसी लोकमें स्वर्ग है'—यह मान्यता अर्जुनकी नहीं है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया: ॥ 1.42

वर्णसंकर जो होता है, अपने लिए भी और अपने वंशके लिए भी नरकका कारण बनता है। अब तो बात यह आगयी कि अर्जुनको मृत्युके बाद आत्माका अस्तित्व स्वीकार है, नरक-स्वर्गलोक स्वीकार है, उनके लिए श्राद्धपिण्ड भी स्वीकार है। तब अर्जुन पहले तो नास्तिक नहीं थे। भगवान्‌का इतना उपदेश सुननेके बाद ही नास्तिक हो गये और यह मानने लगे कि बस, देह ही आत्मा है, यह बात कहाँसे निकलेगी? तो आओ, थोड़ा इसका विचार करें।

बोले—कई वेदान्ती भी ऐसे होते हैं। वेदान्तीसे मतलब हमारा सिर्फ प्रेमकुटीरके वेदान्तीसे नहीं होता है। वेदान्ती माने 'वल्लभ सम्प्रदाय' भी उपनिषद्‌के अनुसार है। तो वे भी अपनेको 'विशुद्धाद्वैत वेदान्ती' बोलते हैं। 'रामानुजसंप्रदाय'में 'विशिष्टाद्वैत वेदान्ती' अपनेको बोलते हैं। 'चैतन्य-महाप्रभु'के संप्रदायमें 'द्वैताद्वैत-वेदान्ती' बोलते हैं अपनेको। क्योंकि सब वेदान्त माने उपनिषद्‌के आधारपर अपने सम्प्रदायका निर्माण करते हैं और उसका संचालन करते हैं। तो होता क्या है? कुछ लोग ऐसे होते हैं कि या तो

वे देहको आत्मा मानते हैं और या तो ब्रह्मको आत्मा मानते हैं बीचकी हालतें हैं न, उनपर कभी विवेक नहीं करते हैं।

सीधा सवाल यह है कि जब तुम कोई चोरी करते हो, हिंसा करते हो, बदमाशी करते हो, तब तुम्हारे मनमें ग्लानि होती है कि नहीं? कि मैंने बुरा काम किया। इसको बोलते हैं कर्ता। जब किसीको पाँच रुपया दान देते हो, किसी प्यासेको जल पिलाते हो, भूखेको अन्न देते हो, किसी नंगेको कपड़ा देते हो, गोदान करते हो, यज्ञ करते हो, तब तुम्हारे मनमें यह प्रसाद होता है कि नहीं कि मैंने बहुत अच्छा काम किया? इसका नाम कर्ता है, भला।

और कर्म करनेकेबाद दुःखी होते हो, कि—'हाय-हाय! मैंने बहुत बुरा काम किया! मैं तो दुःखी हूँ, ग्लानिसे मर रहा हूँ, शरमसे भर रहा हूँ। मैंने बड़ा बुरा काम किया, हाय-हाय!' तो अपने कर्तापनेको मानकर तुम दुःखी हो रहे हो कि नहीं? भोक्ता बन रहे हो कि नहीं? यह दूसरेके बतानेकी बात नहीं है। यह व्याख्यान देनेवाला बतावेगा नहीं कि तुमको ऐसा होता है कि नहीं? अपने हृदयके साक्षी तुम हो।

'मधुसूदन सरस्वती महाराज'के जीवनमें आता है, अद्वैतसिद्धि लिख लेनेके बाद एकान्तमें बैटे शास्त्रचिन्तन कर रहे थे उस समय एक अवधूत उनकी कुटियामें घुस गया और आसन पर ऊँचे बैठ गया। मधुसूदनजी देखने लगे, यह कौन है, जो हमसे ऊँचे आसनपर बैठ गया? अभी नीचे-ऊँचे कौन बैठते हैं? यह ब्रह्म नीचे-ऊँचे बैठता है? यह कौन जो हमारी कुटियामें आकर हमसे ऊँचे बैठ गया? बोला—'महाराज! आप कौन हैं?'

बोले—'तुम कौन? मधुसूदन। मैं तुमसे एक सवाल पूछनेके लिए आया हूँ।' तुम यह बताओ कि जब तुम कभी किसी बड़े पण्डितको हरा देते हो शास्त्रार्थमें तब तुम्हें 'मुझे बड़ा सुख मिला'—'यह प्रसन्नता होती है कि नहीं? और जब कोई तगड़े पण्डितसे काम पड़ता है और मालूम पड़ता है कि देखो, आगे युक्ति फुरती है कि नहीं फुरती तो युक्तिका स्फुरण न होनेसे तुम्हारी तबियत घबड़ा जाती है कि नहीं? तुम अपनेमें व्याकुलताका अनुभव करते हो कि नहीं? शरीरकी व्याकुलता जाने दो, मनकी व्याकुलता जाने दो, आभाससे तुम्हारी एकता होती है कि नहीं? प्रश्न देहसे एकताका नहीं है, इन्द्रियसे

एकताका भी नहीं है, मनसे एकताका भी नहीं है। आभासचेतनासे एकताका प्रश्न है।'

तुम्हारे मनमें बुरा काम होनेपर ग्लानि, हारनेका अवसर आनेपर घबड़ाहट, जीत होनेपर प्रसन्नता, यह होता है कि नहीं?

अब एक बात बीचमें और सुना दें। यह सुख-दु:ख जो है, यह-यह सुख है, यह दु:ख है, इस ढंगसे सुख और दु:खकी वृत्ति नहीं होती। 'इदम् सुखम्', 'इदं दु:खम्' 'अहं घटं जानामि'—'यह एक सरीखी वृत्ति नहीं होती। घट जो है वह साक्षीभास्य है। साक्षीभास्य होनेके कारण —'अहं सुखी', 'अहं दु:खी' इत्याकारक ही वृत्ति होती है। 'इदम् सुखम्' 'इदम् दु:खम् अहं जानामि' इत्याकारक वृत्ति नहीं होती। आप लोग तो वेदान्तके प्रक्रियाके बड़े-बड़े पण्डित बड़े-बड़े विद्वान् हैं। 'यह हमारे मनमें दु:ख बहा जा रहा है'—ऐसे सुख-दु:खकी प्रतीति नहीं होती।

'अहं सुखी', 'अहं दु:खी' करके आभास बैठता है। तुम उसके साक्षी हो। सुखी-दु:खी बना हुआ आभास तुम्हारा दृश्य है, तुम उससे पृथक् हो। इसीको तो बोलते हैं कि शोककी निवृत्ति जो होती है वह भी आभासमें ही होती है। अपार हर्ष और शोककी निवृत्ति भी आभासमें ही होती है। ब्रह्ममें शोक कभी होता ही नहीं, तो उसमें निवृत्ति कहाँसे?

मधुसूदनजीने कहा कि—'महाराज! आप बात तो सच्ची कहते हैं। होता है सुख, होता है दु:ख।' बोले कि—'फिर थोड़ा और विचार करो और विचार करनेकी गुंजाइश है अभी' और अवधूत वहाँसे गायब हो गया उनसे बातचीत करके।

हमको यह कहना है कि या तो आप देहको मानते हैं या ब्रह्मको मानते हैं, और बीचमें यह पापीपने और पुण्यात्मासे, सुखीपने-दु:खीपनेका अभिमान होता रहता है बीच-बीचमें, उसको कभी आपने सोचा है? उसीका अर्थ आध्यात्मिक विचार है। आध्यात्मिक विचार माने शरीरके भीतर मनकी मनोवृत्तियाँ जो हैं, वे किस प्रक्रियासे काम करती हैं? किस ढंगसे काम करती हैं इस बातको समझना। आँख बन्द कर लेनेसे काम नहीं चलता है, आँखको खोलकर प्रत्येक वस्तुको देखना पड़ता है। तो देहातिरिक्त देहमें एक कर्ता होता है और एक भोक्ता होता है। कर्ता-भोक्ता दोनों एक होते हैं। जो कर्मेन्द्रियोंके

द्वारा किये हुए कर्मको अपना किया हुआ मानता है, उसको कर्ता बोलते हैं और जो ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञानको अपना ज्ञान मानता है, उसको ज्ञाता-प्रमाता मानते हैं। जो अन्तरीन्द्रियोंसे=मनकी इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा सुख-दु:खका भोग करता है, उसका अभिमान करता है, उसको भोक्ता बोलते हैं। यह एक ही आत्मा देहरूप देहाकार परिणामको प्राप्त भूतको जब मैं मानता है, तब अन्नमयकोश हो जाता है। यही जब वृत्त्याकार परिणत भूतसूक्ष्मको मैं मानता है तब यही प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोश हो जाता है। और, यही जब 'अज्ञोऽहं-अज्ञोऽहं' केवल अविद्यासे अज्ञ, यही जीव, यही परिच्छिन्न हो जाता है और, है यह शुद्ध चेतन।

देहसे लेकर आत्मा-पर्यन्त जीवमें जो तादात्म्यके स्वर हैं उनको जब इस शरीरमें समझते हैं, तब उनका नाम आध्यात्मिक विचार होता है। जब पञ्चभूतके स्तर पर उसको समझते हैं तब पञ्चभूतमें भी आँख हैं, कान हैं, पञ्चभूतकी आँखका नाम सूर्य है, और चन्द्रमा है। पञ्चभूतके कानका नाम दिशा है। पञ्चभूतकी रसनाका नाम वरुण है। पञ्चभूतकी वाणीका नाम अग्नि है। अब इस विचारका नाम आधिदैविक पदार्थोंके पुञ्जका नाम ईश्वर होता है।

आध्यात्मिक पदार्थोंके पुञ्जके सहित चेतनका नाम जीव होता है। आधिदैविक पदार्थोंके पुञ्ज सहित चेतनका नाम ईश्वर होता है। आधिभौतिक पदार्थोंके पुञ्जीकृत रूपका नाम=कारणोपाधिक ईश्वर जिसे बोलते हैं न, कारणोपाधिक ईश्वरमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों सम्मिलित हो जाते हैं। आधिभौतिक पुञ्जीकृत रूपको प्रकृति बोलते हैं और आधिदैविक पुञ्जीकृत रूपको ईश्वर बोलते हैं और आध्यात्मिक पुञ्जीकृत रूपको जीव बोलते हैं।

इन तीनोंमें एक अखण्ड चेतन है। इसलिए जीवत्व-ईश्वरत्व और भूतभौतिकत्व बाधित है और अबाधित है नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतन। जो लोग आध्यात्मिक विचारमें अपनेको अलग करके कर्ता-भोक्ताका विचार नहीं करते हैं उन्हींकी दृष्टिमें पञ्चभूतकी उपाधिसे आधिदैविक दृष्टिसे विचार करने पर शरीरमें जैसे आँख है, वैसे समष्टि भी आँख हैं, कान हैं, नाक है, हाथ हैं। वहाँ जो कर्ता है, वहाँ जो सर्वज्ञ है, उसको ईश्वर बोलते हैं और यहाँ जो कर्ता-ज्ञाता है उसको जीव बोलते हैं। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता और ज्ञानेन्द्रियोंकी

उपाधिसे जाता। तो जिसकी बातोंको समझना लोग छोड़ देते हैं, देहातिरिक्त आत्मा कर्ता-भोक्ता है। कर्ता और भोक्तासे भी अतिरिक्त अकर्ता-अभोक्ता आत्मा है। परन्तु वह परिच्छिन्न है।

कोई कहते हैं कि देश-कालसे परिच्छिन्न तो नहीं है, मात्र वस्तुसे परिच्छिन्न है। वे देश-कालसे परिच्छिन्न है। वे देश-कालसे परिच्छिन्न आत्माको नहीं मानते हैं। परन्तु वस्तु-परिच्छिन्न मानते हैं।

1. जो अणुवादी हैं, वे देश-परिच्छिन्न तो मानते हैं, काल-परिच्छिन्न नहीं मानते। जो नास्तिक होते हैं वे आत्माको काल-परिच्छिन्न भी मानते हैं। कालपरिच्छेद कई तरहका काल होता है।

2. बौद्धमतमें निर्वाणकाल और वासनाकाल। जबतक वासना-सन्तान=वासनासे प्रभावित ज्ञानकी धारा प्रवाहित हो रही है; तबतक जीव है और जब वासनाकी निवृत्ति हो जायगी तब निर्वाणको प्राप्त हो जायगा। जीवत्वका उच्छेद हो जायगा। वहाँ कालमें जीवका अभाव मानते हैं।

3. जैनमतमें जब आत्माका उत्थान होगा, जबतक वासनासन्तान वासनासे युक्त है अर्थात् जिस देहमें रहता है उतना बड़ा होता है। चींटीके शरीरमें चींटीके बराबर, हाथीके शरीरमें हाथीके बराबर, जब वह अष्टादश-दूषणरहित होता है तब उसका अलोकाकाशगमन सम्पन्न होता है। तो इस देशमें रहकर मुक्त नहीं। इस कालमें, कलियुगमें रहकर मुक्त नहीं। स्त्री-शरीरमें रहकर मुक्त नहीं। देखना, उनके मतका स्वाध्याय कभी करना। स्त्रीके शरीरमें रहकर मुक्त नहीं, कलियुगमें मुक्त नहीं, अमुक देशमें मुक्त नहीं। जब अमुक शरीरसे छूटेगा, अमुक कालमें जायगा और अमुक देशमें उड़ करके पहुँचेगा, उत्थान होकरके, तब उसकी मुक्ति होगी।

4. चार्वाक् जो हैं वह ऐसा मानते हैं कि देहकी मृत्युके साथ ही आत्माकी मृत्यु और देहके जन्मके साथ ही जन्म।

अगर तुम दूसरेके मतको ठीक-ठीक समझोगे नहीं, निषेध क्या है, अगर इसको समझोगे नहीं, तो निषेध किसका करोगे? अज्ञातका निषेध नहीं होता। ज्ञातका ही निषेध होता है यह नियम है। जिस चीजको तुम जानोगे, उसको कह सकोगे कि 'ना'=यह नहीं है। किसीने एक बच्चेसे पूछा कि 'तुम्हारे घरमें बिल्लौरी पत्थर है कि नहीं?' उसने कहा—'मैं तो नहीं जानता कि बिल्लौरी

पत्थर क्या होता है।' अब वह न 'हाँ' बोल सकता है, न 'ना' बोल सकता है। जाना हुआ होता कि बिल्लौरी पत्थर ऐसा होता है तो कहेगा कि हमारे घरमें नहीं है हमारी जानकारीमें नहीं है। सो 'ना' करनेके लिए भी वस्तुकी जानकारीकी जरूरत है। यदि चर्वाक् मतको समझोगे नहीं, तो निषेध कैसे करोगे?

यहाँ अर्जुन किस मतको स्वीकार करते हैं? और उनके ऊपर भगवान् किस-किस मतका आरोप करके निषेध करते हैं? यह बात तो समझनी पड़ेगी न!

अर्जुन पर आत्माको क्षणिक विज्ञान सन्तानरूप माननेका अध्यारोप नहीं किया जा सकता कि क्षण-क्षममें विज्ञान उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यह आरोप तो अर्जुन पर कभी किया नहीं जा सकता। अच्छा! अथवा अर्जुन आत्माको शरीरके बराबर ही मानते हैं, यह बात भी मानी नहीं जा सकती। वह तो बड़े भारी विवेकी हैं, बाबा! उनको गुरुपर, शास्त्रपर, स्वर्ग पर, नरक पर बड़ा भारी विश्वास है। तो 'शरीरकी मृत्युसे ही आत्माकी मृत्यु हो जाती है'—यह मत भी नहीं है अर्जुनका। तो अर्जुनका क्या मत है? देखो, यह बात भी है कि—अर्जुन पुनर्जन्म भी नहीं मानते, सो बात भी नहीं है। इसीलिए भगवान्ने यहाँ अर्जुन पर जिस मतका आरोप किया, उसमें पुनर्जन्मको मान करके किया—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। 2.27

इतना तो सब मानते हैं। बौद्ध भी मानते हैं—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।' जो पैदा होता है, मरता है, शैव भी मानते हैं—जो पैदा होता है वह मरता है। चार्वाक् भी मानते हैं—जो पैदा होता है वह मरता है। लेकिन—

ध्रुवं जन्म मृतस्य च। 2.27

जो मरता है वह जन्म लेता है—'मृतस्य च पुनर्जन्म भवति, ध्रुवं भवति'—मरे हुएका फिरसे जन्म होगा—इस बातको चार्वाक् तो बिलकुल नहीं मानता। और यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे मतमें भी मरे हुएका जन्म फिरसे होता है। चार्वाक् भी तो चले ही गये बिलकुल। उसके लिए तो यहाँ कोई स्थान नहीं। वेदवाह्य मतके लिए कोई स्थान नहीं।

अर्जुन वेदवादी है और वैदिक मतको भगवान्के उपदेशके पहले अर्जुन मानता था जैसे पूर्वमीमांसक लोग मानते हैं, आत्मा बुरा काम करे तो

उसको दु:ख भोगनेको मिलता है। आत्मा अच्छा काम करे तो उसको सुख भोगनेको मिलता है। कर्मके अनुसार, पुनर्जन्म होता है। जो जन्मता है वह मरता है और जो मरता है वह जन्मता है। मुक्ति नहीं है। तो पूर्वमीमांसक लोग ऐसा मानते हैं कि कर्मके अनुसार मनुष्यको सुख मिलता है, सद्गति मिलती है, स्वर्गादिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। तो वह भी एक पौराणिक मीमांसक है, जो ऐसा मानते हैं।

प्रपञ्चसे सम्बन्धविलयरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। ऐसा दार्शनिक मीमांसक मानते हैं। 'पार्थसारथि मिश्र' जो हैं, वह मानते हैं—

प्रपञ्चसंबन्धविलयो मोक्षः।

अर्थात् यह जो बाह्य प्रपञ्च है, उसके साथ सम्बन्धका विलीन हो जाना, माने अपने कर्मके अनुसार कर्म करते-करते, आप जानते हैं, कर्मका क्या फल है? कर्मका फल विश्राम है। कर्मके अन्तमें, हाथ हिलाते रहो—हिलाते रहो-हिलाते रहो। इसका फल क्या होगा? हाथ हिलाना बन्द हो जायगा। तो कर्म करते-करते कर्म करना बन्द हो जाता है। मशीनका चलना बन्द हो जाता है। प्रपञ्च सम्बन्धका विलय हो जाता है। फिर समयपर जब कर्मके संस्कारका उदय होता है तो फिर कर्म होने लगता है। फिर शरीरकी प्राप्ति होती है। तो स्वर्गमें जाना और वहाँसे लौटना, लौटना और फिर जाना—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

मरनेवालेका फिर जन्म होता है, तो वही। मरनेके बाद फिर पितरोंका अस्तित्व, नरक, कर्मका फल, कर्त्ता। अर्जुन मानता है कर्मशास्त्रके अनुसार।

अर्जुनकी मान्यता कर्मशास्त्रके अनुसार है और भगवान्का समझाना ज्ञानशास्त्रके अनुसार है। अब अगर अर्जुन ज्ञानशास्त्रके मतको बिलकुल नहीं मानता, कर्मशास्त्र पर ही अड़ा हुआ है कि हम तो कर्मका सिद्धान्त ही मानेंगे, तो भगवान् कहते हैं, वह भी हमारा ही, वह भी वैदिक सिद्धान्त है—'अथ च।'

वेदान्तका इतना उपदेश करने पर भी यदि तुम्हारी कर्तृत्वकी और भोक्तृत्वकी भ्रान्ति दूर नहीं होती तो भी लो—

नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। 2.26

हमेशा आत्मा पैदा होता है और मरता है। मरता है और पैदा होता है।

यह जन्म मरणका चक्कर अनिवार्य है। एक आपको सुनाऊँ, श्रीमद्भागवतमें इस सिद्धान्तका वर्णन है—ग्यारहवें स्कन्धमें कि 'प्रलय चार प्रकारका होता है।' एक तो होता है आत्यन्तिक प्रलय माने फिर सृष्टि नहीं होवे। वह केवल ज्ञानसे होता है। ज्ञानके सिवाय माना हुआ है तो वह प्रकृतिके विपरिणामसे, जब प्रकृतिके अपने कार्य माने फिर सृष्टि नहीं होवे। वह केवल ज्ञानसे होता है। ज्ञानके सिवाय आत्यन्तिक प्रलय नहीं होता। दूसरा महाप्रलय माना हुआ है। वह प्रकृतिके विपरिणामसे, जब प्रकृति अपने कार्य माने अपने हाथ-पाँवको समेटती है, और अपने स्वरूपमें जाकर स्थित हो जाती है, और केवल कारण अवस्था रहती है, उसको महाप्रलय मानते हैं।

तीसरा कहते हैं नैमित्तिक प्रलय। माने नैमित्तिक प्रलय क्या है? जब ब्रह्माकी आयु पूरी होती है या ब्रह्माका दिन पूरा होता है, तो दिन पूरा होने पर अथवा आयु पूरी होने पर जो एक ब्रह्माण्डका प्रलय होता है, तो आयु पूरी होने पर तो एक ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है, नींद आने पर पूरी तरहसे प्रलय नहीं होता है, कुछ बचा भी रहता है। तो इसका नाम है नैमित्तिक प्रलय।

एक नित्य-प्रलय होता है। नित्य-प्रलय क्या होता है कि, हमारे जीवनमें ही नित्य-प्रलय होता है। वह क्या? जब हम सो जाते हैं, तो हमारी सृष्टि तो लीन हो ही जाती है। हममें, हमारी सृष्टिमें जो ईश्वरकी सृष्टि है, उसका भी पता नहीं चलता। मिट्टी-पानी-आगसे बनी सृष्टि है, उसका भी पता नहीं चलता और माता-पिता, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा सब-के-सब सुषुप्तिकालमें लीन हो जाते हैं, किसीका पता नहीं चलता। जिस भाषाके लिए जाग्रत्कालमें लड़ते हैं, जिस पंथके लिए जाग्रत्कालमें लड़ते हैं, जिस मजहबके लिए जाग्रत्कालमें लड़ते हैं, जिस प्रांतके लिए जाग्रत्कालमें लड़ते हैं, जिस देशके लिए जाग्रत्कालमें लड़ते हैं, सुषुप्तिकालमें उनका पता नहीं चलता है। तो नित्य-प्रलय हो जाता है। भगवान् रोज नमूना दिखा देते हैं कि देखो, मृत्युके समय, प्रलयके समय ऐसे ही तुम्हें दुनिया छोड़नी पड़ेगी, जैसे सोते समय छोड़ते हो। और जब यही दशा अन्तमें मृत्युके समय और प्रलयके समय होती है, तो तुम जाग्रत्कालको क्यों इतना महत्त्व देते हो?

सुषुप्तिका ध्यान करो। देखो, तुम्हारी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

तत्र माता अमाता भवति, पिता अपिता भवति, देवा अदेवा भवति।

माँ-माँ नहीं रहती, बाप-बाप नहीं रहता, वहाँ ब्रह्मा विष्णु-महेशकी पूजा नहीं होती है। वहाँ वेदके मन्त्र नहीं बोले जाते हैं, वह स्थिति होती है। यह नित्य-प्रलय रोज-रोज! प्रलयका एक नमूना हमारे सामने आता है।

बोले कि इतना ही नहीं, बात तो कहनी थी, अब सुना रहा हूँ। भागवतमें बताया कि नित्यप्रलय जो है वह क्षण-क्षणमें होता रहता है, क्षण-क्षणमें! जैसे कोई फल लगा पेड़में, तो वह एक मूँगके दानेके बराबर दिखा, फिर मटरके दानेके बराबर हो गया, फिर अरहरके बराबर हो गया, फिर आँवलेके बराबर हो गया। आम जो है, वह बचपनसे जवानी पर आया। जवानीसे रूढ हुआ, रूढसे पक गया। किस समय ऐसा हुआ? बोले—क्षण-क्षणमें उसका कच्चापन जो है, वह मिट रहा है और पक्कापन उसमें आ रहा है, तो कच्चापनका मिटना जो है, वह मृत्यु होती जा रही है और पक्कापनका जो आना है, यह जन्म होता जा रहा है। तो क्षण-क्षणमें मृत्यु और क्षण-क्षणमें जन्म। अबकी तो बात नहीं हम जानते हैं, कि विज्ञान किस कक्षामें पहुँच गया है। अबसे 25-30 वर्ष पहले वैज्ञानिक लोगोंके मुँहसे मैंने सुना था कि यह जो मनुष्यका शरीर है, इतनी तेजीसे यह बदलता है कि सात बरसमें इसका कोई भी कण जो पहले था, वह अब नहीं रहता है, और नये-नये कण जो हैं, इसमें पैदा हो रहे हैं। नये कण, नये अणु, नये विचार, नये संकल्प, नयी रूप रेखा, नया आकार प्रकार, इस शरीरमें पैदा होता रहता है। तो नित्य-प्रलय! इसका नाम नित्य-प्रलय है।?

अब देखो कि यदि आत्माको नित्य नवीन, क्षण-क्षणमें नित्य नवीन भौतिक शरीरकी प्राप्ति हो रही है अथवा नित्य नवीन क्षण-क्षणमें नवीन सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो रही है अथवा एक शरीर बदल करके हमेशा शरीर प्राप्त होता ही है, यह बिलकुल नियम है और मनुष्य बदल करके फिर पैदा होता ही है, यह नियम है।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥

महाबाहो! अर्जुन! तूने तो ऐसा विचार किया कि तेरे जो बड़े-बड़े बाहु हैं, वे व्यर्थ हो जायँ। महाबाहो! अरे, उठा ले धनुष! और कभी दाहिने हाथसे और कभी बाँयें हाथसे मार बाण! तो ये लम्बी बाँह होना सफल हो जायगा। महाबाहो! तू तो साक्षात् ब्रह्म रूप ही है। 'महाबाहो'का यह भी एक अर्थ है,

जो सबका वहन करे वही महाबाहु है, 'जो वहन करे सो बाहु' जैसे भार उठाना होता है न! बन्दूक किससे उठाकर चलते हैं? लाठी किससे उठाकर चलते हैं? जो वहन करे सो बाहु और महाबाहु=जो सम्पूर्ण प्रपञ्चका वहन करे सो महाबाहु। शक्तिशाली।

शक्तिशाली अर्जुन! यदि तू यही मानता है कि यह शरीर हमेशा पैदा होता रहता है और मरता रहता है, और हमेशा मरता रहता है और पैदा होता रहता है—

तथापि त्वं न शोचितुमर्हसि।

फिर तो यह रोजका एक अनिवार्य काम हो गया। रोज-रोज यह पैदा होगा और रोज-रोज यह मरेगा। तो रोज-रोज रोवे कौन।

एक शास्त्रमें एक प्रश्न उठाया है—

रोदने किमपि परिणाममस्ति न वा?

तुम्हारे रोनेका कोई परिमाण है कि नहीं? कोई नापतौल है कि नहीं? एक आदमीके मरने पर तुम अधिक-से-अधिक कितने घण्टों तक रो सकते हो? कितने दिन तक रो सकते हो? कितने जोरसे रो सकते हो? किसके-किसके सामने रो सकते हो? कितने दिनतक रो सकते हो? कितने जोरसे रो सकते हो? किसके-किसके सामने रो सकते हो। कहाँ-कहाँ रो सकते हो? कभी इसपर विचार किया है? पाँच रुपया खो जानेपर तुम कै घण्टे रोना पसन्द करोगे? 'किमपि परिमाणम् नास्ति'-रोना है तो रोते हो! और खतम करना है तो खतम कर दो। बात काटो।

दिल्लीमें तो हमको बताया गया था कि वहाँ पर किसीके घरमें कोई मरता है न, तो रिश्तेदार लोग मातम मनानेके लिए आते हैं, तो 15-20 बरस पहले वहाँ औरतें यह रोजगार करती थीं। आठ आने रोजपर आठ-दस औरतें ले लो, उनको आठ-आठ आने दे दो, उनको लेकर चले जाओ, जिसके घर कोई मरा हो, वे छाती पीट-पीटकर रोवेंगी। हुबका फाड़-फाड़कर रोवेंगी और बादमें आठ आना ले लेंगी। यह शोक मनाना! तो भाई, यह पैसे लेकर रोनेमें उनकी खुशी होती होगी कि दु:ख होता होगा?

गाँधीजी मृत्युके दूसरे दिन अखबारमें एक वृत्तकी पूरी जिसमें कोई 25 छंद आते होंगे, इतनी बढ़िया कविता छपी थी, इतनी सुन्दर! कि दूसरे दिन

अखबारमें मैं उसको पढ़ने लगा तो एक तो आश्चर्य हुआ कि इस कविने रातभरमें इतनी बड़ी और ऐसी बढ़िया कविता लिख दी, तो कवि बड़ा योग्य है। दूसरी बात यह आयी कि जब रातके समय उसने यह कविता लिखी होगी, तो ऐसी बढ़िया कविता लिखनेमें उसको रसका अनुभव हुआ होगा? कि सुखका अनुभव हुआ होगा? उसको गाँधीजीकी मृत्यु भूल करके वह कविता लिखनेका सुख हुआ होगा! बिना रसानुभूतिके काव्य कैसे होगा? 'मैंने बहुत बढ़िया कविता लिखी है, क्या पूछना है?' तो रोनेमें भी अगर आपकी कोई कला होवे तो रोनेमें भी सोचिये कि आज मैंने बहुत बढ़िया कविता लिखी है, क्या पूछना है?' तो रोनेमें भी अगर आपकी कोई कला होवे तो रोनेमें भी सोचिये कि आज मैं कितना बढ़िया रोया? मैंने कितने सुंदर संगीतके स्वरमें कितना बढ़िया रोदन किया? लच्छेदार भाषामें उसके गुणानुवादका वर्णन किया है तो देखिए जी! यह रोना जो है, यह आत्माका स्वरूप नहीं है। जिनके लिए पहले घण्टेमें उतना नहीं आता है, दूसरे दिन उतना नहीं आता है, हफ्ते भरमें भूल जाता है।

कहीं कोई तैयारी करनी हो, तो ऐसा देखा है मैंने कि बड़े आदमी मर गये। बड़े आदमी मर गये तो मृत्युटेक्सके कर्मचारी आनेवाले हैं। बोले—'देखो, अभी कहीं टेलीफोन मत करो। कुछ खबर नहीं लगे। बंद कर दो किवाड़ और उसके बाद जो मालमत्ता है, उसको अलग कर लो। बही खातेको अलग कर दो। पुलिसको पता नहीं चले। सब कर दिया तो बड़ा संतोष हुआ कि एक काम हो गया, बहुत बढ़िया काम! इतने रुपये बचा तो लिये! और उसके सामने रोना शुरू करो कि—'हाय-हाय! हमारा तो सत्यानाश हो गया।' इसका नाम शोक है? यह शोकका स्वांग, यह शोकका ढकोसला चलता है। भीतर गंभीरतासे देखो, तब पता चलेगा। गुरुके मरनेपर शिष्य गद्दीको सम्हालता है। गुरुके रूपमें सम्हालता है, यह बात देखनेमें आती है। पत्नी, बेटा और माँ पहले यह सोचते हैं कि देखो भाई! सब ठीक-ठीक करके और खाके मरना जाहिर करनेवाले लोग दूसरे ढंगके होते हैं। पहले खा लेते हैं। बिल्कुल आपके घरकी बात बताता हूँ।

आपके घरमें कोई दुःख आया होगा। पहले तो आपने अनुभव किया होगा। पहले तो सचमुच कोई मातम मनाने आया तो उसके साथ रो लिया।

अब एकके बाद कोई दूसरा आया, दूसरेके बाद तीसरा आया। घरका रोनेवाला आदमी एक और ये आनेवाले पचासों! एक-एकके लिए 15-15 मिनट दिया जाय तो 15-15 मिनट रो-रवाके चले जाते हैं और घरवालेको प्रत्येक आदमीके साथ 15 मिनट देना पड़े तो 15 का पचासगुना देना पड़ता है? घरवाले कहेंगे कि भाई, थोड़ा सो लें। भाई! थोड़ा विश्राम कर लें, थोड़ा विश्राम कर लें। तो लोग तो अलग-अलग आते हैं। रोनेवाला ऊब जायगा। रोनेसे ऊब जायगा। रोनेमें दु:खकी प्रतीति होगी। तो भाई! जब तुम्हारे रोनेका कोई परिमाण नहीं हैं,'परिमाणम् नास्ति', परिणाम है, रोनेका कोई फल निकले? रोनेका फल-नापतौल नहीं है।

जो गरीब लोग रोते हैं न, वे मुर्देसे भी फायदा उठाते हैं। यह बात मैं कहना तो नहीं चाहता हूँ, लेकिन दिलमें है। दिलमें है और मैंने देखा है। किसीके घर कोई मर गया तो स्टेशनपर आकर माँगने लग गया। यह मर गया है तो कफनके नामपर, श्राद्धके नाम कुछ माँग लें। किसीके होता है, किसीके नहीं होता है, इस बातको छोड़ दें। लेकिन उस मनोवृत्तिको देखकर हम लोगोंको कुछ मजा नहीं आता ग्लानि होती है। हमने देखा है, साधुओंको, हमने देखा है मठाधीशोंको, हमने देखा है सेठोंको। मर जानेके बाद आदमीके, सोचने लगते हैं कि इसके मुर्देसे हम कितना फायदा उठा सकते हैं? फायदा केवल पैसेका ही नहीं होता है।

फायदा केवल पैसेका ही नहीं होता है, सोचते हैं कि इस मुर्देके द्वारा हम लोगोंकी सहानुभूति, हम अपने प्रति खींच लें। हमको आगे बड़े आदमी समझने लगे, हमको भले आदमी समझने लगे। दूसरेका मुर्दा दिखा करके अपनेको सिंहासनपर बैठानेकी वृत्ति मनुष्यके हृदयमें उठती है। तो परिणाम क्या है रोदनका?

जो विचारशील होता है उसकी नजर पैनी होती है, उसकी नजर सब जगह पहुँच जाती है। क्या परिणाम निकलेगा? रोनेसे आदमी जिन्दा हो जायगा? अच्छा, रोनेसे हमारा दिल हल्का हो जायगा। तो दिल हल्का करनेके लिए रो रहे हो? तब तो एक साधनका अनुष्ठान हो रहा है न? रो लो थोड़ी देर। रो लो थोड़ी देर, अच्छा है, वह भी एक साधन है। तो परिमाणकी दृष्टिसे भी रोना गलत। कितना रोओगे? परिणामकी दृष्टिसे भी रोना गलत।

रोना जो है, वह शरीरको क्या बना रहा है? रोनेके समकाल ही वह शरीरको क्षीण कर रहा है। इसलिए बाबा! अपने हृदयमें शोकको बसाना, यह अपने हृदयके खोडरमें मौतको आमंत्रित करना है। जो हमेशा शोकग्रस्त रहेगा, उसकी मृत्यु जल्दी होगी। क्यों? उसके सूक्ष्म शरीरका भार स्थूल शरीर ज्यादा सहन नहीं कर सकता। जो निरंतर शोकमें रहेगा वह जल्दी मरेगा। खुद मरेगा, जिस दूसरेके मरनेके लिए रो-कर खुद मरनेका उपाय कर रहा है। तो शोक अपने जीवनमें बसानेकी चीज बिलकुल नहीं है।

अब जो शोकग्रस्त है, जिसके लिए शोक है, उसकी परिस्थितिमें जाना पड़ेगा, यह भी एक बात है। माने जड़ होना पड़ेगा। जड़ होना पड़ेगा माने जिसका चिंतन है, वहाँ जाना पड़ेगा। इसलिए भाई! यह जन्म-मृत्यु आते रहते हैं और जाते रहते हैं। यह तो बहती हुई सड़क है।

बहती हुई सड़क माने कालवादेवी रोडपर खड़े हो जाओ, जैसे हजारों आदमी वहाँसे आते हैं और जाते हैं। इसी प्रकार इस प्रपंचमें तटस्थ हो करके दृष्ट होकर के जैसे गंगाजीकी धारा बह रही है, जैसे कालवादेवी रोड़की सड़क बह रही है। सड़क नहीं बहती है, बहते हैं सड़कपर चलनेवाले लोग। लेकिन जब सड़क जाती है तो तो बहेगी क्यों नहीं? यह सड़क कहाँ जाती है भाई? जाती तो नहीं है न? सड़क तो जहाँकी तहाँ, लेकिन कहा जाता है कि सड़क जाती है। इसी प्रकार सड़क बहती नहीं है, उसपर चलनेवाले लोग बहते हैं।

आत्मा जो है वह कूटस्थ है। कूटस्थ—'अविकार्योऽयमुच्यते' का अर्थ है, कूटस्थ है। 'अविकार्य' शब्दका अर्थ है, कूटस्थ और क्षेत्रसे भिन्न। 'सविकारं उदाहृतम्'—क्षेत्र जो है, वह विकार्य होता है और आत्मा जो है, वह विकार्य नहीं है। 'अविकार्योऽयमुच्यते'। तो वह क्षेत्रसे विलक्षण है यह आत्मा और यह जो दुनियाका बहना है, जैसे सूर्योदय-सूर्यास्त दिखायी पड़ता है, जैसे हवा आती-जाती है, जैसे आवाज आती-जाती है, जैसे मनमें संकल्प उठते-बैठते हैं, ठीक उसी प्रकार, उसी प्रकार शरीरमें जन्म-मरण आते-जाते हैं। वह चिन्ता करनेका विषय नहीं है। तो इन तीन श्लोकोंमें 'लोकदृष्टि उपनिषद्' इसे बोलते हैं।

'लोकदृष्टि उपनिषद्' माने साधारण लोगोंकी दृष्टि कैसी है जन्म-मरणके संबंधमें? उस दृष्टिसे भी शोक नहीं करना चाहिए।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना॥ 2.28

जैसे सपनेमें क्या दीखेगा यह पहलेसे तुमको मालूम था? नहीं मालूम था कि क्या दीखेगा। सपना आया तो दिख गया। कहाँसे सपनेकी चीज आयी? अदर्शनमें से सपनेकी चीज आयी। अब वह सपना जब टूट जायगा, तब वह चीज कहाँ जायगी? मालूम है? नहीं मालूम।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।

अनदेखी जगहसे सपना आया, और अनदेखी जगह सपना चला गया। आदिमें नहीं और अन्तमें नहीं। तो यह वर्तमानके जो शरीर हैं न, **व्यक्तमध्यानि भारत।**

यह भी बिलकुल स्वप्नकी तरह पहले कहाँसे आये? मालूम नहीं, कहाँ जायेंगे? मालूम नहीं। क्या थे? मालूम नहीं। क्या होंगे? मालूम नहीं। और बीचमें दिखायी पड़ रहे हैं, बिलकुल स्वप्नके समान।

'तत्र का परिदेवना?'

इसके लिए क्या सिर पीटना? क्या छाती पीट-पीटके हाय-हुतम मनाना उसके लिए? इसके लिए तो 'निर्वाण-उत्सव' ही करना चाहिये। उसके लिए हाय-हुतम मनानेकी जरूरत नहीं है। तो—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।

●

: 26 :

(गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक 25-26-27 'लोकदृष्टि उपनिषद्' है। इन तीन श्लोकोंका नाम 'लोकदृष्टि उपनिषद् है।)

भगवान् श्रीकृष्ण प्रारम्भसे ही, अर्जुनको—'अशोच्यानन्व शोचस्त्वं'—'शोकानौचित्योपनिषद्' से ले करके उपदेश कर रहे हैं। उसमें उन्होंने कई दृष्टिकोणसे बात की। एक तो, आत्मा ही सत्य और ब्रह्म है और इसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। तो न कोई शोकका विषय है और न कोई शोकका विषयी है। माने किसके लिए शोक किया जाय और कौन शोक करे?

बात यों कहते हैं कि शोकका कोई विषय नहीं है माने किसके लिए शोक किया जाय? और शोकका कोई विषयी नहीं है तो कौन शोक करे? न कोई शोक करने योग्य है, न कोई शोकका अभिमानी है, क्योंकि जब ब्रह्मके सिवाय=ब्रह्मात्मैक्यके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, तो फिर शोक-मोह क्या है? इसका विवेक बड़े विस्तारके साथ किया।

फिर बीचमें यह भी कहा कि अगर पुनर्जन्म वाला आत्मा मानो तब भी शोक करनेका कोई कारण नहीं है। और अन्तमें बड़ी गम्भीरतासे समझाया कि—

अविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

देखो, शोकानौचित्य=शोक उचित नहीं है, इस बातको समझानेके लिए जो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये; एक-एक उपनिषद् है। क्योंकि 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु'=ये भगवान्के द्वारा गाये गये उपनिषद् हैं। उपनिषद् तो हैं ही, भगवान्को मुखका सम्बन्ध होनेसे और भी महत्त्वपूर्ण हो गये। उपनिषद् तो हैं ही।

एक तो आमका रस और उसमें दूध भी मिला दिया, घी भी मिला दिया! तो एक तो यह स्वयं उपनिषद्का रस, और दुहनेवाला तो समझे गोपालनन्दन। भोजन बहुत बढ़िया बना हो और बनानेवाला भी बहुत बढ़िया हो, तो उसको

खानेमें और भी रस, और भी मजा आता है। बोले—'भाई, जान लो, शोक करनेका कोई कारण नहीं है। ज्ञानसे ही शोककी निवृत्ति होती है। उसके बाद एक फटकार, एक उलहना दिया श्रीकृष्णने—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्॥

इतना समझाने पर भी अगर तुम्हारी अक्कलमें बात नहीं आती है तो लो, यह तुम्हारी ही अक्कलसे यह शोक करना ठीक नहीं है।

नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

लोकदृष्टि अर्जुन! मैं तो समझता था कि तुम तो विशेष जिज्ञासु हो, विशेष बुद्धिमान हो, विशेष विद्वान् हो। हम समझावेंगे, समझ जायेंगे। लेकिन तुम्हारी अक्लमें बात नहीं आती है तब भी तुम यह तो मानते हो न कि मरके आत्मा नरकमें जाती है, स्वर्गमें जाती है और पुनर्जन्म होता है और पितर रहते हैं। यह तो तुमने अपने मुखसे ही कह दिया।

'पहले अध्यायके अन्तमें तो मान लो, जैसा तुम कहते हो, वैसी ही आत्मा है, तब भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए कि मरकर कोई मरेंगे नहीं और जन्मसे कोई जन्मेंगे नहीं। जनमके मरेंगे और मरकर जनमेंगे—

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

लोकदृष्टिसे भी माने लौकिक दृष्टिकोणसे भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। इसी दृष्टिकोणसे अंगके रूपमें यह श्लोक कहा गया—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 2.28

'परि' शब्दका अर्थ है वर्जन, क्रीडा=खेलना। परिदेवना=परि=खेलको छोड़ देना। देवना—इसके लिए क्षत्रियोचित क्रीडाके, युद्धको, युद्धक्रीडाको छोड़ना क्या? विजिगीषा=विजय प्राप्त करनेकी इच्छा तो मरनेके डरसे, वियोग-वियोगके डरसे विजयकी इच्छा छोड़ देना? व्यवहारका परित्याग कर देना? क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार द्युति, अपनी चमकको छोड़ देना? अपनी महिमा, अपनी द्युतिको छोड़ देना?

केवल मरनेके डरसे? सीताराम! सीताराम!!

अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना। 2.28

इसके लिए विलाप करनेकी जरूरत नहीं है। 'परि' उपसर्गका अर्थ

'वर्जन' होता है। अनेक स्थानों पर उसको कई लोगोंने दूसरे ढंगसे भी लगाया है। अव्यक्त=अव्यक्त प्रकृतिमें आभास जिस चेतनका पड़ता है, वह आभास चेतन ही अव्यक्त है। और उससे भूत=आकाशादि जो महाभूत हैं, ये क्रमशः पैदा होते हैं। भूत=आकाशादि जो पञ्चमहाभूत हैं, उनकी आदि क्या है? वही आभाससंयुक्त प्रकृति उसका नाम 'अव्यक्त' है वही सम्पूर्ण भूतोंकी आदि है।

अव्यक्तनिधनान्येव=ये आकाशादि पञ्चभूत इस आभाससंयुक्त प्रकृतिमें जाकरके लीन हो जाते हैं। चेतनका आभास जिसमें पड़ता है, और 'व्यक्तमध्यानि'= केवल मध्यकालमें व्यक्त हो रहे हैं। तो—

अर्थात् विलाप, रोना, दुःखका विलाप कल जिसे मैंने 'हाय-हुतम्' कहाँ था न, वही। परिदेवताका अर्थ बिलकुल वही है। छाती फाड़कर रो रहे हैं, हुबका फाड़कर, फफक-फफककर रो रहे हैं। क्या बोले—'अव्यक्तादीनि भूतानि।' यह भोगसे बड़ी चीज है, यह योगसे बड़ी चीज है, यह उपासनासे बड़ी चीज है, वह जातिसे और राष्ट्रसे बड़ी चीज है, यह अन्तरराष्ट्रियसे और मानवतासे, यह परम सत्य, परमार्थ सत्य बहुत बड़ी चीज है।

इसकी प्राप्तिकी लालसा चित्तमें जाग्रत होना बड़ा कठिन! धन्य हैं वे जिनके हृदयमें यह लालसा उदय हुई है। बड़ा कठिन।

आप लोग तो धन्य हैं ही, क्योंकि यह लालसा लेकरके श्रवण करते हैं। आप लोगोंके लिए दुर्लभ नहीं है। आप लोगोंके लिए तो दुर्लभ भी सुलभ हो गया है।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति। 2.29

इस परमात्माका श्रवण करना भी बड़ा कठिन है।

अच्छा, परमात्माके ज्ञानमें कर्ण-इन्द्रिय प्रमाण है कि वाक्य प्रमाण है? यह देखो, पाँच तरहसे जो प्रत्यक्ष होते हैं न, लौकिक प्रत्यक्ष-जीभसे स्वाद मालूम पड़ता है, आँखसे रूप मालूम पड़ता है, त्वचासे स्पर्श मालूम पड़ता है, नाकसे गन्ध मालूम पड़ता है, कानसे शब्द मालूम पड़ता है—तो परमात्माकी प्राप्तिमें कान ही प्रमाण हुआ न? तब तो प्रत्यक्ष हो गया। परमात्मा कर्णग्राह्य नहीं है। कर्णग्राह्य तो शब्द है। कर्णसे तो केवल शब्द सुनायी पड़ता है। कोई अंग्रेजीमें भी बोले तो हमें कर्णसे सुनायी पड़ता है। कोई जर्मनमें भी बोले तो

हमें कर्णसे सुनायी पड़ता है। कोई रशियनमें भी बोले तो हमें कर्णसे सुनायी पड़ता है। तो शब्दके सम्बन्धमें तो श्रोत्र प्रमाण है। परन्तु बाबा! यह शब्द जो है, वह कोई नयी बात बता रहा है कि जितना इन्द्रियोंसे मालूम पड़ता है उतना ही बता रहा है? यदि ज्ञानजन्य ज्ञानको ही बतानेवाला शब्द है, तो वह अनुवादमात्र हुआ। वह तो प्रमाण ही नहीं हुआ। माने जितना हम आँखसे देखते हैं, उतना ही यदि शब्द बतावे, तो आँख ही से देख लिया। शब्दसे सुननेकी क्या जरूरत है? तो ज्ञानजन्य ज्ञान माने ज्ञानेन्द्रियजन्य, ज्ञान जो हृदयमें होता है। माने हम आँखसे देखकर कानसे सुनकर, त्वचासे छूकर, नाकसे सूँघकर, जितना ज्ञान हमें संसारके बारेमें होता है, या इनके आधार पर अनुमान बना करके, उपमान बना करके, अर्थापत्ति-अनुपलब्धि बना करके जो ज्ञान हमें होता है, अगर वही शब्द बताता तो? तो शब्दमें प्रामाणिकता क्या हुई? ज्ञात-ज्ञापकता तो होनी चाहिए न?

आँख जो है, वह जिह्वासे अज्ञात पदार्थको बताती है, पर जिह्वा जो है, वह आँखसे अज्ञात पदार्थको बताती है। शब्द भी ऐसा होना चाहिए न, जो सर्व इन्द्रियोंसे अज्ञात पदार्थको बताये। अज्ञानज्ञापकत्व—जिस चीजको हम नहीं जानते हैं आँखसे, जीभसे, नाकसे, त्वचासे, मनसे और बुद्धिसे भी नहीं जानते।

यह बुद्धिवाला जो वेदान्त है, न वह शास्त्रीय वेदान्त नहीं है। अगर बुद्धिके घेरेमें ब्रह्म आ जाय तो यह बौद्धप्रत्ययका उदय होवे, तब रहे और नहीं होवे तो नहीं रहे।

हमारे तो वेदान्तका प्रारम्भ यहाँसे होता है। मैं और तुम शब्दके जो अलग-अलग अर्थ हैं न, 'युष्मत्' शब्दका अर्थ आत्मा और 'अस्मत्' शब्दका अर्थ आत्मा। बोले—'तुम भी आत्मा और मैं भी आत्मा। तो यह बात नहीं कह रहे हैं, तो क्या बात कर रहे हैं?

एक जो होता है, दृश्य होता है। एक दृष्टा होता है। यह दृश्य-दृष्टा परस्पर विरुद्ध होते हैं। दृश्य तमः स्वभाव होता है और दृष्टा प्रकाश स्वभाव होता है। और यह बात हम आँख बंद करके विचार करके बुद्धिसे निश्चय कर लेते हैं कि अहमर्थ जुदा चीज है। यह जुदा चीज है और मैं जुदा चीज है। 'मैं' साफ-साफ अनुभव हो रहा है कि 'मैं' नामकी वस्तु है।

एक महात्माके पास जाओ तो ऐसे ही समझाते हैं। यह देखो, तुम्हारा 'मैं' साक्षात् है कि नहीं है? बुद्धि रहती है तब भी है और नहीं रहती है तब भी है। जब तुम कहते हो कि 'मैं नहीं जानता हूँ' तब भी है। अरे, यही तो हैं, यही तो है। हम आपसे पूछते हैं कि यही मैं ब्रह्म जिसको बताया, बुद्धिके रहनेमें और बुद्धिके न रहनेमें यह जो 'मैं' है, मैं! यह तो बिना किसी वेदान्तके मालूम पड़ जायगा। बिना किसी योगाभ्यासके मालूम पड़ जायगा। बिना किसी उपासनाके मालूम पड़ जायगा। एक बच्चेको भी मालूम पड़ जायगा अगर वह समझ जाय बातको, तो वेदान्तकी क्या जरूरत पड़ी? वेदान्त एक ऐसी बात बताता है जो कि कितना भी सोचो बुद्धिसे कि 'मैं हूँ'-'मैं हूँ'-'मैं हूँ', इस मैं की अनुभूति जिस बुद्धिसे नहीं होती है, उस बातको बतानेके लिए वेदान्त है। प्रत्यक्षेणानुमानेन=प्रत्यक्षके द्वारा-

प्रत्यक्षेणानुमानेन नित्या वा व्यष्टिकालेन
विद्यते एवं वदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।

वेद वह वस्तु बताता है जो तुम किसी दूसरे प्रमाणके द्वारा नहीं जान सकते। आजकल बाबू लोगोंमें जो वेदान्त चलता है, वह यह चलता है कि जो दूसरे प्रमाणसे ज्ञात हो। ज्ञात हो वही बात वेद बताता है। जो मशीनसे ज्ञात है वही वेद-वेदान्त हैं। जो यंत्रसे ज्ञात है वही वेद-वेदान्त बताते हैं। जो बुद्धि, नेत्र आदिसे ज्ञात है वही वेद-वेदान्त बताते हैं।

ज्ञातज्ञापकता=परत:प्रामाण्य। इसीको बोलते हैं परत: प्रामाण्य। इन्द्रियोंने पहले कोई चीज बता दी तब जाना गया। एक ऐसी चीज है जो इन्द्रियोंसे नहीं जानी जा सकती। जो मनसे नहीं जानी जा सकती। जो बुद्धिसे नहीं जानी जा सकती। जो कभी आभास भास्य नहीं होती। जो कभी साक्षीभास्य भी नहीं होती। साक्षीभास्य हो, तब तो 'मैंने देख लिया।' आत्मा कभी साक्षीभास्य होता है? आत्मा साक्षीभास्य भी नहीं होता है। तब वेदान्तमें ज्ञात-ज्ञापकतारूप प्रामाण्य नहीं है। वह किसी भी प्रमाणसे, वह किसी भी इन्द्रियसे, वह किसी भी वृत्तिसे, वह किसी भी बुद्धिसे जाने हुए पदार्थको बतानेवाला नहीं है। वह ज्ञानजन्य ज्ञान वेदान्त नहीं है। वह अपौरुषेय ज्ञान है। स्वत: सिद्ध ज्ञान है।

अभी तो वेदकी अपौरुषेयता ही तुम्हारी समझमें नहीं आती है, तो ब्रह्म कहाँसे समझ में आ जायगा? वेदान्तका प्रामाण्य समझमें नहीं आता है। किस तरहका प्रामाण्य होता है वेदान्तमें? यह बात जब ध्यानमें नहीं बैठती है, यह

बुद्धिमें जो बात आ जाती है, उसीको बतानेवाला वेदान्त नहीं है। बुद्धिमें आयी हुई चीजसे भी और बुद्धिसे भी परे जो चीज है उसको लखानेवाला वेदान्त होता है। संकेतवृत्तिसे वह उसीको बताता है। तो संकेतवृत्ति भी कल्पित अविद्याकी निवृत्तिके लिए कल्पित है। तो भाई!

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति उसका श्रवण किया जाता है, वह तो आश्चर्यवत् है ही। अब देखो, एक बात हुई। एकको दर्शन तो होता है पर बोलता नहीं है। दूसरा ऐसा है जिसको दर्शन तो होता है और बोलता भी है। एकका जीवन केवल ज्ञानात्मक है, माने दर्शन भी होता है और बोलना भी होता है। दूसरेका जीवन ज्ञान-परमात्मक है, भला! जबतक जीवन रहेगा, शरीर रहेगा, तब तक हाथ भी काम करेंगे, पाँव भी काम करेंगे। उसमें कर्तृत्व नहीं होगा, यह बात करेंगे। उसमें कर्तृत्व नहीं होगा, यह बात दूसरी है। ज्ञान कर्मात्मक है, बोलता है।

अच्छा, तीसरा यह है जो इसका श्रवण करके जानता है—

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति।

यह तीसरा है। और चौथा कौन है?

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। 2.29

कोई ऐसा है जो सुनता तो बहुत है, लेकिन समझता कुछ नहीं।

और पाँचवाँ कौन है? जो सुनता ही नहीं है—वह पाँचवाँ है। वह सब झंझटसे मुक्त है। न तो उसको सुननेके बाद न समझनेका झंझट है। न उसको बोलनेका कोई झगड़ा है, न दर्शनका झंझट है। बोले—'हम तो ऐसे ही बाबा ठीक! '*अलहदी गिरे कुएँ में बोललन-भले बाटी।*'

आलसी आदमी कुएँमें गिर गये। बोले—'हम बड़े मजेमें हैं।' तो न देखते हैं, न बोलते हैं, न सुनते हैं, न सुनके समझते हैं। उनकी बात जुदा।

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।

'*एन भूतो न भवति कश्चित्।* माने कोई ऐसे भी होते हैं बड़े बुद्धिसागर—*यत् श्रुत्वापि एनं नैव वेद।* सुन करके भी इसको नहीं समझते हैं।

'बोले—कश्चित्'का अर्थ ऐसा कहो कि कोई ऐसा है ही नहीं जो इसको जानें।' तो जाने ही नहीं ऐसा यदि होवे तो—**तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति।** (श्वेका, 3.8)

इस श्रुतिकी क्या गति होगी? यह ज्ञान करके मृत्युका अतिक्रमण होता है।

गंगा किनारे एक महात्मा रहते हैं। एक बार हम लोग उधर गये तो हमारे साथी उससे बात करने लगे। वे बोले—'ब्रह्मज्ञान करा देते हैं।' अब उन्होंने ब्रह्मज्ञान कराना शुरू किया, महाराज! तो बोले—'देखो, आत्मा जो है वह सत् है।' कैसे? पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। और 'मैं नहीं हूँ'-यह अनुभव कभी होगा ही नहीं किसीको। जब यह अनुभव होगा कि 'मैं नहीं हूँ', तब इसका साक्षी आत्मा मौजूद रहेगा। तो आत्मा अब तक मरा है यह देखा नहीं गया। अभी जिंदा है और आगे मरनेकी सम्भावना नहीं है, इसलिए आत्मा क्या है? बोले—'सत् रूप है।' बोले—'देखो, इसीको तो ब्रह्म कहते हैं। आत्मा कभी मरता नहीं है। हो गया ब्रह्मज्ञान?'

नहीं, इसका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है। मैं था, हूँ और रहूँगा-यह ब्रह्मज्ञान नहीं है।

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

एक सज्जन आये। बोले—'हमको तो ब्रह्मज्ञान हो गया।' 'कैसे हुआ भाई?' बोले—'गंगाकिनारे बैठे हुए थे गुफामें आँख बंद किये तो ऐसी रोशनी हुई कि आँख तो बंदकी बंद, मैं तो बैठाका बैठा, सारी गुफामें जो अंधेरा था सो मिट गया, उजेला-उजेला हो गया। हो गया ब्रह्मज्ञान!'

तो वह गुफाका अंधेरा मिटा, तुम्हारे दिलका अंधेरा थोड़े ही मिटा? वह तो उस घरमें जो अंधेरा छाया हुआ था, सो मिट गया। तुम्हारी बुद्धिका अंधेरा थोड़े ही मिटा? वह ज्ञान दूसरा होता है, भला! जो अविद्याके अंधकारको मिटाता है, उसका नाम तत्त्वज्ञान है। 'गीता' में जो बताया—

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ 11.54

तुम जाननेमें समर्थ हो जाओगे, और

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ 7.3

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

तमेव विद्वान् अमृतैव भवति।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पापैः ॥

भगवान्‌ने बताया, 'विद्धि'।

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। 2.17

भगवान् कहते हैं—'जानो। जाननेसे दुःख निवृत्त होता है। जाननेसे शोक निवृत्त होता है, जाननेसे मोह निवृत्त होता है।

'वेद न चैव कश्चित्'का अर्थ अगर यह होता कि वेदको कोई जानता ही नहीं है, तो फिर और सारी बातें कट जायगी न? तो इसका अर्थ यह है कि कोई-कोई ऐसे होते हैं बाबा ,+जो ज्ञानको अपने अभिमानका भूषण बनाके रखना चाहते हैं। M.A.में पास हैं तो M.A. की तो पूँछ लगी न? उपाधि लग गयी साथ। आचार्य हैं, वेदान्ताचार्य हैं। क्या कहना था? इसको क्या बोलते हैं? 'उपाधि' बोलते हैं कि नहीं इसको? इसका नाम 'उपाधि' है न? माने जो चीज होवे अलग और अपने साथ जोड़ दी जाय। उप=जो पास रहकर दूसरेमें अपने गुणका आधान करे, उसका नाम उपाधि। *'उप=समीपे स्थित्वां आधत्ते स्वगुणान् अन्यस्मिन् इति उपाधिः।'* जो पास रहकर अपने गुणको दूसरेमें डाल दे उसका नाम 'उपाधि'।

पहले लोग 'सर' हुआ करते थे। 'सर', 'रायबहादुर', 'राजाबहादुर', 'राजा' भी हुआ करते थे। ऐसे लोग राजा हुआ करते थे जिनके पास एक फुट भी जमीन न होय-ऐसे लोग राजा हुआ करते थे। ऐसे लोग 'राजाबहादुर' हुआ करते थे, जिन्होंने कभी तलवार आँखसे देखी भी न हो। बहादुरके साथ इसका क्या सम्बन्ध है?

तो ये जो उपाधि हैं न, उपाधि! यह उपाधि बड़ी भयंकर वस्तु है। अभिमानमें उपाधि जुड़ती है। अभिमानमें, तो 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह उपाधि अभिमानमें ही जुड़ती है।

जो ज्ञानी होता है, उसके सारे अभिमान निवृत्त हो जाते हैं। वह ब्रह्म हो जाता है। बोले—'जैसे एम. ए. पास किया, एक उपाधि मिल गयी। जैसे 'भारतरत्न' 'भारतभूषण' ये उपाधि मिल गयी। 'डॉक्टर!' युनिवर्सिटीने 'डॉक्टर'की उपाधि दे दी। ऐसे होता है। तो यह क्या होता है? ये अभिमानके भूषण हैं। किसीके मनमें यह होता है कि हमारे साथ 'व्याकरणाचार्य'की उपाधि जुड़ी। 'मीमांसाचार्यजी'की उपाधि जुड़ी। वैसे 'तत्त्वज्ञानाचार्य'की भी

उपाधि जुड़ जाय? वह भी हमारे अभिमानका भूषण बनकर हमारे जीवनमें हमारे एक पाकेटमें कहीं 'तत्त्वज्ञानाचार्य' भी पड़ा रहे।

अन्तःकरणमें वृत्तिके कई खाने हैं, कई दराज हैं उसमें तत्त्वज्ञान भी पड़ा रहे। जो अपने अभिमानके आश्रित वृत्तिमें तत्त्वज्ञानको रखना चाहते हैं, उनको तत्त्वज्ञान नहीं होता है।

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।

ये जो अभिमानका भूषण बनानेवाले हैं। ज्ञानको पर, यह ज्ञान तो सर्वविध अभिमानको निवृत्त करनेवाला है। 'पंचदशी'में बताया—

एनं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्म न ब्रह्मविद् स्वयं।

जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उसका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं, वह क्या है? वह तो ब्रह्म ही है।

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।

ब्रह्मज्ञानी माने एक ओर पाकेटमें गानेका ज्ञान है, एक ओर अपनी सम्पत्तिका ज्ञान है, एक ओर व्याकरणका ज्ञान है, एक ओर न्यायका ज्ञान है, एक ओर मीमांसाका ज्ञान है। बोले—जेबके एक हिस्समें एक ओर विज्ञानका ज्ञान है, ब्रह्मज्ञान भी पड़ा हुआ है। तो ऐसे जो अभिमानी हैं महाराज! इसीलिए विनयकी जरूरत है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए विनयकी जरूरत पड़ती है। श्रीमद्भागवतमें बताया—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

तपस्यासे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, यज्ञसे नहीं होती, त्यागसे नहीं होती, यह ब्रह्मा-अग्नि-चन्द्रमा-सूर्य तत्त्वज्ञान नहीं देते। बोले—'कैसे मिलता है?'

'विना महत्पादरजोभिषेकम्'—जब तक अभिमान छोड़ करके, महापुरुषके चरणोंकी धूलसे अपना अभिषेक नहीं करेंगे, जबतक विनयसे चरणोंकी धूलमें आप अपनेको नहीं मिला दोगे, तबतक ठनठनपाल!

अभिमान झूठा ही कर लोगे कि हम बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी! फिर? लेकिन अभिमानीको कभी ब्रह्मज्ञान नहीं होता, इसलिए—

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।

बहुत सारे अभिमानी लोग जिन्दगी भर सुनते रहते हैं, लेकिन उनको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है। तो भाई, उपसंहार क्या है इस प्रसंगका?

'शोकानौचित्य उपनिषद्' प्रारम्भ किया था न पहले! इस प्रसंगका उपसंहार यहाँ 'शोक अनुचित है'—'शोकानौचित्य' इस उपनिषद्का उपसंहार सांख्यकी दृष्टिसे शोकानौचित्य जो विषय था, एक सत्य मनुष्यको, एक विचारवान् मनुष्यको, एक बहादुर मनुष्यको जो अपने लाभको समझता है, जो कर्तव्यपरायण है उसको भी शोक नहीं करना चाहिए। आगे बढ़ना चाहिए।

इसी प्रकार ब्राह्मणको वेदाध्ययन करते समय, ज्ञानोपार्जन करते समय, कभी कोई विघ्न बीचमें आजाय तो यह बात भूलना नहीं कि शोक नहीं करना है। शोक-मोहको बढ़ाना नहीं, आगे चलो। बढ़े चलो, आगे बढ़े चलो।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। 2.30

यह इस प्रसंगका उपसंहार माने आत्मा-अनात्माके विवेकसे शोकके अनौचित्यका जो उपसंहार है कि शोक नहीं करना चाहिए, यह तीसवें श्लोकमें बताया है।

●

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

गीता 2.30-37

भगवान् श्रीकृष्णने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से प्रारम्भ करके नित्य-अनित्यका विवेक, सत्-असत्‌का विवेक, चित्-अचितका विवेक, दुःख और आनन्दका विवेक, एक-अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा जो अपने प्रत्यगात्मासे अभिन्न ही है, उसका निरूपण करके और भी अनेक दृष्टियोंसे यह बात अर्जुनको समझायी कि शोक तो किसी भी हालतमें, किसी भी दशामें, नहीं करना चाहिए। क्योंकि शोक करनेवालेकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। शोक स्वयं सुखका विरोधी है। स्वयं दुःखरूप है, सुखका विरोधी है और शोक ज्ञानरूप बुद्धिका विरोधी है। शोक स्वास्थ्यका भी विरोधी है। जो ज्यादा रोवेगा उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। जो यंत्र काम करते हैं शरीरमें, उनकी प्रणाली, उनके चलनेका ढंग गड़बड़ा जाता है, ज्यादा शोक करनेपर।

शोकका कोई परिमाण भी निश्चित नहीं है कि वह कितनी मात्रामें करना चाहिए? और उसका परिणाम भी अच्छा नहीं है। जिसके लिए शोक किया जाता है वह अन्तमें मिलता नहीं है। तो न तो परिमाणकी दृष्टिसे और न तो परिणामकी दृष्टिसे, न तो वर्तमानकी दृष्टिसे, न तो सद्भाव-चिद्भाव-आनन्दभावकी दृष्टिसे—किसी दृष्टिसे अपने हृदयमें शोकको बसाना, यह उचित नहीं है।

जो होता जाय उसे काटते जाओ। अच्छा हुआ, बड़ी कृपा हुई, एक दिन तो सब छोड़करके भगवान्‌से मिलना था! अच्छा, चलो उतना छूट गया। छूटनेसे छुट्टी मनानी चाहिए।

यतो यतो विरज्यते विरज्यते ततो ततः।

जितना-जितना मनमें वैराग्य होता है, उतना-ही-उतना मुक्ति होती है। यह शोक करना रागीका लक्षण है। शोक करना वैराग्यवान्‌का लक्षण नहीं है। शोक करना अज्ञानीका लक्षण है, ज्ञानीका लक्षण नहीं है। तो शोकको किसी भी दशामें अपने हृदयमें बसाना नहीं चाहिए। यह अच्छा मेहमान नहीं है। है तो मेहमान, लेकिन ऐसा है कि—

बोले—डर गया मेरा दिल काँप रहा है। घरके मालिक पर कब्जाकर लिया है। है तो मेहमान ही, बाहरसे आया है, लेकिन आकर घरके मालिकको पटककर छातीपर सवार होकर गला घोंटनेवाला, ऐसा मेहमान है। गुण्डा है। इसको अपने घरमें जानबूझकर बुलाना नहीं। और आ जाय तो रखना नहीं। तुरन्त बाहर कर देना। रहने लग जाय तो किसी बड़ेका सहारा लेकर इसको निकालना। बड़ेका सहारा लो, कलक्टरका सहारा लो, मिनीस्टरका सहारा लो, गुरुका लो। किसी तरह उसको निकाल देना, बुलाना नहीं, आवे तो रखना नहीं, भेजने पर भी न जाय तो पास-पड़ौस, बड़े, गुरुका सहारा लेकर, सबका सहारा लेकर गडाँसकी तरह अर्धचन्द्र देकर (=इसका नाम अर्धचन्द्र माने जो आधे चन्द्रमाके समान है) उसको निकाल देना।

अब, इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं भगवान्—हे भारत! *अवध्यः अयं देही देहे नित्यं अवध्यः।* यह जो देही है, यह सबके देहमें रहकर भी हमेशा ही है। श्रेष्ठवंश तुम्हारा भारतवंश। वंशका भी असर पड़ता है। ऐसा नहीं था कि यह सब पुराने जमानेकी बात है और, वर्तमान युगमें यह सब गिननेकी जरूरत नहीं

है। वह तो आदमी जब कहीं फँस जाता है तब कहता है कि हम परवाह नहीं करते हैं। नहीं तो वंशका भी असर होता है।

एक कथा है कि एक शेरनीने गीदड़का बच्चा पाल लिया था। उस बच्चेको मालूम नहीं था कि मैं गीदड़ हूँ। वह तो अपनेको शेरके बच्चोंके साथ अपनेको शेर ही समझता था। एक दिन हाथीके बच्चे उधर आये तो जो शेरके बच्चे थे वह तो भिड़ गये उसके साथ और जो गीदड़का बच्चा था वह भगा। रोता हुआ अपनी माँके पास पहुँचा। बोले—'अरी माँ! ये मेरे भाई तो बड़े ढीठ हैं। देखो, चलते-फिरते पहाड़के साथ लड़ाई कर रहे हैं। मैं तो डर गया। मेरा शरीर काँप रहा है।'

शेरनीने बताया—**यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते।**

'बेटा! जिस खानदानमें तुम पैदा हुए हो, उसमें हाथी मारनेका काम नहीं किया जाता।' तो वंशका बड़ा भारी प्रभाव रहता है।

'भारत' कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम्हें आनुवांशिक शुद्धि प्राप्त है। आपका वंश कितना पवित्र वंश है। बहादुर, वीर! भरत पाँच वर्षका बालक था जब शेरसे लड़ाई किया करता था। अपने एक हाथसे शेरके दोनों पंजे पकड़कर और दूसरे हाथसे उसके मुँहको टेढ़ा कर दिया करता था। इस भरतके वंशमें तुम पैदा हुए हो। कितने वीर राजर्षि इस वंशमें पैदा हुए। ऋषिके साथ भेद होते हैं— राजर्षि, ब्रह्मर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, महर्षि। और भी कई भेद होते हैं, *ऋषिः दर्शनात्।* ऋषि किसको कहते हैं? जो किसी-न-किसी वेदमंत्रका द्रष्टा है। गायत्रीका ऋषि कौन है? 'विश्वामित्र'।

गायत्रीका द्रष्टा ऋषि 'विश्वामित्र' है। तो ऋषि उसको कहते हैं जो वेदके मंत्रोंमें-से किसी एक मंत्रका, दो मंत्रका, दस मंत्रका द्रष्टा है। दृष्टा=पहलेसे जो मंत्र विद्यमान् है, आकाशमें शब्दराशिके रूपमें, उनको ढूंढकर जिसने निकाला है, उसका नाम होता है ऋषि। तो इसके सात भेद होते हैं। नारदादि जो हैं वे देवर्षि हैं और सनकादि जो हैं वे परमर्षि हैं। वशिष्ठादि जो हैं वे ब्रह्मर्षि हैं। ऐसे इनके अनेक भेद होते हैं।

यह जो भरतवंश है, महाराज! बड़ा ही विचित्र है। अनेक-अनेक राजर्षि इसमें हो गये। राजर्षि, अद्भुत वंश। उस वंशमें तुम पैदा हुए और विवेक नहीं करते हो? विवेकसे बचना चाहते हो? तो क्या विवेक करें?

सर्वस्य देहे अयं देही नित्यं अवध्यः।

देह चाहे किसीका हो, जैसे मोटर-गाड़ी है न, उसमें पहिया अलग और चाक अलग और उसका इंजिन अलग, उसका छाजन अलग, उसका भोंपू अलग। तो मोटरमें कई अवयव होते हैं। जब वे जान-बूझकर जोड़ दिये जाते हैं, एक ढंगसे उनका विन्यास कर दिया जाता है, तब उसका एक कल्पित नाम 'मोटर' हो जाता है। अब उन अवयवोंके समूहमें मोटर नामकी वस्तु क्या है? किसका नाम 'मोटर' है? तो कहो कि उसमें जो एक चेतन है, वह घुसकर 'अहं मोटरः' इत्याकारक अभिमानसे युक्त हो गया। आजकल संस्कृतके पण्डित मोटरको 'मृत्तर' कहने लगे हैं। मद्+तर=' अतिशय मिट्टी है'—इस अर्थमें होता है वह। मेटर ही मेटर है ऐसा उसका अर्थ समझें। तो मृद्तर बोलते हैं। तो देखो, उसमें 'मोटर' नामकी वस्तु कोई जीव है, कोई चेतन उसमें घुसा हुआ है? फिर मोटरके पाँवमें उपेन्द्रदेवता आधिदैविक रूपसे होवे! वही चलाते हैं इसको।

अब ड्राइवर जहाँ हाथ लगाता है, क्या बोलते हैं उसको? कुछ हाथ ही से मिलता-जुलता शब्द है—'हेन्डल' तो वहाँ इन्द्रदेवता निवास करते हैं? नहीं, सो बात नहीं है।

इसको तो बोलते हैं कि यहाँ जो आभास है, वह प्रकट नहीं है। क्यों? यहाँ अन्तःकरण नहीं है, मोटरमें। यह केवल पञ्चभूतके पदार्थोंसे तो बना हुआ है। लेकिन भूतसूक्ष्मसे बना हुआ जो अन्तःकरण है, वह इसमें नहीं है। तो अन्तःकरणकी अभिव्यक्ति न होनेसे इसमें आभास नहीं है और आभास नहीं होनेसे कितना भी मोटरको बोलते रहो—'तत्त्वमसि' करो, मोटरको बोध नहीं होगा। मोटरको बोलते रहो कि—'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' 'हे मोटर! तत्त्वमसि' करो, मोटरको बोध नहीं होगा। क्यों नहीं होगा? वहाँ भूतसूक्ष्मसे बना हुआ अन्तःकरण नहीं है। वहाँ कोई आभासरूपसे जीव नहीं है, वहाँ कोई कर्ता-भोक्ता नहीं है। वहाँ पाप-पुण्यकी, सुख-दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती है। वहाँ बन्धनकी अनुभूति नहीं है, तब मोटर तो अवयवी है न? बोले—हाँ, मोटर कल्पित अवयवी है। वहाँ 'अहं' अवयवी इत्याकारक अभियानसे युक्त कोई नहीं है। अवयव तो उसके बहुत हैं, हिस्से बहुत हैं, कलपुर्जे तो बहुत हैं परन्तु 'इन सब कलपुर्जोवाला मैं हूँ'—ऐसा अभिमान करके उसपर कोई बैठा नहीं है।

और यह जो मोटर है न, इसमें कलपुर्जे तो सब अलग-अलग, भला! लाउडस्पीकर अलग है, ब्रॉडकास्ट करनेका स्टेशन अलग है, रिसीवर करनेका स्टेशन अलग है, पकड़ लेनेका स्टेशन अलग है, कोयला-पानी लेनेका स्टेशन इसमें अलग है, उसको पकानेका, उसमें भात बनानेका स्टेशन अलग है। यह सब इंजिन तो ठीक-ठीक बना हुआ है।

गाड़ी तो बिलकुल ठीक है, लेकिन इसमें विशेषता यह है कि अलग-अलग अवयव है, उनमें एक अवयवी बनकर है। अवयवके समूहका नाम तो देह है, जैसे मोटर है, वैसे अवयवोंके कल्पित समूहका नाम देह है। यह देह भी एक प्रकारकी मोटर है।

लेकिन; मोटरमें कोई 'मैं मोटर हूँ' ऐसा कहनेवाला चेतन नहीं है। वहाँ देहमें तो भूतसूक्ष्मसे बना हुआ अन्त:करण है, उसमें आँख-कान-नाक-त्वचा सब मिले हुए हैं और उसमें 'मैं' करके एक जीव बैठा हुआ है। तो वह कौन है? अवयव है कि अवयवी है? वह तो बाहरसे घुसकर अभिमान करके बैठा हुआ है इसमें। जैसे कोई मोटरका मालिक शराबके नशेमें मोटरमें बैठे और बोले कि 'मैं मोटर हूँ' 'मैं ही दौड़ रहा हूँ' 'मोटरका जो काला-काला शरीर है वह मैं ही हूँ—ऐसे यदि कोई शराबी, कोई मूरख, कोई अज्ञानी अपनेको नशेमें चूर होकर उसमें अवयवी मानकर बैठे—किसीने एक घूंसा आकर मोटरको मारा, तो 'हाय-हाय' चिल्लाने लगा कि 'हाय-हाय! हमारी पीठ पर तो इसने घूसा मारा।' तो मोटरके मालिक कभी-कभी ऐसे तन्मय हो जाते हैं। माटुंगाकी तरफ सान्ट्राक्रूजके रास्तेमें छोटा-सा पुल पड़ता है, रेलवेलाइनके नीचे। जब ऐरोड्रोम जाते हैं कि आदमी मोटरमें बैठकर चला जा रहा है और पुलके नीचे मोटर निकली तो वह खुद झुक गया। मोटरमें बैठे-बैठे झुक गया। यह बात सच्ची बता रहा हूँ। उसको यह ख्याल था कि कहीं पुल आकर हमसे टकरा न जाय। और बीचमें मोटर है, यह बात बिलकुल भूल गया। तब वह मोटरसे तादात्म्यापन्न हो गया कि नहीं? वही मोटरमें बैठकर मोटरसे ऐसा एक हो गया कि उसको यह ख्याल ही नहीं रहा कि पहले चोट लगेगी तो मोटरको-मोटरके सिरमें चोट लगेगी, यह बात तो भूल गयी। 'मेरे सिरमें चोट लगेगी'—यह बात क्यों?

देखो, वहाँ वह एक पागलपन है कि नहीं? विस्मृति है कि नहीं?

विस्मृति है। इसी प्रकार इस देहमें बैठा हुआ जो है, आभासचेतन यह भूल गया है, कि मोटरकी बाडी है, यह सिर है, इसमें-से बाल निकलते हैं, ये हाथ हैं, ये पाँव हैं, यह घड़ी है, मोटर है, वह कुछ हिस्सोंका, कुछ कलपुर्जोंका समूह है, उसमें कोई अवयवी नहीं है, कल्पित अवयवी है। लोगोंने उसका नाम मोटर रखा है। उनमें जो देहके अवयव अलग-अलग और देहनामकी एक चीज वह कल्पित। तो—

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः॥ भा० 7.15.60

जब कोई अवयवी नहीं है, उधरसे अवयव जोड़ दिये गये हैं, तो ये अवयव सब-के-सब झूठे हैं, और उसमें अवयवी भी झूठा है। यह तो अपने स्वरूपके अज्ञानसे चेतन जो है, वह देहको 'मैं और मेरा' मान रहा है। तो असलमें विखर जाना, यह चेतनका बिखरना नहीं है। देह चाहे मिट्टीमें मिले चाहे पानीमें मिले, चाहे कछुओंका भण्डारा हो, चाहे मिट्टीमें गाड़ देंगे तो कीड़ोंका भण्डारा हो जायगा। आगमें जला दो तो होम ही हो गया, हवन हो गया। वायुमें सूख गया। देहकी अन्तिम गति यही होनेवाली है, तो देह तो सबके जुदा-जुदा हैं। **सर्वस्य देहेः।**

देह कीड़ेका अलग-फतिंगेका अलग। कोई रेंगते हुए चलते हैं, कोई उड़ते हुए चलते हैं और कोई चार हाथ-पाँवसे चलते हैं, कोई दो पाँवसे चलते हैं। उड़कर चलना, रेंगकर चलना, खड़े होकर चलना, यह सब देहकी मशीनकी बनावट है और अलग-अलग जो अभिमानी बैठे हुए हैं, वे अपने स्वरूपके अज्ञानसे। और जो स्वरूप है सो? बोले—सर्वस्य देहे।

शरीरकी शकल चाहे लाल हो, काली हो, पीली हो, छोटी हो, बड़ी हो, ज्यादा उम्रकी हो, कम उम्रकी हो, पाँखवाले पक्षी होवे अथवा चार पाँववाले चतुष्पाद होवे, अथवा अपद होवे, अथवा बहुपद होवे। जब आदमी अकेला रहता है तो दो पाँवका रहता है। व्याह कर लेता है तो चार पाँवका हो जाता है और बच्चे हो जाते हैं तो छः पाँववाला=षट्पद। इधर-उधर, इधर-उधर रस लेते फिर रहे हैं। घूमो। और आठ पाँववाला हो जाता है अष्टपद—केंकड़ा। आठ पाँवके घूमते हैं न? और उससे ज्यादा बढ़ जाय तो बहुपद।

काटर-काटनेवाली जो चिपक जाती है शरीरमें जल्दी नहीं छूटती है।

कानमें घुस जाती है, काटर। तो ये प्राणी बहुत तरहके होते हैं। द्विपाद, चतुष्पाद, षट्पाद, अष्टपाद्, बहुपाद। बहुत प्रकारके प्राणी होते हैं।

अब आपलोग तो आत्मा हो, शरीरधारी नहीं हो। आपलोग तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो। पर देखना आप कि दो पाँवसे आपकी मोहब्बत है कि चार पाँवसे है, कि छः पाँवसे हैं? कितने पाँवसे आपकी मोहब्बत है? तो आप षट्पद हो कि अष्टपद कि बहुपद हो? कौन हो? तो भाई? जिसके साथ जितने पाँव जुड़ गये वह उतने पाँववाला हो गया।

महाकालीका वर्णन आता है—

अष्टपाद दसकाम वन्दे महाकालिकाम्।

महाकाली जो है, उसके मुँह भी दस और पाँव भी दस। महाकालीका भी ऐसा वर्णन है ऐसा समझो। चतुष्पदी, षट्पदी, अष्टपदी और बहुपदी होती है। तो ये जितने शरीर जुदा-जुदा हैं, महाकालीके हों चाहे महाकालके हों, जितने भी ये शरीर हैं, सब शरीरोंमें अपने स्वरूपके अज्ञानसे जो अभिमानी बना हुआ बैठा है, उसको बोलते हैं—जीव। जब वह अपने स्वरूपको जान लेता है, एक देहसे परिच्छिन्नता उसीमें नहीं रहती है। वह तो सबमें एक है।

सर्वस्य देहे देही एक एव।

यहाँ बताते हैं कि सबके शरीरमें देहके भेदसे आत्माका भेद नहीं है। वह सब देहोंमें एक है। माने देहरूप विषयसे परिच्छिन्न नहीं हैं। भिन्न-भिन्न देशमें जो देह है, देशसे भी परिच्छिन्न नहीं है, 'अवध्य' से कह दिया, कालसे परिच्छिन्न नहीं है।

अवध्यः=वध नहीं होगा। वध नहीं होगा माने मरेगा नहीं। यह आत्मदेव है, यह कैसा है? बोले—'अवध्यः'। मरनेका कोई निमित्त ही नहीं है। कई वस्तुएँ होती है जिसमें कारणका नाश होवे तो कार्यका नाश हो जाता है। मिट्टी नहीं रहे तो घड़ा कहाँसे होगा? कई चीजें ऐसी होती हैं जो आश्रयके नाशसे ही नष्ट हो जाती है। गिलासमें पानी रखा है, गिलास ही टूट-फूट गया, नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तो पानी कहाँ रहेगा? कोई वस्तु निमित्तसे नष्ट होती है। जल आगपर चढ़ा दिया तो पानीका पता कहाँ चलेगा? अग्निरूप निमित्तसे जल जो है, भस्म हो गया। कोई कार्यके नाशसे नष्ट होता है, कोई स्वतः नष्ट होता है, कोई परतः नष्ट होता है। परन्तु यह जो आत्मदेव है, यह अवध्य है। इनका वध करनेवाला कोई नहीं।

बोले—आत्माका वध कौन करेगा? पञ्चभूत? पञ्चभूत तो आत्मासे प्रकाशित है। दियेकी रोशनीमें कहीं घड़ा रखा हो, कहीं पानी भी रखा हो, और कहीं सोना रखा हो, और पंखा चल रहा हो, और रेडियो बज रहा हो, तो रेडियो हटा देनेसे या पंखा बन्द कर देनेसे, या सोना खींच लेनेसे या पानी हटा देनेसे क्या रोशनी बुझ जायगी? रोशनी तो सबको प्रकाशित करनेवाली है न? तो यह आत्मा सबको जाननेवाला, सबको जाहिर करनेवाला, इनसे जुदा, इनके नाशसे नष्ट नहीं होता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत॥

जितने देह हैं सब सावयव हैं, हिस्सेवाले हैं और यह जो देही है, यह निरवयव है, माने इससे हिस्से नहीं होते हैं। देह जो होते हैं, वे वध्य होते हैं, और देही वध्य नहीं होता। देह अनेक होते हैं; परन्तु देही अनेक नहीं होते हैं। तो सबके देहमें जो आत्मदेव बैठे हुए हैं, वह बिलकुल अविनाशी हैं।

बोले—भाई, अभी तो अविनाशी होय और आगे चलकर विनाशी हो जाय? तो देखो, पञ्चभूत तो आत्माका नाश नहीं कर सकते। बोले—अच्छा भाई, भूतसूक्ष्म कर दें। वह भी तो नानाविध संकल्प-विकल्पों आदिके रूपमें आता है। और आत्मासे प्रकाशित होता है। अच्छा, प्रकृति ही नष्ट कर दे? बोले—प्रकृति बावरी स्वयं नष्ट हो रही है! अच्छा ईश्वर नष्ट कर दे! ईश्वर आत्मा है कि अनात्मा है? ईश्वर तो आत्मा ही है, चेतन है, वह क्यों नष्ट कर देगा? ईश्वर अपने आपको नष्ट नहीं कर सकता। स्वतः परतः अपने आप या दूसरी किसी वजहसे आत्माका बिलकुल नाश नहीं हो सकता। यह अवध्य है अवध्य!

अवध्य है और अबाध्य है। कोई इसका बाध नहीं कर सकता। परमात्माका निवास कहाँ है, आपको मालूम है? अवध्य है। अवध्य है माने अयोध्यामें रहनेवाला है, जहाँ कोई युद्ध करनेवाला ही न हो, जहाँ युद्ध हो ही नहीं। दो होवे तो आपसमें युद्ध होवे। जहाँ दो हैं ही नहीं वहाँ तो कोई योध्य नहीं है। कोई योध्य नहीं है, कोई योद्धा ही नहीं है, वहाँ परमात्मा अयोध्यामें रहता है। अरण्यमें रहता है। अरण्य=जहाँ रण न हो, वह अरण्य। दो चूड़ी होती है तो आपसमें खनखनाती है न? वह रणक-रणक जो उनका है, दो चूड़ियोंका रणक-खणक काहेके लिए है? दो चूड़ी है, इसलिए आपसमें

टकराती हैं। अयोध्या वह है जहाँ एक राम-अवध जो है, वहाँ एक राम। वृन्दारण्यमें एक श्रीकृष्ण। ऐसा! यह वृन्दारण्यमें, यह अयोध्यामें रहनेवाला। अवधमें रहनेवाला परमात्मा है।

देही नित्यमवध्योऽयम्।

नित्य अवध्य। वह अवधमें ही रहता है। यह निषेधावधि जो है, निषेधकी अवधि-निषेधकी अवधि हो जानेपर, सर्वनिषेध हो जानेपर अवधिके रूपमें, सबकी सीमामें जो बैठा हुआ है, वह अवध्य है। अवध्यका अर्थ है—

अबाध्यात् ध्यानम् यस्मात्।

स्मृति, उपासना, अभ्यास, चिंतन, ध्यान, समाधि, ध्येय—ये सब चिन्तनमें ही रहते हैं। *ध्येय चिन्तायाम्।* ये सब अबाह्य ऊपर नहीं, नीचे ही रहते हैं जिससे, जिसके स्वरूपको छू नहीं सकते हैं—ऐसा है अबाध।

ध्याययो ध्यानादयो यस्मात्।

देखो,'ध्यान' शब्दका एक संतोहू अर्थ बताता हूँ। संतोहू अर्थ दूसरे होते हैं और वैय्याकरणोंके अर्थ दूसरे होते हैं। धी=बुद्धि, धारणा-शक्ति धीर्धारणात्मिका बुद्धिः। जो सुने वह बुद्धिमें धारण होवे, जीवनमें आचरण होवे। तो आचरणपर्यन्त जो ज्ञानको ले जाय, उसका नाम होता है 'धी' और *धीयं आनयति*=बुद्धिको, धीको, ध्यानको ले आवे उसका नाम 'ध्यान'। बुद्धिके आगमनका, ब्रह्माकार वृत्तिके आगमनका, अखण्डार्थ धीके आगमनका, आनयनका जो साधन है, उसका नाम 'ध्यान'। ध्यान करो तो तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हो जायगी। तो शुद्धबुद्धिमें परमात्माके सम्बन्धमें जो महावाक्यमें कहा जाता है, उसका ग्रहण करनेका सामर्थ्य आ जायगा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति इदमात्मानमात्मनः॥

या

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मनः।

हाँ, देखो, कैसा बढ़िया कहा? तो आओ,'**देहे सर्वस्य भारत।**'

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि। 2.30

हे भारत! *भा=प्रतिभा। 'तस्यां रतः भारतः।' त्वं बुद्धौ।* हे भारत! भोजनमें रति नहीं है। भोजनभट्ट नहीं, भोजनमें रति नहीं है, तो गृहिणीरति भी

नहीं है। पत्नीमें रति नहीं है। कोई धनरति होते हैं, कोई भोजनरति होते हैं, कोई पत्नीरति होते हैं।

अर्जुन कौन? ये भारत है। *भा=प्रतिभा।* यह तो चाहता है नवनवोन्मेशालिनी प्रतिभा! जिस प्रतिभाके द्वारा सम्पूर्ण संशय-विपर्यय दूर होकर परमात्माका ज्ञान हो जाय। इसका नाम है भारत। *'भा प्रतिभा तस्यां रत: भारत:।' 'भा भानम्, दीप्तिः।' भा दीप्तौ ज्ञानम्।* भा=दीपित प्रकाश ज्ञान। उसमें जो रत है, उसका नाम भारत। जब ज्ञान चाहते हो—

यच्छ्रेय: स्यान्निश्चतं ब्रूहि तन्मे। 2.7

ये छोटे मरने-जीनेवालोंके लिए शोक छोड़ो। जो अपनी बुद्धिको पाँच रुपयेमें लगाकर रखेगा, उसको पचास कहाँसे मिलेगा? एक किसान था। उसके घरमें 30 सेर अन्न था। जब फसल बोनेकी बारी आयी, तब लोगोंने कहा—' भाई! खेत जुता हुआ और वर्षा हो गयी है, सिंचाईका खूब बन्दोबस्त है, 20 सेर अन्न लेकर तुम खेतमें छींट दो। बो दो खेतमें, तब क्या होगा? 20 मन हो जायगा। उसने कहा—'20 सेर तो हमारे हाथमें है। उसको तो हम डाल दें माटीमें? और 20 मनकी उम्मीद करें? हम नहीं डालेंगे माटीमें।'

'अच्छा, मत डालो, 20 सेर से कितने दिन खाना होगा?' बोले—'20 सेर रहेगा घरमें तो 40 दिन खा लेंगे।' बोले—'ये 20 सेर आज तुम खेतमें डाल देते, तो तुम्हारे 20 मन हो जाता न?' 'बोले—'नहीं, हम तो 20 सेर नहीं छोड़ेंगे।' अब क्या होगा? तो 20 मन नहीं मिलेगा। जो पाँच रुपया नहीं छोड़ता वह पचास रुपयेका हकदार नहीं होता। जो छोटी-छोटी चीजोंमें अपनेको फँसा करके रखता है, उसको बड़ी चीज नहीं मिलती है। तो जो संसारकी छोटी-छोटी चीजोंमें ही अपनी बुद्धिको लगा देता है, उसको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। असलमें जो घड़ेमें-घड़ीमें अपनी अकल लगा दे, उसको किताबकी प्राप्ति नहीं होगी। आँखसे घड़ी देखते रहो, किताबका एक अक्षर पढ़ा जायेगा! अच्छा! पढ़ते रहो, घड़ी क्या देखी जायगी। तो जो अपने मनको, बुद्धिको इन्द्रियोंको दुनियामें ही लगा करके रखता है, उसको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। उसके लिए अपने चित्तको संसारसे हटाना पड़ता है।

दोऊ एक संग नहीं होय भुआला।
हँसब ठठाई फुलाउब गाला॥ रा.मा.अयो.

जोरसे ठठाकर हँसना भी और गालको फुलाये रखना, ये दोनों एक साथ होता है? लोग जब नाराज होते हैं न, तब अपना गाल फुला लेते हैं। मुँह बन्द कर लेते हैं, तो गाल फूल जाता है बोले—'हम तुमसे नहीं बोलेंगे। तो गाल फूल गया और हम हँसगे ठठाकर? तो ठठाकर हँसना, जोर-जोरसे अट्टहास करना और गाल फुलाकर रखना दोनों काम एक साथ नहीं होता है। तो छोटी-छोटी चीजको पकड़ करके रखना और बड़े बननेकी ख्वायिश रखना, दोनों एक साथ पूरा होनेवाला नहीं है।

जो छोटी चीजको छोड़ेगा, उसको बड़ी चीज मिलेगी। ईश्वरका यही नियम है। जब बच्चे खिलौना-खेलना छोड़ देते हैं न, तब उनको बड़ी चीज मिलती है। और जो खिलौनेसे ही खेलता रहेगा, कोई उसके साथ ब्याह नहीं करेगा। सच्ची लड़की कोई नहीं मिलेगी। किसीकी बुद्धि ऐसी हो जाय कि हम तो बस खिलौनेसे ही खेलेंगे, तो माँ-बाप खिलौना देते रहेंगे और जो कन्यापक्षवाले हैं, वे कहेंगे कि अभी तो इसको बच्चोंकी अकल है। इसको लड़की देकर क्या करेंगे? यह कहाँसे कमायेगा? कहाँसे खिलायेगा?

यह परमार्थकी बात भी ऐसी है। जबतक गुड़ियामें, खिलौनोंमें आदमी फँसा रहता है, तबतक उसको परमार्थ नहीं मिलता है। उसको बस वही छोटी-छोटी चीजें मिलती रहती हैं। कमा लो और खाओ! यहाँसे अकलको उठाना पड़ता है।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।

अर्जुन! तुम श्रेय प्राप्त करना चाहते हो। तुम परमार्थ प्राप्त करना चाहते हो, धर्मका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो। कार्पण्यसे छूटना चाहते हो।

कार्पण्यदोषोऽपहतः स्वभावः। 2.7

धर्मको जानना चाहते हो और श्रेय प्राप्त करना चाहते हो। किसके लिए रो रहे हो? इसलिए कि हमारी नानी मर गयी? प्रसंगका बिलकुल उपसंहार कर दिया। जब किसीको सच्ची बात समझायी जाने लगे और खूब समझाओ और वह न समझे तो क्या हुआ? इसमें समझनेवालेका दोष नहीं है। समझानेवालेका ही दोष है।

वस्तुरेव हि तत्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।

यदि श्रोता नहीं समझता है, तो यह समझानेवालेकी मूर्खता है। हार

गया। क्यों? जिस ढंगका वह श्रोता है, जिस ढंगका वह आदमी है, उस ढंगकी बातोंसे अगर उसको समझाया जाता, तो उसकी समझमें क्यों नहीं आता। वह है मूर्ख और पण्डितोंकी भाषामें समझाया गया, इसलिए उसने नहीं समझा।

हम जानते हैं, एक चर्चा आयी एक दिन। बोले—'भाई वह समझाने-बुझानेसे नहीं मानेंगे।' मैंने पूछा—'वह रुपयेकी बोली समझते हैं कि नहीं?' बोले—'हाँ-हाँ, वह तो समझते हैं।' बोले—'तब काम बन जायगा। अगर बुद्धिमानीकी बोली नहीं समझते हैं, रुपयेकी बोली समझ ले तो काम बन जायगा।' कोई रुपया देनेसे समझता है, कोई हाथ जोड़नेसे समझता है, कोई हुक्म देनेसे समझता है, कोई बुद्धिमें हेर-फेर करदेनेसे समझता है, कोई-कोई लातके देवता होते हैं, वे बातसे नहीं मानते हैं। ऐसा भी होता है। जिसको जिस ढंगसे समझाओ तो झट अपनी बोलीमें समझेगा। तुम्हारी बोली सीखने नहीं आवेगा। अब गधेको कोई वेदपाठ सुनाकर समझाना चाहे तो वह थोड़े ही समझेगा? वह तो डण्डेकी बोली समझता है।

तो जहाँ हमारी समझायी हुई बात किसीने नहीं समझी, वहाँ हमने उसके अयोग्य ढंगसे उसको समझाया। नहीं तो सच्ची बात है तो उसकी समझमें आनी ही चाहिए थी। तो कैसे समझाना? बोले—'महात्मा लोग जो हैं, तरह-तरहसे समझाते हैं। समझानेके बहुत सारे ढंग होते हैं। धर्मकी दृष्टि जुदा होती है, ईश्वरकी दृष्टि जुदा होती है, परमार्थकी दृष्टि जुदा होती है।'

अब भगवान् कहते हैं—'अच्छा, परमार्थकी दृष्टिसे अगर तुम्हारी समझमें न आवे तो हम व्यवहारकी दृष्टिसे भी तुमको बताकर समझाते हैं। धर्मकी दृष्टिसे।' अर्जुन यह बात कभी नहीं मानेगा। वह कहेगा, 'वाह! हमको तुम इतना नासमझ समझते हो कि हम परमार्थकी दृष्टिको नहीं समझते हैं? हम तो परमार्थ ही की दृष्टिसे समझेंगे।' तो बादमें फिर परमार्थका निरूपण आवेगा। यहाँ तो उसकी बुद्धि पर—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। 2.31

अपने धर्मको देखकरके भी तुमको कम्पित नहीं होना चाहिए। यह जो थर-थर काँप रहे हो क्षत्रिय होकरके, सीताराम!

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य—जैसे कोई बिना आदतके व्याख्यान देनेके लिए

खड़ा हो जाता है, तो उसके पाँव काँपते हैं कि नहीं? बहुत काँपते हैं। अब हम लोग बैठकर बोलनेवाले हैं न? बैठकर बोलनेका अभ्यास जिनको होता है, उनको अगर खड़ा कर दो बोलनेके लिए, तो उनके पाँव जरूर काँपेंगे, क्योंकि आदत नहीं है न ऐसे बोलनेकी। कई-कई ऐसे होते हैं भाई, जिनको दोनोंका अभ्यास होता है, तो उनको चलते-चलते बोलना पड़े, व्याख्यान देना पड़े तो गिर पड़ेंगे। वह तो जैसे-जैसे अभ्यास होगा न, वैसे ठीक बात बनेगी।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य—अर्जुन धर्मकी भाषा कुछ अधिक समझता है, यह ख्याल पहले कर लिया—

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः। 1.42

और,

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। 1.44

धर्मकी चर्चा अर्जुन पहले अधिक कर चुका है। तो भगवान्‌ने कहा—'अच्छा, आओ, एक बार धर्मकी बोलीमें उसको समझावें। सीधा-सादा सरल है, कोई छल-कपट तो अर्जुनके चित्तमें नहीं है। जिसके चित्तमें छलकपट होता है, उसको तो न धर्म समझमें आता है न भक्ति, और न ज्ञान। जो सरल हृदयका होता है, वह सब समझता जाता है। ये बच्चोंको देखो, कोई बात जल्दी याद हो जाती है और बड़े-बूढ़े जो होते हैं, उनको जल्दी भूल जाती है। क्योंकि उनके दिमागमें तो वासनाका अन्धकार छाया हुआ रहता है न? 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य-क्षत्रियधर्म ब्राह्मण-धर्म, वैश्यधर्म-शूद्रधर्मकी रक्षाके लिए नियुक्त तुम एक क्षत्रिय राजा हो। तुम्हारा यह कर्तव्य है कि जो धर्मके विरुद्ध धरती पर कब्जा किये हुए बैठे हैं, उनके ऊपर आक्रमण करो।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। 2.31

धर्म युद्ध क्षत्रियके लिए बड़ी वस्तु है। एक याग ऐसा होता है जिसमें बाजको मारा जाता है। सोम=बाज। विधि है उसकी; पर उससे लगता है पाप। क्यों पाप लगता है? क्योंकि उसका फल है शत्रुकी मृत्यु। शत्रुकी मृत्युके लिए सोमयाग किया जाता है। तो सोमयागका तो विधान है; लेकिन उसका फल है शत्रुकी मृत्यु। किसीको भी मारना नहीं चाहिए; लेकिन वह यज्ञ मारनेके लिए किया जा रहा है। फिर इसके लिए नरकमें वास होता है। लेकिन युद्धभूमिमें जो

आमने-सामने-शस्त्र चलते हैं, यहाँ तो शस्त्र चलानेवालेको, अस्त्रसे सीधे मरनेवालेको सूर्यमण्डल भेदन करके स्वर्गकी प्राप्ति होती है। मारनेवालेको धर्मानुष्ठान करनेके कारण स्वर्गकी प्राप्ति होती है। लेकिन, क्षत्रियके लिए बिलकुल धर्मानुकूल युद्ध है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

गौड़पादाचार्यका यह न्याय प्रसिद्ध है—उन्होंने कहा कि जो चीज शुरूमें नहीं थी, और आखिरमें नहीं रहेगी वह वर्तमानमें क्या है? सपनेका खजाना पहले जाग्रतमें नहीं था और फिर जाग्रतमें नहीं रहेगा, तो वर्तमानमें क्या है? इसी प्रकार पहले अव्यक्त था और बादमें अव्यक्त रहेगा, तो बीचमें 'व्यक्तमध्यानि'—तो मध्यकालमें जो जाहिरा इनका रूप है, वह 'तथैव'=जैसा पहले था वैसा अब भी है। और न पहले था, न अब है, इसका यह मतलब—'तत्रका परिदेवना?' उसके लिए रोना-गाना क्या? पर यह है 'लोकदृष्टि उपनिषद्'।

शङ्कराचार्य भगवान्ने और बड़े-बड़े विद्वानोंने भी यही कहा है कि—'यह पहले भी उपलब्ध नहीं था, बादमें यह नहीं रहेगा। इसलिए 'अव्यक्त' पदका अर्थ है—'वह यहाँ अनुपलब्ध है। पहले भी अनमिला, बादमें भी अनमिला, तो बीचमें मिला तो क्या मिला?'

एक आदमीने बहुत बढ़िया हीरा लाकरके दिखाया। जबतक देखा नहीं था, तबतक भी अनदेखा था और बादमें कोई छीन लेगा तब भी अनदेखा हो जायगा। तो बीचमें थोड़ी देर देखनेसे क्या तुम बड़े भारी ईश्वर बन गये? कुछ तो नहीं हुआ न? ऐसा!

अब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन, तुम यह मत समझो कि मैं केवल तुम्हींको यह उलाहना दे रहा हूँ उपालम्भ, ठपका!'

न केवलं त्वामेव उपलम्भे।

मैं केवल तुमको ही उपालम्भ नहीं देता हूँ। क्योंकि भगवान्ने कहा न, कि—

अथ च एनं वा नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। 2.26 कहाँ तो—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। 2.25

यह तो कृष्णका सिद्धान्त हुआ। और, अर्जुनको ऐसा गड्ढेमें पटका कि—

एनं वा नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। 2.26

अर्जुन तिलमिला उठा। बोला—'हमको इतना नासमझ कहते हो? इतना तुम्हारे समझानेके बाद भी अभी क्या मैं नहीं समझ सकूँगा?' तो श्रीकृष्ण बोले कि भाई! इस बातको समझना बड़ा मुश्किल है। केवल तुम्हारे लिए ही यह कोई उपालम्भ नहीं है, उलाहना नहीं है। दुनियामें बहुतसे लोग ऐसे हैं—

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

बहुत दिनों तक लोग सुनते रहते हैं, उनको बात समझमें नहीं आती है। जल्दी तो वे लोग समझ लेते हैं जिनको दुकानके कामकी जल्दी रहती है। बोले—'महाराज! जल्दी करो। समय थोड़ा है।' क्यों भाई, बात क्या है? अभी बच्चेको स्कूल भेजना है, दुकानपर जाकर काम सम्हालना है, जल्दी समझ लें! ब्रह्मज्ञान हो जाय तब जायेंगे। जल्दी करो। तो कहीं अपनेको कृतकृत्य मान लिया। त्यक्तत्यक्तव्य नहीं हुए, जो छोड़ना चाहिए था सो छोड़ा नहीं। प्राप्त प्राप्तव्य नहीं हुए, जो पाना था वह पाया नहीं। ज्ञात-ज्ञातव्य नहीं हुए, जो जानना था सो जाना नहीं; और क्या हो गया भाई?

बोले—'आ...हा! सिद्धसाधन हो गये।' माने हमारा साधन अब सिद्ध हो गया। अब हमको कोई साधन करनेकी जरूरत नहीं है। पैसा कमानेकी साधनामें कोई फर्क नहीं पड़ा और साधना नहीं, कुसाधना तकमें कोई फर्क नहीं पड़ा। और ब्रह्मसाधना? छूट गयी। तो भाई, यह अन्दर घुस करके गम्भीरतासे अन्तर्निरीक्षण करनेकी चीज है कि तुम संसारका काम करनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी उपेक्षा कर रहे हो? और असलमें इसीसे उपेक्षा होती है। तो यह थोड़ा समझना कठिन है। जो लोग समझते हैं, वे कैसे समझते हैं? उनको कैसे ज्ञान होता है? बताते हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न कश्चित्॥ 2.29

कश्चित् एनं आश्चर्यवत् पश्यति। कोई-कोई बिरला ऐसा होता है, 'कश्चित्'। *न सर्व पश्यति। कश्चिवत् पश्यति।* इसको सब नहीं देखते, कोई-कोई देखते हैं। तो—

कश्चिदेनं आश्चर्यवत् पश्यति।

आश्चर्यकी तरह देखता है। अब आप पहले 'कश्चित्'का अर्थ देखें—कश्चित्का अर्थ है 'कोई'। 'एनं'का अर्थ है 'आत्माको'। आश्चर्यवत्=आश्चर्य-सा। पश्यति=दर्शन करता है। साक्षात् दर्शन करता है।

अब आप इसमें एक-एक शब्दका अर्थ देखो। अगर आपको गीताका पाठ करना हो तब जैसे उच्चारण किया, वैसे कर लो। इसका अनुवाद सीखना हो तो कोई-कोई इस आत्माको आश्चर्य-सा देखता है, आश्चर्यका अनुभव करता है, साक्षात्कार करता है। याद कर लेना, काम खत्म हो गया।

किसीको जिन्दगी भरमें उसका पाठ करना आता है, किसीको जिन्दगीभरमें उसका अनुवाद करना आता है, अर्थ करना आता है, कोई-कोई उसके भावकी गम्भीरता समझते हैं और कोई-कोई वस्तुका साक्षात्कार कर लेता है।

साक्षात्कार करना माने ठीक-ठीक उसका दर्शन करना, अनुभव करना। अब अपने बारेमें चाहे पाठ करके अपनेको सन्तुष्ट कर लेना, चाहे उसके भावकी गम्भीरताको जानकरके सन्तुष्ट कर लेना और चाहे वस्तुको देखना। परमार्थ-प्राप्तिकी जो लालसा है, वह थोड़ी तेज होनी चाहिए, तब काम चलता है।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।

कश्चित् माने अधिकारी विरला है। विरला माने कोई-कोई, हजारोंमें एक।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। 7.3

हजार-हजार मनुष्योंमें—'मनुष्याणां सहस्रेषु'का अर्थ होगा कम-से-कम तीन हजार मनुष्योंमें एक। सहस्र जो है न, सहस्त्र हजार, तीन। हजार-हजार और हजार। उनमें-से कोई एक। यतति सिद्धये=सिद्धिके लिए यत्न करता है।

'यततामपि सहस्रेषु कश्चित् सिद्धो भवति।' 7.3 यत्न करनेवाले हजारोंमें कोई एक सिद्ध होता है। और—

'सिद्धानां सहस्रेषु'=हजारों सिद्ध, उनमें-से कश्चित्=कोई। माम् तत्त्वतो वेत्ति=मुझे जानता है, उसमें *'माम् आकार तो वेत्ति, माम् नाम तो वेत्ति, माम् गुण तो वेत्ति, माम् स्वभाव तो वेत्ति, माम् उपाधि तो वेत्ति, माम् तत्त्वतो वेत्ति।'*

माम् तत्त्वतो वेत्तिका अर्थ बड़ा विलक्षण है। एक बच्चेसे पूछो कि—'ऐ! तुम रामको जानते हो?' बच्चा जरूर कहेगा कि—'मैं जानता हूँ।' वह कैसे जानता है? वह नामतः जानता है। नाम उसको मालूम है। और दूसरा क्या जानता है? बोले—'नहीं-नहीं, मैंने तस्वीर देखी है जी? मैं जानता हूँ।' तो एक नामसे जानता है, एक तसवीरसे जानता है। और एकने 'वाल्मीकि रामायण'का पाठ किया। बोला कि—'ऐसा सद्गुणसम्पन्न तो कोई था ही नहीं।' एकने कहा—'हम उनके कृपालु-स्वभावको जानते हैं। और भजन करते हैं। गुण जाननेमें और स्वभाव जाननेमें फर्क है। एकने कहा—'हम जानते हैं जी! (राम) मायोपाधिक चैतन्य है। उसीको राम बोलते हैं। वह उपाधिसे जानता है और एक उपाधिका तिरस्कार करके जिसमें कुछ अध्यारोप नहीं किया गया है, ऐसे रामतत्त्वको जानता है। तत्त्व माने?'

तत्त्वं नाम अनारोपितकारं वस्तु।

जिसमें किसी आकारका आरोप नहीं किया गया है ऐसी वस्तु।

कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः । 7.3

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। 18.55

'जाग्रतोपाधिकं तत्। स्वप्नोपाधिकं तत्। सुषुप्तोपाधिकं तत्। तच्च तच्च तच्च तानि तेषां भावः तत्त्वम्। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तेः विद्यमानं-*तुरीयं त्रिषु सन्ततम्'*=तीनोंमें विराजमान जो तुरीय वस्तु है, वह तत्त्व है। तो उस तुरीय वस्तुको भाई, कोई-कोई जानते हैं। पहले 'कश्चित्'को ले लेते हैं—कश्चित्=श्रुति-स्मृति-धर्मका अनुष्ठान करके, उपासनाका अनुभव करके, अथवा योगका अनुष्ठान करके—शमदमादि साधनसम्पन्न जो मुमुक्षु-जिज्ञासु होकरके फिर श्रुति, आचार्य और ईश्वरके प्रसादसे मुमुक्षा-जिज्ञासा सम्पन्न होकरके श्रवणादि साधनका अनुष्ठान करता है, मनन करता है, निदिध्यासन करता है, वह क्या है? वह मुनि है।

बाहरके आये हुए दोषोंको हटानेवाला है। बहिरंग साधन है। बहिरंगका निवर्तक बहिरंग है। और, अन्तरंगका निवर्तक अन्तरंग है। तो जो करणके शोधनमें उपयोगी है, उसको बहिरंग बोलते हैं और जो प्रमेयके शोधनमें, विषयके शोधनमें उपयोगी है उसको अन्तरंग बोलते हैं। माने तत् पदार्थ, त्वं पदार्थके शोधनमें सीधा उपयोगी है, उसको अन्तरंग

साधन बोलते हैं। श्रवणम्—'**सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म।**' मननम्—'**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अनिवाशित्वात्।**' निदिध्यासनम्—'**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।**'

यह? यह पदार्थ विषयक-आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? यह एतद् विषयक ज्ञान और बहिरंग साधन माने?

कामको, क्रोधको, लोभको संसारकी आसक्तिको मिटानेवाले, हृदयको शुद्ध करनेवाले, औजारको साफ करनेवाले यह साधन हैं, इनसे सम्पन्न होकरके फिर बादमें बोले—'भाई! जो महावाक्यका अर्थ है, महावाक्यजन्य अखण्डार्थधीका उदय हुआ माने अखण्डबोधवृत्तिका उदय हुआ, अग्नि प्रज्ज्वलित हुई। अब दर्शन हुआ परमात्माका—*'विनैव इन्द्रियां विनैव वृत्तिं विनैव शक्तिं विनैव लक्षणां, विनैव संबंधम्।'* अर्थात् बिना किसी इन्द्रियके, बिना किसी वृत्तिके, बिना किसी सम्बन्धके *विनैव लक्ष्यतावच्छेदक।* लक्षणा करना विचित्र है। जहाँ लक्ष्यत्व कल्पित है, केवल कल्पित सम्बन्धसे ही, कल्पित लक्ष्यतासे ही जहत् अजहत् स्वार्थ लक्षणाको लगा लेना, अपने स्वार्थका थोड़ा त्याग किया, अपने स्वार्थका थोड़ा त्याग नहीं किया, ऐसी जो जहती-अजहती लक्षणा=जहत् अजहत् लक्षणा, भागत्याग लक्षणा, उस लक्षणाके द्वारा कल्पित सम्बन्धसे लक्ष्यतावच्छेदके बिना ही वस्तुके साक्षात्कारकी योग्यता! सीताराम कहो। इतना आश्चर्य है, जैसा कहते हैं, बस! इस चीजको देखकर तो दाँतों तले उँगली दबाना पड़ता है। आश्चर्यम्, आश्चर्यम्! आश्चर्यम्में क्या है? आह-आश्चर्य। जहाँ बस मुँहसे 'आह-आह' निकले। और कुछ हो ही नहीं। अहो-अहो! ऐसा। अहो-अहो! आह-आह! यह तो बिल्कुल विचित्र है। ऐसा अधिकारी महाराज? विचित्र है! यह श्रुति है न?

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः॥
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो वेद (ज्ञाता) कुशलानुशिष्टः॥

कठ. 1.27

आश्चर्यकी तो झड़ी लग गयी—'अहो धन्यं, अहो धन्यं, अद्भुत है!' बोलने लगते हैं—

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥

अहो धन्यं=मैं धन्य हूँ। अहो अहं=मैं आश्चर्य हूँ। नमो मह्यं=अपने आपको ही नमस्कार करते हैं।

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।

मैं धन्य हूँ, अहो अहं। मैं आश्चर्य हूँ। नमो मह्यं—मैं अपने आपको ही नमस्कार करता हूँ। दक्षो नास्तीह मत्समः। मेरे समान दक्ष, निपुण, चतुर दुनियामें और कोई नहीं है। क्या चतुरता है भाई तुम्हारी? बोले—

असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥

मैं देहको तो कभी छूता नहीं और सारे विश्वको अपने अन्दर धारण करता हूँ। मैं ऐसी रज्जु हूँ जिसने साँपको तो कभी छुआ नहीं और तुम्हें दीख पड़नेवाले साँपका पेट और पीठ, आँख और नाक, पूँछ और कलेजामें ही धारण किये हुए हैं और मैंने साँपको कभी छुआ नहीं।

अहो अहं नमो मह्यं।

यह आश्चर्य है! इस तत्त्वका जानकार आश्चर्य होता है। आश्चर्यवत् कश्चित्। आश्चर्यवत् एनं। आश्चर्यवत् पश्यति। कर्ताके साथ भी आश्चर्यवत्। कर्मके साथ भी आश्चर्यवत्। दर्शन भी आश्चर्यवत्। आश्चर्यवत् है वह। तीनों तरफ है। क्यों?

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो वेद कुशलानुशिष्टः॥

कठ. 1.2.7

इसको सुनानेवाला भी आश्चर्य, यह सुननेकी चीज भी आश्चर्य, अद्भुत, अद्भुत! अलौकिक! ऐसी दुनियामें दूसरी कोई चीज नहीं। आश्चर्यवत् कश्चिदेन!

अब देखो, यह आत्मा कैसा? आश्चर्यवत्। जब देखते हैं तो अचरज हो जाता है। इतना परस्पर विरोध? इतना परस्पर विरोध देखनेमें आता है कि जो सबसे सच्ची चीज, वही अब तक झूठी मालूम पड़ रही थी। है न आश्चर्य?

सन्तमपि असन्तमिव! देखो, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा जो सर्वात्मा ब्रह्म है, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाशक है, स्वयंप्रकाश जो वस्तु है सर्वत्र परिपूर्ण सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्वरूपमें, वही वस्तु आजतक दिखायी नहीं पड़ी? आश्चर्य है। जो नहीं है सो दीखती रही। और, जो है सो दीखी नहीं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। 2.69

सारी दुनियाँ आँखवाली, पर उसको नहीं देख सकती है और जब देख लेता है तो अंधा भी उसको देखता है। ज्ञान हो जाय तो बिना आँखवाला भी उसको देखता ही रहता है। और ज्ञान न हो तो आँखवाले भी उसके बारेमें अंधे ही रहते हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ 2.69

पश्यतो मुनेः। यह कौन? यहाँ है—'स पश्यति।' यह मुनि कौन? जिसने देख लिया, क्या देखा? यही देखा कि जो चीज अभी है, यहीं है, इन्हीं रूपोंमें है, अधिष्ठान रूपसे, स्वयंप्रकाश रूपसे, उसको ये लोग नहीं देख रहे हैं। आश्चर्य है। जो सत्‌को असत्‌की तरह देख रहे हैं माने उत्पत्ति और नाशवाला देख रहे हैं। माने जो सत् है उसको उत्पत्ति और नाशवाले देख रहे हैं। जो चेतन है, उसको जड़ देख रहे हैं। यही न? अज्ञानीकी तो यही दशा है न? तो जब महात्मा देखता है कि यह सत्यको न देखकर असत्यको देख रहा है, यह चेतनको न देखकर जड़को देख रहा है, और ज्ञानी महात्माने असत्यमें सत्यको देख लिया और जड़में चेतनको देख लिया, यही तो उसका आश्चर्यदर्शन है।

आश्चर्यवत् एवं पश्यति। सर्वत्र वर्तमान जो परमात्मा है, उसको देख रहा है। कैसा? इन्हीं असत् पदार्थोंमें सत् रूपसे। इन्हीं जड़ पदार्थोंमें चिद् रूपसे। इन्हीं दुःखात्मक पदार्थोंमें आनन्द रूपसे। इसी द्वैतमें अद्वैत रूपसे। इसी दृश्यमें स्वयंप्रकाश रूपसे। इसी अनात्मामें आत्मा रूपसे विद्यमान् परमात्माको। यही आश्चर्य है कि यह जैसा दीख रहा है, उसके विलक्षण है। क्योंकि कोई आँख पूरी चीजको नहीं दिखाती। कोई इन्द्रिय पूरी चीजको नहीं दिखाती। बल्कि, अपने विषयको भी पूरा नहीं दिखायी है।

कोई भी आँख रूपके सब भेदोंको और सब जगह विद्यमान् रूपको नहीं देखती है। कोई भी कान सब शब्दोंको और सब जगह विद्यमान् शब्दोंको नहीं सुनता है। कोई भी त्वचा सब स्पर्शोंको और सब जगह विद्यमान स्पर्शोंको नहीं अनुभव करती है।

जब वे अपने-अपने विषयको ही सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं

और दूसरी इन्द्रियोंके विषयोंको तो ग्रहण करनेमें सर्वथा ही असमर्थ हैं, तब इन इन्द्रियोंके द्वारा मूल तत्त्वका, जगत्‌के मूल तत्त्वका दर्शन कोई करेगा तो कैसे करेगा? भाई! वह कितना आश्चर्यरूप परमात्माको देख रहा है, कि जिसको दुनियामें इन्द्रियोंके द्वारा, अन्तःकरणोंके द्वारा कोई नहीं देख सकता, उसको वह देख रहा है। वह चीज देखी जा रही है। आश्चर्यवत्! आश्चर्यवत्! अहो, अद्भुत! अद्भुत है! क्या?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।

वह दर्शन भी आश्चर्य है। दर्शनमें आश्चर्य क्या है? मिथ्या भूतदर्शन भी सत्यको दिखाता है। वह दर्शन जो है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिज्ञान जो है। बोले—वही परम सत्य है? ना, वह तो परम सत्यके दर्शनका साधन है न? तो बोले—स्वयं मिथ्या होकर सत्यको लखाता है। स्वयं अविद्याका कार्य होकर भी अविद्याको निवृत्त कराता है, अविद्याका कार्य, जो वृत्ति है, जो अन्तःकरण है, यह तो सब अविद्याका कार्य है न? तो महावाक्यजन्यवृत्ति भी अन्तःकरणमें ही उदय होती है। सो भी आविद्यक है। अविद्यासे पैदा होकर अविद्याको मिटाती है। मिथ्या होकर सत्यको लखाती है। वह स्वयं जडांश संबलित होनेपर भी जड़को नितान्त निवृत्त कर देती है। स्वयं नाशवान् होकर भी अविनाशीको लखाती है। स्वयं अनित्य होकर भी नित्यको लखाती है। उस दर्शनवृत्तिका यह एक आश्चर्य है।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं
आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः॥

एक कक्षाको अभी यहीं रहने दो, क्योंकि वह साक्षात्कार ही साक्षात्कार करता है। बोलता ही नहीं। बोलनेकी क्या जरूरत है?

मन मस्त भया तब क्यों बोले?
हीरा पायो गाँठ गठियायो बार-बार वाको क्यों खोले?

आ-आकर लोग पूछते हैं, 'अरे महाराज, कुछ बोलो। तो दुनियाकी ही बात करने लग जाते हैं। वह आये पूछनेके लिए। प्रश्न किया कि—'महाराज! कुछ ईश्वरकी बात सुनाओ।' महात्माने कहा—'तुम्हारा बेटा तो ठीक है न? व्यापार तो अच्छा चल रहा है?' बोले—'हाँ महाराज, आपकी कृपा है।' 'सब आनन्दसे चल रहा है न?' 'महाराज! यह-यह कठिनाई है।' चल गयी

व्यापारकी बात। घंटेभर करते रहे। बोले—'अच्छा महाराज, कुछ काम है, जाते हैं।' 'अरे भाई! तूने ईश्वरके बारेमें पूछा था?' बोले—'वह तो एक हल्की-फुल्की बात! आपके पास आये तो और क्या पूछें?'

अब मनमें तो भरी रही दुनिया। ईश्वरकी चर्चा करनेके लिए, ईश्वरका चिन्तन करनेके लिए घंटे, आध घंटे तक अपना मन उसी-उसीमें प्रवेश करें। थोड़ी देरके लिए घरको घरमें रख दो। थोड़ी देरके लिए दुकानको दुकानमें छोड़ दो। थोड़ी देरके लिए तो ऐसा करो कि कोई तुम्हें बहलावे भी, कि ब्रह्मचर्चा मत करो, तुम संसारकी चर्चा करो, तो बोलो—'हम संसारकी चर्चा करने नहीं आये महाराज, आपके पास तो हम संसारको छोड़नेके लिए आये हैं।' जिज्ञासुके चित्तमें ऐसा तो होना चाहिए न? तो महात्मा लोगोंको बोलनेकी कोई जरूरत नहीं। आकर एकने पूछा—'सृष्टि कैसे हुई?'

अथ च नैव होवाच।

चुप-चुप बोल रहे हैं। मैं एक महात्माके पास गया। तो-तीन सत्संगी थे। बोले—'अरे भाई, कई दिनोंके बाद आये? कहाँ थे?' तो मैंने कहा—'महाराज! हरिद्वारके कुम्भ मेलेमें गया था।' बोले—'क्या देखा?' मैं चुप हो गया। महात्माके सामने क्या बताता कि कुछ अच्छा देखा, कुछ बुरा देखा। फिर पूछने लगे तो मैं हँसने लगा। हमारे पास जो बड़े-बूढ़े सत्संगी थे, उन्होंने कहा कि 'महात्माजी जब पूछ रहे हैं, तो तुमको बताना चाहिए न?' 'मैं तो बालक हूँ।'

मैं तो बालक था न? तो जो हमसे बड़ी उम्रके लोग थे उन्होंने कहा कि—महात्माजी इतने प्रेमसे पूछ रहे हैं कि क्या देखा? तो तुम बताते क्यों नहीं? फिर भी मैं चुप ही रहा। मैं तो संकोचसे चुप रहा। महात्माजी बोले कि 'वह बता तो रहे हैं कि वहाँ कोई चीज ऐसी नहीं थी जो बोलकर बतायी जाय। चर्चा करने योग्य नहीं है, भला! जो कुछ था सो अनिर्वचनीय ही था। बहुतसे सत्संगके तंबू लगे थे, बहुतसे लाउडस्पीकरोंकी आवाजें आपसमें टकरा रही थीं। बहुतसे भण्डारे हो रहे थे। एक मंचपर दूसरेकी निन्दा हो रही थी। अनिर्वचनीय ही तो हुआ न?' यह भाई सृष्टि अनिर्वचनीय है।

तो देखो—अन्योका अर्थ है कि साधारण जन जैसे होते हैं, उनसे ये विलक्षण हैं। तो एक तो देखता है, बोलता नहीं। वह अवधूत-संतकोटिमें है।

जो देखता भी है और बोलता भी है, वह आचार्यकोटिमें है। एक अवधूतकी तरह रह रहा है और एक आचार्यकी तरह रह रहा है। पूछनेपर बोल भी देता है। पर कैसा बोलता है?

आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवत् बोलनेवाला आश्चर्य—बोलना आश्चर्य और बोलनेका विषय भी आश्चर्य। यह तीनों प्रकार, कर्ता-कर्म-क्रिया तीनोंके साथ 'आश्चर्यवत्' लगा हुआ है। 'अन्यः'का अर्थ यह नहीं है कि 'अन्यः पश्यति', 'अन्यः वदति।' ऐसा अर्थ नहीं लगाना। अन्यःका अर्थ—'अन्यः पश्यति तस्मात् अन्यः वदति' ऐसा नहीं। 'य पश्यति स एव वदति'—किन्तु अन्यः=सर्वस्मात् विलक्षण=वह सबसे विलक्षण है।

जो देखता है वही बोलता है। दूसरा तो बोल ही नहीं सकता। जिसने देखा नहीं, वह क्या सुनावेगा?

हमारे वृन्दावनमें एक महात्मा थे। हमारा बहुत प्रेम था। जो हमने पुस्तक लिखी है—'भक्त कोकिल' जिनकी जीवनी है, उसमें हमारा बहुत प्रेम। तो बोले कि—'हमारे सामने कोई बोलने लगता है तो मैं पहले उसकी बात नहीं सुनता। वह क्या कह रहा है वह भी नहीं समझता। पहले मैं यह देखता हूँ कि वह कहाँ बैठकर बोल रहा है? इसका आसन कहाँ है?' माने ऐसा है कि आदमी जिस जगहसे फोटो लेता है न, वह कैमरेका कोण जैसा होता है, जिस ढंगसे कैमरा रखा हुआ है, उस ढंगके लिए बोल रहा है, यह कहीं लोभ-लालचमें बैठकर बोल रहा है, क्या ख्यातिमें बैठकर बोल रहा है, कहीं लाभ-प्रतिष्ठामें बैठकर बोल रहा है या कहीं प्रचार-प्रसार, यश-कीर्तिमें बैठकर बोल रहा है? लौकिक हितके लिए बोल रहा है? पारलौकिक हितके लिए बोल रहा है? इसकी कुर्सी कहाँ है? इसका आसन कहाँ है? यह बैकुण्ठमें बैठकर बोल रहा है? कि यह ब्रह्मलोकमें बैठकर बोल रहा है?' क्योंकि वक्ता जहाँ बैठकर बोलेगा, उसकी वाणीमें वहाँका रस मिलकरके आवेगा।

लोग हुक्का पीते हैं तो आप लोगोंने देखा होगा कि नीचे होता है पानी, उसमें-से जब धुआँ गुजरता है, तो हुक्केकी नलीमें कीच बैठ जाता है। गन्दगी बैठ जाती है। जब हुक्केसे जो हवा निकलती है, तब हुक्केकी जो गन्दगी है वह हवामें लग करके आती है। तो—

वक्ता भी बड़ा विलक्षण होना चाहिए। वह सारे दृश्य-प्रपञ्चको छोड़कर, वह नामरूपात्मक प्रपञ्चको छोड़कर जो अदृष्टद्रष्टा है, जो अमनमन्ता है, वहाँ बैठ जाय। आश्चर्य!

प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वसे एक तो वह है ही; लेकिन जब बोले तब उसका आसन भी ठीक होना चाहिए। वहाँ बैठा हुआ वक्ता—

आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः। कठ. 1.2.7

कुशलानुशिष्टः=वह कुशल पुरुष होवे, उसको कौशल मालूम होवे, ईश्वरके निरूपणका कौशल ज्ञान होवे। तब वह ईश्वरका अनुशासन करता है। तो ऐसा वक्ता मिलना भी दुर्लभ है—

श्रोता वक्ता दुर्लभम्।

फिर बोलनेकी जो प्रणाली है सो आश्चर्यमयी और जो बोला जाता है सो भी आश्चर्यमय! कैसे बोला जाता है? आश्चर्यमय! और कैसे श्रवण किया जाता है? आश्चर्यमय! यह तो भगवान्‌की वाणी है! अर्जुन! तुम्हारी समझमें नहीं आता है, तो तुम्हारा दोष नहीं है। इसका विषय गम्भीर है, इसका वक्ता दुर्लभ है, और इसको बोलनेकी शैली भी कठिन है। निषेध कर-करके बोलना पड़ता है।'

ऐसी अवस्थामें तुमने नहीं समझा, तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन एक बात जरूर है कि शोक तो किसी भी दृष्टिकोणसे नहीं करना चाहिए। न ब्रह्मदृष्टिसे शोक है, न ईश्वरदृष्टिसे शोक है, न मायादृष्टिसे शोक है, न जीवदृष्टिसे शोक है, न भूतदृष्टिसे शोक है, न देहदृष्टिसे शोक है।

आप देखना, देह तो सब मरते ही जाते हैं, जीव तो आता ही जाता रहता है। पञ्चभूतमें तो परिवर्तन होता रहता है। सपना और माया तो दिखायी पड़ते रहते हैं। ईश्वर और ब्रह्म तो ज्यों-का-त्यों रहता है। तो शोक किसलिए करना? मोहके सिवाय, अज्ञानके सिवाय, अन्तःकरणकी अशुद्धिके सिवाय और इस अन्तःकरणकी अशुद्धिका कारण है अविद्या; उस अविद्याके सिवाय शोक करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिए तुम शोक छोड़ दो!

●

: 28 :

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

2.29

सब वक्ताओंसे विलक्षण वक्ता, आश्चर्यरूप वक्ता इस आश्चर्यरूप आत्माको आश्चर्य-आश्चर्य वर्णन करता है, क्योंकि वर्णन करनेके लिए जो सामग्री चाहिए, वह आत्मामें कुछ है नहीं। किसी-किसीका वर्णन किया जाता है कि वह पक्षी है, यह देवता है, यह दानव है, यह मानव है, यह ब्राह्मण है, यह सब वर्णन जातिके आधार पर होता है।

आत्मदेवकी कोई जाति तो देखनेमें आती नहीं है। कौन-सी जाति उनकी? हिन्दू-मुसलमानका वर्णन, वैष्णव-शैवका वर्णन सम्प्रदायके आधार पर करते हैं। कौन-सा सम्प्रदाय है आत्मदेवका? असलमें तो—

देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥

श्रीमद्भागवत 6.19.8

यह देह जुदा है और यह देही जुदा है, यह विभाग भी अज्ञानसे ही बनाया हुआ है। जैसे एक ही मिट्टी रूप वस्तुमें यह घट है, और यह घटत्व है, यह शराब है और यह शराबत्व है। माने घड़ा और घड़ेकी किस्म=जातियाँ शकोरे और शकोरेकी जातियाँ, ये सब मिट्टीमें जैसे कल्पित हैं, वैसे यह देह है और यह देही है, यह जाति है, यह व्यक्ति है, यह सब आत्मरूप महासत्तामें, अखण्डसत्तामें कल्पित ही हैं।

तब जातिका नाम ले करके कोई आत्माका वर्णन नहीं कर सकता। महासत्ता, महासामान्य, सत्तासामान्य जैसे मनुष्यमें, पशुमें, पक्षीमें वही, वैसे मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमानमें भी वही। वैसे ही भूतसूक्ष्ममें, अहंकारमें,

महत्तत्त्वमें, प्रकृतिमें भी वही। उसकी सत्ताके बिना किसीकी सत्ता ही नहीं, तो जाति बना करके उसका वर्णन कैसे करें?

बोले—'अच्छा, जाति नहीं तो क्रियाके द्वारा ही वर्णन कर लो।' वर्णन करनेके लिए कुछ कायदे होते हैं। उनसे किसीका नाम लिया जाता है, क्या है? बोले—'यह कौन है?' पाचकजी महाराज हैं। पाचक महाराज माने रसोई बनानेवाले। तो रसोई बनानेवालेकी जो क्रिया है, रसोई बनानेकी, उस क्रियाके सम्बन्धसे उनका वर्णन किया जाता है कि 'यह पाचक हैं।' वैसे पेटमें तो सभी पाचक हैं। जठराग्निके द्वारा पाचन तो सभीके होता है। परन्तु वह जो पाचन है, वह विक्रया है, क्रिया नहीं है और रसोई बनाना जो है, वह क्रिया है। वह तो मुँहके द्वारा अन्दर गया हुआ अन्न विकारको प्राप्त हो करके परिस्थितिके अनुसार जठराग्निके द्वारा पक करके कुछ मन बन जाता है, कुछ शक्ति बन जाता है, कुछ मल बन करके निकल जाता है, वह तो विक्रिया होती है। तो क्रियाके सम्बन्धसे वर्णन होता है—यह पाचकजी हैं, यह ड्राइवरजी है, यह क्रियाके सम्बन्धसे वर्णन है।

कुछ संसारमें जो सम्बन्ध होते हैं, यह कौन हैं? उस दिन वह जो मेम साहब मिली थीं, उनके पति।' उसको 'राजपुरुष' करके वर्णन करते हैं=यह राजाका आदमी है, राजाका सिपाही है। तो राजाके सम्बन्धसे उसका वर्णन हुआ। तो जातिसे वर्णन, क्रियासे वर्णन, सम्बन्धसे वर्णन। किसी-किसीका गुणसे वर्णन होता है—'ये सफेद हैं, ये काले हैं।' किसी-किसीका रूढिसे ही वर्णन होता है—बोले—'इनका नाम गिरधरलाल।' इन्होंने कौन-सा गिरि धारण किया था? तो धारण नहीं किया था, पुरोहितने माँ-बापने बड़े-बूढ़ोंने इनका नाम रख दिया 'गिरधरलाल'। इनका क्या नाम हुआ? इसका मतलब है रूढि। कोई संज्ञा किसीकी बना दी जाती है। तो जाति, गुण, क्रिया, रूढि, सम्बन्ध—इन बातोंके न होनेके कारण वर्णनके जितने रास्ते हैं, वे सब-के-सब बन्द हैं। किसी भी रास्ते आत्मदेवका वर्णन करना सम्भव नहीं। बोले—'फिर कैसे?' तो अनेक प्रकारके कल्पित सम्बन्धसे उसका वर्णन किया जाता है। 'पञ्चदशी' के पहले प्रकरणमें बताया कि—

लक्ष्यत्व सम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः.................. ॥

पञ्चदशी 1.52

आत्माके साथ जो लक्ष्यत्व है, सम्बन्ध हैं, वे सारे-के-सारे कल्पित ही हैं। बोले—'कल्पितसे कल्पितकी निवृत्ति हो ही जायगी, क्योंकि—

आपसमें समसत्ता जिनकी।
लखि साधक बाधकता तिनकी॥

सपनेकी प्यास सपनेके पानीसे बुझती है। तो जबतक कल्पित बन्धन है, तो वह कल्पित रीतिसे निवृत्त भी हो सकते हैं। इसलिए कल्पित रीतिसे ही उसका वर्णन करते हैं और शब्दशक्तिको बिलकुल अचिन्त्य मानते हैं। सोते समय न तो वृत्ति जाग्रत रहती है, न तो अभिधावृत्ति वहाँ काम करती है, न तो लक्षणावृत्ति वहाँ काम करती है। केवल नाम लेकर पुकारनेसे ही मनुष्य सुषुप्तिसे जाग्रत् अवस्थामें आजाता है। तो वहाँ कौन काम करता है?

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विद्मस्ते मोहहानतः।

सुरेश्वराचार्यजीने 'वार्तिक'में बताया कि—'वहाँ शब्दका कोई सम्बन्ध जुड़ता हो कि न जुड़ता हो, लेकिन जैसे सुषुप्तिकालमें शब्दकी जो अचिन्त्य शक्ति है, वही सोये हुएको जगा देती है।

इसी प्रकार शब्दकी जो अचिन्त्य शक्ति है, वही अज्ञाननिद्रामें सोये हुए जीवको जगानेमें समर्थ है। चाहे शब्द और शब्दार्थका लौकिक सम्बन्ध जुड़े या न जुड़े तब भी बोधवाक्यमें, उपनिषद्वाक्यमें, महावाक्यमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह मनुष्यको मोहनिद्रासे, अज्ञाननिद्रासे जाग्रत कर सके। तो यह वर्णन महाराज, बिलकुल गाढ़ निद्रामें सोते हुएको, जिसको अपने नामका ख्याल नहीं है। बोले—वहाँ पर ख्याल नहीं है कि 'मेरा नाम मोहन है कि सोहन है।' अपनी जातिका ख्याल नहीं है कि 'ओ ब्राह्मण!' अपने सम्बन्धका ख्याल नहीं है कि ओ नौकर! यह कोई ख्याल नहीं है। अपने कर्तव्यका ख्याल नहीं है कि 'मैं पाचक हूँ, रसोई बनानी है।' वहाँ रूढि भी भूली हुई है, गुण भी भूला हुआ है, सम्बन्ध भी भुला हुआ है, जाति भी भूली हुई है, परन्तु शब्दमें ऐसी अचिन्त्य शक्ति है, कि उसीको लेकर महात्मा लोग अज्ञानी पुरुषको इस महामोहरूपी अज्ञाननिद्रासे जाग्रत् करनेमें समर्थ हो जाते हैं। इसलिए—

आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः।

इसलिए उसका निरूपण भी बिलकुल आश्चर्यमय है।

आह-आह इति चर्यते यस्मिन् इति आश्चर्यम्। आह! क्या आश्चर्य है?

विज्ञस्य त्वं सामर्थ्यम्।

क्या ज्ञानी पुरुषका सामर्थ्य है कि जहाँ देह नहीं, जहाँ बोलना नहीं—

जहाँ बोल तहाँ अक्खर आवा।
जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है जोई।
जस वो है तस लखै न कोई॥

यह गुरु नानकके 'गुरुग्रन्थ साहब'का है।

जहाँ बोल तहाँ अक्षर आवा—बोलना पड़ता है न? जीभ हिलानी पड़ती है और *जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा। बोल-अबोल मध्य है जोई।* जो बोलमें भी है, अबोलमें भी है, अर्थात् वाणीमें भी है और मौनमें भी है। दोनोंके बीचमें भी है। *बोल अबोल मध्य है जोई* माने बोल भी है, अबोल भी है और मध्य भी है। बोलके मध्य भी है और बोल-अबोल दोनोंके मध्यमें भी है, अबोलके मध्य भी है। *बोल अबोल मध्य है सोई। सो जस होई तस लखै न कोई।* जैसा वह है उसको कोई दृश्य बनाकरके नहीं देख सकता।

फिर भी महापुरुष जो हैं, किसी अधिकारीको मौन हो करके बताते हैं। किसीको जन्मान्तरके जो संस्कार होते हैं, उससे गर्भमें ही बोध हो जाता है। वामदेवको तो गर्भमें ही बोध हो गया। किसीको इस जन्ममें नहीं होता है तो अगले जन्ममें हो जाता है। बरतके होता है, पर समझानेवाले महाराज! ऐसे-ऐसे ढंगसे समझाते हैं कि चाहे जिस-जिस जातिका अज्ञान हो, जिस-जिस जातिका अभिमान हो, उसके निवारण करनेके लिए जो-जो युक्ति करनी पड़े, वह करनेके लिए तैयार! बोले—

अज्ञप्रबोधनादन्यत् कार्यमस्य न विद्यते।

ज्ञानी पुरुषका और कोई कर्तव्य नहीं है। क्या है? जैसे-तैसे भी अज्ञानी पुरुषको समझा देना, उनका अज्ञान मिटा देना। वह रोनेसे समझते हैं तो थोड़ा उसके सामने रो लेना, वे गानेसे समझते हैं तो थोड़ा कभी उसके सामने गा लेना। नाचनेसे समझते हैं तो थोड़ा उसके सामने नाच लेना। ऐसे भी महात्मा होते हैं न, घुँघरु बाँधकर, 'शिवोऽहं' 'शिवोऽहं' करके नाचते हैं। देखो, काहेके लिए? खानेके लिए? तुम्हें समझानेके लिए ही तो ऐसा करते हैं न? पाँवमें घुँघरु बाँधकर 'शिवोऽहं' 'शिवोऽहं' करके नाचते हैं। कोई कानमें 'शिवोऽहं' मन्त्र सुनाते हैं,

कोई चुप हो जाते हैं, कोई 'शिव' और 'अहम्' पदका जो सामानाधिकरण्य है, उसको समझाते हैं। यह तो भाई समझानेका तरह-तरहका ढंग है। कोई कैसे समझता है, कोई कैसे समझता है। बस, तो भाई, 'आश्चर्यवत् वदति।' यह बोल करके वर्णन आश्चर्यवत् वर्णन है।

आश्चर्यवत् चैन्यमन्यः शृणोति—कोई-कोई श्रोता महाराज, आश्चर्यवत् होता है। श्रोता भी आश्चर्यमय है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः॥

एक सज्जन गंगोत्रीके रास्तेमें मिलते थे कहीं वे 'धराली'में। उनका नाम नहीं याद है। बड़े विरक्त महात्मा! टाट पहने हुए, बीस वर्षसे 'धराली'के नीचे नहीं उतरे। वहाँ गुफामें मौजूद।

मैंने बहुत प्रेमसे उनसे पूछा—'महाराज! बीस वर्ष तक आप क्या करते रहे?'

बोले—'वेदान्तका स्वाध्याय करते हैं, समाधि लगाते हैं, आत्मचिन्तन करते हैं। हिमालयमें रहते हैं।'

मैंने कहा—'आपका अनुभव क्या हुआ?' बोले—'जैसे शीशीमें गंगाजल डालकर शीशीको गंगाजीमें डाल दिया जाय, तो गंगाजल जो है, वह तो ब्रह्म है और शीशीमें जो जल है वह जीव है। यह अनुभव हुआ।'

मैंने कहा—'महाराज! यह शीशीवाला गंगाजल और बाहरवाला गंगाजल एक कब होगा? बोले कि—'जब शीशी फूटेगी, तब होगा।' मैंने कहा कि—'मरनेके पहले शीशीवाला गंगाजल और यह गंगाजल एक नहीं हो सकता?' बोले कि—'मरनेके पहले कैसे होगा?'

तो देखो, ज्ञान यह है कि जो शीशीके भीतर है, वही बाहर है। ज्ञानदृष्टिसे जल दोनों एक है। पर उपाधि तो शीशी बनकरके क्या, उपाधि तो वज्र बन करके बैठ गयी बीचमें!

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यो न विद्युः॥ कठ. 1.2.7

बहुत सुननेसे ही नहीं मिल जाता आत्मा। बहुतसे सुननेवाले उसको नहीं जानते हैं।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा। कठ. 1.2.7

जो ग्रहण होता है सो भी आश्चर्य है।

बोले—'भाई! एक आदमी धर्मानुष्ठान कर रहा है। और एक आदमी शमदमादिका अनुष्ठान कर रहा है। तो धर्मका अनुष्ठान परम्परा-साधन कैसे और शमदमादिका अनुष्ठान बहिरंग साधन कैसे? बहिरंग साधन और परम्परा साधनमें क्या भेद है? कभी विचार किया है?

धर्मानुष्ठानमें क्रियाका सम्बन्ध होता है और वह अदृष्ट उत्पादनके द्वारा अपना फल देता है। धर्म पहले अदृष्ट उत्पन्न कर लेता है तब फल देता है। शमदमादि जो हैं वे कर्मेन्द्रियोंके द्वारा आचरणीय नहीं हैं। यह हृदयकी वस्तु है और अदृष्ट उत्पादनके द्वारा अपना फल नहीं देते। तत्काल दृष्ट फल देते हैं। शममें शान्ति है, दममें दान्ति है, तत्काल अनुभव हो रहा है कि हममें कामक्रोधादि बिलकुल नहीं है। इन्द्रियाँ काबूमें हैं, क्या प्रसाद चित्तमें, क्या निर्मलता हृदयमें प्रगट हो रही है? तो—

शृण्वन्तोऽपि यं न विद्युः।

बोले—भाई! बहिरंग साधन और अन्तरंग साधनमें क्या फर्क है? बहिरंग साधन जो है, वह करणकी शुद्धिमें लगा हुआ है और अन्तरंग साधन जो है, वह 'त्वं' पदार्थ और 'तत्' पदार्थके शोधनमें लगा हुआ है।

बोले—'अच्छा, अंतरंग साधन और साक्षात साधनमें क्या फरक है?'

साक्षात् साधन माने जो अविद्याको निवृत्त कर देता है। अज्ञानका जो निवर्तक है, वह साक्षात् साधन है। और, संशय-विपर्ययका जो साधन है, वह अन्तरंग साधन है। कामादि दोषोंका विगत दोष बुद्धिगत दोषका जो निवर्तक है वह बहिरंग साधन।

मनन-निदिध्यासन पदार्थके विषयमें जो संशय विपर्यय है, उसका निवर्तक है और तत्त्वज्ञान अविद्याका निवर्तक है। यह नहीं कि धर्म साधन ही नहीं है। धर्म साधन है, उपासना साधन है, शमदमादि साधन है, श्रवणमननादि साधन हैं। ये सब साक्षात् साधन नहीं हैं। वेदान्तमें जो इनका निषेध कहीं-कहीं आता है, उसका अर्थ उनके साक्षात्वके निषेधमें है, उनके साधनत्वके निषेधमें नहीं है। पहले उनका क्रम समन्वय है। पहले उनका अनुष्ठान करके जब अधिकारी हो गये, तो अधिकारी पुरुष तो श्रवणमात्रसे ही तत्त्वको जान लेता है।

इसलिए जो लोग इस रहस्यको नहीं समझते हैं, वे वैराग्य न होनेके कारण और संसारके कामोंमें बड़ी जल्दीबाजी होनेके कारण कभी-कभी झूठ-ही-झूठ अभिमान कर लेते हैं कि हमको तो परमार्थका साक्षात्कार हो गया। तो सावधान रहना चाहिए भाई!

जिज्ञासु! सावधान! साधु! सावधान!! जहाँ मंजिले मकसूद है, वहाँ पहुँच करके विश्राम करना। कहीं बीचमें ही अटक मत जाना। आगे चलो। चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति। चले चलो। तो—

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति।

वह अधिकारी बिलकुल आश्चर्यरूप है। देखो न, जिसने बाह्य पदार्थोंकी ओरसे अपनी चित्तवृत्तिको हटा लिया!

दुनियामें बहुतसे लोग हैं जो धन कैसे प्राप्त होगा उसकी जानकारी प्राप्त करते हैं। बहुतसे लोग ऐसे हैं जो भोग कैसे प्राप्त होगा, उसकी जानकारी प्राप्त करते हैं। बहुतसे लोग ऐसे हैं जो कामधंधा कैसे बढ़े, उसकी जानकारी प्राप्त करते हैं। बहुतसे लोग ऐसे हैं जो स्वर्ग चाहते हैं, कुछ ब्रह्मलोक चाहते हैं, कुछ अपना इष्टलोक चाहते हैं, बहुतसे लोग ऐसे हैं जो समाधि चाहते हैं।

इन सब सामने रहनेवाले पदार्थोंकी, दृश रूपसे मिलनेवाले पदार्थोंकी आकांक्षा छोड़ करके जिसकी दृश्यरूपसे उपलब्धि नहीं होती, उस अदृश्यदर्शनरूप परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिए, सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिए जो श्रवण करनेके लिए आते हैं, वे संसारमें आश्चर्यरूप हैं।

जैसे देहाती आदमी कितना भोलाभाला! शहरमें आ जाय तो शहरी लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं। ऐसे सम्पूर्ण प्रपञ्चको छोड़ करके यदि कोई परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार चाहता हो, तो ये भोगी लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं कि—'यह भोला है, यह बेवकूफ है।' इतनी हँसी, इतनी दिल्लगी सह करके, इतना अपमान तिरस्कार सह करके परमात्माकी ओर चलता है। उस परमात्माको चाहनेवालेके जीवनमें एक मर्यादा है। लेकिन जीवनमें कोई कानून नहीं रहे, कोई मर्यादा नहीं रहे, तो जैसे 'हिटलर'! 'हमारा हुक्म मानो। धर्म मत मानो, हमारा हुक्म मानो।' कोई 'नादिरशाह' होवे तो कहेगा—'धर्म मत मानो, हमारा हुक्म मानो।' माननेके लिए जरूर कहेगा। जिसके जीवनमें कोई मर्यादा

नहीं है, यह तो समाजमें जीवन व्यतीत करने योग्य नहीं है। और वह जी ही नहीं सकता। खानेमें मर्यादा नहीं। जो गलेके नीचे उतरे सो ही उतार ले। खानेमें कोई मर्यादा नहीं।

एक बार मैं लाहौर स्टेशनपर गया। एक आदमी एक चीनी गलीमें निकला। वहाँ ऊपरसे कोई पनालेसे गंदा पानी गिर रहा था। वहाँ एकान्त था। उसने देख लिया कि कोई नहीं आगे है पीछे। फिर उसे हाथमें ले के उसे पिया। देख लिया किसीने, झट् आ गया वहाँ। उससे पूछा—'यह क्या किया तुमने?' वह बोला—'मेरे मनमें आया कि—यह जो नालीका पानी आता है, उसका स्वाद चखनेके लिए मैंने पिया।' तो जिनके मनमें धर्मकी भावना नहीं रहती है, मर्यादा नहीं रहती है, वह गंदे पनालेका पानी पीके भी उसका स्वाद चखना चाहता है। कोई वहाँ मना करनेवाला? वहाँ न कोई पुलिस है न समाज है और न कानून है। और उसे धर्मपर विश्वास ही नहीं है, तो क्या गति होगी भाई? जिसके मनमें धर्म-मर्यादापर विश्वास नहीं है, वह तो—आदमी वह जो गंदा कपड़ा पहिने है, चाहे जहाँ बैठ जाय।

यथा हि मलिनैः वस्त्रैः कतुस्तत्र उपविश्यते।
एवं चलित्वृतस्तु वृत्त शेषं न रक्षति॥

जो अपने चरित्रकी रक्षा नहीं करता है, वह जो कुछ बचा-खुचा उसके अंदर है, उसे भी वह कैसे बचायेगा? रखके नहीं जायगा। धर्मकी बड़ी जरूरत है। जीवनमें भी धर्मकी जरूरत है, अकेले रहो तो भी धर्म रहे, और सबके बीचमें रहो तो भी धर्मकी जरूरत रहे। धर्मके बिना मनुष्य-जीवनकी रक्षा नहीं है।

अतः *धर्मार्थ अवेक्ष्य सोचितुं न अर्हसि इति उच्यते* प्रायः परमार्थका विचार करके शोक नहीं करना चाहिए। यह बात तो मैंने कह दी।

अब सोचना, अपने स्वधर्मका ख्याल करके भी तुम शोक करने योग्य नहीं हो। यह क्या थर-थर काँपना? क्षत्रियका यही धर्म है?

इसमें भी एक बात है। यह भाव-वावकी बात नहीं चलती है। इसमें धर्म तो धर्म ही होता है। उसमें भावना नहीं चलती है। भावनाका जो ज्यादा आदर करता है, वह धर्मसे च्युतः हो जाता है। विधिका नाम धर्म है और निषेधका नाम अधर्म है। असलमें तो शास्त्रके अक्षर-अक्षर और पंक्ति-पंक्तिमें निष्ठा होनी चाहिए।

एक जल्लाद है, उसको जेलमें रखते हैं, फाँसीकी सजा देनेके लिए, लोगोंको फाँसी पर चढ़ानेके लिए। उसका नाम जल्लाद होता है। अभी हमारी सरकारने फाँसी बंद नहीं की हैं। फाँसी बंद नहीं है कानूनसे। तो यहाँ भी रहते हैं जल्लाद। उनका काम है, जब जज निर्णय कर दे कि इस अपराधीको फाँसी पर चढ़ाना चाहिए, अमुक तारीखको अमुक मिनट पर फाँसी देना और उस समय यदि वह उस अपराधीको उसी मिनटपर फाँसी पर नहीं चढ़ावे और दयाकी भावनाके वशीभूत हो जाय, कि हम इसपर थोड़ी देर दया करके इसको बचा लें या भावनाके वशीभूत हो करके कहे कि इसको हम छोड़ देते हैं, तो क्या उसने अपने धर्मका पालन किया? नहीं किया! उसकी भावनाको देखकर सरकार उसको नहीं छोड़ेगी। उसको आज्ञाके उल्लंघनका दण्ड देगी।

जो अवैदिक पंथ हैं, वे बोलते हैं कि भावनासे धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है। वैदिक मार्ग जो है, उसमें धर्म-अधर्मके निर्णयमें वस्तुकी विशेषता या गुणकी विशेषता नहीं देखी जाती, केवल आज्ञा देखी जाती है। शास्त्रैकादेश्य धर्म होता है, गुणैकादेश्य धर्म नहीं है, भावनैकादेश्य धर्म नहीं है, शास्त्रैकादेश्य धर्म है। आप लोग तो ब्रह्मका विचार करते हैं। धर्मके बारेमें आप लोगोंको सुनावेंगे तो कहीं छोटी बात न लगे। ऐसे लोग पहले हमको कहा करते थे कि धर्मके बारेमें हमारी जानकारी बहुत बड़ी है। हमने कायदेसे धर्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है। हमने गुरुके पास जाकर 'मनुस्मृति' पढ़ी है, धर्मसिंधु पढ़ा है, निर्णयसिंधु पढ़ा है। निर्णयसिंधुकी तो परीक्षा भी दी है।

अब जल्लादने देखा कि एक आदमी किसी स्त्रीको फँसा रहा है, तो पकड़कर ले आया उसको और फाँसीके तख्ते पर लटकाया और मार डाला। तो क्या उसने भावनाके वशीभूत हो कर जैसे किया, वह धर्मके अंदर है? निषिद्ध है उसके लिए भला! जुर्म किया उसने। उस फाँसी चढ़ानेके बदले उसे फाँसी लगनी चाहिए। क्योंकि उसने अपने धर्मका उल्लंघन किया। तो भावना ही सब कुछ नहीं होती है। कानून प्रधान होता है। भावनाका थोड़ा विचार किया जाता है, उसकी नियत क्या थी? गोली अपने आप ही चल गयी है तो असावधानीका दोष है। जानबूझके चलाया है तो फाँसीका दोषी है। पर दोषी दोनोंमें ही है। निरपराध नहीं है।

ऐसी स्थितिमें यज्ञ-यागादि होता है उसमें दूसरे ढंगकी हिंसा होती है

यह जो खेतमें शूद्रसे फावड़ा चलाया जाता है, उसमें दूसरे ढंगकी हिंसा होती है। दुकानपर जो वैश्य लोग अपने मालको संभालते हैं, चावलमें जो घुन होते हैं, जो कीड़े होते हैं, वह दूसरे ढंगके होते हैं, उनकी भी हिंसा होती है। तो शूद्रसे हिंसा होती है फावड़ा चलानेमें। वैश्यसे हिंसा होती है अपनी दुकान संभालनेमें। क्षत्रियसे हिंसा होती है युद्धभूमिमें। और ब्राह्मणसे हिंसा होती है यज्ञ-याग होता है तब। लकड़ीमें कितने कीड़े होते हैं।

बोले—'जितनी विहित हिंसा है, उस हिंसासे अधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। और जितनी निषिद्ध हिंसा है, उससे अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

अब यहाँ अर्जुन क्षत्रियके रूपमें धनुषबाण लेकर आया हुआ है। हमारे देश पर कोई परदेशी आक्रमण लेकर आवें, और हमारे सैनिक कहें कि हम अहिंसक हैं, हम शत्रु पर गोली नहीं चलायेंगे, तो वे अपने धर्मका उल्लंघन करते हैं। तो उनके सीनेपर गोली मार देनी चाहिए। ये अपराधी हैं।

●

: 29 :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

2.32–37

यह 'स्वधर्मोपनिषद्' है। स्वधर्म=अपने धर्मका पालन करना। एक बात आपको प्राचीन दृष्टिकोणके सम्बन्धमें बताता हूँ। किसका समर्थन करना और किसका विरोध करना यह बात दूसरी है। और इस दृष्टिकोणमें जो महत्त्व है किस बातको ध्यानमें रख कर ऐसा निश्चय किया गया था, उसको समझना दूसरी बात है। तो प्राचीन लोगोंका यह दृष्टिकोण क्या था? इस बातको समझना।

आजकल जो भाषामें 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता है, यह उस अर्थमें होता है कि किसी आचार्यने किसी परिस्थितिमें कुछ लोगोंके लिए एक प्रकारके आचार-विचारके नियम बना दिये। उसके अनुसार वह मजहब चलता है। और

इस मजहबके लिए रिलीजनके लिए 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता है। हमारे प्राचीन कालमें जो 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता था, यह मनुष्यके हृदयकी शुद्धि हो करके वह परमात्माको पहचाने, इसके लिए 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता था। माने सत्यको पहचाननेके लिए अपने अन्तःकरणमें योग्यताका उदय होवे। तो जिस प्रक्रियासे उस योग्यताका उदय हो, उस प्रक्रियाको 'धर्म' कहते हैं।

धारणात् धर्मः इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धर्म किसको कहते हैं? जिससे हम अपनी आँखसे गलत चीजको देखनेसे रोक सकें,हम अपने हाथको गलत काम करनेसे रोक सकें, हम अपने पाँवको गलत जगह जानेसे रोक सकें, भोग करनेवाली इन्द्रियोंको गलत भोग करनेसे रोक सकें। तो गलत काम करनेसे रोकना, गलत चीजका भोग करनेसे रोकना, गलत चीजका संग्रह करनेसे रोकना। माने गलत धन वस्तु= अन्यायोपार्जित धनको रोकना और धर्म-विरुद्ध कर्मको रोकना और धर्मविरुद्ध भोगको रोकना=कामना को रोकना।

कामना, कर्म और संग्रह इन तीनोंमें नियंत्रण स्थापित करनेके लिए जीवनमें धर्मकी आवश्यकता हुआ करती है। अगर कोई रोकनेवाला हमारे भीतर नहीं है, तो हम मनमाना धनसंग्रह करें। धन और धरा-का, किसीकी धरती ले लें, किसीका धन ले लें, किसीका धान ले लें और मनमाना काम करें, मनमाना भोग करें। तो इस तरहसे जब हमारा अन्तःकरण बिलकुल उच्छृंखल हो जायगा, माने उसपर कोई रोक-टोक, बाध-नियमन नहीं रहेगा, तो वह कहाँका कहाँ चला जायगा? इसलिए हमारे जीवनमें कुछ बन्धन होने आवश्यक हैं। और ये बन्धन कैसे होने चाहिए, इसकी भी बात बताता हूँ।

(तत्त्व) दर्शकोंने एक बात कही है। केवल भौतिक दृष्टिकोणसे कि धर्मका एक ऐसा अनुष्ठान करेंगे तो यह कुर्सी मिल जायगी, यह पद मिल जायगा, यह सोना मिल जायगा और यह धरती मिल जायगी। केवल बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति और व्यवस्थाके लिए धर्म नहीं है। बल्कि अंतरंग जो करण हैं, अपने करण विषय-व्यवस्थाके लिए धर्म नहीं, करण-व्यवस्थाके लिए धर्मकी आवश्यकता स्वीकार की गयी थी। हमारे जो शरीरमें रहनेवाले करण हैं, उनका व्यवस्थित होना।

अच्छा! तो तीसरी बात धर्मके सम्बन्धमें सुनाता हूँ—

जैसे आजकल साधारण जनतामें क्या प्रसिद्धि है कि जिसके पास धन ज्यादा होवे वह बड़ा आदमी। अच्छा, कहीं-कहीं तो ऐसी प्रसिद्धि है कि जिसके पास भोग ज्यादा होवे सो बड़े आदमी। अभी अफ्रीकामें ऐसे जंगली लोग हैं कि उनके पास जितनी ज्यादा स्त्रियाँ हों, जिसने जितना ज्यादा विवाह कर रखा हो, और जितने ज्यादा बच्चे हों, उतना बड़ा आदमी उनको माना जाता है। अफ्रीकामें अभी ऐसी जंगली जातियाँ हैं। तो भोगकी अधिकतासे बड़े आदमी, कि धनकी अधिकतासे बड़े आदमी, कि कर्मकी अधिकतासे बड़े आदमी? इन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं, कर्मकी अधिकतासे बड़े आदमी। यह बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे मनुष्यके बड़प्पनका निर्णय, यह बिलकुल साधारण जनताका निर्णय है।

मनुष्यके बड़प्पनसे धनमें बड़प्पन आता है, मनुष्यके बड़प्पनसे भोगमें बड़प्पन आता है, मनुष्यके बड़प्पनसे कर्ममें बड़प्पन आता है। त्रयीविभागमें चेतन सहित जीवतत्त्व-प्रधान मनुष्यकी प्रधानता है, कि जीवत्व रहित जो धन हैं, जो भोग है, जो धर्म है, उसकी प्रधानता है? तो यह जो जड़ संस्कृति है न, उसमें जड़ भावकी प्रधानता और जो चैतन्य-प्रधान संस्कृति है, उसमें चैतन्य-भावकी प्रधानता।

अब देखो, सड़कपर खड़े हो करके मोटरोंको रास्ते बतानेवाले सब लोग हो सकते हैं, लेकिन पुलिसको जो अधिकार प्राप्त है मोटरोंका नियंत्रण करनेमें, वह दूसरा है। तो पहले मोटर रोकना सीख लिया जाय तब सिपाही बना जाय। पहले छः महीने, बारह महीने मोटरोंका नियंत्रण कर ले, तब सिपाही हो, कि पहले सिपाही होके तब चौराहेपर खड़े हो, तब उसको मोटर रोकनेका अधिकार मिलेगा। तो सिपाहीपना पहले होगा और मोटर रोकनेका अधिकार बादमें होगा। मोटर रोकनेका अधिकार पहले और सिपाही बननेका अधिकार बादमें, ऐसा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार यह जो भोग-कर्म-धनकी पद्धति है। अब देखो, आपको एक बात और धर्मके सम्बन्धमें सुनाकर आगे बढ़ता हूँ। वह क्या है कि आत्माके जन्म और उत्तर-जन्मकी बात तो जरा नीचे दर्जेकी है। वह तो निम्न कक्षाकी है। मोक्षदशामें आत्माका अस्तित्व है न, ब्रह्मरूपसे उसको मान करके

धर्मका निर्णय और ब्रह्मरूपसे उसको न मान करके धर्मका निर्णय-इसमें भी बड़ा भारी फर्क है। एक अद्वितीय, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निर्धर्मक, सिद्ध प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व है। और, उसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब मिथ्या है। जो कुछ मालूम पड़ता है, वह सब उस स्वयंप्रकाश अधिष्ठानमें अध्यस्त है।

अब देखो, जहाँ अध्यस्तमें धर्माधर्मका निर्णय करना पड़ता है, जहाँ अध्यस्तमें उपास्य-अनुपास्यका निर्णय करना पड़ता है, जहाँ अध्यस्तमें विक्षेप और समाधिका निर्णय करना पड़ता है, वहाँ दृष्टिकोण दूसरा होता है।

जहाँ संसारको सत्य मान करके धर्म-अधर्म, उपास्य-अनुपास्य और समाधि-विक्षेप है, यह निर्णय करना है—वहाँ दृष्टिकोण दूसरा होता है। तो जो लोग संसारको सत्य मानते हैं, वह चरितसे ही मानते हैं कि यह वस्तु अशुद्ध है, यह कर्म शुद्ध है और यह कर्म अशुद्ध है, यह भाव शुद्ध है और यह भाव अशुद्ध है, यह स्थिति शुद्ध है और यह स्थिति अशुद्ध है। क्योंकि वे संसारको सत्य मानते हैं, और उस सत्यमें भी शुद्ध-अशुद्धको ही सत्य मानते हैं। तब वे कहेंगे कि भाई! यह जो सन्ध्यावन्दन करना है, हमेशा वह सबके लिए पवित्र है। क्यों? बोले—सन्ध्यावन्दन कर्म ही पवित्र है। यह एक दृष्टिकोण हो गया। और दूसरा दृष्टिकोण यह हो गया कि संध्यावंदनमें जो अच्छाई है वह अध्यारोपित है। इसलिए किस देशमें, किस कालमें, किस व्यक्तिके लिए सन्ध्यावन्दन कल्याणकारी नहीं है; किसके लिए यज्ञोपवीत धारण करना कल्याणकारी है, किसके लिए यज्ञोपवीत धारण करना कल्याणकारी नहीं है, यदि यज्ञोपवीत ही कोई कल्याणकारी पदार्थ होता तो जो पहनता उसीका कल्याण होता। और, न पहनता उसका अकल्याण हो जाता। यज्ञोपवीतमें तो कल्याणकारीत्व अध्यारोपित है। इसलिए देशविशेषमें, कालविशेषमें, व्यक्तिविशेषमें उसका अपवाद जरूर होगा।

जबतक तुमको धर्म-अर्थ-काम चाहिए यज्ञोपवीत जरूरी और नेष्ट पुरुषार्थी संन्यासी हो जायेंगे तब जरूरी नहीं। सन्ध्यावन्दन भी सूतक-पातक आदिमें वर्जित और एक व्यक्तिके लिए विहित। कपिला गायका दूध भी एक अवस्थामें पवित्र और एक अवस्थामें अपवित्र। भैंसका दूध भी श्राद्धके दसवें दिन जो विधान है उसमें पवित्र और बाकी जो विधान है उसमें भैंसका दूध अपवित्र है। यह क्या है? दूध क्या है? पवित्र है कि अपवित्र है? बोले—

गायका दूध, भैंसका दूध, सन्ध्यावन्दनका कर्म अध्यारोपित है। इनमें पवित्रता-अपवित्रता अध्यारोपित है। ये सब ब्रह्मका स्वरूप हैं। निर्णित कालमें अनिर्वचनीय मिथ्या है। हितकी दृष्टिसे और कल्याणकी दृष्टिसे शास्त्रमें अच्छाई-बुराईका अध्यारोप किया है।

उच्छिष्ट खाना अच्छा कि बुरा? बोले—जगन्नाथपुरीमें अच्छा, बाकी जगहमें गलत। अमुक व्यक्तिका ठीक, दूसरेका गलत। पतिका ठीक और देवरका गलत। गुरुका ठीक और चाचा गुरुका गलत। गुरुभाईका उससे भी गलत। यह भाई, सब उच्छिष्ट ही उच्छिष्ट है तो सबका गलत होवे या सबका खराब होवे।

नहीं, यदि वस्तुका गुण होता, वस्तुका धर्म होता, वस्तुका स्वभाव होता, तब वह सर्व देशमें, सर्व कालमें, सर्व वस्तुमें पवित्र होता। वह तो बाध करनेके लिए है। इसलिए उसमें अध्यारोपित धर्मत्व है, आरोपित अधर्मत्व है। होलीके दिन गाली भी धर्म है। होलीके दिन शकटस्पर्श भी धर्म है। दिवालीके दिन पासे डाल देना भी धर्म है। यज्ञमें कहाँ हिंसा करना, कहाँ हिंसा नहीं करना धर्म है। धर्म नहीं, इस धर्मसे दूसरा धर्म नहीं है युद्धमें।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

धर्मानुकूल युद्धके सिवाय दूसरा कोई श्रेय-साधन क्षत्रियके लिए है ही नहीं। अच्छा जी! युद्ध श्रेय है? ब्राह्मण भी करे? नहीं, ब्राह्मणके लिए अकल्याण है। अच्छा, वैश्य भी करें? नहीं, वैश्यके लिए भी अकल्याण है! क्यों? बोले—युद्धमें न कल्याण है और न अकल्याण है। यह तो मनुष्यकी स्थितिके साथ युद्धका धर्मसे सम्बन्ध है।

जैसे कालविशेषमें नियोग भी धर्म होता है। यह सब बात क्या है? यह जब अद्वैतब्रह्मके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेते हैं, तब शास्त्रीय दृष्टिकोणके सिवाय, वैदिक दृष्टिकोणके सिवाय दूसरे किसी भी दृष्टिकोणसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं होता। तो संसारके मिथ्यात्वको स्वीकार करके धर्माधर्मका निर्णय शास्त्रोक्त रीतिसे होता है और उसका अपवाद शास्त्रके अनुसार कर दिया जाता है। संसारको सत्य मानकर जो धर्माधर्म होता है, वह अध्यारोपित नहीं है, इसलिए ज्ञान होनेपर उसका बाध भी नहीं हो सकेगा। अध्यारोप और अपवादके रूपमें ही धर्माधर्मको स्वीकार करना चाहिए। यह शास्त्रीय मर्यादा है।

आजकल जो अध्ययनकी प्रणाली चल गयी है, उसमें पहले तो यही नहीं समझ सकते कि वेदवाणी अपौरुषेय क्यों है? और उनकी समझमें आत्मा स्वयंप्रकाश है, यह बात भी नहीं जम सकती। क्योंकि ज्ञान जो है, वह पुरुषके अधीन नहीं है, पुरुषतंत्र नहीं है। पुरुषके अधीन हो तो करे-न करे, बदल दे, छोड़ दे। कई लोग ऐसे होते हैं कि दस-दस इष्टदेव बना लेते हैं, बदलते हैं और छोड़ देते हैं धर्म। ईसाईसे मुसलमान हो गये, मुसलमानसे हिन्दू हो गये, हिन्दूसे मुसलमान हो गये, ईसाई हो गये, वे मजहब बदलते रहते हैं।

लेकिन आँखसे रूप दिखता है न? तो बोले—आँखसे रूपका ज्ञान नहीं होता है, गंधका ज्ञान होता है, बदल दो, है तुम्हारे अधीन? तो ज्ञानको करना-न करना, बदल देना, इसमें पुरुषकी अधीनता नहीं होती है। तो ज्ञान पुरुषतंत्र नहीं है। यह बात जब ध्यानमें आ जायगी तब औपनिषद् जो ज्ञान है, वह किसीका बनाया हुआ, पुरुषके अधीन नहीं है, यह बात भी समझमें आ जायगी।

जब आँखका ज्ञान पुरुषके अधीन नहीं है, बुद्धिका ज्ञान पुरुषके अधीन नहीं है, जब साक्षीकी जो स्वयंप्रकाशता है वह कर्ता-भोक्ताके अधीन नहीं है, तो जो औपनिषद् ज्ञान है, वह किसीके अधीन है, या ज्ञानस्वरूप ब्रह्मपुरुषके अधीन है, यह तो कल्पना ही कैसे हो सकती है? तो इन सारी बातोंकी एक लड़ी जुड़ी हुई है और उस बातको समझना थोड़ा कठिन है।

जो लोग परम्परासे योगका,उपनिषद्का, पूर्वमीमांसाका अध्ययन नहीं करते हैं, पल्लवग्राही पाण्डित्यमें, तो इधरसे-उधरसे, किसी किताबसे, किसी अंग्रेजी किताबसे, किसी हिन्दीकी किताबसे पढ़ लिया, किस्सा-कहानीसे पढ़ लिया, अपनी अक्ल उसमें लगा ली और उसको ठीक ढंगसे जो नहीं समझते हैं, वे ज्ञानका अपौरुषेय स्वरूप कैसे हैं? वेद अपौरुषेय कैसे हैं? आत्माके सम्बन्धमें एक मात्र वेदका ही प्रामाण्य कैसे है? और केवल महावाक्यजन्य अखण्डार्थधीसे ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका बोध कैसे होता है और फिर उपासना कैसे अध्यारोपकी रीतिसे होती है, धर्मानुष्ठान कैसे अध्यारोपकी रीतिसे होता है—यह सारी कड़ी जुड़ी हुई है। इसमें-से एक छूट जाता है तो वहाँ सब-का-सब छूट जाता है। तब न ज्ञानकी योग्यता आती है, न उपासनाकी सिद्धि होती है, न धर्मका फल मिलता है, न ऐहिक उन्नति न

पारलौकिक उन्नति, न अन्तःकरणकी शुद्धि। वह तो सबकी सब एक कायदेसे काम करने पर होती है। इसलिए धर्मका जो निर्णय है वह मनमाने ढंगसे नहीं होता, कर्मके महत्त्वसे नहीं होता, उपासनाके महत्त्वसे नहीं होता, युक्तियोंके महत्त्वसे नहीं होता, किसी पंथमें शामिल हो जानेसे नहीं होता। यह धर्म जो वस्तु है, उससे निरपेक्ष तो सृष्टिमें कभी कोई हो ही नहीं सकता। वे तो मजहबसे मुक्त होते हैं।

जैसे हम 'भारत साधुसमाज'में जब बैठते हैं, तो भाई ये शैव हैं, ये शाक्त हैं, ये वैष्णव हैं, उनके धर्ममें दस्तंदाजी किये बिना, उनके मजहबमें कोई हस्तक्षेप किये बिना सोचें, आओ! एक मंच पर बैठे और सामान्य रूपका विचार करें। उसी प्रकार एक राष्ट्रमें रहनेवाली जो प्रजा है, वह अपने मजहबी पक्षपातको छोड़ करके दूसरेके साथ द्वेष छोड़ करके राष्ट्रके सामान्य हितके लिए विचार करे। इतना ही धर्मनिरपेक्षताका अर्थ होता है। धर्म माने मजहबी पक्षपात नहीं। धर्म माने वह धर्म नहीं जो हृदयको शुद्ध करके ईश्वरसे मिला देनेवाला है, वह धर्म तो बाबा, कोई छोड़ ही नहीं सकता।

यज्ञेन यज्ञम यजन्ति देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्॥

वह प्रथम धर्म है, तो—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्यं न विकम्पितुमर्हसि।

इसलिए हिंसा भी कभी धर्म होती है और कभी अधर्म होती है। अहिंसा भी कभी धर्म होती है कभी अधर्म होती है। एकांग धर्म कभी नहीं होता कि अहिंसा ही धर्म है, हिंसा नहीं। महापुरुष जो होगा, जिसके पक्षधर होंगे वे क्या होंगे, हिंसक कि अहिंसक? बोले—'न हिंसक न अहिंसक।' हिंसा-अहिंसा दोनोंके ऊपर समभावमें उसकी स्थिति हो जायगी तो अहिंसाकी प्रधानतासे अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। समाधि लग जायगी। अष्टादशदूषणरहित हो जाय त्रिरत्नकी प्राप्ति हो जाय, बहुत बढ़िया! और कोई राज्यकी रक्षाके लिए उठा करके धनुषबाण युद्धभूमिमें विपक्षियोंका संहार कर रहा है, उसको भी उसी फलकी प्राप्ति होगी। यह वैदिक धर्मकी विशेषता क्या है?'

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल भेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखः हतः॥

सूर्यमण्डलका भेदन दो पुरुष करते हैं। कौन? एक तो योगयुक्त परिव्राड्।

देखो न क्या स्थिति है कि युद्धभूमिमें सामने मरनेवाला, उसका भी तो एक वध है। और एक बाध है। युद्धभूमिमें वध होता है और ज्ञानभूमिमें बाध होता है। तो यह वध एवं बाध—वीरताके साथ मरना जो है, वह क्रममुक्ति। क्रममुक्ति-समाधि लगानेवाले पुरुषको भी क्रममुक्ति होती है। सद्योमुक्ति नहीं होती, क्रममुक्ति होती है। तत्त्वज्ञानीको क्रममुक्ति नहीं होती, सद्योमुक्ति होती है। इनके फलमें विवेक है। तो बाबा! अपने धर्मकी ओर देखो, तो थर-थर काँपनेका कोई कारण नहीं है।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। 1.29

और फिर धर्मज्ञ बनते हो और डरते हो? धर्मज्ञ कहीं डरपोक होता है?

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

क्षत्रियका बाना पहनना? क्षत्रिय उसको कहते हैं—'*क्षतात् त्रायते इति*'=जो घाव बचावे। माने प्रजाके ऊपर कोई तलवार चलाने आवे, बाण मारने आवे, डण्डा मारने आवे, तो दूसरेके शरीर पर घाव न लगने दे। यह क्षत्रियका धर्म है। तो केवल शरीर पर घाव न लगाने दे, उतना ही नहीं, उसके धर्म पर भी घाव न लगने दे, इसका नाम क्षत्रिय है, क्षत्रिय रक्षाके लिए नियुक्त है। *क्षतात् त्रायते इति— क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।*

धरतीमें 'क्षत्र' शब्द रूढ है। जो दुःखसे बचावे। आज युधिष्ठिर, पाण्डव, पाण्डवके पक्षपाती, घर (परिवारके लोग) दुःख पा रहे हैं, घायल किये जा रहे हैं, उनकी धरोहर लौटायी नहीं जा रही है।

दुर्योधनके पास जो राज्य था, वह कोई बटवारेका राज्य नहीं था। युधिष्ठिरने केवल तेरह वर्षके लिए अपना राज्य धरोहरके रूपमें रखा था। बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका गुप्तवास। अब धरोहर रखी हुई जो चीज है, वह जिसकी है उसको मिलनी चाहिए कि नहीं मिलनी चाहिए? अगर दुनियामें सब लोग ऐसे हो जायँ कि धरोहर रखी हुई चीज न लौटावें, तो प्रजाकी क्या गति होगी? ऐसे राजाको धरती पर रहने देना? और वह भी भावनाके वशवर्ती हो करके?

जो लोग भावनाके वशमें हो जायँ, जिनकी दृष्टिसे मरनेके बाद कोई शरीर नहीं मिलता है, वह आदमी भावनाके वशमें होकरके एक सत्य तत्त्वकी उपेक्षा

कैसे कर सकता है, जो कर्त्तव्यके रूपमें उपस्थित है। इसलिए अर्जुन! यह जो युद्ध तुम्हें प्राप्त है, यह धर्मानुकूल युद्ध है।

धर्मादनपेतं धर्म्यम्।

जो धर्मको छोड़ करके न हो, विमुख पर शस्त्र न चलाये जायँ। भयभीत पर शस्त्र न चलाये जायँ, रातमें शस्त्र न चलाये जायँ, संध्यावन्दनके समय शस्त्र न चलाये जायँ। युद्धनीतिके अनुसार जो धर्म है, उस धर्मकी रक्षाके लिए युद्ध किया जाता है। इस स्वधर्मपालनरूप अपने शौर्यको होम देना, यही युद्ध है। युद्धकी आगमें अपने प्राणोंका हवन। एक अग्नि प्रज्ज्वलित करके ब्राह्मण लोग अपने घरमें घी-बूरेका हवन करते हैं। बोले—घी-बूरेका हवन करना दूसरा हवन और युद्धभूमिमें अपने प्राणोंकी आहुति दे देना दूसरा धर्म। यह तो धराधारी धर्म है।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

दूसरा श्रेय—श्रेय है, प्रेय नहीं, युद्ध यदि प्रेय होता, तो यह संशय उठाया जाता कि भाई, यह तो हमें बड़ा प्रिय लगनेवाला पदार्थ है। शंका वहाँ उठाना जहाँ वासनाकी पूर्ति भी होती है और धर्म भी मिलता है। तो वहाँ शंका उठाना कि यह सच्चा धर्म है कि नहीं और मालूम पड़े कि सच्चा धर्म है तो करना। न होता हो तो नहीं करना। लेकिन जहाँ वासनाकी पूर्ति नहीं है, जहाँ केवल कर्तव्यभावसे अपने धर्ममें स्थित होना है, वहाँ तो विचारकी कोई गुंजाइश ही नहीं है। तो क्या यह युद्ध ही सबसे बड़ा धर्म है? नहीं, यहाँ युद्धकी प्रशंसा इष्ट है। भगवान् युद्धकी तारीफ करना चाहते हैं। श्रुतिमें ऐसा आता है कि—

पशवो अन्ये गो अश्वेभ्यः। अपशवो वै एते गो अश्वाः।

गाय और घोड़ाको छोड़कर सब पशु अन्न हैं।

गाय और घोड़ा पशु नहीं हैं। इसका मतलब यह है कि ये पशुओंमें सबसे अच्छे हैं। इसी प्रकार क्षत्रियके लिए जितने धर्म हैं, इनमें अर्जुनके लिए इस समय युद्धरूप जो धर्म है, वही श्रेष्ठ है। असलमें जो देहका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिए तैयार नहीं होता, वह देहको कष्ट देकरके आन्तर धर्मके पालनके लिए भी तत्पर नहीं होगा।

बोले—हमको ब्रह्मचर्य पालन करना है। बोले—ब्रह्मचर्यपालनमें शरीरको बड़ा कष्ट होगा। तब नहीं पालन करेंगे ब्रह्मचर्यका! जो देहको मार

करके स्वधर्मका पालन करनेके लिए तैयार नहीं है। वह वासनाका दमन करके भी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करेगा। जो देहको, कायाको, क्लेश देनेके लिए तैयार नहीं है, आगके सामने बैठकर 'इन्द्राय स्वाहा-इन्द्राय स्वाहा' बोलना और खुद जलना? राम-राम! इस तपस्यामें क्या रखा है?

बोले—'भाई! इतनी गायोंका दान करना पड़ेगा।' 'इतने कष्टसे? तब हम गोदान नहीं करते हैं।' जो तकलीफसे डर करके धर्मको छोड़ने लगेगा, वह कभी धर्मका पालन नहीं करेगा। उसके जीवनमें न सत्य रहेगा, न तपस्या रहेगी, न तितिक्षा रहेगी। उसके लिए देहके डरसे धर्मको छोड़ना बिलकुल गलत।

अब बताते हैं कि युद्ध जो है, यह तो गौरवकी वस्तु है। अरे महाराज! ये 'भीष्म' जो हैं ये दादा हैं और 'द्रोण' गुरु हैं, 'कृपाचार्य' ब्राह्मण हैं, इनके साथ युद्ध करना? बोले—

यदृच्छया चोपपन्नम्। 2.32

क्या तुम भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यको मारने जा रहे हो? तुम तो अन्यायी दुर्योधनका संहार करने जा रहे हो। अब बीचमें ये भीष्म-द्रोण-कृपाचार्य टपक पड़े। ये अपनी मौजसे ही कूद रहे हैं युद्धमें। तुम इनको मारनेके लिए युद्ध नहीं करना चाहते हो। तुम तो धर्मकी रक्षाके लिए और अधर्मके निवारणके लिए युद्ध करना चाहते हो। अब ये बीचमें कूद पड़े तो क्या होगा?

बोले—'तब भी पाप तो लगेगा न, इनको मारनेसे?' भगवान् बोले—

स्वर्गद्वारमपावृतम्।

'पाप नहीं होगा, नरक नहीं होगा, स्वर्गका बिलकुल खुला द्वार है यह।' क्यों? 'यदि युद्धभूमिमें आततायी आजाय तो—

आततायि-वधे दोषो न कश्चित् परिकीर्तितः।

आततायी यदि सामने आजाय तो उसके वधमें कोई दोष नहीं है। बिना विचारे आततायीके प्रति कृपा नहीं करना। यह बहुत कृपा-कृपा करके लोग भाग जानेमें फँस जाते हैं। तो 'स्वर्गद्वारमपावृतम्'—तुम्हारे लिए फल भी वर्जित नहीं है।

देखो, कल आपको सुनाया था। एक 'शेनयाग'का वर्णन है। शेन= बाजका वध होता है जिसमें, तो कौन करे? जो चाहता है कि हमारे दुश्मन मर जायँ। शास्त्रमें उसका विधान है, तो करनेसे पाप तो नहीं लगेगा? शास्त्रमें

शेयनागका तो विधान है। लेकिन शत्रुको मारना रूप जो कर्म है न, वह हिंसात्मक है। फलमें हिंसा है। इसलिए इस यागको करनेसे शत्रु तो मरेगा, लेकिन नरक होगा। मच्छरको मार करके आये। बोले—'हम बड़े बहादुर! आज तो हमने सैकड़ों आदमियोंके हाथ-पाँव काट दिये।' उन लोगोंने कुछ नहीं कहा? 'कहते कैसे? वे तो श्मशानमें मुर्देके रूपमें पड़े हुए थे। तो वे क्या करते?' तो जो मच्छरसे लड़ते हैं उनके लड़नेमें कोई बहादुरी नहीं है। जहाँ भीष्म-द्रोण-कर्ण सरीखे वीर प्राप्त होते हैं। युद्धके लिए बड़ोंका मुकाबला करनेमें बड़प्पन है। छोटेको बड़ा मान लिया तो उसमें क्या रखा है? चींटी मारनेमें बहादुरी नहीं है, शेर मारनेमें बहादुरी है।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्। 2.32

पार्थ=पृथाके पुत्र। कुन्तीके पुत्र। जब श्रीकृष्ण कुन्तीसे मिलकर युद्धभूमिके लिए रवाना हो रहे थे, तो कुन्तीने कृष्णसे एक बात कही। कुन्तीने कहा—'कृष्ण! तुम जाते हो युद्धके लिए, तो हमारे बेटे अर्जुन और भीमसेनको हमारा एक संदेश दे देना।'

त्वया धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥

महाभारत-युद्धपर्व

'हमेशा लड़नेको तैयार भीमसेनको भी कह देना'—क्या कह देना? 'क्षत्रिय नारी, क्षत्रिय महिला जिस कामके लिए बच्चा जनती है, अब उसको पूरा करनेका मौका आगया है।'

क्षत्रिया महिलाएँ जिस कामके लिए बच्चे पैदा करती हैं, उसको पूर्ण करनेका समय अब आया है। कुन्तीके इस सन्देशको ध्यानमें रखकरके श्रीकृष्ण बोलते हैं अर्जुनको—'हे पार्थ! तू बड़ा भाग्यवान् है। जिसको ऐसा युद्ध प्राप्त होवे जिसमें बड़े-बड़े बहादुर, बड़ी सेना खड़ी हो सामने, इसमें यदि तुम विजयी हो जाओ तो तुम्हारी विजय है।'

अब धर्मका निर्णय करके बताते हैं कि—'यदि तुम यह युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हारी हानि होगी। युद्ध करनेमें धर्मका पालन है। स्वर्गादि रूप फलकी प्राप्ति है और न करनेमें?'—अन्वयव्यतिरेकसे विचार करना चाहिए न? आदमीको अगर अपनी भलाई, अपने कर्तव्यका निश्चय करना हो तो ऐसे सोचना—'यह

करनेमें हमको क्या फायदा है और यह न करनेसे हमको क्या हानि है?' अगर दोनों बात तुम नहीं सोच लेते हो, तो तुम्हारे पास सोचनेकी बुद्धि नहीं है। असलमें आदमी अपने मुँहसे कुछ बोले न, तो यह भी युद्ध है। तब? यह सोचकर बोलना चाहिए कि अगर हम यह बात कह देंगे तो सुननेवालेके चित्त पर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह जिसको गणितकी रीतिसे मालूम नहीं है, उसको बोलनेका अधिकार नहीं है। उसे चुप ही रहना चाहिए।

विशेषतः सर्वविदं समाधिः विभूषणं मौन मतं वितानम्।

विद्वानोंके समाजमें मूर्खोंका मौन ही उनका भूषण है। उनको बोलना ही नहीं चाहिए। अगर बोलना हो तो गणित मालूम होना चाहिए। हम यह बात करेंगे तो सुननेवालेके मनमें यह आवेगा, इतना ही नहीं, यह सुननेवाला जब जाकर दूसरोंको कहेगा तब उन लोगोंके मनमें क्या आवेगा? जिनके बारेमें हम बात कर रहे हैं, उनके मनमें क्या आवेगा? जो हमारे दुश्मन हैं, उनके मनमें क्या आवेगा? यदि अपने मुँहसे निकली हुई बातके सारे विस्तार और सारे परिणाम गणितकी रीतिसे मालूम नहीं है, तो वह आदमी बोल करके अपना अनर्थ ही करता है। अपने दुश्मन ही बनाता है। परिणामकी दृष्टि मुख्य होनी चाहिए। कौन-सी बात बोलनेकी है कौन-सी बोलनेकी नहीं है, बोलना तो एक कर्म है, तो कर्म मात्र-वहाँ जायेंगे तो हमारे ऊपर क्या असर पड़ेगा? दूसरेका क्या लाभ होगा? हमारी क्या हानि होगी? दूसरेकी क्या हानि होगी? हमारे मित्रोंका क्या दृष्टिकोण होगा? हमारे शत्रुओंका क्या दृष्टिकोण होगा? और साधारण जनताका क्या दृष्टिकोण होगा? इतना विचार करके तब कुछ बोलना और तब कुछ करना चाहिए। यह व्यवहारकी जो रीति-नीति है, यह कोई साधारण नहीं है। इसके मूलमें दर्शन होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। 2.33

यदि तुम धर्मानुकूल, धर्मयुक्त संग्रामका अनुष्ठान नहीं करोगे—'अथ चेत्'का फिर यहाँ वही अर्थ होगा—अथ चेत्—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। 2.26

इतना समझाने पर भी यदि तुम इस धर्मानुकूल संग्राम नहीं करोगे तो क्या होगा? भगवान् बताते हैं—

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि। 2.33

तुम्हारा धर्म ही नष्ट हो जायगा। धर्म जायगा रसातलमें। अच्छा, धर्म न सही—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन। 2.2

बोले—फिर कीर्ति भी चली जायगी। लोकमें तो कीर्ति नहीं, परलोकमें धर्म नहीं, और मोक्ष तो इसमें होगा ही कहाँ? **पापमवाप्स्यसि**=बल्कि नरककी प्राप्ति होगी। इसका अर्थ दु:ख है। नरककी प्राप्ति दु:ख है।

बोले—संध्यावन्दन न करे तो उसे नरककी प्राप्ति होती है। नित्य नैमित्तिक कर्म न करे तो नरककी प्राप्ति होती है। लेकिन काम्यकर्म यदि मनुष्य नहीं करे तो उससे नरक नहीं होता है। यह भगवान्‌ने क्या कहा? युद्ध नित्यकर्म नहीं है।

नैमित्तिक माने ग्रहणके दिन दान करना, संक्रान्तिके दिन दान करना, ये सब नैमित्तिक कर्म हैं। अग्निहोत्र करना, श्राद्ध करना नैमित्तिक कर्म हैं। तो इनका यदि कोई ठीक अनुष्ठान नहीं करता है, तो उसको प्रत्यवाय लगता है।

प्रत्यवाय=अध:पात। प्रति, अव+अय। प्रति=उलटी। अ=नीचे। अय=गति। जिधर तुम जाना चाहते थे, उसके विपरीत नीचे जाना, इसका नाम है 'प्रत्यवाय।' *प्रति=प्रतिकूलम्। अव-अवात्-अयं गति: प्रत्यवाय:* अपने इष्टके विपरीत नीचेकी ओर जाना, इसका नाम प्रत्यवाय है।

तुम चाहते थे धर्मराज्यकी स्थापना, और यह काम्य कर्म प्रारम्भ करके उसके विपरीत उसको पूरा न करना यह तो नरक जानेकी पापकी बात हो गयी। एक तो नित्य नैमित्तिक कर्म न करना ही अपराध है। परन्तु काम्य कर्म प्रारम्भ करके उसको न करना, यह भी अपराध है। अगर वह प्रारम्भ ही न किया जाय तब तो कोई बात नहीं है। लेकिन प्रारम्भ करके, एक व्यक्ति जो है, रोगकी निवृत्तिके लिए 'दुर्गापाठ' प्रारम्भ कर देता है। चलो, पाठ कर लो, संकल्प कर लो, कलशस्थापन कर लो और 'दुर्गापाठ' प्रारम्भ कर दो। वह 'दुर्गापाठ' करने बैठ गया। तो यदि न करता तो कोई दोष न था। लेकिन संकल्प करके, कलशस्थापन करके 'दुर्गापाठ' करने न बैठा, तो?

बोले—'यह काम्य कर्मका प्रारम्भ करनेके बाद यदि पूर्ण होनेके पहले ही वह बन्द कर देगा, दुर्गा पाठ पूरा नहीं करेगा तो उसे प्रत्यवाय लगेगा।' इसमें प्रत्यवाय क्या है? अपने संकल्पमें जो अदृढ़ता है न, अपने संकल्पका त्याग, दृढ़ताकी न्यूनता, एक संकल्पको पूरा न करनेका जो असामर्थ्य, वह उसके

दिलमें घरकर जायगा। अब वह बार-बार नये-नये काम शुरू करेगा, छोड़ता जायगा। क्योंकि यह सत्त्वहीन प्राणी हैं। उसके हृदयमें जो एक संकल्पको पूर्ण करनेका सामर्थ्य है, वह नष्ट हो गया। यह प्रत्यवाय हो गया। प्रत्यवाय हो गया माने अब उसका अध:पतन होगा। तो जो काम्यकर्मको भी प्रारम्भ करके पूरा नहीं करते हैं, उनका अध:पात होता है। अभिक्रम माने उदय होता है। **पापमवाप्स्यसि**—'अर्जुन! तुमको पाप लगेगा। केवल कीर्तिका त्याग ही नहीं होगा, बल्कि—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ 2.34

भूतानि=जो संसारके प्राणी हैं, साधारण जनता है, भीष्म-द्रोणकी बात छोड़ दो। इतना ही नहीं , साधारण जनता जो है, वह तुम्हारी अकीर्ति और अधर्मका वर्णन करेगी। सारा धर्म छूट गया, कीर्ति छूट गयी। '**चापि**'से अधर्मको लेना। 'लोग कहेंगे कि—'युद्धे चाप्यपलायनम्'। युद्धमें न भागना जो क्षत्रियका धर्म था, उसको छोड़ दिया अर्जुनने। और वे तुम्हारी अपकीर्ति भी करेंगे।

बोले—'कितने दिन करेंगे? दो-चार दिन करके चुप हो जायेंगे।' बोले—'नहीं, **अव्ययाम्**।' माने यह तो इतिहासमें लिखी जायगी, पुराणमें लिखी जायगी और लोग कहेंगे कि अर्जुनने धर्मका पक्ष नहीं लिया। खुद तो हार गया तो हार गया, धर्म भी हार गया। एक व्यक्तिके हारनेकी कोई कीमत नहीं है। लेकिन जहाँ धर्म हार जाता है, वहाँ उसकी बहुत बड़ी कीमत है। वहीं अन्याय हो जाता है।

बोले—'अच्छा, हो जाने दो अपकीर्ति, हम अपकीर्ति सहनेके लिए भी तैयार हैं'—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

सम्भावित—आजकल हिन्दीमें एक 'सम्भ्रान्त' शब्द चल रहा है। 'ये बड़े सम्भ्रान्त पुरुष हैं।' सम्यक् भ्रान्त=जो सचमुच भ्रान्त है, वह 'सम्भ्रान्त'। इसीकी नकलकी होगी किसीने पहले पहल। सम्भावितको भूलसे उसने सम्भ्रान्त कह दिया होगा। भाव इसके पीछे, यह तो आप जानते ही हैं, भेडियाधसान! *गतानुगतिकलोका:।* एक जगह महाराज, चल गया तो बस, सब जगह चल गया।

मैंने सुना है कि एक 'कर्दम' फैशनकी जो मूँछ चली है, वह गलतीसे ही चली थी। दो मक्खी बैठाते हैं, नाकके नीचे, उसे 'कर्दम फैशनकी मूँछ' बोलते हैं। वह कैसे चली? बाल बनाते समय एक जगहकी मूँछ ज्यादा कट गयी, लेकिन उन्होंने दूसरी तरफकी काटकर उसको बराबर बना दिया गया। वह तो गलती हुई थी। लेकिन उनको ऐसा करते देखकरके लोगोंने भी ऐसा ही करना शुरु कर दिया। तो यह कैसे? इसीको बोलते हैं 'भेडकी चाल।' सोचा नहीं, विचारा नहीं।

अंग्रेज प्रभुके पहननेके लिए पहले क्रास (+) आते थे। गलेमें क्रास पहनते हैं न? ईसाई मजहबका एक पवित्र चिह्न है। तो गौरांग महाप्रभु उसको देखकरके बहुत खुश हुआ करते थे। 'गौरांग महाप्रभु'से हमारा मतलब 'चैतन्य महाप्रभु'से है। तो उनको खुश करनेके लिए वह स्टाइल चली थी। लेकिन अब यह बैठ गयी कि नहीं? बैठ गयी। जीवनमें समा गयी। इसी प्रकार भाषामें 'सम्भावित' पद देखकरके जो 'सम्भ्रान्त'की गलती की गयी थी, वह गलती अभी भाषामें प्रवाहित हो रही है।

सम्भावितस्य चाकीर्तिः। तुलसीदासजीने बिलकुल यही लिया है—

संभावित कहँ अपजस लाहू।
मरन कोटि सम दारुन दाहू॥

गोस्वामीजी तो शास्त्रोंके बड़े मर्मज्ञ हैं न? यही तो है—

मरणकोटि सम दारुन दाहु।

आज 'तुलसीजयंती' भी है, श्रावण शुक्ल सप्तमी। पवित्रात्मा गोस्वामी तुलसीदासजीने 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं रामायणकी रचना की है। उसमें कई लोगोंको यह भ्रान्ति होती है कि उसमें अद्वैतवेदान्तका निरूपण है ही नहीं, वे नहीं जानते कि इसमें अद्वैत है। दरअसल—इसमें सरस्वतीके रूपमें ब्रह्मज्ञानकी धारा बहती है। यमुनाके रूपमें—*'कर्मकथा रविनंदिनी बरनी'*—और गंगाके रूपमें भक्ति *'रामभगति जहँ सुरसुरिधारा'*। गंगाजीकी धारा भक्ति है। यमुनाजीकी धारा कर्मकथा है और 'सरसई ब्रह्मविचार प्रचारा।' ब्रह्मविचार जो है, वह सरस्वतीके समान उसमें प्रवाहित होता है। देखना कभी इसमें कि आत्मा और ब्रह्मको कहीं एक माना गया है कि नहीं माना गया है?

सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा।

जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥

यह क्या है? यह आत्मा और ब्रह्मकी एकता ही तो हैं न? उसमें संसारको मिथ्या माना हुआ है कि नहीं?

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
यदपि असत्य देख दुःख अहई॥

जगत् असत्य है और यह जो ग्रन्थि है, यह सच्ची कि झूठी?

जड़ चेतन हि ग्रंथि परि गई।
यदपि मृषा छूटत कठिनई॥

यह ग्रन्थि मिथ्या है। भला बताओ, अद्वैत वेदान्तको, छोड़ करके आत्मा और ब्रह्मकी एकता, जगतकी असत्यता, चिज्जड़ग्रन्थिका मिथ्यात्व, यह भला कौन माननेवाला है दुनियामें? उपनिषद् ज्ञानको छोड़करके और कहाँ है यह बात? तो महाराज तुलसीदासजी ऐसे संसारका वर्णन करते हैं—'रज्जुमें साँपके समान'—

सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

यह बोल करके कहते हैं—

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने।
बिनु भुजंग रजु के पहिचाने॥

जेहि जाने जग जाइ हेराई।
जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई॥

सपने होइ भिखारि नृप।
रंक नाकपति होइ॥

जागे हान न लाभ कछु।
इहि प्रपञ्च जग जोइ॥

ऐसी-ऐसी बात कहते हैं कि—

योग वियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित............. ॥

देखिअ सुनिय गुनिय मन माहीं।
मोहमूल परमारथ नाहीं।

परमार्थमें है ही नहीं।

देखन लोचन अंगुलि लाये
प्रगट विकल गति सुनकर भाये।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी।
कहहिं परस्पर मिथ्यावादी।
उमा राम विशेष यह मोहा
नभ तम धूम धूलि सम सोहा।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज वास्तवमें महापुरुष हैं। वह तो जैसे शङ्कराचार्य आदि त्रैतस्मार्त महापुरुष हैं। ऐसे गोस्वामीजी भी त्रैतस्मार्त महापुरुष हैं। गणेशकी वन्दना, गुरुकी वन्दना, धर्म और उपासनाकी पूर्ण प्रतिष्ठा और अद्वैत वेदान्तमें सच्ची निष्ठा। उत्तरभारतमें तो गाँव-गाँवमें, बड़े-बड़े नगरमें, आज गोस्वामीजी महाराजका 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका'का पाठ करते हैं, उनका पवित्र स्मरण करते हैं। देखो, उन्होंने 'गीता'से कैसा मिलाया?

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

और—

संभावित कहँ अपयश लाहू।
मरण कोटि सम दारुण दाहू॥

आगे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'न केवल साधारण जनता, बल्कि ये महारथी जो भीष्म आदि हैं, वे भी तुम्हारी निन्दा करेंगे।'

भयाद्रणादुपरतं मन्स्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ 2.35

'महारथियोंके दृष्टिकोणमें तुम गिर जाओगे।' अर्जुनने युद्ध करना छोड़ दिया है। पहले तो बड़ी तारीफ करते थे। अरे! दुनियाको बदलनेमें देर नहीं लगती है। एक मिनटमें तारीफ करनेवाला निन्दा करनेवाला हो जाता है। दुनियाकी दशा आप जानते नहीं हैं? हम ऐसी युक्ति जानते हैं, कोई काम न करें हम और ऐसी बात अभी यहाँ कहना शुरु कर दें तो हमारे श्रोता कहेंगे कि— 'हटा दो, ये पागल हो गये हैं।'

बिलकुल, कोई धर्मके विपरीत काम नहीं करेंगे। लोगोंका राग संसारमें कितना होता है। जबतक उनकी वासनाके अनुसार चलें, उनकी मान्यताके अनुसार चलें। उनकी मान्यता और वासनाके विपरीत यदि आचरण करो, धर्मानुकूल होने पर भी विरोधी हो जाते हैं। तो ये बड़े-बड़े महारथी लोग कब तक तारीफ करते हैं? जबतक तुम विमुख नहीं होते हो। जहाँ युद्धके विमुख हुए कि बोलेंगे—'डरपोक है। नपुंसक हो गया था न बीचमें? इसीसे भगा है।' तो अब वे फलका लाभ भी तुममें आरोपित कर देंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ 2.36

दुश्मन क्या करेंगे? महारथी लोग तो कहेंगे कि डर गया। महारथी लोग कहेंगे—'अवाच्यवादांश्च बहून्'—जो नहीं कहना चाहिए। गाली देंगे तुमको। सीधे तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे। जिस गाण्डीवकी निन्दा करने पर तुमने युधिष्ठिरको मारनेका संकल्प कर लिया था, अब तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य, गाण्डीव सबकी निन्दा होगी। उस समय अर्जुन, तुम तिलमिला जाओगे। फिर सहन नहीं होगा तुमको। तब तुम लड़नेके लिए आजाओगे। उससे बढ़कर दुःखकी बात क्या होगी? अरे भाई! अभीसे युद्ध करो।

देखो, दोनों तरफसे लाभ है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

अरे ओ कुंतीपुत्र! मर जायगा, तो क्या होगा? स्वर्ग मिलेगा और यदि जीत लेगा तो? जीत लेगा तो पृथिवीका राज्य मिलेगा। इसलिए कौन्तेय! तुम युद्धके लिए निश्चयसम्पन्न हो करके उठो, उठो! यह स्वधर्मकी दृष्टिसे तुमको युद्ध प्राप्त हुआ है।

यह 'स्वधर्मोपनिषद्'में सात श्लोक हैं। सम्पूर्ण 'गीता'में सात सौ श्लोक हैं। इस स्वधर्मनिष्ठामें सात श्लोक हैं।

इसके बाद यह प्रश्न आया कि 'न हमको स्वर्ग चाहिए, न हमको कीर्ति चाहिए। हम तो युद्धका यह भयंकर कर्म नहीं करना चाहते हैं। बोले—'नहीं, निष्काम होकर कर्म करो।'

इस निष्काम कर्मका प्रसंग, यह—'निष्कामकर्मोपनिषद्' है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

अब निष्काम होकर कर्म करो। आजकल हमारे बाबू लोग जो हैं, वे निष्काम होकर कैसे कर्म करते हैं? दुकान पर निष्काम भावसे कर्म करते हैं। बच्चे भी निष्कामभावसे। सभा-सोसायटी? वह भी निष्कामभावसे। सन्ध्यावन्दन? सो तो निष्कामभावसे नहीं होता महाराज! तो, संध्यावन्दन निष्कामभावसे नहीं।

देखो, यह हमारी वैदिक संस्कृति है। पाँच मिनट ईश्वरके लिए। क्या मिलेगा ईश्वरका नाम लेनेसे? क्या ईश्वरका नाम कुछ मिलनेके लिए ही लिया जाय? कितनी हीनताकी बात है? वह मनुष्य कितना हीन है, जो प्रत्येक बात कुछ-न-कुछ मिलनेके लिए ही करता है! तो बच्चे पैदा होंगे निष्काम और पैसे आवेंगे निष्काम। और ईश्वरकी पूजा और सन्ध्यावन्दन? यह निष्काम नहीं हो सकते। यह तो निष्कामताका उपहास है। निष्काम कर्म कैसे करना चाहिए, इसके लिए अपेक्षित बुद्धि जो है, उसका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण आगे करते हैं, तो आगे यह निष्कामकर्म-उपनिषद् है।

●

: 30 :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

गीता 2.37-40

भगवान् श्रीकृष्णने सांख्यदृष्टिसे और धर्मदृष्टिसे भी यह बात समझायी कि—'यह शोकका अवसर नहीं है। और, यह शोकका स्थान नहीं है। तुम शोकके योग्य नहीं हो और शोकका कोई निमित्त नहीं है। तुम शोकके अनधिकारी हो। शोकका कोई निमित्त नहीं है। यह जो युद्धकी परिस्थिति है, शोकका अवसर नहीं है।'

'स्वधर्मकी दृष्टिसे भी तुम्हें अपने धर्मका पालन ही करना चाहिए। जब कभी धर्मपालनका अवसर उपस्थित हो, इस तरहसे विचार करना कि हम धर्म क्यों करें?' एक मौलिक जीव है, भला?

विचार यह करना चाहिए कि हम धर्म क्यों न करें? हमारी माँने किया, बापने किया, भाईने किया, कुटुम्बने किया; वेदमें—शास्त्रमें-पुराणमें इसका आदेश है। अब हम यदि इसका उल्लंघन करने जा रहे हैं, तो हमारे उल्लंघनका क्या कारण है? रागवश, द्वेषवश, वासनावश, कायरतावश, दूसरे डरकर, दूसरेसे प्रभावित होकर कि हम अपने धर्मका परित्याग तो नहीं करेंगे?

बाप-दादा तो श्राद्ध करते आये, अब हम नहीं करेंगे? क्यों? क्यों नहीं करेंगे? बोले—लोग हँसेंगे। लोगोंकी जो हँसी है, वह तुम्हारे धर्मत्यागका हेतु नहीं होनी चाहिए। बोले—अब तो हमने अपना पंथ बदल दिया। अब तो हम आर्यसमाजी हो गये। समाजके सभ्य बन जाना ही केवल श्राद्धके त्यागका हेतु नहीं है। हमने वैदिक धर्मको ठीक समझ लिया आर्यधर्मको ठीक समझ लिया। देखना, श्राद्धमें जब खर्च होता है न, उसके लोभसे तुम श्राद्धसे नहीं बचना चाहते हो? उसमें जो शरीरको परिश्रम होता है, उस परिश्रमसे तो नहीं बचना चाहते हो? उसमें जो तुम्हारा समय लगता है, उस समयको बचानेके लिए तो श्राद्धसे बचना चाहते हो? क्यों तुम संध्यावंदन नहीं करना चाहते हो? यह प्रश्न है।

संध्यावंदन क्यों नहीं करेंगे? यह प्रश्न नहीं है। वह तो प्राप्त है, करना ही है। क्यों नहीं करते हो? इस ढंगसे सोचोगे तो तुम देखोगे कि धर्मके उल्लंघनका कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि वह तुम्हारे मनको तो नियममें लाता है। धर्मकी चाहे कोई भी क्रिया हो, तुम्हारी वासना पर रोक लगाती है, तुम्हारे शरीरमें, जीवनमें नियम लाती है, तुम्हें कुछ त्यागका, दानका रास्ता बताती है। धर्मकी कोई भी क्रिया तुम्हारे अन्दर गुणाधान और दोषापनयन तो करती ही है, कुछ-न-कुछ दोष मिटाती ही है और गुण लाती है, तो तुम उसको छोड़ना क्यों चाहते हो?

बोले—भाई, मरने-जीनेकी बात छोड़ दो। सांख्यदृष्टिसे मरना-जीना तो है ही नहीं है। आप बोलो, मरना-जीना नहीं है, तो क्यों? धर्मकी दृष्टिसे! तो स्वर्ग और राज्यलाभ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्।

यह जो तुमने कहा सो गलत। क्योंकि न तो हमको स्वर्ग चाहिए।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 2.8

हमको देवताओंका आधिपत्य इन्द्रपद भी नहीं चाहिए और पृथिवीका निष्कंटक राज्य भी नहीं चाहिए। और जब कुछ चाहिए ही नहीं तो हमारे लिए धर्मानुष्ठान भी गौण हो गया। जिसको कुछ लोक-परलोक चाहिए वह धर्म करे। हमको तो कुछ चाहिए ही नहीं। लोक-परलोक चाहिए ही नहीं।

बोले—'बस-बस! इतनी ही तो बात है।' जिसको लोक-परलोक नहीं

चाहिए, उसके लिए तो धर्मके उल्लंघनका कोई प्रश्न ही नहीं है। कुछ नहीं चाहिए तो कुछ-न-कुछ करना चाहिए न? जो प्राप्त कर्तव्य है, वह करना चाहिए।

अब भगवान्ने बताया कि जैसे संध्यावन्दन धर्म होनेके कारण निष्कामभावसे प्रतिदिन किया जाता है, मनुष्यके जीवनमें सन्ध्यावन्दन निष्काम कर्म है। इससे न राज्य मिलता है। तो इसका अनुष्ठान रोज किया जाता है। ठीक इसी प्रकार हमें निष्काम-कर्म करना चाहिए, ऐसी संगति लगाते हैं।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

यह 'युद्धयोग' का वर्णन है। 'युद्धाय युज्यस्व'=युद्धके लिए जुड़ जाओ माने युद्धके लिए योग करो। 'युद्ध करो' माने हँसी आवेगी कि यह युद्धका योग है? इसमें न प्राणायाम न प्रत्याहार, न धारणा न ध्यान!! यह क्या योग है? युद्धाय युज्यस्व। युज्यस्व=योग करो। युद्धके साथ योग करो। युद्धाय युज्यस्वका अर्थ है, युद्धके साथ-युद्धसे योग करो। विचित्र! इसे विचित्र कहते हैं। जब तुमने 'विषादका योग' मान लिया, 'विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय:।' विषाद्के साथ योग जुड़े और युद्धके साथ योग न जुड़े? असलमें यो[illegible] तो युद्ध होता ही है।

मनमें जो काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है, उसका नाश करके शान्ति-दान्ति-उपरति तितिक्षा आदिको हृदयमें स्थापित करना, यह तो योग है। तो भाई—युद्धाय युज्यस्व। युद्धरूप योग करो। श्रीकृष्ण युद्धको क्यों योग बता रहे हैं? यही तो कर्मयोग है क्या? जब युद्ध योग हो जायगा तो कर्मयोग हो जायगा। फिर तो दानयोग, व्रतयोग, तपोयोग, त्यागयोग—ये सब योग हो जायँ और मनुष्य युद्धयोगको समझ जाय।

युद्धयोगको कैसे समझोगे? देखो, इसमें तीन बात कही है—ये तीन द्वन्द्व हैं, तीन विघ्न हैं। (1) सुखदु:खे समे कृत्वा। (2) लाभालाभौ समे कृत्वा (3) जयाजयो समे कृत्वा। ये तीनों फलात्मक हैं और परस्पर इनका कार्य-कारणभाव है। सुख-दु:ख होगा, कैसे होगा? लाभ-अलाभसे होगा। राज्यके लाभसे सुख होगा और राज्यके अलाभसे दु:ख होगा और लाभ कैसे

होगा? जयसे लाभ होगा और पराजयसे अलाभ। लाभसे सुख और अलाभसे दुःख। इन तीनोंमें कार्य-कारणभाव है।

हमारे संस्कृतके पण्डित बोलते हैं कि 'आधा अक्षर यदि कम बोला जाय, तो व्याकरणके पण्डितको पुत्रजन्मोत्सवके सुखकी प्राप्ति होती है।' इतना सोच-विचार करके एक-एक अक्षर, आधा-आधा मात्राका प्रयोग करनेवाले—

अर्धमात्रालाभेन पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणाः।

माने व्याकरणके पण्डित, वैयाकरण लोग अर्धमात्राका यदि लाभ हो तो पुत्रोत्सव मानते हैं।

सुखदुःख समे कृत्वा—पहली बात तो यह है कि सुख और दुःखको समान कर लो। सुखाकारवृत्ति और दुःखाकारवृत्ति दोनों चित्तकी वृत्ति हैं और वे अहंकारके आश्रित रहती हैं। असंग दृष्टा जो अविनाशी आत्मा है, इसके साथ दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे जाग्रतवृत्ति और सुषुप्तिवृत्ति दोनों अन्तःकरणमें होती है और साक्षी-साक्षी ही है। तो एक आधारमें, अन्तःकरणरूप आधारमें होनेके कारण, आत्मामें अन्तःकरण अध्यस्त है। इसलिए मिथ्या है, मिथ्या है इसलिए दृश्य है, दृश्य है इसलिए अनात्मा है, अनात्मा है, दृश्य है इसलिए मायिक है। इसलिए ईश्वरकी सृष्टि है। इसलिए चाहे इसमें सुखाकारकी प्रतीति होवे, चाहे दुःखाकारकी प्रतीति होवे, दोनों समान ही हैं। रंगनाटक।

रंगमंचपर नाटक है। रंगमंचपर नौटंकी चाहे मृत्यु हो चाहे विवाह हो, दोनों समान है कि नहीं? नहीं? जैसे वहाँका विवाह न नटका सच्चा विवाह है और वहाँकी मृत्यु न सच्ची मृत्यु है। इसलिए सुख-दुःख दोनों समान। यह जो संसार अधिष्ठान है, अधिष्ठान-साक्षी सच भी वही है और प्रकाश भी वही है। इसमें जो ये तसवीरे दिखायी जा रही हैं, संसारकी, ये बिलकुल बराबर। सिनेमामें जो पर्दा होता है, उसको अधिष्ठान बोलेंगे और जो उसपर रोशनी पड़ती है, वह रोशनी सजीव होती है, निर्जीव नहीं होती। सजीव रोशनी होती है, इसलिए उसमें-से तसवीरे निकलती हैं। उसमें तसवीरें भरी हुई हैं। तसवीरोंके संस्कार हैं। तो संस्कारयुक्त जो आभास चेतन है, वह अधिष्ठानके पर्देपर तरह-तरहकी तसवीर दिखा रहा है।

पर्देकी निर्लेपताको देखो, उस प्रकाशको देखो, जिसमें कोई तसवीर भरी जा सकती है। यदि पर्दा और प्रकाश दोनों एक हैं, तब तो कहना ही क्या है? जहाँ प्रकाश और पर्दा दोनों एक वहाँ ब्रह्म। जहाँ प्रकाशरूप चेतनके साथ संस्कार जुड़े हुए हैं, वहाँ आभास-चेतन और जहाँ जिस अधिष्ठान ब्रह्ममें उस पर्देपर भी कुछ संस्कार किये हुए हैं, जिससे तसवीर दिखे और अगर उसमें कुछ स्वच्छता, कुछ सफाई, कुछ लेप ऐसा नहीं होता तो चेतनको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करता। मायासे युक्त पर्दा और अविद्यासे युक्त प्रकाश तो संस्कारसे युक्त कर्तापन-भोक्तापनसे युक्त प्रकाश। यह जो मायायुक्त प्रकाश है, माने संस्कारयुक्त प्रकाश है वह मायायुक्त पर्देपर तसवीरें दिखा जा रहा है और यदि माया और अविद्या मिटायी जाय तो प्रकाश और सत्य दोनों दो नहीं हैं, एक हैं।

सुख-दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

लाभ-अलाभ, राज्यलाभ-अलाभ—यह अवान्तर फल है और जयाजयौ—यह बाह्यफल है। युद्धका बाह्यफल है जय और पराजय और जय-पराजयका अवान्तर फल है राज्यलाभ और राज्यकी हानि। लाभ और हानिका अन्तिम फल है सुख और दु:ख।

ये फलकी तीन कक्षा है। इनको समान बना लो। चाहे अन्त:करणमें सुख हो कि दु:ख और चाहे राज्यका लाभ हो कि हानि और चाहे जय हो कि पराजय।

ततो युद्धाय युज्यस्व—जब सम कर लो तो समय करके अपने हृदयमें समताको बैठा लो। सांख्य आधिभौतिक दृष्टिसे जन्म-मरण समान है। जन्म-पुनर्जन्मकी दृष्टिसे भी जन्म-मरण समान है और ईश्वरसृष्टिकी दृष्टिसे भी मनुष्य पैदा हुआ, पशु पैदा हुआ, पक्षी पैदा हुआ, स्त्री-पुरुष पैदा हुए, बने और बिगड़े। ईश्वरसृष्टिकी दृष्टिसे भी समान हैं, मायाकी दृष्टिसे भी समान है, दृश्य-अनात्माकी मिथ्यादृष्टिसे भी समान है और अधिष्ठानकी दृष्टिसे भी समान है। पर भगवान् कहते है कि 'कर लो इसको समान।'

कहाँ समान किया जायगा? कुरुक्षेत्रकी भूमिमें समान किया जायगा कि बाण चलानेमें समान किया जायगा? समत्व बुद्धिमें समान किया जायगा। समत्व जो होता है, वह बुद्धिमें होता है, तो बोले कि—'नाक और पाँव दोनोंको समान कर लो। तो कैसे समान होंगे?'

बोले—'भाई! नाखून और आँखकी पुतली दोनोंको समान कर लो।' तो कैसे समान होंगे? तत्त्वदृष्टिसे समान होंगे। आँखसे देखा जायगा और नाखूनसे चावलके छिलकेको अलग किया जायगा। तत्त्वदृष्टिसे दोनों समान हैं, कार्यदृष्टिसे दोनों जुदा हैं। तो बुद्धिमें समानताको बैठाया जायगा। और बुद्धिमें समानताको बैठानेके लिए मशीन तो नहीं चलाया जायगा?

एक ऐसी मशीन बना लो जिससे समानता आ जाय। बुद्धिको गढ़नेकी मशीन संग या भोग नहीं बनाते हैं, सत्संग बनाता है। बुद्धिको किधर झुकाना और किधर नहीं झुकाना? जैसा संग करोगे वैसा रंग चढ़ेगा। शराबियोंका संग करोगे तो शराब पीने लग जाओगे। और, भगवद्भक्तोंका संग करोगे तो भक्ति करने लगोगे।

सत्संगका रंग, गुरुका अंग, और चिन्तन अभंग।

तो इस जीवनमें सत्संगका रंग चढ़े तभी इस बुद्धिमें समता आवेगी। क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर दिया। क्लोरोफार्म सुँघानेवाली समता काम नहीं देगी। बेहोशीमें रहनेवाली समता बहुत काम देगी। नहीं, बेहोशीमें नहीं, होशमें रहनेवाली समता काम देगी।

युद्धाय युज्यस्व—अब देखो, राज्यलाभका, स्वर्गलाभका प्रश्न छूट गया। इसका मतलब यह है कि—'रागद्वेषौ त्यक्त्वा'—तो ये तीन विधान, तीन द्वन्द्व जो हैं, इनके त्यागका मतलब—एक शब्दमें क्या है? सुखमें, जयमें और लाभमें राग होता है और दुःखमें अलाभमें और पराजयमें द्वेष होता है। तो ये तीन युगोंमें रहनेवाला जो राग-द्वेष, इनको छोड़ दो। राग-द्वेष छोड़ देनेका अर्थ धर्मका उल्लंघन नहीं होता। राग-द्वेष छोड़कर धर्मानुष्ठान करो। तब क्या हो जायगा?

तब तो '**युद्धाय युज्यस्व**'—युद्ध भी योग हो जायगा। युद्धको योग बनानेकी यही प्रणाली है कि उसमें-से राग-द्वेष निकल जाय। कर्म तो करो, लेकिन कर्ममें राग-द्वेष न हो। कर्म-फलमें राग-द्वेष न हो। कर्मके अन्तःकरणमें राग-द्वेष न हो। एक गिलास पानी लेकर बैठें कि सन्ध्यावन्दन करेंगे। अब वह किसीको छू गया, किसीका पाँव लग गया। बड़ी मर्यादामें रहनेवाले! तो पानीमें तो लग गया किसीका पाँव। बहुत बढ़िया था कि वह पानी गिरा लेते। थोड़ा श्रम करके गिलास माँज लेते और दूसरा पानी ले लेते।

तो यह क्या होता? इसका नाम भी सत्कर्म होता। ग्लासको फिरसे माँजना, फिर उसमें पानी लेना, यह क्या है? यह सत्कर्म है।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते। 17.27

सन्ध्यावन्दन करनेके लिए, यज्ञके लिए जो तैयारीका काम किया जाता है, उसका नाम भी सत् है।

'गीता'में जहाँ—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। 17.23

'सत्' शब्दकी व्याख्या की है, एक और सत्कर्म करनेका तुमको मौका मिल गया। तुम जो एक ही बार गिलास माँजकर एक ही बार पानी लेकर काम चला रहे थे, अब दो बार लेनेका मौका मिला, क्या बढ़िया! आपको उस सन्तका नाम मालूम होगा, इसी महाराष्ट्रके सन्त थे, जिनके ऊपर एकने सौ बारसे ज्यादा थूँक दिया। सन्तने सौ बारसे ज्यादा स्नान किया। जब वह क्षमा माँगने लगा तब वे बोले कि—'तुमने तो हमारे ऊपर ऊपकार किया। तुम्हारी वजहसे हमको सौ बार नहानेका मौका मिला।' सौ बार गंगा-स्नान किया। क्या आनन्द मिला उनको! उन 'एकनाथजी महाराज'का पवित्र स्मरण करो! यह संतका जीवन।

तुम्हारे एक ग्लासका पानी किसीके पाँवको छू गया और तुमने उठाकर ग्लास पटक दिया, और चार गाली पानी गिरानेवालेको दे दी। तो पहले तो गिलासका पानी अपवित्र हुआ था, अब गिलास पटक दिया तो हाथ अपवित्र हुआ और गाली दी तो जबान अपवित्र हुई। और गाली देनेके लिए मनमें जो दोष आया, तो मन भी गंदा हो गया और उसी मनको तुमने अपना बनाकर छातीसे चिपकाकर रखा कि—'यह मेरा!' इसलिए तुमने अपने आपको भी गंदा कर लिया। तो, यह काम करनेका कोई तरीका नहीं है कि ग्लास गंदा हो तो उसके साथ अपने दिलको भी गंदाकर दिया जाय कि भाई ऐसा हो गया तो लो और भी सही। यह कोई काम करनेकी प्रणाली नहीं है। यह सीखनेकी चीज है। यहाँ दुनियाँकी बाहरी चीजके लिए जो दिलको गंदा बनाता है, उसको समझदार तो किसी भी हालतमें नहीं कहा जा सकता।

एक आदमीके दरवाजेपर कोई कूड़ा डाल गया था। अब वह आदमी कहीं बाहर गया था। लौटकर आया। उसने देखा कि हमारे दरवाजेपर किसीने

कूड़ा डाल दिया है, तो उसने कहा कि पुलिसको भी दिखाना पड़ेगा, उसको भी उलाहना देना पड़ेगा, लड़ाई करनी पड़ेगी, तो पहले तो इसका फोटो ले लो और उसके बाद कूड़ेको घरमें ले आओ कि सारे मुहल्लेको दिखावेंगे कि यह कूड़ा ये हमारे दरवाजेपर डाल गये थे। तो दरवाजा गंदा पहले हुआ, और बाहरका कैमरा गंदा किया, अपने घरकी कोठरीमें वह कूड़ा रखा गया और दिलका कैमरा जो है, वह उसका फोटो लेते-लेते और गंदा हो गया। यह कोई बुद्धिमानीका काम है? राग-द्वेषको छोड़ना माने दिलपर कोई रंग न चढ़ना।

रंग न चढ़ने पावे; न लाल-न काला। द्वेषका रंग काला और रागका रंग लाल। कई लोगोंका तो मुँह काला नहीं होता है, तो जानबूझकर काला बनाते हैं। कई लोगोंका मुँह ईश्वरकृपासे लाल भी नहीं होता है, तो जानबूझकर ही लाल बनाते हैं। ईश्वरकृपासे शास्त्रमें लाल मुँहवालेका बहुत वर्णन है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। रागद्वेष छोड़ो, रागद्वेष छोड़ो। यह बड़ा भारी शत्रु है। **ततो युद्धाय युज्यस्व**—लड़ाई बाहर नहीं, लड़ाई तो असलमें भीतर घुसी हुई है। बाहर लड़ाई कब तक? जबतक भीतर उसने पाँव जमा रखा है। तब? रागद्वेषको दूर कर दोगे—'युद्धाय युज्यस्व'—योग करो युद्ध करो।

मैंने कई बार आपको सुनाया......

रागोपहतिर्ध्यानम्।

कुछ भी देखो, जहाँ मधु वहाँ कैटभ। कभी भी राग न होवे और यह तो सहचरित है न? जहाँ मधु वहाँ कैटभ। जहाँ सुख वहाँ दुःख। जहाँ राग वहाँ द्वेष। ये तो सहचरित हैं। अगर दुनियामें तुम्हें राग-द्वेष न हों, सब देखते रहो, जैसे मरीनड्राइव पर खड़े हो जाते हैं, और जितने रंग वहाँसे गुजरते हैं, कंगाल, भिखमंगे भी वहाँसे गुजरते हैं और धनाढ्य भी गुजरते हैं। सुन्दर भी गुजरते हैं और कुरूप भी गुजरते हैं, लेकिन उन गुजरनेवालोंके प्रति तुम्हारे मनमें रागद्वेष कहाँ रहता है? तो जैसे लोग गुजरते हैं, वैसे काम भी गुजरते हैं, अच्छे-बुरे, वैसे भाव भी गुजरते हैं अच्छे-बुरे, तो इसमें जो अभिमान, भ्रान्ति है उसको मिटानेके लिए तुम्हें योग्य अवसरकी प्राप्ति हो जायगी।

यदि तुमने द्वेषको मिटाया तो अभिमान मिटानेका अवसर भी तुम्हारे

जीवनमें आवेगा। और यदि राग-द्वेष नहीं मिटाया, तो अभिमान मिटानेका अवसर तुमको जीवनमें प्राप्त नहीं होगा। हिंसक बन जायेंगे, हिंसक।

'नैवं पापमवाप्स्यसि'—'पाप' शब्दका अर्थ अविद्यापर्यन्त होता है। द्वन्द्व जो है न, एक चीज पर दूसरी चीज चिपक जाय और उसकी असलियतको जाहिर होनेमें बाधा डाले, ऐसी पालिश कर दी कि सोना-सोना समझा न जा सके, लोगोंको सोना जाननेमें बाधा डाले, ऐसी चीज लगा दी गयी सोनेके ऊपर। क्या है? कि सोनेपर काछ लग गया है। यह क्या है? पापरूप प्रतिबन्ध। यह पापरूप जो प्रतिबन्ध है, लौकिकपाप। यहाँ पाप शब्दका अर्थ सुखदायी, दुःखदायी, जयदायी, पराजयदायी, लाभदायी, हानिदायी—कर्म मात्रसे ही यहाँ 'पाप' शब्दका अर्थ है। प्रतिबन्धक कर्ममात्र ही यहाँ पाप कहा गया है। तो इसको छुड़ानेका उपाय क्या है? बुद्धियोग।

मनको राग-द्वेषसे बचाना, यह सांख्यदर्शनका योग है और एक लक्ष्यमें लगाना, यह योगदर्शनका योग है। प्रकृतिसे दृश्य कैसे बनता है? यह बतानेमें सांख्यदर्शन चरितार्थ है। एक प्रकृति, एक कारणसे नानात्व कैसे यह सांख्य बताती है। साधन क्या है और 'त्वं' पदार्थ=दृष्टा बतानेमें योगदर्शनकी सार्थकता है और प्रपञ्चका अभिन्न-निमित्तोपादान प्रकृति नहीं है, ईश्वर है और ईश्वरका स्वरूप है। 'तत्' पदार्थके शोधनमें भक्तिदर्शनका तात्पर्य है। भक्तिदर्शनका साधन 'तत्' पदार्थ और 'तत्' पदार्थका साधन भक्ति है। उसको हम कर लें। शाण्डिल्यदर्शन भक्तिदर्शनका तात्पर्य है।

'त्वं' पदार्थ क्या है? उसकी उपलब्धिका साधन क्या है? यह बतानेमें वेदान्तदर्शनका अभिप्राय है। तो यदि साध्य-साधनभावकी दृष्टिसे तीनोंके सिद्धान्तको नहीं समझोगे, तो वेदान्तका सच्चा अर्थ समझनेमें थोड़ी गड़बड़ी पड़ेगी।

अब आओ, वेदान्तमें भी दो विभाग—

ध्यानम् निर्विषयं मनः।

प्रपञ्चको हटा देना, यह वेदान्तकी एक पद्धति है। प्रपञ्चको छोड़ देना और हम तो अपने स्वरूपमें बैठे हैं और मन? शान्त! शान्ति हो गयी, बाबा! खत्म हो गया। रूप-रूपमें रहे, आँख-आँखमें रहे, मन जो है वह कोई संकल्प न करे, सारी वासनाएँ शान्त हैं, यह एक पद्धति। और दूसरी पद्धति

है—'विजातीय-प्रत्ययतिरस्कारपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहीकरण।' माने आत्माकारवृत्ति।

अब इनका विभाग आप करो तब मजा आवेगा। मनको निर्विषय बनाना, यह बहिरंग साधन है। इसमें शमदमादि सम्पत्ति जो है, यह भीतर आवेगी और राग-द्वेष आदि जो है, विजातीय प्रत्ययका चिन्तन निवृत्त होगा। और सजातीय प्रत्यय प्रवाहीकरण जो है, आत्माकार वृत्ति, वह आत्माकारवृत्ति जो है वह महा-वाक्य द्वारा होनेवाले अखण्डार्थ वृत्तिमें मददगार है। दोष निवृत्तिमें मददगार है।

ध्यानं निर्विषयं मनः—दोषको मिटाना और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो अखण्डार्थधी है उसकी उत्पत्तिमें सहायक है, सजातीयवृत्तिप्रवाह निदिध्यासन। निदिध्यासन अन्तरंग साधन है आत्माके साक्षात्कारका, सन्निकट होनेके कारण। और '**ध्यानं निर्विषयं मनः**'—शमदमादि सम्पत्तिमें होती है। इसलिए वे बहिरंग साधनके अनुकूल हैं। तो वेदान्तियोंमें ये दो प्रकारके ध्यान प्रचलित हैं—एक समाधानका हेतु है और दूसरा साक्षात्कारका हेतु है। यह प्रणाली है, यह विवेकपूर्वक होता है।

अब श्रीकृष्ण भगवान् आगे विभाग बताते हैं—'युद्धाय युज्यस्व'में सांख्ययोग विभागोंका प्रारम्भ होता है, यह है 'योगमहिमोपनिषद्।' उसमें निष्कामताका बीज डाल दिया, उपक्रम कर दिया। उपक्रम क्यों कर दिया? अगले श्लोकमें बताते हैं सांख्य और योग। सांख्य माने होता है ज्ञान। सम्यक् ख्यायते अनया इति संख्या। सम्यक् माने भलीभाँति और ख्या माने ख्याति माने जाहिर करना। जिसके द्वारा तत्त्व भलीभाँति जाहिर हो जाता है, उसका नाम है संख्या, तत् सम्बन्धी, जो विद्या, योग है उसका नाम है सांख्य माने तत्त्वज्ञापक योग। तत्त्वज्ञान कराकर अविद्याका नाश करानेवाला सांख्ययोग है, सांख्य। और योग क्या है? योग जो है, वह साधन है। साधन है माने इसी सांख्यको प्राप्त करनेके लिए हमें पहले किस साधनका अनुष्ठान करना चाहिए यह बताना। 'योग' शब्दका अर्थ ही आप यह ले लें कि '*विद्यते अनेन इति योगः*'=जिससे मनुष्य योग्य हो जाता है, अधिकारी हो जाता है, इसका नाम योग है। पहलेसे ही योग शब्दका अर्थ उपाय समझ लो। उपाय—किसीको सुखकी प्राप्ति कब होती है? इनसे मिलेगा तब होगी। तो मिलना हुआ उपाय और जिसकी जो उपलब्धि है न, उसका हुआ साक्षात्कार।

अब थोड़ा दोनोंमें भेद बताते हैं। भेद क्या है? लक्ष्यमें भेद न होने पर भी साधनमें भेद होता है। कम-से-कम वैदिक संस्कृति जो है, हिन्दूधर्म जिसको बोलते हैं; पहले तो हम 'संस्कृति' शब्द जानते ही नहीं थे। अगर 25-30 वर्ष पहलेकी बात सुनावें, तो हम संस्कृतिके नामसे कुछ नहीं जानते थे। वह तो सुनते हैं कि अंग्रेजी भाषामें कोई कल्चर (Culture) शब्द है और लोगोंने जब अंग्रेजी भाषामें बहुत अध्ययन किया, तो हिन्दीमें इसी शब्दके लिए 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

वैदिकधर्ममें 'अमुक अधिकारी इसका है', 'अमुक अधिकारी इसका है'—इनके साथ ये सारी बातें जुड़ती थीं। तो 'संस्कृति' शब्द ऐसा निकाला गया कि जिसमें अधिकारी-अनधिकारीका कोई प्रश्न न उठे। समान रूपसे सबके लिए बात कही जा सके, अधिकार-अनधिकारका कोई प्रश्न न उठे। वैदिक-अवैदिकका कोई प्रश्न न उठे। इसलिए 'संस्कृति' शब्द आया। अच्छा, यह भी बहुत बढ़िया! हमारे संस्कारका पर्यायवाची है। जैसे आकारसे आकृति। प्रकारकी प्रकृति, विकारकी विकृति और संस्कारकी संस्कृति ऐसे समझो।

संस्कारसे संस्कृति, विकारसे विकृति, प्रकारसे प्रकृति और आकारसे आकृति। एक घरवाला और एक घरवाली दोनों जो है न? यह द्वन्द्व जो है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी संस्कृति जो मार्क्सवादी चलती है, इसी द्वन्द्वात्मक संस्कृतिका यह भी एक विभाग है। अच्छा, अब देखो, विवेककी दृष्टिसे यह वर्णन है।

योग जो है, उसके मूलमें श्रद्धा होती है। और सांख्यके मूलमें प्रमाण होता है। 'इससे हमको समाधि मिलेगी, इससे हमको ईश्वर मिलेगा'—एक कामको श्रद्धा करके करना, यह योगकी मूल प्रेरणा है—'इससे हमको ईश्वर मिलेगा, समाधि मिलेगी'—अभी मिला नहीं है, इसके मिलने पर श्रद्धा रखते हैं और श्रद्धा रखकर साधनका अभ्यास करते हैं। इसका नाम है योग। और, सांख्य क्या होता है?

आँखसे देखते जाओ, बुद्धिसे विचार करते जाओ, जितना-जितना प्रमाणसे समझकर मालूम पड़ता जायगा, उतना-उतना अनुभव करते चलो। अनदेखी बातको मान मत लो। तो खोज, अनुसंधान, प्रमाण यह सांख्यकी मौलिक प्रेरणा है।

सांख्यकी मौलिक प्रेरणा है अनुसंधान, खोज, शोध। आजकल तो 'शोध' शब्द चलता है। माने जब हम सायंन्समें तत्त्वोंकी खोज करते हैं, तो जितनी-जितनी उपलब्धि होती जाती है, उतना-उतना स्वीकार करते जाते हैं। प्रमाणमूलक प्रवृत्तिका नाम सांख्य है और श्रद्धामूलक प्रवृत्तिका नाम योग है। इतना ही नहीं समझ लेना कि बस, हो गया। इतना ही नहीं।

अब जो श्रद्धामूलक प्रवृत्ति होती है, उसमें कर्मेन्द्रिय-कर्मकी प्रधानता होती है, करना पड़ता है, भला! खोजमूलक जो प्रवृत्ति होती है, उसमें ज्ञानेन्द्रियकी प्रधानता होती है जानना पड़ता है। कर्म और ज्ञान—हमारे शरीरके दो विभाग हैं, कर्मेन्द्रिय प्रधान शरीर और ज्ञानेन्द्रियप्रधान शरीर। ज्ञानेन्द्रियको प्रमाण बोलते हैं और कर्मेन्द्रिय जो है, कर्मका साधन है।

अब देखो, तीसरी बात ले लो। तीसरी बात क्या है? कर्तापन, ज्ञातापन और भोक्तापन। कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे कर्तापन, ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे ज्ञातापन और मनकी उपाधिसे भोक्तापन। भोग जो है, इनमें इन्द्रियाँ साधन तो हैं, परन्तु भोग मनमें ही होता है। सुख-दुःख जो है वह मनमें होता है। अब देखो, इन तीनों उपाधियोंमें चेतन एक है। खोज जो होती है, वह अभिमानकी स्थापना नहीं करती है। योग अभिमानकी स्थापना करता है। तो चाहे भोगका कर्तृत्व हो,(भोक्तृत्व हो), ये तीनों कर्तापन माने अभिमानके आधार पर चलते हैं। 'मैंने यह काम बहुत अच्छा किया'—'यह खोज मैंने बहुत बढ़िया की।' अब देखो, ज्ञानकी प्रणाली क्या है?

कर्तृत्वपूर्वक जो कर्म किया जाता है, शारीरिक—उसको बोलते हैं धर्म। कर्तृत्वपूर्वक जो शरीरसे साधन किया जाता है, उसका नाम धर्म है। बहिरंग साधन है यह। कर्तृत्वपूर्वक, जो अंतरंग साधन किया जाता है, उसके दो भेद है—'तत्' पदार्थके लिए किया जाय तो भक्ति और 'त्वं' पदार्थके लिए किया जाय तो योग। अच्छा, अध्यात्मकी उपलब्धिके लिए होवे तो उपासना। ये दोनों कर्तृत्वपूर्वक होते हैं।

ज्ञान जो होता है वह तो कहता है कि हम कर्ता हैं कि नहीं? इसीमें संशय उत्पन्न कर देता है। तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्व ये आत्माका सहज धर्म है कि नहीं? अब इसपर विचार होने लगा। इस पर अनुसंधान जुड़ा। इसपर खोज होने लगी। प्रमाणके द्वारा इसका अनुसंधान करने लगे। सुषुप्तिका

मैं कर्ता नहीं; साँस चलनेका मैं कर्ता नहीं, नाड़ी चलनेका मैं कर्ता नहीं, शासन चलनेका मैं कर्ता नहीं, शरीरमें जो बाल बढ़ते हैं उसका मैं कर्ता नहीं, शरीरमें जो नाखून बढ़ते हैं, उसका मैं कर्ता नहीं। तो ये जो हाथसे काम होता है, पाँवसे काम होता है, इसमें हमारा कर्तापन वास्तविक है कि नहीं? खोज इसको भी अपना विषय बनाता है।

श्रद्धामूलक जो खोज होते हैं, वह कर्ताको खोजका विषय नहीं बनाते हैं। वे शुद्ध चेतनको खोजका विषय नहीं बनाते हैं। विशिष्ट चेतनमें उपहित चेतनमें अभिमानको स्थापित करनेवाले होते हैं। यह सांख्य और योगका भेद-समझो।

अच्छा, योगमें आवृत्ति होती है। अब गिनती हमको नहीं आती है। तुम कर लेना। हमारे सेठ लोग गिनतीमें इतने निपुण होते हैं कि मैंने सोचा कि मैं तो कभी इतनी गिनती कर ही नहीं सकता। तो अच्छा, अब गिनती इनको कर लेने दो।

कर्तृत्वमूलक, श्रद्धामूलक अंतरंग-बहिरंग कर्मरूप साधना होती है। बहिरंग कर्मका नाम धर्म है और आभ्यंतर कर्मका नाम उपासना। अब उसमें भी आधिदैविक पर श्रद्धा करके जो होती है, उसे 'प्रतीक उपासना' बोलते हैं। अहं पर माने 'अहं ब्रह्मास्मि' पर श्रद्धा रखकर जो साधना होती है, उसे 'अहंग्रह उपासना' बोलते हैं। वह भी दोनों उपासनाएँ ही हैं। उसमें वृत्तिकी आवृत्ति होती है। वृत्तिकी जो शान्ति होती है, वह ज्यादा अन्तरंग है। योगमें वृत्तिकी सम्पूर्ण शान्ति। उपासनामें आध्यात्मिक अहं अथवा आधिदैविक अहं ईश्वर, ये दोनों विषय होते हैं उपासनामें। योगमें इनकी विषयताको छोड़कर वृत्तिको शान्त किया जाता है।

तो देखो, बहिरंग साधन धर्म, अन्तरंग साधन उपासना और निवृत्तिक साधना योग और इनमें-से ज्ञान कौन-सा? इनमेंसे ज्ञान कोई नहीं, ये ज्ञानके साधन हैं। ये ज्ञान नहीं हैं। तो आवृत्तिरूप जितनी साधना होती है, जहाँ दुहराना पड़ता है—दुहराना माने मानी हुई बातको मान करके बार-बार बैठाना। यह असलमें भावना ही है। कई लोग भावनाको ही ज्ञान मान बैठते हैं। या भावनासे ही कल्पित मान बैठते हैं। कर्तृत्वपूर्वक जो आवृत्ति की जाती है, वह असलमें एक प्रकारकी उपासना और भावना है। तत्त्वसाक्षात्कारमें

आवृत्ति नहीं होती। जहाँ साक्षात्कार हुआ, वहाँ अविद्याकी निवृत्ति हो गयी! और अविद्याकी निवृत्ति होनेपर कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रहा। कृतकृत्य हो गये, प्राप्तप्राप्तव्य हो गये, ज्ञातज्ञातव्य हो गये, त्यक्तत्यक्तव्य हो गये अद्वितीय हो गये। अब कहीं साधनके साथ, योगके साथ सम्बन्ध नहीं रहा। यह अद्वितीय आत्मज्ञान, अद्वितीय ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान, यह सम्पूर्ण साधन-साध्यको मिटानेवाला है।

अब देखो, फिर एक बात ध्यानमें रख लो। आवृत्ति जो है वह गाढ़ी होकर साध्याकार हो जाती है। गाढ़ी हो करके माने 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' जप करो, और यह 'कृष्ण-कृष्ण' के ध्यानका अभ्यास करो। तो कृष्णाकार वृत्ति ऐसी हो जायगी कि कृष्णका सत्यदर्शन होने लगेगा। तो साध्यकी प्राप्ति जो है, मनपसन्द ईश्वरकी प्राप्ति, कृष्णकी, रामकी, निराकारकी, समाधिकी—यह होगी आवृत्तिके द्वारा। एक फलात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है और फलात्मकवृत्तिके रूपमें वही अभ्यस्त जो वस्तु है, वही दर्शन देती है।

तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होकर कोई फलात्मकवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। सिद्धवस्तुका साक्षात्कार होता है। साध्यवस्तुकी उपलब्धि होती है—उपासनासे, योगसे, धर्मसे। धर्मसे धर्मरूप साध्यकी प्राप्ति होती है। उपासनासे इष्टदेवरूप साध्यकी प्राप्ति होती है। आत्माकार वृत्ति, अहंग्रह उपासनासे 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकार वृत्ति स्थिर होती है। आवृत्ति काट देनेसे योगाभ्याससे समाधिरूप वृत्ति स्थिर होती है। परन्तु परिच्छिन्नताको काटनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है।

परिच्छिन्नताको काटनेका सामर्थ्य जो उत्पन्न होता है, वह 'तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य' जो एक वृत्ति है, वह अविद्याकी निवृत्तिमें समर्थ है। और अविद्याकी निवृत्तिके साथ-साथ स्वयं भी निवृत्त, बाधित हो जाती है। इतना वृत्तिमें सामर्थ्य है। सिद्धवस्तुका साक्षात्कार और अविद्याकी निवृत्ति यह प्रमाणका फल है, अभेदका फल है और साध्यमें जो स्थिति है, वह अभ्यासका उपासनाका, योगका, धर्मका साध्यकी प्राप्तिका फल है। सिद्धका साक्षात्कार हो जानेपर जीवन्मुक्ति आ जाना, अब फिर वृत्ति बनानेकी जरूरत नहीं। काशी है, चाण्डालका घर है, तीर्थ है, मुँहसे हाय-हाय कर रहा है, शरीरसे छटपटा रहा है, और मन चाहे बेहोश हो गया है, मनसे पागल हो गया

है, परन्तु वहाँ मुक्तिमें कोई संदेह नहीं है। और जहाँ अभ्यास, उपासना या योगसे जन्यवृत्ति होती है वहाँ आप्राणान्त-मृत्युपर्यन्त इस वृत्तिको बनाये रखना होता है। उसमें सद्योमुक्ति न हो करके क्रममुक्ति होती है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है।

अब तो सांख्य और योग प्रेरणाकी दृष्टिसे साधनाकी दृष्टिसे, अभिमानकी दृष्टिसे आवृत्तिकी दृष्टिसे, फलकी दृष्टिसे बिलकुल जुदा-जुदा हो गये। 'गीता' यह बताती है कि अन्तःकरणकी शुद्धि जो है, यह साध्य है। इसलिए योगका फल है साध्यरूपा अन्तःकरण शुद्धिकी प्राप्ति और सांख्यका फल है तत्त्वसाक्षात्कार हो करके अविद्याकी निवृत्ति। इसलिए योगरूप जो उपाय है, यह सांख्यकी उपलब्धिमें, सांख्यके साक्षात्कारमें साधन है। इसलिए—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वांत्मशुद्धये। 5.11

यह बात भगवान्ने कही। तो अब—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। 2.39

'अस्ति' पद जो है, यह सांख्यसे अलग और योगसे अलग कर देता है। इसलिए योग साधन है और सांख्य प्रमाण है। यह प्रक्रिया है।

●

: 31 :

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

गीता 2.39-41

'नासतो विद्यते भाव:' (2.16)—यह सब परमार्थवृत्तिकी दृष्टिसे समझाया। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुर्हसि'(2.31)—यह लौकिक दृष्टिके अनुसार समझाया। तो जहाँतक ज्ञानसे शोकनिवृत्तिका प्रसंग है, उसका नाम है 'सांख्यबुद्धि।' ऐसी समझदारी, संख्या, आत्मानात्मविज्ञान जिसमें शोक न हो। उसका नाम 'सांख्यबुद्धि'। अब योगबुद्धिका उपदेश कर रहे हैं—

योगेत्विमां शृणु।

योगे तु इमां बुद्धिं शृणु। सांख्ये ते तुभ्यं एषा बुद्धि अभिहिता।

सांख्यके सम्बन्धमें माने सांख्यके द्वारा, सम्यक् ख्यातिके द्वारा-सत् ख्याति, असत् ख्याति, सदसत् ख्यातिका नाम न लेकरके 'सम्यक्ख्याति' कह दिया। जो सच्ची ख्याति है, अनिर्वचनीय ख्याति वेदान्तीलोग कहते हैं, सच्चे ज्ञानके अनुसार जैसी बुद्धि होनी चाहिए उसका वर्णन मैंने तुम्हारे प्रति कर दिया, तो यह तत्त्वविषयक ज्ञान है। अब—

योगे तु इमां शृण।

योग माने साधनाविषयक बुद्धि उसका अब श्रवण करो। तत्त्वविषयक बुद्धिसे शोक नहीं करना चाहिए। अब साधनविषयक बुद्धि सुनो। यह तत्त्वविषयक और साधनविषयक क्या होता है? जैसे आपने सोना हाथमें लिया, कसौटी पर कस लिया, आपको पक्का ज्ञान हो गया कि यह सोना है। सोनेको पहचान लेनेके बाद अब कुछ पछतानेकी ज़रूरत नहीं है। वह तो सोना ही है।

अब यह देखना कि यह मिला है कि नहीं मिला है? यदि मिला हुआ है, साक्षादपरोक्ष बोध है, अपना आपा ही है, तब तो कुछ साधन करनेकी कोई जरूरत है ही नहीं। वह तो अपना आत्मा ही है, वही है। पर देखो, अभी तो आत्माके रूपमें उसका साक्षात्कार नहीं हुआ है।

सोना अपना है कि पराया? बोले, अभी अपना नहीं है, पराया है। पर है तो सच्चा न? तो मिले कैसे? मिले कैसे तो उसके लिए कितनी कीमत चाहिये? और यह कहाँसे आनी चाहिए? उसको पानेके लिए किसीसे सिफारिश करनी चाहिए कि नहीं चाहिए? यह सब क्या हुआ? यह सब साधनविषयक बुद्धि हुई। इसीको योग बोलते हैं।

संस्कृत साहित्यमें योग कहते हैं उपायको। योग माने जुड़ना। किसके साथ जुड़ना? जिसके साथ जुड़नेसे सुख मिले। तो सुख जो है वह प्रयोजन है और जुड़ना उपाय है। भाई! परमात्माका सुख लेना कि सगुण ईश्वरका सुख लेना? सायुज्य=उसके साथ जुड़ करके रहो। आत्मसुखका अनुभव करना है। बोले—योग माने समाधि करो। समाधि आत्मसुखकी उपलब्धिमें उपाय है। भक्ति ईश्वरकी उपलब्धिमें उपाय है। यह भक्तियोग है और वह समाधियोग है। अब जिस श्रेणीका प्रतिबन्ध आपके जीवनमें है, उस श्रेणीका योग करना पड़ेगा।

आपसमें समसत्ता जिनकी, लखि साधक बाधकता तिनकी।

यदि आपके चरित्रमें दोष है, उसमें चोरी, अनाचार-व्यभिचार है, तो चरित्रमें रहनेवाला धर्म जब आप धारण करेंगे, तब उसकी निवृत्ति होगी। मनमें कामादि दोष हैं तो मनमें रहनेवाला धर्म आप धारण करेंगे तब उनकी निवृत्ति होगी। स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें दोष नहीं है, कारण शरीरमें दोष है, तो कारणशरीर तो अविद्यात्मक है। इसलिए ज्ञानात्मक उपायसे उसकी निवृत्ति होगी। यदि अपनेमें कोई दोष नहीं है, तो ? किसी दोषकी निवृत्तिके लिए साधन होता है। दोष नहीं, तो साधन काहेका? इसलिए अब योगविषयक विद्या जो है, वह सुनाते हैं।

तत्त्वविषयक विज्ञानसे दोषकी निवृत्ति यह सांख्य-सिद्धान्त है और साधनविषयक तत्त्व विज्ञानसे शुद्ध ज्ञानको प्राप्त करना। यह तत्त्वविज्ञानका जो साधन है उसको 'वेदविज्ञान' कहते हैं। कल-परसों बताया—

वेदविज्ञान् कर्मयोगेन योगिनाम् सांख्यानाम्।

जो सांख्य हैं उनके लिए ज्ञानयोग है और जो योगी हैं, उनके लिए कर्मयोग है। तब तो केवल आवरण भंग-मात्र चाहते हो कि योग चाहते हो? आवरणभंगमात्र चाहते हो तो ज्ञान चाहते हो। तो आवरणभंगमात्रके लिए साक्षात् साधन महावाक्य है। प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए तो श्रवण ही काफी है। संशय-विपर्ययकी निवृत्तिके लिए मनन-निदिध्यासन चाहिए। कामादि दोषकी निवृत्तिके लिए शमादि साधन-सम्पत्ति और चरित्रगत दोषकी निवृत्तिके लिए धर्म चाहिए। धर्मनिष्ठाके बिना चरित्रकी शुद्धि नहीं होती है।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। 2.39

पार्थ! अब योगबुद्धिकी आवश्यकता क्यों आगयी कि समझाने-बुझानेसे अभी तुम्हारे दोषकी निवृत्ति हो गयी, ऐसा नहीं दिखता है। क्योंकि अर्जुनके मनमें दुविधा बनी हुई है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यका उपदेश सुननेके बाद भी यदि संशय बना रहे, तो क्या करना चाहिए? मनन-निदिध्यासन तो करना चाहिए न?

अब यहाँ कर्मविषयक बुद्धिका उपदेश करते हैं। यदि तुमको यह बुद्धि मिल जाय तो क्या होगा? **कर्मबन्धं प्रहास्यसि** कर्मबन्धनका प्रहाण हो जायगा। प्रहाण=निवृत्ति। नाश। प्रकृत्य हाण प्रहाण है। अब कर्मबन्धन क्या है? देखो, स्वयं कर्मबन्धन, उसको तो लपेटना ही पड़ता है अपने ऊपर।

एक जिज्ञासुने जाकर महात्मासे पूछा—'हे महाराज! संसारने तो हमें बड़े जोरसे पकड़ लिया है। अब हम कैसे छूटें?' तो महात्माजीने कहा—'अच्छा भाई, विचार करेंगे इसपर।' थोड़ी देरके बाद उठे। बोले—'चलो घूमें इधर।' बगीचेमें गये और उधर एक पेड़ था कुटियाके पीछे। जाकर महात्माजीने उसको दोनों हाथसे पकड़ लिया और चिल्लाने लग गये—'अरे दौड़ो-दौड़ो! पेड़ने हमको पकड़ रखा है। छुड़ाओ!' अब वह जिज्ञासु बोला—'महाराज, पेड़ने आपको नहीं पकड़ा है, आपने पेड़को पकड़ा है।' बोले—'नहीं, पेड़ने हमको पकड़ा है।' 'पेड़ जड़ है, उसमें कोई हाथ नहीं, पाँव नहीं, उसमें कोई संकल्प नहीं, कोई बाँधनेकी शक्ति नहीं, आपने ही अपने हाथसे पकड़ रखा है महाराज!' महात्माजी बोले—'यह जो संसार है, यह जो जड़ता है, उसके भी हाथ नहीं, उसके भी पाँव नहीं, उसमें भी बाँधनेकी शक्ति नहीं, हम अपने आप

ही इसके साथ चिपक जाते हैं तो फिर चिल्लाने लगते हैं—'इसने हमको पकड़ लिया, इसने हमको पकड़ लिया। गुण्डागिरी तो इसी ढंगकी होती है, तो भाई, संसारने नहीं पकड़ा है, हमने पकड़ा है।'

आप देखो, कर्मबन्धन कैसे होता है? जब हम किसी कर्मके कर्ता और किसी कर्मके फलके भोक्ता बनते हैं, माने अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपका परित्याग-सा करके अपरिच्छिन्न होने पर भी परिच्छिन्नको, स्वयंप्रकाश होने पर भी प्रकाश्यको, देश और कालके सम्बन्धसे रहित होने पर भी देशकालसे सम्बद्धको और क्रियाके रहित होने पर भी सक्रियको जब पकड़ लेते हैं, कि—'यह मैं और मेरा' तब कर्मबन्धन होता है। तो कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिए एक बुद्धि चाहिए। कैसी बुद्धि चाहिए? साधनके रहस्यको समझना चाहिए।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। 2.50

बुद्धियुक्तः पुरुषः इहे / बुद्धियुक्त प्राणी होगा, बुद्धियुक्त पुरुष होगा, वह इहे=इसी जन्ममें पाप और पुण्य दोनोंको छोड़ देगा। जैसे पापको वह छोड़ देता है, वैसे बुद्धिमान पुरुष-संस्कृतमें पुरुष-पुरुष माने मर्द नहीं, पुरुष माने चाहे स्त्रीके चोलामें होवे, चाहे मर्दके चोलामें होवे, वह तो पोशाक है। पोशाकके भीतर रहनेवाला जो पुरुष है मैंने जीव है, वह जीव यदि एक खास तरहकी बुद्धि प्राप्त कर ले, समझ प्राप्त कर ले तो पाप और पुण्य दोनोंको यही छोड़ सकता है। शरीरधारी रहते हुए भी शरीरसे होनेवाले कर्मके साथ उसका कोई सम्बन्ध न रहे। माने कर्म करनेकी ऐसी युक्ति उसको मिल जाय कि धर्माधर्मरूप जो संस्कार हैं, वही प्रमाण हैं। क्योंकि जब मनुष्य निषिद्ध कर्मका आचरण करता है, तब उसके हृदयपर अधर्मके संस्कार पैदा हो जाते हैं और जब विहित धर्म, विहित कर्मके आचरण करता है, तब उसके हृदय पर धर्मके उदय हो जाते हैं। अधर्मके संस्कारसे ग्लानि-दुःखके संस्कार पैदा हो जाते हैं। और धर्मके संस्कारसे सुखकी और धर्मके फलकी प्राप्ति होती है। तब क्या-क्या करके हमारे जीवनमें सुखकी प्राप्ति होती है? बोले—'यह किया है तब न सुख हो रहा है! और क्या-क्या करके हमारे जीवनमें दुःख हो रहा है? बोले—'ये-ये किया है तब न दुःख हो रहा है!'

अब असली बात तो यह हुई कि कर्म करनेवाली जो इन्द्रियाँ हैं, हाथ-पाँव-जबान-मूत्रेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। अब इनके द्वारा जब कोई क्रिया होती है,

तब यह हाथवाला मैं-मैंने हाथसे बुरा काम किया। ये पाँववाला मैं—मैं बुरी जगह गया पाँवसे, मूत्रेन्द्रियवाला मैं और मैंने मूत्रेन्द्रियसे बुरा काम किया। पहलेके लोग शरमाते नहीं थे बोलनेमें। आजकलके लोग करते तो हैं सब कुछ पर बोलनेमें शरमाते हैं। और फकीरढंग जो है—

यद् रात्र्या पापमकारतम हस्ताभ्यां पदभ्यां उदरेण शिश्ना।

संध्या वन्दनमें आप बोलते हैं कि नहीं? संध्यावन्दनमें जब आचमन करते हैं, तो मन्त्र पढ़ते हैं—'रातको मैंने जो बुरा काम किया हस्ताभ्यां=हाथोंसे, पदभ्यां=पाँवसे, उदरेण=पेटसे—बुरी जगह गये, बुरा काम किया, बुरी चीज खायी और शिश्ना=मूत्रेन्द्रियसे बुरा काम किया। यह पापनिवृत्तिके लिए संध्यावन्दन कर्म कर रहे हैं। उसकी निवृत्तिके साधन कर रहे हैं।' यह हुआ।

अद् उच्छिष्टं च अभोग्यं च यद्वा आतुं दुश्चरित्रं मम सर्व पुनस्ति माम् आतुं असतां च प्रतिग्रहम्।

मैंने जो कुछ दुष्ट पुरुषसे लिया है—असतां च प्रतिग्रहम्। जिन लोगोंने बेईमानीसे पैसा इकट्ठा किया है, उनका तो लिया, असतां प्रतिग्रहम्=दुष्टोंका प्रतिग्रह हुआ। अद् उच्छिष्टं=झूठा खाया। अभोग्यं च=जो नहीं खाना चाहिए वह खाया अथवा अपने शरीरसे दुश्चरित्र हो गया। सर्व पुनन्ति मामातुं—जल देवता=आपके अभिमानी जो देवता हैं, अर्यमा हमको पवित्र करो।

यह कर्मबन्धन जो है, हाथको अपना मानना, पाँवको अपना मानना, आँखको अपना मानना, इन्द्रियोंको अपना मानना और मनको अपसारित करनेवाली इन्द्रियाँ जो हैं न, उनसे भी पाप होता है। उससे क्या पाप होता है? जहाँ मलत्याग नहीं करना चाहिए, ऐसी जगह पर जब मलत्याग कर देते हैं, तब पाप होता है। जिस जगहको गंदा नहीं करना चाहिए उस जगहको गंदा बना दिया। दूसरी जगहको गंदा बना देनेसे भी पाप होता है। तो अब यह पाप कैसे हुआ? इन्द्रियोंको 'मैं-मेरी' समझनेसे। तब भाई, इनसे छूटनेका उपाय? वह योग, वह युक्ति मालूम करनी चाहिए जिससे उस कर्मबन्धनसे हम छूट जायँ।

क्या केवल कर्मेन्द्रियोंसे ही पाप होता है? नहीं उनके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ भी मिली रहती हैं। आँखसे देख करके चलते हैं, कानसे सुनकरके बोलते हैं, हाथसे पकड़ करके छूते हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ नौकर हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ मालकिन हैं।

आँखसे जहाँ-जहाँ भोग दीखता हैं वहाँ-वहाँ पाँव पहुँचाते हैं। तो भोग-योग देनेका, पूर्ति करनेका काम देता है हाथ। इस तरहसे एक-एक जो ज्ञानेन्द्रिय है, उसकी सेविका हैं कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानका सेवक है कर्म। जो इंजीनियर होते हैं न, बहुतसे कर्मचारी उनकी सेवामें लगे रहते हैं। समझदार होती हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और काम करनेवाली होती हैं कर्मेन्द्रियाँ। तो ये जो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वह समझकर साथ रहती हैं। यह रूप है, यह शब्द है, यह स्पर्श है, यह बताती हैं और कर्मेन्द्रियाँ जो हैं, वे मजदूरी करती हैं, ले आती हैं, ढोती हैं।

अब इसके आगे चलो। बोले—ये दोनों पापानुविद्ध हो गये। ये थीं तो आत्मदेवकी सेविका, दासी। परन्तु पापने इनके ऊपर कब्जा कर लिया। पापवासना जो है, उसने इनके ऊपर कब्जा कर लिया कि आँखसे बुरी चीज देखें, कानसे बुरी बात सुनें, पाँवसे बुरी जगह जायँ, तो जब-जब हम निषिद्ध काम करते हैं, तो वासनाके वशमें होकर और जब-जब हम अच्छे काम करते हैं, तब भी वासनाके वशमें होकर, तो उसका भी संस्कार होता। अब उसके बाद क्या हुआ? यह वासना महारानीके ऊपर अज्ञान एक सवार है। यह क्या? अहं कर्ता, अहं भोक्ता, यह कैसे? यह भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति कहाँसे आयी? अपने स्वरूप ब्रह्मके अज्ञानसे आयी तो—

कर्मबन्धं प्रहास्यसिका अर्थ यह है कि हम आपको ऐसी बुद्धि बताते हैं कि—बुद्धि माने जिससे समझमें आजाय—'**बुध्यते अनया इति बुद्धिः।**' जिससे कोई चीज समझी जाय, उसका नाम है बुद्धि। तो बुद्धिसे तत्त्वको समझना एक बात और बुद्धिसे साधनको समझना दूसरी बात, तो पहले तत्त्वको समझा कर शोकका निवारण किया। अब साधनको समझा कर शोकका निवारण करते हैं। इसलिए अब यह योगबुद्धि तुम हमसे सुनो!

'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'—इस बुद्धियोगमें एक बड़ी विलक्षण बात है। यह क्या है? आप देखो—सब मिला करके मत सोचो। मिलाना बादमें। जबतक अलग-अलग समझमें न आजाय तबतक मत मिलाना? यह मूंगकी दाल है और यह चावल है। यह अरहरकी दाल है और यह उड़दकी दाल है। तो खिचड़ी बनाओगे तो एक तरहका भोजन तैयार हो जायगा। और अलग-अलग अगर पहले सब चीजको नहीं समझोगे, तो पता नहीं किसमें क्या मिला दोगे? तो जो लोग समन्वय-समन्वय करते हैं, वे मिलावें भी तब; जब पहले विवेक कर लें।

अलगाव कर लें; तब मिलानेका काम करें। तो ठीक मिल जायगा और अगर नहीं समझा तो मिलानेसे बिलकुल गड़बड़ाध्याय मच जाता है। इसलिए पहले विवेक करना चाहिए। आँख ठीक होवे तो रूप ठीक दिखता है। कान ठीक होवे तो आवाज ठीक सुनायी देती है। हाथ साफ होवे तो उससे जो चीज उठावेंगे या जो चीज खायेंगे, उससे वह ठीक होगी। हाथमें मैल लगी हो और उससे दालभातका ग्रास उठाओगे तो कैसा हो जायगा? तो दालभात भी मैला हो जायगा; इसलिए जब करणकी शुद्धि होगी, तब तुम शुद्ध भोजन प्राप्त करोगे। ये करण जो हैं, ये हाथ हैं।

आँख जब साफ होगी, रूप ठीक दिखेगा। कान जब साफ होगा, शब्द ठीक सुनेगा। इसी प्रकार ब्रह्मको समझनेके लिए जो करण है वृत्ति, वृत्तिके द्वारा तो ब्रह्मज्ञान होगा न? वह वृत्ति जब साफ होगी तब ब्रह्मज्ञान होगा। तो वृत्तिको साफ कैसे करना? किसी चीजको साफ करना होता है तो काम करना होता है। ग्लासको साफ करना हो तो उसको पोंछना पड़ेगा, धोना पड़ेगा। वही काम है। उसमें-से मैल निकालनी पड़ेगी। हाथको पानीसे धोना पड़ेगा। कर्म द्वारा शुद्धि होती है।

देखो, आत्माकी शुद्धि तो कर्मके द्वारा नहीं हो सकती। क्यों? क्योंकि उसमें कोई मैल लगा ही नहीं हैं, तो कर्मसे शुद्धि कहाँसे होवे? लेकिन जो करण हैं अपने पास, उनमें तो मैल लगी हुई है। इसलिए मैलको दूर करनेके लिए कर्मकी जरूरत पड़ती है। अब देखो, कर्म कैसे साफ करता है?

बोले कि—अन्तःकरणको निष्काम कर दो। शरीर निष्काम नहीं, अन्तःकरण निष्काम। अन्तःकरण निष्कामका क्या अर्थ है? करणमें किसी प्रकारकी कामना न रहे। अच्छा, कामना रहनेमें मैल है? हाँ, मैल है। कैसे? किसकी कामना है तुमको? बोले कि हमको तो एक स्त्रीकी और एक पुरुषकी कामना है। या धनकी कामना है या शत्रुके वधकी कामना है या कुटुम्बवृद्धिकी कामना है। अच्छा, तो कामना हैं तो अन्तःकरण मैला कैसे हो गया? बोले—मैला यों हो गया कि जिसकी कामना है, अन्तःकरणमें वही फुर रहा है। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह धन है, यह कुटुम्ब है, यह शत्रु है। वही है न तुम्हारे अन्तःकरणमें? तो अब तुम अनन्त सत्यका दर्शन करना चाहते हो।

अपरिच्छिन्न ब्रह्मका दर्शन करना चाहते हो तो परिच्छिन्न, अल्प, नन्हीं-

सी, स्त्री-मरद और धन जब इस अन्तःकरणमें रखेंगे तो यही उसमें मैल लग गयी। आँखमें जरा-सी भी किरकिरी पड़ जाय तो जैसे आँख दुःखने लगती है। क्योंकि आँखमें मैल है न? तो आँखमें दुत्तली आ जायगी वैसे अन्तःकरणमें यदि दुश्मनको बसाओगे तो अन्तःकरणमें दुत्तली आजायगी। जलने लगेगी। यदि अन्तःकरणमें बेटा-बेटीको बसाओगे तो पानी बहने लग जायगा; जैसे आँखमें-से पानी बहने लगता है। वैसे अन्तःकरणमें-से भी पानी बहने लग जायगा।

अन्तःकरणमें-से पानी निकलता है, स्नेहकी धारा जो है, पसीना आने लगेगा, हर समय आँसू निकलने लगेंगे।

प्रियं त्वां रोत्स्यति।

प्यारेको बसाओगे अन्तःकरणमें, वह तुम्हें रुलावेगा। रुलानेके लिए ही होते हैं दुनियादार लोग। दुनियादारीमें जितने प्यारे होते हैं, वे रुलानेके लिए होते हैं। यही मैल है अन्तःकरणका। अच्छा, अब इस मैलको दूर कैसे किया जाय?

देखो, राग-द्वेष होगा, कामना होगी, तो अन्तःकरणमें कोई कामनाका विषय, कोई भोगका विषय, रागका विषय, द्वेषका विषय बना रहेगा। अब साफ करनेका अर्थ देखो, कैसे है? बोले—'निष्काम कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।'

अब देखो, कर्म कि त्याग? वैदिक धर्म है न, यह पक्षपाती नहीं है। कई धर्म ऐसे हैं जिनमें केवल त्यागियोंके लिए ही स्थान है। बोले—'साधु हो जाओ, त्यागी हो जाओ, श्रमण हो जाओ, भिक्षु हो जाओ, तब परमार्थकी प्राप्ति होगी। कई धर्म ऐसे हैं जो बिलकुल काम और अर्थप्रधान है। ई तो धर्म! ईसाईधर्म है, मुसलमान धर्म है। सप्ताहमें एक दिन हाथ जोड़ लिया। हमारे व्यवहारमें ईश्वर कोई हस्तक्षेप नहीं करता है, हमारे रहन-सहनमें ईश्वर कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। रविवारके दिन उसके सामने हाजरी दे आओ। उपस्थान एक बार हफ्तेमें कर लेनेसे काम बन गया। तो अर्थ और भोग तो रोज-रोज, अर्थ और काम तो रोज-रोज; लेकिन मोक्षके लिए जो साधन है, वह हफ्तेमें दस मिनट। ईश्वरकृपासे तो ऐसा समझो, नाम है—'धर्म' और उसमें अर्थ और भोगकी प्रधानता है। नाम है 'धर्म' लेकिन उसमें त्याग ही त्याग है। वैदिक धर्ममें चार वेद होते हैं, चार आश्रम होते हैं, चार वर्ण होते हैं, धर्म-उपासना-योग और ज्ञान चार-चार

साधन होते हैं। विश्व-तैजस्-प्राज्ञ और तुरीय ये विवेककी कक्षाएँ होती हैं। यह संग्रहीके लिए भी है और त्यागीके लिए भी है। यह कर्मीके लिए भी है, संन्यासीके लिए भी है। यह गृहस्थके लिए भी है, अवधूतके लिए भी है। वैदिक संस्कृति पूर्ण संस्कृति है। हमारे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ नहीं है केवल उपनिषद् ही सर्वस्व नहीं है। हमारे मन्त्र हैं। मन्त्रभाग जो वैदिक हैं; वे भी सर्वस्व हैं कर्मकाण्डात्मक वेदभाग।

तो, वैदिक संस्कृति, वह मनुष्य जीवनकी सम्पूर्ण संस्कृति है। यह केवल बुढ़ापेका धर्म नहीं है, यह गर्भमें भी धर्म है। गर्भाधान भी एक संस्कार है। सीमन्तोन्नयन एक संस्कार है, पुंसवन संस्कार है, जातकर्म संस्कार है, अन्नप्राशन संस्कार है, मुण्डन संस्कार है, यज्ञोपवीत और विवाह संस्कार है। यह विचित्र है। मनुष्यकी सब स्थितियोंमें, मनुष्यका साथ देनेवाला यह धर्म है। इसका नाम है वैदिक धर्म। थोड़ा-थोड़ा इधर-उधरकी बात समझ-बूझ करके एकांगी, एक पक्षी नहीं बन जाना।

सब ध्यान ही करें यह जरूरी नहीं है। सब ज्ञान ही करें, यह जरूरी नहीं है। ध्यान कहीं कर्मकाण्ड होकरके रहेगा। हमको कर्म करनेके लिए कितनी एकाग्रता चाहिए? धर्म कहीं ईश्वरकी प्राप्तिके लिए होगा कि हम कैसा ध्यान करें तो रामकृष्णकी प्राप्ति होगी? ध्यान कहीं समाधिका अंग हो करके रहेगा कि कैसा ध्यान करनेसे हमें समाधिकी प्राप्ति होगी? ध्यान कहीं ज्ञानका अंग हो करके रहेगा कि अन्तःकरणको शुद्ध करके वह कैसे ज्ञानमें मदद करे? ज्ञानमें सहायक जो ध्यान है वह समाधिमें नहीं ले जाता। क्योंकि वृत्तिसे अविद्याका नाश होता है। समाधि लग जाय तो वृत्ति नहीं रहेगी तो अविद्याका नाश कहाँसे होगा?

उपासनाका ध्यान है, वह न वृत्तिज्ञानको लाता है, न तो समाधिको लाता है, न तो निराकार ईश्वरमें ले जाता है। वह ध्यान तो अपने इष्टदेवके साक्षात्कारका साधन होता है। और जब यज्ञमें ध्यान किया जाता है—

हस्ते हविर्गृहीत्वा देवतान् ध्यायेत् वषट् करिष्यन्।

इन्द्र देवताका ध्यान करो। हविष्यदान करनेके लिए और दुनियामें कोई मशीन बनानी हो तो? मशीन बनानी हो तो एकाग्र चित्तसे उसको देखना पड़ता है। तब वह विज्ञान है। तो इस तरहसे हमें साधनका विवेक करना

पड़ता है। हम क्या चाहते हैं और उसके लिए क्या साधन करना चाहिए? अगर साधनका विवेक नहीं करोगे तो हमें लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होगी। तो चाहते हो उसके अनुकूल साधन करना पड़ेगा।

तो अब कर्मबन्धनमें फँसे हुए ये चारों और यह करो—श्रवण संस्कृति भिक्षु संस्कृति जैसे सम्पूर्ण संस्कृति है अपन अंगमें, वैसे वैदिक संस्कृति यह केवल संन्यासी संस्कृति नहीं है। वैदिक संस्कृति गृहस्थ संस्कृति भी है, वानप्रस्थ-संस्कृति भी है, ब्रह्मचारी-संस्कृति भी है। इसमें ब्राह्मणधर्म भी है, क्षत्रियधर्म भी है, वैश्यधर्म भी है और शूद्रधर्म भी है। इसलिए साधनका विवेक। यह नहीं कि अयोध्या गये तो बोल दिया—'सबको राम-राम करना चाहिए। छोड़ो कृष्णको' ऐसा नहीं। साधनकी अनेकता और लक्ष्यकी एकता। वृन्दावनमें गये तो बोले—'कृष्ण-कृष्ण करो। रामको छोड़ दो।' काशी गये तो 'शिव' बोलो। वेदान्तियोंमें पहुँच गये तो शिव मत बोलो, केवल 'ब्रह्म ही ब्रह्म करो', यह नहीं। ये सब वैदिक संस्कृतिके एक-एक अंग हैं। काशीमें शिवोपासना है, अयोध्या और वृन्दावनमें विष्णु-उपासना है, हरद्वारमें ब्रह्मोपासना है। पण्ढरपुरमें ज्ञान और भक्ति दोनोंका मिश्रण है। यह वैदिक संस्कृति माने वैदिकभावकी पूर्णताका प्रतीक है। इससे पूर्णता आती है।

जो लोग विचारसे कतराते हैं, विवेकसे कतराते हैं कि हम तो इस बारेमें नहीं सोचेंगे, वे एकांगी हो जाते हैं। केवल तत्त्वकी ही नहीं, साधनकी भी विवेचना करनी चाहिए।

साधन क्या? जिस ढंगका तुम्हारे अन्दर दोष है, उसकी निवृत्तिके लिए क्या उपाय करना चाहिए? क्या तुम्हें पाना है? और उसकी प्राप्तिके लिए क्या साधन करना चाहिए? तो मैं अन्तःकरणशुद्धिवाली बात कह रहा था। क्या? कि देखो, एक आदमी त्यागी होकरके बैठा है, बिलकुल गंगा किनारे पेड़के नीचे पद्मासन लगाकरके, हाथको बाँध करके, पीठकी रीढ़ सीधी करके, आँख बन्द करके बैठा है। अब वह चाहता क्या है? चाहता है कि हमारा दुश्मन मर जाय। चाहता क्या है? कि हमें भूत-भैरव यक्षिणी-डाकिनी-शाकिनी कोई सिद्ध हो जाय। तो यह क्या हुआ? साधन हुआ? इसका नाम साधन नहीं हुआ। एक आदमी बैठा है उसको लंगोटी भी नहीं है, नंगा बैठा है, शरीरसे कोई क्रिया नहीं हो रही है, हर्षका परित्याग कर दिया है, कर्मका परित्याग कर दिया है, भोगका

परित्याग कर दिया है और मन-ही-मन चाहता है कि इसके द्वारा हमको कहीं गंगा किनारे सोनेका खजाना मिल जाय। त्याग है बाहर और मनमें है कामना। तो सकाम त्याग क्या परमार्थकी प्राप्तिका साधन होगा? सकाम त्याग भी परमार्थकी प्राप्तिका साधन नहीं होगा।

अच्छा, बोले, हम त्याग नहीं करते, हम कर्म करते हैं। कर्म किसलिए करते हैं? एक प्रश्न हैं न? सकाम कर्म करते हो कि निष्काम? बोले—सकाम यदि कर्म होगा तो वह भी परमार्थकी प्राप्तिका साधन नहीं और सकाम त्याग होगा तो वह भी परमार्थकी प्राप्तिका साधन नहीं। तो साधनता कर्ममें है कि त्यागमें है? बोले—'न साधनता कर्ममें है न त्यागमें है। निष्कामतासे अनुप्राणित जो कर्म है, उसमें साधनता है और निष्कामतासे अनुप्राणित जो त्याग है, उसमें साधनता है।' और निष्कामता कहाँ होती है? कर्ममें कि त्यागमें? निष्कामता न कर्ममें रहती है न त्यागमें रहती है। क्योंकि कामना कर्ममें भी रह सकती है और त्यागमें भी रह सकती है। तो निष्कामता रहती है हृदयमें। हृदयमें निष्कामताका होना वैराग्य है। हृदयमें निष्कामताका होना शमदम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान है। हृदयमें जो निष्कामता है वह हमारे करणको, वृत्तिको स्वच्छ बनानेवाली है। इसलिए जो कहते हैं कि निष्काम कर्म ही साधन है, वे भी साधनके रहस्यको नहीं समझते और जो कहते हैं कि निष्काम त्याग ही साधन है, वे भी साधनके रहस्यको नहीं समझते। हृदयमें जो निष्कामताकी प्रतिष्ठा है, इसीका नाम साधन है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

त्यागके द्वारा कामनाको मिटाओ, और कर्मके द्वारा कामनाको मिटाओ। लेकिन कामनाको मिटानेके लिए भी कर्म और त्याग करना पड़ेगा। कामनाको मिटानेके लिए कर्म भी साधन है और त्याग भी साधन है। कामनाको रखने पर न कर्म साधन है और न त्याग साधन है। तो साधनके रहस्यको समझना पड़ता है।

हम साधनके द्वारा किसी साध्यकी उत्पत्ति नहीं चाहते हैं, हम साधनके द्वारा किसी सिद्धका चमत्कार नहीं बताते हैं। साधनके द्वारा सिद्धवस्तु ब्रह्मात्मैक्यताका साक्षात्कार उस कर्ताके द्वारा किये हुए साधनसे नहीं होता है, ठीक है, क्योंकि वह तो वृत्तिसे होता है। बिलकुल सच्ची बात! साधन दूसरी

चीज और वृत्ति दूसरी चीज। लेकिन निमित्तादि जो हैं, वे वृत्तिको स्वच्छ बनाते हैं, वृत्तिके दर्शनमें योग्यता देते हैं। इसलिए निष्कामता हमारे जीवनमें आनी चाहिए।

आप ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि रहकर यदि साधन कर रहे हैं तो उसमें निष्कामता आवें। यदि आप संन्यासी होकरके त्याग कर रहे हैं, तो आपमें निष्कामता आवे। यदि आपको ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार हो गया है, प्रयोजनकी पूर्ति हो जाने पर साधनकी जरूरत नहीं रहती है। तब स्वभावसे यदि रहे तो रहे, न रहे तो न रहे। ऐसा होता है। तो अब देखो, आपको साधनकी बात सुनाऊँ?

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इह=इस निष्कामताके साधनमें, चाहे कर्म द्वारा सम्पन्न हो, और चाहे त्याग द्वारा, पर हृदय निष्काम होना चाहिए। इसके कई भेद हैं। कर्म तो होवे और कामना भी होवे। देखो, यह आमतौर पर गृहस्थोंकी स्थिति होती है। तो इसके दो भेद—कामनाकी पूर्तिके लिए निषिद्ध कर्म भी करते हैं कि केवल धर्म ही धर्म करते हैं? यदि निषिद्धकर्म करते हैं तो पामर हैं और धर्म करते हैं तो विषयी हैं। कामना और कर्मवालोंकी दो स्थिति हैं।

बोले—'एक आदमी कर्म तो नहीं करता है, लेकिन मनमें कामना है। त्यागी तो हो गया, लेकिन मनमें कामना है। मनमें होनेवाली कामनाको मिटाना चाहता है कि पूरी करना चाहता है? मिटाना चाहता है तो साधक है, पूरी करना चाहता है तो ढोंगी है। दंभी है। तो इसकी दो स्थिति हुई।'

अब तीसरी स्थिति देखो—कामना तो नहीं है, परन्तु कर्म करता है। तो यह देखो कि कर्तापन है कि मिट चुका है? कर्तापन है तो अभी बन्धन होगा और कर्तापन नहीं है तो बन्धन नहीं होगा।

अब चौथी स्थिति देखो—न कामना है, न कर्म है। तब क्या हुआ? बिलकुल समाधिस्थ न कामना है न कर्म है, तब यह देखो कि अज्ञान मिट गया है कि नहीं? अज्ञान मिट गया है तो ठीक, नहीं तो कामना-कर्मरहित स्थिति भी समाधिस्थ ही है। समाधिरूप है, अभी तत्त्वज्ञानरूप नहीं है। तो इसकी दो स्थिति हुई। कामना-कर्मरहितकी भी दो स्थिति, कामनारहित कर्मकी भी दो

स्थिति। कामनारहित कर्मोंकी भी दो स्थिति और कर्म-कामनावालेकी भी दो स्थिति। इस प्रकार चार स्थितिकी आठ स्थिति हो गयी।'

इनमें देखो, तुम्हारा साधन किधर चल रहा है? अपने आपको तौलना पड़ता है। इसमें केवल बातसे काम नहीं चलता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। 2.40

इह माने इस साधनमार्गमें अभिक्रमका नाश नहीं है। 'अभिक्रमनाश: न अस्ति'—*इह साधने इह योगे अभिक्रमनाश: न अस्ति।* अभिक्रमका नाश नहीं है। अभिक्रम माने? अभिक्रम=अपने उद्देश्यकी प्राप्तिके अनुकूल और उसकी पूर्तिके लिए जो शरीरसे चेष्टा होती है, उसका नाम है अभिक्रम। अपने उद्दीष्ट साधनके *अनुकूल-उद्देश्यसाधनानुकूल: तत् पूर्तिसूचित: चेष्टासंचार: अभिक्रम:।*

प्रत्यवाय क्या है? आपने उद्दीष्ट साधनाके प्रतिकूल, उससे विमुख बनानेवाला—प्रति=उलटा, अव=नीचे, अय=ले जानेवाला, ऐसा जो चेष्टासंचार है, उसका नाम प्रत्यवाय। तो आप जब निष्काम होकरके कर्म करने लगेंगे, तो आपकी उन्नति-ही-उन्नति होगी। अधोगति बिलकुल नहीं होगी। इसलिए साधनका अनुष्ठान जरूर करना। तत्त्वका विचार जब होता है तब तत्त्वका विचार और जब साधनका विचार होता है तब साधनका विचार। साधनके विचारमें तत्त्वकी गड़बड़ी नहीं डालना और तत्त्वके विचारमें साधनकी गड़बड़ी नहीं डालना।

योगादि यदि अन्त:करणको शुद्ध करनेके लिए और अविद्याकी निवृत्तिके लिए वृत्तिज्ञान सम्पादन किया जाता है। तत्त्वका जो विचार है, वह अविद्याकी निवृत्तिके लिए है और साधनका जो विचार है, वह कामादि दोषोंकी निवृत्तिके लिए है और आप देख लो, आप कहाँ खड़े हैं?

●

: 32 :

'एषातेऽभिहिता सांख्ये'(2.39)—यहाँसे लेकर 'बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम्' (2.41) पर्यन्त 'योगमहिमोपनिषद्' है। योग=साधन। साधनकी महिमा बतानेवाले 'योग-उपनिषद्'—योगत्रयी। इसको फिरसे आप पढ़िये, क्योंकि साधन बार-बार करनेका होता है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

2.39-41

इह अभिक्रमनाशः न अस्ति प्रत्यवायश्च न विद्यते। यस्य धर्मस्य स्वल्पं अपि महतो भयात् त्रायते॥

जिस साधन-सम्पत्तिका हम वर्णन कर रहे हैं, उसमें अभिक्रमका नाश नहीं है और प्रत्यवाय भी नहीं है। इस धर्मका थोड़ा-सा अंश भी बड़े-से-बड़े भयसे रक्षा करनेवाला है, रक्षा करता है। अब उसमें दो-तीन शब्दका अर्थ ध्यानमें रखना चाहिए। अभिक्रम माने क्या? क्रम कहते हैं संस्कृतमें 'पादविक्षेप'को। पाद रखना, *क्रम पाद विक्षेपे।* क्रम धातुका अर्थ है पादविक्षेप—एकके बाद एक। इसीको तो क्रम बोलते हैं न? क्रम क्या है? क्रम=एकके बाद एक। तो जब हम आगे बढ़ते हैं तो एकके बाद एक पाँव रखते हैं, लगातार आगे बढ़ते हैं। इसलिए क्रम माने क्या?आगे बढ़नेके लिए पाँव रखना।

अभिक्रम माने? *अभिमुखः क्रमः।* जिधर अपना मुँह है—जो अपना उद्देश्य है उधर चलें। जिस उद्देश्यको, जिस लक्ष्यको आप प्राप्त करना चाहते हैं, उस दिशामें आगे बढ़नेका नाम अभिक्रम है। यदि आप साधन करेंगे, भजन करेंगे, स्वाध्याय करेंगे, तो अभिक्रमका नाश नहीं है। अर्थात् आपका आगे बढ़ना कभी रुकेगा नहीं। हमेशा आगे बढ़ते रहेंगे। आगे-आगे-आगे-आगे बढ़ते रहेंगे। क्या महिमा है साधनकी!

इसको दूसरी तरफसे देखो। परमात्माका ज्ञान प्रमाणसे ही होता है, यह बात बिलकुल निश्चित है। इसको यों समझो—एक चीज होती है बनानेकी, पकानेकी। तो जो चीज पहलेसे मौजूद नहीं रहती है, वह बनानी पड़ती है। जैसे मकान पहले बना हुआ नहीं था, तो कर्म करके प्रयत्न करके वह बनाया गया। तो निर्माण कैसे होता है ? कर्मके द्वारा। *तत् यथा कर्मचितो इहलोक क्षीयते एवमेव अमुचितो लोक क्षीयते।*

कंकड़ चुन-चुन महल बनाया, लोग कहें घर मेरा।

यह निर्माण है और अब कहते हैं, माटी कैसे बनायी जाती है ? तो माटी बनायी नहीं जाती है, माटी पहचानी जाती है कि इसका नाम माटी है और इस माटीसे मकान बनाया जाता है। तो माटीकी पहचान होती है और मकानकी रचना होती है। तो माटी सिद्धवस्तु है, यह पहलेसे मौजूद है और जानी जाती है प्रमाणके द्वारा और कारीगरको बुलाकर, इंजीनियरको बुलाकर दिखायेंगे कि यह माटी मकान बनानेके योग्य है कि नहीं ? अच्छी माटी है कि नहीं ? इसमें कंकड़ कितने हैं, पत्थर कितने हैं ? इसमें घटा कितनी है, कितनी मजबूती है। तो जाननेका काम दूसरा होता है और बनानेका काम दूसरा होता है। तो यह निश्चित समझो कि परमात्मा जो है वह माटीकी तरह, तत्त्वकी तरह सिद्धवस्तु है। माने पहलेसे मौजूद है। परमात्माको बनाना नहीं है। तब ? परमात्मा जिस औजारसे जाना जाता है, जिस खुर्दबीनसे-दूरबीनसे देखा जाता है, उसकी एकबार जाँचकर लेनी है कि इनमें कोई गन्दगी तो नहीं है ? अशुद्धि तो नहीं है ? ये चीजको गलत तो नहीं बताते हैं ? तो एक बार साफ कर लें। परमात्मा मिलता है प्रमाणसे, परन्तु प्रमाणकी शुद्धिके लिए निर्माणका काम करना पड़ता है। तो योग-मुक्ति है, वह प्रमाणकी शुद्धिके लिए निर्माण है और प्रमाण जो है, वह पहले मौजूद परमात्माको बतानेवाला है।

अब एक आदमीने कहा—'भाई! हमारी खुर्दबीन तो साफ है, हमारी दूरबीन तो साफ है, अब हमको इसको पोंछनेकी, साफ करनेकी पृष्ठभूमिकी कोई जरूरत नहीं है। बोले—ठीक है, पर धो लोगे तो उसमें तुम्हारा नुकसान क्या है ? तो क्या दीखना बन्द हो जायगा ? दीखना बन्द तो नहीं होगा न ?'

तो यदि तुम्हारा हृदय शुद्ध भी हो, बुद्धि शुद्ध भी हो, आँख साफ भी हो, तो भी एक बार आँखको धो लेना, एकबार बुद्धिको शुद्ध कर लेना, उसमें कोई

अभिक्रमका नाश नहीं है। माने तुम्हारे लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई बाधा तो नहीं पड़ेगी न? अगर यह बाधा डालनेवाली चीज होती तो तुम कहते कि नहीं-नहीं, अब हम बिलकुल नहीं धोवेंगे, बुद्धिको साफ नहीं करेंगे। अगर तुम यह जिद्द कर बैठते हो तो यह जिद्द ही तो गन्दगी है। इसलिए योगयुक्ति करके अगर कोई अपने दिलको, दिमागको, बुद्धिको, आँखको साफ रखता है तो उसके आगे बढ़नेमें रुकावट नहीं पड़ती है। एक बात—रुकावट डालनेवाली बात कुछ नहीं है और—**प्रत्यवायो न विद्यते।**

'हमारे तो बस हो गया।' कभी-कभी भ्रम भी हो जाता है। कर्तापन और भोक्तापन ये इतना जड़ बना करके हमारे भीतर बैठे हुए हैं कि रोज-रोज सफाई करो और रोज-रोज आजाँय। जबतक ब्रह्मज्ञान न हो जाय तबतक उनकी जड़ जो है, वह मजबूत ही रहती है।

देखो, एक पंथ यह है कि कामनाको मिटाओ। थोड़ा लम्बा करके बताते हैं। जिन लोगोंको ऐसे लोकपर बैठनेकी आदत पड़ जाती है वे लम्बा सुनना पसन्द नहीं करते हैं। हम जानते हैं, क्योंकि उन लोगोंको तो उस शब्दके स्तरपर जितना अर्थ याद आवे, उतना वे शब्द पर सुनना चाहते हैं। पर यह विषय इतना गम्भीर है कि केवल एक शब्दका अर्थ जान लेनेसे काम नहीं चलता, उस विषयको भी पूरा-पूरा समझना पड़ता है।

धर्मका कहना है कि कामनाको दो विभागमें बाँट दो। एक निषिद्ध और एक विहित। कामना माने बहुत गन्दी चीज। कैसी? जो हमको छोटा बनावे। काम उसको कहते हैं जो हमको छोटा बनावे। कैसे? कामना=माँगना, किसी चीजको पानेकी इच्छा। तो जो चीज हमारे पास नहीं है, उसको पानेकी इच्छा करते हैं। माने, यह चीज हमारे पास नहीं है तो मैं कंगाल! किसी चीजको चाहनेका अर्थ यह होता है कि मैं उससे विरहित हूँ, मैं कंगाल हूँ, मेरे पास वह नहीं है। अपनेमें हीनताको स्वीकार करके तब हम किसीसे कुछ पानेकी इच्छा करते हैं। तो जो आत्माको ही हीन बना दे, छोटा बना दे, अपनेको ही जब हम परिच्छिन्न मानकर, संसारी मानकर, अपूर्ण मानकर सुखसे रहित मानकर, ज्ञानसे रहित मानकर, सत्तासे रहित मानकर कि हम अविनाशी नहीं है, हम सर्वज्ञानस्वरूप नहीं है, हम सर्व आनन्दस्वरूप नहीं है, इस मान्यताको लेकर ही कामना की जाती है। इसलिए कामनामें सबसे बड़ा दोष यह है कि—

कामः आत्मानं हिनस्ति। हीनभावं प्रापयति।

काम ही ऐसा है जो उस समय हमें हीनभावको प्राप्त करा देता है। 'हमारे पास यह नहीं, हमारे पास यह नहीं, हमारे पास यह नहीं'—यह मानकरके हम दूसरी चीजोंको चाहते हैं। इसलिए उनको प्राप्त करनेकी कोशिश करो। लेकिन जो तुम्हारे लिए पतनशील होती है, जिनमें जाकर तुम बिलकुल ही दु:खी हो जाओगे, और जड़ हो जाओगे, और मर जाओगे, उन चीजोंको मत चाहो। तो धर्मने दो विभाग किया। मान लो, सौ इच्छा आपके मनमें थीं, तो धर्मने पचास-पचास बाँट दिया। पचास तो धर्मके विरुद्ध हैं, उनको मत चाहो और पचास जो धर्मके अनुकूल हैं, उनको चाहो।

अब इसके बाद उपासना आयी कि उसने कहा, पचास मत चाहो, कोई एक चीज ऐसी छाँटो, जिसके मिलने पर तुम पूर्ण हो जाओ। अगर पचासको चाहोगे तो बिखर जाओगे तुम। अब देखो, संसारमें कोई ऐसी चीज नहीं है, जिस एकको तुम चाहो। बता दो कि हम केवल संगीत ही सुनना चाहते हैं। तो क्या तुम स्वादिष्ट भोजन नहीं करोगे? हम केवल स्वादिष्ट भोजन ही चाहते हैं। तो तुमको सिर्फ कीर्ति नहीं चाहिए? अच्छा, हम सिर्फ कीर्ति ही चाहते हैं, अच्छा, तुमको स्पर्श नहीं चाहिए? सुकोमल स्पर्श? बोले—स्पर्श भी चाहिए। इसके आगे बताया है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 2.41

तुम्हारी बुद्धि बहुशाखावाली हो जायगी। एक यज्ञ किया, काहेके लिए? कि स्वर्ग मिले! बोले—अच्छा, स्वर्गसे तुम खुश हो जाओगे? बोले—नहीं, 'आयु हि आशास्ते।' हमें लम्बी उम्र भी चाहिए। बस, लम्बी उम्रसे खुश हो जाओगे? नहीं, 'पुत्रमात्रमाशास्ते।' हमारी संतान भी सुन्दर होनी चाहिए।

अच्छा, बताओ, दुनियामें कोई एक चीज प्राप्त करके क्या तुम तृप्त होते हो? तो जो इन्द्रियोंके द्वारा सुखको प्राप्त करना चाहेगा, काम करके खुश हो जाओगे? नहीं, बोलना भी चाहिए। बस, इतनेसे खुश हो जाओगे? नहीं शौच-लघुशंकारके लिए बाथरूम भी चाहिए। इसी बेडरूममें, इससे जुड़ा हुआ बाथरूम जरुरी है। यह संसारकी स्थिति है। तो संसारमें कोई एक चीज ऐसी नहीं है जिसको हम प्राप्त करके सुखी हो जायँ। तो उस चीजको अपने हृदयमें ले आना, एक ऐसा उपाय बनाना, राम है—कृष्ण है, शिव है, गुरु है, पति है, माता

है, पिता है, जिसको प्राप्त करके हम खुश हो जायँ। हमारी सारी कामनाएँ सीमित हो जायँ कि हमें यह मिल गया तो हमको सब मिल गया। ऐसा सन्तोष हममें पैदा होवे। तो अब क्या हुआ? तो बाकी पचास थे न, तो समझो कि एक सौ की जगह एक सौ एक-एक ऐसा आया कि पहले पचास निषिद्ध थे वे छूट गये, अब पचास निहित थे वे भी छूट गये। एक आकरके हमारे दिलमें बस गया। कामना कम हुई कि नहीं?

पहले सौकी कामना थी, फिर पचासकी कामना हुई, फिर एककी कामना हुई तो सौकी कामना गयी। बोले—अच्छा भाई, यह एककी कामना भी तो कामना ही है। उसके लिए भी रोना पड़ता है, उसके लिए भी हँसना पड़ता है, उसके लिए भी नाचना पड़ता है, उसके लिए भी गाना पड़ता है। वह बेचें तो बिक जाय और दास बनकर रहें। इतनी पराधीनता क्यों मानना? आओ, हम तो कामवृत्तिका निरोध ही किये डालते हैं। योगियोंने कहा—हमारा मन तो बिलकुल निर्विषय है। निर्विषय, निर्वृत्तिक। कुछ नहीं। अब देखो, बड़ी बढ़िया बात हुई। पचासने पचासको काटा और बाकी पचासने एकको काटा। और एकसे रहित निर्विषय होकर चित्त बैठ गया। समाधि लग गयी, मनोराज्य मिट गये, वासनाएं शान्त हो गयीं, वृत्तियोंका उदय होना और विलय होना शान्त हो गया। समाधान! समाधिमें स्थित हो गये। अब हमें किसीसे कुछ नहीं चाहिए। क्या निष्काम अवस्था प्राप्त हुई? अपनेमें बैठ गये। बोले—निष्काम हो गये अब? नहीं।

कामरूपं दुरासदम्। 3.43

'गीता'में बताया कि कामके रूपको समझना बड़ा कठिन है। कामको पहचानना ही मुश्किल काम ऐसे-ऐसे रूप धारण करके आता है कि जब हम कहते हैं कि—'अरे काम! तू मिट जा,' तो उस समय काम मिटानेकी इच्छाके रूपमें कौन रहता है? काम ही रहता है।

बोले—'यह जो हमें निष्काम समाधि लगती है, वह बनी रहे,' तो उस निष्काम समाधिको बनाये रखनेकी इच्छाके रूपमें कौन रहता है? बोले—काम ही रहता है। तब तो समस्या हल नहीं हुई निष्कामताकी। विषयोंका बँटवारा किया फिर लौकिक विषयको छोड़कर दिव्य विषयको पकड़ा। फिर लौकिक और दिव्य दोनों विषयको छोड़ दिया। लेकिन अब तो जो छोड़नेवाली स्थिति है,

उसकी पकड़ आगयी। तो अभी कमी क्या-क्या है, असलमें? अपने अन्दर जो स्थितिका भोग चाहिए, चाहे सकाम स्थितिका भोग होवे, चाहे निष्काम स्थितिका भोग होवे हम कभी समाधिमें रहकर खुश होते हैं, हम कभी एकान्तमें रहकर खुश होते हैं, और कभी भीड़में रहकर खुश होते हैं। जब सभामें आते हैं, तब कभी गन्दे लोगोंको देखकर खुश होते हैं तो अधर्मका राज्य हुआ और कभी सत्संगियोंको देखकर खुश होते हैं, तो धर्मका राज्य हुआ। कभी एकान्तमें ही बैठकर अकेले ही खुश होते हैं तो वह उपासनाका राज्य हुआ और कभी अकेले ही बैठते हैं तो योगका राज्य हुआ। अब बोले—हम तो एकान्त ही एकान्तमें रहेंगे। तो यह भी एक बन्धन हो गया। और जब कभी भीड़में गये तो सिर पीटने लगे। कि—'हाय! हाय! हाय!' कोई ऐसी स्थिति चाहिए कि एकान्तमें, मित्रके साथ, अच्छी भीड़में, बुरी भीड़में सब जगह हमारा आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहे। एक ऐसी स्थिति चाहिए।

बोले—जबतक तुम भोक्ता बने रहोगे तबतक कामकी निवृत्ति नहीं हो सकती। कोई अपने आत्माको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म न जाने, अपनेको भोक्ता माने और चाहे कि मैं निष्काम हो जाऊँ तो उसकी निष्कामता बनावटी होगी, मानी हुई निष्कामता। झूठे ही वह माने कि मैं निष्काम हूँ क्योंकि इसमें साधनाके जो स्तर हैं, साधनाकी जो स्थितियाँ हैं, इनका कभी विवेक करके इन सबमें आत्मा असंग रूपसे रहती है, इस बातको उसने अभी जाना नहीं है। इसीलिए साधकको सावधान रहनेकी जरूरत होती है। और जो अपनी असंगताको जान गया है, पहचान गया है, उसको संसारमें कोई प्रयोजन नहीं है। तो उसको कुछ करनेकी जरूरत नहीं होती है।

असलमें आत्मा भोक्ता है कि नहीं? तो वह भी जब आत्माके अभोक्तापनेका और ब्रह्मपनेका ज्ञान होगा तब सम्पूर्ण कामनाओंसे आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त होगी। तो कामनाओंके नाशके मार्गमें जब बढ़ना है, तो सिर्फ इसको शुरू कर देनेसे ही काम नहीं बनता है। दुनियामें यह देखनेमें आता है कि एक कामका प्रारम्भ कर दिया। जानते हो?

ये जो गरीब तबियतके लोग होते हैं; गरीब तबियत क्या होती है? दिनभरमें दस बार काम करनेकी सोची और दसबार उसको काट दिया—

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।

गरीब लोग मनकी मोटर दिनभरमें कई बार खरीदते हैं और कई बार बेंच देते हैं। घरमें मोटर कभी नहीं आती। यही गरीबीका लक्षण है। 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।' मनो रथ=मनकी मोटर। पुराना जमाना होता तो मनकी बैलगाड़ी बोलते। पर मनकी बैलगाड़ी नहीं, मनकी घोड़ागाड़ी नहीं, मनकी मोटरका नाम मनोरथ है। खयाली पुलाव पकाना है। तो ये दिनभरमें आते-जाते रहते हैं। कितनी बार ये हमारे दिलकी सड़कपरसे गुजर जाते हैं। यही गरीबीका लक्षण है। तो भाई, खेती पैदा हो गयी? उसमें बीज डाल दिया तो खेती पैदा हो जायगी। सींच दिया तो खेती मिल जायगी? नहीं, जोतनेसे लेकरके, लानेसे लेकरके खेती काटने तक, खेतमें-से निकालने तक सारे काम जब पूरे करोगे, तब खेतीका फल मिलेगा।

केवल दवा शुरू कर दी, इससे रोग नहीं मिटेगा। उस दवाके लिए जो अनुपात है सो भी चाहिए। जो पथ्य है सो भी चाहिए, जो परहेज है सो भी चाहिए, जितने दिन करना चाहिए, उतने दिन करोगे तब वह दवा फल देगी। निष्काम कर्म उपलक्षण है। कोई भी काम दुनियामें केवल शुरू कर देनेसे फल नहीं देता। जिस योगकी चर्चा करने जा रहे हैं—**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति।**

इसकी शुरुआत, अभिक्रम, प्रारम्भ, इसकी ओर एक कदम बढ़ना, एक कदम बढ़ाना, एक कदम भी अगर इसकी ओर चलोगे, कि—'मैं निष्काम होने जा रहा हूँ'—तो यह प्रथम संकल्प जो है, पहला संकल्प, यही तुमको इतना सुख देगा, 'अब मैं निःसंकल्प होने जा रहा हूँ'—'संसारको छोड़कर अब मैं इन्द्रियोंके द्वारा भोग्य विषयको नहीं चाहता, अब मैं लोक-परलोक भोग्य विषयको नहीं चाहता, अब मैं आभासभास्य या साक्षीभास्य वस्तुओंको नहीं चाहता।' यह संकल्प आने मात्रसे ही एक ऐसी स्वरूपस्थितिकी झलक मिलेगी, ऐसी झाँकी तुम्हारे सामने आवेगी कि 'अब मैं सबको छोड़कर रह सकता हूँ, सबके बिना रह सकता हूँ।' ऐसा आनन्द आवेगा, इस आनन्दके मार्गमें और आगे बढ़ोगे, कहीं रुक नहीं सकते। तो एक मिनटके लिए भी यदि कोई संसारका चिन्तन छोड़कर निष्काम हो जाय तो एक मिनटकी निष्कामता भी उसको साधनमें आगे बढ़ानेवाली होगा। धर्मकर्मनाशशास्त्रमें—

अपि पापप्रसक्तोऽपि ध्यायन् निमिषमच्युतम्।
भूयः तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः॥

जो अत्यन्त पापमें संलग्न है, वह भी यदि एकबार अपने मनको बाहरसे हटाकर परमात्मामें स्थिर कर दे, तो वह तपस्वी और पंक्तिपावनका भी पावन हो जाता है। तो, 'अभिक्रमनाशोऽस्ति' माने यह कर्मयोगका जो प्रारम्भ है, इसमें अगर तुम आगे बढ़ो, तो एक क्षणका आगे बढ़ना भी तुम्हारे लिए स्थिर हो जायगा, माने आगे बढ़ावेगा।

यह तो दुनियामें प्रसिद्ध है और पुष्पितवाणीसे काम नहीं चलता। यह भी चाहिए, यह भी चाहिए, यह भी चाहिए; कभी चले जाओ सौन्दर्य प्रसाधनवालेकी दुकानपर जहाँ सौन्दर्य प्रसाधनकी सामग्री बिकती है और सामग्री खरीदने लगो—'यह भी चाहिए, यह भी चाहिए, यह भी चाहिए।' ऐसा नहीं होगा।

कपड़ेकी दुकानपर चले जाओ। एक साड़ी पसन्द करो तो उसके साथ तीन-चार कुछ और चाहिए। एक कपड़ेसे कैसे काम बनेगा? तो मनकी जो चीजें हैं, वे प्रसक्तानुप्रसक्त होती है। इसलिए संस्कृतमें शब्द है—'प्रसक्तानुप्रसक्त।' एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी, तीसरीके बाद चौथी—कहीं अन्त नहीं मिलेगा। जो चीज चाहो, उसकी पूँछ भी उसके साथ जुड़ी मिलेगी। इसे 'प्रसक्तानुप्रसक्त' कहते हैं। कैसे? एक चीज सुधारने जाओ, तो दूसरी चीज जरूर मिलेगी। जब दूसरी चीज मिलेगी तब तीसरी चाहिए। तीसरीमें-से चौथी निकलेगी। इसीको—**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च**

बोलते हैं। कामना है पर निष्कामता जो है, वह चीजोंको छोड़नेवाली है। बोले—'हमें बेटा चाहिए।' बेटा चाहिए, फिर उसको पिलानेके लिए दूध चाहिए, उसके झुलानेके लिए पालना चाहिए, उसको पहनानेके लिए कपड़ा चाहिए, फिर उसको पढ़ानेके लिए पैसा चाहिए, उसकी देखभालके लिए आया चाहिए, फिर उसके बाद? उसके ब्याहके लिए, उसकी पढ़ाईके लिए ऐसा बंदोबस्त करना कि ब्याह हो जाय, ब्याहका बंदोबस्त करना। फिर उसके नाती-पोते हो जाँय, उसके लिए बन्दोबस्त करना। यह संसार जो है, प्रसक्तानुप्रसक्त है। एकके बाद दूसरा।

साबुन पानेके बाद भी साबुनको रखनेका डिब्बा चाहिए। साबुनको रखनेकी जगह चाहिए। और उसको लगानेके लिए एकान्त कमरा चाहिए। और फिर उसके बाद शरीर पर मालिश करनेके लिए-पालिश करनेके लिए भी

चाहिए और रंगाई भी चाहिए। ऐसे काम कैसे चलेगा? यह दुनिया ऐसी चलती है।

लेकिन निष्कामताका जो मार्ग है न, वह भीतर लौटनेका है। अन्तर्मुख होनेका। वह प्रसक्तानुप्रसक्त नहीं है। एकके बाद दूसरा नहीं आता है, वह तो छोड़नेका मार्ग है और छोड़करके अपने आपमें बैठनेका मार्ग है। इसलिए इसमें जरूरतें बनती नहीं हैं, जरूरतें हट जाती हैं। यह योगमार्गका विशेष महत्त्व है।

'प्रत्यवाय। प्रति-अव-वय। प्रति=उलटा। अव=नीचे, अवात्। प्रति-प्रतीपं-अव-अवात् अयनं-प्रत्यवायः।' जहाँ हम जा रहे थे, आगे बढ़नेके लिए। पीछे लौट आना और ऊपर चढ़ गये तो फिर पीछे नीचे गिर जाना-इसका नाम प्रत्यवाय है। अय=गति-गतौ और अव=अवात्, नीचे। प्रति=प्रतीपं। प्रतीप माने प्रतिकूल=उलटा आगे बढ़ते थे, पीछे लौट आये।

आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं काम मरदानोंका।

यह मर्दका काम नहीं है कि आगे बढ़कर फिर पीछे हटे। साधनाके मार्गमें आगे बढ़कर फिर पीछे हटना हो, और उनपर चढ़कर फिर नीचे गिरना हो, उसको बोलते हैं 'प्रत्यवाय।'

अभ्युदयके अनुकूल काम हो उसे अभिक्रम बोलते हैं और अभ्युदयके प्रतिकूल काम हो, उसे प्रत्यवाय बोलते हैं।

प्रत्यवायो न विद्यते।

प्रत्यवाय माने करने तो चले थे अच्छा काम। 'होम करते हाथ जला'— बोलते हैं न? साधन करनेके लिए आगे बढ़े थे। परन्तु गिरे तो ऐसे गिरे महाराज!

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुकः।

जिसके जीवनमें विवेक नहीं है, वह सौ-सौ मुँह गिरता है। गिरनेको बोलते हैं हिन्दीमें—'मुँहकी खाता है।' मुँहकी खाता है! एक बार नहीं, सौ-सौ बार मुँहकी खाता है जो गिरने लगता है सो। तो प्रत्यवाय क्या होता है? कर्मकाण्डमें 'प्रत्यवाय' नामकी एक बात है, माने एक पारिभाषिक शब्द है 'प्रत्यवाय'। वह क्या होता है? ब्राह्मण देवताको होम करना है, समझो। यज्ञकुण्डमें उसे आहुति देनी है। यजमानका कोई दोष नहीं है। यजमानने घी ला दिया, भूमिकी शुद्धि कर दी, कुण्ड बना दिया और अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी। कुशकण्डिका हो गयी, प्रोक्षणी-प्रणिताका स्थापन हो गया। अब ब्राह्मणको

होम करना है। शास्त्रमें बताया है कि ब्राह्मण देवता जब होम करें तब उसका बाँया घुटना धरती पर होना चाहिए। अब पण्डितजी भूल गये। बायें घुटनेकी जगह दाहिने घुटनेको उन्होंने धरतीसे लगा दिया। एक आहुति देते हैं तो उस आहुतिका शेषांश प्रणितामें डालते हैं। अब प्रणितामें नहीं डालकरके प्रोक्षणीमें डाल दिया। तो क्या हुआ ? यह जो गलती हुई न इस गलतीसे प्रत्यवाय हो गया। माने होमका जो फल मिलता, उस फलकी प्राप्तिमें केवल रुकावट ही नहीं पड़ी, बल्कि उल्टे फलकी उत्पत्ति हो गयी।

अच्छा ! जैसे मालाको घुमाते हैं। जो लोग सीधे घुमाते हैं आगेसे पीछेकी ओर मालाको खींचते हैं। अँगूठा माला पर आगे बढ़ता है। माने दाने आते हैं हमारी तरफ और अँगूठा जो है आगे बढ़-बढ़कर दानेको हमारी तरफ खींचता रहता है। कहीं उल्टा घुमाना शुरू कर दो। अपने दिलकी ओरसे मालाको बाहरकी ओर खींचना शुरू कर दो, तो यह क्या हुआ ? इष्टदेवके नामको बाहर फेंकना हुआ न ? इसको 'प्रत्यवाय' बोलते हैं कर्मकाण्डमें इससे प्रत्यवायकी उत्पत्ति होती है। उलटा माला घुमाना यह प्रत्यवाय है।

कहते हैं इसका भी विधान है। कहाँ ? अभिचार कर्ममें। जब मारण-मोहन-उच्चाटन आदि होता है, उसमें माला उलटी घुमानेका भी विधान है। यह बात अलग है। तो अब 'प्रत्यवायो न विद्यते।'

यदि अनधिकारी पुरुष कोई काम करे तो प्रत्यवाय हो जाता है। अब 'प्रत्यवायो न विद्यते' माने निष्काम कर्म करो तो कोई प्रत्यवाय नहीं है। इसको बिलकुल लौकिक दृष्टान्तसे समझो।

तुम्हारे घरमें कोई मेहमान आया है, और उस मेहमानके स्वागत-सत्कारका बंदोबस्त हो रहा है। अब एक नौकर चाय लेकर आया पिलानेके लिए। नौकर तो तुमसे तनख्वाह लेता है न ? अगर उसने चायकी प्याली गिरा दी या थोड़ी चाय छलका दी, मेज खराब हो गया, प्याली टूट गयी, तो नौकरके ऊपर तुम नाराज होओगे कि नहीं ? नौकरके लिए प्रत्यवाय हो गया। उसको तनज्जूह भी कर सकते हो माने उसकी तनख्वाह कम कर सकते हो, जुर्माना कर सकते हो, उसको निकाल सकते हो। क्यों ? क्योंकि वह तनख्वाह लेकर तुम्हारे घरमें काम करता है। तो उसको सजा करनेका, दण्ड देनेका तुमको अधिकार है।

परन्तु वह जो मेहमान आया है तुम्हारे घरमें, बड़े प्रेमसे उसने कहा, 'लाओ-लाओ, मैं ही तुमको चाय पिलाता हूँ और उसने महाराज, दूध-पानी-चाय मिलायी और उसके बाद प्याला उठाया, उसके हाथसे छूटकर गिर पड़ा। तुम्हारे कपड़ेपर भी कुछ गिरा, मेज भी खराब हुआ, प्याला भी टूट गया, अब उसको तुम गाली दोगे? उसकी तनख्वाह कम करोगे? कि जुर्माना करोगे? बोलोगे कि—'अरे, अरे! कोई बात नहीं।' है न? क्यों भाई? वह प्रेमसे, बिना तनख्वाह लिये निष्काम भावसे तुम्हारी सेवा कर रहा है। और उससे कोई गलती हो गयी तो क्या अब तुम उसकी गलतीका उसको दण्ड दोगे? सजा दोगे? नहीं, नहीं दे सकते। तो सकाम कर्म और निष्कामकर्ममें क्या फर्क है?

सकामकर्म माने वह जो तनख्वाह लेकर करनेवाला। एक आदमी कहता है कि हमको जब यह चीज मिलेगी, तब हम तुम्हारी सेवा करेंगे। तो अब उससे सेवा करनेमें गलती होगी तो वह प्रत्यवाय ही होगा। एक कहता है निष्काम भावसे सिर्फ तुमको प्रसन्न करनेके लिए, तुम्हारे लिए, तुम्हें प्राप्त करनेके लिए तुम्हारी सेवा करते हैं। अब क्या करोगे, उससे सेवामें त्रुटी होगी तो उसको निकाल दोगे? वे तो निष्कामकर्म है, वह अपने लिए कुछ भी चाहे बिना होता है।

अपने लिए कुछ भी चाहे बिना यह निष्काम परिवारकी सेवा है, गाँवकी सेवा है, जिलेकी सेवा है, प्रान्तकी सेवा है, राष्ट्रकी सेवा है, यह कर्ममार्ग समझो कि अधिभूतकी सेवा है।

हृदयमें बैठे इष्टदेवकी सेवा है, अन्तर्यामीकी सेवा है, ईश्वरकी सेवा है, यह समझो कि आधिदैविक सेवा है और अपने अन्तःकरणको शुद्ध करना है, निर्मल बनाना है, यह आध्यात्मिक सेवा है। आध्यात्मिक सेवा माने मनको शुद्ध करनेवाली सेवा। आधिदैविक सेवा माने ईश्वरभावसे विराट्की हिरण्यगर्भकी, ईश्वरकी भक्तिभावसे श्रद्धा करना। समष्टि उपहित चैतन्यकी जो सेवा है यह आधिदैविक सेवा है। और केवल कार्यब्रह्मकी जो सेवा है न, वह दूसरी सेवा है। वह धर्मात्मक सर्वात्मक सेवा है। अपने मनको स्वच्छ बनाना, यह आध्यात्मिक सेवा है।

'प्रत्यवायो न विद्यते।' असलमें निष्कामता ही तो साधनके द्वारा साध्य है। इसको योगी लोग 'समाधि' बोलते हैं, निष्कामताकी पराकाष्ठाको। परन्तु वेदान्तियोंको तो समाधि नहीं चाहिए है। उनको तो वृत्ति चाहिए। वेदान्तको

निर्वृत्तिकता इष्ट नहीं है कि हमारी सारी वृत्तियाँ शून्य हो जायँ, सुषुप्त हो जायँ, बेहोशी आजाय यह वेदान्तीको इष्ट नहीं है। वेदान्तीको ब्रह्माकार वृत्ति इष्ट है जो अविद्याको निवृत्त करती है। सुषुप्ति और समाधिमें अविद्याको निवृत्त करनेकी शक्ति ही नहीं है। क्योंकि वहाँ व्यवहार नहीं, वहाँ वृत्ति नहीं है। और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो वृत्ति है, उस वृत्तिमें व्यवहार है और अविद्याको निवृत्त करनेका उसमें सामर्थ्य है। तब? उसे चाहिए वैराग्य। निष्कामता=वैराग्य। जीवनमें वैराग्यकी जो प्रतिष्ठा है वह निष्कामताकी प्रतिष्ठा है। और जीवनमें जो समाधिकी प्रतिष्ठा है वह योगकी प्रतिष्ठा है। और धर्ममें? बोले कि निषिद्ध कर्मकी कामना नहीं होवे, केवल विहितकर्म ही होवे, यह निष्कामताकी प्रतिष्ठा है।

प्रत्यवायो न विद्यते—यदि तुम निष्काम कर्मके मार्गपर चलते हो, तो नीचे गिरनेकी कोई सम्भावना नहीं है। न उन्नति रुकेगी और न तो नीचे गिरोगे। लेकिन अगर चाहकर काम करते हो तो जाना तो तुमको वहाँ है जिसको तुम चाहते हो। बीचवाला तो तुम्हारा एक पड़ाव है न? जो सेव्य है तुम्हारा, वह गंतव्य है, माने गंतव्य जो है, सेव्य है। जिसकी सेवा करके उसे पाना चाहते हो, वह तुम्हारा साधन है। साध्य है कोई दूसरा, साधन है कोई दूसरा। अभी तो तुम पड़ाव पर हो, नीचे भी गिर सकते हो और तुम्हारा ऊपर बढ़ना रुक भी सकता है। यह निष्काम कर्मकी बात है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

यह धर्म भाई! 'यस्य धर्मस्य' माने यह सकाम धर्मसे विलक्षण है।

अन्यस्य धर्मस्य इदानीं वार्ता नास्ति।

दूसरे धर्मकी बात हम नहीं करते हैं। इस धर्मकी बात हम करते हैं। अगर तुम निष्काम भावसे एक गिलास पानी पिला दोगे, अगर तुम निष्काम भावसे एक बार भगवान्‌का नाम ले लोगे, अगर तुम निष्काम भावसे एक बार एकाग्र हो जाओगे, तो 'अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि'—इस धर्मका थोड़ा-सा अंश 'महतो भयात् त्रायते'। तुम्हारे जीवनमें एक ऐसा बीज पड़ गया, जो तुमको महान् भयसे बचावेगा। महान् भय=संसारका भय। भय तो बहुत सारे हैं। पर तीन भय मुख्य होते हैं। एक तो मरनेका भय, रोगका भय मुख्य नहीं है। रोगका भय तो इसलिए है कि इसके फलस्वरूप मौत आती है। नहीं तो, कभी-कभी रोग ही स्वाभाविक

हो जाता है। अब देखो, थूँकना एक रोग है, लेकिन अगर जिसको आदत पड़ जाती है, उसको थूँकनेका मौका न मिले तो बड़ा दु:खी होगा। देखो, एक आँखका खराब हो जाना यह रोग है, लेकिन जब आदत पड़ जाती है, एक आँखसे देखनेकी तो दूसरी आँखकी कोई याद दिलावे तो तकलीफ होती है। 'क्यों याद दिला दिया?' तो इसको संभालना चाहिए। महान रोग तो मरनेका डर है।

दु:खी होनेका डर है, तो दु:खी होनेका डर आनन्दभावसे विपरीत होनेके कारण है। अपना आत्मा आनन्दस्वरूप है। बेवकूफ होनेका डर चिद्भावसे विपरीत होनेके कारण है। मरनेका डर सद्भावके विपरीत होनेके कारण है। डर स्वयं एक दु:ख है। और दुश्मनका डर क्यों है? अद्वितीय होनेके कारण शत्रुका डर है। अगर शत्रु आ जायगा तो दु:खी भी कर देगा, बेवकूफ भी बनावेगा और मार भी डालेगा। इसलिए अद्वितीय ही शत्रु है।

द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृ. 1.4.2

भयका हेतु द्वितीय है। क्योंकि द्वितीय ही दु:खका हेतु है। द्वितीय ही बेवकूफीका हेतु है, द्वितीय ही जड़ताका हेतु है। तो द्वितीय क्या है? सच्चा कि झूठा? यह एक प्रश्न है।

यदि द्वितीय माने भूत, चोर, सिपाही जो हमको बाँधनेवाले, डरानेवाले हैं, वे अगर सच्चे हैं तब तो हमारा डर सच्चा, और यदि वे झूठे हों तब तो हमारा डर बेकार। तो जाँच करो। जाँच किया तो द्वैतको झूठा पाया। जब द्वैतको झूठा पाया, तब हमारा आत्मा अद्वैत। तो द्वैत ही नहीं, शत्रु ही नहीं। तो न वह हमें कभी दु:ख दे सकता, न जड़ बना सकता, न मार सकता। इसलिए सत्यके ज्ञानसे, अद्वैतके ज्ञानसे, द्वैतकी निवृत्ति, द्वैतभ्रमकी निवृत्ति और द्वैतभ्रमकी निवृत्तिसे दु:खी होनेका डर, जड़ होनेका डर, मरनेका डर—ये सब-का-सब निवृत्ति हो जाता है। इसलिए महान भयसे रक्षा करनेवाला निर्माणके द्वारा माने अन्त:करणका ऐसा निर्माण करना जिसमें प्रभा सत्य प्रमेयको विषय कर सके। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो चरम प्रमाण है, चरम वृत्ति है, जो परम प्रमाण है, जो ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर सके, इसके लिए अपने हृदयका निर्माण करना।

एक विशेषता इसकी और है। वह क्या है? निश्चय और अनिश्चयका—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 2.41

हे कुरुनन्दन! कुरुवंशको आनन्दित करनेवाले! कुरुवंशमें कोई निकम्मा पुरुष कभी पैदा ही नहीं हुआ। कुरु—इसके लिए तो उसका नाम कुरु है। कुरु-कुरु=करो, करो। इसीसे होता है—'कुर्वन्'=करता हुआ। यह शब्द जब उलटता है तो अंग्रेजीमें अनेक रूप धारण करता है। यह वर्कींग वर्क (Work) वगैरह जो है न, वह हमारे 'कुर्वन्'का पछिवाहाँ रूप है। पछिवाहाँ=पश्चात्गामी, पीठके पीछे जो लोग पड़ गये न?

पीठके पीछे पड़ गये न, तो भाषाका रूप बिगड़ गया। अब इसमें विशेषता क्या है? कि इस निष्काम कर्मके मार्गमें, योगके मार्गमें, साधनके मार्गमें, देखो यदि तुम्हारा शुद्ध है, तो हृदयकी शुद्धिकी साधना करनेसे तुम्हारा पतन तो होगा नहीं और यदि हृदय शुद्ध नहीं है तो हो जायगा, और अगर किसी भी प्रकारकी तुम्हारे ज्ञानमें निश्चयमें भ्रान्ति शेष रह गयी है तो यह शुद्धि उसका शोधन कर देगी। तो इसमें विशेषता यह है कि हे कुरुनन्दन! अपने कर्मके द्वारा सबको आनन्दित करनेवाले। पिताने आज्ञाकी—*'पुत्र! इदं कर्म कुरु।'* पिताने आज्ञा दी—'बेटा, यह कर्म करो।' और उस 'कुरु-कुरु' उच्चारण करनेवाले पिताको पुत्रने आनन्दित कर दिया। उसकी आज्ञाका पालन करके उसको आनन्दित कर दिया। उसका नाम हुआ—'कुरुनन्दन।'

'कुरु' आज्ञा देनेपर जो आज्ञा देनेवालेको आनन्दित कर दे, उसकी आज्ञाका पालन करे, उसका नाम हुआ 'कुरुनन्दन'। 'उत्तम संतति कुर्यात्'। उत्तम संतान कौन है? जो अपने माता-पितामहके मनकी बात जान करके उसके अनुसार काम कर दे। वह तो अभी सोच ही रहे हैं और उसने काम पहले कर दिया। और 'प्रोच्यकारी तु मध्यम्।' कहने पर किया तो वह दूसरे दर्जेका हो गया। और कहने पर भी बिना मनके किया तो अधम हो गया और बिलकुल नहीं किया तो वह 'उच्चरितं पितुः।' वह पुत्र नहीं है, वह कौन है? वह मूत है। वह पुत्र नहीं है मूत्र है जो चिन्तन करने पर नहीं किया, आज्ञा देने पर नहीं किया, बेमनके भी नहीं किया, बिलकुल नहीं किया तो वह पुत्र नहीं है—

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥

आनन्दित कर देनेवाले कुरु! कुरुवंशको हमेशा बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञामें चलनेवाले अर्जुन! तुम तो बड़े आज्ञाकारी हो। इस साधनकी विशेषता देखो! यहाँ 'योगं' शब्दका अर्थ सर्वत्र—'साधन' करना। 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'साधनसिद्ध वस्तु।' साधनसिद्ध अन्त:करणकी शुद्धि और प्रमाणसिद्ध तत्त्व-ज्ञान। यह दो विभाग है। इसको समझे बिना मनुष्य आगे नहीं बढ़ता है।

कर्म होता है करणके शोधनके लिए। दूरकी चीज आँखसे नहीं दीख रही है। तो आँखके सामने उस चीजको लानेके लिए दो उपाय करना—एक तो चलना हो सके तो पाँवसे चलकर उसके पास जाना। तो आँखको दिखानेमें पाँवने सुविधा पैदा कर दी। और आँखके देखनेमें प्रमेयके सामीप्यमें पाँवने सुविधा दी। अगर आँखमें कोई कीचड़ आगयी है तो हाथने धो दिया। तो हाथने प्रमाणकी शुद्धिमें सहायता पहुँचायी और अगर कोई रोग सचमुच है, तो दवा डाल दी, रसायन डाल दिया। उसके लिए कर्म-उपासना आदि जो है, साधन जो है, रसायनस्वरूप है नेत्रकी शुद्धिके लिए।

इसी प्रकार हृदयकी जो वृत्ति है, उसका भी शोधन होता है। जो लोग अन्त:करणकी शुद्धि साधनके विरोधी हैं, वे तो वेदान्त सम्प्रदायके वेदान्तज्ञानके और आगे लोगोंके ज्ञानी होनेके मार्गमें रोक अटकानेवाले हैं। इसलिए साधनका अनुष्ठान अवश्य ही होना चाहिए। इसकी विशेषता यह है कि बुद्धि एक है, यह भी निश्चयात्मिका—

व्यसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 2.41

अब इसका भाव कल और इसके आगे जो 'कामनिन्दोपनिषद्' है, वह सुनावेंगे।

●

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

2.41-44

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'कुरुनन्दन!' *कुरूणाम् नन्दनः कुरुनन्दनः।* कुरुवंशियोंको आनन्द देनेवाले। किसीको भी पुकारा जाय और कहा जाय कि 'तुम आनन्द देनेवाले हो।' इतने मात्रसे ही उसके अन्दर आनन्द देनेकी शक्ति आजाती है।

'शल्य' 'कर्ण'को कहा करता था कि—'तुम क्या युद्ध करोगे, अर्जुनके सामने?' इसलिए कर्णमें हीनताके भावका उदय होता था और कर्ण घबड़ाहटमें, क्रोधमें भर करके जो चिढ़के बाण चलाता था, तो निशाना नहीं लगे। घबड़ाहटमें आदमीका हाथ काँप जाता है। पाँव काँप जाता है।

'कुरुनन्दन!' यह जो आनन्द देनेवाला सम्बोधन है न, इससे अर्जुनका कोप निवृत्त होता है। और चित्तमें उत्साह आता है, युद्धमें प्रवृत्ति होती है। 'कुरु' जो है, यह आदेशसूचक क्रिया है—'इदं कुरु', 'इदं कुरु'। 'इदं मा कुरु'। यह करो और यह मत करो। तो—'कुरु-कुरु आदेशको भी आनन्दित करनेवाले! 'कुरु' ऐसा जो आदेश है वेदका, उस आज्ञाको भी आनन्दित करनेवाले तुम 'कुरुनन्दन' हो। आओ, तुम्हें योगमार्गकी विशेषता बतावें।'

योगमहिमा जो है साधनका अनुष्ठान, उसकी महिमाका, उसके माहात्म्यका जो निरूपण तीन श्लोकोंमें चल रहा है, उसमें यह अन्तिम श्लोक है—**इह व्यवसायात्मिका एकेह बुद्धिः।**

यह मोक्षमार्गकी विशेषता है, यह साधनमार्गकी विशेषता है। साधनमार्गमें बुद्धि एक ही होती है। कर्म भले अनेक हों, साधन भले अनेक हों, पर बुद्धि एक होती है। यह साधनमार्गकी विशेषता है।

भक्तलोग कहते हैं—'गणेशको भी नमस्कार कर लो, श्रीकृष्णको भी नमस्कार कर लो, शिवको भी नमस्कार कर लो। तुम इतने देवोंको नमस्कार करते हो तो तुम बहुदेववादी हो गये न? ईसाई लोग हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप करते हैं कि—'यह बहुदेववादी धर्म है। हमारा एकेश्वरवादी धर्म है और हिन्दूधर्म बहुदेववादी धर्म है', भला! अद्वैतसिद्धान्त है जिसका चरम स्वरूप अद्वैत, उसको बहुदेववाद कहना, यह बिलकुल अश्रुत वेदान्त। उन्होंने बिलकुल वेदान्तका श्रवण नहीं किया है, उनका यह निश्चय है।'

हिन्दूधर्म आकारनिष्ठ नहीं है। आकार और आकाराभावसे उपलक्षित जो अधिष्ठान तत्त्व है, उसमें वैदिक धर्मकी परिसमाप्ति है, उसमें वैदिक धर्मका पर्यवसान है। किसी भले मानुषसे धर्मकर्मकी बात सुनी नहीं, और वैदिक धरम भी सीखा तो कहाँसे? बोले—उन्हीं लोगोंके माध्यमसे जो प्रकारान्तरसे जो इस धर्ममें-से आस्था मिटाना चाहते हैं। बात समझमें नहीं आती। 'एकैव बुद्धिः'—

सब कर माँगत एक फलु रामचरन रति होउ।

करते हैं कुछ। साधनकी अनेकता और साध्यकी एकता, यह वैदिक संस्कृतिकी विशेषता है। अब श्रुतिको ही देखो—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति,
यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन॥

वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन एतम् तम् विविदिषन्ति। साधन क्या है? वेदानुवचन एक वस्तुकी प्राप्तिके लिए एक ही साधन है? नहीं, यह भी है, दान भी है, तपस्या भी है, अनशन भी है। साधन तो अनेक हैं। परन्तु जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, जानना चाहते हैं, वह एक है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।' जैसे कोई घरको सजाना चाहता है, उसमें झाड़ू लगा करके दोषापनयन भी करता है और उसमें पालिश भी करता है, उसमें चित्रकारी भी करता है, उसमें तरह-तरहकी वस्तुओंसे उसको सजाता भी है। तो सजाना अलग, पालिश करना अलग,

गन्दगी दूर करना अलग, लेकिन सबका मतलब क्या है? घरको सजाना। इसी प्रकार यज्ञ करके, दान करके, व्रत करके, तपस्या करके, वेदका स्वाध्याय करके उस इसको—'तं एतं'=इस उसको और जिसमें इस और उसका भेद नहीं है, उस एकको—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति।

और, वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।

'तं' करके परोक्षतया प्रतिभात 'एतं' करके अपरोक्षतया प्रतिभात जो अद्वितीय वस्तु है, उसके ज्ञानके लिए प्रयास करते हैं। इसलिए बुद्धि तो है एक। एकविषयी बुद्धि है। एक विषया बुद्धि है। सो भी बोले—'भाई! कभी एक कभी अनेक। तो वह कोई बुद्धि हुई? यह तो डावाँडोल! डावाँडोल बुद्धि हुई। कभी इधर, कभी उधर। उभय कोटयावगाहिनी बुद्धि। कभी कहें कि 'है' और कभी कहें कि 'नहीं' है।' कभी कहें कि 'है नहीं, दोनों है।' कभी कहें कि 'है नहीं दोनों नहीं है।' क्या गड़बड़?

एक बार बोले—'अस्ति'। दूसरी बार बोले—'नास्ति।' तीसरी बार बोले—'अस्ति-नास्ति'। चौथी बार बोले—'नास्ति-नास्ति।' यह कोई बुद्धिका कहीं अन्त है? कहीं अस्ति है कहीं नास्ति है। गंगा गये गंगादास जमुना गये जमनुदास। बुद्धि तो एक होनी चाहिए न? जिसको पाना चाहते हैं सो एक। उसीकी ओर चल रहे हैं।

रुचिणां वैचित्र्या ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

शिवमहिम्नः श्लोक 7

ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्—कोई सीधे रास्ते चलता है, कोई टेढ़े रास्ते चलता है, लेकिन सब चलनेवालोंके लिए—

नृणां एको गम्यः त्वमसि पयसां अर्णवमिव।

जैसे झरनेका पानी, छोटी नदीका पानी, बड़ी नदीका पानी सब बह करके एक समुद्रमें जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण मतियोंका पर्यवसान जहाँ होता है, सम्पूर्ण गतियाँ जहाँ जाकर समाप्त हो जाती है, सम्पूर्ण गतियाँ जहाँ जा करके एक हो जाती हैं।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

सम्पूर्ण मतियाँ एक ओर चल रही हैं। यह क्या है? बोले—'व्यवसायात्मिका बुद्धि: ।' व्यवसाय=निश्चय।

व्यवसाय=आत्मा यस्या: सा व्यवसायात्मिका।

व्यवसाय=निश्चय है। आत्मा=स्वरुप जिसका। उसको बोलते हैं व्यवसायात्मिका। यह व्यवसाय क्या है?

वि+अव—ये दोनों तो हैं उपसर्ग और सोन है कर्मणि है धातु। सम्पूर्ण विचारोंको एक ऐसी निश्चित सीमा पर पहुँचा देना जहाँ फिर अपने मनमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं रह जाय, 'ऐसा कि ऐसा?' यह विकल्प है। विकल्परहित निश्चयका नाम व्यवसाय है दुविधा सो विकल्प। यहाँ गुड काममें लाना कि शर्करा? एक गुडकल्प हुआ, एक शर्कराकल्प हुआ। तो बोले—'भाई! व्यवसाय करो।' निश्चय करो। क्या चाहिए? बोले—एक निश्चय कर दो। यहाँ गुड काममें लेना कि शर्करा काममें लेना? तो विचारकी जो अन्तिम कक्षा है न, जहाँके बाद फिर विचार नहीं होना, विक्षेप समाप्त हो जाता है।

एक संकल्पोंका विक्षेप होता है और एक विचारोंका विक्षेप होता है। तो संकल्पोंका जो विक्षेप होता है, वह एक हदतक उपासनासे और योगसे—बहुत हदतक योगसे समाप्त हो जाता है। रागद्वेषात्मक जो संकल्प है, उपासनासे और मनोराज्यात्मक जो संकल्प हैं, वह योगाभ्याससे, परन्तु विचारात्मक जो संकल्प हैं विचारात्मक जो विक्षेप है, वह बुद्धिके निश्चयसे। वह जैसे सुषुप्तिके बाद उठने पर होते हैं, वैसे समाधिसे उठनेके बाद भी होते हैं।

समाध्यादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमायाति तत्क्षणात्॥

समाधिसे उठे, अब मनोरथ कर रहे हैं। प्रलाप कर रहे हैं। एक हमारे बाबाके आश्रममें एक ब्रह्मचारी था, वह छ: घंटे तक स्थिर बैठ सकता था और बैठता था। वह उलटा भी टँगता था, शीर्षासन करता था, और विपरीतकरणी सब करता था। और जब उठता था तो लाल-लाल आँख और बड़ा गौर वर्ण, बड़ा तेजस्वी और बस, उसके बाद जो गाली देना शुरु कर देता था और सिद्धाई उसकी क्या थी? 'फटकारे सो सिद्ध।' जो दूसरोंको गाली दे।

कई लोग गाली दे, उसपर बड़ी श्रद्धा करते हैं। बोलते हैं, 'यह बिलकुल बेपरवाह आदमी है, हमारी बिलकुल परवाह नहीं करता, यह तो बड़ा भारी सिद्ध

है।' कुछ लेना-देना उसको होता तो गाली कैसे देता?' बोले—भाई, यह भी एक तरीका है, भला!

समाधि लगानेके बाद भी विक्षेप निवृत्त नहीं होता है। उठनेके बाद तुरन्त जारी हो जाते हैं। तो यथाकथंचित् मान लें कि संकल्पात्मक जो विक्षेप हैं वे बन्द हो जाते हैं, और विचारात्मक जो विक्षेप हैं, वे भी थोड़ी देरके लिए बन्द हो जाते हैं, लेकिन विचारात्मक विक्षेपकी निवृत्ति तो निश्चयसे होती है।

कई लोग ऐसा समझते हैं कि हम बहुत सोचते हैं तो हमारी बहुत आध्यात्मिक उन्नति हो गयी। सोचना तो बुद्धिका विक्षेप है। कई लोग समझते हैं कि हम बहुत संकल्प करते हैं तो हमारी बड़ी भारी उन्नति हो गयी। जबतक निश्चय पर नहीं पहुँचे, जबतक विचारका अन्त नहीं मिला, विचारके अन्तमें अपनी आत्मा रहती है। विचार और अविचार। विचारका अन्त हुआ अविचारमें, विचारके अन्तमें अपना आपा बैठा हुआ है। और निःसंकल्पताके अन्तमें अपना आपा बैठा हुआ है। संकल्प और संकल्पाभावका साक्षी जो अधिष्ठान है, विचार और विचाराभावका साक्षी जो अधिष्ठान है, वहाँ जाकरके महाराज, निश्चय पक्का होता है। तो इस मोक्षके मार्गमें—बड़ी सावधानीकी जरूरत है, अर्थके मार्गमें जैसे लाभ हो, वैसे ही करो। धर्मसे, अधर्मसे। भोगके मार्गमें जैसे भोग मिले वैसे ही करो, धर्मसे-अधर्मसे। दुनियाकी यह हालत है। कर्मके मार्गमें नाना प्रकारके कर्म सामने आते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि तुम्हारे जीवनमें कहीं पहुँचनेका लक्ष्य है कि नहीं? उसीकी ओर चलो, उसीकी ओर अपना निशाना लगाओ।

वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः। 15.15

सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा वेद्य कौन है? एक श्रीकृष्णका अहं। रोज। लक्ष्य कौन है? सम्पूर्ण लक्षणोंके द्वारा लक्ष्य कौन है? एक परमात्मा।

सर्वत्र अप्रमत्तेन वेद्धव्यम् सर्वतन्मयो भवेत्।

उपनिषद्ने कहा—'वेधन करो, वेध करो।'

आत्मलाभात् न परं विद्यते क्वचित्।
यल्लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाभिकांक्षितः॥

यह है। कृतकृत्य कब होओगे? कृतकृत्य कब हो जाओगे?

यस्त्वात्मतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते॥ 3.17
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। 3.18

तो यह व्यवसायात्मिका बुद्धि। एक लक्ष्य! एक लक्ष्य चाहे कहीं भी।

गाइये गणपति जगवंदन।

और,

माँगत तुलसीदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे।

गोस्वामी तुलसीदास

हाथ जोड़ रहे हैं गणेशको और चाह रहे हैं कि रामचन्द्रके चरणोंमें प्रीति।

सब कर माँगत एक फलु

हाथ जोड़ रहे हैं भूत-भैरवको, पीपल-बड़को। क्या है? इनमें भी अधिष्ठान-चेतन वही है, साक्षी चेतन वही है, उसमें भी अन्तर्यामी चेतन वही है। हाथ जोड़ते हैं कि बस हमारी आत्मनिष्ठा पक्की हो जाय। तुम्हारी ब्रह्मनिष्ठा पक्की हो जाय। क्या है? क्योंकि दृष्टि कहाँ है तुम्हारी? दृष्टि एक पर है कि नहीं? दृष्टि उसी पर है कि नहीं? और अनेक करोगे भाई, तो दृष्टि अनेक हो जायगी।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः।

देखो, काम कर्म आदिमें जो बुद्धि है उसका नाम है 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि।' और काम-कर्म आदि दोषोंसे रहित जो इन्द्रियोंका ज्ञान और अन्तः-करणका प्रकाश, उसपर अनुग्रह करनेवाली जो बुद्धि है, उसका नाम 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः।' जिस मनमें कामना भरी है, संकल्प-विकल्प भरे हैं, संशय-विपर्यय आदि भरे हैं, उस मनको अच्छा समझ करके पकड़े रहो—पकड़े रहो—पकड़े रहो, ऐसी सलाह जो देती है, वह बुद्धि 'अव्यवसायात्मिका'। और जो बुद्धि कामनासे रहित, काम दोषसे रहित, कर्मदोषसे रहित शुद्ध इन्द्रियोंको और शुद्ध मनको अनुगृहीत करनेवाली जो बुद्धि है उसका नाम 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है।

अब देखो, शब्दका अर्थ ठीक-ठीक अपने ध्यानमें बैठ जाना चाहिए। तुम्हारा मन क्या चाहता है? बुद्धि तुम्हारी कहाँ तक साथ देती है? बुद्धि कैसे मनका साथ देती है? मनने कहा कि हमको तो पैसा चाहिए। बोले—कहाँ है? उसके जेबमें। बुद्धिने कहा कि देखो, अभी एक कैंची उठाकर ले आओ

और काट लो। तो यह बुद्धि कैसी हुई यह व्यवसायात्मिका बुद्धि हुई? नहीं! नहीं हुई।

मनने कहा कि दुनियामें तो बड़े झगड़े हैं, बड़े झमेले हैं, झंझट है, इधरसे लौटो और, आत्माकार हो करके बैठ जाओ। तब बुद्धिने कहा—बहुत बढ़िया! देखो, दो-चार बार प्रणवका—दीर्घ प्रणवका उच्चारण करो, उच्चारण करके शान्त बैठ जाओ, उसके मूलमें, यह किसने बताया?

दीर्घं प्रणवं उच्चार्य मनोराज्यं विलीयते।

यह व्यवसायात्मिका बुद्धिने बताया। निश्चयात्मिका बुद्धिकी यह पहचान है, क्योंकि बाहर कभी एक विषया बुद्धि हो ही नहीं सकती। कभी शब्द-विषया होगी, कभी स्पर्श-विषया होगी कभी रूप-विषया होगी कभी धन-विषया होगी, कभी स्त्री-विषया होगी, कभी स्वर्ग-विषया होगी, स्वर्गमें कभी उर्वशी-विषया होगी, कभी नन्दनवन-विषया होगी तो कभी अमृत-विषया होगी। स्वर्गमें भी कभी बुद्धिकी एकता नहीं हो सकती। बुद्धिकी एकता जब होगी तब बुद्धिके आश्रयमें होगी बुद्धिके विषयमें नहीं होगी। इसलिए यह जो मोक्षका मार्ग है, यह जो परमात्माका मार्ग है, यह बुद्धिको विषयमें भटकानेवाला मार्ग नहीं है। बल्कि बुद्धिको बुद्धिके आश्रयमें स्थित कर देगा, तब बुद्धि निर्विषय होती है।

जब बुद्धि सविषय होती है, बुद्धिमें क्या है? बुद्धिमें घड़ा है, औरत है, मर्द है, पैसा है, तब बुद्धि देखेगी कि बुद्धिके घेरेमें—'यह कपड़ा, यह मर्द, यह औरत' बैठा हुआ है। और जब बुद्धिके पेटमें कुछ नहीं होगा, तब बुद्धि कैसी होगी? ज्ञानात्मिका होगी। तो ज्ञानात्मिका बुद्धि अपनेको अधिष्ठान चेतनसे अलग करके दिखाती ही नहीं। वह आश्रयसे अभिन्न हो जाती है। जब बुद्धिमें विषय होता है, तबतक वह अधिष्ठान चेतनसे जुदा भासती है और जब बुद्धिमें विषय नहीं होता, तब वह अधिष्ठान चेतनसे जुदा नहीं भासती। भले समाधि होवे! अप्रत्ययविज्ञान हुआ कि नहीं? अगर ज्ञान हो गया तो बुद्धिकी वह अवस्था बाधित है। और, विषयाकारता भी बाधित है। ज्ञान नहीं हुआ, तो बुद्धिकी वह भी एक अवस्था है, जहाँ वह निराकार होकरके आत्मासे अभिन्न भासती है। परन्तु अज्ञानका भेदन नहीं होनेके कारण अलग बनी हुई है। और फिर निकलती है।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 2.41

अव्यवसायिनाम् बुद्धयः। अव्यवसायी है। एक व्यापारमें मन नहीं लगता। बोले—चार दुकान खोल दो चार चीजकी। किसीमें तो कुछ मिल जायगा एक व्यवसायमें। कहते हैं, ये बड़े व्यापारी हैं, माने बड़े व्यवसायी हैं। आजकल व्यवसाय शब्द जो है, वह व्यापारके लिए भी चल गया है—ये बड़े व्यवसायी हैं। माने बड़े व्यापारी हैं। किस व्यवसायमें इन्होंने अपनी विशेषता प्राप्त कर ली है? सो तो क्या बतावें? एक दुकान पर चुनकी खोल ली है, एक कपड़ेकी दुकान ली है, एक आटेकी चक्की चलाते हैं, एक खोल लोहेका खोल दिया। काहेको? किसीमें मिल ही जायगा। तो यह व्यवसाय हुआ कि अव्यवसाय हुआ? माने कोई निश्चय नहीं। व्यापारके बारेमें सोच-समझ करके अपनी योग्यताके अनुरूप, लोगोंकी माँगके अनुरूप, देखभालके अनुरूप व्यापारके संचालनका निश्चय तुम्हारे अन्दर नहीं है। *'बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। अव्यवसायिनाम् बुद्धिः नहि भवति। बुद्धयो भवति।'*

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

जो व्यवसायी है, उसके पास 'बुद्धि' है। और जो अव्यवसायी है, उसके पास क्या है? उसके पास 'बुद्धयः' है। बुद्धयः= बहुत सारी बुद्धियाँ। एक पत्नी होवे, एक मनसे घरका काम होवे और बहुत पत्नी होवे तो? एक पाटा नहीं बन सकता अगर चार जनोंकी बुद्धि काम करती हो। कैसा? एक सुथारसे पाटा बनवाना। बोले—वह कितना लम्बा हो? कितना बड़ा हो? किस लकड़ीका बने? इसमें चार जनोंने चार राय दे दी। वह नहीं बन सका, भाई! क्योंकि बुद्धयः। बुद्धयः आगयी न? बुद्धयः और यह बुद्धि-बुद्धि आपसमें मेल नहीं करती हैं जल्दी, अलग ही अलग होती हैं। रूपबुद्धि अलग और शब्दबुद्धि अलग और स्पर्शबुद्धि अलग। एक बुद्धिसे जहाँ काम होता है वहाँ ठीक होता है और अनेक बुद्धिसे जहाँ काम होता है वहाँ मामला गड़बड़ा जाता है। क्यों? बोले—'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च'—एक तो एक-एक बुद्धिकी बहुत-बहुत शाखा और दूसरे प्रत्येक शाखा अनन्त-अनन्त। जैसे, देखो यों समझो कि एक वृक्षजाति है। वृक्ष एक जाति है। तो एक वृक्षजातिमें वृक्षोंकी अनेक-अनेक जातियाँ होती हैं। यह आम है, यह पीपल है, यह बड़ है, यह गुलर है, एक-एक आम्रजातिके अनेक-अनेक वृक्ष होते हैं। यह क्या हुआ?

समझो, बहुत सारी डालियाँ हैं। बहुत शाखाएँ हैं। अच्छा, समझो शाखाओंमें आमके फल लगते हैं। एक ही पेड़ पर आमके फल लगते हैं। बोले—'बहुत सारी डालियाँ और उनमें बहुत सारे फल। अब आगे बोले—'अनन्ताश्च।' अनन्ताश्चका क्या अर्थ हुआ? एक आमसे दूसरा आमका पेड़ पैदा होगा। फिर उसके बहुत सारे आम पैदा होंगे। फिर उनसे बहुत सारे वृक्ष पैदा होंगे। फिर उनसे बहुत सारे आम पैदा होंगे। तो परम्परामें जो उनका विस्तार है, बढ़ानेमें जो विस्तार है, उसका नाम अनन्त है। एक ही साथ जो बहुत होना है, उसका नाम बहुशाखा है। ऐसी-ऐसी शाखा फुरती है महाराज! बुद्धियोंमें!! कल थोड़ा नमूना उसका बताया था।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि योगकी महिमा यह है कि उसमें विषय एक है, उसमें बुद्धि एक है, उसमें गन्तव्य एक है। साधनके अनेक होते हुए भी बुद्धिकी एकता साधनमें आती है। साधनसे एकता आती है और जो साधन नहीं करेगा, उसको क्या पाना है एक पदार्थ? दुनियामें ऐसी कौन-सी एक चीज है जिसको पाकर हम कृतकृत्य हो जायेंगे? यह बात उसकी समझमें कभी नहीं आवेगी। इसलिए साधनकी महिमा है।

साधनकी महिमा क्या हुई? एक तो साधनकी महिमा यह है कि कर्मबन्धनका प्रहाण-**कर्मबन्धं प्रहास्ति।** (2.39) साधनबुद्धि तुम्हारे अन्दर आवेगी तो पहली बात यह होगी कि कर्मबन्धनका **प्रहाण** होगा। तो कर्मबन्धन निवारिकत्वात् एक और अभिक्रम=उन्नतिका नाश नहीं है। अनेक उन्नति होती रहेगी। यह दूसरी बात है। और प्रत्यवाय=अधः पतन नहीं होगा। यह तीसरी बात हुई। तो कर्मबन्धनका निवारक होनेके कारण, और उन्नतिमें बाधा न पड़नेके कारण, प्रत्यवाय न होनेके कारण और स्वल्पानुष्ठानसे भी महान भयका निवारण होनेके कारण, और बुद्धिकी एकताके कारण—अब गिन लो—

(1) बुद्धिकी एकता।

(2) अल्पानुष्ठानसे महान् भयका निवारण।

(3) प्रत्यवायकी अप्राप्ति।

(4) अभिक्रमनाशका निषेध। और,

(5) कर्मबन्धनका प्रहाण।

इन पाँच हेतुओंसे मनुष्यके जीवनमें साधन करना आवश्यक है। पाँच हेतु

बता करके साधनकी कर्तव्यता बतायी। इसलिए इसका नाम हो गया—**'योगमहिमोपनिषद्'**।

'अशोच्यानन्व' (2.11) से ले करके **'नानुशोचितुमर्हसि'** (2.25) तक केवल ज्ञानके द्वारा, केवल समझाके शोककी निवृत्ति बतायी। उसके बाद धर्मानुष्ठानके द्वारा शोककी निवृत्ति बतायी। अब साधन-अभ्यासके द्वारा किस प्रकार पाँच दोषोंसे निर्मुक्त हो करके हम तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो जाते हैं, यह 'योगमहिमा-उपनिषद्' ने बताया। अब आगे 'कामनिन्दोपनिषद्' का अर्थ आप समझे।

भगवान् स्वयं भी समझा रहे हैं। इसमें भी गिनती किये हुए पदार्थ हैं। जहाँ पदार्थोंकी गिनती नहीं हो सके, वहाँ अर्थमें स्पष्टता नहीं आयी। किसी भी श्लोकका अर्थ समझना हो, किसी भी प्रकरणका अर्थ समझना हो तो उसमें गिनती कर लो, अ-ब-स। कितनी बातें कही गयी हैं? प्रतिज्ञा क्या है और हेतु क्या है? बोले—'भाई, जो तत्त्वज्ञ हो जाता है। उसके लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी भी जरूरत नहीं रहती। उसके लिए समाधि-साधनकी भी जरूरत नहीं रहती। उसके लिए धर्म, उपासना, योगकी भी जरूरत नहीं रहती। तत्त्वज्ञ है न? क्यों भाई? क्यों जरूरत नहीं रहती? कारण तो बताओ!

प्रतिज्ञा यह हो गयी कि तत्त्वज्ञको साधनकी जरूरत नहीं, तो इतना तो याद हो गया। इतना तो पोथियोंमें लिखा हुआ है। पर जब मनन करोगे तब मालूम पड़ेगा कि जिस प्रयोजनसे साधन किया जाता है, वह प्रयोजन ही उसका सिद्ध हो गया है। यह बात आगे आयेगी कि—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 2.46

जहाँ प्रयोजन सिद्ध हो गया वहाँ साधनकी जरूरत नहीं रहती। प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, और साधन छोड़ दिया—

'ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं और करम दियो छिटकाय'।

ऐसा कुछ सुननेको आता है—ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हुई नहीं। ठीक-ठीक प्रमाण और प्रमेयका तो शोधन हुआ नहीं। प्रमेय=पदार्थका शोधन ठीक नहीं हुआ और प्रमाण=करणका शोधन ठीक हुआ नहीं और साधन छोड़ दिया? साधन छोड़ दिया तो अब शोधन नहीं होगा=करण आदि साधन छोड़ देनेसे।

प्रमेय तत्-त्वं पदार्थका शोधन नहीं होगा। श्रवणादिके परित्यागसे और शमदमादि साधनके परित्यागसे करणका शोधन नहीं होगा।

इस समय तुम क्या कर रहे हो? पदार्थको ढूँढ रहे हो कि कर्मको शुद्ध कर रहे हो? अपने साधनके सम्बन्धमें सोचना-विचारना चाहिए। तो यह देखो, बताते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 2.42-44

जो अब कामी जो है वह दो तरहके, क्या समझे? एक तो इस लोकके भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाला और एक परलोकके भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाला। तो—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.67

आगे-आगे चली इन्द्रियाँ और पीछे-पीछे बुद्धि। क्या हो गया? सामने हैं विषय=हरी-हरी घास और इन्द्रियाँ हैं गौएं। वह उधरके लिए चल पड़ी। अब क्या हुआ? चरवाहा भी गायोंके पीछे-पीछे चल पड़ा। अब जिधर हरी-हरी घास दिख रही है उधर है गड्ढा, उधर है दावाग्नि लगनेका डर, उधर रहता है शेर; पर गायोंको तो हरी-हरी घास दिखती है, न उनको गड्ढा दिखता है, न उनको शेर दिखता है और न उनको आग लगनेका डर दिखता है। तो वह तो उधर जा रही हैं।

अब चरवाहेने क्या किया? यदि अब वह बोले—'गायोंको जहाँ मजा आवे वहाँ चरने दो। वह भी गायोंके पीछे चल पड़े। तो उसको भी शेर खा जायगा, वह भी गड्ढेमें गिर जायगा, वह भी दावाग्निमें फँस जायेगा। होना यह चाहिए कि गायोंको जहाँ हरा-हरा दिखे वहाँ मत जाने दो। बल्कि चरवाहेको जहाँ गायोंका चरना ठीक लगे, वहाँ गायको चराये। जहाँ गायको चरना ठीक लगे वहाँ चरवाहा न जाय, तब गायकी भी रक्षा है और चरवाहेकी भी रक्षा है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरित प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि। 2.67

विषयोंकी ओर जल इन्द्रियरूपी गौएं चलती हैं, और मनरूप ग्वाला गायोंका पीछा करता है न? तो यह प्रज्ञाका नाशकर देता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ 2.62-63

और अन्तमें—

वह सत्यानाशका मार्ग है।

अच्छा, लौकिक बात बताते हैं। अब जरा वैदिक बात। लौकिक बात आगे आनेवाली है। क्योंकि बहुत लोग कह देते हैं कि 'हमें स्वर्गकी अप्सरा नहीं चाहिए। हमको तो धरतीकी सुंदरी चाहिए। हमको तो जो इन्द्रियोंमें सौन्दर्य प्रतियोगितामें विजयिनी हो वह नहीं, विश्वमें जो विजयिनी हो वह चाहिए। हमको तो दुनियादारीकी बात चाहिए, भाई! हमको स्वर्गकी अप्सरा नहीं चाहिए।' तो वह क्यों नहीं चाहते हैं? क्योंकि उनको—'मरनेके बाद एक आत्मा होती है, वह अपने कर्मका फल भोगती है'—यह बात उन्होंने अभी देहसे उठकर, कभी जानी नहीं मानी नहीं, देहसे ऊपर उठकर। उनको तो देह ही आत्मा है। चार्वाक् मतानुयायी हैं वे। अभी उनकी स्थिति चार्वाक्दर्शनमें है, जो देह ही को, स्थूल शरीरको आत्मा माननेवाले हैं। पर, आओ जरा परलोककी भी बात करें—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

इनको व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है। अव्यवसायी हैं, यह पहले श्लोकमें कहा गया न? अव्यवसायी=निश्चयरहित? उनकी चर्चा, उनकी महिमाका यहाँ वर्णन है। कैसे होते हैं ये महापुरुष लोग?

तो देखो, उनकी वाणीमें दोष, वे स्वयं दोषी और उनके सिद्धान्तमें दोष। गिनती करो—पहले, वे स्वयं दोषी हैं। क्यों? अविपश्चित् हैं। 'अ' जो है वह तो निषेधार्थक है। और 'वि' उपसर्ग है। 'पच' जो धातु है, 'दृश्' जो धातु है उसका रूप बनता है 'पश्यति' उस 'पश्यति' में से 'यत्' का लोप हो गया है, त्रिशोपदारी

होनेके कारण। '*तृणोदराणि यथोपदेष्टम्।*' पाणीनीयसूत्र और यह जो चित् है इसमें, यह—'*चिनोति वा चेतति वा चिन्तयति वा*'। तो 'विपश्चित्' शब्दका अर्थ पहले देखो—'*विशेषं पश्यति चिनोति चेतति चिन्तयति इति विपश्चित्।*' 'विपश्चित्' शब्दकी निरुक्तमें उल्लिखित यह व्युत्पत्ति है। विपश्चित् क्या है? *वि प्रकृष्टं पश्यन्ति चिन्वन्ति चिन्तयन्ति*—जो साधारण आदमियोंकी आँखसे नहीं दिखता है। विप्रकृष्ट=जो दूरबीनसे नहीं दिखता है, जो खुर्दबीनसे नहीं दिखता है, जो आँख-कान आदि प्रत्यक्षसे नहीं दिखता है, जो अनुमानसे नहीं दिखता है। उस विप्रकृष्ट माने इन्द्रियगम्य पदार्थोंसे परे रहनेवाली जो चीज है, उस चीजको जो देखे, उसका निश्चय करे, उसको प्रकाशे, और उसका चिन्तन करे उसका नाम हुआ—'विपश्चित्' और यह महापुरुष कौन है? निश्चयहीन जो है वह कौन है? अविपश्चित्। ये उनके बिलकुल विपरीत स्वभाववाले हैं। अव्यवसायी हैं, अनिश्चयी हैं, संशयी हैं। मैंने ऐसे कई देखे हैं, ऐसे-ऐसे शक्की लोग होते हैं, उनको व्यापारमें पाँच लाख रुपया लगाना हो तो पाँच मिनटमें निश्चय कर सकते हैं और दान धर्ममें उनको पाँच रुपया लगाना हो तो पाँच घण्टे लग जायेंगे। यह क्या है? यह अन्त:करणकी अशुद्धिका नमूना है। यह त्यागकी भावनाकी हिंसा है। वह व्यापारमें चाहे जितने ठगे जायँ; लेकिन ईश्वरके नाम पर, धर्मके नाम पर नहीं। जो ठगता है, वह बुरा है, लेकिन अपनी पकड़ कितनी है, यह तो देखो! अविपश्चित:।

अविपश्चित:=उन्नत वस्तुको, ऊँची चीजको न देखते हैं, न उसके बारेमें निश्चय करते हैं, न प्रकाशते हैं और न उसका चिन्तन करते हैं। तो क्या करते हैं?

इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति।

याम् इमाम् पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति—यह 'प्रवदन्ति' क्रिया जो है, यह भी मजेदार है। प्रवदन्ति=अफवाह फैलाते हैं, प्रवाद फैलाते हैं, दुनियामें किंवदन्तिके स्रष्टा होते हैं। जिनके मूलमें कुछ नहीं, ऐसी-ऐसी बातें फैलाते हैं। तो वह फिर प्रमाणरूपसे क्या उद्धृत करते हैं? स्वयं तो उनको सूझता नहीं और गाँवमें अफवाह फैलाते हैं और उनके लिए प्रमाणका आधार क्या है? बोले—'इमां पुष्पितां वाचं'—यह जो पुष्पिता वाक् है, फलप्रसू नहीं। उसके उदाहरणमें आचार्योंने कई फूलोंका नाम लिया है। पुष्पितां वाचं=खिली हुई वाणी। जैसे किंशुक, पलाश, ढाक—फाल्गुन-चैतमें जो फूलता है न? लाल-लाल हो जाता है, पत्ता कोई न दिखे, सारा पेड़ लाल-लाल दीखे। पलाश, किंशुक-हिन्दीमें

टेशू भी बोलते हैं। किंशुक जो है न, किंशुक नामरूपको बदलकर खड़ा हो जाता है। तो वह जो *ढाँकके तीन पात* बोलते हैं न? तो लाल-लाल फूल खिला हुआ है। बाहरसे देखा कि भाई, बड़ा रसीला है, चलो। अगर उसमें फल भी लगेगा तो कड़वा। विष्ठामें जो कीड़े निकलते हैं। वे पेटके कीड़े सब निकल जाते हैं या मर जाते हैं पलाशके बीज खानेसे। पर देखनेमें कैसा?

सेमरके फूलका वर्णन आपने सुना होगा। बस देखते रहेंगे कि यह सेमरका फूल खिलेगा। बहुत बड़ा है न? बहुत बढ़िया लगेगा।

तो जब वह खिला तो उसमें-से रुई निकली। खानेके काम की ही नहीं। फल नहीं मिला फूलसे रुई निकली बिलकुल।

तो 'पुष्पिता वाणी 'का अर्थ है बोलनेमें, सुननेमें, छूनेमें बहुत मजेदार होवे, लेकिन फलमें कैसा होवे? विषकन्या। इसका अर्थशास्त्रमें चाणक्य=कौटिल्यने अर्थ किया है—विषकन्या कोई ऐसी स्त्री होती है, जिसके संगसे पुरुषकी मृत्यु हो जाती है। तो पहले राजा लोग ऐसी कन्याओंको तलाश करके रखते थे। देखनेमें बहुत सुन्दर, बोलनेमें बड़ी मीठी, व्यवहारमें बड़ी निपुण। कोई संग करे तो मर जाय। ऐसी कन्याओंको वे अपने दुश्मनोंके पास भेजा करते थे। देखनेमें—

विष-रस भरा कनक घट जैसे।

आपात रमणीय=थोड़ी देरके लिए सुख देनेवाली चीज। तो अब बोलते हैं—**यां इमां पुष्पितां वाचं।**

यह वाणी कैसी है? बस, वही सेमरका फूल है। वही पलाशका फूल है, वही यह विषकन्या है, पुष्पिता है, परन्तु यह फलवती नहीं है, इसको वंध्या बोलते हैं। पुष्पिता तो होवे, परन्तु फलप्रसू न होवे। पुष्पिता तो स्त्रीको बोलते हैं जिसको मासिकधर्म तो होवे—मासिक धर्म होनेका नाम पुष्पिता होना है। गर्भाशय इसमें खिल जाता है। इस अवस्थाको पुष्पिता अवस्था बोलते हैं; परन्तु बच्चा देनेकी योग्यता इसमें नहीं होवे। बन्ध्या होवे। मुख्य वस्तु पुष्पिता ही पुष्पिता होवे। तो यह वाणी जो है, वाक्! वाक् कैसी? बोले—पुष्पिता!

बोले—केवल पुष्पिता वाणीको वे प्रमाणरूपमें उद्धृत करते हैं। बोले—अच्छा, स्वयं बुद्धिहीन हैं। गाँवमें प्रवाद फैलाते हैं माने फलहीन पुष्पिता वाणी। पुष्पिता वाणीको प्रमाणरूपसे मानते हैं। तो प्रमाण भी, प्रवाद भी और निश्चय भी

तीनों गलत। अच्छा, तो कहीं प्रेम तो होगा उनका! तो बोले—उनकी प्रीति भी गलत।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।

वेदमें अर्थवाद है, उसमें उनकी रति है। अर्थवादमें रति=प्रीति है। वेदमें जो वाद-विधिवाद, परिसंख्यावाद नियमवाद, अर्थवाद—तो अर्थवादसे यहाँ अभिप्राय है, वेदमें जो अर्थवादके वचन हैं, अर्थवादके वचन कैसे होते हैं? अर्थ=प्रयोजन। किसी प्रयोजनकी पूर्तिके लिए कोई बात बोली जाय उसको बोलते हैं अर्थवाद रोचक या भयानक।

एक माँ थी, उसके बच्चेको जुकाम हो गया था। वह चाहती थी कि जरा-सी कड़वी दवा इसको खिला दें तो इसका जुकाम दूर हो जाय। तो उसने कहा—'बेटा! यह दवा तुम खा लो, तो तुम्हें लड्डू खिलावेंगे। बेटेने कहा, बहुत बढ़िया माँ! दवा कड़वी ले ली और मुँहमें डाल दिया और डाल करके कहीं इधर-उधर गया, आँख बचाकर थूँक आया और बोला—'माँ मैंने दवा खा ली। लड्डू दे दो। तो माँका अभिप्राय पूरा हुआ? माँने जो लड्डू देनेको कहा था, वह इसलिए कि बेटा दवा खा ले। परन्तु दवा तो बेटेने थूँक दी और लड्डू माँगना शुरू कर दिया।' यह क्या हुआ?

रोचनार्थ फलश्रुति—जो वेदमें फलश्रुति है, उसका यह अर्थ नहीं है कि अप्सरा भोग्य है। उसका यह अर्थ नहीं है कि उर्वशी अप्सरा भोग्य है, नन्दनवन आदि विचरण करने योग्य हैं, विमान आदि जो हैं वे आरोहण करने योग्य है, अमृतादि जो हैं वह पान करने योग्य हैं। इसमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है।

श्रुतिका तात्पर्य यह है कि मनुष्य यज्ञका नियम ले करके बैठे, जब नियम ले करके बैठेगा तो उसमें आसनसे बैठनेका अभ्यास होगा, आग सहनेका अभ्यास होगा, तितिक्षा आवेगी उसमें, शम आवेगा उसमें, दम आवेगा उसमें, वह तपस्वी हो जायगा, वह त्यागी हो जायगा। वह नियम परायण हो जायगा, उसके अन्तःकरणमें शमदमादि जो हैं, वे आ जायेंगे। परलोकमें श्रद्धा होनेसे श्रद्धालु हो जायगा। आत्मा जो है वह देहसे अतिरिक्त है यह विश्वास हो जायगा। तो आत्मा देहसे अतिरिक्त है, अन्तःकरणमें श्रद्धासम्पत्ति है, तपस्या है, ब्रह्मचर्यका नियम है, त्यागका नियम है, ये सारे सद्गुण उसके जीवनमें आजायेंगे। तो जीवनमें सद्गुणोंका आदान करनेके लिए श्रुतिने यज्ञका विधान किया।

अब देखा कि लोग बिना भयके और बिना लोभके कोई काम करते नहीं हैं। तो स्वर्गादि रूप जो असंख्य लोक हैं सृष्टिमें, क्योंकि पञ्चभूतके मिश्रणका स्तर एक नहीं हो सकता, कहीं स्थूलका होता है, कहीं सूक्ष्मका होता है। कहीं कैसा होता है, कहीं कैसा होता है। तो उसमें-से लोक विशेषकी प्राप्ति जो है, यह दवा खा लो तो हम तुमको सिनेमा दिखा ले आवेंगे, तुमको कश्मीर ले चलेंगे। जैसे बच्चोंको खिलावें, सिनेमा हैं भी, पर सिनेमा दिखानेमें तात्पर्य नहीं है, तात्पर्य तो औषध खिलानेमें है। इसी प्रकार शास्त्रमें अर्थवादका वर्णन आता है, सो बोले—'नहीं-नहीं' हमको तो उर्वशी चाहिए, नन्दनवन चाहिए पर; हम यज्ञ नहीं करेंगे, हम ब्रह्मचर्यका नियम नहीं लेंगे, हम धनका त्याग नहीं करेंगे।' ऐसा हो गया। केवल अर्थवादमें प्रयोजनके अनुसार बात कही गयी थी प्रयोजनकी पूर्तिके लिए। प्रंयोजन तो हो गया मुक्त। गुम हो गया प्रयोजन और इनामकी माँग बढ़ गयी, ऐसी उनकी स्थिति!

बोले—'अच्छा भाई, यह तो वैदिक है। माना कि वह निश्चयवाले नहीं हैं, प्रवादी हैं, पुष्पितावाणीको मानते हैं और अर्थवादमें ही उनकी रुचि-रति है। लेकिन वेद तो मानते हैं न?'

बोले—'वेद भी कहाँ मानते हैं? पूरा नहीं मानते हैं, अधूरा मानते हैं।' बोले—*नान्यदस्तीति कर्मातिरिक्तं ज्ञानं नास्ति। स्वर्गादिरिक्तो मोक्षः नास्ति।* वह कहते हैं कि कर्मके अलावा कोई ज्ञान नहीं है और स्वर्गके सिवाय कोई मोक्ष नहीं है और यजमानके सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। जो बहुत यज्ञ करे, जैसे हमारे महात्मा लोग कई थे पहले, कोई सेठ उनके पास दर्शन करने ज़ाय न, सो तो पहले तो छपाकर बड़े-बड़े पन्ने रखते थे, बढ़िया क़ागज चमकीला, सुनहले अक्षरोंमें उसपर छपा हुआ—'हम आपको धर्मधुरीण, धर्मधुरन्धर, भक्तराज, भक्तशिरोमणि, ज्ञानीमुकुटमणि'—ये सब उपाधि उसपर छपी हुई होती। उसको कौन लेगा? कौन सेठ किस बातसे खुश होगा, यह पहलेसे सोचकर रखते थे। बस, नाम उसका लिख दिया जाता। हम समझते हैं, यहाँ तो शायद कोई हो पुराने जमानेके तो उनको याद होगा जिनको इस तरहकी उपाधियाँ मिली हुई होवें। हमने यह देखा था। देते हुए देखा था, जिन्होंने पाया है उनको देखा था। तो बोले—भाई, कर्मकाण्डी लोग कहते हैं कि—

यजमानः एव ईश्वरः।

यजमानकी स्तुति। यह जो कहा गया, 'तत्त्वमसि'—'तत्त्वमसि' महावाक्यका क्या अर्थ है? यहाँ तो सब लोग तुरन्त बता देंगे कि 'तत्'=वह परमात्मा, 'त्वं'=तू और 'असि'=है।

बोले--'यह क्या है?' जब यजमानने खूब सोमपान कराया पुरोहितजीको और खूब दक्षिणा दी गाढ़ी तो पुरोहितजी खुश हुए और खुश होकरके बोले—**यजमान! तत्त्वमसि।**

'तू ही ईश्वर! हमारा ईश्वर तो तू ही है।' कर्मकाण्डी लोग ऐसे कहते हैं—

त्वमतिरिक्तो अन्यो ईश्वरो नास्ति।

'तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। तू ईश्वर है।' यह पुरोहित लोग खुश होकर कहते थे। कर्मकाण्डी लोग ऐसी व्याख्या करते हैं। बोले—मोक्ष? मोक्ष कुछ नहीं है। स्रग चंदनवनितादिका आलिंगन इस लोकमें अथवा परलोकमें, इसीका नाम मोक्ष है। कामियोंने कहा—'नीवीमोक्षो मोक्षः'। चार्वाकोंने कहा—'मृत्युर्मोक्षः'।

लोकान्तरगमनं मोक्षः नान्यदस्तीति।

हम कहते हैं उसके सिवाय कोई अविद्या-निवृत्तिरूप और परमानन्द स्वरूप जो ब्रह्म है, उसमें ब्रह्मात्मैक्यबोधरूप दूसरा कोई मोक्ष नहीं है। बोले—'वेदको तो मान लिया न?'

नान्यदस्तीति वादिनः।

वेदको पूरा नहीं मानते हैं। वेदको अधूरा मानते हैं। वेदाः कर्मकाण्डविषयाः। वेदोंमें केवल कर्मकाण्डका वर्णन है, ब्रह्मकाण्डका वर्णन नहीं है। इसलिए नान्यदस्तीति वादिनः। ये महाराज, अविदितस्तोंकी दशा है।

बोले—'भाई, कुछ तो चाहते होंगे।' चाहते हैं—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति॥

अब उनकी चाह बताते हैं 'कामनिन्दोपनिषद्'के बाद आगे—'निस्त्रैगुण्योपनिषद्' है।

निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

●

: 34 :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

2.42-44

आपको पहले सुना चुके हैं कि ये तीन श्लोक—'यां इमां'से लेकर 'समाधौ न विधीयते' पर्यन्त यह 'कामनिन्दोपनिषद्' है। कामीकी निन्दा इसमें स्पष्ट है।

बोले—भाई, श्रीकृष्णकी वाणी और सो भी उपदेशरूप। उसमें किसीकी निन्दा क्यों? क्योंकि सत्पुरुष लोग किसीकी निन्दा नहीं करते हैं। एक तो यह उपनिषद् है और उपनिषद्में ज्ञानकी महिमा और अज्ञानका निवारण करना इष्ट है। अज्ञानकी जो वंशपरम्परा है, उसकी निन्दा की जाती है, इसमें निन्दा इष्ट नहीं है। इष्ट है ज्ञानकी और ज्ञानमार्गकी और ज्ञानफलकी प्रशंसा।

न हि निन्दा अनिद्यम् निन्दुतं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्।

निन्दा किसीकी निन्दा करनेके लिए नहीं की जाती है, बल्कि जिसकी स्तुति करनी है, जो काम लेना है, जिसके पास भेजना है उसकी प्रशंसा करनेके लिए 'विधेयं स्तोतुम्'। विधेय क्या है? निष्कामता=अन्तःकरणकी शुद्धि। निष्काम होना और अन्तःकरण शुद्ध होना एक ही चीज है। अन्तःकरणमें कामना ही कलुष है। कामना ही मलिनता है।

अच्छा, तो मुण्डक उपनिषद्में भी ऐसा है?

प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्मः।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युं पुनरेवाभियन्ति॥

मुण्डक. 1.2.7

यह यज्ञरूप जो नौका है, यह बहुत कमजोर है। कर्मकाण्डी जो नाव है, वह बहुत कमजोर है। उसमें तो एक मल्लाह नहीं, अठारह मल्लाहकी जरूरत् पड़ती है।

अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्मः।

और बहुत छोटे-छोटे काम करने पड़ते हैं।

एतत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युं पुनरेवाभियन्ति।

जो लोग कहते हैं कि यह सकाम कर्म ही सबसे ऊपर है और श्रेय है, ये मूढ हैं और बारम्बार उन्हें जन्म-मरणके चक्करमें पड़ना पड़ता है। यह श्रुति 'मुण्डकोपनिषद्' है।

मुण्डकोपनिषद्=बिलकुल मुण्डा सिर जिसका होवे। जानते हैं न? मुण्डक=सिर। *मुण्ड एव मुण्डकः।* यह वेदका शिरोभाग है। मुण्डीलोग इसको बहुत पसन्द करते हैं, माने शिखारहित जो संन्यासी महापुरुष हैं, उनको यह उपनिषद् बहुत पसन्द है। इसलिए इसको 'मुण्डकोपनिषद्' कहते हैं। क्योंकि सकाम कर्मकी, यज्ञ-यागादिकी इसमें स्पष्टरूपसे निन्दा की हुई है। तो असलमें यज्ञ-यागादिकी निन्दा नहीं है, निन्दा तो कामना-मात्रकी है। अपने हृदयमें कामना नहीं रहनी चाहिए। तो यह बात हुई की निन्दा कर्मकी नहीं है, निन्दा कामना की है। निन्दा आत्माकी, पुरुषकी नहीं है, पुरुषके अन्तः-करणमें रहनेवाली कामना की है। उसको निकाल करके फेंकना चाहिए। तो ऐसे जो पुरुष हैं जो कामना और कामनाकी पूर्तिमें ही लगे हुए हैं। उनके लिए भगवान्‌ने कुछ विशेषण दिये हुए हैं, उनकी तारीफमें कुछ बातें कही हुई हैं।

एक बात तो पहले कही कि—'अविपश्चितः'। माने यह विपश्चित् नहीं है। *विप्रकृष्टं न पश्यन्ति न चिन्वन्ति, न चेतयति, न चिन्तयन्ति।* वे सर्वोत्तम जो वस्तु है, परमात्मा, उसका न दर्शन करते हैं न प्रकाशित करते हैं, न चिन्तन करते हैं। ऐसे अविपश्चित् हैं वे। माने अज्ञानी हैं। यह पहली बात कही।

दूसरी बात उनके बारेमें यह कही—'वे वेदरत नहीं हैं वेदवादरत हैं। वेदके सम्बन्धमें वे वादविवाद बहुत करें, और अर्थवाद जो है उसमें, उसकी तो बड़ी तारीफ करें। लेकिन स्वयं वेदमें उनकी प्रीति नहीं है। क्योंकि वेदके परम तात्पर्यका वे अनुसन्धान नहीं करते हैं। निचली बातोंमें ही वे रम जाते हैं। वे

वेदोक्त फलका चिन्तन नहीं करते हैं। स्थूलमें ही रम जाते हैं। भला! वे फलकी ओर दृष्टि नहीं रखते हैं। फूलमें ही लुभा जाते हैं। वेदवादरताः।'

बोले—'इसमें भी कोई हानि नहीं थी। अज्ञानी होना, यह कोई पुरुषका अपराध नहीं है, और यदि कोई बड़ी प्रशंसा की बातें की जायँ—'जैसे कल सुनाया कि भाई, लड्डू मिलेगा खानेको, कुनैनकी एक गोली खा लो। तो वहाँ लड्डू खिलानेकी जो बात है, वह औषधिरूप कुनैन खिलानेके लिए है, पित्तपापड़ा-चिरायता खिलानेके लिए कि तुमको शक्कर बादमें देंगे। तो शक्करमें तात्पर्य नहीं है, जरा कड़वा लगनेवाला जो औषधि है, वह खिलानेमें तात्पर्य है। सो यहाँ तक भी कोई बात नहीं, वे तो बहुत आगे बढ़ जाते हैं। क्या? कि—

नान्यदस्तीति वादिनः।

यदि उनसे पूछे—यह जो स्वर्गादिरूप फल है, इसके सिवाय कोई परम पुरुषार्थ मोक्ष है, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है। बोले—यह सब कुछ नहीं। आत्मा अकर्ता नहीं, आत्मा अभोक्ता नहीं, आत्मा परब्रह्म परमात्मासे एक नहीं, मोक्ष नामका कोई पुरुषार्थ नहीं—

अन्यत् न अस्ति इति वादिनः।

माने वेदके अवान्तर फलको स्वीकार करके जो परम फल है, उसको मना कर देते हैं। यह बात तो साफ ही श्रुतिके शब्दोंमें मूढ़ताकी हो गयी, क्योंकि इससे वैराग्य करनेकी विधिश्रुति जो है, वह स्पष्टरूपसे कहती है—

परिक्ष्यलोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद माया नास्त्यकृतः कृतेन।

मुण्डक 1.2.12

स्पष्टरूपसे श्रुति बताती है कि यह पुण्यसे बनाया हुआ जो लोक है, पुण्यनिर्मित लोक क्षीण हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे इष्टिका निर्मित, कामनिर्मित लोक क्षीण हो जाता है। कारीगरके द्वारा बनाया हुआ मकान जैसे एक दिन गिर जाता है, वैसे पुण्यकी ईंटोंसे चुना हुआ मकान भी एक दिन गिर जाता है। तो युक्तिसे युक्त=युक्तियुक्त श्रुतिके द्वारा स्पष्टरूपसे काम्य जो कर्म हैं और काम्य जो फल हैं, उनकी निन्दा की हुई है। इसलिए—'नान्यदस्तीति वादिनः।' यह जो है, यह अविपश्चित् हैं। ये अर्थवाद प्रेमी हैं। तीन बात—

(1) अविपश्चितः।

(2) वेदवादरताः।

(3) नान्यदस्तीति वादिन:।

अब चौथी बात उनके बारेमें देखो—**कामात्मान: स्वर्गपरा:।**

अच्छा भाई, वे खुद तो बहुत अच्छे होंगे। बोले कि नहीं, कामात्मान:। वह काम ही उनकी आत्मा है। माने काममय पुरुष है। कामात्मन:=काम ही उनका शरीर। कामात्मान:। क्या मतलब हुआ? काममय जो पुरुष होता है, उसमें कभी एकाग्रता नहीं होती है। हमेशा उसके मनमें जलन बनी रहती है। हमेशा वह भूत-भविष्यकी बात ही सोचा करता है। जिसके हृदयमें कामना भर गयी वह भीतर तो बैठेगा ही नहीं। जिसकी कामना है उसके आसपास मँडरायेगा। आप कहाँ रहते हैं जी? अपने मकानमें? नहीं जी, प्यारेके मकानमें रहते हैं।

एक राजा थे, तो उन्होंने यह नियम किया था कि दस बजे तक दिनमें एकान्तमें बैठेंगे और किसीसे मिलेंगे नहीं और भगवान्‌का भजन करेंगे। काम तो बहुत बढ़िया था, किसीसे नहीं मिलेंगे।

एक दिन दस बजेकी जगह नौ बजे एक महात्मा आगये। उन्होंने खबर भेजी कि—'खबर कर दो महात्मा आये हैं। राजासाहबसे मिलनेके लिए।' खबर गयी तो राजासाहबने कहा कि—'जाकर महात्माजीको कहो कि अभी राजासाहब भजनमें बैठे हैं। वे भगवान्‌का भजन कर रहे हैं, उठेंगे तब मिलेंगे।' उस आदमीने आकर कहा—तो महात्माने कहा कि—'जाकर तुम महाराजासे कहो कि वे भगवान्‌का भजन नहीं कर रहे हैं। वे तो दुकानमें जूता खरीद रहे हैं।'

अब उस आदमीने जाकर कहा कि—'महाराज! क्षमा अन्नदाता! वह तो आपके बारेमें ऐसे कह रहा है कि आप दुकानमें जूता खरीद रहे हैं।'

बोले—'बड़ा अच्छा महात्मा है भाई। उसने वहींसे हमारे मनकी बात जान ली। मैं तो सचमुच भजनके नाम पर बैठा जूता ही खरीद रहा था।'

तो असलमें मनुष्य कहाँ रहता है? मनुष्य गुरुके पास नहीं रहता, मनुष्य देवताके साथ, इष्टदेवताके साथ, भगवान्‌के साथ नहीं रहता, मनुष्य वहाँ रहता है जहाँ उसका काम होता है। माने जिसको वह चाहता है। यह तो—

श्रद्धामयोऽयं पुरुष: यो यच्छ्रद्ध: स एव स:। 17.3

यह पुरुष जो है, यह श्रद्धामय है—**काममेवायं पुरुष:।**

श्रुति कहती है यह पुरुषका स्वरूप काम है।

श्रीकृष्ण कहते हैं—

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः गुह्यमेतत् सनातनम्।
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्॥

(मैत्रायण्युपनिषत् 6.34)

अब यह कामी पुरुषका स्वरूप क्या है? बोले—'काम।' काम=कामना, चाह। जो वस्तु इस क्षणमें नहीं है, उसको चाहना। दूसरे देशमें रहनेवाली चीजको चाहना। एक कदम चलनेके बाद मिलेगी, एक मिनट इंतजार करनेके बाद मिलेगी। बोले—'यह नहीं है, दूसरा है, उसको चाहना।' यह क्या है? तो जब हम अन्य देशमें, अन्य कालमें, अन्य रूपमें, स्थित किसी भी पदार्थको हम चाहते हैं, तो उस समय हम सकाम हो जाते हैं। बोले—'आत्मकाम क्या है?' अपने आपको प्राप्त करना क्या है?

अपने आपको प्राप्त करना यह अज्ञानको मिटानेके लिए साधन है। हम अपने सच्चे स्वरूपको प्राप्त करें। परन्तु यह भी परमार्थ नहीं है। क्योंकि आत्मांका साक्षात्कार हो जानेके पश्चात् अपना जो आपा है, वह चाहनेका विषय नहीं रह जाता। इसलिए आत्मरूप होकरके, ब्रह्मात्मा होकरके न रहना, कामात्मा होकरके रहना, यह उनकी विशेषता है। अज्ञानी हैं, लोभी हैं, सत्यको ठुकरानेवाले हैं, कामरूप हैं।

चाहते क्या हैं भाई? उनका इष्ट क्या है? 'स्वर्गपराः।' 'हमको उर्वशी मिले, हमको नन्दनवन मिले, हमको विमान पर चढ़नेको मिले, हम इन्द्रके सिंहासन पर बैठें', स्वर्ग ही उनका इष्ट है।

अच्छा, तो यह तो उनकी महिमा हुई। अब वे वाणी बोलते हैं, वह कैसी है? 'पार्थ! अर्जुन! इसपर भी ध्यान दो।'

पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति यां इमां।

इमां=जो लोकमें बहुत प्रसिद्ध है।

कोई खोज नहीं कर रहे हैं। दुनियामें कामी तो सब होते हैं। इमां=प्रसिद्धा। यह तो दुनियामें प्रसिद्ध है।

पुष्पितां=सेमरके फूलके समान है, पलाश और ढाकके फूलके समान है। पुष्पित अवस्था है, फलित नहीं है। वह वाणी जो है, देखने (सुनने)में बड़ी

लुभावनी है, भीतर कुछ नहीं, पुष्पिता है। फिर? अब वे और इसका विशेषण बताते हैं—'जन्मकर्मफलप्रदाम्।'

एक तो फूल ही है तो फल तो कुछ-न-कुछ देगी जरूर। फूलके बाद फल आता है। वहाँ फल तो वह वाणी जरूर देती है, पर फल देती है जन्म और कर्मफल। तीन नहीं करना, दो करना यह बढ़िया है। *जन्म ददाति कर्मफलं च ददाति। जन्मकर्मफल यः प्रददाति।* जन्मकर्म-फलप्रदाता। इसके बाद जरूर आवेगा प्रसक्तानुप्रसक्त। जैसे एकके बाद एक तीनों मिलेगा। जन्म देती है, कर्म देती है और फल देती है। बारम्बार स्वर्गनरकादि रूप सुख-दुःख मिलेगा। जायस्व-म्रियस्व। एक विभाग यह है, यह जो पुष्पिता वाणी है, फूलोंके समान फूली हुई वाणी है। और उसके अनुसार चलोगे तो क्या मिलेगा? बारम्बार जन्म मिलेगा, बारम्बार कर्म काटनेको मिलेगा और मृत्यु मिलेगी। एक चीजको सुधारने गये तो दूसरी चीज जरूर मिलेगी।

पैदा होओगे तो मरना भी पड़ेगा। कर्म ज्यादा करोगे तो कर्तापन जबतक अज्ञान है, तबतक तुमको पकड़ेगा। पुण्यात्मापना भी आवेगा और जब पापीपना-पुण्यात्मापना आवेगा, तो फल माने सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादिरूप भी आवेगा। सुख-दुःख दोनोंके लिए जो लोक आवश्यक हैं, सो भी मिलेगा। तो एक तो देखनेमें लुभावनी है, दूसरे मूर्ख=अविपश्चित्। मूर्ख, स्वर्गपरायण, कामी और परमार्थसे मुकरनेवाले। अर्थवाद-परायण लोकोंका जो प्रवाद है और जन्म च कर्मफलं च उभे प्रददाति। दो चीज देती है। एक तो उस वाणीके अनुसार चलनेसे जन्म मिलेगा बारम्बार और दूसरे कर्मफल माने स्वर्गनरकादिकी प्राप्ति होगी।

अच्छा, बोले भाई, इसमें है क्या? उस वाणीमें अगर कोई बात होवे तो उसका स्वरूप एक बताओ—**क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।**

उसमें तो खास तरहका काम बहुत ज्यादा-खास तरहका माने विशेष प्रकारका। 'क्रिया-विशेष बहुलां' क्रियाविशेषः=एक खास तरहका काम है। काम सब हैं, पर सब कामोंसे स्वर्ग थोड़े ही मिलता है? एक खास तरहका काम करेंगे, तब स्वर्ग मिलेगा। इसलिए उसमें एक क्रियाविशेषका=एक खास तरहके कामका प्रतिपादन है। ऐसे वेदी बनाओ, ऐसे प्रणीता-प्रोक्षणी बनाओ, ऐसे कुश-कण्डिका करो, और ऐसे मन्त्रका पाठ करो और इस देवताके प्रति इतना

जप करो, इतना व्रत करो, इतना होम करो। खास-खास तरहके जो कर्म हैं वह उसमें करने पड़ते हैं।

'भोगैश्वर्यगतिं प्रति'—किसके लिए ऐसा करते हैं? भोग मिले और ऐश्वर्य मिले। भोग मिले माने हमारे घरमें स्रगचन्दनवनितादि हैं, सुन्दर-सुन्दर जेवर आये और अच्छा-अच्छा पाउडर आये—स्रग-चंदन और वनितादि माने बिलकुल नये ढंगकी जो आजकलकी सोसायटीमें फीट बैठ जाय, मॉडर्न हो ऐसी पत्नी मिले भोग और ऐश्वर्य इन दोनोंके लिए वह वाणी तुम्हें उपदेश करती है।

'गति' माने भी विशेष है। एक विशेष प्रकारका भोग और ऐश्वर्य देनेके लिए गम्यते। *गम्यते इति गतिः।* जो विशेष प्रकारके अनुभवका विषय हो उसका नाम 'गति'। तो विशेष भोग और विशेष प्रकारके ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए विशेष और अनेक प्रकारके अनुभवका विषय हो उसका नाम 'गति'। तो विशेष भोग और विशेष ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए विशेष और अनेक प्रकारका उपदेश है। कर्म मिलता है और स्वर्ग ही बहुत तुच्छ, परमार्थमें, तो अनिष्ट, उसको देनेकी बात वह बताती है। ऐसी बात करनेवाला स्वयं कामी है, मूर्ख है, अर्थवादमें रत है। अब इन बतायी हुई बातोंकी गिनती कर लेना, कि इसमें कितने विशेषण हैं कर्ताके और कितने विशेषण वाणीके हैं, इनकी गिनती कर लेना। तो ये सबके सब, सकाम कर्म करनेवालोंकी निन्दा करनेके लिए हैं। ये हेतु हैं सबके सब। वह वाणी जो है, वह बहुत आदरणीय नहीं है, क्यों? क्योंकि वह केवल पुष्परूप है।

बोले—अच्छा, पुष्परूप भी होवे, लेकिन भले पुरुष कहनेवाले हों। जीवन्मुक्त महापुरुष बोलनेवाले हों तो उसमें भी अपनी भला है। बोले—नहीं, उसके वक्ता तो अज्ञानी हैं। लेकिन वे भी अगर रागद्वेषसे रहित जैसी कोई बात सच्ची उसे मालूम पड़ती है, वह कह दे तो? बोले—रताः। वे तो आसक्त हैं। जो आसक्त होते हैं वे अंधे होते हैं। उनकी वाणी मानने योग्य नहीं होती। तो एक तो स्वयं अंधे और दूसरे, रागमें संलग्न। इसलिए वाणी उनकी अप्रमाण है। और-
नान्यदस्तीति वादिनः।

वे अपनी बात भी कहे और दूसरेकी बात भी कहे। थोड़ी वह अपनी माने तो उसकी बात मानना। परन्तु वे तो अपनी-अपनी कहते हैं, दूसरेकी मानते ही

नहीं। क्योंकि जो सत्यदर्शी न हो, जो किसीके फंदेमें फँस गया हो, जो दूसरेके अस्तित्त्वको बिलकुल स्वीकार ही न कर रहा हो, तो कामके अधीन हो और दूसरे राज्य=स्वर्गराज्य-स्वर्गराज्यकी स्थापना करना चाहता हो, और जिसमें परिश्रमका कभी अन्त ही न हो, जन्मकर्मफलप्रदाम्=माने जिसमें जन्मकर्म-फलका अन्त ही न हो। जिसमें बहुत-बहुत काम करना पड़े और फल थोड़ा निकले, तो 'भोगैश्वर्य प्रति'=अल्प फलक होनेके कारण और क्रिया-विशेषबहुलां=बहुत परिश्रमसे युक्त होनेके कारण वह पुष्पितावाणी माननेके योग्य नहीं है।

अच्छा, भाई! अब कहते हैं, इस प्रसंगमें क्या कहना चाहते हो? इस प्रसंगमें यह बात बतायी कि यह जो योगमार्ग साधनका मार्ग है, उसमें व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है। माने निश्चयात्मिका बुद्धि=एक उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए सम्पूर्ण जीवनको खपा देना। एक रास्तेपर चलना एक वस्तुकी प्राप्तिके लिए। परन्तु महाराज, यह कामका जो मार्ग है, यह बड़ा गलत. क्यों? इसमें जीवनभर एक वस्तुके लिए जीव अपना सम्पूर्ण जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। परमार्थ होवे, मोक्ष होवे, परमात्मा होवे, तो उसके लिए निश्चयात्मिका बुद्धि होवे और नहीं तो इधरसे उधर भटकता रहेगा, कभी यह और कभी वह।

एक आदमीको कहीं जाना था तो चौराहेपर गया, जाकर खड़ा हुआ। पुलिस खड़ी थी, पर उसने सोचा कि अगर हम पूछेंगे पुलिससे कि हमको अमुक जगह पर जाना है और किस रास्तेसे जायें तो पुलिस हमको बेवकूफ समझ लेगा। तो पूछनेकी जरूरत नहीं है। बोले—अच्छा भाई, दो मील किसी रास्तेमें चलें तो अपने आप पता लग जायगा। अब वह एक रास्तेपर चला गया, दो मील चला, फिर सोचा, शायद यह न जाता हो, लौटकर फिर चौराहेपर आ गया। फिर दूसरे पर गया, दो मील चला। सोचा, शायद यह न जाता हो। तो फिर लौटकर आ गया चौराहे पर। वह चारों रास्तोंपर दो-दो मील चलके आया। आठ मीलकी तो यात्रा हो गयी। थकानसे चूर हो गया, लेकिन हमको किस रास्तेसे जाना है, यह निश्चय उसकी बुद्धिमें नहीं हुआ। और दूसरेसे पूछा नहीं, तो—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। 4.40

खुद तो अज्ञानी हैं और श्रद्धा किसी पर है नहीं और मनमें शंका है, किधर

जायेगा? तो यह जो कामी पुरुष होते हैं, दुनियाकी चीजोंको चाहनेवाले, उनके अन्दर निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है कि वे एक दिशामें चल सकें।

असलमें संसारकी कोई ऐसी चीज नहीं है जिसको पानेके लिए मनुष्य हमेशा उसी-उसीकी ओर चले। अन्तमें लौटकर उसको अपनी आत्मामें, परमात्मामें आना पड़ता है। तो निश्चयात्मिका बुद्धि। इस काममार्गमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है कि वे एक दिशामें चल सकें और योगमार्गकी यह विशेषता बतानेके लिए कि अगर तुम साधनके मार्गसे चलोगे तो तुम्हारे जीवनमें एक दृढ निश्चय रहेगा। बताया है शास्त्रमें **सन्दिग्धो हतो मन्त्रः**।

जिस मन्त्रका हम जप करते हैं, उसमें यदि संशय हो जाय तो वह मन्त्र विचारा मारा गया। दस वर्ष 'नमः शिवाय' का जप किया तो पाँच वर्ष अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप किया, तो दो वर्ष 'नारायण' मन्त्रका जप किया। फिर भूतभैरवमन्त्रका जप करने लग गये। फिर थोड़े दिन 'सोऽहं' फिर थोड़े दिन 'दासोऽहं' अब निष्ठा कहाँ बने? चित्तवृत्ति जो है वह परिपक्व होकरके किस स्वरूपको, किस रूपको ग्रहण करे? यह तो बताओ! चार दिन रामदास, चार दिन कृष्णदास! चार दिन शंभुदास और चार दिन ब्रह्मदास।

दिल्लीमें एक सज्जन थे, उनका नाम 'नारायणदास' था, तो बहुत दिनों तक उन्होंने अपना नाम 'नारायणदास' ही रखा है। जब बहुत वेदान्त सुनने लगे, 'विचारप्रभाकर' 'वृत्तिसागर' का स्वाध्याय हुआ, तो बोले—यह 'नारायणदास' तो ठीक नहीं है। फिर? बोले—अब हमारा नाम 'ब्रह्म' रहेगा। अब 'ब्रह्मदास' हो गये। अरे राम-राम! 'दास' जोड़ दिया? कि नहीं, तो नाम बदल जानेसे उनके चित्तकी स्थिति थोड़े बदल गयी? वह तो 'नारायणदास' नाम रहता तब भी वह जो थे वही थे और 'ब्रह्म' नाम था तब भी वह जो थे वही थे। लोगोंकी नामरूपमें जो स्थिति है, वह कभी अपने स्वरूपमें स्थित नहीं होने देती। तो—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। 2.44

अब उनकी हानि सबसे बड़ी क्या है कि जो लोग भोग और ऐश्वर्य—इसी स्वार्थसे सटे हुए हैं, सक्त=सट जाना, प्रसक्त=ज्यादा सट जाना। जैसे कोई चीज भोगसे किसीके साथ सट जाय न, तो उसे क्या बोलेंगे? कि सक्त हो गये। तो कामी जो पुरुष हैं, वे किसी-न-किसीके साथ प्रसक्त होते हैं। प्रसक्त होते हैं=उनकी आसक्ति किसी-न-किसीके साथ होती है। आसक्ति होना=सटके

रहना। कामका स्वभाव ही यह है कि जब स्त्री-पुरुषके मनमें काम होता है, तब वह एक-दूसरेको सटा देता है। अब धनका काम होगा तो धनके साथ सटावेगा, स्त्री-पुरुषका काम होगा तो स्त्री-पुरुषके साथ सटावेगा और कुर्सीका काम होगा तो कुर्सीके साथ सटावेगा। तो यह महाराज, स्त्रियोंने इसका नाम रखा है 'कुरसिका।' स्त्रियोंने जब देखा कि हमारे पुरुष जब कुरसिका पर बैठ जाते हैं—कुर्सी पर बैठ जाते हैं, इसके साथ चिपक जाते हैं तो हमारे साथ जो मिलनका आनन्द है, उसमें बाधा पड़ती है। यह कुरसिका है। माने हमारे जीवनकी जो रसिक स्थिति है, उसको मिटानेवाली है। यह रसिक नहीं है, कुरसिक है, माने स्त्री-पुरुषके मिलनमें बाधा डालनेवाली है। इसलिए कुरसिका है वह। तो—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

यह भोग जो है, साँपका भोग है। संस्कृतमें साँपका जो शरीर है, उसे बोलते हैं भोग। साँपको बोलते हैं भोगी। अगर किसीने साँपको अपने शरीरसे सटा करके रखा तो उसके लिए बड़ा भय है। जो लोग भोगप्रसक्त हैं, माने चिपक गये भोगमें माने किसीने भोगको अपने शरीरसे सटाकरके रखा है तो उसको भी बड़ा भय है। ऐश्वर्य=बहुत बड़ेसे दुश्मनी है यह ऐश्वर्य है न, ईश्वरके साथ दुश्मनी करना ही ऐश्वर्यको स्वीकार करना है। क्यों? सम्पूर्ण जगतका जो ईश्वर है, जो अपनी कुर्सी पर दूसरेको कभी नहीं देख सकता। बड़े-बड़े लोग आ-आकरके उसी कुर्सी पर हुकूमत करने बैठे। क्या हुआ? 'हसति भूर्यन्।'

धरती माता हँसती हैं। थे संसारके कीड़े, जिनके बाप-दादे-परदादे सब चूर-चूर होकरके कण-कण बनकर मेरे अन्दर मिले हुए हैं। वे आज बोलते हैं—'सम्पूर्ण धरतीका मैं मालिक हूँ?' ये मालिक-वालिक कोई नहीं है। ये मरनेवाले हैं। जो ऐश्वर्यमें आसक्त हैं, ईश्वर उसको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करेगा। वह हमेशा ईश्वरके साथ नहीं रह सकता। इसलिए हमेशा अनासक्त होकरके ही ऐश्वर्यका उपभोग किया जा सकता है।

तत्ध्वंसगामी संपद्भ्यो यस्य स्वेच्छात् अनुग्रहम्।

लोग जब थोड़ा-सा ऐश्वर्य मिल जाता है तो अन्धे हो जाते हैं। तो असलमें ऐश्वर्य ईश्वरमें रहनेके लिए है। ऐश्वर्य जीवमें रहनेके लिए नहीं है। हमारा

पुरुषोत्तम-तन्त्र है, ईश्वर तन्त्र राज्य है यह जीवतन्त्र, यह मनुष्यतन्त्र नहीं है। ये कभी ऐश्वर्यका भोग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐश्वर्य तो एक मात्र ईश्वरकी वस्तु है। वह एक व्यक्तिका नहीं हुआ करता। तो जो लोग भोग और ऐश्वर्यमें प्रसक्त हैं, बोले—'भाई! क्यों ये लोग प्रसक्त हो गये? आसक्त होनेके लिए किसीकी तारीफ सुनते-सुनते उसमें आसक्ति हो जाती है, तो यह जो पुष्पितावाणी है न, इसने बड़ी गड़बड़ी रची। क्या गड़बड़ी रची?'

तयापहृतचेतसाम्।

जैसे कोई कहते हैं न, कि उसने तो हमारा दिल ही ले लिया। कलेजा निकालकर ले लिया, हमारा हृदय लूट ले गया, ऐसा बोलते हैं। तो यह हुआ क्या? *तया-पुष्पितया वाचा अपहृत चेतसाम्।* यह फूलकी वेणी लगाकरके, फूलका शृंगार करके आयी यह पुष्पिता वाक्। यह वाणी फूलका शृंगार करके आयी और अपने फूलोंके शृंगारसे आपको लुभा लिया। उसने 'तया वाचा अपहृत चेतसाम्'—मीठी-मीठी वाणी। 'तुमको यह मिलेगा'—जैसे वोट लेनेके समय लोग पुष्पिता वाक्! का प्रयोग करते हैं?

एक बार मैंने देखा अखबारमें कि कोई व्यंग्यात्मक चित्र छपा था? एक उम्मीदवार थे कोरपोरेशनके मेम्बर थे। तो लोगोंको कहते फिरते थे कि मैं अगर चुना गया तो पानीके नलकी व्यवस्था तुम्हारे घरमें जरूर कर दूँगा। तो चुन लिए गये। लोगोंने कहा—'अब हमारे घरमें नलकी व्यवस्था करो।' तो उन्होंने बाजारसे नल खरीदके-टोटी खरीदके ले जाकर अपने मतदाताओंको दे दिया कि ले लो।' तो बिचारा मतदाता क्यों फँसा? उनकी चिकनी-चुपड़ी मीठी-मीठी जो बातें थीं उनमें फँस गया।

इसी प्रकार जो लोग भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हैं, क्या वे स्वर्गका सुख देखकर लौटे हैं? नहीं, देखकर तो नहीं लौटे हैं। तो कैसे लुभा गये? भाई! तयापहृतचेतसाम्। यह चिकनी-चुपड़ी मीठी—

अपाम सोमं अमृता अभूम।

हम सोमपान करेंगे और अमर हो जायेंगे, अमर!

अक्षयकुम्भं चातुर्मास्य आदि सुकृतं भवति।

हम चातुर्मास्य याग करेंगे और अक्षय-कुम्भ लाभ करेंगे। तो इसी मीठी वाणीपर, वे तो मीठी आवाज पर लुभा गये हैं। उसमें जो विष मिला हुआ है,

नाश मिला हुआ है, उसको नहीं पहचानते हैं। तो ऐसे लोगोंकी गति क्या होगी? तो देखो, अब इसमें यह भी है—वह चित्तका अपहरण करनेवाली वाणी है। और, उसका चित्त अपहृत है, वह भोगैश्वर्यमें प्रसक्त है। इसलिए—

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।

बुद्धि=जिससे कोई चीज ठीक-ठीक समझी जाय। *बुद्ध्यते अनया*=जिसको द्वारा ठीक बोध प्राप्त होवे। उसका यथार्थ बोध, वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निश्चय करानेवाली जो व्यवसायात्मिका बुद्धि है, वह समाधिमें उनको प्राप्त नहीं होती है। एक तो 'समाधि' शब्दका अर्थ है 'अन्तःकरण'। समाधि=अन्तःकरण। *सम्यक् आधीयन्ते वृत्तयः यस्मिन् इति समाधि।* 'सं' उपसर्ग है और 'धा' धातु है। 'धा' धातुकी 'धी' संज्ञा हो जाती है। फिर उसको 'कि' प्रत्यय होता है तब 'समाधि' शब्द बनता है। यह पुल्लिंग होता है हमेशा। संस्कृतमें 'समाधि' शब्द पुल्लिंग है, स्त्रीलिंग नहीं है, नपुंसकलिंग नहीं है। तो—*माधीयन्ते वृत्तयः यस्मिन्।* जिसमें सारी वृत्तियाँ सो जाती है और उठती हैं, रहती हैं, उसका नाम है 'समाधि'।

तो, ऐसे लोग जो हैं, उनके अन्तःकरणमें व्यवसायात्मिका बुद्धि बनती ही नहीं है। विधान ही नहीं होता, निर्माण ही नहीं होता। उनके हृदयमें निश्चयात्मिका बुद्धि कभी पैदा ही नहीं होती है।

जो इतनी छोटी-छोटी चीजें चाहते हैं, ऐसे अविपश्चित् हैं और ऐसी पुष्पितावाणीके चक्करमें पड़े हुए हैं और भोगैश्वर्य चाहते हैं। उनके हृदयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि= निश्चयात्मिका बुद्धि कभी बनती ही नहीं। पैदा ही नहीं होती।

अथवा, दूसरा अर्थ लो। समाधि=परमात्मा। परमात्माके भजनके लिए उनके हृदयमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती। समाधि=तत्त्वज्ञान। 'तत्' रूपसे समाधि शब्दका अर्थ तत्त्वज्ञान आता है।

तत्त्वावबोध एवायं वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधि शब्देन न तु तुष्णीमिवास्थितिः॥

चुपचाप बैठनेका नाम समाधि नहीं है, कि शरीर हिलता नहीं है तो समाधि लग गयी। पलक हिलती नहीं है तो समाधि लग गयी। मन हिलता नहीं है तो समाधि लग गयी। समाधि इसका नाम नहीं है। समाधि=तत्त्वज्ञान। क्यों

भाई, इसको तत्त्वज्ञान क्यों कहते हो? क्योंकि समाधि है न, भस्म करनेवाली चीज है। तत्त्वज्ञान है, वह अविद्या और अविद्याके कार्यको भुननेवाला है। 'वासनातृणपावकः।' वासनारूपी तृणके लिए वह आग है। सब जल जाता है। सबकी समाधि उसीमें हो जाती है। इसलिए समाधौ=तत्त्वज्ञानमें उनकी बुद्धि कभी निश्चयात्मिका नहीं होती कि हमको तत्त्वज्ञान प्राप्त होवे।

अच्छा, प्रसंगके अनुसार लेवें तो समाधि माने यहाँ है योग। जिस योगसाधनाकी चर्चा करेंगे, समाधौ=योग। योग शब्दका अर्थ समाधि है। और समाधि शब्दका अर्थ योग है। *युजिर् समाधौ।* जिस धातुसे योग शब्द बनता है, वह धातु ही समाधिके अर्थमें है।

बोले—'भाई, वहाँ बताया गया है कि एक समझाने-बुझानेका मार्ग है और एक अभ्यासका साधन है। समाधि=ज्ञानसाधनरूप योग है, उस योगमें ही उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। जो सकाम पुरुष होगा, बहकानेमें आया हुआ होगा वह अविवेकी होगा, वह योगमें निश्चयात्मिका बुद्धिवाला नहीं होगा। माने निष्कामकर्मका अनुष्ठान करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए प्रयास ही नहीं करेगा।'

संसारमें ऐसा कौन है जो अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए प्रयास नहीं करता है? यह प्रश्न है। बोले—एक तो वह महापुरुष जिनको अन्तःकरण-शुद्धि होकरके विद्यावृत्ति उदय होकरके अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो गये हैं। तो प्रयोजन पूर्ण हो जानेके कारण अब उनको साधनकी अपेक्षा नहीं है। इसलिए प्रयास नहीं करते हैं। और स्वभावसे जो साधना होती रहती है, वह होती रहती है।

दूसरे कौन नहीं करते? जो इस लोकके पदार्थोंको और परलोकके पदार्थोंको चाहते हैं, और उनके प्रति कामना रखते हैं, कामना ही उनका जीवन है। वह अन्तःकरणशुद्धिके लिए प्रयास नहीं करते, क्योंकि कामना ही तो अन्तःकरणकी अशुद्धि है और उसको वह अपनाये हुए हैं। इसलिए अन्तःकरणशुद्धि करनेवाले इस योगमार्गमें उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। परमात्माकी प्राप्ति कब होती है, जब कामनाकी निवृत्ति होती है। इसलिए यह 'कामनिन्दोपनिषद्' है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेत्य हृदिश्रिताः।
असमर्थोऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

उपनिषद्‌का अर्थ साधनके रूपमें कामकी निवृत्ति और प्रमाणके रूपमें तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्यवृत्ति। परम प्रमाण क्या है? अखण्डार्थ बोध। अखण्डार्थबोधवृत्ति जो है, वह परम प्रमाण है। और परम निर्माण क्या है? परम निर्माण है अन्तःकरणका निष्कामभाव। अन्तःकरणका कामनारहित-निर्माणकी पराकाष्ठा है हृदयकी शुद्धि और प्रमाणकी पराकाष्ठा है तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्यवृत्ति। पहले हृदयका, जीवनका निर्माण और उसके बाद प्रमाणका उदय। जीवन्मुक्ति अपने आप प्रतिष्ठित होती है।

अब बोलते हैं—'निस्त्रैगुण्योपनिषद्'। ये दो श्लोकोंमें निस्त्रैगुण्योपनिषद् है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

2.45-46

अब बताते हैं कि आखिर वेदमें पुष्पिता वाणीका प्रयोग ही क्यों किया? इस बातको समझो। और फिर उस वेदवाणीकी प्रवृत्ति किसके लिए नहीं है, माने कौन उस वाणीका अधिकारी है और कौन उस वाणीका अनधिकारी है, इसका विभाग करके जो योगमार्गका साधक है, परमार्थमार्गका साधक है, वह उस पुष्पितावाणीका अधिकृत नहीं है, वह उस आदेशका पात्र नहीं है।

पुष्पितावाणीके आदेशका पात्र कौन नहीं? बोले कि—जो परमार्थमार्गका जिज्ञासु है, योगमार्गमें चलनेवाला है। यह बात आगे चलकर साफ-साफ बतायी जायगी—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ 6.44

योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है। योगमार्गका अनुभवी अरे, अनुभवीकी तो चर्चा ही छोड़ो, 'जिज्ञासुरपि'—योगमार्गका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है। तो फिर इस पुष्पितावाणीवाले वेदकी स्वर्ग बतानेवाले वेदकी, ऐश्वर्य बतानेवाले वेदकी क्या गति होगी?

बोले—ठीक है, वह वेद तो है और उन-उन गतियोंका वर्णन भी करते हैं, परन्तु—**त्रैगुण्य विषयाः**।

त्रैगुण्य उनका विषय है। त्रैगुण्यविषयक माने? शब्दकी उत्पत्ति पहले ध्यानमें ले आओ। तीन गुणका जो इकट्ठे होना है, उसका नाम है 'त्रैगुण्य'। '*त्रयाणाम् गुणानाम् समाहार: त्रैगुण्यम्।*' तीन गुण सत्त्व-रज-तम। इनके एक-एक समूहीकृतरूपका नाम=इनके मिले-जुलेरूपका नाम है त्रैगुण्य। अब '*त्रैगुण्यं अस्ति येषाम् ते त्रैगुण्या पुरुषा:।* रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुणसे युक्त जो पुरुष हैं, उनका नाम है त्रैगुण्य। पहले नपुंसक था, अब पुल्लिंग हो गया। '*त्रयाणां गुणानां समाहार: त्रैगुण्यं अस्ति येषाम् ते त्रैगुण्या: अधिकारिण: ते एव विषया अधिकृता: येषाम् ते त्रैगुण्यविषया:।*'

वे त्रिगुणवाले जो अधिकारी हैं, वे इन वेदोंके विषय हैं। माने वेद अगर उपदेश करता है कि तुम पशुयाग करो, तो किसके लिए करता है? स्वर्गकामके लिए। स्वर्ग-काम किसको है? जो रजोगुणी पुरुष है उसके चित्तमें स्वर्गकामना है। उस स्वर्गकामी पुरुषके लिए ये वेद उपदेश करता है कि 'तुम याग करो'। 'त्रैगुण्यविषया: वेदा:। श्लोकके अर्थको बिलकुल साफ-साफ अपने हृदयमें बैठा लो।

एक आदमी तमोगुणी है, निद्रा, आलस्य, प्रमादमें पड़ा रहता है, वेद उसको कहता है—'कर्म करो, आलस्य-निद्रा-प्रमादमें मत बैठो।' 'कर्म करो' इस आज्ञाका अधिकृत कौन है? किसके लिए यह हुक्म है? जो चपरासी बनने लायक है उसको चपरासी बननेकी आज्ञा है। जो इंजीनियर बनने लायक है। उसे इंजीनियर बननेकी आज्ञा है। जो निर्देश देने योग्य है उसको निर्देश देनेकी आज्ञा है। जो परमार्थको प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:'-यह आज्ञा है। तो 'त्रैगुण्यविषया: वेदा:'। वेद जो विधीयक बचन हैं-यह करो, यह करो, यह करो सोनेवालेके लिए, निद्रावालेके लिए, आलसी प्रमादीके लिए, उठो, कुछ खटपट करो घरमें और जो खटपट अंटसट काम कर रहा है उसको कहते हैं—'विधिपूर्वक=कायदेसे करो।'

जब विधिपूर्वक करने लगा तो बोले—देखो, 'चित्तकी एकाग्रता'। 'उसमें मन लगाओ।' मन लग गया तो बोले—'अच्छा, उसको समझो।' तो जो जिसका अधिकारी है, वेद उसके लिए वैसी आज्ञा देता है। आप यह याद रखना। सबके लिए वेदमें एक मन्त्र नहीं है, सबके लिए वेदमें एक कर्म

नहीं है। सबके लिए वेदमें एक उपासना नहीं है, सबके लिए वेदमें एक ध्यान नहीं है।

वह तो साधन, वह तो संसारके रहस्यज्ञानमें, ईश्वरके रहस्यज्ञानमें बिलकुल एकांगी है जिनके लिये एक ही काम एक ही देवता, एक ही प्रार्थना, एक ही मन्त्र,एक ही पद्धति वह तो कंगाल है साधनके मार्गमें।

साधनके मार्गमें सम्पन्न वह है जो–**त्रिगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यम्।**

सारी प्रजाके लिए जो साधनका निर्देश करता है, वह पूर्ण–कानून होता है, पूर्णनियम होता है। जो सबके लिए एक। एकबार कोई कानून बन रहा था अपने सरकारमें अभीकी बात नहीं है, जब अंग्रेज थे, तब। तो उसमें सगोत्र विवाहकी अनुमति थी। तो मैंने एक कानूनदाँसे पूछा कि—'सगोत्र विवाहकी अनुमति क्यों नहीं होनी चाहिए?' तो बोले—'यदि सब लोग तुम्हारी सरयूपारीण, गौड और सनाढय ही भारतवर्षकी प्रजा होती तो उसमें सगोत्र विवाहकी बात नहीं होती। हमारी प्रजामें मद्रासके लोग हैं, हमारी प्रजामें मुसलमान हैं, हमारी प्रजामें हिन्दूमें मथुराके चौबे हैं। अगर सगोत्र विवाहकी अनुमति हमारे कानूनमें होती तो वह हमारी प्रजा कैसे होंगे? उनके लिए उत्तराधिकारकी व्यवस्था कैसे बनेगी? कितने मुकदमे लड़ेंगे? तो यों कहना पड़ेगा, जिस गुटमें जिस समाजमें सगोत्र–विवाहकी प्रथा पहलेसे चली आयी है, उसमें सगोत्र विवाहको भी जायज माना जायगा। यह बात बोलनी पड़ेगी। अधिकारीभेदसे अगर कानूनका भेद नहीं होगा तो यह कानून ही अपूर्ण होगा। कानून तो सम्पूर्ण प्रजाके लिए होना चाहिए।

तो किसके मनमें काम है, किसके मनमें लोभ है, किसके मनमें क्रोध है, किसके मनमें मोह है, इस व्यवस्थाके अनुसार किसके मनको किस रीतिके अनुसार साधनामें लगाना चाहिए? तो ईश्वर जानता है, इसको वेद जानता है, इसलिए अधिकारी भेदके अनुसार वैदिक व्यवस्था होती है। यह पूर्ण समाज व्यवस्था है। इसमें लोग सम्प्रदायसे और शास्त्रसे अनभिज्ञ हैं।

लोग कहते हैं, वेदमें तो तरह–तरहके विधान हैं। जिसके मनमें जो आया सो कह दिया' नहीं, वेदमें एक वाक्यता है। जानबूझकर इसमें विधान किया हुआ है। केवल यह तुम्हें समझ होनी चाहिए कि किस देशमें, किस व्यक्तिके लिए, किस उम्रवालेके लिए यह विधान है। किस जगह रहनेवालेके लिए यह

विधान है। काश्मीरमें और गंगोत्रीमें रोज स्नान करनेका विधान नहीं है। वहाँ हवासे ही शुद्धि हो जाती है, ऐसा शास्त्रमें विधान है।

तो किस देशके लिए है, किस कालके लिए है, किस व्यक्तिके लिए है, किस समाजके लिए है, किस देशके लिए है, किस अवस्थाके लिए है, किस ज्ञानवालेके लिए है, किस शक्तिवालेके लिए है?

शक्ति-ज्ञान-अवस्था-व्यक्ति इन सब बातोंका विचार करके वेदमें विधान किया हुआ है। इसलिए लोग कहते हैं कि वेदमें बहुत विधान हैं। बहुत कानून हैं। वे वेदकी पूर्णताको नहीं समझते हैं। त्रैगुण्य-विषया वेदाः। वेद तो भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिए हैं।

अर्जुनने कहा कि मैं किसका अधिकारी हूँ? इसका उपदेश कर दो। तो ठीक है, मैं समझ गया कि वेदमें कोई दोष नहीं है। लोग भी तरह-तरहके दुनियामें हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—'अर्जुन! तुम निस्त्रैगुण्यके अधिकारी हो।

त्रैगुण्यविषयवेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ 2.45

●

: 35 :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

2.45-46

जब आप भगवद्गीताका स्वाध्याय करें, तो उसमें तीन बातका विचार करना। ब्रह्मविद्याकी प्रधानतासे उपदेश कहाँ है? 'ब्रह्मविद्यायाम्' और योगशास्त्रकी प्रधानतासे उपदेश कहाँ है? 'योगशास्त्रे।' वहीं पुष्पिकामें जहाँ अध्याय समाप्त होता है वहीं, और तीसरी बात 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु'। भगवान्ने जो शताधिक उपनिषदें, सौसे भी ज्यादा उपनिषदें सारी गीतामें कही हैं। ये कौन उपनिषद् हैं? गीतासु उपनिषत्सु। उपनिषदें बहुत हैं। बहुवचन है। तो बहुतोंमें-से कोई एक उपनिषद् है।

दूसरी बात ब्रह्मविद्या है यह। माने तत्त्वकी प्रधानतासे उपदेश किया जा रहा है कि यह योगशास्त्र है, साधनकी प्रधानतासे उपदेश किया जा रहा है? तो साधन जो है वह देह-इन्द्रियके द्वारा अनुष्ठेय होता है और ब्रह्मविद्या जो है, प्रमाणके द्वारा सम्पादन की जा रही है। उपनिषद् जो है वह हमारे जीवनके लिए चाहे मल-निवारक चाहे विक्षेप-निवारक और चाहे आवरणभंजक उपदेश करती है।

उपनिषद् हमारे मनके मैलको दूर करती है। मल=मैल। विक्षेप=चंचलता। आवरण=अन्धकार। हमारे मनके मैल, मनकी चंचलता और मनका अन्धेरा ये तीनों दूर करना उपनिषद्का काम है और ब्रह्मविद्या जो है, वह सिद्धवस्तुकी बोधक है।

ब्रह्मविद्या उसको कहते हैं जो पहलेसे मौजूद अविनाशी परिपूर्ण

परमानन्द स्वरूप चिन्मात्र जो अद्वितीय सिद्ध वस्तु है, उसका बोधन करानेवाला है। ब्रह्मविद्या उसको बोलते हैं जो उसका बोध करावे। ब्रह्म=अनन्त, निरतिशय। अनन्त जो वस्तु है उसका ज्ञान। योग=अन्तःकरणशुद्धिके लिए जो भी साधन हम लोग करते हैं जो कर्ताके अधीन होता है, वह योग होता है और जो वस्तुके अधीन होता है, वह विद्या होती है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा लखा देना, यह तो विद्या है और हमारे अन्तःकरणमें जो स्थिति नहीं है, उसे प्राप्त करा देनेवाला योग है। विद्यमान्‌का बोधक विद्या है और अविद्यमान् जो स्थिति है, उसको उत्पन्न करनेवाला योग है।

अब आपके सामने यह कौन-सा उपनिषद् है? 'कामनिन्दोपनिषद्'के अनन्तर यह 'निस्त्रैगुण्योपनिषद्' प्रारम्भ हो रहा है। इसमें निस्त्रैगुण्य अधिकारीके लिए किस प्रकार रहना, यह बात बतायी हुई है। तो पहलेसे लें—

निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

अर्जुन! अर्जन करनेवाले! कमाई-पूत जैसे होता है। 'अर्ज' धातु अर्जन करनेवालेके अर्थमें, जैसे धनार्जन करते हैं। तो वह संज्ञामें अर्जुन हो जाती है ऊणादि प्रत्ययसे, जो धन-अर्जनके समय 'धनार्जन' बना रहता है, वही व्यक्तिविशेषका बोधक होने पर 'अर्जन' हो जाता है। अर्जयति=जो अर्जन करे। तुम तो जिज्ञासु हो, ज्ञानका अर्जन करनेके लिए तत्पर हो, ज्ञानधनका अर्जन करनेवाला धनंजय अर्जुन है। सीधा-सादा भोला-भाला, छल नहीं, कपट नहीं, प्रपंच नहीं।

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्राह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति॥

भगवान् व्यास कहते हैं कि देखो, हम ज्ञानका सार-सार तुम्हें बता देते हैं।

सर्वं जिह्मं मृत्युपदं।

अगर दुनियामें कपट कर रहे हो तो तुम मौतको बुला रहे हो। मौत आकर तुम्हारे जीवनमें घुस जायगी और—

आर्जवं ब्रह्मणः पदम्।

अगर तुम सरल जीवन व्यतीत कर रहे हो,

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकम्।

तो तुम ब्रह्मको आमन्त्रित कर रहे हो। तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा। तुम्हारे घरमें ब्रह्मज्ञान आवेगा।

एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापं किं करिष्यसि?

वेदान्तका सार ज्ञानका सार इतना ही है कि कपटका त्याग करो तो मायाका भी त्याग हो जायगा। और सरलताको धारण करो तो ब्रह्म भी प्रकाशित हो जायगा।

प्रलापः किं करिष्यति?

बाकी सब तो जैसे बीमार, सरेसाम लक्ष्मामें जैसे बकवाद करता है। देखना यह है कि तुम्हारे जीवनमें सरलता आरही है कि कपट आरहा है?

अर्जुन=सरल। अर्जुन एक पेड़ होता है। 'सरल' बोलते हैं, उसको 'शाल' बोलते हैं, उसको 'धवल' बोलते हैं। बिलकुल सीधा-सीधा, सफेद-सफेद ऊपरको हो जाता है। ऊँचा हो जाता है जंगलमें।

इस मनुष्योंके जंगलमें ऊँचा कौन होगा? जो सरल होगा। गोरा कौन होगा? जो सरल होगा। नहीं तो काला हो जायगा। करतूत काली तो आदमी काला। तो अर्जुन जो है वह सरल-सरल, भोला-भाला और अर्जुन जो है, ज्ञानधनके अर्जन करनेके लिए तत्पर है। इसलिए भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन!'

अर्जुन बोले—'कृष्ण! तुम्हारी बात सुनकर तो मैं डर गया। तुम क्या कहते हो? कि वेदोंमें केवल पुष्पितावाणी है? और यह सोमपान करो, और यह अमृत पीओ, और स्वर्गमें जाओ! ये सब जो बातें हैं वे क्या माननेलायक नहीं हैं?'

तो भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन! वेद समझो, एक जड़ी बुटियोंका विशाल जंगल है। एक बहुत बड़े आदमीका जैसे कोई मेहमान होवे, ऐसा है। तो उसमें सब तरहकी चीज रहती है। जो सादा पानी पीना चाहे उसके लिए सादा। जो नशीला पानी पीना चाहे उसके लिए नशीला। जो सोडावॉटर पीना चाहे उसके लिए सोडावाटर। उनके घरमें सब रखा रहता है। तो वेद जो है वह कोई गरीबोंकी किताब नहीं है कि एक ही तरहसे खाना और एक ही पोशाक पहनना। जो बच्चा जैसा, उसके लिए वैसी पोशाक। जिसको जो पसन्द उसके लिए वैसा भोजन। यह तो माता है न? वत्सल! वात्सल्यमयी!'

एक माता थी, वह अपने बीमार बच्चेको तो सूप पिलाती थी और

पहलवान बच्चेको हलवा-खीर खिलाती। तो अब रोगी बच्चा शिकायत करे कि 'माँ! तू पक्षपातिनी है! उसको हलवा-पूरी और हमको सूप?' तो उसकी शिकायत गलत। क्यों? वह तो पहलवान है, और दोनोंके योग्य बात दोनोंको बताती है। अब वेदमें आया कि यज्ञ-यागादि करो, सोमपान करो, स्वर्ग प्राप्त करो, ये सब किसके लिए? जो लोग संसार चाहते हैं उनके लिए। जो अर्थ-काम-भोगके इच्छुक हैं, उनके लिए। और यह आया कि जो सब कर्मोंके ऊपर उठकरके, सब कर्मोंका परित्याग करके केवल—

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

यह किसके लिए? बोले—जिज्ञासुके लिए। तो वेद गलत नहीं हैं। जैसे माँके पास सब बच्चोंके लिए सामग्री, वैसे वेदके पास भी सब बच्चोंके लिए सामग्री।

बोले—भाई, गृहस्थ साधक होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। ब्रह्मचर्याश्रमका साधक होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। वान-प्रस्थाश्रमका साधक होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। संन्यासाश्रमका साधक होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। और, सकाम अन्तःकरण होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। सक्रोध अन्तःकरण होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। सलोभ अन्तःकरण होवे तो उसके लिए दूसरे ढंगकी साधना। तो सब तरहके अन्तःकरणवालोंके लिए सब तरहकी साधना।

पृथ्वीतत्त्व प्रधान होवे तो शिवतत्त्वका ध्यान। आकाशतत्त्व प्रधान होवे तो विष्णुतत्त्वका ध्यान। शरीरमें कौन-सा तत्त्व प्रधान है, इसको देख करके-तेजस् तत्त्व प्रधान होवे तो उसके लिए सूर्यमण्डलका ध्यान। रसतत्त्व प्रधान होवे तो उसके लिए चन्द्रमण्डलका ध्यान। वायुतत्त्व प्रधान होवे तो उसके लिए ब्रह्मा आदिका ध्यान। हर तरहके मनुष्यकी उन्नति होवे, उसका अन्तःकरण शुद्ध होवे, इसके लिए कई प्रकारका वर्णन है।

स्वर्ग चाहते हो तो ज्योतिस्टोम करो और वर्षा चाहते हो तो कारीरेष्टी करो। संतान चाहते हो तो पुत्रेष्टी करो। ये भिन्न-भिन्न मनोरथोंकी पूर्तिके लिए वेद भिन्न-भिन्न प्रकारका साधन बताता है। तो 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' माने तीनों गुण जो संसारके रूपमें प्रकट हैं, उनका निरूपण जहाँ वेद करता है, वहाँ उसके लिए साध्य-साधनका निरूपण करता है। संसार चाहनेवाले अधिकारियोंके

लिए जहाँ निरूपण करता है, तो वैसा साध्य-साधनका निरूपण करता है। और जो लोग संसारसे ऊपर जानेवाले होनहार अधिकारी हैं, उनके लिए दूसरे ढंगका साधन-निरूपण करता है। क्योंकि असलमें संसारमें जो प्रियता है वह मनकी मानी हुई ही है। अगर वैराग्य होगा तो आज जो चीज बड़ी प्यारी लगती है, वह अप्रिय हो जायगी। रागकी दशामें जो वस्तु बहुत प्यारी है, वैराग्यकी दशामें वही वस्तु उपेक्षाकी पात्र बन जायगी।

आज बहुत ऊँची चीज है, वह कल यदि कहीं अन्तर्मुखता आयी तो, वैराग्य आया, समता आयी, शान्ति आयी तो वह चीज फिर तुम्हारे लिए उपादेय नहीं रहेगी। तो जब जो चीज उपादेय रहती है, तब उसकी प्राप्तिका साधन उस बच्चेके लिए वेद बताता है। उसमें वेदमें पक्षपात नहीं है। तो यह जो पुष्पितावाणी है, वह नन्हें-नन्हें बालकोंके लिए है।

'ददामि खण्डलड्डुकाम्'—'बेटा, हम खाण्डके लड्डू, मोतीचूरके लड्डू तुम्हें देंगे, तुम यह काम करके तो ले आओ!' ले आये तो पीठ ठोंकी, 'शाबाश बेटा! बहुत बढ़िया काम किया! दूसरे दिन फिर करो।' उसको प्रशंसाकी जरूरत है, लुभानेकी जरूरत है और डरानेकी भी जरूरत है। अच्छा काम यदि किसीसे लेना होता है तो उसको कहना पड़ता है कि 'तुम यह करोगे तो यह मिलेगा।' 'तुम यह नहीं करोगे तो तुम्हारा यह नुकसान है। इससे तुम्हारी उन्नति किस प्रकार होती है।' इसका नाम 'अर्थवादात्मक वेद' है। तो वेद संसारका भी निरूपण करते हैं, उन लोगोंके लिए जो संसार चाहते हैं। क्योंकि वेद पर श्रद्धा करके वेदोक्त साधनके द्वारा यदि वस्तु प्राप्त की जायगी तो बादमें वेदोक्त साधनके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिमें भी श्रद्धा होगी।

असलमें वेदोंका तात्पर्य कहाँ है, यह आप जानते ही हो। 'गीता' वेदकी निन्दा करनेवाली वस्तु नहीं है। बल्कि वेदकी प्रशंसा करनेवाली, वेदकी महिमाको बतानेवाली, पुस्तक है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15.15

भगवान् बोलते हैं—'वेदैश्च सर्वैः'—'सर्वैः' और जोड़ दिया। क्यों जोड़ दिया?

यामिमां पुष्पितां वाचो प्रवदन्त्यविपश्चितः।

'वेदवादरता: 'में जो वेद पर कटाक्ष किया है न? यदि अब कहें कि 'वेदै: अहमेव वेद्य: '='वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ' तो लोग कहेंगे कि उस पुष्पितावाणी रूप वेदके अतिरिक्त किसी दूसरे वेदके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं। तो भगवान्ने कहा—

वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः।

सर्वै: अनुपदम्—सर्व वेदके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ। इसलिए 'त्रैगुण्यविषया वेदा:।' त्रैगुण्य=संसार। विषय=प्रकाश्य। वेदके द्वारा संसार प्रकाशित होता है। इसलिए संसारको प्रकाशित करनेके लिए इसमें यह चीज, साधनसे यह सुख मिलता है, इस सुखका यह साधन है, इसलिए धनुषबाण कैसे बनाना? बच्चा कैसे पैदा करना? धन कैसे कमाना? ये बातें भी वेदोंमें लिखी हैं। यहाँ तक कि देवताको प्रार्थना करते हैं कि—

मानस्तोषे समये मानायुषी मानोदोषे मान अत्रेषुरिरितः।

हमारा घोड़ा न मरे, हमारी गाय न मरे, हमारा बच्चा स्वस्थ रहे'—तो सांसारिक सुख भी वेदके द्वारा चाहा जाता है और यक्षमा हमारा दूर होवे, श्वासका रोग दूर होवे इसके लिए भी वेद है—ये सब बात क्यों हुई? बोले—ये सब बात पार्टीबन्दीके कारण हो गयी।

अशुद्ध अन्त:करणवाले लोग इसमें जब आगये इसमें जब आगये तब एक तरहके भोजनकी निन्दा और दूसरे भोजनकी प्रशंसा! जो हम खाते हैं, वही सब खायँ। हमारे गाँवमें एक कहावत है—

मो बरोबर हो पड़ोसिन गोदा रोटी खा।

'हे पड़ोसिन! तुम हमारे बराबर हो जाओ। मैं समत्व चाहती हूँ।' बोले—'क्या समत्व चाहती हो?' 'कि ये जो पीपल-बड़के फल होते हैं न, छोटे-छोटे, उनके साथ रोटी खाती हूँ। क्योंकि न हमारे घरमें दाल है न सब्जी है। तो तुम भी अब गोदा-रोटी खाया करो।' 'गोदा' कहते हैं वह बड़के पीपलके छोटे-मोटे फल होते हैं न, उनको उस तरफ 'गोदा' ही बोलते हैं। तो बोलते हैं, हम तो समत्वयोगी हैं। हम समता चाहते हैं तो तुम भी हमारे बराबर हो जाओ। तो ऐसी समता ऐसी बराबरी कि हम फटा कपड़ा पहनते हैं तो तुम भी पहनो। हम शरीरमें मैल लगाये रहते हैं तो तुम भी मैल लगाये रहो। बोले—हमारा अन्त:करण अशुद्ध है, तो तुम्हारा अन्त:करण भी अशुद्ध रहे तो कोई

हरज नहीं। है न? इस तरहकी जो समता है, वह बिलकुल गलत है। वेद तो जिसको ऊपर उठनेके लिए और जैसा ऊपर उठनेके लिए साधन चाहिए, वैसे साधनका उपदेश करता है।

अब अर्जुनके लिए प्रश्न आया कि हम क्या करें? भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'अर्जुन! तुम त्रैगुण्यसे, संसारसे ऊपर उठ जाओ।' कैसे?

त्रयाणां गुणानां समाहारः त्रैगुण्यम्ः
निष्क्रान्तः त्रैगुण्यात् निस्त्रैगुण्यः।

अर्थात् जो त्रैगुण्यसे निष्क्रान्त हो निकल जाय, ऊपर उठ जाय, उसको निस्त्रैगुण्य बोलते हैं। माने तुम त्रिगुणके कार्यमें कहीं अभिमान मत करो।

तामस् अहंकारका कार्य है यह द्रव्यात्मक शरीर। तो इस देहको मैं मत मानो। 'निस्त्रैगुण्य भवार्जुन'का एक उपदेश यह हुआ कि देहको मैं मत मानो। क्योंकि तामस् अहंकारका यह कार्य है। तो तामस् अहंकारका यह कार्य जो भी यह जड़भूत है न, जड़भूत=देहाकार परिणत जो यह जड़भूत है, उसको मैं मत मानो। इसके सम्बन्धसे जो 'यह मेरा, यह तेरा'—ये साले-सम्बन्धी तुम्हारे—'श्यालासंबंधिनस्तथा'—ये जो तुम्हारे ससुर और ताऊ और चाचा, तुम्हारे माता-पिता ये सब जुड़ गये हैं। ये सब कट जायेंगे। क्योंकि इनका सम्बन्ध देहसे है।

इसी प्रकार राजस् अहंकारका जो कार्य है, क्रियाशक्ति जो है शरीरमें, उसके साथ मैं को मत जोड़ो कि 'यह मेरा' तो तुम पाप-पुण्यका द्वन्द्व है, उससे मुक्त हो जाओगे। उसको 'मैं' मत बोलो।

इसी प्रकार जो सत्त्वगुणका कार्य है, कभी चित्तमें समाधि लगती है, कभी वात्सल्य, दया, उदारता आदि वृत्तियोंका उदय होता है, कभी सत्त्वगुणके कर्ममें प्रवृत्ति होती है, और कभी इन्द्रियोंमें सिद्धि-विद्धि आजाती है, आँख दूरका देखने लगती है, कान दूरका श्रवण करने लगता है, ये सब भी सात्त्विक हैं। तो ये जो कुछ सत्त्वगुणका कार्य व्यक्तिगत जीवनमें और समष्टि जीवनमें दिखायी पड़ रहा है, इनमें-से किसीके साथ तादात्म्य मत करो। तो 'निष्क्रान्तः त्रैगुण्यात् इति निस्त्रैगुण्यः।' निरादरायकान्त्य अर्थे पंचम्याः यह 'निर्' उपसर्ग जो है, वह पंचमी समासमें क्रान्त आदिके अर्थमें होता है। त्रैगुण्यात् यह हुई पंचमी। और निःकार किया-निष्क्रान्तः। तुम त्रैगुण्यसे

निष्क्रान्तः हो जाओ। माने जो कुछ सत्त्वगुण-रजोगुण तमोगुणका कार्य है, सृष्टिमें, वह तुम्हारा मैं-मेरा नहीं है। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतन हो। और तुम्हारे चेतन स्वरूपमें त्रैगुण्य मिथ्या है।

निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। बस, तुम तो अपनेको परमात्माके स्वरूपमें स्थित कर दो। स्वयं परमात्मा होकर विराजमान हो जाओ। क्योंकि त्रिगुणात्मक तो वही है न, 'तत्' पदार्थकी दृष्टिसे त्रिगुणातीत है वह, 'तत्' पद लक्ष्यार्थ है और 'त्वं' पदार्थकी दृष्टिसे त्रिगुणातीत 'त्वं' पद लक्ष्यार्थ है। और महावाक्य दोनोंकी एकताका बोध न करते हैं। इसलिए जहाँ तत्-त्वंका भेद नहीं है, उस पदका अपना स्वरूप जानकर तुम ब्रह्मनिष्ठामें स्थित हो जाओ। 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'

बोले—'भाई, इसके लिए भी कुछ साधन चाहिए। कैसे यहाँ तक पहुँचें? निस्त्रैगुण्य कैसे होवें? तमोगुण और तामस् अहंकार, रजोगुण और राजस् अहंकार, सत्त्वगुण और वैकारिक अहंकार इनसे मुक्त होकरके प्रकृति और महत्तत्त्वको भी अपने अन्दर अध्यस्त समझना यह कैसे होवे? इसके लिए साधन क्या? तो बोलते हैं—अन्तःकरण शुद्ध होवे। यदि योगमें तुम्हारी स्थिति होवे, तब तो यह स्थिति तुमको जल्दी प्राप्त हो जाय। अन्तःकरण शुद्ध होवे तो—

तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥

अष्टावक्र

अष्टावक्र भगवान् बोल रहे हैं कि जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह तो तत्त्वके श्रवणमात्रसे, 'मात्र' प्रत्ययका अर्थ है—'मननं विना, निदिध्यासनं विना, श्रवणमात्रेण'—मात्र प्रत्यय है श्रवणमेव, श्रवणमात्रम् तेन तत्त्वश्रवणमात्रेण बिना मननके, बिना निदिध्यासनके, श्रवणमात्रसे ज्ञान होता है। किसको? जो शुद्धबुद्धि हैं उसको। वह व्याकुलतारहित हो जाता है।

आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति।

यः शुद्ध बुद्धिर्न भवति=परः माने जो अन्य है, अर्थात् शुद्धबुद्धिसे रहित है, अशुद्धबुद्धि है, वह आजीवमपि जिज्ञासुः जिन्दगीभर भटकते रहे—'हमको यह बताओ, हमको यह बताओ। यह संशय, यह पूछो, यह विपर्यय, यह

संशय। तो वृत्ति कहीं स्थिर नहीं हो रही है। कहीं निष्ठा पक्की नहीं हो रही है, कहीं तदाकारता नहीं हो रही है, कोई स्मरण नहीं हो रहा है। कोई-न-कोई ग्लानिका हेतु उनके जीवनमें जिन्दगीभर बना रहेगा और आवरणभंग नहीं होगा। इसलिए उसके लिए चाहिए बुद्धिका शुद्ध होना।'

असलमें अधिकारीको पा करके विद्या सफल होती है। अनधिकारीके पास जाकरके विद्या सफल नहीं होती है। महाभाष्यकारने श्रुति उद्धृत की—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिस्तेऽहमस्मि।

विद्या ब्रह्मज्ञानीके पास गयी। 'ब्राह्मण' शब्दका अर्थ मैं 'ब्रह्मज्ञानी' बोल रहा हूँ। विद्या ब्रह्मज्ञानीके पास गयी और बोली कि 'तुम मेरी रक्षा करना, मैं तुम्हारी निधि हूँ। मैं तुम्हारी पूँजी हूँ, तुम्हारा खजाना हूँ। तुम मेरी रक्षा करना।'

असेवषाय अर्नाजवे=जो सेवक न हो, जो ऋजु न हो, अनुसूय न हो—

मानाम् वृयायत्म माम् अवतिस्तथ याम्।

उनको मेरा रहस्य मत बताना। यह खजाना उनकी हाथमें नहीं देना। तब मैं शक्तिशाली हूँ, तब मैं समर्थ रहूँगी और अविद्याकी निवृत्ति करती रहूँगी।

तो बाबा, जो शुद्धबुद्धि पुरुष है, जो अपने अन्तःकरणके दोषोंको, आसक्तियोंको छोड़ करके यह विद्या प्राप्त करता है। उसके अन्दर यह विद्या तत्काल सफल होती है। अच्छा भाई, तो वह अधिकारी बताओ। तब वह ब्रह्मभावको करानेवाली योग्यता कौन-सी है? बोले—

'पूर्वं निर्द्वन्द्वो भव, ततश्च पूर्वं नित्य-सत्त्वस्थो भव, ततश्च पूर्वं निर्योगक्षेमो भव, ततश्च पूर्वं आत्मवान् भव।' —भाष्य।

साधनकी परम्परा बताते हैं—कैसे निस्त्रैगुण्य हो जायँ? बोले—पहली बात यह है कि निर्द्वन्द्व हो जाओ। 'द्वन्द्व' शब्दका अर्थ होता है जोड़े-जोड़े मिलकरके जिनकी रहनेकी आदत पड़ जाय। यह कैवल्यविद्या है, केवलकी विद्या है। कैवल्य=केवल, अकेला। 'हरि ओम् तत्सत्।' आप लोगोंने स्वामी विवेकानन्दजीका 'संन्यासीगीत' है—उसे देखा होगा। उस गीतके अन्तमें आता है—'हरि ओम् तत्सत्।' अब संन्यासी अकेला चल रहा है। यही कैवल्यसम्मत पथ है। केवलका भाव है कैवल्य। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त! बोले—यह कैसे होगा? कि 'निर्द्वन्द्व हो जाओ।'

द्वन्द्वात् निष्क्रान्तः निर्द्वन्द्वम्।

यह द्वन्द्व क्या है? द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वः। दो-दो होकरके जो रहते हैं। ब्रह्म और ब्रह्माकारवृत्ति दो रहे तो एक द्वन्द्व वह है। जब वृत्ति बाधित हो जाय और ब्रह्म ही रहे तब वह सत्य है। निर्द्वन्द्व है। पहले वहीं मूलमें ही कुठाराघात कर दो गुरु और चेला दो—तब दोनोंमें द्वन्द्व माने लड़ाई-झगड़ा। यह ऊँची बात बताते हैं वृत्ति और तदाकारवृत्ति=आकार और वृत्ति। आकारशून्य वृत्ति-वृत्तिशून्य आकार कहीं होता है? नहीं होता है। दोनोंसे ऊपर उठ जाओ, यह द्वन्द्व है। यह इस तरहसे होता है। अब जब इतनी बात कह रहे हैं तो आपका ब्रह्माकार, इष्टाकार, निराकार सब उसमें आगया। यह सब तो आप मान लेंगे, लेकिन जब हम निर्द्वन्द्वका अर्थ कहेंगे, जोड़े-जोड़े मत रहो, तब आप नहीं मानेंगे, क्योंकि ऊँची-ऊँची चीजोंको आप छोड़ सकते हैं, कौन पड़े ब्रह्माकारताके झगड़ेमें? वह तो हम हैं ही हैं ब्रह्म। लेकिन मुट्ठी और पैसेका जो द्वन्द्व है, सो? वह तो जरुरी है महाराज! उसके बिना कैसे चलेगा? तो निर्द्वन्द्वका जो अर्थ है—*द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्।* दो-दो मिलकरके रहें, तब उसका नाम होता है 'द्वन्द्व।'

दुनियामें कोई किसीसे मिलता नहीं है। वह तो थोड़े दिनोंके लिए प्याऊ पर जैसे मिलते हैं, ऐसे ही मिलते हैं। किसीका मन किसीसे नहीं मिलता। यह भ्रम होता है। यह भ्रम हो जाता है बीचमें कि हमारा मन मिल गया। अन्ततोगत्वा—

उड़ जायगा रे हंस अकेला।

अकेला ही जाना पड़ेगा। यह जो परमार्थका मार्ग है, जो मृत्युका मार्ग है, इसमें जोड़ा-जोड़ा होकरके किसीने पार नहीं किया है। मौतके बादका जो रास्ता है, वह अकेला ही चलनेका है। मौत तक भले साथ-साथ चल लो। तो द्वन्द्वसे निष्क्रान्त हो जायँ—इसका अर्थ क्या है?

जन्मना और मरना यह द्वन्द्व जिसमें है, उससे निकलो। यह ठण्डा यह गरम यह भी द्वन्द्व है। बोले—गरमी आयी तो काश्मीर गये और ठण्ड आयी तो समुद्रके किनारे चले गये। बोले—तब ऐसा क्यों नहीं करते कि जाड़ा जब अपने देशमें आवे, तो गरमीमें काश्मीर जाकर जो आनन्द लेते हो, वह जाड़ेवाला आनन्द अपने घरमें ही ले लो। है न? क्या बढ़िया हो जायगा? बोले—नहीं, वह तो वहाँ जाकर लेंगे। तो यह मनुष्य जो है, वह द्वन्द्वको चाहता है।

अच्छा, पाप-पुण्य जो है, इससे भी ऊपर उठो। बोले—राग-द्वेषका द्वन्द्व है। इससे भी ऊपर उठो। सुख-दु:खका द्वन्द्व है, इससे भी ऊपर उठो। तो निर्द्वन्द्व होनेका अर्थ—किसीके साथ रहकर जो सुखी होनेकी उम्मीद बनायी है, चाहे वह विषयका साथ होवे तो छूटेगा, व्यक्तिका साथ होवे तो छूटेगा, भावका साथ होवे तो छूटेगा, इष्टका साथ होवे तो छूटेगा, स्थितिका साथ होवे तो छूटेगा। रहना पड़ेगा अन्तमें अकेला। इसलिए जब छोड़ना ही है, तो अभीसे द्वन्द्वोंसे ऊपर उठ जाओ। अपनेको ऐसी जगह बैठाओ, जहाँसे ये सारे द्वन्द्व आभासमात्र, प्रतीतिमात्र दिखायी पड़ते हैं।

झंडा गाड़ो जायके हद बेहदके पार।
हद बेहदके पार तूर जह अनहद बाजै॥

हद-बेहदके पार अपना झंडा गाड़ दो। जिसमें जन्मना-मरना, सर्दी-गरमी, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दु:ख बिलकुल सिनेमाकी तसवीरकी तरह चित्रमात्र दिखायी पड़ें। ऐसी जगह अपनेको बैठा दो।

भाई! यह कैसे होवे? यह सब तो अन्त:करणका खेल है, निर्माण है। नित्य सत्त्वस्थो=नित्य सत्त्वमें रहो। नित्य सत्त्वस्थ:का अर्थ यह है कि अनित्य सत्त्व तो सबके जीवनमें आता है। दुष्टसे दुष्ट आदमी होवे, रास्ते पर चलता होवे, और किसीको बीमार, प्यासा, थका-मांदा देखे तो थोड़ी देरके लिए उसके हृदयमें भी थोड़ी आद्रता, थोड़ी पिघलाहट आजाती होगी। पसीज जाता है, जैसे तकलीफका प्रसंग देखकर शरीरमें पसीना आता है, वैसे किसीकी तकलीफ देखकर दिलमें भी पसीना आजाता है। पसीज गया दिल! यह द्रवता जिसको बोलते हैं न, द्रव। द्रव माने पिघली हुई चीज। पसीना। तो दिल जब पसीजता है, तो सत्त्वगुणका उद्रेक तो सबमें होता है उस समय। लेकिन बादमें उसको देखकर घृणा हो जाती है न? तो वह घृणा कौन-सी वृत्ति है? बोले—'तमोगुण है।' चार पैसा उसको दिया तो? अभिमान हो गया तो रजोगुणी वृत्ति आ गयी। फिर बात क्या रह गयी? तुम्हारे हृदयमें जो सत्त्वगुणका उद्रेक हुआ था, वह रहा नहीं।

कोई ऐसी युक्ति करो कि हमेशा सत्त्व बना रहे। वह युक्ति क्या है? कि नित्य सत्त्व केवल ईश्वरमें रहता है। अविद्या और अविद्याके कार्य जहाँ भरपूर रहते हैं न, वहाँ नित्य सत्त्व नहीं रहता। तो नित्य सत्त्वमें स्थित हो जाओ माने

अन्तर्यामी ईश्वरके पास अपनेको मिलाओ। उसकी हाँमें हाँ मिलाओ। जैसे सिक्ख सम्प्रदायमें है, 'गुरुग्रन्थसाहब' में है—'जो ईश्वर करे उसको मंजूर करो, अपनी जिद्द मत करो—

जो प्रभु कीन्हों सो भल मानो

यह 'गुरुग्रन्थसाहब' का सिद्धान्त है कि जो हुकुमको बूझ लेता है—पहले ही है 'जपुजीसाहब' में—

हौं मैं कहो न कोय।

यदि कोई भगवान्‌के हुकुमको समझ जाय, तो *'हौं मैं कहे न कोय।'* मैं-मैं-मैं! उसको फिर अनशनकी कोई जरूरत नहीं होवे। यदि 'गुरुग्रन्थ-साहब' के सिद्धान्तको कोई समझ ले, तो उसको अनशन करनेकी कोई जरूरत नहीं होगी। ईश्वरका दर्शन होगा—*'हौं मैं कहै न कोय।'* ईश्वर कर रहा है उसमें हाँ-हाँ-हाँ।

उस ते होय नहीं कछु बुरा, और कहौ कीनै कछु करा?

उसके हाथोंसे कुछ बुरा नहीं होता है। और दूसरा कोई करनेवाला नहीं है। तो ईश्वरदृष्टि मिलाओ। ईश्वरदृष्टि मिलाओ माने कोढ़ीमें भी ईश्वरको देखो। मच्छरमें भी ईश्वरको देखो। वानरमें भी ईश्वरको देखो, शेरमें भी ईश्वरको देखो, सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करो। क्या बढ़िया? ईश्वरका दर्शन सब जगह होने लगे तो नित्य सत्त्वका दर्शन होने लगे।

बोले—यह क्या अपने हाथकी बात है? देखो, आपको बताते हैं, हमारे 'हरिबाबाजी महाराज' वृन्दावनमें एक जगह कथा सुननेके लिए जाया करते थे। 25-30 वर्ष पहलेकी बात है। तो सिर नीचे किये हुए जाते, जाकर कथामें बैठ जाते। घण्टेभर कथा सुनते और फिर वैसे ही नीची आँख किये लौट आते। उनकी आदत ही है कि आँख इधर-उधर ज्यादा घुमाते नहीं। नीची रखते हैं। एक दिन उनके भक्तने कहा कि 'महाराज! आप जहाँ कथा सुनने जाते हैं, वहाँ वह कथा तो बहुत बढ़िया, लेकिन उनके यहाँ खूंटियों पर बीसों दुशाले टंगे हुए हैं, तो यह तो बहुत खराब लगता है।'

तो बोले—'अरे भाई! तुम वहाँ क्या कानसे सुनने जाते हो कि आँखसे दुशाले देखने जाते हो?' वहाँ कोई भगवान्‌का चित्र लगा है कि नहीं? 'भगवान्‌का चित्र तो है महाराज वहाँ?' बोले—'वहाँ पूजापत्री है कि नहीं?'

'है, पूजा-पत्री भी है।' 'वहाँ ग्रन्थ है कि नहीं?' 'वहाँ ग्रन्थ भी है!' तब तुम्हारी नजर दुशाले पर क्यों गयी? देखो, मैंने महीने भरसे नहीं देखा कि क्या है वहाँ?' अब यह बात सत्त्व वाली हुई।

देखो, यह ईश्वरसृष्टि है न? ईश्वरकी दुकान लगी है, भला! इसमें जो चीज तुम ढूँढते हुए जाओगे, वही तुमको दुकान पर मिलेगी, इसमें स्थूलभूत भी है, इसमें सूक्ष्मभूत भी है, इसमें रजोगुण भी है, इसमें तमोगुण भी है, इसमें सत्त्वगुण भी है। तो तुम अपने अन्तःकरणके अनुसार चीज पसन्द करोगे और उसे देखोगे। कुत्तेके मुर्देको देखकरके उसकी सड़ी गन्धको देखनेवाला एक और उसके चमकीले दाँतको देखकरके खुश होनेवाला दूसरा।

तो, नित्यसत्त्वस्थोका अर्थ है, इस तमोगुणके अन्धकारमें, इस रजोगुणकी आँधीमें, इस सत्त्वगुणके प्रकाशमें तुम अपनी दृष्टिको अच्छाईके साथ मिला दो। अपनी आँखसे हर जगह अच्छाई-अराई देखो। सब जगह सम्पूर्ण प्रकृति है। सम्पूर्ण जगह सब जगह ईश्वर है। अब तुम देखते क्या हो? यह प्रश्न नहीं है कि यहाँ परमाणु है कि प्रकृति है? कि वासना है कि ईश्वर है? यह सवाल नहीं है। कहाँ ईश्वर नहीं है, कहाँ प्रकृति नहीं है, कहाँ पञ्चभूत नहीं है? कहाँ भूतसूक्ष्म नहीं है? वह तो तुम्हारा जो दिल है न, वह सजातीयसे दोस्ती कर लेता है। जैसे पाँच-दस बूढ़े-बूढ़े, जवान-जवान, बच्चे-बच्चे जहाँ इकट्ठे होते हैं, वहाँ बच्चे आपसमें दोस्ती करके खेलने लगते हैं और जवान-जवान जो हैं वे आपसमें मिलकर गपशप लगाने लगते हैं, मजेकी बातें करने लगते हैं और बूढ़े लोग आपसमें मिलकर गम्भीर चिन्तन करने लगते हैं। तो जिसकी जात जिसको मिल जाती है, वह उसीसे अपने आपको मिला देता है। अगर तुम्हारे दिलमें बुराई है तो दुनियाकी बुराईसे तुम्हारी जात मिल जायगी। तुम्हारे दिलमें अच्छाई है, तो अच्छाईके साथ तुम्हारी जात मिल जायगी। अपनेको तुम मिलाते कहाँ हो?

हमेशा अपने चित्तका विषय सत्त्वगुणको बनाओ और स्वयं सत्त्वगुणमें बैठो और दोनोंके बीचमें जो वृत्ति है, वह सत्त्वगुणी हो जायगी। हमेशा ही तुम सत्त्वगुणमें स्थित रहोगे।

बोले—जब सत्त्वगुणी हो जायेंगे महाराज, तो यह योगक्षेम कैसे बनेगा? योगक्षेम तो आप जानते ही हो न? आक्षेपिकी-संगति उसको बोलते

हैं। योगक्षेम माने? बाहरसे कुछ आवे अपनी दुकानमें, उसका नाम योग है। और जो है सो बनता रहे, बना रहे, जो है उसमें तो कमी न पड़ने पावे और जो नहीं है वह आता रहे, इसका नाम योगक्षेम। योग=अप्राप्त-प्रापक। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसको बुलानेके लिए अपने पास युक्ति करना, इसका नाम योग है। जैसे समाधि नहीं है तो बुलाना। इसका नाम योग। धन नहीं है तो बुलाना। इसका नाम योग। क्षेम क्या है? जो चीज अपने पास है, अच्छी-अच्छी पूँजी, वह बनी रहे, यह द्विविध जो भाव है न, इसको बोलते हैं 'योगक्षेम।' बोले—'अरे भाई! तुम हमेशा सत्त्वगुणी बने रहना चाहते हो तो निर्योगक्षेम हो जाओ। योग और क्षेमसे निष्क्रान्त हो जाओ। क्या आना चाहिए और क्या रहना चाहिए इसकी फिक्र छोड़ दो। समय पर रोटी खायी और रहना मस्त। नित्य सत्त्वस्थ: । और ज्यादा बुलानेकी कोशिश करोगे न, तो वह तो रूठ ही जायगा समझो। दुनियामें यह नियम है कि जिससे ज्यादा प्रेम करो, जिसको ज्यादा बुलाओ, वह एक-न-एक दिन तुम्हें मना जरूर करेगा। यही संसारका नियम है।'

संसारमें जितने दु:ख होते हैं वे माने हुए होते हैं। यदि शरीर पर कुल्हाड़ा नहीं लगा है न, किसीने गोली नहीं मारी है शरीर पर, वह दर्द होता है, भला! वह पीड़ा होती है पीड़ा और बाकी अपने प्यारेके छूटनेका जो डर है, वह भी मानसिक पीड़ा है और अपने मनके अनुसार कोई आदमी नहीं चलता है, उसके न चलनेसे हमको जो पीड़ा होती है, मानसिक ही है। मानसिक दु:ख है। तो इस बातको समझो कि हमें अपने मनकी पूरी करनेके लिए दूसरेके मनमें दु:खकी कल्पना करनी चाहिए। दूसरेके मनका दु:ख मिटा देनेके लिए हमें अपने मनका दु:ख छोड़ देना चाहिए? तो हमारी स्थिति कहाँ है? यदि हम दूसरेका दु:ख मिटाना चाहते हैं, तो अपने मनका दु:ख सहकर भी दूसरेका दु:ख मिटाना चाहिए। और यदि हम अपने मनका दु:ख मिटानेके लिए दूसरेके मनका दु:ख चाहते हैं, तो गलत रास्ते पर चलते हैं।

निर्योगक्षेम आत्मवान्।

अपनी गलतीको पहचानना नहीं, अपनी गलतीको पहचान करके छोड़नेमें ही साधकपना है। तो यह जो—'यह आवे, यह आवे, यह मिले, यह मिले' ये जो इच्छा है, देखो—जो आनेवाला है वह आनेके प्रवाहमें, प्रकृतिके

प्रवाहमें खुद आवेगा। किसको बुलाने गये थे? शरीरमें जुर्रियोंको बुलाने गये थे? शरीरमें रोगको बुलाने गये थे? तो जो कर्मफल देनेमें इतना तत्पर है कि वह कर्मोंका फल तुम्हें चुन-चुनकर देता है। वह अच्छे कर्मोंका फल तुम्हें नहीं देगा? ऐसा अविश्वास अपने चित्तमें मत रखो। योगक्षेमं!

योगक्षेम अबतक होता रहा है और आगे होता रहेगा। जिनके हाथ नहीं हैं उन पक्षियोंका भी योगक्षेम हो रहा है। 'श्रीधरस्वामीजी महाराज' बैठ करके भजन कर रहे थे। बोले—'यह 'योगक्षेमं वहाम्यहम्', 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' यह क्या चीज है?'

एक ऊपर घोंसला था चिड़ियाका। उसमें बिना पंखका एक बच्चा अण्डा फोड़ करके निकला हुआ था। अभी पंख नहीं था उसको। घोंसलेमें-से सामने होकर गिर पड़ा। अब उसका मुँह कभी खुले कभी बन्द हो। कभी खुले कभी बन्द हो। कभी खुले कभी बन्द हो। उन्होंने कहा—'हाय-हाय, अब यह खाये बिना मर जायगा। ऊपर रहता, चिड़िया घोंसलेमें आती और इसके मुँहमें चारा डालती। अब कौन चारा डालेगा?'

इतनेमें क्या हुआ? दो मक्खियाँ आपसमें लड़ रहीं और जब उस बच्चेका मुँह खुला तब उसी मुँहमें गिरीं और झट उसका मुँह बन्द हो गया। खाना पहुँच गया उसके मुँहमें। बोले—'अरे! जिसके पंख नहीं, चलनेकी शक्ति नहीं, खिलानेवाली मैया नहीं, उसके मुँहमें चारा किसने डाला? मालूम है? — 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' जिसने वादा कर रखा है कि मैं अपने सिर पर टोकरीमें लादकरके योगक्षेम पहुँचाता हूँ, वह कहीं गया नहीं है।'

किमजितोऽवति नोपसन्नान्?

क्या भगवान् नहीं है? ईश्वर है और ईश्वरकी कृपासे सबका पालन-पोषण चल रहा है।

सबको मायामात्र समझो तो, सबको प्रकृतिमात्र समझो तो, सबमें ईश्वर समझो तो, ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु समझो तो, योगक्षेमकी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। निश्चिन्त हो जाओ और अनुभव करो अपनेको परमात्मामें स्थित।

बोले—'महाराज, आप कहते तो बहुत बढ़िया हैं, सुनाते हैं तब तो बहुत अच्छा लगता है, सुनाते हैं तब तो बहुत ठीक, बहुत युक्तियुक्त कह रहे हैं।

लेकिन घरमें जाते हैं तब मनीराम नहीं मानते। ठीक है, मन ही को मनाना रहा। इसका अर्थ यह हुआ कि योगक्षेमसे चिन्ता रहित होनेके लिए मनको मनाना है नित्यसत्त्वस्थ होनेके लिए मनको मनाना है। निर्द्वन्द्व होनेके लिए मनको मनाना है। निस्त्रैगुण्य होनेके लिए मनको मनाना है।

असलमें बतानेवालोंकी कमी नहीं, बतायी हुई बातोंकी कमी नहीं, विचारोंकी कमी नहीं, सिद्धान्तोंकी कमी नहीं। ये मनीराम जो हैं, इतने चंचल, इतने चुलबुले हैं कि ये मानते ही नहीं हैं। तो क्या किया जाय? **आत्मवान्**! इस मनको जरा अपनी मुट्ठीमें करो। अपने मनको समझाओ। संयमी बनो माने अपनी आदत सुधारो।

आत्मवान्का अर्थ है, धीरे-धीरे अपनी आदत बदलो। अपनी आदत सुधारो, तब धीरे-धीरे ठीक रास्ते पर आजाओगे। अपने मनको संयमी बनाओ, निष्ठावान् बनाओ। आत्मवान् रहो। **आत्मवान् भव**। का क्या मतलब हुआ? आत्मा कहीं विदेश गयी है? परलोकमें गयी है? आत्मवान् भव, जैसे धनवान् भव। हमारे पास धन नहीं है तो धन इकट्ठा करो, धनवान् भव। ज्ञानवान् भव। जैसे हमारे पास ज्ञान नहीं है तो दूसरेसे सीखो। ज्ञानवान् भव। इसी तरहसे आत्मवान् भवका क्या अर्थ है? आत्मा कहीं परदेश गयी है, अब दूसरेसे उधार अब ले लो। कई लोग उधार भी दे देते हैं।

पहले सुनते हैं कि ये परियाँ जो हैं न, चुडैलें, ये क्या करती थीं? कि दूसरेकी जानको पकड़ करके पिंजड़ेमें कैद किया करती थीं। बचपनमें नानीकी कहानीमें ऐसी बात आती थी कि जो परी हुआ करती थीं, वह दूसरेकी जान पकड़ करके कहीं तोतामें डाल देतीं, कहीं पिंजड़ेमें बन्द कर देतीं। तो वे परियाँ और चुडैलें तो होंगी कि नहीं होंगी, वह तो ईश्वर जानें, भला! वह तो नानी हमारी जानती होंगी। उसकी कोई बात नहीं है, लेकिन तुमने खुद जो अपनी आत्माको दूसरेके पास भेज करके जो उसको पिंजड़ेमें कैद करा दिया है न, वहाँसे तो लौटाओ! भाई!

आत्मवान्=अपनी आत्माको दूसरेके पास मत जाने दो। अपनी आत्माको किसी विषयमें मत जाने दो, किसी व्यक्तिमें मत जाने दो, किसी भावमें मत जाने दो, किसी स्थितिमें मत जाने दो। कहीं लोकान्तरमें उसको मत फँसने दो। पहले अपने आपको सम्हालो।

अपने आपको सम्हालो, योगक्षेमकी चिन्ता मत करो। तब नित्यसत्त्वस्थ हो जाओगे, द्वन्द्व सब छूट जायेंगे, तुम त्रिगुणातीत हो जाओगे अर्जुन! यह वेदका परम उपदेश है। वेदकी परम शिक्षा है।

बोले—महाराज, और वेद क्या?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

डॉक्टरकी सारी दुकान दवाकी दुकान है न, वह सारी दुकान उठाकर अपने घरमें मत ले आओ। जितना तुम्हारे लिए जरूरी हो, उतना उसमें-से ले लो। वेदके सारे विधि-विधान तुम्हारे ही पालन करनेके लिए नही हैं। तुम्हारे सरीखे और अधिकारी हैं, उनके लिए भी वेदकी आज्ञाएँ हैं। तुम तो यह देखो कि वेदकी तुम्हारे लिए क्या आज्ञा है? और उसके अनुसार आचरण करो। यह बात भगवान् इसी उपनिषद्में—'निस्त्रैगुण्योपनिषद्'में अगले श्लोकमें बोलते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 2.46
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 2.47

●

: 36 :

त्रैगुण्यविषया वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ 2.45

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके लिए क्रमसे कैसे साधन करते हुए निस्त्रैगुण्य हो जाना चाहिए और निस्त्रैगुण्य हो जाने पर वेदाधिकारकी वेदके आदेशकी निवृत्ति हो जाती है, इस बातको पहले श्लोकमें बताया है। आप लोगोंमें-से जिन्होंने ब्रह्मसूत्रका शाङ्करभाष्य पढ़ा होगा, शाङ्करभाष्यका उपोद्घात खास करके उसमें यह बात स्पष्ट रूपसे आयी है कि—

अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

प्रत्यक्ष आदि जितने प्रमाण हैं और जो शास्त्र हैं, वे सब अविद्यावान् पुरुषको विषय करते हैं। माने सब-के-सब प्रमाण अज्ञानीके लिए हैं। जो ब्रह्म और आत्माकी एकताको नहीं जानता है, उपनिषद्के परम तात्पर्यका साक्षात्कार जिसको नहीं हुआ है, उसके लिए सारे प्रमाण हैं और जिसने वस्तुको स्वरूपको यथावत् ठीक-ठीक जान लिया उसके लिए प्रमाण नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि किसी आदमीको आप यहाँसे चौपाटी भेजना चाहें और वह यहींका रहनेवाला हो और चौपाटीके रास्ते आने-जानेवाला हो, तो उसके लिए यह भी जरूरत नहीं रहेगी कि—'तुम इस रास्तेसे चौपाटी पर पहुँचना।' क्योंकि वह तो पहलेसे जानता है। वहाँ आता-जाता है, उसको देखता रहता है।

अगर इस रास्तेका कोई बिलकुल गैरजानकार आदमी होवे, जिसको मालूम ही न होवे कि चौपाटी कहाँ है? और किस रास्ते जाना चाहिए? उसको बताना पड़ेगा कि—'यहाँसे इस रास्तेमें जाओ तो वहाँ पहुँचोगे। इस बससे जाओगे, इस टैक्सीसे जाओगे और यहाँ पहुँचोगे तो चौपाटी मिलेगी। बताना किसको होता है? जो अनजान होता है और जो जानकार होता है, उसको बतानेकी जरूरत नहीं होती है। तो जिसने आत्मतत्त्वको, परमात्म-तत्त्वको जान लिया, ब्रह्मात्मैक्यको जान लिया, उसने तो सब कुछ जान लिया; क्योंकि—

यस्मिन् विज्ञाने सर्वं विज्ञातं भवति। मुण्डक 1.1.3

जिस एकके जान लेने पर सब कुछ जान लिया हुआ हो जाता है, तो उसके लिए मार्ग बतानेकी या उस वस्तुका स्वरूप बतानेकी कोई जरूरत नहीं है। इसलिए जो लोग त्रैगुण्यमें माने तीन गुणोंके कार्यमें और तीन गुणोंमें मैं-मेरा करके फँसे हुए हैं, 'दुनियाकी यह चीज मेरी, यह चीज़ मेरी, यह आदमी मेरा, यह मकान मेरा', यह शरीर मेरा और यह मैं'—ऐसा करके जो फँसे हुए हैं, उनको तो योग बताते हैं कि किस प्रकार निषिद्धका परित्याग करके सकाम विहितका सेवन करें। विहितमें भी सकामताका परित्याग करके निष्काम करें और निरूपण करके भी जब अन्तरंग साधनमें चले जायँ तो निष्काम कर्मसे भी निवृत्त हो जायँ। और वहाँ संशय-विपर्ययकी निवृत्ति होकरके तब कोई विधि-निषेध उनके लिए शास्त्रका नहीं रहता है। इस समूची बातको ध्यानमें रखकरके भगवान्‌ने कहा—

त्रैगुण्यगुण्यो वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'का अर्थ है कि ये जो त्रिगुणके विषय हैं, ये हमारे भोग्य हैं और मैं भोक्ता हूँ। तब यह क्या हो गया? बीचमें कामनाकी कड़ी आगयी। त्रिगुणकीय जो कार्य हैं—शब्द-स्पर्श-रूप-गंध-रस और त्रिगुणके जो कार्य हैं सुख-दुःख, त्रिगुणकी जो अवस्थाएँ हैं घोर-मूढ-शान्त; शान्त अवस्था, घोर अवस्था और मूढ अवस्था—इन सब अवस्थाओंमें जब 'मैं-मेरापन' रहेगा, तब तुम्हें वेदकी आज्ञाके अनुसार चलना पड़ेगा और जब इनमें 'मैं-मेरापन' तुम्हारा नहीं रहेगा, उससे ऊपर उठ जाओगे, द्रष्टा-साक्षी-ब्रह्म अपने आपको जान लोगे, तब तुम वेदके अधिकारी नहीं रह जाओगे। इसलिए इससे ऊपर उठो।

कर्मकाण्डात्मक वेदके जो विधि-निषेध हैं, वे अपनेको कर्ता-भोक्ता माननेवालोंके लिए ही हैं और कर्ता-भोक्ता अपनेको वही मानता है जो बहिन्द्रियोंसे अथवा अन्तर्न्द्रियोंसे अपनेको युक्त मानता है। बहिन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता और अन्तर्न्द्रियोंकी उपाधिसे आदमी अपनेको भोक्ता मानता है। और यदि ये उपाधि छोड़ दी गयी तो फिर उसके लिए विधि-निषेध नहीं होता है।

आप देखते हो दूसरे देशके नागरिक इस देशमें आते हैं तो जो दूसरे देशकी नागरिकता स्वीकार कर चुका है, वहींका नागरिक हो चुका है, उसके ऊपर

वहाँके कानून वैसे ही नहीं लगते हैं जैसे यहाँकी प्रजा पर। उसके लिए दूसरे ढंग होते हैं। यह नहीं है कि कोई अमेरिकाका या रूसका कोई नागरिक यहाँ होवे तो भारतीय कानूनके अनुसार ही उसको सब काम करना पड़े।

प्रकृतिराज्यमें जब तुम 'मैं-मेरा' करते हो, तो सारे कानून तुम पर लग जाते हैं और जब प्रकृतिके राज्यसे ऊपर उठ जाते हो, तो ये जो प्राकृत कानून हैं, प्राकृत नियम-कायदे हैं, ये उसमें नहीं लगते हैं। इसलिए—

निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

तुम इस जगत्के कानूनसे ऊपर उठ जाओ। अब कैसे-कैसे ऊपर उठें, उसके लिए भगवान्ने चार साधन बताये हैं—

(1) **निर्द्वन्द्वः**। निस्त्रैगुण्य होनेके लिए निर्द्वन्द्व होना जरूरी है। निर्द्वन्द्व होनेके लिए (2) **नित्यसत्त्वस्थ** होना जरूरी है। और नित्यसत्त्वस्थ होनेके लिए (3) **निर्योगक्षेम** होना जरूरी है और निर्योगक्षेम होनेके लिए (4) **आत्मवान्** होना जरूरी है।

माने पहले संयमी बनो। फिर इकट्ठा करनेकी और रक्षा करनेकी चिन्ता छोड़ो। इसके बाद नित्य सत्त्वमें रहो। इसके बाद निर्द्वन्द्व हो जाओ। तो निर्द्वन्द्व हो जाने पर तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओगे। केवल जबानी जमाखर्चसे कोई निस्त्रैगुण्य नहीं हो जाता। उसके लिए साधनका अनुष्ठान करके, अन्तःकरण शुद्ध करके, तब तत्त्वज्ञान होने पर मनुष्य निस्त्रैगुण्य होता है। इसलिए यहाँ वेशकी निन्दामें तो बिलकुल तात्पर्य नहीं है। केवल सकामताकी निन्दामें तात्पर्य है और देहादिमें जो 'अहं-मम' है, 'मैं-मेरा' है, उसके निषेधमें तात्पर्य है।

अब देखो, 'निस्त्रैगुण्य'का अर्थ 'निष्काम-निष्काम' कैसे? जबतक भोग्य वस्तु सत्य है, एक सत्य है और इनमें प्रिय-अप्रियके दो भेद हैं, हमको प्रिय चाहिए है और अप्रिय नहीं चाहिए हैं, तबतक हम भोक्ता हैं न? भोग्यवस्तु सत्य है, उसमें भी प्रिय-अप्रिय—'प्रिय हमको चाहिए और अप्रिय हमको नहीं चाहिए।' राग-द्वेष हुआ। भोग्यवस्तुकी सत्यता, उसमें प्रिय-अप्रियकी भ्रान्ति, उनमें हेय-उपादेयकी भ्रान्ति और उनमें राग-द्वेष। राग-द्वेष करके भोक्ता बने बैठे हैं। भोक्ता बने बैठे हैं तबतक तुम उनके प्रति निष्काम कैसे होओगे? हमको यह चाहिए और हमको यह नहीं चाहिए।'

निष्काम कब होओगे? जब दृश्यमें सत्यता न रहे। जब दृश्यमें भोग्यता न

रहे। यहाँ तक कि सद्भावकी दृष्टिमें दृश्यमें कार्य-कारणभाव न रहे। और प्रमाता-प्रमेयभाव न रहे। भोक्ता-भोग्य भाव न रहे।

चिद्भावकी दृष्टिसे प्रमाता-प्रमेयभाव, ये चिद्भावके दो विवर्त हैं, प्रमाता और प्रमेय। सद्भावके दो विवर्त हैं कार्य और कारण। और आनन्दभावके दो विवर्त हैं भोक्ता और भोग्य। तो जब अपनेको शुद्ध भावसे सच्चिदानन्दघन जान लेते हैं तब भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेय, कर्ता और कार्य और ये छहों जो पदार्थ हैं उनमें तीन द्वन्द्व हैं, ये तीनों द्वन्द्व निवृत्त हो जाते हैं।

तो भाई! फिर वेदमें जो और सारे विधान हैं, उनकी क्या दशा होगी? तो उनका समाधान करते हैं भगवान्। वेद भगवान्के स्वरूप ही हैं, कोई और दूसरे नहीं है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि। 10.22

भगवान् कहते हैं कि 'वेदोंमें सामवेद मैं हूँ।' बोले—यह तो सामवेदकी प्रशंसा है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। 10.20

'मैं सबकी आत्मा हूँ'—यह भी तुम्हारी प्रशंसा है। 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' और—

वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः।
वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्॥ 15.15

और, **ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।** 13.4

तो सत्यरूपसे भगवान्ने बताया कि—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। 8.11

सम्पूर्ण वेदोंसे प्रतिपाद्य भगवान् हैं। ऐसी स्थितिमें सकाम कर्म करनेका प्रतिपादन करनेवाला जो वेद है वह छूट जायगा।

स्वर्गकामो यजेत्। वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा त्यजेत्।

ये जो कहीं नित्य, कहीं नैमित्तिक, कहीं काम्य जो प्रतिविधि हैं शास्त्रमें उनकी संगति क्या होगी?

बोले—देखो भाई, वेद कोई एक आदमीके लिए नहीं बनाया। एक वर्ण, एक आश्रमके लिए नहीं, एक तरहके अधिकारीके लिए नहीं है। गृहस्थके लिए उसमें ऋतुगमनका विधान है, और संन्यासीके लिए उसमें ऋतुगमनका निषेध

है। अब संन्यासीको संन्यासीके लिए जो विधान है वह करना चाहिए और गृहस्थके लिए जो गृहस्थोचित विधान है, वह करना चाहिए। अधिकारीभेदसे वेदकी व्यवस्था होती है। सबके लिए सारा वेद-भेद नहीं होता है। जिस अधिकारीके लिए जो विहित है, उस अधिकारीको वह काम करना चाहिए। यह नहीं कि संन्यासी—

मानसतोके तनये भान आयुर्षी मानो गोषु मानो वत्वेषु रिरिषः।

यह प्रार्थना भगवान्से करे कि 'हमारे बेटेको कोई बीमारी न हो।' यह संन्यासीकी प्रार्थना तो नहीं है न? वहाँ तो वर्ण है, आश्रम है, मुमुक्षु है और बुभुक्षु है। सभी प्रकारके अधिकारियोंके लिए अलग-अलग वर्णन है। तो जिस अधिकारीके लिए जो उचित होवे, जो जिस अधिकारीके लिए ठीक बैठता हो, वेदकी उस आज्ञाके अनुसार उसको काम करना चाहिए।

अब यह प्रसंग उपस्थित हुआ कि फिर वेदमें तरह-तरहका आनन्द प्राप्त करनेके लिए तरह-तरहके उपदेश हैं। कोई देवताका आनन्द है, कोई पितरोंका आनन्द है, कोई गन्धर्वोंका आनन्द है, कोई मनुष्योंका आनन्द है, तो तुम केवल ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए प्रयास करोगे तो बाकी सब आनन्द और उनको प्राप्त करनेके लिए जो विधान हैं, वे सब छूट जायेंगे।

बोले—छूट जाने दो। बाबा! तालाब भरा हुआ है पानीका लबालब! मीठे पानीका समुद्र भरा हुआ है। दूधका समुद्र भरा हुआ है। उसमें हजारों आदमी आते हैं। चींटी आती है एक बूँद पीकर जाती है तो उसको तृप्ति होती है कि नहीं? चिड़िया आती है, वह पचास बार चोंच मार कर थोड़ा-थोड़ा पीती है और गाय-भैंस-घोड़े आते हैं, वे कितना पानी पीते हैं? हाथी देखो, सूंडसे कितना पानी खींच ले। और ऊँटको, दस दिनके लिए उसमें-से पानी खींच कर अपने पेटमें रख ले। तो पानी होवे चाहे लाखों टन और चाहे होवे सेर-दो-सेर उसमें-से प्रयोजनकी सिद्धि तो उतनेसे ही होती है न, जितना पिया जाता है। जितना पिया जाता है उतनेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

गाय किसकी? चरवाहेकी? गाय किसकी? जिसने पैसेसे खरीदी उसकी? गाय किसकी? जिसको दी गयी उसकी? बोले—नहीं बाबा, उसका जो दूध पीता है रोज-रोज, उसकी। गाय उसकी बड़े प्रेमसे जो रोज-रोज उसका दूध पीता है।

तो अब प्रश्न उपस्थित हुआ कि सम्पूर्ण वेदमें जो असली प्रयोजन है, आप जानते हैं कि मनुष्यके आनन्दसे बढ़ करके गन्धर्वोंका आनन्द है, पितरोंका आनन्द है, देवताओंका आनन्द है, सौ-सौगुना करके। बोले—सबके अन्तमें ब्रह्मानन्द है। परन्तु अकामहत जो पुरुष है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है। और श्रोत्रीय है।

श्रोत्रियस्य अकामहतस्य च।

जो विद्वान् है और जिसके हृदयमें कोई कामना नहीं है, बोले—मनुष्यका सम्पूर्ण आनन्द, जवान भी होवे, विद्वान् भी होवे, सम्राट भी होवे, शक्तिशाली भी होवे, आशावान् भी होवे, दृढ़ भी होवे—**आशीष्ठो दृढीष्ठो**? सारी धरतीका राजा भी होवे, वह सारी धरतीका राज्य प्राप्त करके जो आनन्द भोग रहा है, वह आनन्द विद्वान् और निष्काम पुरुषको बिना धरतीका शासन किये, बिना अध्ययन-अध्यापन किये और बिना आशावान हुए उसको आनन्द स्वभावसे ही स्वरूपमें प्राप्त है।

पितरोंको जो आनन्द है, देवताओंको जो आनन्द है, गन्धर्वोंको जो आनन्द है, ब्रह्मलोकमें जो आनन्द है, उसको उन-उन विषयोंकी प्राप्ति होनेके बाद जो आनन्द होता है, निष्काम पुरुषको वह आनन्द उन यज्ञ-यागोंके किये बिना और उन-उन लोकोंमें गये बिना और उन-उन शरीरोंको प्राप्त हुए बिना और उन-उन पदार्थोंको भोगे बिना जो निष्काम पुरुष अपने हृदयमें बैठा हुआ है,उसको उन सब आनन्दोंसे बड़ा आनन्द प्राप्त है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संम्प्लुतोदके।

प्याऊपर गये, एक ग्लास पानी पिया, फिर दूसरे प्याऊपर गये, एक ग्लास पानी पिया इसी प्रकार कुछ-न-कुछ खाते-पीते और आगे गये, आगे देखा वहाँ अमृतका समुद्र लहरा रहा है। तब प्याऊकी कोई जरूरत रही? यों कहो कि सब जगह जो प्याऊसे काम निकलता, सो सब काम उस अमृतके लहराते सरोवरसे निकल सकता है। उसमें पानी भी पी लो, नहा भी लो, उसकी ठण्डी हवा भी ले लो,सब कुछ उसीसे मिल जायगा। तो गन्धर्वलोकके आनन्दके लिए प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। देवलोक ब्रह्मलोकके आनन्दके लिए प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वे सारे आनन्द ब्रह्मानन्दमें समाये हुए हैं। अगर तुम्हें उस ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो गयी,

तो सारे ही आनन्द प्राप्त हो गये। उसके लिए कुछ प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। तो—

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणः विजानतः ॥ 2.46

जो तत्त्वज्ञ ब्राह्मण है, 'विजानतः'। विजानत-वही है जो 'ईशावास्य उपनिषद्' में आप लोग पाठ करते हैं न!

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्रको मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ईशा०7

'एकत्वमनुपश्यतः विजानतः'। वहाँ जो 'विजानतः' है, वही 'विजानतः' यहाँ भी है। जो एकत्वदर्शी विज्ञानी हैं, विजानन्—

विजानन् विप्रो भवति नातिवादी।

जो ब्रह्मको जान लेता है, विज्ञानसम्पन्न जो है, उसको बोलते हैं 'विजानन्'। यह जो विज्ञानी ब्राह्मण है, उसके लिए अब—

सर्वेषु वेदेषु तावानर्थः।

सारे वेदोंमें चाहे वे कर्मोंके प्रतिपादक हों; चाहे वे ब्रह्मचारीके लिए हों, चाहे गृहस्थके लिए हों, चाहे वे वानप्रस्थके लिए हों, चाहे संन्यासीके लिए हों, चाहे किसी भी आनन्दकी प्राप्तिके लिए, चाहे किसी भी अधिकारीके लिए उपदेश होवे, लेकिन जब ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो गयी तो सबकी प्राप्ति हो गयी। किसी आनन्दको काम्य नहीं और किसी आनन्दके लिए साधनकी जरूरत नहीं। वह निष्काम हो गया।

इसका दूसरी तरहसे अर्थ यों लगाते हैं कि—'सर्वतः सम्प्लुतोदके सती उदपाने यावानर्थः।' जब चारों ओर पानी फैला हुआ हो, सब जगह शुद्ध जलकी प्राप्ति हो रही हो, गंगाके तटपर चलते-चलते कहीं भी दो अंजलि पानी मुँहमें डाल सकते हो तो वहाँ एक बाल्टी पानी या कमण्डलु भर पानी हाथमें ले करके ढोते रहना, वह काँखमें लटकाके, कंधेपर लटकाके चलते हैं न? चल तो रहे हैं गंगाके किनारे-किनारे, और पानीका बर्तन कंधेपर लटकाये-लटकाये—ढोते जा रहे हैं, तो—'सर्वतः संप्लुतोदके सती', जब सब जगह जल ही जलकी बाढ़ शुद्ध जलकी बाढ़, सब जगह शुद्ध जलका सरोवर, नहीं, समुद्र प्राप्त हो रहा है, तब 'उदपाने यावानर्थः'=तब एक उदंचलमें अथवा एक बाल्टीमें, एक कमण्डलुमें पानी भरके लिए चलना,

इसमें कितना प्रयोजन है? अर्थात् 'न कोप्यर्थः'=कोई प्रयोजन नहीं है, ले करके चलनेके लिए।

विजानतः ब्राह्मणः सर्वेषु वेदेषु यावानर्थः।

जो तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण है, उसके लिए सम्पूर्ण वेदोंमें उतना ही अर्थ है। अर्थात्, उसके लिए अब वेदोंकी आज्ञाके अनुसार चलनेका कि यह विधि करे और ग्रहणमें इस तरहसे स्नान करे और या संक्रान्तिमें इस तरहका दान करे और इस नित्य-नैमित्तिक कर्मको करे, यह तत्त्वज्ञानीके लिए कोई विधान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण विधानोंका जो तात्पर्य है, जो लक्ष्य है अन्तःकरणकी शुद्धि और उसके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार, वह तो उसको हो ही चुका है। इसलिए सकाम कर्मके चक्करमें तुम्हें नहीं पड़ना चाहिए। श्रीकृष्ण तो साफ ही साफ यहाँ अर्जुनको बता रहे हैं।

श्रीकृष्णने अपनी पसंद अर्जुनको बता दी। अपना निश्चय बता दिया और अपनी पसंदगी बता दी। और अन्तमें कह दिया—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यात् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ 18.63

बाबा! तुम जो उचित समझते हो, वही करो। तुम्हारे पास बड़ी बुद्धि, तुम्हारे पास बड़ी युक्ति तुम बहुत उचितको समझनेवाले जो तुम्हारी समझमें आवे सो करो। हमारा जो अनुभव है, हमारी जो पसंदगी है, वह हमने बता दी कि हमको यह पसंद नहीं है। तुम तो जो तुम्हारी मौज हो सो करो। तो सकाम कर्म जो है वह भगवान्‌को इष्ट नहीं है। वह कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ ज़याजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

हमको तो इस तरहसे कर्म करना इष्ट है। अब 'कर्मविधानोपनिषद्' प्रारम्भ करते हैं। यह कर्मविधान=किस प्रकारसे कर्म करना चाहिए, यह कर्माधिकार—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 2.47

ब्रह्मसूत्रमें जैसे सूत्र होते हैं न, जो चार सूत्र जो पहले हैं, उनको 'चतुःसूत्री' बोलते हैं। 1. **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**, 2. **जन्माद्यस्ययतः**, 3. **शास्त्र-**

योनित्वात् और 4. **तत्तु समन्वयात्** । यह चतुः सूत्री है। इसमें ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य आ गया है। 'जन्माद्यस्य यतः' से सद्रूप उपादान कारण, जन्म जिससे होवे और लय जिसमें होवे-जैसे घटका उदय और विलय मृत्तिकामें होता है, ऐसे सम्पूर्ण विश्वका उदय और विलय ब्रह्ममें होता है, तो ब्रह्म जो है वह तद्रूप-उपादान-कारण है।

3. '**शास्त्रयोनित्वात्**' माने वह सर्वज्ञ है। शास्त्र ही योनि है, शास्त्र ही उसके सम्बन्धमें प्रमाण है। प्रमाणान्तरका निषेध और स्वयं ज्ञान-स्वरूपत्व, चिद् भावकी प्रतिष्ठा शास्त्रयोनित्वात्‌से की गयी। और वह जो सद्भाव है, वही चिद्भाव है, अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है और वही ब्रह्म है। ब्रह्म है माने अनन्त है, परिच्छिन्न नहीं है।

4. '**तत्तु समन्वयात्**'=सम्पूर्ण शास्त्रोंका समन्वय उसीमें है। माने सारी प्रजा उसीकी ओर जा रही है, सबका प्यारा वही है, सबका वही आनन्द है, सबका वही इष्ट है। सम्पूर्ण शास्त्र उसीको प्राप्त कराना चाहते हैं, अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है। सम्पूर्ण श्रुतियोंका परम तात्पर्य, परम समन्वय उसीमें है। यज्ञयागादिका समन्वय भी उसीमें है। गतिसामान्यात्। और अन्वय-व्यतिरेक भी सर्वत्र उसीका है। वेद समन्वित है वह सबमें। तो चार सूत्रोंमें जो ब्रह्मसूत्रका प्रतिपाद्य वस्तु है, उसका वर्णन किया। इसी प्रकार 'गीता' के जो ये 'कर्मविधानोपरिनिषद्' के चार पाद जो हैं, ये कर्मशास्त्रके चार सूत्र हैं।

इन चार सूत्रके अनुसार जो कर्म करें, वह कर्मके बन्धनसे छूट जाता है। यहाँ कर्म करनेकी जो युक्ति बताते हैं, यह अपनेको कर्ता-भोक्ता बनानेके लिए नहीं। अपनेको कर्तापन और भोक्तापनसे छुड़ानेके लिए बतायी जा रही है कि जिससे करते समय भी मनमें समता बनी रहे। फिर जैसे,

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। 2.48

करते समय मनमें समता होवे और उससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होवे—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृते दुष्कृते। 2.50

पाप-पुण्य और सुख-दुःख फलकी प्राप्ति नहीं होवे। काम तो करे पर कामके बन्धनमें मनुष्य नहीं आवे। छूट जाता है। कैसे छूट जाता है? अपने

आपको, अपने स्वरूपको भूल जानेके कारण। ऐसा नहीं समझना कि कोई ऐसी बात कही जा रही है कि जिन्दगीभर काम ही करते रहो। यह देखना है कि तुम अपने जीवनमें कर्म करते हो कि नहीं? आखिर 'कामशास्त्र' भी तो है न? इसका अर्थ है कि तुम स्त्री-पुरुष हो, तुम पति-पत्नी हो, तो घरमें तुम कामोपभोग करते हो कि नहीं? करते तो हैं। तो उसका शास्त्र तुम जानते हो? नहीं जानते हो? नहीं जानते हैं। नहीं जानते हो, इसलिए तुमको उस कामका ठीक सुख नहीं मिलता। कामका ठीक भोग नहीं मिलता, भोग रोगका हेतु हो जाता है।

तुम खाते तो हो, लेकिन खानेकी रीति तुमको नहीं मालूम है। तो क्या होगा? ज्यादा खा लोगे तो बीमार पड़ जाओगे। विपरीत भोजन कर लोगे तो बीमार पड़ जाओगे। ऋतुके अनुसार भोजन होना चाहिए। स्वास्थ्यके अनुसार भोजन होना चाहिए। अपने लिए हितकारी भोजन होना चाहिए। अगर तुम रोज-रोज खाते हो तो क्या खाना-क्या नहीं खाना, कितना खाना, कब खाना, कैसे खाना, ये सारी बात तुम्हें मालूम होनी चाहिए न? जिससे खाते हुए भी तुम स्वस्थ रहो और अपने जीवनके जो कर्त्तव्य हैं उनको पूरा कर सको और आनन्द ले सको। तो भोगके सम्बन्धमें जो ज्ञातव्य है, उसको 'कामशास्त्र' पूर्ण करता है। और, धन कमाते हो कि नहीं? कमाते हैं। तो उसके लिए अर्थशास्त्रकी जरूरत होती है। अर्थशास्त्रका ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। इसी प्रकार तुम कर्म करते हो कि नहीं? करते तो हैं। करते हैं तो करनेका ढंग मालूम होना चाहिए। ऐसे ढंगसे काम करना चाहिए कि तुम बन्धनमें न आओ। बँधो नहीं। सारे कर्म बन्धन छुड़ानेके लिए हैं, बन्धन बनानेके लिए नहीं। तो अब यह प्रश्न हुआ कि आखिर कर्म करनेकी रीति क्या है?

बोले—'भाई! अपने अधिकारको जानो। तुम्हारा प्रभुत्व कहाँ तक है? तुम्हारी योग्यता कहाँ तक है?' आजकल तो अधिकारके लिए लड़ाई होती है। कि 'हमारा यह अधिकार है।' हम शिष्य हैं तो हमारा यह अधिकार है, हम गुरु हैं तो हमारा यह अधिकार है। हम प्रजा हैं तो हमारा यह अधिकार है। हम राजा हैं तो भी हमारा यह अधिकार है। तो भाई! यह इस बातको ठीक-ठीक न समझनेके कारण है।

राजाका अधिकार प्रजाका पालन है और प्रजाका अधिकार यह है कि

यदि राजाको अपने अधिकारका स्मरण न हो तो स्मरण दिलावे। गुरु-शिष्यका जो अधिकार है, वह राजा-प्रजाके अधिकारके समान नहीं है। शिष्यका दावा नहीं होता हैं कि—'हमारा यह अधिकार है।' वह तो शरणागत होता है। जो अपने अधिकारकी निवृत्तिके लिए गुरुके पास आता है। तो शिष्यको शिष्यके अधिकारके अनुरूप, प्रजाको प्रजाके अधिकारके अनुरूप, क्षत्रियको क्षत्रियके अधिकारके अनुरूप, ब्राह्मणको ब्राह्मणके अधिकारके अनुरूप काम करना चाहिए।

अधिकार क्या है? योग्यता और आकांक्षा—इन दो को मिलाओ। एक आदमी है, वह चाहता तो है कि मैं मिनिस्टर हो जाऊँ, पर योग्यता उसके अन्दर बिलकुल नहीं है। तो वह मिनिस्टर होनेका अधिकारी है? नहीं है। एक व्यक्ति है, उसमें योग्यता तो बहुत है, लेकिन उसके अंदर मिनिस्टर होनेकी आकांक्षा नहीं है। तो उसको मिनिस्टर बनाओगे तो वह ठीक काम करेगा?

तो केवल इच्छा ही इच्छा होनेसे मनुष्य अधिकारी नहीं हो जाता और केवल योग्यता ही योग्यता होनेसे भी मनुष्य अधिकारी नहीं हो जाता। अपने मनमें योग्यता भी होवे और आकांक्षा भी होवे, उत्साह भी हो, उस कामको करनेके लिए तब मनुष्य उस कामको करनेका अधिकारी होता है।

दिल्लीसे आये एक सज्जन। उन्होंने कहाकि हमको कुएँके जलकी जरूरत है। तो अच्छा भाई, कोई ला दो। तो बोले—नहीं, मैं तो किसी दूसरेका लाया हुआ नहीं, खुद खीचूँगा। अब वह खींचने गये। उन्होंने तो खुद कभी कुएँसे जल खींचा नहीं था। लेकर डोरी और लोटा कुएँमें फेंक दिया। वह लोटा जाकर भीतरसे टकरा गया और फूट गया। तो भाई, इसका अर्थ हुआ कि तुम अभी कुएँसे पानी खींचनेके अधिकारी नहीं हो। यह निन्दाकी बात नहीं है। एक बच्चा जो है, दो सेर बोझ नहीं उठा सकता, वह यदि मनभरका बोझ उठानेके लिए जाय तो दब जायगा। दब जायगा तो उसका नुकसान हो जायगा। तो वह मनभरका बोझ उठानेका अधिकारी नहीं है।

'अधिकारी' शब्दका अर्थ लोग गलत समझते हैं न, लौकिक रीतिसे तो अनधिकारी कहनेपर वह बहुत नाराज होते हैं, भला! और अधिकारी होनेका झूठा ही ढोंग कर लेते हैं। कभी झूठे ही डींग हाँकने लगते हैं। असलमें अपने हृदयमें अपने अधिकारकी परीक्षा करनी चाहिए। बालकको किस क्लासमें

दाखिल करेंगे तो वह ठीक-ठीक पढ़कर उन्नति करेगा, यह निश्चय जो है, वह पढ़ानेवालेके ऊपर छोड़ना चाहिए। बच्चेको ऊँचे क्लासमें भर्ती करनेके लिए अनशन नहीं करना चाहिए सत्याग्रह नहीं करना, दबाव नहीं डालना, हड़ताल नहीं करना चाहिए। उसको उसकी योग्यताके अनुसार क्लासमें भर्ती होना चाहिए। इसीसे उसकी उन्नति होती है।

आजकल जो 'अधिकार' शब्दका अर्थ है, वह कुर्सीपर अधिकार कर लेना, राज्यपर अधिकार कर लेना, घरपर अधिकार कर लेना, उसपर कब्जा कर लेना होता है। शास्त्रमें 'अधिकार' शब्दका अर्थ यह बिलकुल नहीं है। तादृश योग्यतासे सम्पन्न और तादृश आकांक्षासे सम्पन्न जो पुरुष है, वह अधिकारी होता है। अगर उसके अन्दर उत्साह होवे काम करनेका। तो अब देखो—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'

अरे महाराज! कोई आजकलका वेदान्ती हो तो श्रीकृष्णसे विद्रोह कर दे कि तुम हमको कर्मका अधिकारी मानते हो? सीताराम! सीताराम!! हम तत्त्वज्ञानके अधिकारी हैं। अजी, अधिकारी नहीं हैं हम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त पहलेसे ही ब्रह्म हैं। तुम हमको कर्मका अधिकारी बनाकर नीचे गिरा रहे हो?

यह बात नहीं है। यही ऊपर उठानेकी सीढ़ी है। जिसके चित्तमें वैराग्य नहीं है, जिसके चित्तमें निश्चय नहीं है, जो अपने दोषोंको मिटा करके शुद्धिके मार्गपर नहीं चलना चाहता है, वह अपनेको अनधिकारी सुनकर घबड़ाता है। और अपनेको अनधिकारी सुनकर अपनी तौहीन समझता है।

एक आदमीको दिया पाँच रुपया कि अपने मनसे खर्च करो, तो वह तो उसको फेंक आया और बोला कि हमको दूसरा दस रुपया और दो। बोले—पाँच रुपयेकी तो तुमने यह गति की, दस रुपया देकर तुमको क्या करेंगे? पाँच रुपया दिया और वह उसका ठीक-ठीक सदुपयोग करके आया, गरीबको देकर आया, किसीकी भलाई करके आया, कमाकर आया, पाँचका दस बनाकर आया तो यह हुआ कि भाई, इसको दस देना ठीक है। अर्थको उसने बढ़ाया, पाँचका दस किया। तो अधिकारका जो निर्णय होता है, अंग्रेजी भाषामें अधिकार शब्दकी जो परिभाषा होती है, उसके अनुसार नहीं, जो वेदान्त शास्त्रमें, मीमांसाशास्त्रमें जो अधिकारकी परिभाषा है, उसके अनुसार। वहाँ परिभाषा क्या है? आप जानते ही हो। क्या?

अन्य मूल विक्षेप जाकर नहीं किन्तु एक अज्ञान।
है चौ साधन सहित नर सो अधिकृत मतिमान॥

शुद्ध अन्त:करण—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितः
श्रद्धवित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

बहुत ऊँचा अधिकार। तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'अर्जुन! तुम्हारी अक्ल चाहे जितनी उड़ती हो, तुमने अभी नरककी बातकी, स्वर्गकी बातकी, पितृलोककी बातकी, धर्म-अधर्मकी बात की, साफ ही मालूम पड़ता है, कि तुम्हारी बुद्धिका झुकाव जो है वह कर्मकी ओर है। और अन्तमें नतीजा क्या निकला?

'करिष्ये वचनं तव'। 18.73

इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्जुन ज्ञानका अधिकारी नहीं है। इतनी जगह अर्जुनके लिए बोला गया है—

'मा शुचः सम्पदं दैवीं अभिजातोऽसि'। 16.5

तुमको दैवी सम्पत्तिकी सम्पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ 18.64
भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्। 4.3

अर्जुनकी बड़ी प्रशंसा है, पर भगवान् उपदेश करते हैं कि— 'अर्जुन! तुम्हारा हाथ तुम्हारा अधिकार, तुम्हारी योग्यता कर्म करनेकी है। अपने जो कर्तव्यकर्म हैं उनको करते चलो। कर्तव्य कर्मको तो कभी नहीं छोड़ना।' देखो, निष्काम होनेकी यह युक्ति है। निष्कामता इसका नाम नहीं है, कोई काम ही न किया जाय। निष्काम होनेकी युक्ति क्या है? अपना कर्तव्य है उसका ठीक-ठीक पालन किया जाय। किसके लिए पालन करें?

अपने देह, मन, इन्द्रिय, भोक्ताकी तृप्तिके लिए जब कर्म किया जाता है, तब वह सकाम हो जाता है। बोले—आओ, एक भावना धारण करो। क्या? अपने लिए नहीं, अपने गाँवके लिए करते हैं, प्रान्तके लिए करते हैं, राष्ट्रके लिए करते हैं। बोले—भाई, फिर? हिरण्यगर्भके लिए करते हैं, सूत्रात्माके लिए करते हैं, अन्तर्यामी ईश्वरके लिए करते हैं, ईश्वरकी आराधनाके लिए करते हैं। अथवा जहाँ ईश्वरभाव है वहाँके लिए करते हैं। यह भी निष्काम है।

मूर्तिमें ईश्वरभाव है। उसके लिए बिल्वपत्र लाते हैं, उसके लिए तुलसी लाते हैं, उसके लिए फूल लाते हैं, उसको चन्दन चढ़ाते हैं। यह क्या है? यह निष्काम कर्म है।

अपने पतिके लिए करते हैं, अपने गुरुके लिए करते हैं। यह क्या है? जहाँ ईश्वर-भावना है, उसके लिए करते हैं। वह कर्म भी निष्काम होगा। अच्छा, सम्पूर्ण कामनाओंकी निवृत्तिके लिए, निष्कामताके लिए करते हैं।

कर्तव्यभावसे काम करना, अपने इष्टदेवकी संतुष्टिके लिए काम करना, अन्त:करण शुद्धिके लिए काम करना, यह सब निष्काम ही है। जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ और वासनाकी पूर्ति अथवा सामूहिक स्वार्थ और वासनाकी पूर्ति इष्ट नहीं है। जहाँ सबका हित ही इष्ट है वहाँ हम निष्काम होकर काम करते हैं। तो यह शास्त्रमें जो वर्णन है कि आज बहुतसे लोग समुद्रस्नान कर रहे हैं, बहुतसे लोग श्रावणी कर्म कर रहे हैं, उपाकर्म आज करनेवाले हैं, दोपहरके बाद। तैत्तिरीयशाखावाले जो हैं, उनको छोड़ करके बाकीका उपाकर्म, बाकीका अग्निहोत्रकर्म आज मध्याह्नोत्तर कालमें है और समुद्रस्नानकी महिमा कल है। स्नान-दानकी महिमा कल है और श्रावणीकर्मकी महिमा आज है। ये दो पर्व जुदा-जुदा हैं। तो पर्वमें समुद्रस्नान कल, दान कल और श्रावणीकर्म, उपाकर्म आज मध्याह्नोत्तर अभी है।

अच्छा, किस कामनाकी पूर्तिके लिए करते हो? इसके करनेसे क्या तुम्हें पैसे मिलेंगे? इससे क्या तुम्हारा ब्याह हो जायगा? इससे क्या तुम्हें मिनिस्टरीकी ऊँची कुर्सी मिल जायगी? तो यह कर्तव्य है द्विजातिका, इसलिए इसको करते हैं। भला! तो अब यह कर्म बन्धन इसको नहीं होगा।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 3.9

कस्मै देवाय हविषा विधेम?

तुम हाथमें हविष्य लेकर किस देवताको अर्पण करना चाहते हो? बोले—अभी देवताका तो नाम है, उसको दिखावेंगे। कोई देवता खाते थोड़े ही हैं? खाने लगे तो दिखायेंगे ही नहीं। तब काहेके लिए? अपने मुँहमें डालनेके लिए आप खीर बनावेंगे बहुत बढ़िया। काहेके लिए? वे रखेंगे पत्थरकी मूर्तिके सामने और खायेंगे खुद। बाँटेंगे नहीं, प्रसाद दूसरेको नहीं देंगे। तो किसी

उद्देश्यसे कर्ममें पवित्रता-अपवित्रता आती है। वह विहित कर्म हो तो कर्म पवित्र हो जाता है। **कर्मण्येवाधिकारस्ते**-तुम्हारा अधिकार तुम्हारी योग्यता-आकांक्षा और उत्साह जो तुम्हारे दिलमें छिपा हुआ है उसके अनुसार तुम्हारा अधिकार कर्म करनेका ही है। अच्छा, कर्मोंके जो फल हैं, बोले—**मा फलेषु कदाचन।**

फलेषु=कब तक करें? कर्मका फल तो है,पर फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। किसी कर्मका फल पुत्रकी प्राप्ति है, किसी कर्मका फल घरकी प्राप्ति है, किसी कर्मका फल पदकी प्राप्ति है, फल तो है पर यह जो फल है, उनपर तुम्हारा अधिकार नहीं है। अपना काम तुम करते जाओ। यदि ईश्वर फल देता है तो वह तुम्हारे कर्मोंका फल देगा। यदि कर्म स्वयं ही अदृष्ट बनकर फल देते हैं तो अदृष्ट बनेगा और तुमको फल मिलेगा।

असली बात तो यह है कि जहाँ निष्कामता आयी, वहाँ फलको अपनी ओर खींचनेका जो यंत्र लगा हुआ है न, वह बेकार हो गया। कामना जो है वही आपका चुंबक है चुंबक। कर्म किसके लिए? फलके लिए। कामना है, कर्म है, कर्ता है और उसका फल है।

बोले—कर्ता कर्म कर रहा है, तो फल अपनी ओर आवे कि सबकी ओर जाय? यदि तुम्हारे मनमें कामना है, तृष्णा है, तो कर्मका फल खींच करके आवेगा और तुम्हारे साथ चिपक जायगा। तुम कर्ता हो, भोक्ता बन जाओगे। और यदि तुम्हारे अन्दर तृष्णा-कामना नहीं है, तब तो कर्मका फल ढकेल करके ईश्वरकी ओर कर दिया जायगा। हाँ ईश्वर खींच लेगा। कामना ही कर्मके फलको अपनी ओर खींचती है। अगर हम निष्काम हैं, हृदयकी सफाईके लिए कर रहे हैं, कि भाई, कपड़े पर साबुन लगा रहे हैं। काहेके लिए? उसमें नया रंग आ जाय, इसके लिए ? इसके लिए नहीं, ऐसा भी साबुन होता हैं कि कपड़ा साफ भी हो और रंग भी हो जाय। ऐसा नहीं। साबुन मैल छुड़ानेके लिए है।

तो यह कर्मका साबुन काहेके लिए है? कर्मका साबुन अन्तःकरणपर रंग चढ़ानेके लिए नहीं है, बल्कि अन्तःकरणपर चढ़े हुए रंगको धोनेके लिए है। अगर तुम साबुन लगानेसे परहेज करते हो तो दिलके कपड़ेको आप साफ नहीं रखना चाहते, इसका नाम ढोंगी हुआ। कैसे हुआ?

एक आदमीके पास कुछ साफ कपड़े भी थे, कुछ गंदे कपड़े भी थे। तो शरीरसे सटे हुए तो गंदे कपड़े पहन लेता और ऊपरसे लोगोंको दिखानेके लिए

बहुत सफेद कपड़े पहन लेता, ऐसे आदमीको आप जानते होंगे! आपके पास-पड़ोसमें कोई-न-कोई महापुरुष होंगे जो नीचे तो फटी गंदी बनियान पहनते होंगे और ऊपरसे बहुत-बढ़िया कपड़े पहनते हों। तो यह लोगोंको दिखानेके लिए तो सफेदपोश हैं और अपने लिए कैसे हैं? गंदे हैं। भला! तो जो ऊपरसे बढ़िया-बढ़िया काम करे और भीतर गंदगी छिपाये हुए बैठा हो, बाहरके कपड़ेमें तो साबुन लगावे; लेकिन भीतरवाले कपड़ेमें न लगावे! उसको क्या बोलेंगे?

बाहर तो बड़ा भारी सत्संग, बड़ा भारी सत्कर्म, बड़ा भारी ज्ञान-ध्यान और भीतरी दिलमें कभी साबुन नहीं लगाते हैं। साबुन लगानेके लिए है, दिलकी भीतरी तह साफ करनेके लिए है, यह रंग चढ़ानेके लिए नहीं है। यही देखो,दुनियाके बड़े-बड़े दार्शनिक भारतीय दर्शनके इस रहस्यको नहीं समझते हैं। इसीलिए जो बाहरी दर्शनोंके जरिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनको नहीं होता।

हमारी जो साधना है, वह संस्कार चढ़ानेके लिए नहीं है, संस्कार धोनेके लिए है। अद्वैतवेदान्तकी जो साधना है वह चित्तशुद्धिके लिए है। माने अबतक इष्टके सम्बन्धमें, साधनके सम्बन्धमें, वासना और कामना और कर्मके सम्बन्धमें जो-जो संस्कार तुम्हारे ऊपर पड़े हुए हैं, उनको धो दो। धोने पर अन्तःकरण शुद्ध होगा। तब शुद्ध अन्तःकरणसे ज्ञान होगा। औजारकी सफाई! बंदूककी नली साफ होगी तो निशाना बिलकुल ठीक लगेगा। तो यह बात इसलिए ध्यान देने लायक है और बहुत बढ़िया यह बात है कि संस्कारका आधान करके तत्त्वज्ञान नहीं होता है, संस्कारका प्रक्षालन करके तत्त्वज्ञान होता है। और अबतक जो वासना है, मान्यता है, भावना है, जानकारी है, उन सबको धोना है। इसीसे भारतदेशका ज्ञान सीमित नहीं है। किसी भी देशमें जो शुद्ध-अन्तःकरण-पुरुष होगा, उसको ज्ञान हो जायगा।

किसी परिस्थितिके प्रभावसे इस तत्त्वज्ञानका निर्माण नहीं हुआ है। यह तो सत्यका साक्षात्कार है। यह कर्ताके अधीन नहीं है, व्यक्तिके अधीन है। बिना अन्तःकरण शुद्ध किये जो ज्ञान होगा, उसमें अपनी वासना, अपनी तृष्णा, अपनी कामना, परिस्थितियाँ, अपने घर-द्वारके संस्कार, कुटुम्बके संस्कार, राष्ट्रके संस्कार ये सारेके सारे उस ज्ञानमें लग जायेंगे और सत्यका

दर्शन नहीं होगा। तो जो लोग दर्शनको परिस्थितिसे प्रभावित मानते हैं, वे कम-से-कम हमारे भारतीय दर्शनके तत्त्वको, रहस्यको नहीं जानते हैं। वे भले न्याय-दर्शनके पण्डित हों, वैशेषिक-दर्शनके पण्डित हों, पूर्वमीमांसाके पण्डित हों, सांख्य-योगके पण्डित हों, परन्तु वेदान्तदर्शनका जो रहस्य है, संस्कारपञ्चका प्रक्षालन करनेपर संस्काररहित ज्ञानकी जो उपलब्धि है, वह बिना अन्त:करण शुद्धिके नहीं होती है।

इसलिए अन्त:करण शुद्धिके लिए कर्म अवश्य कर्तव्य है। तो फल पर काबू मत करो, फल पर कब्जा मत करो, फल पर अपना हाथ मत लगाओ, उसको अलग कर दो। फल माने एक तरहका अभिमान—'अहं सुखी, अहं दु:खी इत्याकारक अन्त:करणमें आभासरूप फलका जो प्रतिबिम्बन है, आभास जो नतीजा हुआ, परिणाम हुआ, उसमें 'अहं सुखी'-'अहं दु:खी' ऐसा मान लेना यही फल है। कर्मका कर्ता होना ऐसा मान लेना, यही फल है।

कर्मप्रधान अन्त:करणमें अहंभाव होता है। तो उसको कर्ता बोलते हैं और जब फलाकार सुखाकार-दु:खाकार वृत्तिमें चेतनाका प्रतिविम्ब होता है, तब चेतनस्वरूप अपने ब्रह्मस्वरूपके चिंतनमें अज्ञानसे उस प्रतिबिम्बित, उस प्रतिफलित=अपने स्वरूपमें नहीं अन्यमें जो परछाईं पड़ी है। जड़के सामने खड़े हैं, जड़में अपनी परछाईं पड़ी और बेवकूफ आदमीने उस परछाईंको 'मैं' मान लिया। अब यह पानीमें गल जायगा, अब यह सड़ जायगा, क्योंकि उसने परछाईंको 'मैं' माना। अब वह डूब मरेगा।

यदि अपने तटस्थ स्वरूपको वह जाने, तो न परछाईं गलेगी, न वह गलेगा, न परछाईं सड़ेगी न वह सड़ेगा, ऐसी स्थिति हो जायगी। इसलिए अपनेको फलके साथ नहीं जोड़ना। यह 'मा फलेषु कदाचन'का अभिप्राय है।

●

: 37 :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 2.47

हे अर्जुन! ते तव कर्मणि अधिकार:। फलेषु कदाचन मा अधिकार:। कर्मफलहेतु: मा भू:। ते तव अकर्मणि संग: मा अस्तु।

अर्जुन! तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। अब भगवान् अर्जुनको किस वृत्तिसे पुकार रहे हैं? क्षत्रियवृत्तिसे। क्षत्रिय। तब तो युद्धमें अधिकार है। युद्धके फलमें नहीं। तू मनुष्य होगा, तो मनुष्यका जो धर्माधर्म है न, धर्ममें अधिकार है, अधर्ममें नहीं और फलमें तो बिलकुल नहीं है।

अब यह बात है कि एक-एक प्रसंगके सम्बन्धमें विस्तार जितना है और उसपर शास्त्रका निर्णय जितना शुद्ध और जितना युक्तियुक्त है, कि साधारण लोगोंको उन सब विषयोंकी बात सुनाने लग जायँ तो उनको धारण नहीं होगी। याद नहीं रहेगी। यह बात जरूर है कि संस्कार उसका बैठ जाय तो कभी काम दे सकता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—यह उपनिषद् है क्या? 'कर्म विद्योपनिषद्'। भगवान् कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं। तो यह समझो कि भगवान् भी स्वतंत्रतासे आज्ञा नहीं देते हैं। यह नहीं समझना कि भगवान् बिलकुल स्वतंत्र ही हो जायँ। भगवान् अगर स्वतंत्रतासे आज्ञा देते हों तो समझो कि एक दिन भगवान्ने आज्ञा दी कि अमक कर्म करो। तो जिस दिन उन्होंने आज्ञा दी, उस दिनसे पहले वह आज्ञा थी कि नहीं थी?

भगवान्को भी बन्धन है और इस बन्धनका रहस्य तो हम जानते हैं न! जो नहीं जानते हैं वे बँध जाते हैं भला! हम तो उसकी असलियत जानते हैं। बाँधनेवालेको पुण्य होता है और जिसको बाँधा जाता है वह बँधता नहीं। यह तो सद्भावनाका प्रतीक है।

येन बद्धो बलिराजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वा प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

अब तुम इनकी रक्षा करो। रक्षाकी भावना जो चित्तमें है न? ब्राह्मण यजमानके हाथमें रक्षाबन्धन करता है और बोलता है कि—'हे रक्षे! तुम इनकी रक्षा करो। कभी इनको छोड़कर दूर मत जाना। तो यह सद्भावनाका प्रतीक है।' अब—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

समझो, मनुष्यकी दृष्टिसे यह बात है। तो कर्म करनेका अधिकारी मनुष्य ही है। बोले—सब कर्म करते हैं। सब कर्म तो करते हैं, पर धर्म-अधर्मका उदय सबके कर्मसे नहीं होता है। बात क्या है? जैसे चूहेने बिल खोदा। बिल खोदना उसका कर्म हुआ कि नहीं हुआ? कर्म तो हुआ, लेकिन बिल खोदना चूहेके लिए धर्म है कि अधर्म? तो चूहेके बिल खोदनेमें धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी। उससे न धर्म होगा। न अधर्म।

बिल्लीने चूहेको खा लिया, तो बिल्लीको धर्म होगा कि अधर्म? बिल्लीको न धर्म होगा न अधर्म। बोले—भाई, एक कुत्ता था, उसने एक प्राणीको मरनेसे बचा लिया, तो बचानेका पुण्य कुत्तेको होगा कि नहीं होगा? नहीं होगा। लेकिन काम तो उसने बहुत बढ़िया किया। भाव उसके हृदयमें बहुत बढ़िया आया। भावसे ही धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। उसके लिए तो विधान चाहिए, विधान! विहित कर्म करेगा तब धर्मकी उत्पत्ति होगी और निषिद्ध कर्म करेगा तब अधर्मकी उत्पत्ति होगी। धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति केवल कर्मसे नहीं होती। उस व्यक्तिके लिए केवल भावना नहीं होती। उस अवस्थामें वह कर्म विहित है कि नहीं? यदि विहित है तब धर्मकी उत्पत्ति होगी और निषिद्ध है तो धर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी, यह शास्त्रका निर्णय है।

विधि और निषेध माने 'करो', 'मत करो' ये जो कानून हैं, किसके लिए? मनुष्यके लिए। क्यों? तो देखो, आपको समझने लायक बात बताता हूँ। संसारमें तीन तरहके प्राणी होते हैं—ऊर्ध्व स्रोत, तिर्यक स्रोत और अधः स्रोत। एक जो होते हैं वे नीचे खाते हैं और ऊपर बढ़ते हैं। ये पेड़-पौधे हैं। इनका भोजन पाँवसे होता है। पादकोः। इनको 'पादक' बोलते हैं संस्कृतमें। पादेभ्यः पिवन्ति। अपनी जड़ोंसे पानी पीते हैं, खाद लेते हैं और ऊपरको बढ़ते हैं।

दूसरे प्राणी होते है, तिर्यकस्रोत पशु है, पक्षी हैं, कीड़ा है। यह आगे खाता है और पीछे जाता है। उसका खाया हुआ शरीरमें पीछे जाता है आड़े-टेढ़े। मनुष्य जो है यह अध:स्रोत है। ऊपर खाता है और उसका खाया हुआ नीचे जाता है। इसको अध: स्रोत बोलते हैं। ये तीन तरहके प्राणी सृष्टिमें होते हैं। अच्छा, होवें तो होवें, पर उनके साथ कर्मका क्या सम्बन्ध है?

इसके साथ कर्मका सम्बन्ध है। देखो, अध: स्रोतको छोड़करके जो ऊर्ध्वस्रोत और तिर्यक् स्रोत प्राणी हैं, वे बिल खोदते हैं तो पूर्व संस्कारके अनुसार ही खोदते हैं और खाते हैं और बचाते हैं। बचानेमें उनको खुशी भी होती है, तो भी पूर्व संस्कारके अनुसार ही होती है। अपने मालिककी रक्षा करनेके बाद कुत्ता पूँछ हिलाता है, चाटता है और जीभ लपलपाता है, तो यह जो उसकी खुशी हुई, वह पूर्व संस्कारके अनुसार ही हुई। नया कर्म पैदा नहीं हुआ। क्यों नहीं पैदा हुआ?

जो ऊर्ध्वस्रोत हैं वे प्रकृतिके अधीन हैं। वे खाद लेते हैं, पानी लेते हैं और प्रकृति ही उनको ऊपर बढ़ाती है। वे तो बेचारे चल भी नहीं सकते। पादप जो होते हैं, उद्भिज्य जिनको बोलते हैं, उद्भिज्य। जो धरतीको छेदकरके निकलनेवाले हैं उनको उद्भिज्य बोलते हैं। उद्भिद्=धरती छेदकर ऊपर चढ़नेवाले। उद्=ऊपर और भिद्=भेदन करके।

अब देखो, तिर्यक् स्रोत हैं वे धरतीको छोड़ करके तो चलते हैं, ऊपर जाते हैं, दाँयें जाते हैं, बाँये जाते हैं, पीछे जाते हैं, नीचे जाते हैं, लेकिन उनका विकास भी प्रकृतिके अधीन होता है। पक्षियों और पशुओंको संस्कार डालनेके लिए, उनसे कर्म लेनेके लिए स्कूल-कॉलेज खोजनेकी जरूरत नहीं पड़ती और वे लौकिक उन्नति भी वैसी नहीं करते हैं कि मकान बनावें, नल बनावें और बिजली लगावें। ये सब वैज्ञानिक आविष्कार जो हैं, वह तिर्यक्स्रोत प्राणी नहीं कर सकते। वही पुराना ढंग बयाका घोंसला बनानेका ढंग जैसा दस हजार वर्ष पहले था, चीलका, गीधका, जैसा खाना, जैसा पीना, जैसा रहना वैसा ही। उनमें बौद्धिक उन्नति कोई देखनेमें नहीं आती है।

परन्तु यह जो नरविग्रह है न, कौन? अर्जुन है नरविग्रह। हमारी जातका है। अर्जुन हमारी जातका है, नर है और श्रीकृष्णका नारायण हैं। वे उसको प्रेरणा देते हैं, तो देखो, एक जो मनुष्य है वह अध: स्रोत है। अध: स्रोतका अर्थ

समझना बहुत बढ़िया। मनुष्यका खाया हुआ ऊपर नहीं जाता है, नीचे जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रकृति अपने राज्यमें किसी भी प्राणीको जितना ऊँचा ले जाना चाहती थी स्वभावसे, विकारसे, अपने परिणामसे उसने मनुष्य योनिको इतना ऊपर उठा दिया कि जिसके ऊपर अब वह नहीं ले जा सकती। समझो, नलका पानी जितना चढ़ना था उतना ऊपर चढ़ गया, अब वह नीचे ही गिरे गा। अब उसमें जो Force (जोश) था वह खतम हो गया। तो प्रकृतिके वेगसे एक प्राणी जितनी ऊँची स्थितिमें जा सकता था, जितनी ऊँची अवस्था प्राप्त कर सकता था, प्रकृतिके परिणामसे, प्रकृतिके विकारसे जहाँतक पहुँच सकता था, वहाँतक प्रकृतिने पहुँचा दिया, बिलकुल मुक्तिके दरवाजेपर। वैकुण्ठके दरवाजेपर, ईश्वर प्राप्तिके दरवाजेपर मनुष्य पहुँच गया। अब यहाँ आकर वह थोड़ी-सी कोशिश करेगा तब तो प्रकृतिमण्डलका भेदन करके वह पार हो जायगा। यदि नहीं तो फिर चौरासी लाख योनियोंमें उसे जाना पड़ेगा, फिर वह मनुष्य पर मनुष्य होवे या मनुष्यके बाद पशु होवे, पक्षी होवे, चाहे तिर्यक्योनि होवे। इसके सम्बन्धमें भी जो खिचड़ी मतावलम्बी हैं—खिचड़ी मतावलम्बी जानते हैं? थोड़ा पश्चिमी और थोड़ा पूर्वी। समन्वय करनेके लिए पंथ चलाया कि हम दोनोंको एकमें समन्वित करेंगे। तो उन लोगोंने क्या किया? खिचड़ी बनाया।

बोले कि पूर्वजन्म तो होता है, लेकिन मनुष्य हमेशा मनुष्य ही होता है। औरत हमेशा औरत ही होती है, पशु हमेशा पशु ही होता है। पुनर्जन्म तो माना, लेकिन बोले—दूसरी योनिमें नहीं जाता है, पर वासनाके अनुसार पुनर्जन्म नहीं माना।

वासनाके अनुसार पुनर्जन्म नहीं माना, वे खिचड़ी-मतावलम्बी हैं। दाल-चावल दोनोंका समन्वय है उसमें। और दूसरे मतोंमें लोग कहते हैं, हम लोग हिन्दू लोग कहते हैं कि 'बाइबिल' में भी पुनर्जन्म है, 'कुरान' में भी पुनर्जन्म है, ऐसा। तो हिन्दू लोग अपने संस्कारसे देखते हैं कि ईसाइयोंका भी कोई पंथ—वे कई तरहके होते हैं न? 'रोम कैथोलिक' और फलाने-ढिकाने क्या-क्या होते हैं। वह तो हमको सब नाम नहीं मालूम है। लेकिन उनमें-से कोई मतवादी ऐसी व्याख्या नहीं करते है कि 'बाइबिल' में पुनर्जन्म माना हुआ है। हिन्दूलोग पढ़ते हैं, तो वे तो उसमें-से आत्मा और ब्रह्मकी एकता भी निकाल लेते हैं।

हमारे 'भारतीय शङ्कराचार्य महाराज' थे पुरीमठके, तो उन्होंने बड़े लम्बे व्याख्यान तैयार कर रखे थे, कि 'बाइबिल' में आत्मा और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन है। पर ईसाई लोग इस बातको नहीं मानते। हमारे हिन्दू-संस्कारसे संस्कृत सोद उसको पढ़ते हैं तो उनको अपना मत उसमें दिखायी पड़ता है। वह बात दूसरी है।

अब हमको यह देखना है कि यह जो मनुष्यको शरीर प्राप्त होता है वासनाके अनुसार, तो यह स्वातन्त्र्य मनुष्यमें क्यों आया? स्वातन्त्र्य मनुष्यमें यों आया कि यह प्रकृतिके राज्यमें सबसे बड़ी चीज है। सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दाभावका जितना विकास मनुष्य-शरीरमें हुआ है, उतना और किसी शरीरमें नहीं हुआ है। उदभिज् जो धरती छेदके निकलते हैं, केवल सत् प्रधान हैं। उनमें अन्त:करण प्रगट नहीं होनेसे उनको थोड़ा कहते हैं—आभासमात्र, ज्ञान तो होता है परन्तु आभासमात्र ही होता है।

उसके बाद जुएँ, खटमल और मच्छर ये सब आते हैं। उसके बाद कीड़ियाँ हैं। तो उद्‌भिदज्ज-स्वेदज-अण्डज, उसके बाद जरायुज और जरायुजमें चतुष्पाद और द्विपाद। दो हाथ जो है खुल्लमखुल्ला, कर्म करनेकी शक्ति इस मनुष्य योनिमें प्राप्त होती है। बोले—'भाई! दो हाथ तो बन्दरके भी होते हैं। बनमानुसके भी होते हैं।' हाँ हाथ होते तो हैं, परन्तु मगज नहीं होता है। सद्भावका प्रकाश तो है, लेकिन चिद्भावका प्रकाश उतना नहीं है और आनन्दभावका प्रकाश तो इतना साफ-साफ मनुष्यके सिवा अन्य किसी प्राणीमें है ही नहीं। जो अगली पीढ़ीके लिए भी संग्रह करे और बुढ़ापेके लिए भी संग्रह करे और अपने अगले जन्मके लिए भी रख छोड़े। तो आनन्द-भावका इतना विकास, चिद्भावका इतना विकास, बुद्धि, नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा, नया-नया आवेश करनेवाली प्रतिभा, नये-नये ढंगसे भोगकी प्रक्रिया। पशुका जो भोग है, वह हमेशासे ऐसा ही चला आया है। लेकिन वह बढ़िया-बढ़िया रसोई बनाना, ये बढ़िया-बढ़िया कपड़े बनाना, ये बढ़िया-बढ़िया वाहन बनाना, नये-नये ढंगके मकान बनाना, नव-नव आविष्कार करनेकी योग्यता और नव-नव आनन्द लेनेकी योग्यता और नये-नये ढंगसे कर्म करनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है।

ये चिद्भाव-आनन्दभावका प्रकृतिमें जितना विकास हो सकता है, उतना

केवल नरविग्रहमें ही, नर शरीरमें ही प्राप्त हुआ है। इसलिए मनुष्य जो है, कर्मका अधिकारी है। भगवान् ऊँटसे, नहीं कह सकते कि—'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' और यह खटमलके लिए, जूएँके लिए, मच्छरके लिए नहीं, मनुष्यके लिए है। क्यों?

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह॥ महाभारत

यह महाभारतका श्लोक है। धर्मकी उत्पत्ति स्वर्ग देनेवाली, ब्रह्मलोक देनेवाली, अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली यह धर्मकी उत्पत्ति केवल मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है और अधर्मकी उत्पत्ति भी केवल मनुष्यके अन्तःकरणमें ही होती है। इसलिए 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—यह बात मनुष्यके लिए बोली गयी। और देखो, यह तो उपनिषद् है न? आप लोग रोज पाठ करते हो—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ्समाः। ईशा.-2

जब कायदेसे वेद पढ़ते हैं तो 'शतध्वं' बोलते हैं। कायदेसे नहीं पढ़ते हैं तो 'शतं' बोलते हैं। अब देखो—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्।

'कर्माणि कुर्यादेव'—ऐसी विधि क्यों नहीं है? कर्म करे ही करे। कर्माणि कुर्यादेव। जब यह यदि विधि होती तो उसका अर्थ यह होता कि—'संन्यास आश्रम ग्रहण नहीं करना, समाधि नहीं लगाना। मोक्षप्राप्तिके लिए निवृत्त होकरके आत्मामें निष्ठा मत करना।'

यदि 'जिजीविषेत् तर्हि कर्माणि कुर्वन् एव' यदि मनुष्य शरीरसे जीवित रहनेकी आकांक्षा होवे, जन्म और मरण दोनों समान न हो गये हों, तो कर्म करते हुए ही जीवित रहना। चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी। यदि वह जिन्दा रहना चाहता है, तो उसको काम तो करने ही पड़ेंगे। यह अनुज्ञासूत्र है। 'ब्रह्मसूत्र'में अनुज्ञासूत्र है। उस अनुज्ञासूत्रमें—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ्समाः।

इस श्रुति पर विचार किया हुआ है। तो जैसे यहाँ 'शङ्कराचार्य भगवान्'ने अज्ञानीपनेकी व्याख्या की है, वैसे वहाँ अज्ञानीपरक और ज्ञानीपरक दोनों व्याख्या की है। तो दोनों व्याख्या वहाँ 'ब्रह्मसूत्र'में इस मंत्रकी मिलती है।

यह जो जिजीविषा है, यह कर्मका प्रयोजक है। अब 'कुर्वन्नेवेह

कर्माणि'का अर्थ यह है कि आप यदि मनुष्य हैं, हाथवाले हैं, दिमागवाले हैं, अपनेको सुखी रखना चाहते हैं तो कर्म करते हुए जीवित रहिये। कर्म करनेका तुम्हारा अधिकार है। ऐसा काम करो जिससे धर्म होवे। ऐसा काम करो जिससे अधर्म न होवे।

अब दूसरी बात बताते हैं—कर्म करनेमें तो तुम्हारा अधिकार है, लेकिन फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। एक-एक कर्म हजार-हजार फल देनेकी शक्ति रखते हैं। एक ही यज्ञसे इन्द्रलोक भी प्राप्त हो सकता है, वरुणलोक भी प्राप्त हो सकता है, ब्रह्मलोक भी प्राप्त हो सकता है और उसी यज्ञसे लौकिक उन्नति भी प्राप्त हो सकती है।

अधिकार शब्दका अर्थ गाली नहीं है। यह तो आपका ध्यान दिलानेके लिए फिरसे बता देता हूँ।

क्षत्रियका बाजपेय और बृहस्पति सवमें यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है, तो बोले-क्षत्रिय नीचा हुआ और ब्राह्मण ऊँचा हुआ यह क्योंकि ब्राह्मणका अधिकार बाजपेय और बृहस्पति सवमें है। तो बोले कि ब्राह्मणका अधिकार राजसूययज्ञ करनेमें नहीं है। तब तो ब्राह्मण नीचा और क्षत्रिय ऊँचा हो गया?

ब्राह्मणका अधिकार राजसूययज्ञमें नहीं है, तब तो ब्राह्मण नीचा हो गया और क्षत्रिय ऊँचा हो गया? ऐसे नहीं। ऐसे ऊँचाई-नीचाई नहीं होती है।

बोले—निषादस्थपतिमें शूद्रका अधिकार है और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यका अधिकार नहीं है। तो क्या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य नीच हो गये और शूद्र ऊँचा हो गया? तो अधिकारका जो प्रसंग शास्त्रमें आता है, यह नीचाई-ऊँचाई ले करके नहीं आता है।

कौन 'रसबिन्दु' खानेका अधिकारी है? और कौन 'योगराज गुग्गुल'का अधिकारी है? कौन 'चिन्तामणिरस'का अधिकारी है? वह रोगके अनुसार उस रोग पर कौन-सी दवा लगेगी, उसका भला कैसे होगा? यह विचार करके अधिकारका निर्णय किया जाता है। उच्चता और नीचता देखकर अधिकारका निर्णय नहीं किया जाता। तो जिसके जीवनमें जिस ढंगका दोष है, अगर मलदोषकी अधिकता है तो उबटन लगानेकी विधि है। यदि शरीर पर मैल है तो उसको साबुन या उबटन लगाना चाहिए। तो उन्होंने कहा कि उबटन भी तो शरीरमें लिपट जायगा। साबुन भी तो शरीरमें लग जायगा।

बोले—'हाँ, वह भी है तो मैल ही लगेगा तो सही, परन्तु दोनोंको छुड़ा देना बादमें। तो वह साबुन और वह उबटन दोनों तुम्हारे शरीरका मैल लेकर निकल जायगा।' बोले—जब उसको भी छुड़ाना पड़ता है, वह भी एक तरहका मैल है तो हम उसको लगावेंगे ही नहीं। अच्छा, ठीक है, मत लगाओ लेकिन वह जो तुम्हारे शरीरमें मैल वह लगा रहेगा, छूटेगा नहीं। बोले—नहीं जी, हमको मैल छुड़ानेकी जरूरत नहीं है। उसी पर एक ऐसा मरहम लगा देंगे, ऐसी पालिश कर देंगे, ऐसा चिकना-चिकना स्नो उसपर लगा देंगे कि मैल दिखेगी नहीं। चमक आजायगी। बोले—ठीक है, ऊपर-ऊपर चमक आवेगी; लेकिन भीतर-भीतर मैल भी रहेगी।

यह जो कर्म और उपासनाका विधान है, इसको ऐसा समझना कि यह गलत है, बादमें छोड़ना है तो अभीसे छोड़ दें। रसोई बनानेके बाद तो आग बुझानी ही पड़ती है, तो पहले ही पानी क्यों न डाल दें? तो जो लोग पहले ही, अन्तःकरण शुद्ध होनेके पूर्व कर्मका तिरस्कार और उपासनाका तिरस्कार कर देते हैं, वे स्वयं अपनी उन्नति पर पानी फेर द्रेते हैं। अपनी उन्नतिका मार्ग बन्द कर देते हैं। इसलिए उबटन लगाओ। जब मैल और उबटन दोनों एक हो जायँ, तो घिसकर दोनोंको छुड़ा दो। उबटन भी छूट जायगा, मैल भी छूट जायगी। लेकिन जबतक मैल नहीं छूटी है, तबतक उबटन लगानेसे इनकार करते हो, तो तुम अपनेको गन्दा रखना चाहते हो। इसलिए कर्म और उपासना जरूर मनुष्यको करना चाहिए।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः। ईशा. 2

यह किसके लिए?

एवं त्वयि नान्यथेऽतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। ईशा. 2

वह नरके लिए है। अर्जुन स्वयं नर है, नरका प्रतीक है, मनुष्य जातिका प्रतिनिधि है। मनुष्यजातिका प्रतिनिधि बनाकर भगवान् उसको प्रेरित कर रहे हैं। 'मेरे प्यारके मित्र! अर्जुन! तुम मनुष्य हो, इसलिए तुम्हें कर्म ही करना चाहिए। और कर्म माने विहित कर्म ही करना चाहिए।' कर्म शब्दका अर्थ विहित कर्म है। निषिद्ध कर्म जो है, वह तो धर्मके प्रसंगमें ही वर्जित कर दिया गया है। इसलिए यहाँ साधनके प्रसंगमें अधर्मकी तो प्राप्ति ही नहीं है। इसलिए तुम्हारे लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए जो साधनरूप कर्म हैं उनके करनेमें तुम्हारा अधिकार है। वही तुमको करना चाहिए।

मा फलेषु कदाचन।

बोले—जब हम करेंगे तो फल भी हम ही प्राप्त करेंगे। लड़के लेंगे अपना हक्क! पत्थरके हैं मन्दिर मस्जिद, सोनेके हैं कलश कंगूरे।

वह कहते हैं कि—'हे ईश्वर! अगर तू हमारे कर्मका फल नहीं देता है, तो अन्याय करता है, तो वे ईश्वरको भी लड़ते हैं। पर यह समझो, कि जो 'जीव-ईश्वरवाद' है, वह लड़ाई करनेके लिए नहीं है। प्रजा और राजा, जनता और जनताकी चुनी हुई सरकार उनमें भले कभी लड़ाई होवे, क्योंकि जनताकी बनायी हुई जो चीज है, वह तो कह भी सकती है कि 'हमने बनाया है, इसलिए बिगाड़नेका भी हमको अधिकार है।' पर जीव-ईश्वरकी जो स्थिति है वह विलक्षण है, इसमें बँटवारा हो गया है।

जैसे कमाई करके पुरुष ले आवे, और स्त्री घरमें रोटी बनाकर खिलावे। तो घरमें रोटी बनाकर खिलानेका अधिकार स्त्रीका हुआ और कमाई करके लानेका अधिकार पुरुषका हुआ। है न? एक तरहका विभाग हो गया। घरमें नौकर नहीं रखना पड़े, उसको सम्हालनेके लिए एक सेक्रेटरी-मैनेजर रखना पड़े। वह भी तो एक विभाग है। घरका विभाग श्रीमतीजी सम्हाल रही हैं। तो ईश्वर और जीव ये दोनों सखा-सखा हैं। पिता-पुत्र हैं ऐसा रिश्ता भी है। ईश्वरके साथ सब रिश्ता होता है। 'पञ्चदशी' में तो ऐसा बताया है कि यह सृष्टि ईश्वरकी बेटी है और जीवकी भोग्या है—**ईशसृष्टं जीवभोग्यं**। पञ्चदशी 4.18

बड़ा विचित्र सम्बन्ध हो गया न? यह तो बड़ा विचित्र सम्बन्ध हो गया। 'पञ्चदशी' में ऐसा लिखा हुआ है—

ईशसृष्टं जीवभोग्यं जगद्वाभ्यां समन्वितम्।

इस जगत्में दोनों चीज हैं। तो अब आप देखो विचार करके कि जब दो सखा हैं दो भाई हैं, जब सृष्टिकर्ता और सृष्टिभोक्ता ये दोनों जुदा-जुदा बैठे हुए हैं, तो बिना परस्पर विभागके काम नहीं चल सकता। तो कर्म करनेका अधिकार तो जीवका है और उसके फलभोगको देनेका अधिकार ईश्वरको है। और जो बड़े कट्टर लोग हैं वे कहते हैं—'कर्मसे जो अदृष्ट पैदा होता है, उसको है।'

कर्मका जो समाज पर प्रभाव पड़ता है, जो छोटे-छोटेमें आते हैं न, ईश्वरसे प्रकृतिमें आये, प्रकृतिसे अदृष्टमें आये, अदृष्टसे समाजमें आये और समाजको

फिर एक-एक वर्गका समाज बना लिया। मनुष्य बँटवारा ज्यादा पसन्द करता है। तो फल जो देनेवाला है, फल तो भाई, फलित हो जाना चाहिए। आप जानते हैं न? फ्लेट जो होते हैं फ्लेट, फलं इच्छति इति फलेट-फ्लेट्। जो फलको अपने हाथमें रखे, जो कुछ कमाई करो, वह वहाँ पहुँच जाय। सुख वहाँ पहुँच जाय, दुःख वहाँ पहुँच जाय। दूर-दूरके साधन वहाँ पहुँच जाय।

गेट है न गेट! गान गमनशीलान् इष्टते इति गेट। वाहनोंको जो नियंत्रित करे उसका नाम 'गेट'। तो ये गेट-फ्लेट ये सब जो हैं, तो फलेट ईश्वर है। जो फलेट है—फलका नियंता—'ईशावास्यमिदं सर्वं'में जो 'ईशा' है न, *इष्टे इति इट् तेन ईशा। इष्टे इति इट्।*

तो यह जो फलका नियंता ईश्वर है। अपने कियेका फल भोगना ही पड़ेगा। अगर यह बात न मानी जाय तो देखो, कितनी अव्यवस्था होती है? एक तो काम करनेवाला बहुत-सा फल चाहता है। तो वह जितना चाहता है उतना फल मिले उसको। उतना नहीं मिलता है। अच्छा, जितना जरूरी हो उतना मिल जाय? वह भी उसी समय मिल जाय, यह कोई जरूरी नहीं है। क्योंकि ईश्वरका जो बहीखाता है वह अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य है। तो उसमें कब दस हजार दिया और कब दस हजार लिया, उसका उसी दिन हिसाब नहीं होता है। वह तो पिछले जन्मोंका बहुत फल लेते आये हो उसीमें कभी-कभी उसमें शामिल कर देंगे। कभी आगे दस हजार साल बाद उसका फल मिलेगा। आज ही जमा किया और आज ही निकाल लो, ऐसा वहाँ नहीं। उनके बैंकका खाता छोटा नहीं, बहुत लम्बा-चौड़ा खाता है। जब आखिरमें हिसाब होता है तो पाई-पाई वसूल कर ली जाती है। या दे दी जाती है। तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं होगा। लेकिन वह तो हिसाब बड़ा लम्बा है। कबका हिसाब कब मिलेगा इसका मनुष्यको पता नहीं है। अच्छा दूसरी बात यह कि बुरा कर्म करके उसका फल कोई नहीं चाहता है।

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

लोग पुण्य करना नहीं चाहते और पुण्यका फल चाहते हैं। पापका फल दुःख नहीं चाहते और पाप करते हैं।

यदि कोई इनका दूसरा नियंता न होवे, जीवका संकल्प और जीवकी

इच्छाके अनुसार ही यदि इनका नियन्त्रण होवे, तो जीव दुःख तो कभी स्वीकार न करे। बुराईको कभी स्वीकार करे। वह तो हमेशा मजा ही मजा लेना चाहे। तो फलदाता जो है, वह इसका नियन्ता है। वह नियन्ता है, तो अब ऐसी स्थितिमें कदाचन=कभी फल पर तुम्हारा काबू नहीं है।

अब देखो, एक प्रकारके कर्म भेदमें बताया है, कर्मका फल इसी जन्ममें होवे। जैसे 'कारीरेष्टी' है। 'करील'का पेड़ होता है न, इसकी लकड़ीसे, इसके फलसे यज्ञ सम्पन्न होता है तो वर्षा तुरन्त होती है। एक पुत्रेष्टी यज्ञ होता है। कब संतान होनेके लिए यज्ञ किया जाय? इसी जन्ममें उसे संतान होती है। बोले—यहाँ तो हम यज्ञ करेंगे और फल लेंगे यह निश्चित है न? नहीं वह भी निश्चित नहीं है। वह भी ईश्वरकी प्रसन्नतासे ही प्राप्त होगा उस कर्मका फल। फलदाताकी प्रसन्नतासे ही उसका फल मिलेगा। क्योंकि जो समष्टिका संचालन नहीं कर सकता, वह फलमें स्वतंत्र नहीं हो सकता। जीव जो है, वह अपने शरीरका भी संचालन ठीक-ठीक नहीं कर सकता—जीव चाहे हम हमेशा जिन्दा रहें, तो रह सकता है? हमारी आयु इतनी हो जाय। नहीं हो सकती। दो सौ वर्ष होगी, पाँच सौ वर्ष होगी, दस हजार वर्ष होगी, दस लाख वर्ष होगी और अन्तमें मरना नहीं चाहोगे और मरना पड़ेगा।

ब्रह्मणोऽपि भयंमर्त्यम्।

ब्रह्माको भी मरना पड़ता है। अच्छा, सुख-दुःखका भोग ब्रह्मा भी करते हैं, इन्द्र भी करते हैं, वरुण-कुबेर भी करते हैं, उनको भी सुख-दुःख भोगना पड़ता है।

बोले—कौन किस जातिमें पैदा होवे? कौन पशु होवे, कौन पक्षी होवे? तो महाराज, एक दिन सबको पशु-पक्षीयोनिमें भी जाना पड़ता है। तो आयु, जाति और भोग ये तीनों कर्मके फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। हम किस जातिमें पैदा हुए हैं या होंगे, यह क्या हमारे हाथमें है? यह धड़कन कितनी बार चलेगी, यह क्या हमारे हाथमें है? हमारी चित्तवृत्ति कब सुखाकार-दुःखाकार होगी, यह क्या हमारे हाथमें है? तो समझ लो कि सुख-दुःख, आयु और जाति, इनके नियन्त्रणकी योग्यता मनुष्यमें नहीं है। इसलिए इसको ईश्वरके ऊपर छोड़ना पड़ता है कि हमारे कर्मके अनुसार जैसे पापका फल दुःख ईश्वर भेजता है, वैसे पुण्यका फल सुख भी वह समय-समय पर भेजता रहेगा। यह जरूर है कि

सुखके बाद दु:ख आता है और दु:खके बाद दु:ख आता है और दु:खके बाद सुख आता है। दु:ख आने पर घबड़ाना मत और सुख आने पर अभिमान मत करना। यह तो कभी गरम पानीकी धारा आरही है, कभी ठण्डे पानीकी धारा आ रही है। कभी तेज हवा चलती है, कभी मन्द वायु चलती है।

इसी तरहसे कभी अन्न बहुत पैदा होता है, कभी कम पैदा होता है। कभी आयु लम्बी होती है, कभी छोटी होती है। यह सब चलता रहता है, पर फलमें आसक्ति नहीं करना। फल उधर और कर्म इधर। तुम अपना काम करो, ईश्वरको अपना काम करने दो। बोले—भाई, देखो—

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

अब कर्म करनेकी विधि बताते हैं, पद्धति बताते हैं। पहले तो बताया, तुम कर्मके अधिकारी हो। कर्म करो। और फलके नियन्ता तुम नहीं हो। फलके नियन्त्रणकी योग्यता तुममें नहीं है। उसको मालिक पर छोड़ो। और फिर बोले—अब देखो, कर्म करनेकी रीति हम तुमको बताते हैं। बिलकुल कालिखकी कोठरीमें जाओ और अछूते वेदाग निकल जाओ। ईश्वर कर्मका फल देता रहे और तुम कर्म करते रहो और फिर भी वेदाग रहो बिलकुल!

मा कर्मफलहेतुर्भूः। तुम कर्मफलके हेतु मत बनो।

कृपणा फलहेतवः। 2.49

क्योंकि जो फलहेतु है, वह तो जैसे मजदूरी पानेके लिए ही काम करते हैं वैसे है। एक आदमी छः महीने, बारह महीनेके बाद गुरुके पास गया। बोले—कैसे आये? महाराज, आपका दर्शन करने।'बारह महीने दर्शन करने नहीं आये, आज कैसे आ गये?' बोला—'महाराज, ऐसे ही प्रेम उमड़ आया, आ गये।' फिर उसने चर्चा शुरु की—'ईश्वर ऐसा और ब्रह्म ऐसा। भगवान् ऐसा!' चलते-चलते बोला—'महाराज, मुझे पाँच रुपयेकी जरूरत है।'

सृष्टिकी दशा बड़ी विचित्र है। बतावेंगे कि निष्कामभावसे दर्शन करने आये हैं, ईश्वरकी चर्चा, सत्संग करने आये हैं। अन्तमें उसमें-से तृष्णा, कामना, स्वार्थ निकल आते हैं। हम बहुत ऐसे सत्संगियोंको जानते हैं, जो आगे बैठते हैं दूसरी जगह। मैंने सोचा कि प्रेमपुरीवाले अपने ऊपर न समझ लें कहीं। यहाँ भी ऐसे होते हैं। यह नहीं समझना कि यहाँ नहीं हैं। यहाँ भी एकाध सत्संगी कभी-कभी आगे बैठते हैं, उनमें-से एक-एक दिन मेरे पास पहुँचा और बताया कि

'करांचीमें हमारे पास दस मोटरें थीं। और ये 'गंगेश्वरानंदजी महाराज' ये 'असंगानन्दजी महाराज' सब आकर हमारे घरमें बैठा करते थे। और हम बड़ी भेंट-पूजा इनको देते थे। आपका दर्शन करने आये हैं महाराज!'

एक दिन इतना कहकर आ गया। दूसरे दिन आकर बोला—'बड़ी तकलीफ है, हमको पैसा दिलवा दो।' पैसा दे दिया तो तीसरे दिन मालूम पड़ा कि वह तो जूआ खेलता है। और शराब पीता है और इसी तरहसे सत्संगमें आ करके प्रमुख सत्संगी बन जाता है। तो बात यह है कि मनुष्यका स्वार्थ कहाँ छिपा हुआ है, इस बातको मनुष्य यदि समझ ले तो काम बन जाय।'

कृपणाः फलहेतवः। कृपण मत बनो। जो स्वार्थपूर्तिके लिए साधन करते हैं। और साधनका ढोंग दिखाते हैं, उनको साधनका असली फल नहीं मिल सकता।

फलहेतवः ते कृपणः। संसारमें सबसे गरीब कौन है? जो चाहनाके वशमें होकरके, कर्मके बारेमें होकरके, चाहकर वशमें होकरके कर्म कर रहा है वह सबसे गरीब है।

यह चाह माने चाह नहीं, चाह पीना नहीं है।

सर्वस्य चाहं हृदिसंनिविष्टः। 15.15

वह चाह भी नहीं, यह 'आह-आह' जिसको बोलते हैं, आहन्ति-आहन्ति, जो चारों ओरसे हनन करे, जो जीव पर चोट पहुँचावे, उसका नाम 'आह'। आह=दुःख। दुःख होता है तो आदमी 'आह-आह-आह' चिल्लाता है।

पहले ईश्वरने उसको बिना घूँघटका बनाया था। बिलकुल खुले मुँह घूमो दुनियामें और जो तुम्हें पसन्द आवे, उसके भीतर घुसकर बुलवाओ—'आह-आह।' पर जब दुनियामें आह आयी, तो किसीने पसन्द नहीं किया। अब जाकर आह ब्रह्माके गले पड़ी कि तुम्हीं ले हमको, बोले—'आह-आह'। तो ब्रह्माने कहा—'बेटी, ऐसे नहीं। हम तुमको 'च'की चद्दर ओढ़ा देते हैं। अब तुम आहसे चाह बन जाओ।' तो वह आह जो है, वह चाह बनकर दुनियामें जब चद्दर ओढ़के आयी, घूँघट काढ़के आयी, तो लोग उसके ऊपर ऐसे रीझ गये कि सबने उसको दिलमें बसा लिया। तो चाह जबसे दिलमें बसी, तबसे इस मनुष्यको दुःख भोगना पड़ रहा है।

तो, कर्मफलहेतु—कर्मके फलका कारण मनुष्य कैसे बनता है—अब कर्मफल आकरके उसको विवश कर दें, उसके ऊपर-सिर पर सवार हो जाय। मनुष्य जब गलत ढंगसे काम करता है तो कर्म उसको दुःख और बन्धनमें डाल देते हैं।

कर्मबन्धं प्रहास्यसि। 2.39

आपको मालूम है, कर्म भी बन्धन है। कर्म मनुष्यको बाँध लेता है। कई लोग ऐसे-ऐसे कर्म शुरू कर देते हैं कि शुरु तो करते हैं, लेकिन अन्त नहीं दिखता है। ऐसा पकड़ लेता है वह, ऐसा पकड़ लेता है कि चाहते हैं कि अभी इस कामसे छुटकारा पा लें। वह तो छुटकारा पाना चाहते हैं और काम पकड़ लेता है पाँव, घड़ियालकी तरह कि अब हम तुमको नहीं छोड़ेंगे। यह कर्म बड़ा भारी बन्धन है।

इसमें चार बात ध्यानमें रखने लायक है—एक तो फलासक्ति माने इस कर्मका यह फल जरूर होना चाहिए और हमको जरूर मिलना चाहिए। अगर फलके बारेमें जरूरतसे ज्यादा मीठी-मीठी कल्पना कर लोगे तो बादमें रोना पड़ेगा। क्योंकि आदमी जब वासनाके आवेशमें होता है, तृष्णाके अधीन होता है, तब वह जरूरतसे ज्यादा आशावादी हो जाता है। वह कहीं पाँच हजार लगाता है तो यह तो सोचता है कि दस हजार होकर लौटेगा। लेकिन वह यह नहीं सोच सकता है कि ये पाँचके पाँच हजार जा सकते हैं और पाँच हजारका घाटा भी दे सकता है।

हमारे एक मित्र थे कलकत्तेमें। उनके पास जब छप्पन लाख रुपये हुए, तब उन्होंने कहा कि हमारे एक करोड़ हो जायगा तो सब सनातनधर्मके प्रचारके लिए खर्च करेंगे। ऐसी बसें बनावेंगे और मोटरें बनावेंगे और ऐसा स्कूल खोलेंगे, कालेज खोलेंगे, सब बनावेंगे। फिर उन्होंने सट्टेमें जल्दीसे करोड़ पूरा करनेके लिए रुपये लगा दिये और सब-के-सब गये। अच्छा! करोड़ आ जाता तो फिर उसे दो करोड़ करनेकी भी तो इच्छा हो सकती थी न!

तो मनुष्य जो है, आशा-तृष्णा-वासनासे बिलकुल आक्रान्त हो जाता है। फिर वह यह नहीं सोचता है कि इसका नतीजा क्या होगा? तो अनचाहा फल भी आ जाता है।

इसलिए इस कर्मका फल यही मिलेगा और जरूर मिलेगा—ऐसा जरुरी

नहीं है, लोग जमीन खरीदते हैं कि हमको इससे बहुत बड़ी आमदनी हो जायगी। बादमें कहीं सरकार कब्जा कर लेती है, कहीं कीमत गिर जाती है, कहीं पास-पड़ौसवाले उस पर अपना हक जमा कर देते हैं। बीस झगड़े उसके साथ लग जाते हैं। तो फलके बारेमें मनुष्यको यह नहीं समझना कि यही फल मिलेगा और जरूर मिलेगा और इतने दिनोंमें ही मिलेगा।

एक तो फलासंगका परित्याग करो, मिले—न मिले दोनों पक्षमें। इस व्यापारसे हमको आमदनी न होगी तब भी हम ज्यों-के-त्यों रहेंगे। और हो जायगी तब भी हम ज्यों-के-त्यों रहेंगे। पहली बात—फलासक्ति छोड़ दो।

दूसरी बात ध्यान रखनेकी यह है कि कर्मासक्ति माने हमने यह काम शुरू किया तो हम उसको पूरा करके छोड़ेंगे। अपनी ओरसे पूरी कोशिश करो कि पूरा करेंगे।

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः?

अपनी ओरसे ताकत लगानेमें और अक्ल लगानेमें किसी प्रकारकी कमी नहीं करनी चाहिए। अगर तुमने ईमानदारीसे सब कुछ किया है तो, अगर काम कुछ पूरा होनेमें कसर भी रह गयी, अधूरा भी रह गया, अंगवैगुण्य भी हो गया, पूरा नहीं पड़ा तो भी तुम्हारा कोई दोष नहीं है। इसलिए कर्मासक्ति जो है, वह बड़ा दुःख देती है। वह काम पूरा करनेके लिए आदमी बँध जाता है।

अब तीसरी बात देखो। तीसरी बात यह है कि मनुष्य फलासक्ति भी छोड़ देता है और कर्मासक्ति भी छोड़ देता है, परन्तु कर्तृत्वासक्ति उसके अन्दर बनी रहती है कि—'मैं करनेवाला।' 'मैं करनेवाला।' 'मैं यह करूँगा तो यह पाऊँगा, मैं यह करूँगा तो यह पाऊँगा'—तो—'पाऊँगा नहीं तो पूरा करूँगा।' पाऊँगा—यह फलासक्ति है और 'पूरा करूँगा'—यह कर्मासक्ति है। और अकर्तृत्वासक्ति 'मैंने छोड़ा'—क्या? देखो, हाथका मैल धोकर छोड़ छोड़ देता है, वैसे मैंने यह फल और यह कर्म छोड़करके फेंक दिया और क्या समाधि लगाकरके बैठे हुए हैं? बोले—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 4.18

यहाँ कर्मत्यागमें भी कर्म है, क्योंकि कर्तापनका भाव बना हुआ है। सम्पूर्ण कर्मों और फलोंका बीज तो कर्ता है। बोले—अरे! हमने वेदान्त पढ़

लिया और पाँचका विचार कर लिया और मान लिया कि हम तो अकर्ता है और दिन-रात हमारी यह भावना बनी रहती है कि हम तो अकर्ता हैं।

बोले—अब तो मुक्त हो गये न? बोले—'मैं अकर्ता हूँ।' यह जो तुम्हारी भावना है, वह कर्तृतन्त्र भावना है, कर्ताके अधीन ही वह भावना है। अगर वह भावना हमेशा बनी रहेगी तो हमेशा तुम उस भावनाके बन्धनमें रहोगे। असलमें तुमने अपनेको अकर्ता-परिच्छिन्न जाना। अकर्ता-अद्वितीय नहीं जाना। अगर तुम अपनेको अकर्ता-अद्वितीय जानते तो एक अन्तःकरणमें कर्तापनकी भावना है कि अकर्तापनकी भावना है, उसके साथ तुम्हारा कोई रिश्ता ही नहीं रह जाता। एक अन्तःकरणमें ब्रह्माकारवृत्ति है कि अनात्माकारवृत्ति है, इससे कोई रिश्ता ही नहीं रह जाता। यह मान्यता नहीं है, यह यथार्थ अनुभव है।

मान लेनेसे ब्रह्मोपासना होती है और जान लेनेसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। तो अकर्तृत्वकी जो भावना है, वह भी एक प्रकारकी कर्ताके अधीन रहनेवाली भावना है। इसलिए फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति और अकर्तृत्वासक्ति अरे, छूट गयी। राम-राम! इतनी देरके लिए वृत्ति छूट गयी, विस्मृति हो गयी, अरे निष्ठा ढीली पड़ गयी—यह सब क्या है?

यह सब—तुम अपनेको अकर्ता तो मानते हो, लेकिन अभी ब्रह्म नामकी क्या वस्तु है, उसका पता नहीं है। वह तो स्वभावसे ही अकर्ता है, परिपूर्ण है, अद्वितीय स्थिति है, उसमें भावना-वावनाकी कोई जरूरत नहीं पड़ती है। तो 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'—भूलसे अपनेको परिच्छिन्न मान करके जो तुम कर्मके कर्ता और कर्मके भोक्ता, कर्मके फलोंको आकर्षक बने हुए हो, इसको छोड़ो। तो बोले—फिर कर्मके पचड़ेमें कौन पड़े? आओ, इसीको छोड़ दें। बोले—'मा ते सङ्गोऽस्त्वर्मणि'—*'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति'। एवं त्वयि इतः कर्मकरणात् अन्यथा न अस्ति।*

यदि तुम मैल छूटनेके पहले ही उबटन लगाना बन्द कर दोगे तो मैले ही मैले रह जाओगे। इसलिए 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—*अकर्मणि तव ते सङ्गो मा अस्तु।* अर्थात् अकर्मासक्ति भी मत आने दो। अकर्मण्य मत बनो, निकम्मे मत बनो, कामधंधा छोड़ करके बैठ मत जाओ। वह तो तमोगुण है। कर्म न करनेकी अपेक्षा तो फलाकांक्षासे कर्म करना भी श्रेष्ठ है। क्यों? कर्म न करना, निद्रा, आलस्य, प्रमाद है। निद्रा-आलस्य क्या कर रहे हैं?

अभी तो सेठजी व्यापारमें तो नहीं जाते हैं, दुकान देखनेका—क्या करते हैं? जुआ खेलते हैं, शराब पीते हैं, दिनमें 11-12 बजे तक सोते हैं। अरे बाबा! इससे तो अच्छा था, कि जाकर दुकान पर, जाकर ऑफीसमें कुछ अण्टसण्ट काम करते। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, तमोगुणी, कर्मकी अपेक्षा तो राजसी कर्म भी श्रेष्ठ है। राजसीकर्मकी अपेक्षा सात्त्विककर्म श्रेष्ठ है। सात्त्विककर्ममें भी सकामकी अपेक्षा निष्काम श्रेष्ठ है।

निष्काममें कर्तृव्याभिमानकी अपेक्षा ईश्वरार्पण बुद्धि श्रेष्ठ है। ईश्वरार्पणबुद्धिकी अपेक्षा भी अपनेको अकर्ताजान करके करना श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी अद्वितीय ब्रह्ममें कर्म आदिका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अपने स्वरूपको जानना श्रेष्ठ है। इसलिए 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'। निकम्मे मत बनो, काम करो, काम करो।

युवा आशिष्ठो दृढिष्ठः।

अपने निश्चयके दृढ़ बनो। परमात्माकी प्राप्तिकी आशा रखो और उत्साहके साथ काम करो। आगे बढ़ो।

उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वं अग्निमिच्छध्वं भारतः।

उठो, जागो और प्रकाशका आवाहन करो। यह जीवन आलस्य और कामनामें व्यतीत करनेके लिए नहीं है, शुद्ध ब्रह्मभाव प्राप्त करनेके लिए है।

: 38 :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो कृत्वा समत्वं योग उच्यते॥

2.47-48

भगवान् श्रीकृष्णने पहली बात यह कहीं कि—'अर्जुन! तुम कर्माधिकारी हो।' जब तक मनमें कर्तापन है, और संसारकी किसी भी परिस्थितिमें परिवर्तन चाहते हो, उसको करके परिवर्तन करना पड़ेगा। इच्छित परिवर्तन बिना कर्मके नहीं होता। एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है।

यह बात आधिभौतिक विज्ञानसे समझो—यदि आप एक चीजको दूसरे रूपमें बनाना चाहते हैं, माने सोनेका हार, कुण्डल अथवा कड़ा बनाना चाहते हैं तो कर्म करना पड़ेगा। भौतिक विज्ञान जो है वह कर्मका अंग है। दुनियाके बारेमें जितनी-जितनी ज्यादा जानकारी आपको प्राप्त होगी और उसमें जितना भी आप हेर-फेर करना चाहेंगे, उसके लिए कर्मकी जरूरत पड़ेगी। और जितना आधिदैविक विज्ञान आपको प्राप्त होगा, आधिदैविक विज्ञान=सूर्यदेवता ऐसे हैं, और वरुण देवता ऐसे हैं और ब्रह्माजी ऐसे हैं, शंकरजी ऐसे हैं, विष्णुजी ऐसे हैं—तो उनको पानेके लिए भी मानसी क्रिया, उपासना करनी पड़ेगी। आधिदैविक विज्ञान मानसिक क्रियाका प्रेरक है और आधिभौतिक विज्ञान शारीरिक क्रियाका प्रेरक है। आध्यात्मिक विज्ञान हमारा मन ऐसा है और हमारी इन्द्रियाँ ऐसी हैं, समाधि ऐसी होती है और उसमें ऐसे-ऐसे स्तर होते हैं। यह योगाभ्यासका, ध्यानका प्रेरक है।

इस तरहसे योग करो, ऐसा ध्यान करो, तो तुम्हारी ऐसी आध्यात्मिक स्थिति हो जायगी। केवल आत्मविज्ञान—अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अकर्ता-अभोक्ता-अपरिच्छिन्न-अद्वितीय स्वरूपका जो ज्ञान है, वह ज्ञान होनेके बाद न कर्म करनेकी जरूरत रहती है, न उपासना करनेकी जरूरत रहती है, न योग करनेकी जरूरत रहती है।

तो ज्ञान किसी कर्मका, किसी उपासनाका या समाधिका पूरक है, वह आधिभौतिक है अथवा आधिदैविक है, अथवा आध्यात्मिक है। आत्मविज्ञान अपनी अद्वितीयताका ज्ञान, अपने आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं। कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं, किसीकी इंतजार करना नहीं, कुछ बनाना नहीं, कुछ बिगाड़ना नहीं। ऐसा जो अपने सिद्ध ब्रह्मात्मैक्यका विज्ञान है, वह कर्मका प्रेरक, उपासनाका प्रेरक अथवा योगका प्रेरक नहीं है। वह स्वयंसिद्ध है। इसलिए आजकल जो आत्माके स्वरूपको ठीक-ठीक जाननेकी कोशिश नहीं करते हैं, वह भौतिक विज्ञानको ही सच्चा ज्ञान मान लेते हैं।

बोले—आँखरूपी मशीन जो शरीरमें लगी है, आँख-कान-नाक आदि जो हैं, ये शरीरमें पहलेसे स्थित किये हुए यन्त्र, ये भी मशीन हैं। इनकी मदद करनेवाले खुर्दबीन-दूरबीन हैं, उन्हींकी मदद करनेवाले हैं। तो या तो वे उसमें लगाते हैं, अथवा कोई लोक-परलोकका ज्ञान हुआ तो उपासना करनेमें लगाते हैं अथवा मनीरामके कुछ खेल मालूम पड़ गये, ये प्रवृत्ति मानस हैं, ये अतिमानस हैं, ये शान्त हैं। यह विक्षिप्त मन हैं। इसपर देखो, मनपर असर भौतिक पदार्थोंका तो पड़ता ही है, एक घूँसा जोरसे लग जाय ठीक जगह पर तो आदमी बेहोश हो जाय। तो यह भौतिक क्रियाका असर पड़ा न मन पर? और कोई क्लोरोफोर्म घूँसा दे तो आदमी बेहोश हो जाता है और शराबके नशेमें मनमें कितना फर्क पड़ जाता है? तो भौतिक वस्तुओंका भी मन पर असर पड़ता है। भौतिक क्रियाओंका भी मन पर असर पड़ता है। ऐसी नस होती है, दबा दे ठीकसे तो आदमी बेहोश हो जाय। तो उसको कहेंगे कि इन्होंने तो हमको छूकर समाधि लगवा दी। तो ये सारी बातें बाहरी हैं। संसारी हैं।

जो परमात्माका परमात्मविज्ञान है, वह कोई आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक विज्ञान नहीं है। ब्रह्मविज्ञान जो है वह अद्वैत-विज्ञान है, अद्वितीय विज्ञान है, वह समाधि लगानेके लिए नहीं है और वह इष्टदेवताकी

प्राप्तिके लिए नहीं है, वह भौतिक जगत्में हेर-फेर करनेके लिए नहीं है। वह किसीके लिए नहीं है। उसीके लिए सब हैं। उसीकी प्राप्तिमें ये मददगार हैं। वह इन सब चीजोंकी प्राप्तिके लिए नहीं है। आजकल जो नये-नये बाबू लोग इस मार्गमें आते हैं, उनको आध्यात्मिक विज्ञानमें, आधिदैविक विज्ञानमें, आधिभौतिक विज्ञानमें फर्क तो मालूम होता नहीं, वह सबको आत्मविज्ञान ही समझते हैं।

बोले—भाई, यह सब तो यह जानकरके करना है, पर असलमें उसको जानना है।

जहाँ दृश्य वस्तुमें हेर-फेर करना है, अदलना-बदलना है, परिवर्तन करना है कि भाई, यह चीज, यह सोना जो है, हार बन जाय, कड़ा बन जाय, कुण्डल बन जाय, हमारे काम आने लग जाय। एक अणुको हम जानकरके उसके प्रयोगसे शान्ति-कर्म कर लें, अथवा उसके द्वारा ध्वंस-कर्म कर लें। तब वह अणुका विज्ञान जो है, वह कर्मका फल बन जाता है।

तो, अर्जुन! तुम कर्माधिकारी हो। क्यों कर्माधिकारी हो? क्योंकि तुम वर्तमान परिस्थितिमें हेर-फेर करना चाहते हो। तुम यह चाहते हो कि ये जो मरनेवाले इकट्ठे हुए हैं ये मरे नहीं। ये जो हमारे सम्बन्धी पहलेसे बने हुए हैं, ये छूटे नहीं। छूटनेके लिए वे तो तैयार और तुम छोड़ना चाहते नहीं। तो कर्म करना पड़ेगा। तो—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—अभी आप कर्माधिकारी हैं। आप अपनेको बहुत ऊँचा मानते हैं। एक दिन मैंने आपको सुनाया था कि हमारे गंगाकिनारी 'श्रीअच्युतमुनि महाराज'के यहाँ बहुत लोग वेदान्तका स्वाध्याय करते। पाठ होता। सब-के-सब प्रस्थानत्रयीके पाठमें, अध्ययनमें लगे हुए। एक सज्जन आये, वे 'अवन्ती' क्षेत्रमें ठहर गये। और अच्युतमुनिजी रहते थे—'अनूप शहर'के पास।उस योगीमें क्या शक्ति थी कि कोई रोगी आवे, तो वह अपनी आँखसे थोड़ी देर तक देखता। उसको खूब दर्द हो रहा हो, चिल्लाता हो आदमी, तो जो थोड़ी देर तक वह योगी देखता, तो उसका दर्द दूर हो जाय। कोई बुखार हो। उसकी आँखोंमें त्राटकसे इतनी शक्ति आगयी थी। योगाभ्यासका स्वाध्याय कर लिया था। अब महाराज, बहुत लोग जो वेदान्तका स्वाध्याय करते थे, जब वे उसके पास गये, यह चमत्कार देखकर तो बोले—'वाह! हमने तो इतने दिनों 'पञ्चदशी' पढ़ी और हमारा तो कुछ

नहीं बना। यह तो बहुत बढ़िया योगी आया। चलो, इनसे यही विद्या सीखें जिससे हम लोगोंका दुःख दूर करेंगे।'

एक दिन 'अच्युतमुनिजी'के सिरमें खुदको दर्द हो गया। दर्द हो गया तो लोगोंने कहा कि—'महाराज! योगीको बुलाया जाय, वह आपको अच्छा कर देगा'। अब वह योगी आया, आँखसे देखा, 'अच्युतमुनिजी'का दर्द दूर हो गया। बोले—'ये पचीस वर्षसे गंगा किनारे रहकर 'ब्रह्मसूत्र' पढ़ रहे, इनसे अपने सिरका दर्द तो दूर ही नहीं हुआ, तो योगीने दूर किया।'

तब अच्युतमुनिजीके सब चेले योगीजीके सत्संगमें जाने लगे कि वेदान्त पढ़नेसे तो सिरका दर्द दूर नहीं होता। यह सच्ची घटना आपको बताता हूँ। 'अच्युतमुनिजी' बोले—'देखो, हमने इन लोगोंको वेदान्त पढ़ाकरके बस अपनी मत्थापच्ची की। इन लोगोंको वेदान्त पढ़ाना जिनके मनकी स्थिति इतनी निम्न कोटिकी? उनको वेदान्त पढ़ाना बिलकुल बेकार।'

तो बाबा! अभी कर्माधिकारी हो तुम। अभी तो तुमको कुछ दवाएँ जाननी चाहिए जिनसे सिरका दर्द दूर होता है। अभी तो तुमको कुछ त्राटक-पूरक-रेचक सीखना चाहिए। तो तुम जो हो, अभी कर्माधिकारी हो।

मा फलेषु कदाचन—अभी कर्माधिकारी हो। अच्छा, तो कोई निन्दा है? ना, निन्दा नहीं, बड़ी श्रेष्ठ स्थिति आपकी है। आप अपनेको ठीक-ठीक समझिये। कर्म तो कीजिये लेकिन फलमें हाथ मत डालिये। उसको छोड़ दीजिये ईश्वर पर। उसको छोड़ दीजिये प्रारब्ध पर। उसको जो आता है सो आने दीजिये अपने आप। आप अपना कर्म करते जाइये। ऐसे ढंगसे काम कीजिये कि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'। *कर्मफलहेतुः मा भूः।* तुम तृष्णावान् बन करके, तुम वासनावान् बन करके कि हमको इस कर्मका फल यह मिले, स्वयं कर्मफलके हेतु माने जनक बन जाते हो। जब कोई भोक्ता पुरुष वासनाके वशीभूत होकरके कोई कर्म करता है तो उस कर्मसे पैदा होनेवाला फल कर्ताको आकरके लग जाता है। तो जो संकल्पपूर्वक, इच्छापूर्वक कर्म किया जाता है वह कर्ताके साथ आकरके जुड़ जाता है और कर्ताको नीची-ऊँची गतियोंमें ले जाता है। इसलिए भाई! तुम वासना-तृष्णा छोड़करके कर्म करो।

एकने कहा कि महाराज! यह वासना-तृष्णा तो नहीं छूटती। यह है तो बात खोटी। तुम लोग तो प्रेमकुटीरके बड़े ऊँचे अधिकारी, आपने तो अविद्या ही

छोड़ दी, तो वासना–तृष्णा छोड़नेका तो कोई प्रश्न ही नहीं रहा। अब क्या करोगे बाबा! तृष्णा छोड़कर? जब अविद्या ही छोड़ दी? जब मैया ही मर गयी तो बेटा–बेटीकी तो कोई बात ही नहीं रह गयी। तो भाई, वासना–तृष्णा तो छूटती नहीं है। एक छोटे अधिकारीने यह प्रश्न किया। तब हम कैसे कर्म करें? आप ऐसे कर्म कीजिये कि हमारी वासना–तृष्णा छूट जाय। है न? वासना–तृष्णा छुड़ानेके लिए कर्म कीजिये।

आप यह देखिये कि वासना–तृष्णा पूरी करनेके लिए कर्म करते हैं कि वासना–तृष्णा छुड़ानेके लिए कर्म करते हैं? तो अगर वासना–तृष्णा पूरी करनेके लिए कर्म करते हैं तो आप संसारी हैं और अगर आप वासना–तृष्णा छुड़ानेके लिए कर्म करते हैं तो आप साधक हैं। तब आप कर्मयोगी हैं। यह तो दूसरेके कहनेकी बात नहीं है। आप खुद ही अपनी छाती पर हाथ रखकर ठंडे दिलसे अपने बारेमें जाँच–पड़ताल कीजिये। गौर कीजिये कि आप अपनी वासना–तृष्णा पूरी करनेके लिए कर्ममें लगे हुए हैं कि वासना–तृष्णाओंको मिटानेके लिए कर्ममें लगे हुए हैं? दोनों ही हालतमें कर्म करना पड़ता है।

वासना–तृष्णा पूरी करनेके लिए भी कर्म करना पड़ता है और उनको मिटानेके लिए भी कर्म करना पड़ता है। उसके लिए भी साधन होता है और यथार्थ स्थितिको यदि तुम देखना चाहते हो तो जैसा है वैसा ही मजा लेना चाहते हो तो फिर न कुछ करनेकी जरूरत है, न कुछ छोड़नेकी जरूरत है। तुम तो स्वयंसिद्ध दृष्टा साक्षात् ब्रह्म हो ही। यह बात है।

मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि

आपसे यह निवेदन है कि आप कर्मको, साधनको छोड़िये मत। यह मतलब है। अकर्मणि सङ्गोमास्तु। अकर्ममें सङ्ग न हो। निकम्मेपनमें तुम्हारी आसक्ति न हो। क्योंकि जिसमें आसक्ति हो जाती है, उसमें मजा आने लगता है। किसी–किसीको चुपचाप बैठनेकी ही आदत पड़ जाय, हाथ–पाँव न हिलाकर तो बड़े मजेमें बैठे हैं। *'आलसी गिरले कुआँमें, तो बोललें भले बाँटी।'* आलसी आदमी कुएँमें गिर गया, तो बोला—'मैं बहुत अच्छी तरहसे हूँ।' अब रहने दो। क्यों हाथ–पाँव बाँधते हो? क्यों ऊपर खींचा–खींची करते हो? गिर जायँ फिरसे तो हाथ–पाँव टूट जाय। यहीं मजेमें बैठे हैं। तो निकम्मेपनसे जब आसक्ति हो जाती है आदमीकी, जब चारपाई पर लेटे

रहनेकी आदत पड़ जाती है या दूसरा पानी पिला दे, दूसरा खिला दे तो उसीमें मजा आता है।

एक हमारा मित्र है जबलपुरका, तो वह धूनीवाले बाबाका बड़ा भक्त है और वेदान्त अच्छा समझता है। जब वह छोटा बच्चा था तब एक बार मर गया था बच्चा था तो उसको मिट्टीमें गाड़ दिया गया था मरनेके बाद। फिर महात्माने कहा—'अरे, यह तो जिन्दा है, तुमने क्यों इसको गाड़ दिया?' दो-तीन घंटेके बाद आये और उसको माटी हटाकर निकाल दिया। तो उसके मनमें महात्माओं-साधुओंके प्रति बड़ी श्रद्धा है। लेकिन अब वह बाईस-तेईस वर्षका हो गया, एम.ए. पास हो गया।

मैंने एक बार उसको कहा कि—'तुम चलो वृन्दावन। तो मेरे साथ वृन्दावन आया। आया, तो जब खानेका समय आया तो बोला, 'हमने अभी तक कभी अपने हाथसे खाया ही नहीं। हमारी दादी खिलाती हैं तब तो हम खाते हैं। अपने हाथसे खानेकी हमको आदत नहीं है।' नहानेके समय? 'हमारी पत्नी हमको नहलाती है। वही हमारे कपड़े धोती है। हम काम कोई करते नहीं।' अब देखो न यह बात! उसको उसीमें मजा आवे, उसीमें रस आवे।

निकम्मेपनकी आदत आदमी डाल लेता है तो निकम्मेपनमें स्वाद आने लगता है। अकर्ममें आसक्ति हो जाती है तब सारे काम, सारे दोष, सारे पुरुषार्थ-धर्म अर्थ काम मोक्ष सबमें बाधा पड़ जाती है। इसलिए आदमीको अपनी आदत नहीं बिगाड़नी चाहिए। कर्ममें स्वाद लेना चाहिए, निकम्मेपनमें स्वाद नहीं लेना चाहिए।

अब इस प्रसंगमें एक बात आपको सुनाऊँ? कर्म न करनेसे ही कोई पारमार्थिक उन्नति नहीं होती। यह 'कर्म' शब्दका अर्थ आप लोग 'साधन' समझना। क्योंकि कर्म जो है, या तो धर्म है। धर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है या तो वासनारूप है, भजनरूप है या तो वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रमें अपना कर्तव्य बताया है, वह है। सो तो सब साधन ही हैं।

कामके अनुसार, क्रोधके अनुसार, लोभके अनुसार, मोहके अनुसार काम करना यह कोई साधन नहीं है। किसीसे मोह हो गया तो उसीके लिए खट रहे हैं। किसीके ऊपर क्रोध आगया तो उसे नीचे गिरानेकी कोशिश कर रहे हैं। किसीसे लोभ हो गया तो उसको पानेके लिए कोशिश कर रहे हैं।

इसका नाम साधन नहीं होता। तो प्रवृत्ति हमारे जीवनमें कामके अनुसार, क्रोधके अनुसार, लोभके अनुसार, मोहके अनुसार होती है उसका नाम साधन-भजन नहीं है।

जो हमारे धर्मके अनुसार, शास्त्रके अनुसार हमारा कर्तव्यकर्म है, जो ईश्वरके लिए कर्म है, जो समाधिके लिए कर्म है, तो आधिभौतिक रूपसे जो करनेके लिए कर्म हैं वर्णाश्रमधर्मके अनुसार अथवा ईश्वरकी उपासनाके लिए जो कर्तव्यकर्म हैं अथवा समाधि लगानेके लिए जो योगाभ्यास आदि कर्म हैं, ये जो कर्म हैं ये साधनरूप कर्म हैं। तो इनको छोड़ देनेसे कर्माधिकारी व्यक्तिको कोई लाभ, कोई उन्नति नहीं होती। जरा गीताकी बात आप लोग ध्यानसे सुनो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। 3.4

कहो कि भाई, हम तो कर्मके बन्धनसे छूट करके नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं। तो हम कर्म क्यों करें? बोले—कर्म छोड़ देनेसे ही नैष्कर्म्य अवस्था नहीं प्राप्त होती। बल्कि कर्म करते-करते, मन दूर होते-होते, कर्मका रहस्य समझते-समझते अन्तमें कर्मका अन्त जो है वह नैष्कर्म्यमें है। हाथ हिलाते-हिलाते थकोगे तो अन्तिम गति क्या होगी? हाथ हिलना बन्द हो जायगा। वह जो शान्ति है न, मनको ईश्वरमें लगाते-लगाते मन निष्क्रिय हो जायगा तो समाधि लग जायगी। हाथसे काम करते-करते हाथ थककर विश्राममें बैठ जायगा। कर्मका अन्तिम फल नैष्कर्म्य है। रोनेका फल शान्ति है। मनको बारम्बार भगवान्‌में लगानेका नाम समाधि है। तो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

यदि कर्म नहीं करोगे तो नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी। एक बात खाटी बतायी। निकम्मे बनोगे, साधन नहीं करोगे और भजन नहीं करोगे, अपने कर्तव्य-कर्म नहीं करोगे तो अपने कर्तव्य बन्धनसे कभी छूट नहीं सकते। एक बात—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 3.4

केवल संन्यास लेकर बैठ गये, सब कर्मोंको छोड़ दिया, तो सब कर्मोंको छोड़ देनेसे कोई सिद्धि नहीं मिलती है।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।

तो कर्म न करनेसे नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं और कर्म छोड़ देनेसे ही सिद्धि नहीं। ये दो कारण बताये कि कर्तव्य-कर्म मनुष्यको अवश्य करना चाहिए। अब तीसरा कारण देखो—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ॥ 2.5

तुम बिना काम किये रह ही नहीं सकते। घण्टे-दो घण्टे चार घण्टे अगर सो भी लोगे, चुपचाप बैठ भी लोगे तो शरीर कहेगा कि जरा उठो-हिलो-चलो-फिरो। बिना काम किये रह ही नहीं सकते।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत। 3.5

कहो कि एक क्षण भी हम निकम्मे रहते हैं? नहीं, साँस तो लेनेके लिए सावधान रहना पड़ता है न? बाल तो बढ़ेंगे, पाचन तो होगा, शरीरधारी हो करके निकम्मेपनकी प्रतिष्ठा कहाँ होगी? तो—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

तीसरी बात। और—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 3.5

तीसरे अध्यायमें बताया—सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण सबके शरीरमें रहते हैं। और वह सबके स्वभावके अनुसार सबके काम लेते रहते हैं। तुम निकम्मे होकर रह ही नहीं सकते। मजबूर हो तुम कर्म करनेके लिए। क्योंकि त्रिगुणके प्रभावक्षेत्रमें तुम्हारा शरीर है। इसलिए तुम्हें कर्म करना चाहिए।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ 3.6

बाहरसे कर्म करना बंद कर दोगे और मनसे विषयोंका चिन्तन करोगे, तो यह तो ढोंगीपना हुआ। सदोष है, मिथ्याचार है, यह तो निंदित है। निंदित होनेसे भी निकम्मा रहना ठीक नहीं और अब देखो—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ 3.7

जो अनासक्त रहकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करता है, मनसे इन्द्रियोंको रोक कर, मनसे इन्द्रयोंको नियममें ले करके-इन्द्रियोंको मार करके नहीं, इन्द्रियोंका बहिष्कार करके नहीं, इन्द्रियोंको कैदमें रखकर नहीं, इन्द्रियोंको समाधिमें डालकर नहीं, इन्द्रियोंको मर्यादामें रखकर एक कायदेमें रखकर और जो ठीक

कर्म करता है, वह विशिष्ट है। इसलिए भी तुम्हें निकम्मा नहीं होना चाहिए। अपने काम करना चाहिए।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 3.8

मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि—अकर्मसे, निकम्मेपनसे तो कर्म करना अच्छा है। तो प्रशस्त होनेके कारण भी तुम्हें कर्म ही करना चाहिए। निकम्मा नहीं होना चाहिए।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

यदि काम नहीं करोगे तो जिन्दा भी नहीं रह सकोगे। जिन्दा रहनेके लिए भी काम करना जरूरी है। निकम्मापन जरूरी नहीं है। बोले—अच्छा, काम करेंगे तो बंध तो जायेंगे न? बोले—वही युक्ति बता रहे हैं कि काम करो और बंधो मत। अवश्य मनुष्य जब काम धंधेके चक्करमें पड़ता है, गोरखधंधेमें पड़ता है, तो एकपर एक, एक पर एक कर्मकी परम्परा चलती रहती है।

बोले—'गीता छाप लो।' दूसरेके प्रेसमें तो बहुत महंगी पड़ती है, तो अपने ही प्रेममें छाप लो। तब छोटा-सा एक प्रेम था। बोले—कागज कभी दूसरोंसे मिलता है,त कभी नहीं मिलता है। कागजकी एक एजेन्सी ले लो। जिल्द दूसरोंसे बनवाते हैं तो समयपर देता है, नहीं देता है, तो एक जिल्दसाजीका कारखाना खोल दो। जिल्दसाजीकी कारखाना खोल दिया, तब उसके बाद? डाकवाले कभी लेते हैं, कभी नहीं लेते हैं, तो एक डाकखाना अपने घरमें ही होना चाहिए।

इसीको बोलते हैं—'प्रसक्तानुप्रसक्त' माने कर्म जो है, वह एकके बाद दूसरा, गाँठ लगाता जाता है। मजबूत बन्धन। एक गाँठ, दो गाँठ, तीन गाँठ। लो, यह तो 'कर्मबन्धनः।' मनुष्य जब एक कर्मबन्धनके चक्करमें फँसता है, तो दूसरा भी आता है। बोले, ठीक है, अब हम कर्म करनेकी युक्ति बताते हैं, जिससे तुम कर्म तो करो और बन्धन न हो—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 3.9

यज्ञार्थात=यज्ञके लिए कर्म करो। ईश्वरके लिए कर्म करो। यज्ञ= ईश्वर। *यज्ञो वै विष्णुः।* यज्ञ=सबकी भलाईके लिए कर्म करो। केवल अपने

स्वार्थके लिए नहीं। तब जो तुम काम करोगे, वह तुम्हें बाधेंगे नहीं। स्वार्थसे जो काम किया जाता है, वह बन्धनका हेतु होता है। जगत्‌के कल्याणके लिए जो काम किया जाता है, वह बन्धनका हेतु नहीं होता। इसलिए भी तुम्हें निकम्मापन अपने जीवनमें नहीं आने देना चाहिए। अपना जो कर्तव्य है संसारमें, अपना जो कर्म है धर्मरूप, अपना जो कर्म है विश्वके कल्याणके लिए, अपना जो हिस्सा है, ईश्वरकी सेवाके लिए अपना जो हिस्सा है, समाधि लगानेके लिए जो अपना कर्तव्य है, परमात्माकी प्राप्तिके लिए जो-जो अपना कर्तव्य है, अन्तःकरण-शुद्धिके लिए जो अपना कर्तव्य है और शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वसाक्षात्कार करनेके लिए अपना जो कर्तव्य है, वह सभी कर्तव्य कर्तव्य है और उनको छोड़नेसे मजा मत लो। उनको करनेमें मजा लोगे तो तुम्हारी उन्नति होगी।

यदि उनको छोड़नेमें मजा लेने लगोगे तो जहाँ-के-तहाँ रह जाओगे। बल्कि और भी नीचे गिर जाओगे। इसलिए—

मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

निकम्मेपनसे प्रेम मत करो। निकम्मेपनमें आसक्ति मत करो। कर्म करो, अपना साधन करो, अपना भजन करो और आगे बढ़ो।

अच्छा, कैसे कर्म करें?

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

धनञ्जय! धनञ्जय जो है, समत्वं योग उच्यते जो फल है, साधन ही तो धन है, यह साधनका जो फल है, साधन ही तो धन है न? *धत्ते इति धनम्।* जो इस सारे जीवनको धारण-पोषण देता है, उसका नाम धन है। माने जिसकी वजहसे हम जिन्दा रहें और हमें पुष्टि मिले। जो चिन्ता देकर दुबला बना दे और जो धारण न करे, मौतकी ओर ले जाय, उसका नाम धन नहीं है। धारण और पोषण दो अर्थ है *'धा' धातुका-डुधाञ् धारणपोषणयोः दधाति, धत्ते।*

जो हमारा धारण-पोषण करे उसका नाम है 'धन'। तो जब तुम अपने धारण-पोषणके लिए धारण और पोषणमें संलग्न हो, धनको, साधनको जीत रहे हो, अपने काबूमें कर रहे हो तो धनञ्जय! तुम्हें कर्म करनेकी रीति भी सीखनी चाहिए।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

'धनञ्जय' एक अग्नि होता है। 'धनञ्जय' एक अग्निका नाम है। 'धनञ्जय' एक प्राणका नाम है। दस जो प्राण हैं, उनमें कृशलाश्व, देवदत्त धनञ्जय। पाँच प्राण तो अपान-समान-उदान-व्यान हैं और पाँच प्राण जो प्राण कृशलाश्व-देवदत्त-धनञ्जय आदि हैं। उनमें एक प्राणका नाम हैं 'धनञ्जय' और अग्निके जो बहुत सारे नाम हैं, उनमें एक नाम है 'धनञ्जय'। अग्निकी सेवा करो, तुम 'धनञ्जय' हो जाओगे। प्राणके सेवनसे 'धनञ्जय',अग्निके सेवनसे धनञ्जय, अग्निका सेवन-धर्म प्राणका सेवन=योगाभ्यास। तुम तो प्राणरूप हो। तुम तो शक्तिशाली हो। तुम तो अग्निरूप हो। शोक-मोहके दाहमें तुम्हारा सामर्थ्य है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ 4.37

कर्माणि कुरु। अर्जुन! तुम कर्म करो। कर्म छोड़ो मत और एक तरहके नहीं, हजार तरहके कर्म करो।

भाई, हजार तरहके, कर्म करेंगे कुछ-न-कुछ 'कर्माणि कुरु' बहुवचन है न?

'कर्म च कर्म च कर्म च तानि कर्माणि' सब कर्म करो तुम। जो तुम्हें धर्मके अनुसार, सद्धर्मके अनुसार प्राप्त हुए हैं उन सब कर्मोंको करो। पर ऐसी जगह बैठकर करो कि कर्ममें जो बन्धन है, वह तुम्हें छू न सके। माने देखो, एक आदमी ढेला फेंक रहा, तो कई बार वह जो ढेला फेंकता है न, वह सामनेवाली भीतसे टकराकर फिर उसीकी तरफ आ जाता है। कोई कूदकर ऊपर फेंकनेकी कोशिश करे तो क्या होगा? वह लौटकर उसीके ऊपर गिरेगा। तो कैसे काम करना चाहिए? ऐसी जगह बैठ करके ढेला फेंको कि वह लौटके तुम्हारे पास आ न सके।

योगस्थः कुरु कर्माणि—बैठो योगके सिंहासन पर और करो कर्म। योगके सिंहासनपर बैठकर कर्म करो, कि कर्मसे होनेवाली जो प्रतिक्रिया ही फल है। डॉक्टरसे कहते हैं कि ऐसी दवा दो जिसका शरीरमें कोई उल्टा प्रभाव न पड़े। प्रतिक्रिया उसकी उलटी न हो। प्रतिक्रिया माने उलटा ही समझो। क्रियाकी जगह प्रतिक्रिया न हो।

एक रोग मिटानेके लिए दवा खायी और दूसरा रोग पैदा हो गया। 'Reaction (री सक्शन) न हो' ऐसे बोलते हैं न? तो भाई! कर्मकी जो प्रतिक्रिया है वह तुम्हें बन्धनमें न डाले, ऐसे ढंगसे तुम्हें कर्म करना आता है, कि

नहीं? यह देखना। देखोजी, बुरा मत मानना! कभी कोई आपकी शानके खिलाफ बात बोल दे तो बुरा मत मानना, है न? कर्मकी प्रतिक्रिया क्या होती है, यही समझना बड़ा मुश्किल है। जब आप कोई गलत काम कर बैठते हैं और आपके मनमें ग्लानि होती है कि 'मैंने बड़ा बुरा काम किया' और आप अपनी दृष्टिमें छोटे बन जाते हैं, हीन बन जाते हैं। आपके भीतर बैठा हुआ जज फैसला दे देता है कि—'तुम नीच हो, तुमने यह काम किया है।' यह क्या हुआ? अपने मनमें अपने बारेमें ग्लानि हो जाना यह कर्मकी प्रतिक्रिया है। तुमको दीन बना दिया कर्म ने। तुम अपनी नजरमें गिर गये। यह कर्मकी प्रतिक्रिया है। इसीको कर्मका Reaction बोलते हैं। काम किया और करनेके बाद पछताने लगे, ग्लानि हो गयी, तापकी जलनमें जल रहे हैं, ग्लानिमें जल रहे हैं—'हाय-हाय! मैंने कितना बुरा काम किया? मैं नीच हूँ।'

यह भी बात है कि कोई उसी समय नहीं पछताता है, अपना वेग जब प्रबल होता है, तब नीच कर्म करनेके बाद खुशी होती है कि 'हमने अपने दुश्मनको मार दिया। हमने अपने दुश्मनको नीचा दिखा दिया। कैसी गाली दी भरी सभामें और क्या निन्दा की उसकी? थोड़ी देर खुश होता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया बादमें प्रगट होती है छः बरस बाद होगी, पचास बरस बाद होगी। क्या? कि 'हाय-हाय! हमने उसको सताया था, हमने उसको तकलीफ दी थी और सता करके तकलीफ दे करके अच्छा काम नहीं किया था।

एक सन्तको मैंने सत्तर वर्षकी उम्रमें रोते देखा। क्यों? आजकल 'सन्त' शब्द तो सभीके लिए चलता है न? वह तो एक पैसेके गेरुका काम, सन्त बनाना। तो हमारे महात्माओंने कहा कि—'लो, हम बिना गेरुके ही बनाना शुरू करते हैं। 'सन्त प्रवर'—उनको सन्तकी उपाधि देते हैं। बड़े सन्त, परम सन्त। लो भाई, देखो यह पद्धति है।

मैंने एक सन्तको देखा, सत्तर वर्षकी उम्रमें बड़े दुःखी थे। क्यों? बोले—'मैंने बार नीचेकी धरती गीली थी, तो दूसरेकी दीवारमें-से मिट्टी निकालकर अपना हाथ धोया था। देखो, उस समय मैं कितना मूर्ख था? दूसरेकी दीवार टूटे तो टूटे, लेकिन हमको गीली मिट्टी काममें न लेना पड़े, इसके लिए मैंने वह काम किया था।' तो कर्मका जो संस्कार पड़ता है न, चित्तमें, वह तुरन्त ही दीख जाय यह जरूरी नहीं है। बादमें भी रुलाता है और

मनुष्यको हीन बनाता है। अच्छा भाई, यह तो बुरे कामकी बात हुई। जरा अच्छे कामकी प्रतिक्रिया बतावें।

अच्छे कामकी प्रतिक्रिया यह होती है कि मैंने यह उपकार किया, मैंने दूसरेके ऊपर यह एहसान किया, इसलिए मैं बड़ा हूँ। मैं बड़ा हूँ और दूसरे लोग जो ऐसा काम नहीं करते हैं वे छोटे हैं। तो छोटोंके प्रति घृणा होगी और अपने कर्तृव्यके प्रति अभिमान होगा। तो यह जो अपने बड़प्पनका अभिमान होता है कि 'मैं यह-यह करके औरोंसे बड़ा हो गया, यह बडप्पन समझो, तुम्हारी नावपर बोझ बढ़ रहा है। जब नावपर ज्यादा हो जाता है तो वह नावको डूबो देता है वैसे ही पुण्यका जो कर्तापन जो है, वह डूबो देता है। पापके कर्ताको भी डूबना पड़ता है। तो हीनताका अभिमान और उत्कृष्टताका अभिमान, दोनों यदि पैदा नहीं होवे तब तो मनुष्य कर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान कर रहा है। और यदि दोनोंमें से कोई अभिमान पैदा कर रहा है। और यदि दोनोंमें से कोई अभिमान पैदा होता है तो,-अभी उसको कर्म करनेकी तरकीब नहीं मालूम है। तो यह जब मैंने कहा—'कर्मकी प्रतिक्रिया करनेवालेको कैसे दबा लेती है' इस बातको पहले समझना, तब न इससे बचनेकी कोशिश करोगे?

'योगस्थः कुरु कर्माणि'—भगवान् बताते हैं कि तुम योगस्थ हो जाओ। योगमें स्थित हो करके, योगके घोड़ेपर सवार हो करके काम करोगे तो डूबोगे नहीं, योगकी नावपर सवार होकर चलो। तो नाव डूबेगी नहीं। यह योगका विमान है। आओ, ऐसी जगह पर बैठो कि पानी उछल करके तुम्हारे ऊपर न पड़े। दाग न पड़े, कोयलेका दाग न पड़े, तुम्हारे शरीरमें कालिख न लगे, ऐसे ढंगसे काम करते हुए चलो।

योगस्थः कुरु कर्माणि। 2.48

अब योगस्थ होनेके लिए भी उपाय चाहिए। पहले 'योगस्थ' का अर्थ समझो। दुनियामें जितने काम होते हैं वे सब जोड़-तोड़के होते हैं। इधरसे तोड़ा और उधर जोड़ दिया। हाथकी यह हालत, मुट्ठी बँधी थी, खोल दिया-दोनों कर्म है। मुट्ठी बाँधना भी कर्म और मुट्ठी खोलना भी कर्म है। उत्क्षेपण=नीचे फेंकना। आकुंचन=किसी चीजको समेटना और प्रसारण= फैलाना और गमन=चलना-ये कर्म हैं। वाणीसे बोलना भी कर्म है, पाँवसे चलना भी कर्म है, हाथसे पकड़ना भी कर्म है। ये सब कर्म हैं। तो योगस्थः जहाँ चेतना और जड़का योग है न,

'चिज्जडग्रंथि' है। पूरे चेतनमें कर्मका सम्बन्ध और अकेला जड़? विक्रिया तो हो सकती है अकेले जड़में, पर कर्म नहीं हो सकता। जो स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व और जिसमें क्रिया होती है वह जड़ अनात्मा। आत्मा और अनात्मा दोनोंका जहाँ जोड़ होता है आभास, तो देखो, आभासके द्वारा कर्म हो रहा है। तो तुम आभास नहीं हो। आभासमें स्थित चेतन हो। तुम शुद्ध चेतन हो। तुम आभासके द्वारा जो कर्म हो रहा है, उसके कर्ता-भोक्ता नहीं हो। आभास ही कर्ता और आभास ही भोक्ता है। योगमें स्थित हो जाओ।

यह तो बड़ी ऊँची स्थिति हुई? तुम ऊँची स्थिति प्राप्त करनेके लिए प्रयास करो, इसके लिए कर्म करो। इसके लिए दो बात करनी पड़ेगी। असलमें बिना दो बातके कोई योगमें आरूढ नहीं हो सकता। एक 'आरूरूक्षु' होता है, एक 'आरूढ' होता है। दो तरहके होते हैं न?

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ 6.3

अब देखो, कर्ममें दो चीजका होना जरूरी है। एक तो 'सङ्गं त्यक्त्वा' (2.47) और एक दूसरा? 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'। (2.48) ये दो बात यदि रहे—ये दोनों असमाप्त क्रिया है। 'त्यक्त्वा' भी असमाप्त क्रिया है और 'भूत्वा' भी असमाप्त क्रिया है। संग छोड़ते हुए और सिद्धि-असिद्धिमें समान रहते हुए योगमें आरूढ़ हो करके कर्म करो। योगमें आरूढ़ होना क्या है? आसक्ति न होवे, फलासक्ति न होवे। इस कर्मका यह फल मुझे मिले, फलके साथ चिपक जाना।

फलके साथ चिपक जाना, संग=सटना, सक्ति=सटना—आसक्त सक्त सटना यह है और हट जो है यह हटना है। हननसे हटना बनता है। *हतं-हतं-हतं एतद् कर्म*—यह कर्म मारा गया। तो सटना और हटना—ये दो बात होती है। तो 'सङ्गं त्यक्त्वा'का अर्थ है फलमें न सटना कि इसी कामका फल हमको मिले ही मिले। बल्कि यों कहो कि इस कामका जो फल है वह ईश्वरको मिले। अच्छा काम करना और कहना कि इस अच्छे कामका फल ईश्वरको मिले। इस अच्छे कामका फल अन्तर्यामीको मिले, हिरण्यगर्भको मिले। अरे, उसीकी प्रेरणासे तो हमने किया है। इस अच्छे कामका फल हिरण्यगर्भको मिले। इस अच्छे कामका फल विराट्को मिले। इस अच्छे कामका फल विश्वको मिले। इस अच्छे कामका

फल राष्ट्रको मिले। हमारे व्यक्तिको इस अच्छे कामका फल मिले, यह नहीं चाहना। व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत भोगलिप्सा छोड़कर काम करना। एक युक्ति तो यह है।

दूसरी युक्ति क्या? 'सिद्ध्योसिद्ध्योः समो भूत्वा'—अपना समय, अपनी शक्ति, अपना संकल्प काममें लगाना, लेकिन काम पूरा हो कि नहीं हो, इसको भी ईश्वर पर छोड़ना। सिद्धि=संपूर्ति। असिद्धि=असंपूर्ति। अपनेको तो समय पूरा करना है। एक महात्माने हमको बताया, काम कैसे करना? बोले—'तुम क्या कर रहे हो? फल पा रहे हो कि काम पूरा कर रहे हो?' बोले—'न तुम कालान्तरमें पैदा होनेवाले फलको प्राप्त कर रहे हो, न तो कालान्तरमें पैदा होनेवाले फलको प्राप्त कर रहे हो, न तो कालान्तरमें होनेवाली कर्मकी संपूर्तिको कर रहे हो। तुम क्या कर रहे हो? अपने सत्संकल्पसे, अपनी सत्शक्तिसे वर्तमान समयको भर रहे हो।'

समयको पूरा करना यह मनुष्यके प्रयत्नका फल है। कर्मको पूरा करना या फलको पूरा करना, यह मनुष्यके प्रयत्नका फल नहीं है। हम इस समय इस जगह बैठे हुए अपनी वाणीसे सोच-विचार करके जो कुछ बोल रहे हैं, बोलना रूप कर्म कर रहे हैं, वह अपनी जानमें ठीक कर रहे हैं। अब हमारा व्याख्यान कभी पूरा हो जायगा, यह हमारे हाथमें नहीं है। और इसका जो फल है, वह श्रोताको वक्ताको मिलेगा। किस रूपमें मिलेगा यह हमारा काम नहीं है। हमारा काम यह है कि इस समय इस जगह बैठ करके यह हम जो बोल रहे हैं, यह अपनी जानमें ठीक-ठीक करते हुए चल रहे हैं।

●

: 39 :

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

2.49-53

पाँच श्लोकोंमें 'बुद्धियोग उपनिषद्' है। 'बुद्धियोगोपनिषद्'। पाँचों श्लोकोंमें 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग किया हुआ है। पाँचोंमें—'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।' श्लोक 49वेंमें 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ।' दो बार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग एक श्लोकमें और फिर 'बुद्धियुक्तो जहातीह'।

इसके बाद श्लोक 51में—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। 2.51

श्लोक53 वें में—

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

इन पाँचों मन्त्रोंमें लगातार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग एक विलक्षण बात है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण यह 'बुद्धियोगोपनिषद्' गाते हैं। 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु।' यह 'बुद्धियोग उपनिषद्'का प्रसंग यहाँ कैसे आगया? इसपर जब विचार करोगे—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। 2.48

इसके पहले जो 'कर्मविधानोपनिषद्' है माने कर्म किस प्रकार करना चाहिए, उसमें बताया कि योगमें स्थित होकर कर्म करो। योगमें कैसे स्थित होंगे? इसके लिए दो बात बतायी—'संगं त्यक्त्वा' और 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा।' एक तो फलासक्ति छोड़ दो। फलमें आसक्ति मत रखो कि यह हमको मिले ही और दूसरे सिद्धि और असिद्धिमें भी सम हो जाओ। माने फलकी प्राप्ति अथवा कर्मकी पूर्णता—ये मनुष्यके हाथमें नहीं है। गंगाजीको लानेका प्रयास देखो, कितनी पीढ़ी तक किया गया? एक आदमीके किये वह काम पूरा थोड़े ही हुआ? लेकिन उस वंशमें जो पैदा होते रहे वे उसको करते रहे। तो एक कामको पूरा कर लेना मनुष्यके हाथमें नहीं है और किया उसका फल प्राप्त कर लेना भी मनुष्यके हाथमें नहीं है। कभी पूरा हो भी जाता है, कभी नहीं होता है। कभी फल मिलता है, कभी नहीं भी मिलता है।

कर्म करनेकी सबसे उत्तम पद्धति यह है कि यह हम अनुभव करते रहें कि इस समय हम जो काम करते हैं, वह हमारे इस समयका उत्तम उपयोग है कि नहीं है? अपने समयका सर्वोत्तम, अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सर्वोत्तम उपयोग करते रहो। यह शास्त्रके द्वारा विहित कर्म है, यह हमारे अन्तः-करणकी शुद्धि करनेवाला कर्म है। यह ईश्वरको प्रसन्न करनेवाला कर्म है। यह धर्मार्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थके अनुरूप कर्म है। अपने हिस्सेके उत्तम-से-उत्तम कर्मके द्वारा अपने समयको भरते चलो। हमारा यह समय भर रहा है बढ़िया!

बढ़िया-से-बढ़िया वस्तु हो उसे सन्दूकमें डालते चलो। अब इस समय

क्या होगा? कि इस समय वर्तमान, यही तो कल भूत बन जायगा न? तो कल तुम सोचोगे कि कलका हमारा दिन बहुत बढ़िया निकला तो तुम्हारा भूत जो है, वह पवित्र बन जायगा। अच्छा, भविष्यमें जो कुछ आनेवाला है, वह जब आवेगा तब वर्तमान होकरके आवेगा कि वर्तमान हुए बिना आजायेगा? भविष्यको भी वर्तमानके रास्तेसे ही आना पड़ता है और भूत जितना होता है, वर्तमानसे ही गुजरना पड़ता है। इसलिए वर्तमानको यदि हम बिलकुल पवित्र बना दें, तो हमारे एक-एक कर्म पवित्र हों, शास्त्रोक्त रीतिसे हों और वर्णाश्रमधर्मके अनुसार हों, सन्तोष-स्वाध्याय आदिके रूपमें होवें तो हमारा वर्तमान शुद्ध होता जाता है और वर्तमानको शुद्ध कर लेना भूत और भविष्य दोनोंको शुद्ध कर लेना है। इसलिए कर्म करनेकी सर्वोत्तम प्रणाली यह है कि इस समय जो काम कर रहे हैं, उसको बिलकुल ठीक-ठीक करते चले जायँ। और यह सोचें कि हमारा समय बिलकुल ठीक बीत रहा है।

बहुतसे लोग काम कर लेते हैं तो बादमें पछताते हैं कि—'हाय-हाय! हमने यह काम गलत किया।' अच्छा, यह पछताना सफल है। कब? फिर आगे वैसा काम न करें। लेकिन फिर वही काम करना, फिर वही काम करना, तब फिर तुमने अपनेको जितनी देर पछतानेमें लगाया, अपना जितना समय पछतानेमें व्यतीत किया वह भी व्यर्थ गया। इसीलिए तत्त्ववेत्ता पुरुषके कर्म करनेकी प्रणाली यह होती है—

नासौ तपति किमहं साधु ना करवम् किमहं पापमकरवम्।

तत्त्ववित् जो पुरुष है, उसको कभी पश्चात्ताप नहीं होता। वह कभी पछताता नहीं कि—'हाय-हाय! मैंने इतने समयमें बुरा काम क्यों किया? अच्छा काम क्यों नहीं किया मैंने? क्यों बुरा काम किया?'

अच्छा, पछता रहे हो उसमें तो तुम्हारा समय ठीक बीत रहा है? बोले— इसमें भी भूत ही लगा हुआ है। अच्छा किया कि बुरा किया, भूत तुम्हारे साथ लगा हुआ है। तो अपने पाँवको पीछे मत फिसलने दो। आगे ज्यादा मत बढ़ जाने दो। दोनों गिरनेका मार्ग है। अपना पाँव वर्तमानमें सम्हाल-सम्हाल कर रखते चलो। कभी कोई अच्छा काम हो जाय तो यह मत सोचो कि मैंने बहुत बड़ा काम कर लिया। देखो, दुनियामें इस अच्छे कामकी कितनी ज्यादा जरूरत है? अगर काम तुम्हारा अच्छा है तो वह सबके द्वारा होना चाहिए था, सबके

लिए होना चाहिए था; उससे सबकी भलाई होनी चाहिए थी। परन्तु; जरूरत तो थी दूधके समुद्रकी और तुमने किसीको दो मन, चार मन दूध दे दिया, तो उससे दुनियाका कितना काम बना?

बोले—भाई! अभी तो दूधकी और-और जरूरत थी। तो ठीक है, अपने पास जितना था, उतना तुमने दे करके बहुत बढ़िया काम किया, लेकिन संसारकी आवश्यकताकी दृष्टिसे वह बहुत थोड़ा रहा न? तो अभिमान करनेकी तो कोई जरूरत नहीं है। जितनी सेवा तुम कर सकते थे उतनी की कि नहीं? तो यह देखो, लेकिन मैंने बहुत सेवा कर ली यह ख्याल तो मनमें बिलकुल नहीं आना चाहिए। क्योंकि ऐसी सेवाकी तो दुनियाको बहुत बड़ी जरूरत है और उसमें तुम्हारी सेवा तो एक बूँदके समान है। तो काम करनेकी रीति यह है कि काम करनेके पहले मनमें वासना न हो, और काम करते समय संतोष हो मनमें कि अपनी ओरसे हम अपनी पूरी बुद्धि, पूरी शक्ति लगा रहे हैं और काम पूरा होनेके बाद अभिमान नहीं होवे कि हमने बड़ा बढ़िया काम कर लिया।

काम करनेके पहले वासना न हो, काम करनेके समय आग न जल रही हो, दिलमें थोड़ा रस हो, थोड़ा सन्तोष हो, बढ़िया काम हो रहा है पर बादमें अभिमान न आने पावे। इस ढंगसे मनुष्यको काम करना चाहिए। अब कहते हैं, भाई! योगमें बैठकर काम करो। **योगस्थः कुरु कर्माणि।**

योगपीठ हमारे महात्माओंमें यह जो सिंहासन बनाते हैं, उसको बोलते हैं 'योगपीठ।' योगका पीढ़ा, योगका सिंहासन। दुनियादारीसे ऊपर उठ गये, योगपीठपर बैठकर काम कर रहे हैं। माने, अपने लिए नहीं कर रहे हैं, फलप्राप्तिके लिए नहीं। और वह तो करते ही जा रहे हैं, उसमें अधूरेपनकी क्या बात है? तो योगपीठपर, योग-सिंहासनपर बैठ करके काम करो और बुद्धिको सम रखो। 'समत्वं योग उच्यते।' असलमें योग क्या है? समता ही योग है। समत्वं ही योग है।

अब देखो 'बुद्धियोग उपनिषद्'की यह भूमिका बन गयी, इसमें बीज आगया। समता कैसी होगी? बोले—पाँच वर्षके बच्चेको और तीस वर्षके जवानको बराबर भोजन देना। समता है क्या? अच्छा, दोनोंकी जो पोशाक बनवायी जाय, वह कहो कि बराबर कपड़ेसे बनवायी जाय? इसका नाम

समता है क्या? बोले—भाई, जितनी बड़ी चारपाई बच्चेको दी जाती है उतनी ही बड़ी चारपाई बड़े-बूढ़ेको दी जाय, इसका नाम समता है क्या? मतलब कि समता जो होती है वह वस्तुमें नहीं होती है। स्वस्थ और रोगी दोनोंको बराबर मिठाई खिलायी जाय इसका नाम समता नहीं है। अच्छा, दोनोंसे बराबर मेहनत ली जाय, परिश्रम लिया जाय, यह भी समता नहीं है। अच्छा, दोनोंको बराबर भोग दिया जाय, यह भी समता नहीं है। तो संसारमें समता कहाँ मिलेगी? बोले—भाई! सबको तराजूपर तौलो, सबका वजन बराबर ही होना चाहिए, तब राज्यकी समता हुई। अपने राज्यमें प्रजाका जो वजन है वह कम-ज्यादा नहीं होना चाहिए, सब प्रजाका वजन बराबर-बराबर होवे। इसका नाम समता है? तब तो मोटे लोगोंपर आफत आ जायगी। तो वजनकी बराबरीका नाम समता नहीं है। श्रमकी बराबरीका नाम समता नहीं है, भोगकी बराबरीका नाम समता नहीं है। यह तो कभी होना सम्भव ही नहीं है।

तो फिर समता कहाँ रहेगी? कर्ममें समता रहे, कि भोगमें समता रहे, कि शरीरकी बनावटमें समता रहे? सबको बराबर-बराबर बोलनेका समय दिया जाय? आओ, कर लो समता। चार सौ आदमी बैठें। सब बराबर-बराबर बोलें, और समय कितना? बोले—साठ मिनट। नहीं, पचास मिनट। कैसे समता आवेगी? तो इस तरहकी समता किसीको इष्ट नहीं है। ऐसी समता कोई नहीं चलाता है। तब समता कहाँ होती है?

समता जो है, वह अन्त:करणमें होती है। अच्छा, अन्त:करणमें समता कैसी? सबके संकल्प एक सरीखे हों ऐसी समता, कि सबके मनमें एक ही संकल्प उठे? भगवान् करे, ऐसा नहीं होवे, भला कभी! नहीं तो अपना-अपना काम छोड़ करके एक ही काम सब लोग करने लग जायेंगे। व्यापारी व्यापार नहीं करेगा, सेना देशकी रक्षा नहीं करेगी, और विद्वान् लोग जो हैं वे अपने पाण्डित्यके काममें नहीं लगेंगे। सबके मनमें हो कि हम पढ़ें-ही-पढ़ें। तो बनेगा काम? सबके मनमें हो कि हम बन्दूक चलावेंगे। तो बनेगा काम? सबके मनमें हो कि हम दुकान खोलेंगे। तो बनेगा काम? नहीं भाई! व्यवस्थाको तो ठीक रखना पड़ेगा न!

अच्छा, बोलो शरीरमें ही समता बरत लें। पहले बरतो समता कि हम आँखसे सुनेंगे और कानसे देखेंगे। कानने कहा कि 'अरी आँख! तूने बहुत दिनों तक देखनेका काम किया और मैंने सुननेका। यह तो बड़ा भारी अन्याय

बड़ी भारी विषमता है। अब मैं देखा करूँगा और तू सुना कर।' तो यह समता चलेगी? असलमें समता जो है वह क्रियामें नहीं होती, संकल्पमें भी नहीं होती।

अच्छा, तो सबके विचारमें समता होवे। विचार भी सबके सम कैसे होवें? पूर्वजन्मके कर्म हैं, माताकी, नाना-नानीकी पीढ़ी है, नानाका वंश जुदा और नानीका वंश जुदा। नानी दूसरे वंशसे आयी हैं और नाना दूसरे वंशसे आये हैं। फिर उनके माँ-बापका वंश जुदा, बापकी माँका वंश जुदा। बाबा जुदा और फिर उनका वंश जुदा, उनके बापका वंश जुदा। कैसे सम्बन्ध जुड़ेगा? तो सबके विचार एक सरीखे ही उठें चित्तमें, ऐसा नहीं होता है। तो समता कहाँ होती है?

असलमें समता बुद्धिमें आती है। वह कैसे आती है कि सब लोग अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार, अवस्थाके अनुसार, वयके अनुसार शक्तिके अनुसार पात्रताके अनुसार काम भी करते हैं, भोग भी करते हैं, संकल्प भी करते हैं, विचार भी करते हैं, पर फिर इन सबको घूम फिर करके एक जगह पहुँचना है। सब चल रहे हैं, पर सब अंततोगत्वा पहुँचेंगे एक ही जगह। तो बुद्धिमें जो समता है, चाहे मानें चाहे न माने। साधक जो है वह अपनी बुद्धिमें समता ले आवेगा।

सबके मनमें एक ही संकल्प होवे, यह उसका काम नहीं है। सब एक ही काम करें, यह भी उसके वशमें नहीं है। सब एक ही भोग करें यह उसके वशमें नहीं है। परन्तु सबके भीतर जो तात्त्विक एकता है वह बुद्धिमें लानी पड़ेगी। सबके शरीरमें पञ्चभूत होते हैं सबके शरीरमें चेष्टा होती है, सबके मनमें संकल्प ही तो उठते हैं, भले भिन्न-भिन्न विषयके होवें। सब लोग विचार ही तो करते हैं, भले वे किसी ढंगके होवें। सबके शरीरमें ईश्वर बैठा हुआ है, सबके शरीरमें प्रकृतिके विकार हैं। कहीं-न-कहीं तत्त्वका आश्रय लेकर अपनी बुद्धिमें समता बैठानी पड़ेगी। समत्व जो है, वह बुद्धिमें रहेगा। समत्व बाह्य वस्तुमें कभी नहीं रहेगा। इसलिए अपनी बुद्धिमें समता आनी चाहिए। 'समत्वं योग उच्यते।' जो पहले—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

यह योगबुद्धिका वहाँ जो उपक्रम किया, उस उपक्रमका यहाँ एक प्रकारसे उपसंहार कर दिया—

'समत्वं योग उच्यते।'

हमारी बुद्धिमें समता आजाय, इसका नाम योग है। बोले—'भाई, साँपमें और गायमें समता करनी हो तो कैसे करोगे?' बोले—'साँपका स्वभाव है जहर उगलना और गायका स्वभाव है दुग्ध क्षरण करना। दोनोंमें विषमता!' विषमता यह है कि वह विष और यह अमृत है। समत्व क्या? समत्व यह है कि दोनों अपने स्वभावके अनुरूप ही विष और दूधका क्षरण कर रहे हैं। तो अपने-अपने स्वभावके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं।

अब स्त्री और पुरुषमें समता क्या? बोले—'स्त्रीके शरीरपर भी मूँछ उग आवे! तो स्त्री-पुरुष दोनों समान? अथवा पुरुषकी मूँछ ही झड़ जाय तो स्त्री-पुरुष दोनों समान? नहीं भाई, स्त्री शरीरकी प्रकृति है कि उसमें मूँछ नहीं उगे और पुरुष शरीरकी प्रकृति है कि उसमें मूँछ उगे। तो प्रकृति तो दोनोंमें समान ही है न? अपना काम प्रकृति दोनोंके शरीरमें कर रही है। तो बुद्धिसे समता आती है, प्रकृतिसे समता नहीं आती है। बुद्धिमें समता जानी जाती है।

'गीता'में चार प्रकारसे इस समबुद्धिकी प्राप्ति मानी गयी है। एक तो अनासक्त निष्कर्मसे। फलासक्ति छोड़ करके, कर्मासक्ति छोड़ करके अपने कर्त्तव्यकर्मको ठीक-ठीक करते चले जाओ। तो बुद्धिमें समता आवेगी, क्योंकि तुम यह देखने लग जाओगे कि मैं अब अपना काम ठीक कर रहा हूँ कि नहीं?

दूसरी प्रक्रिया है ईश्वरार्पणकी—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.27-28

मदर्पण कर दो सम्पूर्ण प्रपञ्चको, प्राकृत प्रपञ्चको, विकृत प्रपञ्चको जो कर्तृमूलक प्रपञ्च हैं, जो भोक्तृमूलक प्रपञ्च हैं, सबको ईश्वरार्पण कर दो और—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। 9.28

शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मबन्धन सब नीचेके स्तरमें रह जायेंगे, तुम्हें बुद्धियोगकी प्राप्ति हो जायगी।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव॥ 18.57

बुद्धियोगका आश्रय ले करके अपने मनको भगवान्‌में लगाओ। असलमें बुद्धियोग भी भगवान् ही देते हैं—

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10.9-10

आत्मचिन्तनसे बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है। 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करके बुद्धियोगकी प्राप्ति और तत् पदार्थका चिन्तन करके बुद्धियोगकी प्राप्ति। तो—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10.10
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ 18.57

यह 'तत्' पदार्थके चिन्तनसे बुद्धियोगकी प्राप्ति है और यह जो प्रसंग है, कर्मयोगके द्वारा कर्मयोगके द्वारा बुद्धियोगकी प्राप्तिका प्रसंग अभी चल रहा है। चौथी प्रक्रिया है ऐक्य—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ 18.51-52

यह क्या? बादमें—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

वह ऐक्यबोध। ऐक्यबोधरूप बुद्धियोग, भगवत्समर्पणरूप बुद्धियोग और आत्मचिंतन रूप बुद्धियोग—

अमानित्वं अदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। 13.7

यह जो है, यहाँ '**तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्**'। 13.11

यहाँ जो ज्ञानयोग है, यह आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग है। एक बात ध्यान रखने लायक है कि ये जो पृथिवी-जल-अग्नि-वायु आकाशादि रूप जो बाहर वस्तुएँ दिख रही हैं, इन सबका उपादानकारण क्या है? ये तो अलग-अलग रहनेवाले कार्य हैं। तो जो कार्य-कारणकी पद्धतिसे विचार करते हैं, उनके चित्तमें इस जगत्के कारण जो उपहित चेतन है 'तत्' पदार्थ, उसका चिंतन होता है। और पृथिव्यादि जो पृथक्-पृथक् कार्य है, इनके उपादानकारण रूपसे, उपादानकारण मायासे, अविद्यासे, उपहित चेतनका जो चिन्तन नहीं करते हैं, उनके लिए अद्वयतत्त्वका बोध थोड़ा कठिन है।

यह जो बताया जाता है कि ब्रह्मसे सृष्टि हुई, ब्रह्ममें स्थिति है, ब्रह्ममें प्रलय होता है। उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म अद्वितीय है और मैं देहका द्रष्टा हूँ, मैं आँख-कान-नाक, ये हस्तपादादि आकार, इनके नामरूपमें परिणत जो पञ्चभूत हैं, उनका मैं द्रष्टा हूँ, मैं अन्तःकरणका द्रष्टा हूँ, मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा हूँ—यह जो पद्धति है, यह आत्मचिन्तनकी पद्धति है।

अब देखना यह है कि इस आत्मचिन्तनकी पद्धतिमें पृथिव्यादिरूप जो पञ्चभूत हैं, इनकी उपादानता तुम अपने आपमें चिन्तन कर सकते हो कि नहीं? यही एक प्रश्न है। तो उपादानताका चिन्तन आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे करना बहुत कठिन है।

जो दृष्टिसृष्टिकी प्रक्रियाको ठीक-ठीक समझ जायगा, वह तो आत्मामें भी उपादानताका, किसी प्रकार कल्पित उपादानताकी व्यवस्था कर सकेगा। नहीं तो जिसकी दृष्टिमें जगत् सत्य है, उसको यदि जगत्के उपादानका चिन्तन करना हो, तो सम्पूर्ण भूतोंके उपादानरूपसे जो मूल प्रकृति है, जो महामाया है, उस महामायासे उपहित चैतन्य 'तत्' पदार्थको स्वीकार करना पड़ता है।

आजकलके बहुत-से लोग ऐसे हैं जो केवल 'अहं-अहं-अहं' का तो चिन्तन करते हैं, परन्तु 'तत्-तत्-तत्'का चिन्तन नहीं करते हैं। 'त्वं-त्वं-त्वं'का तो चिन्तन करते हैं, 'तत्-तत्-तत्'का चिन्तन नहीं करते हैं। जो अकेले 'तत्'का चिन्तन करते हैं, वे भी भावनात्मक भक्त हैं और जो केवल 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करते हैं, ये भावनात्मक वेदान्ती हैं। वे केवल भावना ही बनाते हैं कि 'मैं ऐसा हूँ-मैं ऐसा हूँ-मैं ऐसा हूँ।' इसलिए शास्त्रकी प्रक्रिया यह है कि

जो वस्तु 'त्वं' पदार्थके चिन्तनसे उपलब्ध होती है, 'तत्' पदार्थके चिन्तनके द्वारा भी वही वस्तु उपलब्ध होती है। और असलमें उपाधिको यदि हटा दें तो दोनोंमें एक वस्तु है। तो समत्वकी चार प्रणाली हो गयी। एक तो व्यक्तिगत स्वार्थ और भोगकी लिप्सा छोड़ करके निष्काम और अनासक्त भावसे कर्म करते जाना। यह स्थूल साधकमें समता हुई। और सबमें ईश्वरका चिन्तन करके, उपासनाके द्वारा सबमें ईश्वरका चिन्तन करके ईश्वरभावमें समता दर्शन करना, यह आधिदैविक समता हुई। और, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा मैं और अन्ततोगत्वा सर्वोपादानता मुझमें ही परोक्षित है, इस प्रकार 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करके सब जो है यह दृष्टिमात्र है, इस प्रकारका जो चिन्तन है, वह आध्यात्मिक समता है। लेकिन इन तीनोंमें से कोई भी पूर्ण समता नहीं है। तीनोंकी समता एकांगी है।

एक समता देहसे होनेवाले कर्मको निष्काम और अनासक्त करके पवित्र बनाती है और दूसरी जो है, जगत्के उपादानकारणके रूपमें जो चेतन है, उसका चिन्तन करती है। और तीसरी द्रष्टारूपमें आत्मचैतन्य है, प्रत्यक्चैतन्य है, उसके चिन्तनसे सबको बनाती है। असली समता कब होती है?

जब ब्रह्मचैतन्य और आत्मचैतन्य दोनोंकी एकताका बोध होकरके और स्वरूपसे भिन्न, अपने अद्वितीय स्वरूपसे भिन्न-विलक्षण जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब बाधित हो जाता है। जब ऐक्यबोधके द्वारा प्रपञ्चका बोध हो जाता है,तब समत्वका उदय होता है। असली समत्वका तो बोध-ही-बोध होता है। उसमें भावनाकी पहुँच नहीं है। वह तो बोधके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होनेपर प्राप्त होती है।

और उसके पहले आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाली समता,परमात्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाली समता और निष्कामतासे प्राप्त होनेवाली समता—ये तीन प्रकारकी समता जो है, वह लौकिक समता होती है। तो लौकिक नेताओंमें जो समता आती है, अगर कोई नेता बहुत बड़ा महात्मा हो जाय तो उसके अन्दर समता किसकी आवेगी? उसके अन्दर समता आवेगी अनासक्तिकी और निष्कामताकी। वह अनासक्तिवाली और निष्कामतावली समता उसके अन्दर आवेगी अगर वह लौकिक नेता होगा, तो उसका उत्थान यहाँतक हो सकता है। यदि योगाभ्यासी होवे तो आत्मचिन्तनसे जो समता होती है, सम्पूर्ण वृत्तियोंका

निरोध करके, द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान हो जानेसे सम्पूर्ण प्रकृति और प्राकृतकी जो समता है वह योगीमें आवेगी।

भक्तमें समता कैसी आवेगी?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ 6.30

सर्वत्र ईश्वरके चिन्तनसे यह समता आवेगी। और —

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ 6.29

आत्मचिन्तनसे यह समता आवेगी।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ 6.31

ऐक्यबोधसे यह समता आवेगी। तो यह समत्वकी चार प्रणाली है।

अब जो बुद्धियोग है, बुद्धियोगसे जो समता आती है—'समत्वं योग उच्यते'—यह योग कैसा है? यह समतारूप योग है। अब देखो—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 5.18-19

अथवा—**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥** 6.9

अब यह किस प्रकारकी समता तुम्हारे अन्दर आती है? अपनी बुद्धिका विवेक करो। अपनी बुद्धिको ढूँढ़ो। भक्तमें सर्व ईश्वर है, इस प्रकारकी समता। योगीमें सर्व प्रकृति और प्राकृत है और मैं द्रष्टा असंग हूँ, इस प्रकारकी समदृष्टि। और कर्मोंमें फल और कर्ममें आसक्ति न होनेके कारण निष्काम अनासक्त होकरके सबकी भलाईके लिए समता।

तो धर्मका जो नेता है माने धर्मात्माकी समता जुदा, उपासककी समता जुदा, योगीकी समता युदा और ऐक्यका जो बोध प्राप्त करके—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ 4.37

समताका जो निमित्त है, सर्व कर्म। कर्म ही विषमताका निमित्त है। सो ज्ञानकी आगमें जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसके लिए वह

राखरूप विषमता अध्यस्त है। सब-का-सब अध्यस्त है और अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है। ऐसी विषमता! वह—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ 4.24

इस प्रकारकी समता प्राप्त होती है। अब इसका विवेक करनेके लिए यहाँ पहले अनासक्तिसे और निष्कामकर्मसे जो समता आती है, वह बताते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ 2.49

हे धनञ्जय! अर्जुनके जो बारह नाम हैं, उनमें एक नाम 'धनञ्जय' अर्जुनः फाल्गुनः कृष्णः किरीटी। उसके बहुत नाम हैं। तो उनमें-से एक नाम है—'धनञ्जय' तो भक्त लोग जो होते हैं, वे भगवान्‌का नाम, बारम्बार भगवान्‌का नाम लेते हैं। 'विष्णुसहस्रनाम'का पाठ करो, 'गोपालसहस्रनाम'का पाठ करो तो नये-नये नाम, नये-नये नाम आते हैं न! और अपने प्यारेका तो नया-नया नाम लेनेमें खुशी भी होती है।

हमारे एक भक्तमण्डल है वृन्दावनमें, वे लोग सब मिलकर बैठते हैं। बोले कि—'अच्छा भाई, अपने स्वामीजीका कोई नाम निकालो। देखें, आज कौन बढ़िया नाम निकालता है?' अब सब पचीस आदमी बैठे हैं? सब सोचने लग गये कि अच्छा, कोई बढ़िया नाम सोच करके आज निकालो इनका। सोचते रहे, उनके गुणके बारेमें सोचते रहे, उनके कामके बारेमें सोचते रहे, शकलके बारेमें सोचते रहे। फिर जब बताना शुरू हुआ तो सबके मनमें अलग-अलग आते हैं। कभी-कभी दो-तीनके मनमें एक ही बात आती है। नहीं तो सबके मनमें अलग-अलग नाम आते हैं। तो नये-नये नाम सोचते हैं। ऐसा होता है, कभी बैठ जाते हैं तो सोचते हैं कि भाई, आओ, हम उनका नाम अपने मनमें लेते हैं? बोले—उसमें 'क'

वह कैसा नाम है?

'क' अक्षर जरूर है। अरे भाई, यह बताओ कि पहले है कि बीचमें है कि अन्तमें है? कितने अक्षरका नाम है? बोले—यह सब नहीं बताते उसमें एक 'क' जरूर है। अच्छा, अब बूझो। कौन हमारे मनकी बात बूझ जाता है? अब लोग ऐसा नाम अपने मनमें बैठ-बैठकर सोचने लग गये। तो किसीने कहा कि

'कृष्ण' होगा, क्योंकि 'कृष्ण' में 'क' है न शुरूमें? बड़ी सीधी बात हुई। दूसरेने बताया—'मुकुन्द' होगा। क्योंकि 'मुकुन्द'के बीचमें 'क' है न? अब इसी तरहसे दो-दो चार-चार नाम सबने सोचा। तो जिससे प्रेम होता है, उसके नाम भी अनेकों मनमें आते हैं।

मैं गोरखपुरमें था, तो वहाँ यह हुआ कि पाँच-सात जने बैठ गये। और कहें, उनका अष्टोत्तरशत नाम बना लिया जाय। अब उनके बारेमें हम सोचने लगे। हम लोगोंने घण्टे भरमें 108 नाम निकाल लिये थे। कई लोग लग गये और सोचने लगे कि यह-यह-यह। सब एक-एक सौ आठ नाम निकालो। उनमें-से जो सबसे बढ़िया निकले उनमें-से 108 नाम बना लिया।

तो जिसके रूपसे प्रेम होता है, उसके नामसे भी प्रेम होता है और आप जानते हैं कि अर्जुनके प्यारे तो कृष्ण हैं ही, कृष्णके प्यारे भी अर्जुन हैं।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'तुम मेरे इष्ट हो।' श्रीकृष्ण कहते हैं—'तुम मेरे इष्ट हो', माने मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुम मेरे प्यारे हो।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।

और **भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥**

तुम मेरे भक्त हो और तुम मेरे सखा हो। तो अर्जुनके नये नाम लेनेमें और एक ही नाम भी बार-बार लेनेमें श्रीकृष्णको आनन्द आता है।

सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

बुद्धियोगाद्धनञ्जय।

बड़े प्यारे धनञ्जय! देखो, धनञ्जय, यह जो कर्म है, यह बुद्धियोगसे बहुत नीचे रहते हैं। 'दूरेण ह्यवरं'—दूसरे नीचे हैं। दूरसे नीचेका मतलब? जैसे तख्तेपर बैठे हैं। तख्तेपर बैठे तो एक दाहिने बैठा तो ऊपर हो गया और एक बाँये बैठ गया तो नीचे हो गया। ऐसे दण्डी स्वामियोंमें तो बहुत चलता है। जिसका चातुर्मास्य ज्यादा हो, सो दाहिने बैठे। इलायची भी उनको पहले दो और कहीं वह पिछड़ गये तो नाराज हो जायेंगे कि 'हमारा अपमान कर दिया।' तो चातुर्मास्य। जिसका चातुर्मास्य ज्यादा सो बड़ा। उम्रका बड़प्पन शूद्रोंमें मानना चाहिए, धनका बड़प्पन वैश्योंमें, शक्तिका बड़प्पन क्षत्रियोंमें और ज्ञानका बड़प्पन ब्राह्मणमें। यह ब्राह्मणधर्म है। जिसके पास ज्ञान ज्यादा सो बड़ा। उम्र

बड़ी होनेसे कोई बड़ा नहीं, ज्ञानसे जो बड़ा सो बड़ा। इसी तरहसे और भी इनके विधान हैं।

ब्रह्मचारी सेवासे बड़ा होता है, गृहस्थ जो है वह कर्मसे बड़ा होता है, वानप्रस्थ जो है, वह तपस्यासे बड़ा होता है और संन्यासी जो है, वह त्यागसे बड़ा होता है। यह इसकी पद्धति है। उसको समझे बिना ठीक काम नहीं चलता।

अब बड़प्पनका क्या अर्थ? कि भाई, एक ही तख्तेपर बैठे हैं। ये बायें बैठे और ये जरा कालीनपर नहीं बैठे हैं, चदरेपर बैठ गये। तो बोले कि ये छोटे हैं और ये आसमानपर बैठे हैं, ये बड़े हैं। कोई आदमी आवे बाहरसे, तो यह देख करके वह सोचेगा कि जो आसनपर बैठा है, वह बड़ा और जो जरा नीचे बैठे हैं सो छोटे।

बोले—नहीं, यह 'दूरेण ह्यवरं' नहीं। ये अवर तो हैं, श्रेष्ठ तो नहीं हैं, वरणीय तो नहीं हैं, अवरं। वरणीय तो नहीं हैं। स्वयंवरमें माला किसको पहनायी जाय? बोले—भाई, जो वर हो उसको।

वरेण्यं भर्गो धीमहि।

वही 'वरेण्य'में जो 'वर' है न, बोले—ये? 'अवरं' ये तो छोटे हैं। एक बार एकने छोटेको माला पहनायी। बहुत मजा आया। हम लोग वृन्दावनमें थे। एक बी. ए. में पढ़नेवाला बालक आया। उसने हमारे पास रहनेवाले एक सज्जन थे, उनको उसने गुरु बनाया। 'उड़ियाबाबाजी महाराज' भी थे, 'हरिबाबाजी महाराज' भी थे, 'आनन्दमयी माँ' उन दिनों वहाँ रह रही थीं। बादमें दोनोंकी खटपट हो गयी, गुरु-चेलेकी।

'गुरुजीने यह किया' चेलाजीने कहा।

'चेलाजीने यह किया।' अब दोनोंमें लड़ाई हो गयी। तो पञ्चायत आयी हमारे पास, तो मैंने उससे पूछा कि—'तूने इसको गुरु बनाया क्यों? 'उड़ियाबाबाजी' यहाँ हैं। 'हरिबाबाजी' यहाँ हैं, 'आनन्दमयी माँ' यहाँ हैं, अरे पाँचवें सवारमें मैं भी हूँ, मुझे ही गुरु बना देता। इनका ज्ञान भी उत्तम नहीं, कोई तपस्या उत्तम नहीं, त्याग उत्तम नहीं और लड़ाई-झगड़ा तुम्हारा हो गया, यह तो तुम देख ही रहे हो। तो उनको गुरु क्यों बनाया?

उसने कहा—'स्वामीजी, मैंने यह सोचा कि ये लोग तो बड़ी उम्रके हैं,

जल्दी मर जायेंगे। ये छोटी उम्रके हैं, तो बहुत दिन तक बने रहेंगे। हमारा-इनका मेल बैठता रहेगा।'

मैंने कहा—'अब बैठाओ मेल।' अब दोनों अलग हो गये। अब न वह गुरु, न वह चेला।

अब वह दूसरे गुरुके पास चला गया।

'अवर'का अर्थ यह है कि जो वरणीय नहीं है वह अवर है। वरण करने योग्य नहीं है। 'गायत्री'में जो 'वरेण्य' है सो नहीं है। क्योंकि यह खुदरा माल है। 'खुदरा माल' जिसको बोलते हैं न? यह खुदरा माल है=यह ज्यादा टिकाऊ नहीं है। तो 'अवर कर्म'। कर्म जो है वह बुद्धियोगसे नीचे है। यह बात तो 'अवर' कहनेसे निकली।

लेकिन 'दूरेण अवरं'का अर्थ यह हुआ कि—बोले—'हम तख्तेपर बैठे, तुम नीचे बैठे धरतीपर। तो तुम 'अवर' हुए। कि नहीं, यह भी तो हम पास-ही-पास हैं। 'दूरेण अवरं'=बहुत दूर। एक पहाड़के शिखरपर तो एक खड्डेमें। ऐसा! तो बुद्धियोगकी अपेक्षा जो सकाम कर्म है, आसक्तियुक्त कर्म है, वह अत्यन्त निम्नकोटिका है। बुद्धियोग अत्यन्त ऊँचा और सकाम कर्म बहुत नीचा।

यह ऊँचा-नीचा क्या सातवाँ आसमान और पाताल? ऐसा? ऐसा नहीं। आपको बता देते हैं, बुद्धिमें और कर्ममें क्या फर्क होता है। देखो, कर्म होता है शरीरसे और कर्मेन्द्रियोंसे। अगर इसका लक्ष्य कोई बाहरका पदार्थ पाना है, जैसे समझो-सोना पाना है या किसी व्यक्तिको पाना है या मकान पाना है या राज्य पाना है, तो कर्मका लक्ष्य हुआ बाहर। तो कर्म तुमको कहाँ लिये जा रहा है? एक स्थूल पदार्थकी ओर लिये जा रहा है। वह हड्डी-चाम-मांससे बना हुआ जो शरीर है, इस शरीरके द्वारा कर्म सम्पन्न होता है और बाह्य पदार्थके लिए होता है। तो यह सकाम हुआ। इन्द्रलोकके लिए, स्वर्गलोकके लिए हुआ, ब्रह्मलोकके लिए हुआ अथवा राज्यके लिए हुआ अथवा भोगके लिए हुआ—बाह्य चीजके लिए हुआ। और बुद्धि कहाँ रहती है?

समझो, बुद्धि भीतर रहती है कि बाहर रहती है? यह बुद्धि भीतर रहती है और कर्म बाहर रहता है। तो कर्मेन्द्रियोंसे तो अन्तरंग ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, लेकिन कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ जो हैं, वे ज्ञानवाली हैं। देखो, यह अन्तर है

कि नहीं? 'श्रीमद्भागवत'में जहाँ बताया है—'पुरञ्जनोपाख्यान' है वहाँ बताया है कि कर्मेन्द्रियाँ जो होती हैं वे अन्धी होती हैं। हाथको दीखता नहीं, सुनायी नहीं पड़ता, स्वाद नहीं आता। हाथ मुँहमें ग्रास तो डालता है, लेकिन मिर्च ज्यादा है कि कम है, यह बता सकता है हाथ? हाथ नहीं बता सकता कि मिर्च ज्यादा है कि कम है?

आँख अगर न हो तो यह लाल है कि पीला है, हाथ बता सकता है? नहीं बता सकता। तो हाथ-पाँव भी अन्धे होते हैं। आँख-कान-नाक इनके पास आँख होती है 'अंधपंगुसंयोगन्याय' है। आँख-कान तो कुछ कर नहीं सकते। आँखसे लालको पीला बना दो, पीलेको काला बना दो, नहीं बना सकते। कानसे कठोरको मृदु बना दो और मृदुको कठोर बना दो। तो नहीं बना सकते।

तो ज्ञानेन्द्रियाँ जो हैं, वे तो करनेमें असमर्थ और पंगु हैं और ये जो कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये अंध हैं और यह हमारे शरीरका व्यवहार कैसे चल रहा है? 'अंधपंगुसंयोगन्याय'से। 'अंधपंगुसंयोगन्याय' क्या हुआ?

एक अन्धा आदमी कहीं जाना चाहता था। पर दीखता कुछ नहीं था। पाँव तो ठीक थे उसके, चल सकता था पर दीखता नहीं था। कहाँ जाय? एक वहीं लँगड़ा आदमी बैठा हुआ था। वह भी कहीं जाना चाहता था, लेकिन आँख तो उसके थीं। देख तो सकता था। किधर जाना चाहिए, लेकिन पाँव नहीं था तो चले कैसे? दोनोंने आपसमें सलाह की। अन्धेने लँगड़ेको अपने कन्धेपर बैठा लिया, अब लँगड़ा जो था, वह बैठ गया अंधेके कन्धेपर और बताता जाय कि 'इधर चलो, इधर चलो।' और जो अंधा था, वह पाँवसे उधरको चलता जाय। अंध और पंगु दोनों मिल गये तो दोनोंका रास्ता तय हो गया और दोनों अपने लक्ष्यपर पहुँच गये।

यह जो हमारा मनुष्य-शरीर है, इसमें कर्मेन्द्रियाँ हैं अन्धी और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं पंगु। वह कुछ कर नहीं सकतीं बिचारी। बदल नहीं सकतीं, जैसी चीज है वैसी दिखायेंगी और ये जो अंधे हैं, ये देख नहीं सकते। दोनोंके मेलसे-अंधपंगुन्यायसे यह हमारा शारीरिक जीवन चल रहा है।

अब शुद्धि जो है, बुद्धि न हो तो आँख क्या काम करेगी? कान क्या करेंगे? पागल लोग क्या देखते नहीं हैं? पागल लोग क्या सुनते नहीं हैं? पागल

लोग क्या चलते नहीं हैं ? अंधपंगुसंयोग भी होवे और भीतर बुद्धिमहारानी बैठी न हो तो काम बिगड़ जायगा। तो बुद्धियोग जो है वह कर्मेन्द्रियोंसे भी अन्तरंग है और ज्ञानेन्द्रियोंसे जो भोग होता है, भोगसे भी अन्तरंग है।

किसी वस्तुको देखकर खुश होते हैं और मनमें जो वासनाएँ होती हैं, उनकी छँटाई भी बुद्धि करती है। क्या काम करना, क्या काम नहीं करना ? क्या देखना, क्या नहीं देखना ? क्या संकल्प पूरा करना, क्या नहीं करना ? यह हृदयमें जजके रूपमें, निर्णायकके रूपमें बैठी हुई बुद्धि महारानी हैं। न्यायकर्त्री। तो इनका जो भोग है, अन्तरंग है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ और वासना ये सब बहिर्मुखी-बाहर ले जानेवाले हैं। कर्म होता है स्थूलमें और बुद्धि होती है सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतरमें। वह तो आत्मा और प्रपञ्चके बीचमें बैठ करके चाहे दुनियाको दिखावे, चाहे ईश्वरको दिखावे। इसलिए केवल जो कर्म है, यह बुद्धियोगकी अपेक्षा बहुत नीचे है।

: 40 :

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

2.49-53

युद्धभूमि—'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' 1.20

दोनों ओरसे अब शस्त्र चलाया जा रहा है। अर्जुनने अपनेको सारथिपर नहीं छोड़ा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। 1.21

आज्ञा दी—'दोनों सेनाके बीचमें मेरा रथ ले चलो।'

अब वहाँ जो शोक हुआ, मोह हुआ, उसके प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्णने एक सुरीली तान छेड़ दी। अर्जुन रो रहा और श्रीकृष्ण हँस रहे—

प्रहसन्निव भारत। 2.10

शोकसंविग्न मानस (1.47) अर्जुन थर-थर काँप रहा। उसके हृदयमें शोक भर रहा, और श्रीकृष्ण गा रहे—'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' बोलते हैं न? युद्धभूमिमें यह संगीत छेड़ दिया श्रीकृष्णने।

भाई! गानेकी जगह कहीं युद्धभूमि होती है? जिसका स्वभाव होता है गानेका, वह सब जगह गाता है। श्रीकृष्णका तो बचपनसे ही गानेका स्वभाव हो गया न? व्रजभूमिमें बाँसुरी बजावे तो और युद्धभूमिमें बाँसुरी बजावे तो। बच्चे थे जब रसिया गाते थे और जब बड़े हुए तब उपनिषद् गाने लग गये। परन्तु गाना तो जारी रहा।

भगवद्गीतासु उपनिषत्सु।

अब उसमें यह 'बुद्धियोगोपनिषद्' भगवान् गा रहे हैं। उसमें कल आपको सुनाया—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् धनञ्जय।

धनञ्जय! यह जो कर्म है, यह तो बुद्धियोगसे बहुत दूर, बहुत दूर निचली श्रेणीका, नीचे दर्जेकी चीज है। बुद्धियोग बहुत ऊपर और ये सकाम कर्म बहुत निम्न कोटिका। तो दूरी कैसी? फलमें तो देरी और कर्ममें दूरी। फलमें तो देर है देर—वह तो कालसे व्यवहित है और कर्ममें दूरी है माने देशसे व्यवहित है।

आपके ध्यानमें बात बैठ गयी होगी पहली। बुद्धि अन्तर्देशमें रहती है और कर्म बहिर्देशमें रहता है। हाथका हिलाना एक बाहरी चीज है और समझ-बूझ करके हिलाना कि ऐसे हाथ हिलानेका क्या असर पड़ेगा सामनेवालेपर? यह दूसरी चीज हुई।

फल अन्यगामी है कि स्वगामी है? आप देखो, कर्म जो है, उसका आश्रय द्रव्य है। स्थूल द्रव्य—**गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्।**

द्रव्य किसको कहते हैं? जिसमें कोई गुण होवे, जिसमें कोई क्रिया होवे। जैसे पृथिवी है, तो उसमें गन्ध गुण है और क्रिया-प्रतिक्रिया उसमें होती रहती है। तो पृथिवी एक द्रव्य है, एक वस्तु है। अब यदि उसी दृष्टिसे देखें, तो बुद्धि कहाँ है?

बुद्धिका आश्रयभूत द्रव्य आत्मा है। यह नैयायिकोंकी बात है। बुद्धि आत्माका गुण है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। गन्ध जो है, पृथिवीका गुण है, तो कर्म जो है वह तो स्थूल द्रव्यके आश्रित रहता है। किसी चीजको उठाना, हड्डी-मांस-चामका हाथ न होवे तो इस लोहेके टुकड़ेको हम कैसे उठा सकते हैं? कैसे रख सकते हैं? तो कर्म तो रहता है स्थूल द्रव्यमें। वेदान्तकी रीतिसे समझो।

बुद्धि भूतसूक्ष्मके सात्त्विक अंशमें है तो अब दूरी कैसी हुई? दूरी ऐसी हुई कि बुद्धि भीतर सूक्ष्म प्रदेशमें और कर्म बाह्य प्रदेशमें। परन्तु यह तो दूरी और निकटताका कोई अर्थ नहीं हुआ। अर्थ तो यह होना चाहिए कि परमात्माकी प्राप्तिमें, परमात्माकी उपलब्धिमें कौन-सा, साक्षात्-साधन है और कौन-सा परम्परा-साधन है?

तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्यवृत्तिका उदय कहाँ होगा? बुद्धिमें कि कर्ममें? बुद्धिमें होगा, इसलिए बुद्धि परमात्माके निकट है। क्योंकि उसीमें तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्यवृत्तिका उदय होकरके अविद्याका नाश होगा। इसलिए परमात्माके साक्षात्कारके ऐक्यज्ञान जो है, यह तो साक्षात् साधन है और बुद्धि जो है वह ऐक्यज्ञानके उदयका अधिकरण है।

अब यह कर्म कहाँ है? कर्ममें यदि निष्कामता होवे, तब तो बुद्धिकी शुद्धिमें साधन और कर्ममें यदि सकामता होवे, तब तो वह बुद्धिकी शुद्धिमें भी साधन नहीं। तो एक तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य बुद्धि उसका अधिकरण। बुद्धिमें भी निष्काम और निष्कामतासे भी नीचे सकामता और सकामताके द्वारा प्रेरित हाथ-पाँव आदिका कर्म! यह तो बहुत नीचे चला गया। तो यह दूरी और निकटताका अर्थ साक्षात् साधन होना, परम्परासाधन होना और साधनमें बाधक होना। तो निष्कामकर्म तो साधन है। परन्तु सकाम कर्म जो है, वह किसी अंशमें बाधक है। माने उसनें इतनी बात तो जरूर है कि यदि वह शास्त्रमें विहित है, तो शास्त्रपर श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला है। माने बहिरंग साधनका हेतु है और यदि वह निषिद्ध है, तब तो शास्त्रमें श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला भी नहीं है।

तो सकाम कर्म दो तरहका। एक तो शास्त्रविरुद्ध। तो जो शास्त्रविरुद्ध कर्म है, वह तो हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला भी नहीं है। उसमें न स्वर्ग है

और न स्वर्गपर श्रद्धा है, न परलोकगामी आत्मापर विश्वास है। न शास्त्रपर श्रद्धा है। जो किसी रीतिसे आत्मज्ञानमें उपयोगी नहीं है वह है निषिद्ध कर्म।

अब रहा विहित कर्म। तो विहित कर्म जो है, शास्त्रपर श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला, परलोकपर श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला, आत्माको लोक-परलोकगामी बनानेवाला होनेपर भी यदि सकाम है तो वह अन्तर्मुखताकी ओर ले जानेवाला नहीं है। स्वर्गादि रूप जो बहिर्विद्यमान फल है देशान्तरमें मिलनेवाले, कालान्तरमें मिलनेवाले, विषयके रूपमें मिलनेवाले, उन फलका उत्पादक होनेके कारण वह वस्तुके स्वरूपविचारमें एक प्रकारका प्रतिबन्ध ही है।

अब निष्कामता जब आयी तो मनकी वासना थोड़ी कम हुई। स्वच्छता आयी तो बुद्धिमें रागरहित होकर, निष्पक्ष होकर विचारकी शक्ति आती है निष्कामतासे। आप देखो, जैसे आपकी मोटरमें ड्राइवर होता है तो वह मोटरको चलाता है। तो वह भौतिक सारथि हुआ आपकी मोटरका। सारथि=मोटरका संचालक। यह भौतिक सारथि हुआ और समझो सूर्यदेवता हैं उनका सारथि कौन है? 'अरुण'। विष्णुदेवता हैं, नारायण हैं, उनका सारथि कौन है? गरुड़। अरुण और गरुड़ ये दोनों भाई-भाई हैं।

'अरुण'=राग। आधिदैविक जगत्के देवताकी उपासना करोगे तो अरुण=लाली। अरुणोदय होता है न प्रात:काल! लाली तो उस समय चित्त रागसे उपरक्त होगा, तो देवताकी उपासना होगी। देवताका सारथि कौन है? देवताको हमारे जीवनमें लानेवाला कौन है? बोले-'अरुण'। राग। वह देवताका सारथि है।

अच्छा, नारायणको लानेवाला कौन है? गरुड़। गरुड़=शब्द। *उदीरयन् उदीर्णताम्।* गरुड़के पंखसे सामध्वनि होती है। नारायणकी भक्ति कहाँसे आवेगी? वह शब्दज्ञानके आधारपर आवेगी। जब वेदशास्त्रपुराणका श्रवण करोगे, नारायणकी महिमाका श्रवण करोगे, तब भक्ति आवेगी। गरुड़ जो है वह नारायणको अपने हृदयमें कानके रास्तेसे ले आता है। 'अरुण' जो है, वह मनके रास्तेसे अपने हृदयमें देवताको ले आता है और मोटरवाला जो है वह आपको ऑफिसमें पहुँचाता है। सारथि! तो एक आधिदैविक सारथि हुआ, एक आधिभौतिक सारथि हुआ।

अब जरा आध्यात्मिक सारथि देखो। आध्यात्मिक सारथि=शरीरके भीतर रहनेवाला सारथि। सारथि=ड्राइवर। वह कौन है? बुद्धि।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि। कठ. 1.3.3

उपनिषद्ने साफ-साफ बताया। इस शरीरके भीतर आध्यात्मिक जीवनमें हमारा सारथि कौन है? बुद्धि है। बुद्धि जहाँ जानेकी सलाह देती है वहाँ मनुष्य जाता है। अब आधिभौतिक सारथिका सहारा छोड़कर और आधिदैविक सारथिका सहारा छोड़कर तुम आध्यात्मिक सारथिका सहारा लो। आध्यात्मिक सारथि कौन है? बुद्धि।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि। कठ. 1.3.3

अर्जुनके रथपर तो सारथि बड़ा विलक्षण है। तुम्हारे ड्राइवरसे भी विलक्षण है। ड्राइवरोंको तो बहुत खुश होना चाहिए। क्यों? श्रीकृष्णने अपनेको उनका समान-धर्मा बना दिया। रथी लोग तो अर्जुनकी तरह हैं। सारथि तो श्रीकृष्ण थे। आधिदैविक सारथिकी चर्चा नहीं है। आध्यात्मिक सारथिकी चर्चा है। तो यह आध्यात्मिक सारथि बुद्धि है। यह निष्काम होनेपर भी तुम्हारा काम ठीक-ठीक करेगा। सकाम होगा तो काम बिगाड़ देगा।

काम? आप जानते हैं, काम जब मनुष्यको मोहित करता है, तो वह कहाँ बैठकर मोहित करता है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ 3.40

देहिनम्=रथिनम्। जब मनुष्य लक्ष्यवेधके लिए परमात्माकी प्राप्तिके लिए अपने जीवनमें अग्रसर होता है, तब परमात्माकी ओर बढ़नेसे रोकनेके लिए काम आता है। जब हम रामकी ओर बढ़ते हैं तो काम रुकावट डालनेके लिए आता है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि होइ सकहिं, रबि रजनी इक ठाम॥

इसीलिए श्रीकृष्णने कहा—जरा कामसे छूट लो। तब तुम्हारा साधन ठीक बनेगा। है न यह ध्यानमें?

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। 16.22

ये तमोगुणके दरवाजेमें ले जानेवाले हैं। कौन? काम और क्रोध।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ 16.21

आत्मनाशके मार्गपर ले जानेवाले हैं। कोई शुरू-शुरूका वेदान्ती हो तो कह दे, कहीं आत्मनाश होता है? आत्मनाश क्या है? आत्माका दु:खी होना ही आत्मनाश है। आत्माका जड़ वस्तुसे एक होना ही आत्मनाश है। आत्माको मृत्युका भय होना ही आत्मनाश है। जहाँ मृत्यु है वहाँ सद्भाव कहाँ गया? जहाँ जड़ता है वहाँ चिद्भाव कहाँ गया? जहाँ दु:ख है वहाँ आनन्द-भाव कहाँ गया?

दु:खी होना है, बेवकूफ होना है, मरना है, यही तो आत्मनाश है न? तो इस मृत्यु, अज्ञान और दु:खके चक्करमें न पड़नेवाला कौन? बोले—

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ 16.21

अच्छा, कामनाका भोग तुम चाहते हो तो देह होकर चाहते हो कि विदेह होकर चाहते हो? कामने देह बना दिया न साफ? भोग चाहते हो तो।

शत्रुपर तलवार चलाना चाहते हो तो देह होकर कि विदेह होकर? क्रोधने देह बना दिया। सोना-चाँदी चाहते हो तो लोभ आया, देहके लिए कि विदेहके लिए? तो काम-क्रोध-लोभने क्या किया? तुमको देह बना दिया, जड़ बना दिया, मृत्युग्रस्त बना दिया, दु:खी बना दिया। तो मनुष्यका शत्रु उसके जीवनमें आत्मनाश करनेवाला यदि कोई है तो काम-क्रोध-लोभ ये नरकके द्वार हैं। माने ये जड़तामें फँसानेवाले हैं। नरकमें ले जाकर दु:ख देनेवाले, बेहोश कर देनेवाले और बारम्बार मृत्युका अनुभव करानेवाले हैं। इसलिए ये नरकके द्वार हैं।

अच्छा, और यह कहो कि हम इनका पेट भर दें तभी मुक्ति पावेंगे, तो—

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 3.37

कामनाके पेटमें अगर भगवान्‌को डाल दो, तब तो कामना फट जायगी। अघासुरके पेटमें अगर श्रीकृष्ण घुस जायँ, तब तो कामका सिर फट जायगा और काम मर जायगा और यदि तुम कामके मुखमें श्रीकृष्णको नहीं घुसेड़ते तो यह काम जो है, यह खाकर सबको पचा जायगा।

अच्छा, अब रथी-सारथिके बीचमें यह क्या करता है? एक मनुष्य कहीं दिग्विजय करनेके लिए निकला। जिसके देशपर चढ़ाई करनी थी, उसको मालूम पड़ गया कि रथपर सवार होकर हमारे देशपर चढ़ाई करनेके लिए आरहा है। तो उसने क्या किया? कि अपने आदमी रख दिये, तो उन्होंने घोड़ोंको तो घास

खिलाना शुरू कर दिया, लगामको ढीला कर दिया और सारथिको आजकल जो चलता है न, जानते ही हो आप क्या होता है? ऑफिसोंमें, अफसरोंके पास बहुत दूर-दूरतक पहुँच है उसकी। मिनिस्टरतक पहुँच है। तो, उसका नाम क्या है? उसका नाम है उत्कोच, घूस, रिश्वत। खिलाकर-पिलाकर, पार्टी देकर, ऐसा भी।

बहुत पुरानी बात है। एक नवाब थे यहाँ। सीधे तो जजके साथ मुलाकात नहीं होती थी। परन्तु नवाबके पास वह जिसके ऊपर मुकदमा था वह भी आते थे और जज भी आता था। अरे, वहाँ ऐसी शराब चली, ऐसी शराब चली, ऐसी पार्टी हुई कि नवाबने जजको मिला लिया और जजने जैसा चाहिए था अपराधीको वैसा फैसला दे दिया।

यह सारथि जो है उसको काम मिलाता है। रथीको काम मजबूर कैसे करता है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते। 3.40

सारथिको ले करके कामने घूस दे दिया। सारथि दुश्मनसे मिल गया। अगर अपना ड्राइवर ही डाकूसे मिला हुआ हो और मालिकको इस बातका पता न हो तो उसकी क्या गति होगी? तो जिसकी बुद्धि कामसे मिल गयी—मनने कहा, हमको यह चीज चाहिए। बुद्धिने कहा, इसको पानेके लिए यह कोशिश करनी चाहिए। बोले—भाई, यह तो ईमानदारीकी कोशिश नहीं है तो चलो, बेईमानी ही कर लें। तो कामनाने जहाँ बुद्धिको अपने पक्षमें कर लिया, वहाँ रथीका सत्यानाश हो गया। इसलिए भगवान्‌ने बहुत विलक्षण बात कही है।

अब आप लोग तो जरा देहसे ऊपर रहते हैं। इन्द्रियोंसे ऊपर रहते हैं, मनसे ऊपर रहते हैं, बुद्धिसे ऊपर रहते हैं। आप लोगोंमें तो इसकी सत्ता ही नहीं है। फिर इस कर्मका चर्चा करना तो बिलकुल छोटी ही बात हो जायगी। तो आप लोगोंको यह क्षुद्र चर्चा कहाँ सुनावें? क्योंकि आप लोग तो विदेह हैं। अपने देहको, इन्द्रियोंको, मनको छोड़े हुए हैं। इसमें काम रहे तो क्या? इसमें क्रोध रहे तो क्या? इसमें लोभ रहे तो क्या? उसीका घर बनाकर रखनेमें आपको तो कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि यह तो मिथ्या है, छोड़ा हुआ है। अपना है ही नहीं। छोड़े हुए खंडहरमें भूत भी रहे तो क्या हर्ज?

तो हम आप लोगोंमें जो ऐसे लोग हैं, आप लोगोंमें-से उनके लिए यह

बात नहीं कर रहे हैं। जो अभी परमात्माको पाना चाहते हैं, परमात्माके मार्गमें चलना चाहते हैं, उनके लिए श्रीकृष्णकी यह बात है। जरा ध्यान देना उस श्लोकपर—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ 16.22

'एतैर्विमुक्तः'।'विमुक्त' पदका अर्थ होता है, 'छूटा हुआ।' एक होता है 'विमोक्षमाणः।' माने आगे छूटेगा। और एक होता है 'विमुच्यमाणः'। तीसरा होता है 'विमुक्तः।' भविष्यमें छूटनेकी बात हो तो 'विमोक्षमाणः।' ऐसा हो जायगा। वर्तमानमें छूटना है तो 'विमुच्यमाणः' बोला जायगा। जो पहले ही छोड़ चुका है तो 'विमुक्तः' बोलेंगे।

काम-क्रोध-लोभने हाथ जोड़ दिया कि बाबा, तुम्हारे सामने हमारी नहीं चलती है। तुम अपने रास्तेपर जाओ और तुमको छोड़कर हम अलग हो जाते हैं। ऐसा जो काम-क्रोध-लोभके द्वारा छोड़ा हुआ मनुष्य है, विमुक्त पुरुष है—

विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयः। 16.22

अपने कल्याणके लिए साधनका अनुष्ठान करता है। तब उसको परागतिकी प्राप्ति होती है। माने शमदमादि साधन सम्पन्न होकरके। इसका अर्थ हुआ कि शमदमादि साधनसम्पन्न होकरके आत्मज्ञान प्राप्त करता है।

शान्तः दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितः
श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मनेय आत्मानं पश्येत्।

आत्मदर्शनका मार्ग यह है और विपरीत कौन्सिल कर दिया, नहीं हो सकता—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठो.1.2.23

चाहे जितनी जानकारी होवे,

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
कठो. 1.2.7

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
कठो. 1.2.23

प्रवचन करनेवालेको भी नहीं मिला और सुननेवालेको भी नहीं मिला। किसको मिला? बोले—भाई,

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्यहृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते:॥ कठो. 2.3.14

साधकके जीवनमें जो दोषोंका निवारण है, वह आवश्यक है। आवश्यक नहीं, अनिवार्य है। तो अब सकाम जो कर्म है वह तो बाधक है। सकाममें भी जो निषिद्ध कर्म है, वह तो नरकका हेतु है। जो विहित है वह स्वर्गादिका हेतु है, परन्तु परमार्थज्ञानमें बाधक है। निष्काम जो कर्म है वह कारणका शुद्धिरूप होनेके कारण, शोधक होनेके कारण बहिरंग साधन है। और श्रवणादि जो है, वह पदार्थ-शोधक होनेके कारण अन्तरंग साधन है।

बहिरंग-अन्तरंग साधनमें क्या फर्क है? बन्दूककी नली साफ करनेके लिए जो साधन, वह बहिरंग साधन और निशाना लागनेके लिए जो नेत्र=निशाना लगानेके लिए जो वस्तुपर दृष्टि, किसपर निशाना लगाना है? उसको जो पहचानना है, यह अन्तरंग साधन है। 'तत्' पदार्थ-शोधन और 'त्वं' पदार्थ-शोधन यह अन्तरंग साधन है और बुद्धिशोधन जो है, यह बहिरंग साधन है। चरित्रशोधन जो है, वह परम्परा साधन है।

वेदान्तकी एक बात फिरसे आपको ध्यान दिलाता हूँ। आजकल एक नेतागिरीवाला वेदान्त होता है। वेदान्त दो तरहका—एक नेतागिरीवाला वेदान्त और एक महात्मापनवाला जीवन्मुक्त बनानेवाला वेदान्त। तो जीवन्मुक्त बनानेवाले वेदान्तमें और नेतागिरीवाले वेदान्तमें क्या फर्क है? इसको आप समझो।

मन शुद्ध होनेका फल क्या है? चरित्र शुद्ध होनेका, बुद्धि शुद्ध होनेका फल क्या है? आत्मज्ञान होनेका फल क्या है? आत्मज्ञान, बुद्धिका शोधन, मनकी पवित्रता, एकाग्रता सबका फल है चरित्रशुद्धि और चरित्रशुद्धिका फल है सामाजिक, सामूहिक उत्कर्ष। देखो, एक रास्ता है, इसमें आत्मज्ञान साधन है। बुद्धिकी शुद्धि साधन है, श्रवण-मनन-निदिध्यासन साधन है, शान्ति-दान्ति-उपरति-तितिक्षा आदि साधन हैं और सामाजिक जीवनका जो उत्कर्ष है, वह फल है।

जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मानुभूति करानेवाला—देखो, चरित्रशुद्धि मन-शुद्धिका साधन। मनः शुद्धि बुद्धिशुद्धिका साधन, बुद्धिशुद्धि पदार्थशुद्धिका

साधन, पदार्थशुद्धि ऐक्यबोधका साधन और ऐक्यबोध जो है, वह अविद्या-निवृत्तिका साधन। अपना आत्मा जो है, ब्रह्म है, साक्षात् मोक्ष है, मोक्ष-स्वरूप है।

भाई! ऐसे हो चाहे वैसे हो, इसमें फर्क क्या पड़ा? इसमें फर्क यह पड़ा, कि जैसे एक आदमीने कहा कि 'नारायणका भजन करो तो तुम्हारा बुखार मिट जायगा।' और एक आदमीने कहा-'दवा करके बुखार मिटा दो, शरीर स्वस्थ हो तब नारायणका भजन करो।' तो तुम्हें नारायणकी प्राप्ति होगी, दोनोंमें क्या फर्क है? मालूम पड़ा? एकमें नारायण स्थूल शरीरकी उन्नति, भौतिक उन्नति लक्ष्य है और आधिदैविक-आध्यात्मिक उसका साधन है। यह नेतागिरीका पंथ है।

आध्यात्मिक-आधिदैविक उन्नतिके द्वारा ब्रह्म और आत्माकी एकताका जो ज्ञान है, वह लक्ष्य है। बाकी सब साधन हैं। भाई! परमात्माको प्राप्त कर लो तो क्या हो जायगा? 'तुम्हारा शरीर स्वस्थ रहेगा। परमात्माकी प्राप्तिसे तुम्हारे शरीरमें कभी रोग नहीं होगा'—यह बात भी अच्छी है, भला! गाय पालनेसे, उसका गोबर-मूत्र सूँघनेसे और दूध पीनेसे शरीर भी शुद्ध होता है। परन्तु गायकी सेवासे जो पुण्य होता है, यज्ञमें हविष्यका जो उपयोग होता है और उसके द्वारा जो बुद्धिकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है—भोग करनेके लिए गायका दूध पीना और बुद्धि शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्तिके लिए गायका दूध पीना—इस उद्देश्यमें और लक्ष्यमें बड़ा फर्क है। अपनी स्थितिको समझना चाहिए कि तुम ईश्वरको सांसारिक उन्नतिका साधन बना रहे हो कि इस संसारको ईश्वरकी प्राप्तिका साधन बना रहे हो? यही तो भेद है।

तुम भौतिकवादी कि अध्यात्मवादी हो? ईश्वरवादी हो? यहीं तो तुम्हारी पहचान होगी। तो भाई! महात्माओंका पंथ संसारियोंके पंथसे थोड़ा निराला होता है। उसकी स्थिति, उसकी गति, उसकी मति परमात्माकी ओर चलती है। तुलसीका पत्ता खाते हैं, काहेके लिए? बोले—मलेरिया नहीं होगा, इसके लिए। तो कुनैन ही खा लो न! इंजेक्शन ही लगवा लो न! फिर तुलसीका पत्ता तोड़ने और खानेकी तकलीफ काहेको उठाते हो?

अच्छा, बोले—भाई! हम तुलसीका पत्ता इसलिए खाते हैं कि यह भगवान्‌को बड़ा प्यारा है। हमारेपर भगवान् बड़े प्रसन्न होंगे, हमारा अन्त:करण शुद्ध होगा तो भगवान्‌की प्राप्ति होगी। तुलसीका पत्ता जायगा कहाँ? पेटमें

जायगा और उससे मलेरिया दूर होता है तो वह भी होगा। लेकिन जो अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, ईश्वरके प्रसादका विश्वास होगा, वह तो कुनैनसे मिलनेवाला नहीं है न? अध्यात्ममार्गकी यह बात समझने लायक होती है।

अब देखो, कर्मका मार्ग बड़ी निम्न कोटिका है। और बुद्धियोगका जो मार्ग है, वह बहुत उच्चकोटिका है। बुद्धि तो आत्मा और संसारके बीचमें बैठी हुई है। अन्तरंग वस्तु है। इसीलिए जब जगत्‌के उपादानकी चर्चा आती है, तो बौद्ध लोग तो विज्ञानको ही जगत्‌का उपादान मानते हैं। वे अन्तरंग उपादानवादी हैं। सांख्यलोग बुद्धिकी जो शान्ति है प्रकृति सरीखी, उसको जगत्‌का कारण मानते हैं। वे भी आत्मा और प्रपञ्चके मध्यमें ही हैं। वे अन्तरंग उपादानवादी हैं। जो लोग नारायणको उपादान मानते हैं, वे भी उस बुद्धिमें स्थित अन्तर्यामी चेतनाको उपादान मानते हैं, वे भी अन्तरंग उपादानवादी हैं।

लेकिन जो परमाणुओंको उपादान मानते हैं, जो चार भूतोंको उपादान मानते हैं, वे बहिरंग उपादानवादी हैं। जो कर्मसंस्कारको उपादान मानते हैं वे भी अन्तरंग उपादानवादी हैं, क्योंकि कर्मसंस्कार भी आत्मा और संसारके बीचमें ही रहता है। यह अन्तरंग उपादान, अन्तरंग मसालेसे दुनिया बनती है।

तो बुद्धियोग जो है, आत्माके पास और कर्म है देहके पास। तो स्थूलगामी होनेके कारण कर्म दूर है और सूक्ष्मतामें होनेके कारण बुद्धि अन्तरंग है। अच्छा, अर्जुनने कहा कि 'हमारे लिए क्या चाहिए?' तो—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः। 2.49

धनञ्जय! तुम और मैं! मत अलग-अलग नहीं होना चाहिए। यह 'धनञ्जय' सम्बोधनका अर्थ है। जहाँ गुरु चेलामें मतभेद हो गया, गुरुमत अलग और शिष्यमत अलग वह दोनोंके लिए हानिकर हो गया। कैसे? देखो न? यहाँ साफ बतलाते हैं कि धनञ्जय! 'धनञ्जय' क्यों बोलते हैं? 'पाण्डवानां धनञ्जयः' (गीता 10.37) 'पाण्डवोंमें धनञ्जय मैं हूँ।'

दसवें अध्यायमें विभूतियोगका जो वर्णन है न, उसमें भगवान्‌ने बताया कि—'पाण्डवोंमें मैं धनञ्जय हूँ।' माने जो तू है सो मैं हूँ। मैं और तू। विभूति और विभूतिमान, ये दो नहीं होते। इसलिए धनञ्जय! जरा देखो कि तुम अपना रक्षक किसको वरण कर रहे हो? अपनी रक्षाके लिए किसको बुला रहे हो?

एक आदमी जंगलमें डर गया। डर गया तो उसने रक्षा करनेके लिए

पुकारा। किसको पुकारा? चोरको पुकारा कि सिपाहीको? अगर चोरको पुकारा तो फँस गया और सिपाहीको पुकारा तो बचनेका उपाय उसने कर लिया। तो अर्जुनके लिए क्या चोर और क्या सिपाही है? अर्जुन अपनी रक्षाके लिए शोक-मोहको बुलाकर रखे हुए है कि चोर! तू हमारी रक्षा कर। हे मोह! तू हमारी रक्षा कर। कार्पण्यको बुलाकर अपने हृदयमें बसा रहा है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (पृच्छामि त्वां) धर्मसंमूढचेताः। गीता 2.7

धर्मसंमोह और कार्पण्य ये दोनों अर्जुनके दिलमें उसकी रक्षा करनेके लिए आये कि हम तुमको युद्धसे बचा लेंगे। न भीष्म मरेंगे, न द्रोण मरेंगे, न कर्ण मरेंगे, न दुर्योधन मरेंगे। क्या? बोले—अकेलेमें बैठकर कपड़ेसे मुँह ढँककर रोओ। न रहे बाँस न बजेगी बाँसुरी। जब युद्ध ही नहीं होगा तो कोई मरेगा कैसे? शोक और मोहको अर्जुनने रक्षकके रूपमें पुकारा।

श्रीकृष्ण कहते हैं—'धनञ्जय! बुद्धिसे पुकार! अकलमंदीसे काम ले। शोक-मोह तेरी मदद नहीं करेंगे। तेरी मदद तो अकल करेगी। अकल तुमको बचावेगी, शोकमोह तुमको नहीं बचावेंगे। ये शोक-मोह चोर हैं, तुम्हारे दुश्मन हैं।' देखो, चोर और मददगारकी पहचान दी है। जिससे आदमी परहेज करे, जिससे बचनेकी कोशिश करे, उसीका नाम दुःख होता है न! दुःखकी परिभाषा क्या है?

दुःखकी पहचान यह है कि आदमी दुःखसे बचनेकी कोशिश करता है। मनुष्य जिससे बचनेकी कोशिश करे वह दुःख है। वह दुश्मन है। संसारमें सब लोग बेहोश होनेसे बचना चाहते हैं, सब लोग शोकग्रस्त होनेसे बचना चाहते हैं। जिससे हम भागते हैं उसीको तुम दिलमें बसा रहे हो। तब किसको अपनी मददके लिए, अपने सहारेके लिए बुलावें?

बुद्धौ शरणमन्विच्छ।

बुद्धिकी शरण लें।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि। कठ. 1.3.3

अपने सारथिकी शरण लें। श्रीकृष्ण कहते हैं—परोक्षवाद इसका नाम हुआ।

परोक्षप्रियाः इव देवाः प्रत्यक्षेण परोक्षद्विषः।

वेदोंमें वर्णन आता है कि देवतालोग परोक्ष बोलनेमें मजा लेते हैं। इशारेसे

कोई बात कह दें और आदमी समझ जाय तो उसमें देवताको बड़ी खुशी होती है और मुँह खोलकर यदि साफ-ही-साफ कहना पड़े तो देवतालोग यह भी कह सकते हैं, लेकिन उनको खुशी नहीं होती।

परोक्षप्रिया: इव देवा:। देवता लोग परोक्षप्रिय होते हैं। *परोक्षेण प्रत्यक्षद्विष:।* परोक्षरूपसे प्रत्यक्षके साथ दुश्मनी रखते हैं। साफ-साफ बोलना नहीं चाहते हैं। यह देवताओंका स्वभाव। तो श्रीकृष्णने पहले दिव्य स्वभावसे काम लिया। यह नहीं कह कि—'मयि शरणमन्विच्छ' 'मामेकं शरणं व्रज।' यह नहीं कहा। एक मेरी शरणमें आजा, यह नहीं कहा। बोले—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ।

सारथि-स्थानीय यह जो तेरी बुद्धि है, आध्यात्मिक, तेरे मनमें बैठा हुआ जो कृष्ण है, उसकी शरण ले। बुद्धिकी शरण नहीं ली जाती, बुद्धि उपहित चेतनकी शरण ली जाती है और बुद्धि उपहित जो चेतन है, वह 'वासुदेव' है। 'वासुदेव' बुद्धिका देवता है। अधिष्ठातृ देवताके रूपमें बुद्धिमें रहनेवाला जो चेतन है उसको नाम 'वासुदेव' है। तो 'बुद्धौ' माने *'बुद्धिस्थितं वासुदेवम् माम् शरणं अन्विच्छ।'*

पहले यह बात अर्जुनकी समझमें नहीं आयी। यह पहली बात। तो एक जगह भगवान्‌ने बताया कि 'मेरा ही नाम 'शरण' है। यहाँ 'शरण' आया न? 'गीता'में एक जगह बताया कि 'तुमको मेरा नाम मालूम है?' अर्जुनने बताया कि महाराज! मेरे तो बारह नाम तुम लेते हो। अपने भी कुछ नाम मुझे बता दो। क्या-क्या तुम्हारे नाम हैं?' तो बोले—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

बारहकी जगह चौदह नाम ले। मेरा नाम 'शरण' है। 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'—अपनी बुद्धिमें तू शरणको ढूँढ़। माने—

शरणत्वेन बुद्धिं अन्विच्छ। बुद्धौ शरणमन्विच्छ। का अर्थ है, शरणके रूपमें तू बुद्धिका सहारा ले, शरणके रूपमें तू शोक-मोहका सहारा न ले। परन्तु अर्जुनकी समझमें बात यहाँ आयी नहीं। अर्जुन स्वयं ही स्वीकार करता है कि—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। 3.2

मेरी बुद्धिको तुम मोहित कर रहे हो। तो श्रीकृष्णने कहा—भाई! संसारमें भी यह देखनेमें आता है कि घर-गृहस्थीमें कोई खटपट करता है, घरवालीमें और घरवालेमें आपसमें दोनोंमें जब लड़ाई हो जाय तो किसकी शरण ली जाती है? सालेकी—'स्यालको बुद्धिदायकः।' कलियुगका सम्प्रदाय ही यह है। कलियुगका वर्णन है 'भागवत' में तो बताया कि कलियुगमें क्या होगा? तो कलियुगमें जब पति और पत्नीमें लड़ाई होगी तो—

स्यालको बुद्धिदायकः।

सलाह लेनेके लिए यदि दुश्मनसे लड़ाई हो तो वकील-बैरीस्टरसे सलाह लें और पति-पत्नीमें लड़ाई हो तो? उन लोगोंमें आजकल चलता है न, 'डाइवोर्स।' इसकी रिवाज उस समय नहीं थी। तो वह वकील बैरीस्टरकी सलाह नहीं चलती थी। सालेको बुलाकरके पति-पत्नी आपसमें समझौता कर लिया करते थे। तो ये श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह सम्बन्ध भी बड़ा विचित्र है न? मालूम है आपको न! सुभद्राके भाई हैं ये और सुभद्रा कौन? आप जानते ही हो, अर्जुनकी श्रीमतीका नाम 'सुभद्रा'। और उनके भाई श्रीकृष्ण। 'स्यालको बुद्धिदायकः'। कलियुग प्रारम्भ होनेवाला है, तो श्रीकृष्णने कहा—'जब मैंने चोरीका भी आचार्यत्व बता दिया व्रजमें', आपको मालूम है? वहाँ वर्णन साफ-साफ है, अनेक स्वाविष्कृत उपाय् श्रीकृष्ण बताते हैं—

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः।

श्रीमद्भागवत 10.8.30

'रचयति विधिम्'। जैसे यज्ञयागादिके लिए विधि होती है, वैसे चोरी करनेके लिए विधि बनाते हैं श्रीकृष्ण कि इस विधिसे चोरी करनेपर यह दही मिलेगा, यह माखन मिलेगा। तो चोराचार्यत्व जिनमें विद्यमान है, उन्होंने कहा कि संसारमें कोई भी काम होवे, उसका मूल तो ईश्वर होना चाहिए न? असली आचार्यत्व तो ईश्वरमें ही होना चाहिए, तो श्रीकृष्ण चोराचार्य भी हैं।

यहाँ बोले कि जब कलियुग आनेवाला है, तो लोग उसमें सालोंसे सलाह लेंगे। तो उसका आचार्यत्व, उसकी शुरुआत भी हमसे ही होनी चाहिए। तो उसकी शुरुआत उन्होंने की—**बुद्धौ शरणमन्विच्छ।**

देखो, चार जगह 'शरण' शब्दका प्रयोग करते हैं। बुद्धौ शरणमन्विच्छ। =बुद्धिकी शरण लो फिर बताया कि 'शरण' मेरा नाम है।

नवें अध्यायमें बताया कि 'शरण मेरा नाम है।' दूसरे अध्यायमें बताया कि बुद्धिकी शरण लो। अठारहवें अध्यायमें बताया कि 'ईश्वरकी शरण लो—तमेव शरणं गच्छ।'

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 18.62

इतनेपर भी अर्जुनने जब ठीक ध्यान नहीं दिया कि क्या कह रहे हैं ये महाराज! तो श्रीकृष्णने कहा, यह बड़ा भोलाभाला? अर्जुन है न? सीधा ही शालका पेड़, सीधा ही शालका सरल पेड़! यह इशारेसे कहनेपर नहीं मानेगा। साफ-साफ कहना चाहिए, तो बोले—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ 18.66

तो यहाँ बुद्धिमें स्थित, बुद्धिमें (कल्पित) स्थित जो 'वासुदेव' हैं, उनकी शरण लो। ईश्वरकी शरण लो, शरणत्वेन। 'शरण' शब्दके दो अर्थ होते हैं—*शरणं गृह रक्षित्वो।* शरण=आश्रय, जहाँ हम रातको विश्राम करते हैं। वर्षामें भींग रहे हों, धूपमें दुःखी हो रहे हों, रास्तेमें चल रहे हों, तो विश्राम करनेके लिए जहाँ आश्रय ग्रहण करते हैं। बोले—भाई, आज तो इसी चट्टीकी शरण लेनी पड़ेगी। आज तो इसी झोपड़ीकी शरण लेनी पड़ेगी। आज तो इन्हींकी शरण लेनी पड़ेगी। बोलते हैं न कि यही आज आश्रय है। '*आश्रयत्वेन वरणं शरणं।*' आश्रयरूपसे वरण करना यह शरण है। अथवा '*रक्षकत्वेन वरणं शरणं।*' रक्षकरूपसे कि 'तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो।' तो भगवान्‌ने कहा—'शोक-मोहकी शरण मत लो। बुद्धिकी शरण लो।'

बोले—नतीजा क्या निकलेगा? फिर गया न बाहर? आगया अपने स्वभावमें फिर।

कृपणाः फलहेतवः।

बोले—भाई! पेड़की छायामें थोड़ी देर विश्राम करो। बोले—नहीं, गये विश्राम करनेके लिए और ढेला मार-मारकर पेड़के फल गिराने लगे, फूल गिराने लगे और पत्ते तोड़ने लगे। यह तो तुम्हारे हककी चीज नहीं है न! छायाके लिए तो पेड़के मालिकने कह रखा है कि राह चलते लोग जो हैं वे हमारे पेड़की छायामें बैठकर विश्राम करें। वृक्षके मालिकने कहा, लेकिन यह तो उसने नहीं

कहा है कि फल भी तोड़करके झोलेमें ले जाओ, पत्ते भी तोड़ दो, फूल भी गिरा लो। यह तो उसने नहीं कहा न कि लकड़ी भी काटकर ले जाओ। तो 'कृपण: फलहेतव:।' जो कृपण लोग, मूढ़, अज्ञानी, गरीब लोग—यह गरीबोंका काम है—'फलहेतव:।' 'कृपणाः फलहेतव:।' पेड़के नीचे केवल विश्राम करके, उसकी सुगन्ध लेकर, उसकी छायामें सुखी होकरके आगे बढ़ना चाहिए। यह नहीं कि उसके फल भी लेते जाओ।

तो फल माने?

संसारमें जो जड़ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जहाँ हम प्रतिफलितसे एक हो जाते हैं वहाँ फल होता है। तो कृपण कौन है? कृपण आप जानते ही हो, जिसकी मुट्ठी न खुले उसका नाम 'कृपण'। असलमें जो कृपाका पात्र है उसको 'कृपण' बोलते हैं। कोशमें 'कृपण' शब्दकी बहुत व्युत्पत्ति है, उसमें एक यह भी है। 'जो कृपाका पात्र हो।' जिसकी दुर्दशा देखकर लोग कृपा करें कि भाई, एक मुट्ठी अन्न इसको दे दो। अरे भाई! यह तो दया करने लायक है, मेहरबानी करने लायक है। बच्चा होता है न बच्चा! अपनी मुट्ठीमें कोई चीज ले ले, तो छोड़े ही नहीं। तो जबरदस्ती छुड़ानी पड़ती है। चाकू ले ले मुट्ठीमें छोड़े ही नहीं, अपने नाशका साधन पकड़ ले और छोड़े नहीं, वह कृपण।

तो 'कृपण' किसको बोलते हैं? उपनिषद्में तो यह आया है कि जो मर जाय तो मर जाय, लेकिन जो परमात्माको न जाने—

यो वै गार्गी एतदक्षरमविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स कृपणः।

वृहदारण्यकोपनिषद्

परमात्माको तो जाना नहीं और मर गये। 'अस्मात् लोकात् प्रैति' का अर्थ है, परमात्माको जाने बिना रवाना हो गये।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। केनो. 2.13

सत्यानाश कर लिया। उस सत्यानाशी जीवको कृपण कहते हैं। जो कहाँ जाना है यह जाने बिना घरसे निकल पड़ा। लक्ष्यका पता नहीं। टिकट लेनेवाली खिड़कीपर पहुँच गये। पैसा और हाथ दोनों डाल दिया भीतर! बाबूने पूछा—'कहाँका टिकट दे दें?' बोले—'सो तो मालूम नहीं है।' अब वह बाबू कहाँका टिकट दे? वह तो ऐसा हो गया न—

यद्वा तद्वा भविष्यति।

चाहे तो होवे। नहीं, निश्चितरूपसे अपने कल्याणके मार्गपर चलना चाहिए। तो कृपणका अर्थ है, जो आत्मज्ञानके बिना ही मर जाता है, उसका नाम है 'कृपण।' वह कृपा करने योग्य है। महात्मा लोग कहते हैं—'हाय-हाय! इसने मनुष्य-शरीर प्राप्त करके व्यर्थ कर दिया।'

तुमको भोजनका पता है कि कैसा-कैसा भोजन करना? हाँ, वह तो हम बना लेते हैं। तुमको जेवरका पता है? हाँ, वह तो हम खरीद लाते हैं। तुमको साड़ियोंका और कपड़ोंका पता है? हाँ, ठीक करके ले आते हैं हम। अच्छा, हजामत कैसे बनानी अपनी? हाँ, यह भी मालूम है। कैसे खाना चाहिए? यह भी मालूम है। लेकिन इस संसारके बन्धनसे कैसे छूटना चाहिए, यह तुम्हें मालूम है? वह तो नहीं मालूम है। ज्योतिष मालूम है, गणित मालूम है, विज्ञान मालूम है, डाक्टरी-वकालत मालूम है, नावपर चढ़ रहे हैं। नाव डूबने लगी। बोले—'तैरना नहीं मालूम है।' तो क्या करोगे? डूब जाओगे उस नावके साथ।

इसलिए भाई! जो अज्ञानी लोग हैं, वे फलहेतुक होते हैं संसारमें। अगर फलका ठीक-ठीक ज्ञान न होवे, तो क्या हो जायगा? यह जानते हो? वह लफंगा हो जायगा। वह 'फलंगा' की जगह लफंगा हो जायगा। 'लफंगा' बहुत लोग नहीं जानते होंगे। गाँवका शब्द है न? गँवारू। मैं भी बहुत छोटे गाँवमें पैदा हुआ, इसलिए गँवारू शब्द बहुत मालूम है।

'कृपणाः'। कृपणाका अर्थ है कंजूस, सूमड़ा। उसने दुनिया छोड़ी नहीं, और परमेश्वरको पाया नहीं। कंजूसी क्या है? सकामताका त्याग जो है न? सकामताका त्याग ही कंजूसीको छोड़ना है। तो सूम हो गया, वह सूमड़ा हो गया, वह कंजूस हो गया, ऐसा!

●

: 41 :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

2.50–53

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको 'बुद्धियोग' उपनिषद्का उपदेश कर रहे हैं। बताया उन्होंने—

कृपणाः फलहेतवः।

ये कृपणाः ते फलहेतवो भवन्ति। ये फलहेतवः ते कृपणाः भवन्ति।

जो कृपण हैं अर्थात् अज्ञानी हैं—

यो वै गार्गी अक्षरं अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति सः कृपणः।

वृहदारण्यक उपनिषद्

जो परमात्माका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही मर जाते हैं उनका नाम कृपण है।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु संसार वर्त्मनि।

बड़ी ऊँची छलांग भरी थी। प्रकृतिमें जो सबसे उच्च कोटिकी योनि है वह प्राप्त कर ली थी, परन्तु—

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसार वर्त्मनि।

इतनी ऊँचाईपर आकरके धम्मसे नीचे गिर गये। क्यों गिर गये? उन्होंने डाल पकड़कर ऊँचे चढ़नेकी कोशिश नहीं की, फल तोड़ने लग गये। शाखा पकड़ते न, वेदकी शाखा पकड़ते तब तो ऊपर रह जाते। वे तो उछले, लेकिन फल पकड़ा, शाखा नहीं पकड़ी। फल तो कमजोर होता है, उसको पकड़ोगे तो गिर जाओगे। शाखा पकड़ लोगे तो ऊपर-ही-ऊपर रह जाओगे। तो जो अज्ञानी होते हैं वे फलहेतुक होते हैं—

फलमेव हेतुः प्रवृत्तिकारणम् येषाम् फलहेतवः।

जिनकी प्रवृत्तिका कारण केवल फल प्राप्त करना है।

अच्छा, अब अज्ञानीका लक्षण क्या है?

ये फलहेतवः भवन्ति ते कृपणाः।

जो फलके लिए काम करते हैं, कुछ पानेके लिए, जैसे मदद करनेके लिए काम करना दूसरी चीज और कुछ पानेके लिए काम करना दूसरी चीज। तो जो कर्त्तव्यपालनकी दृष्टिसे अपना काम नहीं करता, इनाम लेनेके लिए जो काम करता है कि 'बाबू! शीशा देखो, इनाम दो। पाँव दबवाओ और इनाम दो।' तुम्हारी तारीफ करके जैसे होते हैं न भाट सरीखे! 'इनाम दो।' इनामके लिए जो करते हैं वे कृपण हैं।

अब 'कृपण' शब्दका अर्थ मुख्य है—'कृप्यते'। '*कृपाविषयी क्रियते इति कृपणः।*' जो कृपा करने लायक है, जो चिन्तनीय हो, उसको 'कृपण' बोलते हैं। वही 'कृपा' शब्द जिससे बनता है न, वे दो-तीन धातु हैं—'कृप्' कृप् करके, कोई क्लृप् है, कोई कृप् है। तो कृप्यते। *कृपाविषयी क्रियते,* जैसे चिन्तनीय बोलते हैं न! यह चिन्त्य है, माने चिन्ताका विषय है। मन शुद्ध नहीं है।

अब देखो, कर्म करनेकी उत्तम प्रणाली बताते हैं, क्या है? वह है बुद्धियोग। अक्ल नहीं छोड़ना। समझदारी छोड़कर काम नहीं करना। बुद्धियोगका सीधा अर्थ यह है। तो आपको कई दिन सुनाया, यह अंधपंगुका संयोग जैसे होता है, ऐसे हमारा जो व्यावहारिक जीवन है, वह अंधपंगुन्यायसे ही चलता है। हमारी जो कर्मेन्द्रियाँ हैं, वे अंधी हैं। पर किसीको जान नहीं सकतीं। और ज्ञानेन्द्रियाँ तो जान सकती हैं, परन्तु बना नहीं सकतीं। कर्मेन्द्रियाँ बना सकती हैं पर जान नहीं सकतीं। ज्ञानेन्द्रियाँ जान सकती हैं, बना नहीं सकतीं। आँख जैसा रूप है वैसा देख सकती हैं, पर उसमें कोई हेरफेर नहीं कर

सकती। और हाथ हेरफेर तो कर सकता है, लेकिन देख नहीं सकता। तो दोनोंके समन्वयसे व्यावहारिक जीवन चलता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ्सह। ई. 11

इसीका नाम विद्या-अविद्या है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तत् वेदोभय ँ्स ह। ई. 14

इस व्यावहारिक जीवनमें, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंमें जो मिलजुलकर काम करती हैं, इसीको कर्म और ज्ञानका समन्वय बोलते हैं। ज्ञान और कर्मको समन्वित करनेवाला कौन है? यह देखो। यह बुद्धि जो है, यही समन्वित करती है। आँख देखती है और पाँव उस रास्तेपर चलता है। आँख देखती है और हाथ पकड़ता है। तो यह सुनाया था आपको, फिरसे याद कर लो कि जिसको शरीरमें, वस्तुमें, समाजमें, दिलमें हेरफेर करना है कोई परिवर्तन करना है न, वह कर्माधिकारी है। यदि काम नहीं करेगा, तो परिवर्तन कोई नहीं हो सकता। ज्यों-की-त्यों स्थिति बनी रहेगी।

लोहेको समझना और आँखसे देख लेना और लोहेमें कोई शकल बना देना—तो लोहेको देखकर समझ लेना यह तो आँखके द्वारा हो सकता है। पर शकल बनानी होगी तो हाथसे बनाना पड़ेगा। या तोड़फोड़ करना होगा। तो हाथमें हथौड़ा उठाकर करना पड़ेगा। अब यह तो हुआ व्यावहारिक जीवन और परमार्थवस्तुका जो ज्ञान है उसमें कर्मका समन्वय नहीं है। क्यों नहीं है? वह तो बुद्धिके भी अन्तरंगमें है। तो जितना ऐन्द्रियक ज्ञान होता है उसमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और बुद्धि इन तीनोंका समन्वय होता है। और भीतर जो बुद्धिका द्रष्टा, बुद्धिका अधिष्ठान, जो बुद्धिका साक्षी, जो बुद्धिसे परे अद्वितीय वस्तु है, उसमें कर्मसे कोई हेरफेर तो करना नहीं है। वह तत्त्ववस्तु है, इसलिए उसका साक्षात्कार मात्र होता है। तो ऐन्द्रियक ज्ञान जितना होता है, उसमें कर्मकी जरूरत होती है। कर्मके द्वारा जितना हेरफेर होता है, उसमें ऐन्द्रियक ज्ञान मिला रहता है।

जो परमार्थ ज्ञान होता है वह ऐन्द्रियक ज्ञान नहीं है। तो वहाँ कर्म आदिकी कोई जरूरत नहीं पड़ती है। वहाँ साक्षात् महावाक्यजन्य जो तद्विषया वृत्ति है, वह पदाश्रिता और तद्विषया जो वृत्ति है, उसीसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। यह बात परमार्थके सम्बन्धमें है।

अब सबलोग एक ही दिनमें इस बातको समझ लें, इसकी कोशिश नहीं करनी चाहिए। अपने साधनको करते जाना चाहिए। अच्छा, एक बात इसी प्रसंगमें और भी, कहीं-कहीं वेदान्तमें साधनोंका निषेध आता है। तो साधनोंके निषेधका उपयोग तो है। क्या? तत्त्वज्ञान। तत्त्वके स्वरूपका निश्चय करनेमें केवल साधनका ही नहीं, साध्यका भी निषेध करना पड़ता है। क्योंकि सिद्धवस्तु जो है, वह साध्य नहीं है। वह किसी साधनके द्वारा साध्य नहीं है। न उत्पाद्य है, न आप्य है, न विकार्य है, न संस्कार्य है। इसलिए केवल साधनको ही नहीं, साध्यको भी काटना पड़ता है।

परन्तु साधनके निषेधका यह अर्थ कदापि नहीं है कि साधन-साधन ही नहीं है। साक्षात् साधन नहीं है। वेदान्तोंका अभिप्राय यह है कि अविद्याकी निवृत्ति तो तत्त्वज्ञानके साथ-साथ ही होती है। परन्तु इसके पहले जो स्थितियाँ होती हैं, अन्तःकरणशुद्धि आदि, पदार्थविवेक शोधन आदि, उनमें करण शोधनमें बहिरंग साधन और पदार्थशोधनमें अन्तरंग साधन उपयोगी हैं। उनके साधनपनेका वेदान्तमें खण्डन नहीं है। साक्षात्पनेका खण्डन है।

इसलिए अन्तमें जो वृत्ति होती है, उसके पहले तो साधना करना ही चाहिए। यह बात होती है। अब देखो—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। 2.50

आप बुद्धियोगी हैं कि अबुद्धियोगी? माने आप निर्बुद्धि होकर, अपना काम बनाना चाहते हैं? जो निर्बुद्धि होता है, वह विक्रियासे काम बनाता है, इस बातको आप समझ लेना। धर्म आदि रूप जो क्रिया होती है, वह बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा सम्पन्न होती है। और पेड़-पौधेका उगना और उसमें पत्ते आना, फूल आना और फल आना, यह निर्बुद्धि जो वृक्ष आदि जड़ पदार्थ हैं, वे विक्रियाके द्वारा संचालित होते हैं। विकारके द्वारा और जो बुद्धिमान् मनुष्य होता है, वह क्रियाके द्वारा संचालित होता है। वह समझ करके क्रिया करता है कि हमको यह करना चाहिए और हमको यह नहीं करना चाहिए।

तो बोले—असली बुद्धिमान्‌की बात बताओ कि किसको हम ऐसा व्यवहारमें मानें कि वह बहुत बुद्धिमान् है।

योगे तु इमां शृणु।

दोनों जगह बुद्धि बतायी है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। 2.39

और योगे तु इमां शृणु। इमाम् बुद्धिं शृणु। सांख्यमें भी बुद्धि है और योगमें भी बुद्धि है। बुद्धिहीन सांख्य भी अकिंचित्कर है और बुद्धिहीन योग भी अकिंचित्कर है। बुद्धि तो दोनोंमें ही चाहिए। सुना तो बहुत वेदान्त; पर समझा कुछ नहीं। और योगाभ्यास किया तो बहुत; पर समझा कुछ नहीं। अगर श्रवणादि करनेपर भी बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं हुई तो क्या हुआ? और योगाभ्यास करनेपर भी बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं हुई तो क्या हुआ? बुद्धिके बिना तो न सांख्य कार्यकारी है, न योग कार्यकारी है। बुद्धि ही दोनोंमें कार्य करनेवाली है। इसलिए साधनके क्षेत्रमें बुद्धियोगका बड़ा भारी माहात्म्य है। बड़ा भारी महत्त्व है। तुम बुद्धियोगी बनो।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ। 2.49 **बुद्धिं शरणत्वेन अन्विच्छ।**

बुद्धिकी शरण लो, माने बुद्धिमें बैठे हुए 'वासुदेव' की शरण लो और जब बुद्धियुक्त मनुष्य हो जाता है, तब उसकी पहचान क्या?

जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। 2.50

इह=*अस्मिन् एव जन्मनि जीवने वा।* इसी जन्ममें अथवा इस साधन-क्षेत्रमें जो योग-साधन हमकर रहे हैं, इस योगसाधनमें यहीं। मरनेके बाद वह पाप-पुण्यसे छूट जायगा, यह नहीं। इसी जीवनमें 'उभे सुकृत-दुष्कृते जहातीह।' यह बुद्धिमान् पुरुषका लक्षण है कि पाप और पुण्य दोनोंको इसी जीवनमें जहाँ-का-तहाँ छोड़ दे, जैसे साँप केंचुल छोड़ देता है। साँप जिन्दा और केंचुल छूट गयी, इसी प्रकार यह जो आत्माके साथ पाप-पुण्य जुड़े हुए हैं, सुकृत=पुण्य और दुष्कृत=पाप। सुकृत और दुष्कृत दोनोंको तुम छोड़ सकते हो कि नहीं?

बोले—भाई, हम पाप तो छोड़ना चाहते हैं, लेकिन पुण्य नहीं छोड़ना चाहते। अभी बुद्धियोगी नहीं हो। ऐसा कोई पुण्य नहीं होता जिसमें पाप नहीं होता और ऐसा कोई पाप नहीं होता जिसमें पुण्यका कोई लेश नहीं होता। वे दोनों मिले-जुले चलते हैं। पापमें पुण्य और पुण्यमें पाप ऐसे घुलेमिले हैं संसारमें कि 'होम करते भी हाथ जल जाता है।' उसमें भी पापके कई ऐसे प्रसंग हैं कि घुटना ऐसा करो तो पाप हो जायगा। प्रणीता-प्रोक्षणीमें यह परिवर्तन करो तो पाप हो जायगा। आँखमें आँसू आवे तो यह पाप हो जायगा। उसमें भी प्रत्यवायके अनेक प्रसंग हैं। होम करते भी पाप होता है, उसमें जो लकड़ी

जलती है उसमें कीड़े होते हैं। वे कीड़े तो मरते ही हैं। उसमें जो घी-बूरा डाला जाता है, जो शाकल्य डाला जाता है, उसमें भी कीटाणु होते हैं। ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसमें पापका थोड़ा अनुबंध न होवे। ऐसा कोई कर्म नहीं होता जिसमें पुण्यका थोड़ा अनुबन्ध न होवे। तो पाप और पुण्यसे छूटना कब होता है? जब अहंकारका भाव निवृत्त होता है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥ 18.17

यस्य नाहंकृतो भावो—सुकृत और दुष्कृतमें जिसका अहंकृत भाव नहीं है, माने 'अहंकर्त्ता' यह भाव नहीं है—'अहंकृतो भावो।' और बुद्धिर्यस्य न लिप्यते=जिसकी बुद्धि उस गंदगीमें अपनेको लथपथ नहीं कर लेती है। लेप=बुद्धिमें लेप नहीं होता है। जैसे गोबरका लेप होता है, इस प्रकार जिसकी बुद्धिमें गोबर सरीखा पाप-पुण्य लेप नहीं हो जाता। यह लेप क्या है?

'अहं भोक्ता'—यही लेप है। मैं इसके फलको भोगूँगा, इसका नाम लेप है और 'मैं यह करता हूँ' यह अहंकृत भाव है। तो पाप-पुण्य कहाँ लगता है? जहाँ कर्त्तापन और भोक्तापन होता है, वहीं लगता है।

अब बुद्धियोगी पुरुष जो है, वह देखो—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः।

परमात्माको जान लो तो सब बन्धनोंसे छूट जाओगे—

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

धीर पुरुष परमात्माको जानकर हर्ष और शोकको छोड़ देता है। तो हर्ष और शोकको छोड़ देना, यह भोक्तापनको छोड़ देना है। तब कर्त्तापन जरूर छूट गया है। इसलिए जो कर्त्तापन और भोक्तापनसे मुक्त होता है, वही असलमें सुकृत और दुष्कृतको छोड़ सकता है।

समधिगमे उत्तरपूर्वादयोः अश्लेष बिना सौ तद् व्यपदेशात्।

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्रमें कहा कि 'परमात्माका अधिगम हो जाय, अनुभव हो जाय।'—एक तो जबानी जमाखर्च होता है, सुन-सुनाकर और एक परमात्माका साक्षात्कार होता है।

'योगभाष्य'में 'महर्षि पतंजलि' कहते हैं कि 'तुमने अभी कोई अलौकिक वस्तु देखी है कि नहीं?' ऐसे बोलते हैं—'अगर देहसे अतिरिक्त और इन्द्रियोंसे जो देखा जाता है उससे अतिरिक्त कोई वस्तु मामूली-सी भी तुम्हारे अनुभवमें नहीं आयी है, तो तुम्हारे लिए निष्ठा होना, विश्वास होना बड़ा कठिन है।' थोड़ा देखो अनुभव करके कि इस दुनियासे परे भी कुछ है और इन इन्द्रियोंसे परे भी कुछ है।

मैंने अखबारोंमें पढ़ा, आजकल कि एक तरहकी खोज चल रही है कि मनुष्यके शरीरमें जो रक्ताभिसरण होता है न, खून चलता है, तो यह दो-दो दिन, तीन-तीन दिनकी लहर आती है। तो कभी कैसे खूनकी गति होती है और कभी कैसे खूनकी गति होती है, तो उसके द्वारा यह पता लगा रहे हैं कि यह आदमी जो है, उसके शरीरमें खूनकी ऐसी लहर आती है, ऐसी नाड़ियाँ चलती हैं, ऐसा शरीर फड़कता है तब वह सुखी रहता है, और जब दो दिन-तीन दिनोंके बाद जब वह बदल जाता है, दूसरे ढंगकी लहर चलती है, तब वह दुःखी हो जाता है। हर दूसरे-तीसरे दिन मनुष्यके जीवनमें दुःखकी लहर आती है और हर दूसरे-तीसरे दिन मनुष्यके जीवनमें सुखकी लहर आती है। वह यन्त्रके द्वारा रक्तकी गतिका प्रत्यक्ष करके जान लिया जायगा। जब पूरा अध्ययन हो जायगा तब सलाह देंगे कि किस वर्ष किस महीनेमें किस दिन तुम्हारी यह लहर चलेगी और वह लहर चलेगी। शरीरके फड़कनेसे जो शकुन-अपशकुनका ज्ञान होता है न, शरीरका कौन-सा अंग फड़क रहा है तो शुभ होगा और कौन-सा अंग फड़क रहा है तो अशुभ होगा। अब कहीं विज्ञानकी खोजसे यह बात निकल आयी तो लोग शकुनशास्त्रको सच्चा मानने लगेंगे। किस ग्रहका कैसा असर पड़ता है शरीर पर, तब कैसे रक्तसंचार होता है और कैसे मन चलता है, उसका भी पता सब चल जाता है।

तो, असलमें हर्ष और शोककी लहर जो है वह आत्मामें नहीं उठती है, अनात्मामें उठती है। यह सफेदी जो चमचम चमकती है, वह केंचुलमें है, और यह गन्दगी जो है, वह भी केंचुकमें है, तो—

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

हर्ष और शोकको केंचुलसे डाल देना। 'जहाति'का अर्थ छोड़ देना होता है, *ऊहात् त्यागे। हान=त्यागे, जहाति।* जहाति माने त्याग देता है। गंगाजी बह

रही हैं, धरती स्थिर हो रही है। सूर्य-चन्द्रमा अपनी कान्तिमें बरत रहे हैं, हवा बह रही है—

ययतां पाण्डवं स्वर्गं इन्द्रः वर्षत् तपस्विनः।

इन्द्र वर्षा कर रहा है, और सूर्य प्रकाश फेंक रहा है, दुश्मनी करनेवाले शत्रुको मान रहे हैं और मुहब्बत करनेवाले अपने मित्रोंसे मिल रहे हैं, और हम? हम तो इस केंचुलको छोड़करके उससे अलग बैठे हुए हैं। तो—

तदधिगमे उत्तरपूर्वदयोः अश्लेषाविनासौ।

जब परमात्माका अनुभव हो जाता है, तब पहलेके किये हुए जो पाप-पुण्य होते हैं, उनका विनाश हो जाता है। और बादमें जो शरीरसे पाप-पुण्य होते हैं, उनका क्लेश नहीं होता। सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि श्रुति ठीक यही वर्णन करती है—

एवमेव विधि पापमकर्म न क्लिश्यते तद् यथा पुष्करपलाशे पापो न श्लिष्यन्ते।

जैसे कमलके पत्तेमें जलका स्पर्श नहीं होता है, वैसे परमात्माको जाननेवालेमें कर्मका सम्बन्ध नहीं होता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

यह ज्ञानकी महिमा है, यह ब्रह्मज्ञानीकी महिमा है कि वह कर्मसे उन्नत नहीं होता और कर्मसे अवनत नहीं होता। वह कर्मसे प्रकट नहीं होता और कर्मसे अधोगत नहीं होगा। वह ऊपर और नीचे न आता है न जाता है। वह अपने स्वरूपमें बैठा हुआ है, तो यह समझो कि यह स्थिति बुद्धियोगसे सम्पन्न होती है।

बुद्धियोग दो तरहका है। एक तो आपको पहले यह बताया कि कर्मयोगके द्वारा बुद्धियोगकी प्राप्ति। कर्मयोगमें बुद्धियोग और तत्त्वचिन्तनमें योग। 'त्वं' पदार्थका चिन्तन करके उसमें स्थित हो जाना, इससे बुद्धियोग। और तीसरा 'तत्' पदार्थका चिन्तन करके उसमें स्थित हो जाना, यह बुद्धियोग 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थकी एकताको जान लेना, यह बुद्धियोग।

कर्त्तव्यभावसे कर्म करना, धर्मानुष्ठान करना, उसमें जो निष्कामभावसे धर्मानुष्ठान करना, यह जो बुद्धियोग है, यह धर्मात्मक है। 'त्वं' पदार्थमें स्थित होना योगात्मक है। 'तत्' पदार्थमें स्थित होना भक्त्यात्मक है। और दोनोंमें जो

ऐक्य है, यह ऐक्यबोध जो है, यह अविद्याको निवृत्त करनेवाला 'प्रचण्ड सिद्ध बुद्धियोग' है। यह अविद्या और सत्कार्यको भस्म कर देता है। सुकृत और दुष्कृत दोनोंके विधूननकी पद्धति हमारे अन्दर आनी चाहिए। यह कैसे होगा? केवल काम करनेसे नहीं होगा। केवल दुनियाको देखने-सुननेसे नहीं होगा। सारे प्रपञ्चको दृश्य बना लो, प्रकृतिको भी देखने लग जाओ। तब भी इस योगकी सिद्धि नहीं होती। केवल दुनियाको देखनेसे इस योगकी सिद्धि नहीं होती है। परमात्माको देखनेसे इस योगकी सिद्धि होती है।

'तस्माद्योगाय युज्यस्व'—इसलिए आओ, भाई! बुद्धियोगमें स्थित हो जाओ, अकलमंदीसे काम करो। मन्द अकल नहीं। जिसकी अकल मन्द सो अकलमन्द ऐसा नहीं। यह तो 'मान' जैसे होता है न? जैसे 'बुद्धिमान्' होता है न 'बुद्धिमान्!' 'मतिमान्' जैसे होता है, ऐसे यह 'आकलवान्' अथवा 'कलावान्'। 'आकलन' बोलते हैं, ठीक-ठीक समझनेवाली बुद्धिका नाम, ज्ञानका नाम 'आकलन' है। आकलन माने संग्रह कर लेना, ग्रहण कर लेना। तो यह अकल् है। यह नकलसे काम नहीं चलता है। यह नकल नहीं है, यह अकल है। अकल=आकलन करना। इसमें लग जाओ—'तस्माद्योगाय युज्यस्व।'

बुद्धियोगके लिए अपनेको जोड़ दो, जोड़ दो। कैसे भी बुद्धियोग प्राप्त करो। यह योग क्या है भाई? योग यह है—

योगः कर्मसु कौशलम्।

काम करनेमें जो कुशलता है, नैपुण्य है, उसीका नाम योग है। यों समझो कि एक आदमी अपने घरमें झाड़ू लगा रहा है, तो कहीं झाड़ू लगी और कहीं नहीं लगी। कहींसे गन्दगी दूर हुई और कहींसे गन्दगी दूर नहीं हुई। तो वह झाड़ू लगानेमें कुशल है? वह झाड़ू लगानेमें कुशल नहीं है। अकुशल है। उसको झाड़ू लगानेका बिलकुल कौशल नहीं है। अच्छा, यह एक बात हुई।

अब एक दूसरी बात देखो, हाथ धोनेके लिए हाथमें माटी लगायी। दस बार इस हाथमें माटी लगायी, सात बार इस हाथमें माटी लगायी। महात्मा लोग साबुन थोड़े ही लगाते होंगे? माटी तो सस्ती होती है। हम लोग दिनभरमें कई बार शास्त्रके अनुसार माटी लगाते हैं। अब वह माटी लगानेके बाद जब लोटा माँजने लगते हैं, तो लोटा साफ ही न हो। वह हाथमें लगी मिट्टी और लोटा धोने

लगे तो धोनेके बाद और लग जाय। तो हमारे बाबाने सिखाया कि देखो, पहले लोटा मत धोओ, पहले हाथ धो लो, साफ कर लो और उसके बाद लोटा धोओगे तो लोटा साफ हो जायगा। और यदि तुम्हारे हाथ ही गन्दे हुए तो लोटा साफ कैसे होगा? आयी बात ध्यानमें? लोटा माँजना भी सीखना पड़ता है। उसमें भी एक कुशलता होती है।

काम कौन पहले करना, कौन पीछे करना, कौन करना जरूरी है, कौन करना जरूरी नहीं है, ये बातें सब समझनी पड़ती हैं। अच्छा, तो अब कर्म करनेकी बात बताते हैं। यह जो हम पाँवसे चलते हैं या हाथसे कोई चीज पकड़ते हैं या जबानसे बोलते हैं और भी इन्द्रियोंसे काम करते हैं। कानसे सुनने लगते हैं, आँखसे देखने लगते हैं, त्वचासे छूने लगते हैं, मनमें किसीके बारेमें सोचने लगते हैं। मन भी तो इन्द्रिय ही है न? इन्द्रियोंसे काम होता है, ज्ञानात्मक काम होता है, कर्मात्मक क्रिया होती है। इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, मनमें भाव होता है। किसी चीजको जानते हैं, किसी चीजको पकड़ते हैं। किसी चीजके बारेमें सोचते हैं।

तो अब यह देखना है कि तुमको सोचना आता है कि नहीं? तुमको देखना आता है कि नहीं? तुमको बोलना आता है कि नहीं? तुमको काम करना आता है कि नहीं? तो देखो, बोलनेके बाद, करनेके बाद, देखने-सुननेके बाद उसका नतीजा तुम्हारे ऊपर क्या आता है? क्या निकलता है? कभी किसी-किसीसे बोल देते हैं, बादमें पछतावा होता है कि यदि हम उससे ऐसी बात न बोलते तो अच्छा था। पछताते हैं कि नहीं? तो खुद तो बोला और फिर पछताया। तो वह बोलनेकी मैल अपने साथ लग गयी कि नहीं लग गयी? समझो कि जैसे झाड़ू लगाते समय मैल अपनी आँखमें, नाकमें, हमारे शरीरमें घुस जाय, वैसे बोलते समय एक ऐसी मैल पैदा हुई जो तुम्हारे दिलमें घुस गयी और अब तुम पछता रहे हो कि हमने ऐसा क्यों बोल दिया? यह मैल है। तो 'कर्मसु कौशलम्।' बोलनेका कौशल अभी तुमको नहीं आया।

साफ जगहपर पहुँचनेके लिए चलना हुआ कि अच्छी जगह पहुँच जायेंगे; परन्तु पाँवसे धूल उड़-उड़ करके तुम्हारे कुर्तेको ही बिगाड़ देती है। पीछे कई लोग चट्टी, खड़ाऊ या जूते पहनकर चलते हैं और उन्हींके जूतेसे

उड़-उड़कर जो कीचड़ है वह उनके कपड़ोंको खराब कर देता है। मोटरमें साफ कपड़ा पहनकर बैठते हैं, पर मोटरमें मैल लगी है, वह हमारे कपड़ोंमें लग रही है। तो यह तो बाहरकी बात है न? भीतर देखो कि तुम्हारे मैल लगती है कि नहीं?

बोले—भाई! बुरी बात बोलते हैं और बुरा काम करते हैं और बुरी चीज देखते हैं। तो भीतर मैल आती है। बोले—नहीं, अच्छा काम करनेमें भी मैल आती है। रसोईं पकानेमें क्या कपड़ा गन्दा नहीं हो जाता? रसोईं पकाना तो अच्छा काम है। संध्यावन्दन करने बैठो और उसमें अर्घ्य देनेके लिए जो पानी है, चन्दनका जो पानी है, वह तुम्हारे कपड़ोंमें बहकर आगया, तो कपड़ा गन्दा नहीं होगा? अरे, पुण्यकर्ममें भी कपड़ा गन्दा करनेकी क्षमता होती है। तो बोले, अच्छा काम हमको कैसे गन्दा करता है? अच्छा काम गन्दा करता है अभिमान पैदा करके। और बुरा काम गन्दा करता है ग्लानि पैदा करके।

बोले—अच्छा, हम बुरा काम करेंगे, लेकिन ग्लानि पैदा नहीं होने देंगे। और अच्छा काम करेंगे; लेकिन अभिमान नहीं आने देंगे। यह तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। यह तो प्राकृतिक विक्रिया है। ऐसा करनेके बाद ऐसा होता ही है। आज होवे, कल होवे, परसों होवे; तो असलमें मैल क्या है?

'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्मको ऐसी कुशलतासे किया जाय कि वह अपने अन्दर अभिमानपनेका भाव नहीं उत्पन्न होने दे। तुमपर दरअसल मैल न लगने दो। अपनेको गन्दा कर लिया, अपनेको बिगाड़ दिया और फिर दुनियामें कोई काम कर लिया तो क्या किया?

आज संसारमें काम करनेकी पद्धति यह है कि हम भले गन्दे हो जायँ, लेकिन दुनियाका काम होवे। नहीं-नहीं, अगर तुम गन्दे हो जाओगे, तो दुनिया गन्दी हो जायगी। एक-एक आदमी अलग-अलग गन्दे होने लग जायँ तो सारी दुनिया गन्दी हो जायगी। वह तो *'सौ सयाने एक मत'* होता है न?

एक पंचायतमें यह तय हुआ कि ग्रामदेवताकी पूजा करनी चाहिए। कल खीर बननेवाली है, तो रातको जिसकी गाय-भैंस दूध दे-दे, वह एक-एक लोटा दूध लाकर इस हौजमें डाल जाय, कल खीर बनेगी। गाँवके सब लोगोंने अपने-अपने मनमें सोचा कि कौन देखता है कि इन्होंने दूध डाला कि

पानी? चलो, अन्धेरेमें चलकर एक लोटा पानी ही डाल आवें। अब एक-एक लोटा पानी डालनेमें सबेरे हौज देखा गया तो क्या निकला? कि उसमें एक लोटा भी दूध नहीं। सब पानी-ही-पानी। बोले—यह क्या हुआ? कि *'सौ सयाने एक मत।'*

सौ बुद्धिमान् मिल जायँ तो उनका मत एक हो जाना चाहिए न? तो सबने यह मत मिलाया कि दूधकी जगह पानी डाल दो। तो जो लोग अलग-अलग अपनी चतुराई जोड़ते हैं, वे समझते हैं कि हम बड़े चतुर। ऐसा करते हैं तो वह दूसरा थोड़े समझता है? दूसरा सोचता है कि हम बड़े चतुर। तीसरा ऐसा थोड़े ही करेगा? होता यह है कि सब लोग गन्दे काम करने लग जाते हैं। अगर तुम खुदको अच्छे करो, सब खुदको अच्छे करें तो सब अच्छे हो जायँ। और अगर तुम सबको अच्छा करना चाहो और खुद अच्छे न बनो, तो दुनियामें अच्छाई नहीं चल सकती। इसके लिए क्या करना? अपने हृदयको शुद्ध करना। ऐसा कौशल प्राप्त करना कि कर्मके जो संस्कार हैं, वह तुम्हारे ऊपर नहीं पड़े। कर्त्तापन और भोक्तापन तुम्हारे अन्दर नहीं आने पावे।

कर्म करनेका रहस्य यह है कि हृदयकी जो वासना है, उनको शुद्ध करना। उनको मिटाना। बहिरंग कर्मका अभिप्राय है वासनाओंको शुद्ध करना और अन्तरंग कर्मका अभिप्राय है वासनाओंको मिटाना। जो लोग वासनाओंको पालना भी चाहते हैं और ईश्वरको पाना भी चाहते हैं, वे उल्टे रास्तेपर चलते हैं। तो वासनाओंको शुद्ध करना यह बहिरंग कर्म अर्थात् धर्मका काम है और वासनाओंको एक कर देना, यह अन्तरंग कर्म अर्थात् उपासनाका काम है। और वासनाओंको मिटा देना, अन्तरंग कर्म अर्थात् योगाभ्यासका काम है। वासनाके बीजको भी भस्म कर देना, यह तत्त्वज्ञानका काम है। जो गन्दी वासनाओंको ही मिटाना नहीं चाहता है, वह अच्छी वासनाओंको तो मिटाना ही क्यों चाहेगा? और जो सारी वासनाओंको मिटाना नहीं चाहता है वह बीजको तो मिटाना ही क्यों चाहेगा? इसलिए तत्त्वका जिज्ञासु होना तो उसके लिए सम्भव है जो सम्पूर्ण वासनाओंके बीजको भून डालनेके लिए तत्पर है। तो असलमें बुद्धियोगी वही होता है, इसलिए 'तस्माद्योगाय युज्यस्व'। 'योग: कर्मसु कौशलम्।'

कर्म करनेका ऐसा कौशल, ऐसी कुशलता प्राप्त होनी चाहिए जिससे

कर्मके संस्कार कर्मका कर्त्तापन, कर्मका भोग हमारे पास फटक न सके, इस ढंगसे कर्म करना चाहिए।

बोले—भाई, एक बात साफ कर दो। क्या तुम ज्ञानीको कर्म करनेके लिए कह रहे हो? हमारे मित्र लोग जो हैं न, वे साधनकी चर्चा आती है तो घबड़ा जाते हैं। कहते हैं कि कुछ करना न पड़े। कुछ करना न पड़े—*'हर्र लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे।'* यह हर्र-फिटकरी डालनेसे रंग खिल जाता है। बोले—हम कपड़ेको रँगना तो चाहते हैं, लेकिन फिटकरी डालना नहीं चाहते हैं। ये गेरुआ कपड़े रँगते हैं न, तो उसमें फिटकरी डालते हैं। फिटकरीसे रंग बिलकुल साफ आता है। बोले—भाई, हम कपड़ा रँगना तो चाहते हैं, लेकिन हर्र-फिटकरी लगाना नहीं चाहते हैं। तो भाई हर्र-फिटकरीके बिना तो रंग खिलेगा नहीं।

अब देखो, ज्ञानके साथ इसका क्या सम्बन्ध है? हम यह नहीं कह रहे हैं कि ज्ञानीपुरुषको कर्म करना चाहिए। क्यों?

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

18.10

जिसके संदेह मिट गये हैं, द्वैत जिसका मिट गया है कि 'यह सत्य कि यह सत्य?' यह संशय जिसका छिन्न हो गया है और जो मेधावी है, 'यां मेधा देवगवाः पितरश्चोपासते'। मेधाकी प्राप्ति हो गयी है और जो सत्त्वसमाधिस्थ हो चुका है, जो त्यागी है, वह—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

इसकी तो कुशल कर्ममें आसक्ति नहीं है और अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं है, क्योंकि उसको तो कुछ प्राप्त करना नहीं है। जिसको प्राप्त करना है उसको तो कर्ममें कौशल प्राप्त करना ही चाहिए। नहीं तो वह फँसा ही रह जायगा। तो छूटेगा कैसे? इसलिए साधकको समझदारीके साथ अपने धर्मकर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। बोले—'फिर तो वे फँसेंगे। बोले—फँसेंगे नहीं—*'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। बुद्धियुक्ता हि कर्मजं फलं त्यक्त्वा मनीषिणं भवन्ति। हि-यतः बुद्धियुक्तः पुरुषः कर्मजं फलं त्यक्त्वा मनीषिणः= ज्ञानिनो भवन्ति। ततश्च जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः अनामयं पदं गच्छन्ति।'*

श्लोकका अर्थ ध्यानमें बैठा लेना, क्योंकि जब पुरुष बुद्धियुक्त होता है, तब वह कर्मसे होनेवाले फलको माने साध्यको छोड़ देता है। साध्यविषयक वैराग्य उसको हो जाता है। साध्यकी प्राप्ति नहीं चाहता, वह सिद्धविषयक ज्ञान चाहता है। तो 'बुद्धिः यतः'। माने प्रश्न यह हुआ कि बुद्धियोगी पुरुष सुकृत-दुष्कृतका त्याग कैसे करेगा?

यों करेगा कि वह बुद्धियोगी पुरुष कर्मजन्य फलको छोड़ देगा। जो कुछ किये-कराये मिलता है, स्वर्ग मिलता है, ब्रह्मलोक मिलता है, समाधि मिलती है, इष्टलोककी प्राप्ति होती है, बाह्यकर्मसे और आन्तरकर्मसे जितना भी फल होता है, बुद्धियोगी पुरुष उस फलको छोड़ देता है। 'नाहं फलाकांक्षी'=मैं फल नहीं चाहता हूँ। जो वस्तु अन्तःकरणके घेरेमें आकरके प्रतिफलित होती है, वह हमको नहीं चाहिए। हमको तो सिद्धवस्तु जो पहलेसे मौजूद है वह चाहिए। एक सच्ची जिज्ञासा हो जाती है और फिर क्या होता है?

ततश्च मनीषिणो भवन्ति। बुद्धिः हि यतः बुद्धियुक्तः पुरुषः कर्मरजं फलं त्यक्त्वा मनीषिणो भवन्ति।

मनीषी हो जाते हैं। मनीषी=ज्ञानी। तत्त्वज्ञ हो जाते हैं जो बुद्धियोगी होता है, वह ज्ञानी हो जाता है। क्यों ज्ञानी हो जाता है? क्योंकि उसने कर्मजन्य फलको छोड़ दिया है। माने साध्यलोकसे उसका वैराग्य हो गया। माने ब्रह्मलोक जो है, यह उपासना साध्य है। इष्टलोक जो है, यह सदाचार वृत्ति साध्य है। स्वर्ग जो है, यह धर्मवृत्ति साध्य है। लोकमें जो उन्नति है वह सब सत्कर्मसाध्य है। कर्मजन्य जितने फल हैं, उनको, उसने साध्योंको छोड़ दिया है। वैराग्यकी पराकाष्ठा हो गयी। जो बुद्धियोगी पुरुष होगा उसके अन्दर वैराग्यकी पराकाष्ठा आ जायगी। वैराग्यकी पराकाष्ठा आ जायगी तो वह मनीषी हो जायगा।

बुद्धिर्मनीषाधीषणाधीप्रज्ञाशेमुषीमतिः।

बुद्धिर्मनीषा। मनीषा—एक तो बुद्धि होती है वस्तुके स्वरूपको बतानेवाली। उसको तो 'बुद्धि' बोलते हैं। अच्छे-बुरेकी पहचान जिससे होवे उसका नाम बुद्धि। मनको भी नियन्त्रित कर ले। मनसः ईषा। यह क्या है?

अब आपको केनोपनिषद्की थोड़ी-सी याद दिलाता हूँ—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥ केन.

तो केनेषितं-*केनेषितं—एक ईषितं* उसमें जो है, वह कौन है? जिसके द्वारा ईषित होकरके मन चलता है? तो उसी मनको ईषित करनेवाली जो प्रज्ञा है, उसको बोलते हैं मनीषा। मनोवृत्तिरूप नहीं, माने संस्कारजन्य प्रज्ञा नहीं। अभ्यास करते-करते, साधन करते-करते, उपासना करते-करते वह परिणामरूपी प्रज्ञा है, सो नहीं। ज्ञान जो होता है न, वह संस्कारजन्य भी नहीं होता है और संस्कारजनक भी होता है। तत्त्वज्ञानका यह स्वरूप है।

वह संस्कार डालते-डालते, दुहराते-दुहराते-दुहराते-दुहराते वृत्ति जो है, वह परिपक्व होकर, पक्की बनकर ज्ञान हो गयी, ऐसी नहीं। ज्ञान किसी वृत्तिका परिपाक, किसी अभ्यासका परिपाक, ऐसा नहीं है। किसी उपासनाका परिपाक नहीं है। वह तो अबतक ठीक कभी हुआ नहीं है। अभ्यास कहाँसे होगा उसका? कभी हुआ होता तो उसको दुहराकर अभ्यास करते और हो गया होता तो अविद्याकी निवृत्ति होगयी होती। अभ्यासकी जरूरत ही नहीं पड़ती और होते ही अविद्याका नाश कर देता है। तो दूसरी किसी अविद्याको नाश करनेके लिए अभ्यासकी जरूरत नहीं रहती। तो न तो तत्त्वज्ञान किसी संस्कारसे पैदा होता है और न तो तत्त्वज्ञानसे कोई संस्कार पैदा होता है। वह तो केवल महावाक्यजन्य है और होनेके बाद संस्कारोंको भस्म कर देता है। तो वह संस्काररूपसे रहता नहीं है।

ऐसा जो मनके ऊपर रहनेवाला ज्ञान है, उसको बोलते हैं, 'मनीषा' और वह मनीषा जिसको प्राप्त हो गयी, उसका नाम है 'मनीषी'। बहुवचनमें उसको बोलते हैं—'मनीषिणः'। अब जब ज्ञानी हो गये तब क्या होगा?

जन्म बन्धविनिर्मुक्ताः।

जन्मका जो बन्धन है, जायस्व-म्रियस्व=पैदा होओ और मरो, यह है बन्धन। कोई बार-बार मरना नहीं चाहता है। पैदा होना तो सब लोग चाहते हैं, लेकिन बार-बार मरना नहीं चाहते। पैदा होना लोग क्यों चाहते हैं? वह दुनियामें किसीसे फँस जाते हैं न, तो कहते हैं—*'जन्म हमको यहीं मिले।'* लेकिन जो सम्पूर्ण रागसे विमुक्त हो जाते हैं, उपरोक्त हो जाते हैं, किसी चीजको पानेके लिए फिर जन्म लेना भी नहीं चाहते हैं।

बस, जिसका जन्म होगा उसकी मृत्यु भी होगी। तो जन्म और बन्धनसे

छूट करके 'अनामयं पदं गच्छन्ति' जहाँ जन्म, मरण, अविद्या, जड़ता आदि कोई आमय नहीं है, उस पदको प्राप्त होते हैं—

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 15.5

वह जो पन्द्रहवें अध्यायमें 'अव्ययपद'का वर्णन किया गया है न!

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 15.5

वह जो अव्यय पद है—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। 15.4

जहाँ जाकर लौटना नहीं होता, जो जन्म-मरणसे, जो जड़तासे, जो दुःखसे सर्वथा मुक्त=अनामय, निरोग जो पद है, जहाँ कोई आमय नहीं है, उस पदको प्राप्त करते हैं। कौन प्राप्त करते हैं? जो बुद्धियोगी होते हैं। पहली बात है कि बुद्धियोगी होना। दूसरी बात है कि कर्मज जो फल है, माने साध्य जो लोक है, साध्य जो स्थिति है, उनको छोड़ देता है, उसके बाद वह तत्त्वज्ञानी हो जाता है। तत्त्वज्ञानी हो जानेपर वह जन्मबन्धनसे विनिर्मुक्त हो जाता है। और फिर वह स्वरूपसे अनामय पदका अनुभव करता है। यहाँ 'गच्छन्ति'का अर्थ है—'अनुभवन्ति'। गच्छन्ति माने अनुभव करते हैं, इसका।

●

: 42 :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

2.52-53

भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता-उपनिषदोंमें अन्यतम 'बुद्धियोगोपनिषद्' में अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं कि बुद्धियोगी पुरुषका लक्षण यह है कि वह कर्मसे पैदा होनेवाले जितने फल हैं, उनका त्याग कर देता है—

नास्त्यकृतेकृतेन।

श्रुतिने कहा—'कृतेन अकृतः नास्ति।' कृतेन कर्मणा अकृतेन स्वयंसिद्धः मोक्षः। नास्ति न भवति।

कर्मके द्वारा अकृत जो वस्तु है, वह नहीं मिलती है। जो चीज पहलेसे मौजूद है, वह जाननेसे मिलती है। जो चीज पहलेसे मौजूद है, वह कर्मके द्वारा बनानी नहीं पड़ती। तो बुद्धियोगी पुरुषकी समझमें साफ-साफ यह बात आनी चाहिए कि हमें बनायी जानेवाली जो चीज है प्राप्य, कोई स्वर्ग, कोई ब्रह्मलोक, कोई स्थितिविशेष, वह हमको प्राप्त करना नहीं है, इसलिए कर्मजन्य कोई भी पदार्थ हमको नहीं चाहिए। बुद्धिमानका पहला लक्षण यह और दूसरी बात यह कि वह सिद्धवस्तुको जान ले तो मनीषी हो गया। जब मनीषी हो गया, तत्त्वज्ञ हो गया, तो जन्मबन्धनसे उसकी विनिर्मुक्ति हो गयी, क्योंकि जो साक्षी चैतन्य है, इसका तो जन्म-मरण होता नहीं है। जो चीज दिखायी पड़ती है, प्रतीत होती है उससे वह न्यारा है।

जन्म और मृत्यु भी भान होते हैं, प्रतीत होते हैं, इसलिए उनसे वह न्यारा है। तो जब जन्म और मृत्युके बन्धनमें जो चीज बँधी हुई है, वह तो प्रतीति है और जिसको प्रतीत होती है वह जन्म और मृत्युके बन्धनमें बँधा हुआ नहीं है। वह तो जैसे कोई विजयकी इच्छा करनेवाला राजा होवे और अपने पास सैनिक रखता होवे, तो सेनाकी जीत ही राजाकी जीत है और सेनाकी हार ही राजाकी हार है।

इसी प्रकार जो कोई संसारमें कुछ करना चाहता है, वह बुद्धि-मन-इन्द्रियकी सेना अपने पास रखता है। अगर उसकी सेना कैद होवे तो वह अपनेको भी कैद मानता है कि मैं भी कैद हो गया। और सेना यदि मुक्त होवे तो वह अपनेको भी मुक्त मानता है कि देखो, मैं बड़ा शक्तिशाली हूँ। इसी प्रकार मनसे, बुद्धिसे, इन्द्रियोंसे सम्बन्ध जोड़ करके जो बैठा हुआ है, वह इनके जन्मको, इनके मरणको अपना जन्म, अपना मरण मानता है और दुःखी होता है और इनकी मुक्तिको अपनी मुक्ति मानता है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

परमार्थगति यह है कि आत्माका न जन्म है, न बन्धन है और बुद्ध्यादिमें न जन्म, न मृत्यु। पर उनमें जन्म और मृत्युकी प्रतीति हो रही है। तो जिसने अपने स्वरूपको जान लिया उसके लिए बुद्धि आदिका कोई अस्तित्व, कोई उनकी महिमा ही नहीं रह गयी। तो वह तो प्रतीत होते हुए भी न होनेके बराबर है। इसलिए 'अनामयपद'की प्राप्ति उसको हो जाती है।

'अनामयं पदं गच्छन्ति।' अनामयपदका अर्थ है नीरोगपद। आमय=रोग। आम रोगे। 'रोगे' धातुसे 'आम' पद बनता है। हिन्दीवाला 'आम' नहीं, हिन्दीमें तो 'आम' फलको बोलते हैं न! संस्कृतमें 'आम' माने होता है एक तो कच्चा, आमान्न, तो वह पद तो बना है, आमावास्यासे। आमावास्यामें जो 'आम' है न, उससे बना है आम। अमावास्याके दिन जो कच्चे अन्नको पीसकर श्राद्ध करते हैं, पिण्डदान करते हैं न? वह 'आमान्न।' और 'आम रोग'से जो 'आम' पद बना है, उससे जो कभी-कभी आँव पड़ता है न लोगोंको, संस्कृतमें उसके लिए 'आम' शब्द है।

आम=कच्चा। भोजनका परिपाक भीतर ठीक-ठीक नहीं हुआ, तो वह

जो कच्चा अन्न है, वह शरीरमें विकार पैदा करता है। उससे जो होता है उसको बोलते हैं 'आम'। तो '**आमम् माने आमोपलक्षितं रोगं यान्ति अनेन इति आमय।**' आमसे उपलक्षित यदि किसी भी रोगको प्राप्त हो जाय, जो पक्का न हो, अन्तःकरण परिपक्व न हो, कच्चा ही रह जाये—

कषाय पक्तिः कर्माणि

यह अन्तःकरणके रोगोंको, दोषोंको परिपाक करके-परिपक्व करनेके लिए जो साधन है न, उनको जो प्राप्त नहीं होवे। तो बोले—भाई, आमय हुआ।

दूसरा 'आमय' शब्दका अर्थ है, एक धातु है नीञ् हिंसने-आमयनं अनेन—

'**आमयनं हिंसनं अनेन इति आमय।**' आमय उसको कहते हैं जिससे हिंसा हो जाय। आदमी टुकड़ा-टुकड़ा हो जाय। हो तो पूर्ण! एक शरीर पूर्ण है, लेकिन टुकड़ा-टुकड़ा जिससे हो जाय? यह हाथमें दर्द हो रहा है, यह सिरमें दर्द हो रहा है, यह पाँवमें दर्द हो रहा है, यह अच्छा है, यह बुरा है। शरीरको दो टुकड़ा कर देता है, तो इसीको हिंसित करता है, दुःख पहुँचाता है। इसीलिए 'आमय'को 'आमय' कहते हैं। *आमयनं अनेन इति आमयः।*

अकायं अव्रणं अस्नाविरँ् शुद्धं अपापविद्धम्॥ ई. 8

कहकर उपनिषदोंमें जिसका वर्णन किया हुआ है, उसको बोलते हैं 'आमनाय'। तो असलमें सच्चा रोग क्या है? रोगका सच्चा स्वरूप क्या है? अविद्या ही रोगका सच्चा स्वरूप है। आमयं=आमयनं हिंसनं अनेन—जो मनुष्यको टुकड़ा-टुकड़ा कर दे। यह 'मैं' अलग और यह 'तुम' अलग। और वह ईश्वर अलग और वह जगत् अलग और वह बन्धन अलग और यह मोक्ष अलग। यह जो भेद है, यह किसने बनाया? यह अविद्याने बनाया। तो अविद्या ही असलमें आमय है। रोग है। अविद्याके सिवाय, अज्ञानके सिवाय दूसरा कोई रोग नहीं है।

तो ऐसा जो नीरोगपद है, माने अविद्यारहित जो पद है, अनामयपद माने? अविद्यारहित जो पद है, उसको वह प्राप्त होता है। उसका अनुभव करता है। इसीसे दूसरी जगहपर आया कि जो 'अमूढ' होता है, उसको उस पदकी प्राप्ति होती है।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

अमूढा=मोहरहिता=जिनको मोह नहीं है वह अमूढ। तो नीरोग कौन होता है? सब रोगोंसे कौन बचेगा? बोले—जिसके अन्दर मोह नहीं होगा।

अर्जुन! तुम रोगी हो गये हो, क्योंकि तुम्हारे मनमें मोह आगया है। संसारमें ज्यादा कुछ देखना मोहसे ही होगा। क्या? हमारा बेटा ऐसा होवे, हमारा नाती ऐसा होवे, हमारी बहू ऐसी होवे, हमारी माँ ऐसी होवे, हमारा धन ऐसा होवे। यह जो हम वैचित्यभावको प्राप्त हो करके—'मोह वैचित्ये'—हमारा चित्त विपरीत हो गया है। वह अपने स्वरूपके बारेमें न सोच करके दूसरोंके बारेमें सोचता रहता है न, और इसीका नाम मोह है। तो जो लोग आत्माके सम्बन्धमें विचार न करके देह-इन्द्रिय और इनके सम्बन्धियोंके बारेमें विचार करते रहते हैं, उनका नाम है 'मूढ' और इनको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 16.20

मूढ जो होता है, वह जन्मबन्धनसे विनिर्मुक्त नहीं होता। और उसे 'अव्ययपद'की प्राप्ति होती है।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ 10.3

जो असंमूढ होता है वह अविद्या और अविद्याके कार्यसे मुक्त हो जाता है। इसलिए अनामयपदकी प्राप्ति करनेके लिए मोहका निषेध होना चाहिए।

बोले—भाई! यहाँ मोहकी कथा करनी क्यों शुरू कर दी?

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। 15.5

मोह-संमोह-संमूढ—इस तरहसे इसकी निन्दा है। इसलिए शुरू कर दी कि अगले श्लोकका बीज इस अनामयपदकी प्राप्तिमें मौजूद है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 2.52

अर्जुनने कहा कि—'श्रीकृष्ण! यह ऐसी बुद्धि जब हम जन्मबन्धनसे विनिर्मुक्त हो जायँ, कर्मफलको छोड़ दें, अनामयपदको प्राप्त करें ऐसी बुद्धि हमको कब मिलेगी? वह सौभाग्य हमारे जीवनमें कब आवेगा? जब ऐसी बुद्धि

हमको मिले कि संसारमें कहीं बन्धन न हो, तब क्या आनन्द होगा? वह दिन ही बता दो, तारीख बता दो।'

देखो, असलमें लोग परमार्थको भी एक कालके भीतर प्राप्त करनेकी, अवधि बनाना चाहते हैं कि किस दिन मिले? और यहाँतक कि इतने समयमें तो सब 'उपनिषद्' प्रकट हुए जब उनके ज्ञानकी प्रधानता थी। फिर इतने समयमें 'गीता' आदि प्रकट हुए तो उनकी प्रधानता थी। फिर 'पुराण' प्रकट हुए, जैसे-जैसे मनुष्यकी बुद्धि आगे बढ़ती गयी। किस ओर? कि पता नहीं। तो जैसे-जैसे मनुष्यकी बुद्धि आगे बढ़ती गयी, नया-नया आविष्कार करता गया तो हम विकास करते-करते किस दिन मुक्त हो जायेंगे? असलमें शास्त्रमें जो आज्ञा देनेकी पद्धति है, वह यह नहीं होती है कि एक दिन सबको सेनामें काम करनेकी आज्ञा दी गयी हो कि इतिहासके एक कालमें एक दिन सबको वेद पढ़नेकी आज्ञा दी गयी हो। कि सबको एक दिन फावड़ा चलानेकी आज्ञा दी गयी हो। कि सबको एक दिन दुकान करनेकी आज्ञा दी गयी हो। इतिहासके एक कालमें किसी एक तरहकी आज्ञा दी जाती हो, यह सोचना तो मानो बुद्धिसे अपना सम्बन्ध बिलकुल तोड़ देना है।

बोले—'भाई! एक समय ऐसा था जब ये लम्बी-लम्बी उँगली वाली तसवीरें बना करती थीं और एक समय ऐसा था जब आँख जो है, वह कानको छूनेवाली बना करती थी।' ऐसा नहीं होता। वह तो जब बालक चित्रकार होता है तो दूसरे ढंगका चित्र बनाता है और जवान होता है तो दूसरे ढंगका चित्र बनाता है। उसके हाथ पक्के हो जाते हैं, तब दूसरे ढंगका बनाता है। क्या, अभी मुम्बईकी शैली जुदा है तसवीर बनानेकी। कांगड़ाकी शैली जुदा है, लखनऊकी शैली दूसरी है, रवीन्द्रनाथ टैगोरके स्कूलमें दूसरा ही ढंग हैं, भाई! कनू देसाईका दूसरा ही ढंग हैं। एक ही समयमें सर्वावसीलका दूसरा ही ढंग है। तो यह क्या बात है? समय तो एक ही है। जिसका जैसा अभ्यास, जिसकी जैसी रुचि, जिसका जैसा संस्कार। एकमें सब।

कोई राधाकृष्णनकी जीवनीका पता लगा ले और कहे कि उन दिनोंमें भारतवर्षमें सब लोग राधाकृष्णन् सरीखे विद्वान् थे, तो यह बात बिलकुल गलत होगी न? आज भी दुःखु चमार मौजूद है। बहुत सारे ऐसे लोग हैं, जो एक अक्षर नहीं जानते हैं। तो एक कालमें सब पण्डित होते हैं, एक कालमें

सब सैनिक होते हैं, इस प्रकार कालके आधारपर लोगोंकी बुद्धिका बँटवारा कर देना, यह कोई बहुत विचारकी बात नहीं है। सब युगमें सब तरहकी बुद्धिवाले लोग होते हैं। सब युगमें सब तरहके अधिकारी होते हैं। तो यहीं चार सौ आदमी बैठे हुए हैं। उनमें-से कोई काम बाँटना हो तो कहेंगे कि 'भाई, तुम स्वयंसेवकका काम बहुत बढ़िया कर सकते हो, इसका नियन्त्रण तुम करो।' ऐसे करना पड़ेगा न! यह करना पड़ेगा कि—'तुम उनसे मिलने-जुलनेका काम बहुत बढ़िया कर सकते हो, तो उनसे मिलने-जुलने, बात करनेका काम तुम करो।' उनको बुलानेका काम तुम करो। क्यों ऐसा? आज्ञामें भेद क्यों होता है?

आज्ञामें भेद अधिकारी भेदसे। जो जिस कामको करनेके योग्य होता है, जिसके अन्दर जिस ढंगकी योग्यता और उत्साह होता है, उसके जिम्मे वह काम किया जाता है। तो यह सोचना कि परमार्थकी प्राप्तिके लिए एक तिथि पहलेसे निश्चित कर दो, ऐसा नहीं?

हमारे एक महात्मा थे, उत्तरकाशीमें रहते थे। वे आये एक बार वृन्दावन। तो उन्होंने अपनी डायरी दिखायी। डायरीमें क्या लिखा था? कि—'अमुक संवत्के अमुक महीनेमें, अमुक तिथिको इतने बजकर इतने मिनट पर हमको तत्त्वज्ञान हो गया और तबसे मैं ब्रह्म हूँ।'

अच्छा भाई, उसके पहले क्या थे तुम? यह बताओ! ब्रह्म तो हुए उस तारीखको उतने बजकर उतने मिनटपर और उसके पहले क्या थे तुम? तो मुक्ति सादि हो गयी न? ब्रह्मपना सादि हो गया न? तो जो सादि होता है वह सान्त भी होता है।

●

: 43 :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 2.53

पहले जिज्ञासुको अपनी बुद्धिके बारेमें विचार करना चाहिए कि वह विप्रतिपन्न है कि अविप्रतिपन्न है। विप्रतिपन्न, अविप्रतिपन्नका अर्थ क्या है? परमार्थके सम्बन्धमें उसके साधनके सम्बन्धमें तुम्हारा निश्चय और बिलकुल ठीक है कि नहीं? विप्रतिपत्ति। तो विप्रतिपत्ति और प्रतिपत्ति ये दो शब्द हैं समझो! प्रतिपत्ति=ठीक-ठीक ग्रहण करना और विप्रतिपत्ति=विपरीत ग्रहण करना। वि=विपरीत। प्रतिपत्ति=ग्रहण। तो हुआ क्या?

तरह-तरहकी बातें सुननेको मिलीं। किसीने कहा कि—'स्वर्ग ही परमार्थ है। और उसका साधन धर्म ही ठीक है।' 'इष्टलोककी प्राप्ति ही ठीक है और उसके लिए उपासना ही ठीक है।' किसीने कहा—'समाधि लगाना जरूरी है, उसके लिए ध्यान-धारणादि करना चाहिए।' किसीने कहा कि—'पदार्थका ज्ञान ही प्राप्त करना है, तो श्रवण-मननादि करना चाहिए।'

अपने लक्ष्यके सम्बन्धमें और साधनके सम्बन्धमें जो तरह-तरहकी बातें सुननेमें आयीं। जो तरह-तरहकी श्रुतियाँ सुननेमें आयीं, इससे बुद्धिकी स्थिति यह हो गयी कि वह कुछ भी ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करती है। न सिद्धके सम्बन्धमें, न साध्यके सम्बन्धमें, न साधनके सम्बन्धमें। सिद्ध है ब्रह्म, साध्य है अन्तःकरणशुद्धि और साधन है शमदमादि। निवर्त्य है अविद्या और राग-द्वेषादि।

सिद्ध ब्रह्म और साध्य है अन्तःकरणकी शुद्धि। साधन है बहिरंग शमदमादि और अन्तरंग श्रवण-मननादि। निवर्त्य है बहिरंग रागद्वेषादि और अन्तरंग अविद्या। तो निवर्त्यको जानकर, साधनको जानकर, साध्य अन्तः-करणशुद्धिको जानकरके सिद्ध ब्रह्मका तत्त्वज्ञान प्राप्त करना और अविद्याको निवृत्त करना। यह सीधा रास्ता था। परन्तु निष्ठा होनेके कारण तरह-तरहकी बातें वेदोंकी भी सुननेमें आयीं, श्रुतियोंकी भी और कानने तो गजब ढा दिया। श्रुति=कान और श्रुति=वेद।

श्रवणके करणका नाम भी श्रुति है और 'श्रुति' वेदकी संज्ञा भी है। जो संप्रदाय-परम्परासे सम्प्रदायविच्छेदसे नियतानुपूर्वी जो श्रवण होता है, उसको 'श्रुति' बोलते हैं। इससे बुद्धि थोड़ी चकरा गयी, विप्रतिपन्न हो गयी। माने कहीं जमती नहीं है कि 'यह करें कि यह न करें?' पाँच मिनट यह किया, दस मिनट यह किया। भाई! इससे नहीं मिला तो यह किया, इससे नहीं मिला तो यह किया।

असलमें बुद्धिकी स्थिरता चाहिए थी। एक जगह बुद्धि जम जाय, तो उसमें बुद्धिका आश्रयभूत तो परमात्मा है, उसका प्रतिबिम्ब साफ-साफ ग्रहण हो। लेकिन बुद्धि जमती नहीं है। वह यह देखती है कि हमारे सामने विषय क्या है? हम यह सोचने लगते हैं कि किसका ध्यान करें? यही झगड़ा मनमें आजाता है कि रामका ध्यान करें कि कृष्णका? निराकारका करें कि साकारका? यही झगड़ा मनमें आजाता है और असलमें इसका महत्त्व नहीं है बिलकुल कि कोई रामका ध्यान करता है कि कृष्णका? इसका भी महत्त्व नहीं है कि कोई निराकारताका ध्यान करता है कि साकारका? महत्त्व तो इस बातका है कि बुद्धि यदि स्थिर हो गयी तो उस स्थिर बुद्धिमें उससे जो परे उसका अधिष्ठान, उसको जो स्वयंप्रकाश तत्त्व है न; प्रकाशक, उसका प्रतिबिम्बन होने लगता है। सारा महत्त्व तो इस बातका था कि बुद्धि कहीं स्थिर हो जाय। राममें हो, कृष्णमें हो, निराकारमें हो, ध्यानमें हो, समाधिमें हो, निःसंकल्पतामें हो; कैसे भी शान्ति आवे?

विजातीय प्रत्ययसे अनंतरीय और सजातीय प्रत्यय जब प्रवाहित होने लगते हैं तो ध्यान बन करके उसमें बुद्धिके प्रकाशक चित् तत्त्वका स्पष्ट प्रतिबिम्बन आवे, प्रतिबिम्ब पड़े इसकी तो जरूरत थी। लेकिन विषय-विषयका

विचार होने लग गया कि यह विषय बनाना कि यह विषय? यह उल्टा ग्रहण है। सोचना यह चाहिए कि बुद्धि स्थिर हो जाय तो उसमें जो आत्मचैतन्य है, उसका प्रतिबिम्बन होवे।

संस्कारोल्लेखशून्य, वासनाशून्य, कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य, विजातीयप्रवाह-शून्य शुद्ध सात्त्विक बुद्धिमें आत्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन होता है। तो स्थिरताको बिलकुल छोड़ दिया। यह देखने लगे कि कहाँ स्थिर करें? पेट भरें, यह दृष्टि नहीं रही, क्या खायँ यह दृष्टि रही। माने जीवन निर्वाहके लिए जो आवश्यक है, चार रोटी पेटमें डाली, काम बन गया। विचार यह हो गया कि क्या खायँ और क्या नहीं खायँ? अब सारे बाजारमें घूमो कि बाजारमें क्या-क्या चीज मिलती है? उसकी परीक्षा करो कि स्वास्थ्यके लिए क्या ठीक है और किसमें स्वाद ज्यादा आवेगा? नमकीनका स्वाद ज्यादा अच्छा होगा कि मिठाईका स्वाद ज्यादा अच्छा होगा?

यह जो भेद है न, ध्येय-मूर्तियोंमें, यह कोई नमकीन है, कोई मीठा है, कोई फीका है। ये ध्येयमूतियोंमें इतना ही भेद है कि कोई-कोई ध्येय जो है वह नमकीन होता है, कोई मीठा होता है, कोई फीका होता है। कोई दूध सरीखा गटागट पीनेके लिए होता है। और कोई गाँठिया सरीखा चबानेका होता है। तो मतलब तो केवल जीवनको ठीक स्थानपर बैठानेका था, तो वह विचार छूट गया। ढूँढ़ने लगे कि वडेमें स्वाद ज्यादा आवेगा कि खीरमें स्वाद ज्यादा आवेगा? कि हलवामें स्वाद ज्यादा आवेगा? और भूखे रह गये। यह स्थिति लोगोंकी हो गयी। तो यह कैसे हुआ?

दुकानदार जैसे अपने-अपने मालकी तारीफ करते हैं न, तो ग्राहक जो है, वह 'यह लें कि वह लें?' झगड़ेमें पड़ जाता है। ऐसे ही साधक भी कभी-कभी झगड़ेमें पड़ जाता है। इसी बुद्धिको बोलते हैं 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' अब बोले कि बुद्धिकी क्या स्थिति होनी चाहिए।

'यदा स्थास्यति'—बुद्धि स्थिर हो जायगी। 'तदा योगमवाप्स्यसि'। 'यदा स्थास्यति, तदा योगमवाप्स्यसि।' 'हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि स्थिर होगी तब तुम मेरेको प्राप्त करोगे।' बुद्धि स्थिर होना आवश्यक है। अब यह प्रश्न हुआ कि कहाँ स्थिर होवे? और स्थिरता कैसी होवे? स्थिर होवे, उसका नाम रखा 'समाधि'। समाधौ—वह आश्रयरूप जानो। मुर्दा जहाँ गाड़ा जाता है,

उसको समाधि बोलते हैं। तो अन्त:करणकी सब वृत्तियाँ जहाँ दफना दी जायँ, जहाँ गाड़ दी जायँ, उसका नाम समाधि है।

जैसे पञ्चभूतसे बने शरीरके लिए जहाँ दफनानेकी जगह या कब्रगाह, उसका नाम जैसे समाधि है। महात्मा लोग मरते हैं तो उनको कहाँ गाड़ते हैं? गाड़ते थोड़े ही हैं? उन्हें समाधि देते हैं। तो महात्मा लोगोंके शरीरको जैसे समाधि दी जाती है वैसे हमारे अन्त:करणको जो समाधि दी जाती है न, उसको यादमें रखो—'**सम्यक् आधीयते यस्मिन् इति समाधि**।' जिसमें भलीभाँति और पूरी तरहसे; सं=भलीभाँति, आ=पूरी तरहसे और धीयते=रख देना, रख दी जाती है मनोवृत्ति, उसका नाम 'समाधि।' राममें? कि कृष्णमें? कि शिवमें? कि आत्मामें? कि परमात्मामें? यह मतलब नहीं है। उसको दफना देना पड़ेगा। मनको ठप कर दो। जहाँ मन ठप हो जाता है, जहाँ बुद्धि ठप हो जाती है। इससे काम लेना बन्द करो। अपने मनीरामको जो काम लेनेके लिए बाजार भेजते हो न? इससे वह सोहबतके कारण, संगदोषके कारण बिगड़ता है।

हमारे यहाँ एक आदमीको काम करनेके लिए रखा गया। जो सिफारिश करनेके लिए आये थे न, कि 'इसको रखो,' उन्होंने कहा कि—'महाराज! इनको दोपहरमें और रातमें बाहरके जो काम करनेवाले लोग हैं न दूसरे सेठोंके, उनके साथ सोनेकी इजाजत मत दो। इसको अपने घरमें ही, अपने फ्लैटमें ही सुलाओ। क्योंकि इसको अभी मुम्बईकी हवा नहीं लगी है। मिल जायगा तो लग जायगी हवा। वे लोग अपनी सब बात उसको सिखा देंगे। तो जो-जो दोष उनमें है, वे सब इनमें आ जायेंगे। है न? तो यह मन भी तुम्हारा काम करनेवाला है। पर इसको गंदे विषयोंसे मत मिलने दो। वहाँसे इसको अलग रखो। तो उसके सोनेकी एक जगह बनाओ। इसके सोनेकी जो जगह है, उसका नाम 'परमात्मा' है। उसका नाम 'आत्मा' है। उसका नाम समझो, 'कैवल्य अवस्था' है। द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान है।

लेकिन यह बात जरूर है कि विचार और संकल्पोंका बाहर विचार नहीं है। मनोराज्य नहीं है। परमात्मामें आकर स्थित हो जाना। ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मको ही समाधि कहते हैं। ईश्वरवादी लोग ईश्वरको ही समाधि कहते हैं। योगी लोग जो हैं वे द्रष्टाके स्वरूपावस्थानको ही समाधि कहते हैं। परन्तु कुलका मतलब यह है कि मन और बुद्धि जो है वह चंचलताको प्राप्त नहीं हो, दफनायी जाय समाधिमें।

वह स्थिरता किस ढंगकी होनी चाहिए? यह बात दो शब्दसे कही गयी—'निश्चला और अचला'। सामान्यरूपसे देखनेपर ये दो शब्द एक सरीखे ही मालूम पड़ते हैं। वही 'चल्' धातु है, 'निः' उपसर्ग लगाया तो 'निश्चला' हो गया और निषेधार्थक 'अ' जो है, उसको जोड़ दिया, नञ् समास कर दिया तो 'अचला' हो गया। अब यह निश्चला और अचलामें क्या फरक है? तो अब इसको ध्यानमें बैठाओ।

बुद्धि निश्चला और अचला होनी चाहिए। तो मैं समझता हूँ कि अब आप लोग ध्यानके बारेमें इतने जानकार हो गये हैं कि अब उसके बारेमें कुछ ज्यादा कहें तो वह शायद ठीक नहीं लगे। तो निश्चला और अचला। निश्चलाका अर्थ पहले यों समझो—

तर्कैः प्रतिहन्यमानाति विचलनरहिता।

चाहे कोई कितना तर्क-वितर्क करनेवाला मिल जाय लेकिन तुम्हारी बुद्धि इतनी निष्ठावान् हो, कि तर्क और वितर्कसे, बहस-मुर्बाहसासे, खण्डनसे, हिलाने-डुलानेसे—लोगोंके हिलाने-डुलानेसे तुम्हारी बुद्धि न डोले। माने अपने निश्चयसे न डिगे। बुद्धि कैसी होती है? आपको मालूम है? लाल कि काली, कि पीली? बुद्धिका रंग मालूम है? नहीं। बुद्धिका अपना रंग नहीं होता। जिस विषयका ध्यान होता है, उसी विषयका रंग बुद्धिमें आजाता है।

अच्छा, बुद्धिकी लम्बाई-चौड़ाई बताओ, कितनी बड़ी होती है बुद्धि? नहीं, बुद्धिकी लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती है। वह तो जितनी बड़ी चीजोंका ध्यान करोगे, वह विषयका ही आकार बुद्धिमें प्रविष्ट हो जाता है। अच्छा, बुद्धिकी उम्र कितनी है? तो असलमें बुद्धि है वही परिच्छिन्नकालाकार, परिच्छिन्नदेशाकार और परिच्छिन्न विषयाकार परिणामको प्राप्त होती है। अब अगर यह निश्चय हो जाय कि परिच्छिन्न काल, परिच्छिन्न देश और परिच्छिन्न विषय तीनों मिथ्या हैं, माने आत्मा-अनात्माके स्वरूपके ज्ञानसे यह निश्चित हो जाय कि प्रतीयमान देश, प्रतीयमान काल और प्रतीयमान विषय—ये बाधित हैं, मिथ्या हैं, है ही नहीं, तब बुद्धिका आकार क्या होगा? तब बुद्धिका नाम 'ब्रह्म' हो जायगा। माने बुद्धिमें दो हिस्सा है—एक विषय और एक विषय प्रकाशित करनेवाला चेतन। जब चेतनकी पूर्णताका ज्ञान हो जाता है, तब बुद्धिमें जडांश है, वह बाधित हो जाता है। तो ज्ञानमें देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं रहता है। तब उस

बुद्धिका ही नाम 'ब्रह्म' है। माने बुद्धिमें जो चिन्मात्र अंश है, उसीका नाम 'ब्रह्म' है। और बुद्धिमें जो दृश्यांश है, उसीका नाम प्रपञ्च है। चिन्मात्रसे बोधसे जब जडांश बाधित हो जाता है तब बुद्धि ही ब्रह्म है। बाधित जडांश जो बुद्धि है, वह ब्रह्म है। ज्ञात चिन्मात्र। चिन्मात्रका ज्ञान हो गया और जडांश बाधित हो गया, यह ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया।

अब देखो, निश्चला और अचला ये दो तरहसे। एक ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिसे, एक समाधिकी दृष्टिसे। दो तरहसे इसपर विचार करते हैं। हे भगवान्! जो लोग सत्संग हमेशा करते हैं, उनके लिए यह बात मुश्किल नहीं पड़ेगी। और जो लोग कभी अपनी वृत्तिको अन्तर्मुख करते हैं। एक सभाके सत्संगी होते हैं, भला! सभामें आते हैं तब सत्संगी और घरमें जाते हैं तो उस सुने हुएका मनन-निदिध्यासन नहीं करते हैं। चिन्तन नहीं करते हैं, ध्यान नहीं करते हैं। तो जो लोग एकान्तमें बैठकर इसका चिन्तन नहीं करते हैं, उनके लिए थोड़ा कठिन जरूर होता है।

अब देखो, निश्चलाका अर्थ हुआ, दुनियाका कोई तर्क-वितर्क, पंथ-सम्प्रदाय, बहस-मुबाहिसा तुम्हारी बुद्धिको अपने निश्चयसे डिगा न सके। अच्छा, और अचलाका क्या अर्थ है? कि अवस्थानपर प्राप्तिरूप जो विचलन है वह बुद्धिमें नहीं होवे। अब देखो, दो तरहसे हम इसको बताते हैं। एक तो असम्भावना, विपरीतभावना न हो तो निश्चला। ब्रह्म है कि नहीं है? अजी, ब्रह्म कहाँ है? हम तो जीव हैं और जगत् हैं। यह विपरीतभावना। ब्रह्म है कि नहीं है यह असम्भावना। हम ब्रह्म हैं कि जीव हैं, यह संशय होता है। हम जीव ही हैं यह विपरीतभावना।

असम्भावना, विपरीतभावना जब बुद्धिमें न हो तब उसको निश्चला बोलते हैं। यों कहो कि संशय न हो तो उसको निश्चला बोलते हैं। जब विपर्यय न हो तो उसको निश्चला बोलते हैं। असम्भावना, विपरीतभावनासे रहित, संशय-विपर्ययसे रहित, तर्ककी चोटसे घायल न होनेवाली जो बुद्धि है उसको निश्चला बोलते हैं। माने जो दूसरे निमित्तोंसे, कारणोंसे, बाहरके निमित्तोंसे-कारणोंसे और अपने ही अन्तःकरणमें जो अनादिकालसे अनुश्रुत साध्यके सम्बन्धमें, साधनके सम्बन्धमें, सिद्धवस्तुके सम्बन्धमें जो तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रतियुक्ति है, उनके द्वारा बुद्धि विचलित नहीं होवे, इसका नाम निश्चला है।

अब अचलाका क्या अर्थ है? स्वयं परिणामको प्राप्त न होवे, अन्य

निमित्तक परिणामकी, अन्य निमित्तक जो विचलन है, वह प्राप्त न होना, उसका नाम निश्चला है और स्वयं विचलित हो जाना, स्वयं एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जाना, इस परिणामको जो प्राप्त होना है, इसको समझो, सुषुप्ति, मूर्च्छा। योगसमाधिका अर्थ यह है, समाधि बताते हैं न? तो समाधिमें समझो कि एक तरहका विक्षेप है और एक लय है। विक्षेप क्या है? जाग्रत्-स्वप्न जो है, यह विक्षेप है। सुषुप्ति-मूर्च्छा आदि जो हैं, ये लय हैं।

समाधिमें स्थित होनेका अर्थ यह हुआ कि जब हम आत्माके स्वरूपमें अवस्थित अवस्थाका हों। यह बोध नहीं, यह ज्ञान नहीं, अवस्थाका वर्णन है। तो ऐसी अवस्थामें हम बैठें, उसका नाम समाधि है। कब? जब जाग्रत् और स्वप्नके समान अन्यथाग्रहण न हो, और सुषुप्ति और मूर्च्छाके समान अग्रहण न हो। 'माण्डूक्यकारिका' में बताते हैं कि—'सुषुप्तिरूप दशाका नाम है जब कुछ ग्रहण नहीं होता और जाग्रत्-स्वप्न उस अवस्थाका नाम है जब अन्यथा ग्रहण होता है।'

समझो, एक आदमी पागल हुआ और एक आदमी बेहोश हुआ, तो दोनोंमें क्या फरक है? पागल जो है, उसका चित्त विक्षिप्त है जाग्रत्-स्वप्नके समान और बेहोश हो गया तो? उसका चित्त मूर्च्छित है सुषुप्तिके समान। तो ये दोनों लय और विक्षेपरूप जो विघ्न हैं, विक्षेपरूप विघ्नकी निवृत्तिके लिए निश्चला और लयरूप विघ्नकी निवृत्तिके लिए अचला शब्दका प्रयोग किया गया। यह दूसरा अर्थ हुआ।

बताते हैं कि जब ध्यान करने मनुष्य बैठता है, तब कई विघ्न उसके चित्तमें आते हैं। ध्यानके विघ्न होते हैं—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् सम्प्राप्तं नैव चालयेत्॥

यह ध्यानकी पद्धति बतायी। जिसको तत्त्वज्ञान होकरके अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो गयी है, जो परमार्थदर्शी पुरुष नहीं है, परमार्थदर्शनके लिए साधन कर रहा है कि हमको परमात्माका साक्षात्कार हो जाय, उसको किस तरहसे ध्यान करना चाहिए? यह बात बतायी गयी है।

जिसको परमात्माका दर्शन हो गया है, उसके लिए तो ध्यान करना और ध्यान न करना कोई अर्थ नहीं है। वह तो—

खुली आँख परमारथ देखूँ।

आँख खुली है और परमार्थ ब्रह्मका दर्शन हो रहा है। जो तत्त्वज्ञ है उसके लिए यह दिखनेवाला मकान और ये दिखनेवाले मुण्ड ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इसलिए यह दिखे तो कोई बात नहीं और यह न दिखे तो कोई बात नहीं।

विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्यात् विकारिणः।

चाहे विक्षेप होवे चाहे समाधि होवे, वह तो विकारी मनको होता है। लेकिन जो उस परमार्थका दर्शन करना चाहता है उन्हें अपने ज्ञानको अपनी बुद्धिमें उठनेवाली ज्ञानकी जो वृत्तियाँ हैं उनको स्वच्छ बनानेकी जरूरत पड़ती है। ब्रह्मको स्वच्छ बनानेकी जरूरत नहीं पड़ती। ब्रह्म तो स्वच्छ है, परन्तु जो अविद्याको निवृत्त करनेवाली वृत्ति है न, उस वृत्तिकी उत्पत्तिके लिए पहले उसमें जो दूसरी चीजें हैं, उनको अलग करना पड़ता है। जैसे आपको घड़ेको अगर ठीक-ठीक देखना है, तो कपड़ेका ख्याल छोड़ना पड़ता है। और कपड़ेको ठीक-ठीक देखना हो तो घड़ेका ख्याल छोड़ना पड़ता है। दो ज्ञान वृत्तिमें एक साथ नहीं होते। इसलिए प्रपञ्चज्ञान भी होवे और ब्रह्मज्ञान भी होवे, यह अविद्या निवर्तक जो वृत्ति है, वह प्रपञ्चज्ञानके साथ-साथ नहीं होती है। उसके लिए ब्रह्मज्ञान चाहिए तो ब्रह्माकार वृत्ति, चरमाकार वृत्ति जो आखिरी वृत्ति कहते हैं उसको पैदा होनेके लिए चार बात बुद्धिमें नहीं होनी चाहिए—

पहली बात तो यह है कि राग-द्वेष नहीं होना चाहिए वृत्तिमें, क्योंकि राग जिससे होगा, उसका ज्ञान होगा कि यह हमारा दोस्त है। वहाँ राग-दोष होगा। जिससे द्वेष होगा, यह हमारा शत्रु है, यह ज्ञान होगा। राग और द्वेषमें अनन्त शुद्ध वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। राग और द्वेषमें तो शत्रु और मित्रका ज्ञान होगा। तो पहली बात है कि ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए अन्तःकरणमें उस समय रागद्वेष नहीं होना चाहिए। एक बात, और—

दूसरी बात—यह है कि रसास्वादन नहीं होना चाहिए—

नास्वादयेद्रसं तत्र निःसंग प्रज्ञया भवेत्।
निश्चरन्निश्चरच्चित्तं एकीकुर्यात् प्रयत्नतः॥

रसास्वादनमें क्या है? अपने भोक्तापनकी जो भ्रान्ति है, यह रसास्वादनसे

नहीं मिट सकती। अपनेको शुद्ध ब्रह्म नहीं जान सकते। जहा रसास्वादन होगा वहाँ अपनेको भोक्ता जानोगे, दो बात हुई।

तीसरी बात अब यह हुई कि रागद्वेष भी न हो, रसास्वादन भी न हो, लेकिन मनोराज्य होता रहे! यहाँ-से-वहाँ, वहाँ-से-यहाँ। अगर किसी चीजको देखना है तो देखो। खुर्दबीन लगाकर, चश्मा लगाकर दृष्टिकी बिखरती हुई रश्मियोंको इकट्ठी कर दें। चश्मा लगानेका क्या अर्थ होता है? चश्मेमें दिशा है उसको इस ढंगसे काटते हैं कि हमारी जो आँखकी रोशनी है न, वह इधर-उधर फैल न जाय। रोशनीके फैलावको रोकनेके लिए चश्मा बनाते हैं तो ध्यान क्या है? ध्यान भी भीतर.... भोगका इधर-उधर न बिखरे। बिखरेगी तब भी वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। वह भी प्रतिबन्ध है।

चौथी बात—अच्छा, तब क्या करें? सो जाने दें? सो जाने दें तो सोनेमें वृत्ति नहीं रहेगी। और परमात्माके ज्ञानके लिए वृत्तिकी जरूरत है। इसलिए लयमें भी परमात्माका दर्शन नहीं होगा।

तो रागद्वेष, रसास्वादन—रागद्वेषको 'कषाय' बोलते हैं। कसैलापन। मन जरा कड़वा हो गया है, बोलते हैं न, कषाय=मन जरा कड़वा हो गया है। कसैला, कसैलापन। जैसे सुपारीको खाने पर होता है न? जैसे उसका स्वाद आता है कसैलापन अथवा जैसे कषायके रंगमें कपड़ेको रंग देते हैं तो उसकी श्वेतिमा छिप जाती है? तो जैसे श्वेतिमा छिप जाती है, वैसे यदि मनमें कड़वाहट हुई या मनमें रंग हुआ तो वह वस्तुके शुद्ध स्वरूपको प्रकट नहीं करता है। तो भोक्ताविषयक जो चिन्तन है, भोक्ताभावमें जो स्थिति है उसका नाम रसास्वादन है और विषयमें जो स्थिति है उसका नाम रागद्वेष है। जो कहीं स्थिति नहीं है, भटक रहे हैं उसका नाम विक्षेप है, मनोराज्य है। और जो मन सो गया उसका नाम लय है। ये चारों दोष जब अन्तःकरणसे निकलते हैं, तब उसमें परमात्माके दर्शनकी योग्यता आती है।

योग्यता और दर्शन जो है, वह तो महावाक्यजन्यवृत्तिके द्वारा 'तत्' पद लक्ष्यार्थ और 'त्वं' पद लक्ष्यार्थकी एकताका होता है, ऐक्यका दर्शन होता है। केवल 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती और केवल 'तत्' पदके लक्ष्यार्थसे भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। दोनोंकी एकताके दर्शनसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

तो निश्चला बुद्धिः=रागद्वेष, रसास्वादन और विक्षेप इन तीनोंसे रहित जो वृत्ति है, उसका नाम निश्चला है। और, लयरहित जो वृत्ति है, उसका नाम अचला है। जब बुद्धिवृत्ति नाना प्रकारकी विकलताओंको छोड़ करके विक्षेपसे और लयसे रहित होकरके समाधिमें—**समाधीयते यस्मिन् सर्वं।**

जिसमें सब अध्यस्त हैं, समध्यस्त हैं उसमें जब अपनी चित्तवृत्ति जाकरके लगती है तब 'योगं' माने 'परमार्थ योगं'='परमार्थप्राप्ति लक्षणं', परमार्थ-साक्षात्कारलक्षणं योगं अवाप्स्यसि।

उस समय परमार्थवस्तुका साक्षात्कार होता है। अब देखो, संस्कृत साहित्यमें कैसे अर्थ बदलता है? इसका एक नमूना आपको बताता हूँ। वेदमें ऋषि प्रणीतग्रन्थमें और मनुष्य-प्रणीतग्रन्थमें क्या भेद होता है? वेद जो होता है उसके एक-एक वचन सब प्रकारके अधिकारियोंको पसन्द आता है। त्रिगुणभावयत्वात्। उसी वचनमें-से यज्ञकी महिमा निकलेगी, उसी वचनमें-से उपासनाकी महिमा निकलेगी, उसी वचनमें-से योगकी महिमा निकलेगी और उसी वचनमें-से परमार्थवस्तुका स्वरूप प्रकट होगा।

संसारके जितने अधिकारी हैं—कम्युनिस्टोंकी चीज भी उसमें-से निकलेगी, भला! चार्वाक्दर्शनकी चीज भी उसमें-से निकलेगी। चार्वाक् लोग भी प्रमाणरूपसे वेदको उद्धृत करते हैं। 'हम मानते नहीं, लेकिन हमारी बात लिखी है।' प्रमाण नहीं मानते। 'न प्रेत्य संज्ञानिति' चार्वाक् उद्धृत करता है। देखो, 'वृहदारण्यक उपनिषद्'में लिखा है कि—'मरनेके बाद चेतना नामकी कोई चीज नहीं रहती।'

न प्रेत्य संज्ञानिति। वृहदारण्यक

'कठोपनिषद्'में तो दो पक्ष ही यह कर दिया है। वेदका पक्ष है कि 'संज्ञा रहती है' और 'अस्तित्येते' और 'नायं अस्तित्येते।'

मरनेके बाद साम्प्रदायमें, परलोकमें चेतना रहती है कि नहीं रहती है? दो पक्ष हैं, इसका विवेक किया हुआ है। तो जितने मत हैं, सब वेदमें-से निकल सकते हैं।

बौद्धमतमें भी 'ब्रह्म'का नाम वेदमें-से निकलता है। वेदमें 'तूर्यं ब्रह्म' ब्रह्मका एक नाम है। कौषितकी उपनिषद्में जहाँ ब्रह्मका वर्णन है वहाँ 'तूर्यं'का अर्थ 'निष्प्रपञ्च' है। प्रपञ्चसे रहित—तो यह बात है।

अब जो ऋषिप्रणीत ग्रन्थ होते हैं इसकी भी बड़ी महिमा होती है, क्योंकि 'ऋषि' कौन? यह नहीं समझना कि जो चाहे सो अपना नाम ऋषिके साथ जोड़ ले। जो वेदका मन्त्रद्रष्टा होता है, माने जिसने सृष्टिके प्रारम्भमें, माने जब सृष्टि पैदा हुई उस कल्पके पूर्व जो शब्दराशिके रूपमें थे वेद; वे भी प्रकट हुए। तो उनमें-से यह मन्त्र उन्होंने देखा। 'विश्वामित्र ऋषि हैं, क्योंकि उन्होंने 'गायत्री'को देखा था। इसी प्रकार जितने मन्त्र होते हैं, उन सबका एक-एक द्रष्टाऋषि होता है। ऋषि अनेक-अनेक मन्त्रोंके दृष्टा होते हैं। 'ऋषि दर्शनात्'। ऋषि उसको कहते हैं जिसने सृष्टिके प्रारम्भमें वेदमन्त्रका दर्शन किया। अब वह पूर्व-पूर्व शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा, योगज प्रत्यक्षके द्वारा पूर्व-पूर्व जो स्मृतियाँ हैं उनका दर्शन करके निर्माण करता है। तो ऋषिप्रणीत जो ग्रन्थ होते हैं वे भी सबकी भलाईके लिए होते हैं।

जब मनुष्य रचना करने लगता है, तब उसमें क्या होता है? कभी मनुष्यको भ्रम भी हो सकता है, कभी उससे प्रमाद भी हो सकता है और कभी वह दूसरेको ठगना भी चाहता है। कभी-कभी करणापाटव=उसकी बुद्धि वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण न करे। तो मनुष्यके अन्दर भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव ये सब दोष रहते हैं।

ऋषियोंके द्वारा बनाये हुए जो ग्रन्थ हैं, उनमें उनका जो उपदेश होता है वह वेदके अनुसार होवे तो ठीक, ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंके अनुसार होवे तो ठीक और उसके विपरीत होवे तो गलत। यह प्रामाणिकता होनी चाहिए।

यह भगवान्‌की वाणी 'गीता' एक तो ऋषि-प्रणीत है, 'व्यास' समान जो ऋषि हैं—'बादरायण' बादरी। 'बादरायण' ऋषि जो हैं, उन्होंने इसका संग्रह किया और भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे यह निःसृत बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ! अब आपको नमूना बताते हैं कि दूसरे सम्प्रदायवाले इसी श्लोकका कैसे अर्थ करते हैं।

वे कहते हैं, विप्रतिपन्न माने विरुद्ध प्रतिपत्ति नहीं, विरुद्ध ग्रहणका नाम विप्रतिपत्ति नहीं। विशेष प्रतिपत्ति=श्रवण, श्रुतिकी जो विशेष प्रतिपत्ति है, तुम्हारी बुद्धि परमार्थको कब प्राप्त करेगी? जैसे भगवत् प्रतिपत्ति होती है, भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार जब श्रुतिकी विशेष प्रतिपत्ति लेंगे माने श्रवण करेंगे।

और 'निश्चला'का क्या अर्थ है? मननसंपन्ना। तर्क-युक्तियोंसे विचलित न

हो। निश्चला और अचलाका क्या अर्थ है। निदिध्यासनसंपन्ना। श्रुतिविप्रतिपन्न माने श्रवणयुक्त निश्चला माने मननयुक्त अथवा निदिध्यासन युक्त। ऐसी जो बुद्धि है वह समाधि=ब्रह्ममें यदा स्थास्यति=यदा ब्रह्माकारा भविष्यति। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्यज्ञानसे जब वह ब्रह्ममें स्थित होगी माने ब्रह्मनिष्ठ हो जायगी। स्थास्यति=निष्ठावती भविष्यति जब निष्ठावती हो जायगी तब। तदा योगमवाप्स्यसि=तब तुम्हें परमात्माका साक्षात्कार होगा। यह एक नमूना बताया।

श्रुतिका, स्मृतिका, ऋषिप्रणीत-भगवत्प्रणीत जो ग्रन्थ होता है, उसका ढंग बिलकुल निराला होता है। सूरदासके पदमें और आज गाये जानेवाले गजलमें क्या फरक है? सूरदासमें जो अनुभूति है, तुलसीदासमें जो अनुभूति है, जो अन्तर्मुखता है, जो आत्मानुभूति और परमात्मानुभूति है, वे निकलती हैं इनके मुखसे ठुमरियाँ होकर। जो लोग ठुमरी गा-गाकर और अपने भावका प्रतिपादन करना चाहते हैं, उनके द्वारा इस वैदिक अर्थका प्रकाश नहीं होता।

अब यहीं प्रश्नका बीज मिल गया। अर्जुनको प्रश्नका बीज मिल गया कि जिसकी बुद्धि निश्चल होकर, अचल होकर निष्ठा-प्रतिष्ठा साध सकी है, जिसको परमार्थयोग प्राप्त हो चुका है, उसकी पहचान क्या? यह बीज मिल गया। तो अब 'स्थितप्रज्ञोपनिषद्' प्रारम्भ हो रहा है। अबसे लेकर अध्यायके अन्त पर्यन्त—उसका नाम है 'स्थितप्रज्ञोपनिषद्'।

उस 'स्थितप्रज्ञोपनिषद्'की उत्थानिकाके रूपमें अर्जुन प्रश्न करता है। प्रणम्य है कि अर्जुन भी नरका रूप है। नर और नारायण एक ही हैं।

श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर हैं। अरे, यह एक ही परमात्माके दो रूप हैं। **सत्यमेकं द्विधा स्थितम्**

एक ही सत्ता जिज्ञासाविशिष्ट वृत्तिसे युक्त होकर अर्जुन बना हुआ है और तत्त्वज्ञानरूपा वृत्तिसे युक्त होकर श्रीकृष्ण बना हुआ है। है एक ही। वहाँ भी वही चेतन है और यहाँ भी वही चेतन है। अज्ञान नामकी कोई चीज नहीं है। केवल लोगोंकी भलाईके लिए अर्जुन प्रश्न कर रहा है कि लोग जान जायँ कि स्थितप्रज्ञ महात्मा कैसा होता है?

जो स्थितप्रज्ञ महात्माका लक्षण होता है वही जिज्ञासुको प्रयत्नपूर्वक अपने जीवनमें धारण करनेके लिए होता है। सिद्धका जो लक्षण होता है कि वह साधकके लिए साध्य होता है।

क्यों वर्णन करते हो? महात्माको कोई जरूरत है कि उसकी पहचान सबको बतायी जाय? 'उसमें यह लक्षण होता है, उसमें यह लक्षण होता है, यह लक्षण होता है।' क्या जरूरत है उसको?

बोले—भाई! महात्माको तो कोई जरूरत नहीं। चाहे कोई महात्मा समझे, चाहे कोई दुरात्मा समझे। जो दुरात्मा समझेगा उसका दिल बिगड़ेगा और वह पापका भागी होगा। जो महात्मा समझेगा वह पुण्यका भागी होगा। श्रद्धालु होगा उसका हृदय शुद्ध होगा। जो महात्माको महात्मा समझेगा उसका हृदय शुद्ध होगा। दुरात्मा समझेगा उसका हृदय अशुद्ध होगा। तो महात्माको तो कोई जरूरत ही नहीं है वह उसके लक्षणोंको पहचाने और अन्दर धारण करे। कोई जरूरत नहीं है कि भाई, जिज्ञासु लोग उसको पहचाने और अपने अन्दर धारण करें। जिज्ञासुकी भलाईके लिए महात्माओंके लक्षणका निरूपण होता है।

अर्जुनने प्रश्न किया। क्या प्रश्न किया?

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः कि प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम्॥ 2.54

'महाभारत'के 'उद्योगपर्व'में संबोधन है 'हे केशव!' भगवान्‌के लिए प्यारा-प्यारा संबोधन है, 'हे केशव!' 'केशव' शब्दका अर्थ बताया हुआ है—'ज्ञानरश्मयः' केशाः=केश=ज्ञानकी रश्मियाँ। *तेषु वर्तते इति, तान् वर्यते इति।* वह ज्ञानकी रश्मियोंमें वर्तता है। मानो जो बुद्धिकी वृत्तियाँ फैलती हैं, घटाकार पटाकार, मठाकार—ये तो हैं ज्ञानकी रश्मियाँ और—

तेषु चिदाभासरूपेण वर्तते इति।

इनमें जो आभास बनकरके सबमें 'अहं घटं जानामि, अहं पटं जानामि, अहं मठं जानामि'—जो शुद्ध चैतन्य दृष्टिके साथ संबद्ध होकरके घटका ज्ञाता, पटका ज्ञाता, मठका ज्ञाता बनता है। उसको बोलते हैं 'केशव'।

'महाभारत'के 'उद्योगपर्व'में सभी नामोंकी व्युत्पत्ति है। उसमें 'केशव' शब्दकी यह व्युत्पत्ति है। अब यह तो पुराणकी बात है न! तो चाहे जितना फैलावें। 'हरिवंश'में 'केशव' शब्दकी व्युत्पत्ति दी हुई है—'कश्य अश्च केशाः'। केशव=क्=ब्रह्मा। अ=विष्णु। और ईश=शिव। 'तान् वयते प्रशास्ति' इति। ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी शकल-सूरतको और उनकी क्रियाको जो संचालित करनेवाला है—

हरिहिं हरिता विधिहिं विधिता सिवहिं सिवता जो दई।

विधि हरि शंभु नचावनहारे।

उसका नाम है 'केशव'

'पाणिनीय व्याकरण'की व्युत्पत्ति है—'प्रशस्ताः केशाः यस्य।' केशान् पुण्य प्रशस्तात्। जिसके बाल बड़े सुन्दर होवें। केशान् वययते=जो अपने बाल सँवारता है।'राधायाः केशान् वयते'—यह गौड़ेश्वर संप्रदायकी व्युत्पत्ति है। यह 'केशव' हुआ।

अर्जुन तो बड़े प्रेमसे श्रीकृष्णको संबोधन करके कहता है कि 'स्थितप्रज्ञकी क्या परिभाषा है?' प्रश्न इसमें तीन है कि चार? विचार करो।

तीन नहीं हैं, चार हैं—'समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्यका भाषा?' जिस समय स्थितप्रज्ञ पुरुष समाधिमें रहता है उस समय उसकी क्या पहचान है?

भाषा=परिभाषा, लक्षण जो दूसरेसे उसको जुदा कर दे। गायका लक्षण क्या है? गलेमें ललरीका होना=सास्नावत्त्व। आप कोई पशु बताओ जिसके गले में ललरी लटकती हो। गलकंबल होवे। तो वह जो गलकंबल है गायके-बैलके गलेमें लटकनेवाली ललरी है न, गलकंबल उसको बोलते हैं। वह गायको भेड़से जुदा कर देती है। वह गायको बकरीसे जुदा कर देती है, वह गायको ऊँटसे जुदा कर देती है। वह गायको हाथी-घोड़ेसे जुदा कर देती है। वह उसकी खास पहचान है। तो उसीको बोलते हैं लक्षण। लक्षण माने जिसके द्वारा आदमी लखाया जाय—लक्ष्यते अनेन। भाष्यते अनेन। ऐसे होता है—*भाष्यते अनया परिभाषा।* जिसके द्वारा व्यक्ति परिभाषित होवे, उसकी पहचान बता दी जाय, सच्ची पहचान।

यह स्थितप्रज्ञ दो तरहका होता है। एक तो काममें लगा हुआ और एक समाधिमें बैठा हुआ।

दो विभाग कर दिया—समाधिस्थस्य और स्थितप्रज्ञस्य। *का भाषा इति एकः प्रश्नः।* एक प्रश्न यह है कि जब स्थितप्रज्ञ पुरुष समाधिमें बैठता है। स्थित=स्थित। प्रज्ञा=बुद्धि। *स्थिता प्रज्ञा यस्य।* जिसकी समझ कायममुकाम है, माने देखो, आदमीके लिए घर है कि नहीं? तुम्हारे रहनेके लिए मकान है न? जहाँ जाकर रोज तुम सोते हो, तुम्हारे फ्लैट है, तुम्हारे महल है। तुम्हारी बुद्धिके लिए मकान है कि नहीं? तुम्हारी बुद्धि किस निश्चयमें जाकर विश्राम करती है?

बोले कि 'नहीं, हमारी बुद्धिके लिए तो कोई मकान नहीं है।' तब सड़कपर, रास्तेकी पटरीपर सोनेवालेकी दुनियामें जो हालत है। बम्बईमें, उस आदमीकी क्या हालत है, जिसको सोनेके लिए रातको छाँव नहीं मिलती, रेलकी पटरीपर सो जाता है?

बोले—'वाह! हम बड़े सेठ हैं, बड़े आदमी हैं, महलमें रहते हैं।' तुम महलमें रहते हो, लेकिन तुम्हारी जो बुद्धि है, वह पटरीपर सोती है। कभी कहीं और कभी कहीं। एक ही जगह सोवे तो पुलिस पकड़ ले। बिलकुल नंगी, भूखी, प्यासी, थकी-माँदी। जिसके कोई विश्रामका, आरामका स्थान नहीं। ऐसी तुम्हारी अकल! अस्थितप्रज्ञा। और,

जिसकी प्रज्ञाके लिए स्थिति होवे, कायममुकाम=एक जगह रहती है। ब्रह्मको छोड़कर कभी इधर-उधर नहीं जाती है। उसका नाम होगा स्थितप्रज्ञ। 'स्थिता प्रज्ञा यस्य' जिसकी प्रज्ञा स्थित है; उसको बोलते हैं स्थितप्रज्ञ।

समाधिस्थस्य तस्य का भाषा? जिस समय वह समाधिमें रहता है उस समय उसकी क्या पहचान है? अब दूसरा प्रश्न है। ये तीन प्रश्न हैं— 'स्थितधी:'के लिए, 1. जिस समय वह व्यवहारमें रहता है उस समय कैसे वह क्या करता है? 2. स्थितधी: स्थिता धीर्यस्य=जिसकी बुद्धि स्थिर है वह 'किं प्रभाषेत'? वह बोलता क्या है? 3. 'किमासीत'?=वह बैठता कैसे है? और 'व्रजेत किं'? वह चलता कैसे है? तो यह नहीं समझना कि यह चलने, बैठने और सोनेकी बात पूछी जा रही है। यह पूछी जा रही है कि संसारमें भले-बुरे जो दोष आते-जाते रहते हैं उनके सम्बन्धमें क्या धारणा रखता है? और कैसे भाषण करता है?

.....तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि...............। 2.57

तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। बुरेको देखकर उसकी निन्दा नहीं करता, गाली नहीं देता और अच्छेको देखकर उसका अभिनन्दन नहीं करता। ये सब परब्रह्म परमात्मामें अध्यस्त पदार्थ, बाधित पदार्थ, मायामात्र बिना हुए ही दीख रहे हैं। इसमें क्या किसकी निन्दा और क्या किसकी स्थिति?

स्थितधी: किं प्रभाषेत? प्रभाष माने तत्त्वदृष्टिसे उसका भाषण कैसा है? और **किमासीत?** बैठता कहाँ है? बैठना माने? सिद्धासनसे, कि पद्मासनसे, कि स्वस्तिकासनसे? यह नहीं। आप लोग तो पाँच मिनट ध्यान करते हैं, उसमें भी

ठीक आसनसे नहीं बैठते हैं। तो 'प्रेमकुटीर'में यह निश्चय किया हुआ है कि प्रारम्भमें पाँच मिनट शांतिसे बैठना। उस समय भी आप हाथ-पाँव खींच करके नहीं बैठते हैं। पता नहीं, घरमें आप बैठते होंगे। मेरा खयाल है कि घरमें आप ज्यादा बैठते होंगे, इसलिए यहाँ पाँच मिनटको नहीं समझते हैं। उस समय भी आपका सिर सीधा नहीं होता। टेढ़ी नीमके समान! शिवलिंगके समान आपका सिर नहीं हो जाता। जिस शिवलिंगमें आँख-कान-नाकके चिह्न बना दिये गये हों, पत्थरका होवे, पाषाण। उस समय भी आपका सिर उस तरह नहीं हो जाता। पीठकी रीढ़ जो है वह उस समय भी सीधी नहीं होती। पाँवका जो बन्धन है वह उस समय भी पक्का नहीं होता। नेत्रकी जो पलकें हैं वे उस समय भी ठीक नहीं बैठतीं। तो इस पाँच मिनटमें भी, मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपलोग घरमें शायद ज्यादा बैठते होंगे, तो पाँच मिनट यहाँ बैठकर क्या करना?

किमासीत?

युक्त आसीत मत्परः। 2.61

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। 2.58

विषयोंसे इन्द्रियोंको अलग करके अपने गोलकमें बैठा लेना और 'युक्त आसीत मत्परः'। यहाँ 'किमासीत'का अर्थ है, उसकी वृत्ति कहाँ बैठती है? उसकी वृत्ति किन शब्दोंका चिन्तन करती है? और व्रजेत किम्=वह चलता कैसे है? माने पाँव अपने घरमें-से दूर-दूर रखता है कि अपने पास रखता है? कि चलता कैसे है, कि दौड़ता कैसे है, यह मतलब नहीं है। व्रजेत किं=व्यवहार कैसे करता है? विषयैः। विषयान् इन्द्रियैश्चरन्—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64

यह 'चरन्' जो है न, यह 'व्रजेत किं'—इस प्रश्नका उत्तर है। और अन्तमें जो श्लोक है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 2.71

वह 'चरति' जो है न, वह 'व्रजेत'का उत्तर है। जैसा उत्तर भगवान्ने

दिया है वह पूछनेमें अर्जुनका तात्पर्य है। अर्जुन पूछे कुछ और भगवान् बतावे कुछ और, ऐसा नहीं।

अर्जुनका प्रश्न साधारण बैठना, साधारण चलना, साधारण बोलना यह नहीं है। जिस विषयका उत्तर भगवान् देते हैं, वह है—'स्थितधी: किं प्रभाषेत'? व्यवहारमें उसका आसन, भाषण और चलन=व्यवहार=विचरण, यह कैसा होता है? ये चार प्रश्न इस श्लोकमें दिये गये हैं।

अब इनका उत्तर देनेके लिए—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। 2.55

आप देखिए, आपको क्रम बता देते हैं इसका। सबमें एक ही बात नहीं है। आत्मामें स्थित धी: हो जानेसे स्थितप्रज्ञ हो जाता है, यह पहले श्लोकमें है और श्रेय-प्रेयमें अनासक्ति आजानेसे स्थितप्रज्ञता आती है। यह बात दूसरे श्लोकमें है। '**सुखेषु विगतस्पृहः**', '**वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते**'॥ 2.56

समता आनेसे स्थितप्रज्ञता आती है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः। 2.57

यह तीसरे श्लोकमें है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। 2.58

इन्द्रियोंका संहार करनेसे स्थितप्रज्ञता आती है, यह चौथे श्लोकमें है और अनशन और तपस्यासे माने विषयभोगका परित्याग करनेसे स्थितप्रज्ञता आती है यह श्लोक 59 और 60 में है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे स्थितप्रज्ञता आती है, यह श्लोक 61 में है।

प्रतिबन्ध जो आते हैं स्थितप्रज्ञ होनेमें उसका वर्णन श्लोक 62 और 63 में है। तो यह आपको क्रमसे सुनाना चाहते हैं। क्रम हम यह चाहते हैं कि एक श्लोक जब एक दिनके हिसाबसे रह जाय न, तब आपको विस्तारसे सुनावेंगे।

●

: 44 :

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ 2.54

मनुष्य जातिका ऐसा स्वभाव है कि यदि उसपर किसीका उपकार न हो तो वह प्रेमसे याद नहीं करती। उसको याद तो करती है, पर प्रेमसे याद नहीं करती। यदि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे लिए गीता न दे गये होते तो जो पढ़े-लिखे लोग हैं, पण्डित लोग हैं वे भगवान्‌को याद करते कि नहीं? भगवान्‌ने उद्धवको उपदेश न किया होता, अर्जुनको उपदेश न किया होता, तो उसका यह मस्तिष्क—

गीता तो श्रीकृष्णका मस्तिष्क है। श्रीकृष्णका हृदय है। यदि उनकी बुद्धि और उनका हृदय आज हम लोगोंके बीचमें उपस्थित न होता तो उस हृदयवालेको, उस सहृदय ज्ञानवान् महापुरुषको, भगवान्‌को हम लोग कैसे स्मरण करते? श्रीकृष्णने कहा—

गीता में हृदयं पार्थ

'अर्जुन! यह 'गीता' मेरा हृदय है।' मैं तुम्हें 'गीता' नहीं दे रहा हूँ, अपना हृदय दे रहा हूँ।' अर्जुनको निमित्त बनाकरके भगवान् श्रीकृष्ण हम लोगोंके लिए अपना हृदय दे रहे हैं। 'श्रीभगवान् उवाच'—जब हम यह पढ़ते हैं, श्रीभगवान्‌का वचन है, वचनसे वक्ताकी सिद्धि होती है कि यह नहीं?

अगर वचन होगा तो बोलनेवाला भी जरूर होगा। वचन-विशिष्ट जो जीवात्मा है, उसकी सत्ताको स्वीकार करोगे कि नहीं? 'उवाच' क्रियाका जो

कर्त्ता है, वह भगवान् है। बोलनेवाला, उनको बोलते हैं 'बोलते राम'। उधर भगवान् बोल रहे हैं। आध्यात्मिक श्रीकृष्णको ढूँढ़नेका यही समय है। बोलनेवालेको, देखनेवालेको—यही एक आध्यात्मिक पद्धति है।

यदि 'त्वं' पदार्थका शोधन करो तो वहाँ श्रीकृष्ण मिलेंगे। और एक आधिदैविक श्रीकृष्ण होते हैं। पृथिवी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है, सूर्य है, चन्द्रमा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता-यथापूर्वमकल्पयत्

ये आधिदैविक श्रीकृष्ण—वह 'तत्' पद वाच्यार्थ है। देखो गीतामें भगवान् बोलते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। 4.5

चार जून नहीं, 'च अर्जुन'। 'अर्जुन! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म बीत गये।' अब यहाँ अध्यात्मकी उपाधिको स्वीकार करके भगवान् अपने बहुतसे जन्म बता रहे हैं। यह अध्यात्मकी उपाधि है, अपनेको जीवात्मा सरीखा मान करके—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

मेरे और तुम्हारे दोनोंके बहुतसे जन्म बीत गये। यह आध्यात्मिक रूप देखिये। श्रीकृष्णका जन्म होता है अन्तःकरणमें। अन्तःकरणमें जो है, वह नाना आकारोंमें परिवर्तित होता है। उसके अनुसार पञ्चभूतके जो देहाकार परिणत पञ्चभूत हैं, वे अन्तःकरणके साथ जुड़ते हैं, नाना प्रकारके स्थूल शरीर प्राप्त होते हैं। अब एक देखो—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9.10

'मया'—अस्मद् शब्दका प्रयोग किया। 'मैं प्रकृतिका स्वामी हूँ और मेरे स्वामित्वमें प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि करती है।' ये कौन हैं? ईश्वर, भला!

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। 4.6

यह मायोपाधिक जो चैतन्य है, मायाकी उपाधिको स्वीकार करके अवतार ग्रहण करता है और उसीकी अध्यक्षतामें प्रकृति सृष्टि करती है। वह 'तत्' पद है और—

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ 10.1

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। 3.31

मानुषरूप कृष्ण हैं—

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। 10.37

'वृष्णीनां वासुदेवः'—यह कौन है ? यह मानुष कृष्ण हैं। आधिभौतिक रूपसे सृष्टिका अनुसन्धान करो। तो मनुष्यरूप ग्रहण करके श्रीकृष्ण प्रकट होंगे। अपने भीतर अनुसन्धान करें तो 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन' आध्यात्मिक रूप ग्रहण करके। और आधिदैविक रूपमें अनुसन्धान करो तो—

देहे सदा सवितृमण्डल मध्यवर्ती
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

श्रीकृष्ण जन्म भी साधारण जन्म नहीं है।

भगवान्ने बताया कि हमारे जन्मको जान लो तो तुम जन्मसे मुक्त हो जाओगे।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ 4.9

अगर तुम मेरे जन्मका रहस्य समझ लो, तो तुम जन्म और मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। एक जगह बताया कि जो यह जान ले कि कृष्ण कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, वह स्वयं कर्म और भोगसे मुक्त हो जायगा।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ 4.14

तुम यह जानो कि कृष्णमें कर्मका लेप नहीं है, माने कृष्ण कर्मके भोक्ता नहीं हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, अर्थात् श्रीकृष्ण कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं, यह बात तुम जानो। तो फल क्या होगा ? 'कर्मभिर्न स बध्यते।' तुम कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। कृष्णके जन्मको जानो, तुम जन्मसे मुक्त। कृष्णके कर्मको जानो, तुम कर्मसे मुक्त।

श्रीमद्भागवतमें तो इनके सैकड़ों प्रसंग हैं।

मायां वर्णयतोऽमुष्य माययात्मा न मुह्यति। श्रीमद्भागवत

श्रीकृष्णकी मायाको तुम जानो तो मायासे तुम छूट जाओगे। श्रीकृष्णके कामका वर्णन करो तो ? श्रीकृष्णके कामको जानो तो तुम कामसे छूट जाओगे—

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेदि यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्यकामः
हृदरोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ श्रीमद्भ. 10.33.40

श्रीकृष्णकी कामलीलाको, रासलीलाको यदि तुम समझ जाओ तो तुम कामसे मुक्त हो जाओगे। उनकी जन्मलीलाको समझो तो तुम जन्मसे मुक्त हो जाओगे। उनकी कर्मलीलाको समझो तो तुम कर्मसे मुक्त हो जाओगे। इसका कुछ अभिप्राय तो होना चाहिए न? जानोगे दूसरेके बारेमें-जानकारी तो होवे 'सोहन'के बारेमें कि 'सोहन' अजन्मा है और मुक्त हो जाय 'मोहन'। जाना तो जाय कि 'मोहन' जो है, वह अकर्मा है और मुक्त हो जाय 'सोहन'। जाना जाय कि सोहन कर्त्ता-भोक्ता नहीं है और मोहन अकर्त्ता-अभोक्ता हो जाय। इसका कारण क्या है? इसका कारण है कि कोई ऐसी एक वस्तु है जो 'सोहन'में भी वही है और 'मोहन' में भी वही है। जो अधिभूतमें भी वही है और अध्यात्ममें भी वही है और अधिदैवमें भी वही है। उसीको बोलते हैं 'अध्यात्म कृष्ण।' वह कृष्णका ब्रह्मस्वरूप—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। 9.4-5

देखो मेरा स्वरूप। सब मुझमें है और मुझमें कुछ नहीं है। यह ब्रह्मरूप हुआ।

श्रीकृष्णका मानुष रूप, श्रीकृष्णका आध्यात्मिक रूप, श्रीकृष्णका आधिदैविक रूप। अब तुम जन्माष्टमी मनाते हो तो कैसे मनाते हो? श्रीकृष्णका ब्रह्मरूप? तो वह जो ब्रह्मरूप है, वह मानुष-रूपसे जुदा नहीं है। वह जो आध्यात्मिक रूप है, उससे कोई अलग स्थितिमें ब्रह्म नहीं है। जो आधिदैविक रूप है, गोलोकमें है, वैकुण्ठमें है, अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है, ईश्वररूप है उससे जुदा नहीं है—'तुरीयम् त्रिषु सन्ततम्।'

जाग्रत् समझो-जाग्रत् अवस्थामें मानुष रूप है और स्वप्नावस्थामें आधिदैविक रूप है, सुषुप्ति अवस्थामें आध्यात्मिक रूप है और ब्रह्म जो है, एक रहता है। तो यदि आत्मा ही कृष्ण न हो, आत्मा ही ईश्वर न हो, मनुष्यकी आत्मा ही कृष्ण न हो तो कृष्णके ज्ञानसे जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। कृष्ण अजन्मा है, यह जाननेसे जीव मुक्त हो जायगा। कृष्ण अकर्त्ता है यह जाननेसे जीव मुक्त हो जायगा। कृष्ण अभोक्ता है, यह जाननेसे जीव मुक्त हो जायगा।

कृष्ण ब्रह्म है यह जाननेसे जीव मुक्त हो जायगा। कृष्णका होगा ज्ञान और जीव होगा मुक्त।

भाई! जिसका ज्ञान होकर मुक्त होना चाहिए, तुम कैसे मुक्त होओगे? यही तो विशेषता है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत। 13.2

अज एकत्वमास्थितम्।

यह परमात्माके स्वरूपका वर्णन। भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता'में बड़ा विलक्षण निरूपण किया है। 'श्रीभगवान् उवाच'में जो 'श्रीभगवान्' है न, श्रीभगवान्? उसको ठीक-ठीक अपनी बुद्धिमें आरूढ़ करो।

अध्यात्म कृष्ण, दिव्य कृष्ण, मानुष कृष्ण और अध्यात्म ब्रह्म कृष्ण! ब्रह्मकृष्ण! भक्तलोग तो बड़े विलक्षण ढंगसे वर्णन करते हैं न! उनके कहनेकी शैली ऐसी बढ़िया होती है कि उसको सामान्य रूपसे नहीं समझ सकते। एक भक्त कहते हैं, देखो भाई! हम वेदान्त समझते हैं ठीक। सम्पूर्ण नामरूपका अपवाद करके प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वको जान लेना। ब्रह्मतत्त्वको जान लेनेके बाद जितना नामरूपात्मक प्रपञ्च है वह बाधित है और अधिष्ठानसे जुदा नहीं है।

परमतत्त्वको समझनेके लिए नामरूपसे जुदा अधिष्ठानको समझ लेना पड़ता है। परन्तु अधिष्ठानको समझनेके बाद नामरूप जुदा नहीं रहता है। कोई भी अध्यस्तवस्तु कुछ भी भिन्न नहीं होती है। यह अद्वैत-वेदान्तका सिद्धान्त है। यह शाङ्कर सिद्धान्त है। यह वेदान्तसिद्धान्त है कि अधिष्ठानज्ञानसे अनन्तर अध्यस्त वस्तु कुछ भी विलक्षण नहीं होती। तब अध्यस्त वस्तु है क्या? अधिष्ठानरूप ही है। सर्प रज्जुस्वरूप ही है।

तो बोले कि कई लोगोंको पहले अपवाद करते-करते जब कहते हैं न, 'नेति-नेति'! यह नाम नहीं, यह रूप नहीं, यह फलाना नहीं, यह ढिकाना नहीं। अपवाद-निषेध समर्थक विद्या जब हो तब सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका अनुसन्धान करते हैं। इसका भी निषेध करना, इसका भी निषेध करना—इसका एक संस्कार बनता है अन्तःकरणमें। अच्छा, यह संस्कार बननेका फल यह होता है कि जब तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, तभी जैसे यह मेरी माँ है और यह मेरा बाप है, यह मेरा आश्रम है और यह मेरा शरीर है, यह मेरा गेरुआ है

और यह मेरा कमण्डलु है—जैसे पूर्व-संस्कारसे अनुवृत्त अन्त:करणमें भाव रहते हैं, वह बाधित हो जाते हैं।

पूर्वसंस्कारके जो भाव हैं, वे तत्त्वज्ञके अन्त:करणमें भी अनुवृत्त रहते हैं। तो ये लोग जो निषेधकी प्रधानतासे अभ्यास करते हैं, उनको तत्त्वज्ञानके निषेधका, बाधित अनुवृत्तिसे निषेधके संस्कार बने रहते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि 'यह नाम ब्रह्म नहीं है, यह रूप ब्रह्म नहीं है, यह साकार प्रपंच ब्रह्म नहीं है।' वे संस्कार जो उनके अन्त:करणमें पहलेके पड़े हुए हैं, उन संस्कारोंसे विवश होकर वे ऐसा बोलते रहते हैं।

दर असलमें उनका अनुभव है। उनके अनुभवमें तो नामरूपात्मक प्रपंच कोई ब्रह्मसे जुदा नहीं है। जब कोई प्रपंच जुदा नहीं है, तो जो सारे प्रपंचको ब्रह्मरूपसे नहीं देख पाता है, तो यदि एक आकारको, एक नामको, रामको, कृष्णको, विष्णुको, शिवको किसीको भी ब्रह्मरूपसे देखता है, उपासना करता है, तो वह ब्रह्मकी ही ब्रह्मरूपसे उपासना करता है। वह अब्रह्मकी ब्रह्मरूपसे उपासना नहीं करता है।

इसलिए तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें उपासनाका जो क्षेत्र है, वह तत्त्वज्ञानकी ही उपासना है। कोई रामकी उपासना करता है तो तत्त्वज्ञानी जानता है कि यह हमारी उपासना करता है। कोई कृष्णकी उपासना करता है तो बोले—वह हमारी उपासना कर रहा है। कोई शिवकी उपासना कर रहा है तो बोले—वह हमारी उपासना कर रहा है। कोई भूत-भैरवकी उपासना करता है तो बोले—वह हमारी उपासना कर रहा है। इसलिए तत्त्वज्ञानीके सिवाय माने ब्रह्मज्ञानीके ब्रह्मस्वरूपके सिवाय तो कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है। इसलिए यह जो उपासना है, यह केवल साधन कालीन ही नहीं है, बल्कि सिद्ध महापुरुषकी दृष्टिमें भी ये सब-की-सब आत्मोपासनास्वरूप ही है। इसकी बड़ी अद्भुत लीला है।

इसीसे लोग कहते हैं कि कई लोगोंको जिनको 'अहं ब्रह्मास्मि'—ऐसा ज्ञान हो जाता है, उनके भी पहलेके जो अनुवृत्त संस्कार हैं, 'नेति-नेति' वाला जो दृढ़ संस्कार है, वह 'कृष्णो ब्रह्म' कहनेमें बाधा डालता है। 'रामो ब्रह्म' कहनेमें बाधा डालता है। 'शिवो ब्रह्म' कहनेमें वह बाधा डालता है। तो तत्त्वज्ञान बाधा नहीं डालता। तत्त्वज्ञान तो केवल अविद्यामें ही बाधा डालता है।

अविद्याके सिवाय प्रतीति और भानका तो विरोध है ही नहीं। इसलिए वह बाधा नहीं डालता है।

ये जो उपासनाके विरोधी लोग हैं, वे अपने संस्कारसे ही विरोध करनेके लिए मजबूर हैं। अपने स्वरूपसे विरोध नहीं कर सकते वे, अपने संस्कारसे ही विरोध करते हैं। तो असलमें बात यह हुई कि बहुतसे निराकारी सम्प्रदाय हैं। निराकारी माने सगुण ईश्वरको माननेवाले निराकारी सम्प्रदाय? यह जैसे 'गुरुग्रन्थसाहब' है न? रसिकसम्प्रदायका जो मूल ग्रन्थ है अथवा मध्यकालीन जो सन्त लोग हैं, 'रैदास' हैं, 'चरणदास' हैं, ये लोग ईश्वरको निराकारी मानते हैं और सगुण मानते हैं। तो जब निर्गुण ब्रह्मवादका प्रसंग आया, तब उन्होंने निर्गुण ब्रह्मवाद, उपनिषद् ब्रह्मवादको भी अपने साथ मिला लिया। तो वे निराकारके ईश्वर होनेका संस्कार तो उनका था पंथाई और ब्रह्मवादको लिया उपनिषद्से और दोनोंको मिला करके साकारवादी। आजकल भी बहुत सारे ऐसे सम्प्रदाय चलते हैं, जिनमें अबसे पचास वर्ष पहले रामकी, कृष्णकी निन्दा की जाती थी। साकारकी उपासना नहीं की जाती थी। पचास वर्षके भीतर उन्होंने अपने यहाँ रामकी मूर्ति, कृष्णकी मूर्ति, शिवकी मूर्ति स्थापित कर ली। इतिहास इस बातका साक्षी है कि पहले वे निराकार ईश्वरको मानते थे, पर जब लोगोंके प्रवाहको देखा, तब उसमें साकारको मिला लिया।

लेकिन हमारा जो वैदिक सम्प्रदाय है, जो औपनिषद सम्प्रदाय है, समझो जो शाङ्कर सम्प्रदाय है, अद्वैतवेदान्तका मूल सम्प्रदाय, उसमें उपासनाका विरोध नहीं है। उसमें योगका विरोध नहीं है। उसमें उपासनाका समन्वय है ज्ञानके साथ, योगका समन्वय है तत्त्वके साथ। उसमें कर्मका समन्वय है धर्मके साथ। इसलिए 'शङ्कराचार्य'का एक नाम है, एक विशेषण है—'वर्णाश्रम-प्रतिस्थापनाचार्य' और 'षड्दर्शनमतस्थापनाचार्य' 'षड्दर्शनमतस्थापक।' छहों दर्शनके मतकी स्थापना करनेवाले और वर्णधर्म और आश्रमधर्म, उनकी प्रतिष्ठा करनेवाले, उनकी स्थापना करनेवाले।

अद्वैतके नामपर जो लोग साकार उपासना, सगुण उपासनाका विरोध करते हैं, वे असलमें वैदिकमतके अन्तर्गत नहीं हैं। किसी अवैदिक सम्प्रदायके प्रभावमें आकरके जो वेदको नहीं मानते हैं, ऐसे अवैदिक सम्प्रदायके प्रभावमें आकरके माने जो पश्चिमी देशोंसे लोग आये हैं, जो सम्प्रदाय आये हैं, जिनमें

साकार ईश्वरको नहीं मानते हैं, उनके प्रभावमें आकरके अपनेको वेदान्ती भी मानते हैं और साकार उपासनाका विरोध भी करते हैं।

असलमें उनका वेदान्त उपनिषद्का वेदान्त नहीं है। वेदका वेदान्त नहीं है। नारायण–ब्रह्मा, वशिष्ठादिके सम्प्रदायसे 'शङ्कराचार्य'के द्वारा जिस वेदान्तका प्रकाश हुआ है; उसका वेदान्त नहीं है। वह कहीं अन्यत्र ही अपने मतकी पुष्टि करते हैं। वैदिकमतमें जो श्रीकृष्णका स्वरूप है, वह ब्रह्मात्मक स्वरूप है। आप मानुष रूपमें श्रीकृष्णका चिन्तन करो तो महापुरुष सरीखा उनका स्वरूप मिलेगा। महापुरुष भी वह नहीं है जो एक बन्धनमें एक ढंगसे बँध करके जीवन्मुक्तिको अपने जीवनमें प्रकट नहीं कर सके। वह कैसा महापुरुष है?

श्रीकृष्ण वह महापुरुष है जिसके चरित्रमें निर्मर्याद निर्बन्ध जीवन, 'निस्त्रैगुण्य प्रतिविचरतां को विधिः को निषेधः।' ऐसा चरित्र भी श्रीकृष्ण अपने जीवनमें प्रकट करते हैं। जो निस्त्रैगुण्यपथमें विचरण करता है, वह विधि और निषेधसे अतीत होता है। यह भी तो श्रीकृष्णके चरित्रमें आना चाहिए न! यह भी श्रीकृष्णके चरित्रमें प्रकट होता है।

जो लोग मधुर–मधुर चिन्तन करते हैं, उनके लिए कमरपर हाथ रखकर ताताथेई—

नृत्यति वेदान्त-सिद्धान्तः।

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेतनाङ्गणे मया दृष्टं।

चलो नन्दबाबाके आँगनमें, श्यामसुन्दर प्रकट हो रहा है। वह गोपियोंके साथ ताताथेई नाच रहा है। वह जरासंध सरीखे जिसके पास तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना सत्रह बार, अठारह बार इकट्ठा करनेका सामर्थ्य उस जरासंधसे कहीं युद्ध कर रहे हैं, कहीं बाणासुरसे निपट रहे हैं, कहीं धर्मराज्यकी स्थापना कर रहे हैं, कहीं राजनीतिके दाँवपेंच खेल रहे हैं। श्रीकृष्णका जीवन केवल उतना ही नहीं है और यह जो तत्त्वज्ञान आपके सामने रखा हुआ है—

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषऋषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥

श्रीमद्भागवत 11.29.49

श्रीमद्भागवतका वचन है—जो भवभयको दूर करनेके लिए ज्ञान-विज्ञानका सार जिन्होंने निकाला, जो स्वयं वेदके प्रकाशक हैं, उन्होंने वेदके सारका संग्रह किया और वेदरूपी समुद्रमें-से अमृत निकाल करके, जैसे समुद्रका मन्थन करके अमृत निकलता है, वैसे राशि-राशि वेदका मन्थन करके यह गीतामृत, उद्धवगीतामृत, अर्जुनगीतामृत जिन्होंने निकाला और निकाला ही नहीं, पिलाया भी महामोहिनी दूसरे, धन्वन्तरी दूसरे और मोहिनी दूसरी! आप जानते हैं न, अमृतमें सलाह देनेवाले नारायण वैकुण्ठलोकमें, मन्दराचल लानेवाले भगवान् गरुड़पर और पीठपर मन्दराचलको धारण करनेवाले कच्छप नीचे, दबानेवाले ऊपर, देवताओंके साथ होकर मन्थन करनेवाले दूसरे और कलशको लेकरके अमृतको निकालनेवाले धन्वन्तरी, पिलानेवाली मोहिनी, युद्ध करानेवाले नारायण! इस तरह अनेक रूप भगवान्‌के हैं।

तो आप स्वयं निकालनेवाले और स्वयं पिलानेवाले! अपने प्रेमी भक्तोंको उन्होंने अपना अमृत, हृदयामृतका पान कराया। यह गीता भगवान्‌के दिलका अमृत है। उनके भीतर रहनेवाला हृदयामृत!

पुरुषऋषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि।

पुरुषर्षभ=जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं। तो यह बड़े सुख-सौभाग्यकी बात है कि भगवान् श्रीकृष्णकी जन्माष्टमी हम लोग मनाते हैं और जन्माष्टमी हमारे हृदयमें तो हमेशा मनती रहे, भला! हर समय।

जो लोग वृत्तिमें आरूढ़ चेतन होकरके अविद्याको दूर करते हैं, वृत्ति दूर करती है अज्ञानको। आप लोगोंने वेदान्तका स्वाध्याय किया है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो वृत्ति है, वह अज्ञानको दूर करती है कि वृत्त्यारूढ़ चेतन अज्ञानको दूर करता है? कर्त्तापन वृत्तिमें जबतक, ज्ञाननिवर्तक वृत्तिमें तबतक आवेगा ही नहीं। जबतक वृत्तिमें चेतन आरूढ़ होगा नहीं, आप लोगोंने अगर वेदान्तका स्वाध्याय किया है, जैसे हाथमें कर्त्तापन, हाथके द्वारा क्रिया होती है कब? जब आरूढ़ चेतन हाथमें होता है। सामान्य चेतन तो मुर्देके हाथमें भी होता है न!

अधिष्ठान चेतन, प्रकाशक चेतन, सामान्य चेतन मुर्देके हाथमें भी होता है। परन्तु उसमें हाथमें क्रिया करनेकी शक्ति नहीं होती। उसी प्रकार चेतन, स्वयंप्रकाश चेतन वृत्तिमें होता है, परन्तु उसमें अविद्याकी निवृत्तिका सामर्थ्य

नहीं होता है। अविद्याकी निवृत्तिका सामर्थ्य तब होता है जब वृत्तिमें चेतन आरूढ़ होता है। इसलिए वृत्तिमें ही चेतनकी उपाधिसे अविद्याका निवर्तकत्व है। वृत्तिमें अविद्याका निवर्तकत्व नहीं है। यदि वृत्तिमें ही अविद्याका निवर्तकत्व होवे, वृत्ति तो स्वयं अविद्याका कार्य है, इसलिए वह अपने कारणको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं होती है। वृत्त्यारूढ़ चेतन जब अविद्याको निवृत्त करता है, तब अविद्या भी निवृत्त हो जाती है। अविद्याका कार्य वृत्ति भी बाधित हो जाती है और वृत्तिमें जो चेतन था वह चेतन वृत्तिके पहले भी था और वृत्तिके कार्यमें भी है, अविद्याकी निवृत्तिके अनन्तर भी है, इसलिए मोक्षकी सिद्धि होती है। जो लोग यह बात मानते हैं कि वृत्त्यारूढ़ चेतन ही अविद्याकी निवृत्ति करता है, यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है। जो लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे वेदान्तका अध्ययन नहीं करते हैं, केवल भावनात्मक वेदान्तकी चर्चा करते हैं, उनकी बात दूसरी है। भावना तो तुम चाहे जैसी कर लो, मान लो चाहे जैसी लेकिन बाबा, जो मानते हैं कि वृत्त्यारूढ़ होकरके चेतन अविद्याको निवृत्त करता है, उनको यह बात जाननी चाहिए कि हृदयारूढ़ होकर परमात्मा अभिनिवेशको निवृत्त करता है। हृदयारूढ़ होकरके परमात्मा राग-द्वेषकोको निवृत्त करता है। हृदयारूढ़ होकरके परमात्मा अस्मिताको निवृत्त करता है और वृत्त्यारूढ़ होकरके परमात्मा अविद्याको निवृत्त करता है। यही तो उपासनाका रहस्य है।

इसको श्रीजीव गोस्वामीजी तो कहते हैं कि 'भाई, किसीके मनमें सचमुच ही संसारसे छूटनेकी इच्छा हो तब तो बताना। जो भगवान्‌को पाना चाहता है उसको बताना। दूसरोंके लिए तो हम सौगन्ध देते हैं।' ऐसा लिखा है।

हम तो भरी सभामें बता रहे हैं आप लोगोंको। वह सौगन्ध हमपर नहीं लगेगी। लेकिन—

श्रीकृष्णपदाम्भोजभजनैकाभिलाषवान् तेनैव दृश्यताम्,
एतत् अन्यस्मै शपथोऽपि मम।

श्रीजीवगोस्वामी-भागवतसन्दर्भ

'भागवत सन्दर्भ'के प्रारम्भमें जीवगोस्वामी कहते हैं कि—'हम दूसरोंको सौगन्ध देते हैं कि यदि तुमको श्रीकृष्णका भजन न करना हो, भक्ति न करना हो, संसारसे छूटनेका शौक न हो, हृदयमें यदि ज्ञान-वैराग्य न लाना हो, तो दूर हो

रहना। हमारे ग्रन्थको छूना मत, हमारा ग्रन्थ ऐसे नापाक लोगोंके छूनेके लिए नहीं है।'

जो संसारसे छूटना नहीं चाहते हैं और परमात्माको पाना नहीं चाहते हैं—यह उनका कहना तो भाई, यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हम लोग जन्माष्टमी मना रहे हैं। हम सब लोगोंके हृदयमें श्रीकृष्णका अवतार होवे। हमारे जीवनमें जो दुश्चरित्र है वह दूर होवे। जो देहकी मृत्युका भय है वह दूर होवे। हमारे अन्दर जो राग-द्वेष है वह दूर होवे। जो हमारे अन्दर ज्ञानी-अज्ञानीपनेका अभिमान है सो भी दूर होवे। जब श्रीकृष्ण अवतार होता है हृदयमें, तब यह दूर होता है।

माननेकी बात जुदा है और जानने-समझनेकी बात जुदा है। अगर आप श्रीकृष्णतत्त्वावतारको समझना चाहते हैं, तो आज जन्माष्टमी है। अपने हृदयको थोड़ा श्रद्धासे झुकाकर, अभिमानसे थोड़ा मुक्त करके श्रीकृष्णतत्त्वको समझनेकी और इसीमें जब आप चेष्टा करेंगे तो आपके हृदयमें श्रीकृष्णावतार होगा जो सम्पूर्ण दोष-दुर्गुणोंको मिटावेगा।

●

: 45 :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञतदोच्यते॥ 2.55

प्रज्ञा जहाँ विषय-विषयक बनती है, वहाँ बदलती है और जहाँ प्रज्ञा आश्रयविषयक बनती है वहाँ, जहाँ अधिष्ठान विषयक बनती है वहाँ, जहाँ प्रज्ञा लटक रही है, प्रतीत हो रही है, जहाँ प्रज्ञाका प्रकाशक है, जिसमें प्रज्ञा स्वयं बाधित है, उसके सम्बन्धमें जो प्रज्ञा है, वह प्रज्ञा बदलनेवाली नहीं होती है। तो—

स्थितप्रज्ञः तदोच्यते।

अबतक उसको स्थितप्रज्ञ बोलते हैं। तो 'स्थिता प्रज्ञा यस्य'—जिसकी प्रज्ञा स्थित है। यह प्रज्ञाका विशेषण हुआ। और देखो—

स्थिते अचले ब्रह्मणि प्रज्ञा यस्य।

स्थित=ब्रह्म। और सब चल है, ब्रह्म अचल है। उसमें जिसकी प्रज्ञा वह स्थितप्रज्ञ। यहाँ दो बात बतायी—'प्रजहाति··मनोगतान्।' यदा सर्वान् कामान् प्रजहाति=सारी कामनाओंको छोड़ देता है तो कामना विषयक प्राप्त और अप्राप्त जितनी कामना हैं सब ले लेना चाहिए। मिले हुए पदार्थोंके बारेमें भी 'यह बना रहे' ऐसी कामना होती है और न मिले पदार्थोंके बारेमें—'मिल जायँ' ऐसी कामना रहती है।

आजकलका तो ज्ञानी भी और कामी भी एक साथ जुड़ जाता है। नकली ज्ञानी! नकली ज्ञानीका लक्षण क्या? कामी भी और ज्ञानी भी। ज्ञानमें प्रज्ञाकी प्रधानता है और काममें संकल्पकी प्रधानता। संकल्पकी प्रधानता है तो वासना जो है वह ज्ञानका हेतु है और प्रकाश जो है, ज्ञान जो है वह ज्ञानका हेतु है। इसलिए दोनों विलक्षण अलग-अलग हैं। अब—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ह्यस्य हृदिश्रिताः।

—श्रुति (पञ्चदशी 6.59)

अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥ श्रुति

यह जो श्रुतिने कहा कि जब मनुष्यकी सारी कामनाएँ छूट जाती हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते हृदय ह्यस्य ग्रन्थयः।

हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ जब खुल जाती हैं। तत्त्वज्ञानका अर्थ तो आप लोग जानते हैं न?

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्ड. 2.28

कर्मक्षय, संशयक्षय, हृदयग्रन्थिक्षय—ये सब तत्त्वज्ञानका फल बताया हुआ है और यह काम जो है, यह दृढ़ ग्रन्थि है। काम जो है उसका दृढ़ गाँठ बनाते हैं।

पुंसः स्त्रियः मिथुनिभावमेतम् दृढं हृदयग्रन्थिमाहुः।

पुरुष और स्त्रीका जो मिथुनीभाव है, कि 'इसके बिना मैं नहीं रह सकता', 'इसके बिना मैं नहीं रह सकती'—यह जो संसारके विषयोंके साथ चित्तकी गाँठ पड़ गयी है, एक दूसरेके साथ उलझ गये हैं। मन विषयको नहीं छोड़ता और विषय मनको नहीं छोड़ते। एक रस्सी दूसरी रस्सीके साथ जैसे उलझ जाय, वैसे एक गुण यहाँ दूसरे गुणके साथ उलझ गया है। यह क्या? गुण क्या? वह जो विषय है द्रव्य, वह तमोगुण है। जो प्रकाशक वृत्ति है वह सत्त्वगुणप्रधान है। तो एक गुणका, एक रस्सीका दूसरी रस्सीके साथ उलझ जाना, यह गाँठ है। एक गुणका दूसरे गुणके साथ उलझ जाना? यह भी गाँठ है।

गुण माने रस्सी होता है संस्कृतमें। तो हमारी वृत्ति जो विषयोंके साथ उलझ गयी है, इसीसे रजोगुणात्मक कामका उदय हो गया। सत्त्वात्मक प्रकाशशील वृत्ति और स्थित्यात्मक द्रव्य और क्रियात्मक काम।

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेमेन भविष्यसि॥

तो प्रकाश जो है वह सत्त्वगुणका रूप है। क्रिया जो है वह रजोगुणका रूप है और द्रव्यकी जो स्थिरता है, पदार्थोंकी संसारमें जड़ता। यह मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है, स्त्री है, पुरुष है—ये सब द्रव्यरूप हैं। तो द्रव्य जो है वह तमोगुणका कार्य है। क्रिया जो है वह रजोगुणका कार्य है। सत्त्वगुणात्मक वृत्तिमें क्रिया जुड़ जाय तब भी काम और द्रव्यात्मक जो तमोगुण है वह जब सत्त्वात्मक गुणमें जुड़ जाय तब भी काम है। तो उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता,

रजोगुणकी प्रधानता, तमोगुणकी प्रधानतासे इनके अलग भेद होते हैं। तो यह उस अवस्थाकी बात है जब गाँठ नहीं होती है।

हमारा मन विषयके साथ मिला हुआ नहीं है। उसको बोलते हैं कामत्याग। बोले—'कैसे उसका त्याग करना?' तो 'मनोगतान्'। 'प्रजहाति यदा कामान्'के सम्बन्धमें आपको सुनाया कि श्रुति—यह जो श्रुति हो गयी न? उपनिषद् हो गयी।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ह्यस्य हृदिश्रिताः।

अब 'सर्वान् मनोगतान्'का अर्थ देखो—दूसरी श्रुतिको देखो—कामः संकल्पः मनोगतान् विचिकित्सः श्रद्धा अश्रद्धा—ये सब हैं न? प्रीहृधीः इत्येतत् सर्वं मन एव। ये सब मन ही हैं भला! ये आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब-का-सब मन है। तो अपने मनको—अपने मनमें ये जो चीजें घुसी हुई हैं, इनका प्रजहाति=प्रकटसे त्यागकर दो और यह भी सब। उसमें यह नहीं कि आधा रखो, आधा छोड़ दो। क्लिष्टवृत्तिको छोड़ दो, अक्लिष्ट वृत्तिको रख दो, यह भेद नहीं। इसमें अनिष्टाकार वृत्तिको छोड़ दो और इष्टाकार वृत्तिको रख लो, यह बात नहीं। 'सर्वान्'का अर्थ है, बिना किसी लिहाजके सारी-की-सारी वृत्तियोंको छोड़ देना।

अब दूसरा प्रसंग लेते हैं—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।

तो एक हुआ काम और एक हुआ यह सन्तोष। कामना छोड़कर कहीं मनुष्यका जीवन उन्मत्त न हो जाय। जिसकी ग्रन्थि टूट गयी बाबा! वह उन्मत्तवत् भी हो जाय तो कोई हरज नहीं।

भोगिनो योगिनो रागिणोऽश्चेतरे।
दृश्यते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः॥

ज्ञानी लोग एक तरहसे नहीं रहते हैं। तरह-तरहसे रहते हैं। ये तो पंथाई लोग कहते हैं—'नहीं, इसी तरहसे रहना।' जीवनमें उनका आग्रह होता है। वे तो—'आरब्धकर्मात्वात्'—'पञ्चदशी'में आया—

आरब्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथान्यथा।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥

—पञ्चदशी 6.87

सबके प्रारब्ध कर्म अलग-अलग होते हैं। कोई भाँग पीकर सोता है, कोई भाँग पीकर गाता है, कोई भाँग पीकर ध्यान करता है, कोई भाँग पीकर गाली देता है। तो भाँग तो है एक ही। यह क्या गड़बड़ी ? वही। यह गड़बड़ हुई कि सबकी प्रकृति अलग-अलग है, सबके प्रारब्ध अलग-अलग हैं। तो किसके शरीरमें कैसा भाँगका नशा किस रूपमें प्रकट होता है, सो मालूम नहीं। लेकिन तुष्टि तुम्हारी कहाँ है यह देखो। 'गीता'में इस प्रसंगको उठाया है। खास करके 'शङ्कराचार्य भगवान्'ने—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते॥

—गीता 3.17

'आत्मन्येव च संतुष्टः'—उन्होंने तीन प्रकारकी प्रीति संसारमें ली है। 1. आत्मरति-स्त्रीविषयक—स्त्री-पुरुषके संयोग विषयक जो प्रीति होती है, उसको 'रति' बोलते हैं और, 2. स्वादिष्ट भोजन करनेसे जो प्रीति होती है उसको वे 'तृप्ति' बोलते हैं और, 3. धन घरमें आनेसे जो आनन्द आता है न, उसको वे 'तुष्टि' बोलते हैं।

एक धनीको बड़ा सन्तोष हुआ—'आज खूब आमदनी हुई। भाई, सन्तोषजनक आमदनी हो गयी। तसल्लीवत्!!' तो आज खूब आमदनी हुई! तो 'तुष्टि'को बोलते हैं धनकी प्राप्ति। 'तृप्ति'को बोलते हैं स्वादिष्ट भोजनसे और 'रति'को बोलते हैं स्त्री-पुरुषके समागमसे। ये तीन प्रकारका समझ लो, संसारमें सुख है। तो बोलते हैं कि ये तीनों प्रकारके सुखके लिए—जिसको रतिके लिए स्त्री-पुरुषके समागमकी जरूरत न हो, 'तृप्ति'के लिए स्वादिष्ट भोजनकी जरूरत न हो और 'तुष्टि'के लिए धनादिकी जरूरत न हो, ऐसा जो पुरुष है, उसके लिए—

तस्य कार्यं न विद्यते।

उसके लिए संसारमें कोई काम, कोई कर्त्तव्य नहीं है।

असलमें लोग 'रति'के लिए अथवा 'तृप्ति'के लिए अथवा 'तुष्टि'के लिए कार्य संसारमें ढूँढ़ते-फिरते हैं और उसको इन सब कारणोंसे कार्यकी आवश्यकता नहीं है। तो तीन बात ये हुई।

आत्मन्येव च संतुष्टः।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः।

अब यह तुष्टको ले लो। एक—

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः।

आत्मनि एव=अपने आपमें ही। और, अपने आपसे ही। आत्मनि एव, आत्मना एव, तुष्ट एव सर्वं सावधारणम्। एक जगह 'एव' शब्दका प्रयोग किया जाता है, वह सबके साथ जुड़ जाता है।

आत्मनि एव न तु विषये।

जिसका सन्तोष अपने आत्मामें है, विषयमें नहीं। और 'आत्मना एव तुष्टः।' अपने आपसे ही तुष्ट है, कारणोंके प्रयोगसे नहीं। माने संसारमें संतुष्टिके लिए समझो, एक संसारका विषय है, स्त्री है, भोजन है। तो स्त्रीसे जो तृप्ति होती है वह अन्य इन्द्रियके संयोगसे होती है। जिह्वासे जो तृप्ति होती है वह अन्य इन्द्रिय और विषयके संयोगसे होती है। धनसे जो तुष्टि होती है वह अन्य पदार्थोंके संयोगसे होती है। और ये कहते हैं—'आत्मन्येव'=पदार्थमें उसका सन्तोष नहीं है। अपने आपमें ही है और, इन्द्रियोंके द्वारा नहीं है। बिना इन्द्रियके प्रयोगके ही है। इसमें केवल कामवाली बात नहीं रह गयी। बहुत आगे बढ़ गये। कैसे बढ़ गये? इसमें विषय और इन्द्रिय दोनोंका सर्वथा निषेध कर दिया। कामके निषेधमें विषय भी है और इन्द्रिय भी है; और काम नहीं है।'

'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'में विषय और इन्द्रिय भी नहीं है, तो कामनाकी जो वृत्ति है, उसको पहलेमें मना किया और 'आत्मनि एव'से विषयको मना किया और 'आत्मना एव'से इन्द्रियोंको मना किया। माने पाँच प्रकारकी जो चित्तभूमि होती है। आप लोग आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है, इस सम्बन्धमें विचार करते हैं—छोटी-छोटी जो चीजें हैं उनपर भी कभी-कभी नजर डाल लेना चाहिए।

चित्तकी पाँच भूमि—

यह जो हमारा चित्त है, उसमें पाँच भूमि होती हैं। 1. मूढ। मूढ=जड़ता और एक विषयका चिन्तन निरन्तर। तो मूढ कहते हैं जड़ द्रव्यसे एक हो जाना। देहात्मक हो जाना।

2. 'क्षिप्त' कहते हैं देहके लिए विषयोंकी प्राप्तिके लिए चिन्तन करना।

तीसरी भूमिका होती है 'विक्षिप्त'। विक्षिप्त कब होती है? जब हम ध्यान-भजन करने बैठते हैं और बीच-बीचमें हमारी वृत्ति इधर-उधर भागती है।

चौथी भूमि होती है 'एकाग्र' जिस विषयका हम चिन्तन करते हैं, उसमें वृत्तिका, मनका एकाग्र हो जाना।

पाँचवीं वृत्ति होती है 'निरुद्ध'। निरुद्ध माने चारों ओर रुक गयी। तो ये जो पाँच वृत्तियाँ हैं, ये पाँचों ही वृत्तियाँ यहाँ 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः 'से मना कर दी गयी है।

अगर आपको अपने स्वरूपमें स्थित होना है तो मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध इन पाँचों भूमियोंका त्याग करके आपको अपने आत्मामें स्थित होना पड़ेगा। इन पाँचों वृत्तियोंका त्याग करनेके लिए यहाँ 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' कहा गया है। एक बात। अब दूसरी देखो—

लोग कहते हैं कि 15 तारीख तक गीताको पूरी कर देना। तो ग्रन्थ तो पूरा हो जायगा। उसमें कोई बात नहीं है। लेकिन मूल श्लोकको देखकर मनमें जो बात आती है न, वह कचोटती रहती है। कैसे कचोटती रहती है ? बार-बार याद आती रहती है कि यह नहीं कहा, यह नहीं कहा। वह आँखके सामने आकर खड़ी हो जाती है। तो अगले श्लोकमें जो बात हम कहनेवाले हैं, वह भूल जाती है और पिछलेकी याद आती है। इसलिए उनको पार करके ही चलना अच्छा रहता है।

वृत्तिके पाँच प्रकार—

दूसरी बात इसमें क्या है? 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'। वृत्ति होती है पाँच प्रकारकी। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पाँच प्रकारकी वृत्ति हमारे चित्तमें होती है। प्रमाणवृत्ति उसको कहते हैं जिससे हम दूसरोंको जानते हैं। यथार्थरूपमें एक-एक इन्द्रियसे अलग-अलग रूपमें जानते हैं। प्रत्येक अक्षसे, प्रत्येक खोडरसे अलग-अलग जानना, यह 'प्रत्यक्ष' हो गया।

अक्षं अक्षं प्रति विद्यते इति प्रत्यक्षम्।

जो एक-एक इन्द्रियके साथ अलग-अलग होवे उसका नाम 'प्रत्यक्ष' और उसीके आधार पर मनमें जो परामर्श होता है, उसका नाम 'अनुमान' सादृश्य ज्ञान होता है उसको बोलते हैं 'उपमान'। वह भी अनुमानके अन्तर्गत है। नैयायिक लोग अर्थापत्ति और अनुपलब्धिको भी अनुमानके अन्तर्गत ही मानते हैं।

योगी लोग तो प्रमाण जो हैं, तीन ही मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और

आगम (शब्द) कोई वृत्त हमको समझमें नहीं आता है, तो दूसरा समझा देता है। तो यह 'प्रमाणवृत्ति' है।

'विपर्यय' वृत्ति जो है, बिलकुल प्रमाणके विपरीत। जो दृश्यमान पदार्थमें परिणत होवे, ठीक-ठीक होवे न, उसको 'पर्यय' बोलते हैं। पर्यय माने पर्येति। परि+एति पर्येति इति पर्ययः। जैसा पदार्थ है उसको वैसा जानना। तो पर्यय है, प्रत्यय है। उसके जो विपरीत है वह विपर्यय है।

'विकल्प' उसको कहते हैं जो शब्दसे तो मालूम पड़े, पर वस्तु कुछ न निकले।

'निद्रा' जो है वह आती है आपको। जानते हैं, 'अभावप्रत्ययालंबनावृत्ति' जिसमें कुछ मालूम नहीं पड़ता है।

'स्मृति' अनुभव किये हुए पदार्थोंकी होती है।

ये दो तरहके होते हैं, एक योगके बाधक और एक योगके साधक। जो बाधक होते हैं, क्लिष्ट। क्लिष्ट=जिसमें क्लेश मिला हुआ है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश होते हैं। ये जिनमें मिले हुए हों उनका नाम क्लिष्ट वृत्ति और जिनको मिटानेके लिए जो उपयोगी होवे वह 'अक्लिष्ट' वृत्ति।

जब 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' होते हैं, तब क्या स्थिति होती है? तब न तो क्लेशमें मिली हुई प्रमाणादि वृत्तियाँ हैं और न तो क्लेशमें अनमिली प्रमाणादि वृत्तियाँ हैं।

तब असंप्रज्ञात समझो—यह जो समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषा—समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञकी जो परिभाषा पूछी वह यह बतायी उन्होंने कि जिस समय क्लिष्ट, अक्लिष्ट, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ आदि चित्तकी भूमियाँ सबका निरोध हो जाता है। यहाँतक कि वितर्कालंबन, विचारालंबन, आनन्दालम्बन, अस्मितालम्बन, संप्रज्ञात समाधि ग्राह्य और गृहीताकी समापत्तिका भी निषेध होकरके असंप्रज्ञात समाधिमें स्थित महापुरुष।

तत्त्वज्ञानी महापुरुषके शरीरमें जब ऐसी विलक्षण समाधि सेवा करती रहती है, तब उसको समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ बोलते हैं।

अब देखो, एक कट्टर वेदान्तियोंकी बात भी आपको सुनाते हैं। यह बहुत बढ़िया बात है, लेकिन वह किनके लिए है? जिनको अन्तःकरण शुद्ध होकके तत्त्वज्ञान हुआ है।

तत्त्वज्ञोंके प्रकार

कृतोपास्ति अकृतोपास्ति दो तरहके तत्त्वज्ञ होते हैं. जिन्होंने पहले तत्त्वज्ञानके, उपासना करके परमात्माको जाना है और जिन्होंने उपासना करके कामक्रोधादिको निवृत्त नहीं किया है। एक उनकी स्थिति। इसीसे जिन लोगोंके अन्तरदोष निवृत्त नहीं होते हैं उनके लिए, जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखके लिए फिर अभ्यास करनेकी जरूरत पड़ती है। ज्ञान रक्षा, तपस्या, विसंवादाभाव, दु:खनिवृत्ति और विलक्षण सुखकी प्राप्ति—इन पाँच प्रयोजनोंसे इनको अपने चित्तके दोष मिटाने पड़ते हैं। यदि वे अपने चित्तके दोष ज्ञान होनेके नामपर न मिटावे, रख ले, तो ज्ञानसम्प्रदायकी रक्षा नहीं होगी। अमानित्वादि संपत्ति है, वह भी जीवनमें नहीं रहेगी। तो ज्ञानरक्षा तपस्या, कष्टसहनकी शक्ति नहीं रहेगी। दु:खसहिष्णु नहीं रहेंगे। क्षयिष्णु नहीं रहेंगे। अविद्याका बल। जिनके भीतर शम होता है, कर्मेन्द्रिय भी संयममें होवे और ज्ञानेन्द्रिय भी संयममें होवे, तब तो मनुष्य दु:खसहिष्णु होता है।

जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी काबूमें नहीं, कर्मेन्द्रियाँ भी काबूमें नहीं, वह मनुष्य दु:खसहिष्णु नहीं हो सकता। दु:ख आने पर घबड़ा जायगा। एक बात उसके मनके विपरीत हुई और चेहरा तमतमा गया। जीभ काँपने लगी और हाथ-पाँव जो हैं वे व्याकुल हो गये। तो यह दु:खसहिष्णुता क्यों नहीं है कि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंपर संयम नहीं है? तो तपस्या और फिर कोई तर्क करके, वितर्क करके युक्ति-प्रत्युक्तिसे कोई तुम्हारी निष्ठापर चोट नहीं करे।

विसंवादाभावके लिए भी ध्यान करके रोज एक बार जाँच कर ली कि चीज कैसी है? देख लिया। दु:खकी निवृत्ति और विलक्षण सुखकी प्राप्ति—इन पाँच प्रयोजनोंसे अकृतोपास्ति पुरुषको अपने मनको शान्त करनेके लिए अभ्यास करना पड़ता है।

अच्छा, अब जो कृतोपास्ति है जिन्होंने पहले ही यह काम पूरा कर लिया है, उनके लिए स्थितप्रज्ञ होनेका क्या अर्थ होगा? उनका जीवन ज्ञानालंबन है, स्थित्यालंबन नहीं है जीवन। जीवनकी बात कर रहे हैं, ब्रह्मकी नहीं। जीवन कैसा? वे तत्त्वदृष्टिसे ही देखते हैं कि यह सब कुछ है ही नहीं। उनको निरोधकी जरूरत नहीं है। बाधमात्रसे ही कृतकृत्य हैं वे। क्योंकि उनकी दृष्टिमें दूसरी कोई वस्तु है नहीं। तब 'सर्वान् कामान् प्रजहाति'का क्या अर्थ हुआ? 'मनोगतान्

प्रजहाति'—तब तो मनके खेल हैं। छोड़ दिया, मनसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं। प्रतीतिमात्र! बाधित!

'आत्मन्येवात्मना तुष्टः।' वह तो जहाँ कहीं है, 'तीर्थे श्वपच गृहे वा नष्टस्मृतिरपि।' तीर्थमें है, चांडालके गृहमें है, स्मृति नहीं है, क्योंकि अनुभवको स्मृतिकी कोई अपेक्षा नहीं है। तब फिर? बोले—'भाई! वह तो ज्ञानसमकाल मुक्त।'

कैवल्यं याति हतशोकः।

वह तो पहलेसे मुक्त, मुक्त ही है। उसमें शोक-मोहका कोई कारण ही नहीं है। तो— **आत्मन्येवात्मना तुष्टः।**

वह बाजारमें भी तो बाजारसे तुष्ट नहीं है। बाजारमें बाजारके पदार्थोंके तुष्ट नहीं है। 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः।' वह तो अपने आपमें ही सन्तुष्ट है। क्या है आत्मदेवका यह विलास? क्या है लीला कि वह 'कालबादेवी रोड' बनकर दीख रहे हैं? वह मुम्बई शहर बनकर दीख रहे हैं! वह समुद्र बनकर लहरा रहे हैं! वह सूर्य-चन्द्रमा-तारे बनकर चमक रहे हैं। अरे! हुए कुछ नहीं हैं, ज्यों-के-त्यों और दिखायी पड़ते हैं विश्वप्रपञ्चके रूपमें। वह आत्मविलासमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'। अपने स्वरूपमें स्थित हो करके सम्पूर्ण विलासको देख रहा है और उसमें किसी द्वैतकी गन्ध भी नहीं है। 'स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते'—तब समझना चाहिए कि यह 'समाधिस्थ' माने ब्रह्मस्थ—

तत्त्वबोधएवायं वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधि शब्देन न तुष्णीं अवस्थितिः॥

स्थितप्रज्ञस्यका भाषा समाधिस्थस्य केशव। तो वह जो ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष है, उसको स्थित प्रज्ञ कहते हैं। अब व्यवहारमें स्थित जो स्थितप्रज्ञ है, उसकी चर्चा करते हैं। वह क्या है?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ गीता 2.56

अब यह व्यवहारमें व्यावहारिक। आप लोग डरना नहीं। 'गीता' यह बताती है कि महापुरुषके जीवनमें दुःखका संयोग होता है। यह नहीं समझना कि महापुरुषके जीवनमें दुःख आता ही नहीं। यह 'गीता'को मान्य है।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ बड़े-से-बड़ा दुःख आता है; परन्तु

विचलित नहीं करता। दु:ख आना दूसरी बात है और दु:खसे विचलित होना, यह दूसरी बात है।

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

अच्छा, अब आप जरा पूछे कि उस श्लोकमें 'दु:खवियोगं योगसंज्ञितम्' इतना ही क्यों नहीं कहा? जहाँ जिसको दु:खका वियोग होवे, माने दु:ख बिलकुल आवे ही नहीं, उसका नाम योग है? उसमें एक 'संयोग' शब्द और काहेका गढ़ दिया? एक 'दु:ख-संयोग' शब्द और क्यों भर दिया?

बोले—दु:ख आता है, लेकिन उसका संयोग नहीं होता। माने कमलके पत्तेपर वर्षाकी बूँदें गिरती न हों, सो बात नहीं है। वर्षाकी बूँदें कमलकी पंखुड़ियोंपर भी गिरती हैं, लेकिन वह इतना चिकना होता है कि उसपर बूँदका संयोग नहीं होता। तो दु:खके संयोगका वियोग जो है, उसका नाम योग है, दु:खके वियोगका नाम योग नहीं।

इसलिए यदि लौकिक दृष्टिसे देखो, तो श्रीरामचन्द्रके जीवनमें दु:खके प्रसंग हैं कि नहीं? भाई, राज्यका वियोग है, पिताका वियोग है, पत्नीका वियोग है, भाईका वियोग है। ये सब दु:खके हेतु हैं कि नहीं? बोले—हैं। संसारमें इन्हींको तो दु:ख कहते हैं।

अच्छा, श्रीकृष्णके जीवनमें? मथुरासे राज्य छोड़कर नंगे पाँव द्वारकाके लिए भागना और रास्तेमें महात्माओंके आश्रममें जाकरके, अतिथि बनकरके, यों कहो कि वहाँपर भिक्षा ले-लेकर खाते हुए मथुरासे द्वारकातक पहुँचना, यह दु:खका प्रसंग है कि नहीं? उनके सामने सारे यदुवंशी मारे गये। उनको मारना पड़ा। उनके सामने उनका भानजा मरा कि नहीं? 'अभिमन्यु'की मृत्यु हुई कि नहीं हुई? यदुवंशी लोग मरे कि नहीं मरे? घरका वियोग हुआ कि नहीं हुआ? ऐसा अनाथ छोड़ करके महाराज! उन्होंने अपनी लीला संवरण की।

जब अर्जुन लेकरके उनकी पत्नियोंको द्वारकासे इन्द्रप्रस्थ आने लगा तब बीचमें उसके धनुष और बाण सब-के-सब बेकार हो गये।

तद् वै धनु: स इषव:। —महाभारत

इसका मतलब यह है कि जो दु:खके प्रसंग हैं, ये सृष्टिमें सबके लिए चलते रहते हैं। तो फिर? बोले—कि तब तो अच्छे महात्मा हुए? दु:ख भी आते रहे।

बोले—'हम तो इसलिए आये थे महात्माके पास कि हमारा धन बना रहे, हमारा बेटा बना रहे, हमारी जवानी बनी रहे. हम तो इसलिए तुम्हारे पास आये थे। यह तो तुमने ऐसी बात करनी शुरू कर दी, ऐसी बात करनी शुरू कर दी कि दुःखके प्रसंग तो बन्द होंगे ही नहीं।'

बोले—'इनको बन्द करनेके लिए बाहर-बाहर उपाय करना, उनके लिए जो युक्ति हो वह करना। युक्तियुक्त बताते हैं। लेकिन मनमें यह प्रवेश न पावे, भीतर! भीतर यह घुसने न पावे, इसके लिए पहले बन्दोबस्त कर लो। ऐसी ठोस जगह बनाओ भीतर कि वहाँ कोई चोर घुसने न पावे। तो 'दुःखेषु अनुद्विग्नमना'का अर्थ है कि यह चोर, यह डाकू, यह बदमाश लोग हमारे महलके भीतर न घुसने पावे। तो यह कैसे होता है?'

'दुःखेषु अनुद्विग्नमना।' देखो, दुःख जो है, वह आता है पाप-प्रारब्धसे, तो जिस समय आप पाप करने लगे थे उस समय अगर आपको उद्वेग होता कि—'हाय-हाय! पाप कर रहा हूँ'—तो उस विवेकके कारण आप पाप न करते, रुक जाते। तब तो आपको आज दुःख नहीं मिलता। लेकिन पाप तो पहले कर चुके, कारण तो बना दिया, बस! जब उसका कार्य, उसका फल भोगनेके लिए आया तब घबड़ाने लगे।

चोरी करते समय यदि तुम्हारे मनमें उद्वेग होता कि—'हाय-हाय! हम चोरी कर रहे हैं' और चोरी करना बन्द कर देते, तो पुलिसके पकड़नेका, जेलमें जानेका तुमको दुःख ही नहीं होता। लेकिन काम करते समय तो तुम उद्विग्न हुए नहीं और अब फल भोगनेके समय उद्विग्न हो रहे हो? यह गलती हुई और भाई! यदि पहले पुण्य कर चुके होते और उसी समय सुख आता तो उसमें स्पृहा करते। बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया, बने रहो! बहुत अच्छा!

पुण्य तो किया तुमने थोड़ा, उसका फल सुख आया थोड़ा-सा और तुम चाहते हो कि—'हे सुख, बने रहो!' तो कारण तो बनाया नहीं और कार्यमें आसक्ति करते हो। सुखको रखना चाहते हो और कारण तो बना दिया और उसका फल दुःख आया तब उसको भोगनेसे मुकरते हो। तो यदि पाप-पुण्य करनेके समय सद्‌बुद्धि होवे माने हम पापसे बचें और पुण्य करें, तब तो हमारे जीवनमें दुःख न आवे, सुख आवे। लेकिन जब कर चुके पाप और पुण्य किया नहीं, तब सुख आवे कहाँसे? दुःख तो आवेगा-ही-आवेगा।

तो अब देखो, महात्माओंने क्या बढ़िया ढूँढ़कर बात निकाली। बोले—'अपने दिलको ऐसा मजबूत बनाओ कि बुद्धि तुम्हारी डावाँडोल न होने पावे।' ये कहते हैं—स्थितप्रज्ञका अर्थ यही है—'बुद्धि डावाँडोल न होने पावे, इसीका नाम स्थितप्रज्ञ है। क्योंकि दु:ख जितने होते हैं वे पहली चोटमें जितने बुरे लगते हैं न, दूसरी चोटमें उतने कम, तीसरी चोटमें उससे कम और फिर रोज-रोजकी आदत पड़ जाती है।'

आदमीको जब पहले दिन लँगड़ाकर चलना पड़ता है, तो मनमें बड़ा दु:ख होता है और शरमाता भी है। एक दिन, दो दिन चला, लँगड़ाकर चला, डंडा लेकर चला, वैशाखी लगाकर चला, फिर भूल जाता है कि हम लँगड़े हो गये। याद ही नहीं आती है।

दु:खका स्वभाव यह है कि यह पहली चोटमें। 'अच्छा, उन्होंने हमारे बारेमें ऐसा कह दिया? हमारे बारेमें उनका ऐसा खयाल है?' दु:ख माने? संसारमें जो दु:खके निमित्त आते हैं, इनकी तीन चीज होती है—दु:खके निमित्त, दु:खाकारवृत्ति और दु:खका अभिमान। तो ऐसा समझो कि दु:खके निमित्त आते हैं। और धनका वियोग हुआ, इष्टमित्र, अपने प्रिय मित्रका वियोग हुआ, अप्रियका संयोग हुआ, ये दु:खके निमित्त आये।

ये दु:खके निमित्त भी तीन तरहके होते हैं। वह कैसे? कोई एक चाँटा मार दे। एक आदमी अथवा शेर जो है न, घायल कर दे, बिच्छू डंक मार दे, साँप डँस ले! एक निमित्त यह हुआ। इसको भौतिक निमित्त बोलते हैं।

अच्छा, ज्यादा गरमी पड़ गयी, सरदी आगयी, ज्यादा वर्षा होने लग गयी, बिजली गिर गयी, यह क्या हुआ? यह दैविक निमित्त हो गया।

बोले—किसीसे ईर्ष्या हो गयी। यह क्या है? यह किसी देवताने भेजा है? कि किसीने चाँटा मारा है? किसीसे मुहब्बत हो गयी तो मुहब्बतमें दु:खी होते हैं न? तो वह दैविक दु:ख है कि भौतिक दु:ख है? वह भौतिक नहीं है, वह मानसिक दु:ख है। आध्यात्मिक दु:ख इसको बोलते हैं।

तो तीन तरहसे दु:ख आते हैं। किसीसे डाह करो तो, किसीके लिए जलन हो मनमें तो, किसीकी निन्दा करो तो, किसीसे मुहब्बत हो जाय तो, किसीसे दुश्मनी होय तो! ईर्ष्या-असूया ये जो मनके भीतर ही होनेवाले हैं, मोह हैं ये खेल हैं। ये सब आध्यात्मिक होते हैं, तो समझो कि ये तीनों तरहके

दुःख समय-समयपर आकरके मनमें अपना दर्शन देते हैं। इनके निमित्त भी होते हैं।

दुनियामें इनके निमित्त भी होते हैं आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। अच्छा, इन निमित्तोंसे दुःखाकार वृत्ति होती है। 'हाय-हाय! मैं मर गया; धन क्या गया? मैं मर गया। तो अपने प्रियका वियोग क्या हुआ? मेरा ही नाश हो गया। इसने चाँटा क्या मारा? बहुत बड़ी बेइज्जती हमारी हो गयी। तो यह क्या हुआ? दुःखके निमित्त तो आये, और हम 'हाय-हाय!' मनमें दुःखाकार वृत्ति भी बनी। ये मनीरामका खेल तो आप जानते ही हैं। ये बड़े-बड़े रूप धारण करते हैं।

यत्प्रज्ञानउत चेतो धृतिश्च यज्जयोतिरन्तरमृतं प्रज्ञासु यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु यज्जाग्रतो दूर मुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। —शिवसंकल्पस्तोत्र

जब हम जागते हैं, तो ये हमको छोड़कर भाग जाते हैं। जब हम सो जाते हैं तो ये आकर हमसे लिपट जाते हैं। देखो न, सोते समय आकर लिपटते हैं और जागते समय दूर भागते हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदेति।

यही संसारके विषयोंको प्रकाशित करते हैं।

'**तदु सुप्तस्य तथैवैति, दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं।**' दूरतक जाते हैं, इन्द्रियोंको प्रकाशित करते हैं, और '**यत् प्रज्ञानं उत चेतो धृतिश्च।**'

मनीरामके बड़े-बड़े खेल! यह तो दुनियामें लोग सिनेमा खेल जानते हैं। थियेटर जानते हैं। सर्कस जानते हैं, लेकिन भीतर जो सर्कस हो रहा है, जो सिनेमा दिखा रहा है कि बाबा! इसको देखो! तो मजा आजायगा। बहुत बड़े मजे हैं। 'हाय-हाय' कर रहे हैं।

अब बोले—देखो, प्रारब्धकी गति यही है। कहाँ तक? कोई समष्टि प्रारब्ध तक कोई निमित्त बन जाता है। गरमी पड़ गयी, सर्दी पड़ गयी। व्यष्टि प्रारब्धसे कोई निमित्त बन जाता है—चाँटा खानेको मिल गया और संसारमें राग-द्वेष जो है, उसके कारण कोई निमित्त बन जाता है। मनमें दुःख हो जाता है। लेकिन इस दुःखमें जो अभिमान है न, कि 'अहं दुःखी'='मैं दुःखी हूँ' इत्याकारक (वृत्ति) जो अभिमान है, अभिमानकी जो यह शकल है, कि 'मैं

दु:खी', वह क्या है? वह भी क्या प्रारब्धसे आया है? वह प्रारब्धसे नहीं आया है। यह अपने स्वरूपके अज्ञानसे आया है।

अपने स्वरूपके अज्ञानसे वह आया है। तुम अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म नहीं जानते हो, इसलिए भोक्तारूप आभास माने तुम अपनेको फल-चेतन जानते हो, शुद्ध चेतन नहीं जानते हो। अन्त:करणमें प्रतिफलित जो चेतन है, कर्मका अभिमानी, फलका अभिमानी, कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे अपनेको कर्त्ता जाननेवाला और ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे अपनेको ज्ञाता जाननेवाला, मनकी उपाधिसे अपनेको भोक्ता जाननेवाला जो आभास है, आभास, उसमें 'मैं' हो जानेके कारण उसका सुख, उसका दु:ख, उसका मरना, उसका जीवन तुमने अपने ऊपर थोप लिया है। अब क्या करना?

जो स्थितप्रज्ञ पुरुष है, उसने अपनी प्रज्ञासे, अपनी पवित्र प्रज्ञासे उसने जान लिया है कि अपना स्वरूप ब्रह्म है। सब, जैसे हवा चलती है बाहर, वैसे भीतर चलती है श्वास। जैसे सर्दी-गरमी पड़ती है बाहर, वैसे सर्दी-गरमी आती है भीतर। जैसे समाजमें उथल-पुथल मचती रहती है, वैसे शरीरमें उथल-पुथल मचती रहती है।

अनुद्विग्नमना:।

उसके मनमें उद्वेगका कोई स्पर्श नहीं होता।

: 46 :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

2.56-57

'गीता'में अर्जुनकी दो स्थिति देखनेमें आती है—एक तो जब वह श्रीकृष्णको अपना आज्ञाकारी बनाना चाहता है और एक जब वह श्रीकृष्णका आज्ञाकारी बनना चाहता है। जब वह श्रीकृष्णको आज्ञाकारी बनाना चाहता है, तब वह सकाम है और ईश्वरसे कह रहा है, 'तुम हमारा यह काम कर दो।' हमारा यह काम कर दो, हमारे मनके अनुसार कर दो।'

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ गीता 1.21

यह पहले अध्यायकी स्थिति है। और मध्यमें क्या हुआ कि अर्जुनने रथका स्थान छोड़ दिया और सारथिके सम्मुख आगया। तो पहले सारथि सेवक था और अब सारथि अन्तर्यामी ईश्वर हो गया। क्योंकि रथीपनेका जो अभिमान था उसका वह टूट गया।

तो जबतक मनुष्य अभिमानके वशवर्ती होकर अपनी कामनाके अनुसार चलता है, तबतक वह ईश्वरको अपना सेवक बनाता है कि तुम हमारे कहे अनुसार चलो, तुम हमारे कहे अनुसार चलो और जब मनुष्य अभिमान छोड़कर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार चलने लग जाता है, तब वह निष्काम हो जाता है और अभिमान टूट जानेके कारण परमात्मासे एक हो जाता है। अठारहवें अध्यायमें—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव। गीता 18.73

'अब मैं तुम्हारी आज्ञाके अनुसार चलूँगा'—यह अर्जुनकी स्थिति है। तो सकाम पुरुष ईश्वरके अधीन होते हुए भी ईश्वरको अपना सेवक ही रखना चाहता है और निष्काम पुरुष अभिमान तोड़करके ईश्वरका सेवक, ईश्वरके अनुसार चलनेवाला बन जाता है। अब—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको बता रहे हैं, 'भाई मेरे! दुःख तो एक नहीं, हजार आते हैं और सुख भी एक नहीं, हजार आते हैं। यह तो जीवनकी प्रणाली ही है कि सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता ही रहता है—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

दुनियामें ऐसा कौन है जिसको सुख-ही-सुख मिलता है? और जिसको हमेशा दुःख-ही-दुःख मिलता है? जैसे रथका पहिया कभी नीचे और कभी ऊपर जाता है, वैसे सुख-दुःखके पहियोंपर यह जीवनका रथ चल रहा है। कभी नीचे जाता है, कभी ऊपर आता है। कभी कोई दुःख डूब जाता है, सुख ऊपर आता है, कभी सुख डूब जाता है, दुःख ऊपर आता है। इसी प्रकार यह जीवनका क्रम चल रहा है। तो सुखका अन्त दुःख है और दुःखका अन्त सुख है। इसलिए दुःख भी बहुत हैं। अगर सुख-ही-सुख होता जीवनमें, तो एक ही दुःख होता, संसारमें। सुख होता ही नहीं।

बोले—बहुत दुःख हैं, तो एक-दो-तीन-चार जो दुःख हुए, तो एक दुःखसे दूसरे दुःखके बीचमें क्या है? दूसरे दुःखसे तीसरे दुःखके बीचमें क्या है? तीसरे दुःखसे चौथे दुःखके बीचमें क्या है? अरे, वह बीचमें जो है न, वह सुख है। अगर चार दुःख किसीके जीवनमें होते हैं तो चार सुख भी जरूर होते हैं। क्योंकि अगर बीच-बीचमें सुख न होवे तो दुःखकी गिनतीको तोड़नेवाला कौन होगा? एक ही दुःख रहेगा फिर। दुःखकी गिनतीको तोड़नेके लिए सुख आता है और सुखकी गिनतीको तोड़नेके लिए दुःख आता है। तो यह संसार जो है, इसी ढंगसे चल रहा है।

जैसे समदृष्टिमें दिन और रात आते हैं, जैसे गरमी और सर्दी आती है, ऐसे सुख-दुःख भी आते हैं। रातको नींद ले लेते हैं और दिनमें काम करते हैं। तो जैसे काम करनेका भी समय आता है, सोनेका भी समय आता है, ऐसे दुःख और सुखका समय भी आता है। इसके सम्बन्धमें समझो कि एक तो वस्तु दृष्टि है।

वस्तुदृष्टि क्या है? चाहे सुखका आकार भासे चाहे दुःखका; चाहे सुखाकार वृत्ति हो चाहे दुःखाकार वृत्ति हो; चाहे दुनियाके लोग अपनेको सुखी

माने चाहे दु:खी मानें है सब अपना स्वरूप ही। अपने ब्रह्मस्वरूपके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। इसको 'संक्षेपसार' सिद्धदृष्टि बोलते हैं। यह तत्त्वदृष्टि है। इसमें परमार्थका यथार्थ निरूपण कर दिया है—

क्षपित कल्मष धीस्तु विवर्तताम् सर्व।

'मनु' कहते हैं, जिसकी साधारण बुद्धि है वह तो इसको परिणामके रूपमें देखता है कि यह परिणाम है और जिसका अन्त:करण शुद्ध है, वह इसको विवर्तके रूपमें देखता है। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, स्थितप्रज्ञ जो पुरुष है, उसके लिए तो यह सब ब्रह्मस्वरूप ही है।

तो पहली दृष्टि है, क्या? कि यह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। चाहे सुख हो चाहे दु:ख हो। दूसरी दृष्टि यह है कि यह सब विवर्त है। तीसरी दृष्टि यह है कि चित्तका यह सब परिणाम है; प्रकृतिका परिणाम है। कोई-कोई ईश्वरका ही परिणाम मानते हैं। तो आप दृष्टियोंकी गणना कर लो।

सुख-दु:खके सम्बन्धमें स्वरूपदृष्टि कि 'सब मैं हूँ' और सुख-दु:खके सम्बन्धमें विवर्तदृष्टि कि यह सब बिना हुए ही बरत रहे हैं। 'विरुद्ध वर्तते इति विवर्त:।' जैसा उसका स्वरूप है उसके विरुद्ध बरत रहा है। माने सोना पीतल मालूम पड़ रहा है और पीतल सोना। रज्जु सर्प मालूम पड़ रहा है। यह क्या है? यह विरुद्ध बर्ताव है। यह प्रतीतिमात्र इसको कहो। तीसरी बात जो है, वह यह है कि प्रकृति जो है वह सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमयी है। इसलिए कभी इसमें सत्त्वप्रधान परिणाम होता है, कभी रजप्रधान परिणाम होता है, कभी तमप्रधान परिणाम होता है। तो जब रजप्रधान परिणाम होता है तब दु:खकी सृष्टि होती है, और जब सत्त्वप्रधान परिणाम होता है तब सुखकी सृष्टि होती है। यह तो आप जानते ही हैं कि—

रजसस्तु फलं दुःखम् अज्ञानं तमसः फलम्। 14.16

जहाँ रजोगुण होगा वहीं दु:ख आवेगा। रजोगुणके बिना दु:ख नहीं हो सकता। इसका अर्थ यों समझो कि—

प्रज्ञापराध एव एषः दुःखमिति यत्।

जब-जब हम दु:खी होते हैं, तब-तब हमारी अकल हमें धोखा देती है। कहीं-न-कहीं जिद्द होगी। 'यह प्रतीति ऐसी होनी चाहिए', 'यह परिणाम ऐसा होना चाहिए', 'देहेन्द्रियोंको ऐसा होना चाहिए' 'संसारके पदार्थोंको ऐसा होना

चाहिए' 'हमारे रिश्तेदार-नातेदारोंको ऐसा होना चाहिए।' जबतक संसारमें कोई आग्रह नहीं होगा, पूर्वग्रह! नवग्रह जो आकाशमें रहते हैं न, वे तो आधिभौतिक और आधिदैविक हैं। एक 'पूर्वग्रह' नामका ग्रह आध्यात्मिक ग्रह है। और वह सबके मनमें रहता है। वह पूर्वग्रह क्या है?

पहलेसे यह निश्चय कर रखना कि 'यह काम ऐसा ही होना चाहिए', इसका नाम पूर्वग्रह। पूर्व=पहले। ग्रह=जिद्द। पहलेकी जो अपनी जिद्द है, 'हमारे बेटेको हमारी आज्ञा माननी ही चाहिए'—अब नहीं मानेगा तो दुःख होगा। 'हमारे पास इतना पैसा आना ही चाहिए' और नहीं आवेगा तो? तो दुःख होगा। 'हमको यह कुर्सी मिलना ही चाहिए' और नहीं मिलेगी तो दुःख होगा। यह पहलेसे जो अपने मनमें बैठा लेते हैं, कि 'दुनियामें हमारे मनके अनुसार ऐसा-ऐसा होना चाहिए' इसका नाम 'पूर्वग्रह' है। यह आध्यात्मिक ग्रह है। यह मनुष्यको बहुत ज्यादा दुःख देता है।

अब देखो, प्रकृतिमें रजोगुण है, यह दुःख परिणामी है। माने जहाँ-जहाँ प्रवृत्ति होगी, जहाँ-जहाँ लोभ होगा।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ 14.12

जहाँ लोभ होगा, जहाँ प्रवृत्ति होगी, जहाँ बहुत कामधन्धा होगा, जहाँ चित्तमें अशान्ति होगी, जहाँ स्पृहा होगी, वहाँ रजोगुण है और रजोगुणका फल दुःख मिलेगा-ही-मिलेगा। आज न मिले तो कल जरूर भोगेंगे।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

16.15-16

यही तो दुःख है। यह दुःख हुआ।

अब चौथी बातका ध्यान करो तो मालूम पड़ेगा कि ईश्वर अथवा ईश्वरका अनुग्रह ही दुःख और सुख बनकर आता है। वह कभी-कभी मनुष्यको तपानेके लिए दुःखके रूपमें आता है कि उसकी तपस्या बढ़े। उसके मनमें सहनशक्ति आवे। और कभी-कभी वह सुख बनकर ललचानेके लिए आता है कि हम ललच न जायँ। लालचमें आकर हम ईश्वरको छोड़ न दें। कभी वह दुःख

बनकर हमको तप देनेके लिए आता है कि हम पक जायँ, परिपक्क बन जायँ। तो ईश्वर अथवा ईश्वरका अनुग्रह हमारे जीवनमें सुख बनकरके आता है और कभी दु:ख बनकरके आता है। तो जो लोग पहचानते हैं उसको, वे तो कहते हैं कि भाई, पहचान गया। *देख मौतका रूप धरे मैं, नहीं डरुँगा तुमसे नाथ।*

भले बने हो लंबक नाथ,

अरे ओ लंबकनाथ! तुम बहुत बढ़िया बने हो! पहचान लिया मैंने तुमको।

योजन भर-भर हाथ!

साँप आया भक्तके जीवनमें। 'ओह! हमारे प्रभुने हमारे लिए दूत भेजा है।' हाथमें पकड़ लिया। प्रभु कहते हैं कि 'अब तुम धरतीपर न रहो, बैकुण्ठमें आजाओ।' यह व्याख्या! भावात्मक व्याख्या जो होती है न, यह ईश्वरकी कृपासे, ईश्वरके अनुग्रहसे आती है।

अच्छा, अब इसके बाद देखो! सुख-दु:ख प्रारब्धसे आते हैं, क्योंकि सुख-दु:ख फलवृत्ति हैं। साधनवृत्ति नहीं है। फलवृत्तिका मतलब आप जानते हैं। आभासभास्य नहीं हैं, साक्षीभास्य हैं। इसको यों समझो—यह 'अहं'के साथ ही अनुभव होते हैं। जहाँ आभासचेतन नहीं होगा, 'अहं सुखी अहं दु:खी', सुख-दु:ख 'मैं' में होते हैं। और यहाँ तक कि ईर्ष्या-द्वेषादि जो वृत्ति होती हैं, राग किसीसे होता है, मोह किसीसे होता है, क्रोध किसीपर होता है, ये सब बहिर्वृत्ति हैं। वे एक विषयको सामने ले आते हैं। ये सुख-दु:ख जो हो रहा है, तो सुख दूसरेको हो रहा है, उसके सुखसे सुखी हम ही हो रहे हैं और दूसरेको दु:ख ही रहा है, उसके दु:खसे दु:खी हम ही हो रहे हैं।

ये सुख और दु:ख हमेशा मैंके साथ रहते हैं। मैंको छोड़कर सुख-दु:ख कभी नहीं रहते हैं। इसलिए जिसको अपने साक्षीपनेका बोध हो गया न, वह इससे मुक्त होगा। जो सुख-दु:खको विवर्त जानेगा, वह इससे मुक्त होगा। मायामात्र, विवर्त, प्रतीतिमात्र। जो इसको ईश्वरका अनुग्रह मानेगा, वह भी सुखी हो जायगा। और जो इसको प्रकृतिका परिणाम मानेगा कि ऐसा होना तो अनिवार्य है, वह भी सुखी हो जायगा। वह भी सुख-दु:खसे मुक्त हो जायगा। जो इसको प्रारब्धकर्मका फल मानेगा, वह फलरूपसे आयी हुई जो चीज है, उसमें घबड़ा जाता है कि वह तो अपने ही किये हुएका फल है। तो प्रारब्धकर्मका यह फल है, कि ईश्वरका अनुग्रह है कि प्रकृतिका परिणाम है, कि

यह प्रतीतिमात्र, मायामात्र, विवर्तमात्र है कि अपना स्वरूप है और कहीं-कहीं तो ऐसा मानते हैं कि—छठीं दृष्टि देखो—

छठीं दृष्टि क्या है कि यह साधन है। साधन कैसे है? जब दुःख आता है, तभी तो मनुष्यके मनमें वैराग्य होता है।

नेत्थं पुंसां विराग्यस्यात्।

यों ही वैराग्य नहीं हो जाता। जब दुनियाकी चीजें चोट पहुँचाने लगती हैं, तब वैराग्य होता है। इससे मनुष्यका मन अन्तर्मुख होता है। ईश्वरकी ओर चलता है। तो दुःखको भी तप बना देना।

'छान्दोग्य उपनिषद्'में बहुत बढ़िया इसका प्रसंग है। जब बुखार आता है तब तप होता है।

एतद्वै परमं तपः। छान्दोग्य

यह तपस्या है। जब मनुष्यको अर्थीपर उठाकर लोग श्मशानके लिए ले चलते हैं, बोले कि 'तप होता है।' यह भी एक तप है। और जब आगमें होम करते हैं तब। उस समय आगमें जब शरीर जलता है, बोले—वह भी हमारा एक तप होगा। तो अर्थीपर चढ़ना और चितामें जलना और शरीरमें बुखार आना, ये भी जहाँ तप हो जाता है, अपने लिए कि देखो यह हमारे द्वारा तप सम्पन्न हो रहा है।

वहाँ प्रारब्धका फल, वहाँ प्रकृतिका, परिणाम, वहाँ ईश्वरका अनुग्रह और वहाँ विवर्त भी उन्नतिका कारण बन जाता है। इसलिए—**दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः।**

बहुत करके भूलसे ही दुःख होता है। कहीं-न-कहीं देखो, अपनी भूल अटकी होगी। तो यह भी सुख-दुःख दोनों कैसे आते हैं? ये तीनों ही कुछ तो अधिदैव निमित्तसे होता है। जैसे, जिस दिन चाँदनी खिलती है, बहुत बढ़िया और शीतल मन्द सुगन्ध वायु चलती है और कमलकी मह-मह गन्ध चारों ओर व्याप्त होने लगती है। हम ऐसे वातावरणमें होते हैं कि मन बहुत प्रसन्न होता है। यह जो सुख मिला या मन प्रसन्न हुआ, यह कौन-सा सुख है? यह आधिदैविक निमित्तसे सुखकी प्राप्ति हुई और जहाँ किसीने लाकरके पाँच रुपये दे दिये, हाथ जोड़ लिये, कुछ थोड़ी-सी तारीफ कर ली और मन प्रसन्न हो गया। एक बहुत बढ़िया हरिण लाकर किसीने भेंट कर दिया, एक मोर सामने ले आया, कोई बन्दर ही मिल गया सामने, तो यह जो सुख हुआ, यह आधिभौतिक निमित्तसे सुख हुआ।

मीठी-मीठी आवाज सुननेसे, मुलायम स्पर्श प्राप्त होनेसे, अच्छा रूप देखनेसे, अपनी तारीफ सुननेसे, सुगन्ध लेनेसे, मनुष्यका लाया हुआ इत्रका फाया मिल गया। बोले—यह सुख हुआ। ये सब आधिभौतिक निमित्तसे हैं।

सुख-दुःखके आध्यात्मिक निमित्त भी होते हैं। वे कभी कुछ देखना, ध्यान करनेसे, किसीकी याद आनेसे, कोई आशा बँध जानेसे मनमें-अपने आप ही आशा बन गयी कि अब तो हमको इनसे यह चीज मिल जायगी, भीतर सुख खिलखिला उठा। हँस गया। हँस गया सुख। सुख भी हँसता है। मुस्करा गया दिलकी मुस्कराहटका नाम सुख है। जब भीतर ही जैसे होठोंपर मुस्कराहट आती है न ? वैसे ही जब कलेजेकी मांसपेशियोंमें मुस्कराहट आती है, जैसे होठों पर आती है, गालोंपर आती है, नाकपर आती है, जैसे आँखमें आती है, वैसे कलेजेकी मांसपेशियोंमें जब मुस्कराहट आती है, तब उसका नाम सुख होता है। तो कभी वे दैवी निमित्तसे होता है, कभी भौतिक, शारीरिक निमित्तसे होता है या कभी भीतर ही किसीकी याद करके खिल उठता है।

उस दिन वह झाँकी कैसी बढ़िया थी ? भीतर-ही-भीतर! अब वह झाँकी मिट गयी। लेकिन उसकी याद करके दिल मुस्करा गया। स्मृतिसे होता है। कल्पनासे होता है। ज्ञानसे होता है। यह क्या है ? यह आध्यात्मिक सुख है।

सुखेषु विगत स्पृहः।

स्पृहा नहीं रखना कि यह बना रहे। यह प्रकृति जो है, यह नर्तकी है, नर्तकी। माया नहीं! उसको बोला है नर्तक! माया जो है, वह—

नाच नटी इव सहित समाजा।
माया खलु नर्तकी बिचारी॥

तो यह तो नर्तकी है। कभी यह अँगूठा दिखानेवाला नाच करती है और कभी हाथको यों-यों करनेवाला नाच करती है। वह नृत्य होता है न? कभी हाथको यों करती है माने बुलाती है कि आजाओ हमारे पास! यह भी एक नृत्य हुआ। और कभी अँगूठा दिखाती है और दोनों हाथ यों करके कहती है, इधर मत आओ। लौट जाओ। तो वह जो माया नटी है, नर्तकी है, वह प्रकृति है प्रकृति! पुरुषके भोगके लिए पुरुषको रिझानेके लिए यह तरह-तरहके नाच दिखाती है। आप यह नहीं समझना कि अभी यह हमें आँखके इशारेसे बुला रही है। वह तो थोड़ी ही देरमें, मिनटोंमें ही अपना मुँह फेरकर—और हाथसे मना

करेगी कि नहीं हट जाओ हमारे सामने! ऐसा नहीं करेगी? प्रकृति नटीका यह स्वभाव ही है कि यह कभी मुस्कराकर बुलाती है और कभी रूठ करके हाथ हिलाती है कि हट जाओ हमारे सामनेसे। तो नटीके नृत्यको देखकर जो उद्विग्न हो जायगा, अपने मनको उद्विग्न कर देगा वह दुःखी होगा और उसको भी एक नृत्यका हाव—यह भी नृत्यको एक भंगिमा है। नृत्यकी एक शैली है। यह समझकरके जो मजेसे देखता रहेगा, उसके सामने नृत्यका दूसरा रूप भी आवेगा। तो यह मजा जो है, यह असलमें देखनेका मजा है।

उद्वेग और स्पृहा। दुःखमें उद्वेग और सुखमें स्पृहा। यह स्पृहा क्या है? आये हुए सुखको पकड़ लेना। समझो, समाजमें एक वेश्या नृत्य कर रही है और जितने देखनेवाले हैं वे सब कहें कि हम तो इसको अपने घरमें ले जायेंगे और घरवाली बनाकर हमेशा इसको अपने काममें रखेंगे, तो वह रहेगी? तो वह सबके लिए तो सम्भव नहीं है न? अच्छा, कोई समझे कि इसकी जवानी हम बना रखेंगे, आज तो इसके गालपर झुर्री नहीं है, लेकिन बादमें भी हम इसपर झुर्रियाँ नहीं पड़ने देंगे तो यह जो मनके बारेमें स्पृहा है कि हम इसे बना रखेंगे, हम जवानी बना रखेंगे, सुखाकारवृत्तिके बारेमें स्पृहा है कि हम हमेशा अपने दिलको मुस्कराता हुआ रखेंगे। अरे! पहले मुँहसे तो मुस्कराओ-मुस्कराकर दिखा दो। चौबीस घंटे लगातार मुस्कराते रहो। तो जब तुम्हारा मुँह चौबीसों घंटे नहीं मुस्करा सकता, तो तुम्हारा दिल चौबीसों घंटे कैसे मुस्कराता रहेगा? इसलिए दिलका स्वभाव ही है कि कभी वह उदासा होता है, तो कभी वह प्यासा होता है। तो यह दिलका स्वभाव है।

अब उसकी प्यास कहाँसे बुझती है? तो महात्मा लोग उसकी प्यास जो है, उसको अपने आपमें ही बुझा लेते हैं। दूसरे लोग जो हैं, वे दूसरोंके प्यासे होते हैं और दुःख पाते हैं। यही इसका रहस्य है। तो कभी सुखमें भी, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध सुखमें भी स्पृहा नहीं करना चाहिए। जैसे दुःखको मत रोको, उद्वेगको मिटा दो, दुःखको भीतर आनेसे रोको, अपने मनमें जो उद्वेग है, उसे मिटा दो। जैसे वर्षा होनेसे मत रोको, अपने घरकी छतको मजबूत कर लो। आया समझमें? सूर्य उगनेसे मना मत करो। छाता लगा लो। अपने आपको सुरक्षित कर लेना, यह आध्यात्मिक साधनाकी प्रणाली है।

संसारकी परिस्थितिको बदल देना कि सूर्य न उगे और वर्षा न हो,

आधिदैविक रीतिको बदल देना या आधिभौतिक जो प्रणाली है, उसको बदल देना या आध्यात्मिक समष्टिको बदल देना, यह मनुष्यके हाथका काम नहीं है। इसके सम्बन्धमें अपनेको ले जाना पड़ता है वैराग्यकी भूमिकामें। निष्काम आत्मतुष्टिकी भूमिका तो—

प्रजहाति यदा कामान्में बताया। वह तो आत्मदृष्टिसे है। और ये? ये बाहरके जो विषय हैं, उनके सम्बन्धमें तुम्हारी अन्तर्दृष्टि क्यों होनी चाहिए? वैराग्य। वैराग्यपूर्ण होनी चाहिए। यह वैराग्यमूलक स्थितप्रज्ञताका वर्णन इस श्लोकमें है।

अब देखो, उद्वेग और स्पृहा मिटानेके लिए भी हमें क्या करना चाहिए? उसके लिए भी कुछ साधन तो चाहिए न? क्या करना चाहिए? तो हेतु बताते हैं—

'वीतरागभयक्रोधः।' यो वीतरागभय=क्रोध। भवति स अनुद्विग्नमना भवति दुःखेषु। यश्च वीतरागभयः क्रोधो भवति स अनुद्विग्नमना भवति एव सुखेषु विगतस्पृहो भवति।

जरा मोटा-मोटी अपने जीवनमें ले आओ। यो रागी भवति स विगतस्पृहो न भवति। जो रागी होता है वह स्पृहाको छोड़ नहीं सकता। यश्च भयवान् भवति, यश्च क्रोधवान् भवति स अनुद्विग्नमना न भवति।

पहले दुःखवाली बात आयी है न? उसीको लेते है। दुःख दो तरहसे आता है। एक तो किसीसे भय हो कि आगे वे हमारा काम बिगाड़नेवाले हैं। यह है भविष्यकी कल्पना और वर्तमानमें देख लिया है कि इन्होंने हमारा काम बिगाड़ा है। तो भूतपर जिन्होंने काम बिगाड़ा उसपर क्रोध आवेगा। वर्तमानमें जो काम बिगाड़ रहा है उसपर क्रोध आवेगा और भविष्यमें जो काम बिगाड़नेवाला है, उससे भय होगा और क्रोध भी आवेगा। भूतमें जिसने काम बिगाड़ा है वह फिर न बिगाड़ दे, इसका भय होगा।

असलमें भय जो अपने हृदयमें है, वही अपने मनको उद्वेग देता है। जो बात-बातमें उद्विग्न होनेवाला है, समझना कि यह बड़ा डरपोक है। वह अपनी कमजोरियाँ जाहिर करता है। उसके दिलमें ऐसा डर समाया हुआ है कि यह हमारा यह न बिगाड़ दे, हमारा यह न बिगाड़ दे, हमारा यह न बिगाड़ दे।

अच्छा, सबको ब्रह्म समझते हो तो कुछ बिगाड़ता ही नहीं। सब

प्रतीतिमात्र समझते हो, तो कुछ बिगाड़ता ही नहीं। महापुरुषका स्वभाव क्या है? जब दुनियामें कुछ बिगड़ने लगता है, तब वह भीतर जाता है। जैसे नीचे बहुत गरमी लगती है तो आप ऊपर ही सटासट चले जाते हो न? या ऊपर ज्यादा गरमी मालूम पड़ती है तो नीचे चले आते हो। बाहर गरमी लगी तो एयरकंडीशनमें चले गये। तो यह जो भीतर ही एक जगह है, आपके वह बिलकुल एयरकंडीशन है।

जंगलमें आग लगनेपर हाथी गंगाजीकी धारामें उतर जाता है। यह नहीं कि हाथी सूँड़में पानी भर-भरके वहाँ बुझाने जाता है। तो बाहर अगर दुःखका वातावरण हो तो अपने भीतर घुस जाना, दुःखसे निवृत्त हो जाना, उसकी ओरसे आँख बन्द कर लेना। बस!

बड़ी मार कबीरकी चित्तसे दिया उतार।

महापुरुषका स्वभाव लड़ाई करनेका नहीं है, झगड़ा करनेका नहीं है, उसको बनानेमें लग जानेका नहीं है, सुधारनेका नहीं है। सुधारनेका काम, है न, वह आचार्यका काम है सुधारनेका। जैसे अपने पिता होते हैं, आचार्य होते हैं, गुरु होते हैं वे बड़ा सुधारनेके लिए जोर लगाते हैं। लेकिन जब देखते हैं कि सामनेवाला हमको आचार्य नहीं मानता, गुरु नहीं मानता, अब बेटा हमको बाप ही नहीं मानता तो बेटेकी भी उसको उपेक्षा ही करनी पड़ती है। 'अच्छा, जा भाई सयाना हो गया। तेरी जैसी मौज हो वैसे कर।' यह होता है न? ऐसा नहीं करोगे तो चलेगा नहीं।

'वीतरागभयः क्रोधः।' यह आध्यात्मिक स्थितिका वर्णन है। राग कैसे होता है? राग ऐसे होता है कि जिस-जिससे हमको सुखका अनुभव होता है इससे हमको बड़ा सुख मिला, इस आदमी से हमको बड़ा सुख मिला, तो जिस-जिससे सुखका अनुभव होता है, उसका रंजनात्मक संस्कार अपनी वृत्तिमें पड़ जाता है। उसका एक रंग चढ़ जाता है। तो बार बार उसकी याद आती है। और फिर-फिर उसको मिलनेकी आकांक्षा होती है। यह क्या है? यह राग है राग-

'रंजनात्मक वृत्तिविशेषो रागः।'

सुखमूलक रंजनात्मक वृत्तिविशेषो रागः। एक खास तरहकी चित्तकी वृत्ति जिसमें किसीका रंग चढ़ा हुआ होता है, जिसमें किसीकी रंगीनी रहती है— इसने बड़ा मजा दिया। और सुखमूलक होता है।

'योगदर्शन' में रागका लक्षण बताया है—

सुखानुशायी रागः। —योगदर्शन

सुखं अनुशेते इति सुखानुशायी। किसीसे सुख मिला और उसीके साथ सो गया उसका नाम राग है। अपना मन सो गया कि इसके साथ सुख मिला और जिससे दुःख मिला उसकी ओर मनका जाना—

दुःखमूलः जलनात्मक चित्तवृत्तिविशेषः। —योगदर्शन

दिलमें जलन होने लगी। आग लगना दिलमें, इसका नाम द्वेष है। जिससे दुःखकी कल्पना है मनमें, उससे भय है, यह आतंकमूल है। जिसमें कारणताकी कल्पना है कि यह हमको दुःख देनेवाला है, उसके ऊपर क्रोध है।

अब देखो, मनुष्यकी बुद्धि कैसे बिगड़ती है? क्रोध आनेपर बुद्धि बिगड़ जाती है कि इसका नुकसान करो। वह भलेमानुषको चोर समझने लगता है। वह हितैषीको शत्रु समझने लगता है। अपने गुरुको 'तू-तू' करके बोलने लगता है। यह 'स्मृतियों' में वर्णन है। क्यों? कि मनमें क्रोध आगया। यह क्रोध जो है न, यह—'कं सुखं ज्ञानं च रुणद्धि इति क्रोधः'—नैरुक्त व्युत्पत्ति है इसकी—

कं ज्ञानं मस्तिष्कस्थितं, कं सिरः।

क=सिर। सिरमें स्थित दिमागमें रहनेवाले ज्ञानको और कं सुखं-क=सुखको। कं=रससोतः। क=इसका झरना। उसको जो रोध कर दे, उसमें जो बाँध लगा दे उसका नाम क्रोध।

जिस समय तुम्हारे शरीरमें क्रोधका उदय होगा, उस समय न तुम्हें सुख होगा, न तुम्हारी बुद्धि रहेगी और न तुम्हारे भीतरसे इसका झरना झरेगा। एक हमारा बहुत प्रेमी आदमी एक दिन हमारे पास आया और दूसरेपर क्रोध करके आया था। हमारे पास वह बैठकर, लाल-लाल चेहरा। देखते ही बने झाँकी। वह झाँकी देखते बने। लाल-लाल चेहरा। और हम उसके सामने बैठे। हमारी कोई बात करे कि अपनी हमको सुनावे। सो नहीं। बस, जिससे उसको दुःख हुआ था न, उस पर क्रोध आया था। उसीपर वह ओसाता जाय। ओसाता जाय। बस, वह उगलता जाय, उगलता जाय! कभी घुटनोंके बल बैठ जाय, कभी दोनों हाथ हिलाने लग जाय और कभी चेहरा लाल हो जाय। जिसके ऊपर क्रोध था वह वहाँ मौजूद नहीं था। वह तो चेहरेको श्रीमान् बनानेवाला वह क्रोध ही था वहाँ। वह जो झाँकी थी न चेहरेकी वह मनके भीतर क्रोध ही था।

इसी प्रकार किसीके प्रति भय हो जाता है मनमें। झूठा भय! ये बच्चे जो हैं, ये चिल्लाते हैं कि नहीं? डॉक्टर इञ्जेकशन लगाता है शरीरमें बड़े हितकी भावनासे, लेकिन भय लगता है कि नहीं लगता है? तो यह चित्तमें जो भय है, यह भी नासमझीसे है। कभी कोई नुकसान हो नहीं सकता। आज तक तुमको कोई मार नहीं सका है। अनादिकालसे अबतक कभी तुम्हें मृत्युका अनुभव नहीं है। झूठा ही तो डर लगता है न? अभिनिवेश के कारण मृत्युका भय होता है। भय जो है न?

विदुषोपि स्वरसवाही तथारुभोऽभिनिवेशः।

भय जो है, यह अभिनिवेश है और क्रोध जो है, यह द्वेष क्रोधके रूपमें आया है। अभिनिवेश जो है, यह भयके रूपमें आया है। राग जो है, यह स्पृहाके रूपमें आया है। उसके मूलमें क्या है? अस्मिता=मैं-पना। वह कहाँसे आया है? अविद्यासे। अपने स्वरूपके अज्ञानसे। अपने स्वरूपके अज्ञानसे परिच्छिन्नमें अभिमान। और अभिमान होनेसे प्रियके प्रति राग और अप्रियके प्रति द्वेष और देहमें अभिनिवेश। इन्हींसे राग, भय, क्रोध तीनों आगये।

अब आपको कुछ छोटी-मोटी बात सुनाता हूँ, क्योंकि हर तरहसे बात करनी पड़ती है। आप जब सबेरे उठें, करना कि मत करना, हम बता देते हैं। हमारा मतलब केवल बताने में होता है। करनेमें नहीं होता है। क्योंकि हम कर्मके आचार्य बिलकुल नहीं हैं। हम तुम्हारी बुद्धिनिर्माणके आचार्य हैं, कर्मनिर्माणके आचार्य नहीं हैं। हम जो सत्संगमें बोलते हैं। तुम्हारे हाथ-पाँवसे हमारी इच्छाके अनुसार काम करानेके लिए बिलकुल नहीं बोलते हैं वह तुम्हारी बुद्धिसे समझौता करनेके लिए बोलते हैं। वह तो तुम्हारी समझमें आ जाय, तुमको ठीक जँचे तो उसको करना और न जँचे तो नहीं करना। जबतक तुम्हारी समझमें न आवे कि ये हमारा हित बताते हैं, तबतक उसको मत करना। तो क्या है?

जब आप कभी प्रातःकाल उठना, तो यदि भक्तिकी भावना हो, तो आप ईश्वर से प्रार्थना करना कि 'आप हमारी बेवकूफी और घमण्ड मिटाओ।' बेवकूफी माने अज्ञान। दुनियामें बेवकूफीसे बहुत दुःख होता है। सुख भी बेवकूफीसे होता है, झूठा ही सुख। मान लेते हैं। अभिमान होता है, वह भी बेवकूफीसे होता है। तो 'हमारी' बेवकूफी और हमारा घंमण्ड मिटाओ।' और भगवानसे प्रार्थना करो कि - 'हे प्रभु। हम दुनियामें किसीकी मुहब्बतमें न फँसें

और होय तो मिट जाय। हम दुनियामें किसीसे दुश्मनी न करें और होय तो मिट जाय। हम दुनियामें डरके कोई काम न करें। भयभीत होकर कोई काम न करें। हमारी अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँचों मिटा दो।'

अच्छा भाई, भक्तिकी भावना न होवे तो क्या करना? शुद्ध अन्तःकरणसे बैठ जाना। आगे-पीछेकी छोड़कर और कहना—'आज मैं चौबीस घण्टे तक या दिनभर किसीसे डरूँगा नहीं। किसीपर क्रोध नहीं करूँगा, किसीकी मुहब्बतमें फँसूँगा नहीं। घमण्ड नहीं करूँगा, कोई बेवकूफीका काम नहीं करूँगा। बेवकूफ नहीं बनूँगा, न किसीको बेवकूफ बनाऊँगा। न किसीका अभिमान बढ़ाऊँगा झूठी तारीफ करके।' झूठी तारीफ करनेसे दूसरेका अभिमान बढ़ता है। तो—'झूठी तारीफ करके किसीका अभिमान बढ़ाऊँगा भी नहीं। और खुद अभिमान करूँगा भी नहीं।' भला।

'किसीको राग करनेके लिए बढ़ावा भी नहीं दूँगा। और राग करूँगा भी नहीं। किसीको द्वेषका बढ़ावा नहीं दूँगा और द्वेष करूँगा भी नहीं। डरूँगा भी नहीं और डराऊँगा भी नहीं।' अपनी ओरसे आत्मशक्तिसे यह निश्चय करो।

जिसकी इन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ काबूमें नहीं होतीं, वह शक्तिहीन होता है। उसके प्राणमें कोई शक्ति नहीं होती। इसलिए वह प्रतिज्ञा करके भी, निश्चय करके भी उसको क्रियान्वित नहीं कर सकता। तो शक्तिशाली बनना चाहिए। तो शक्तिशाली बनो, प्रतिज्ञा करो। तो अभी जो तीसरी बात बतानी थी, न कि करना कि नहीं करना, यह प्रातः-कालकी क्रिया है। एक आत्माकी प्रधानतासे और एक ईश्वरकी प्रधानतासे।

दूसरी देखो—एक टोटका बताता हूँ। टोटका जैसा होता है न, वह। टोना-टोटका दुःख मिल जानेपर कभी-कभी बहुत मददगार हो जाता है। राई-नोन उतारनेसे मनमें ऐसा परिवर्तन हो जाता है, हनुमानजीको नमस्कार करनेसे मनमें ऐसी आशा बन जाती है, आत्मबलका उदय हो जाता है। तो एक टोना-टोटका बताता हूँ। वह क्या? प्रातःकाल उठ करके देखो, कि जठराग्निका जो मूल स्थान है न, नाभिके पास, वहाँ एक त्रिकोण-चक्र है और उस त्रिकोणके भीतर भावमय अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, जहाँ बड़ा प्रकाश है और बड़ी-बड़ी ज्वाला है और उसमें पाँच आहुति दो-'अविद्याम् जुहोमि स्वाहा'। 'अस्मिताम् जुहोमि स्वाहा'। 'रागम् जुहोमि स्वाहा'। 'द्वेषम् जुहोमि स्वाहा'। 'अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा'।

आग जला कर बाहर तो आहुति देना बड़ा मुश्किल। भीतर ही ज्ञानकी आगमें—

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। गीता 4.37

अपने नाभिचक्रमें। अग्निका मूल स्थान वही है। मिट्टीका मूल स्थान गुदा है। जलका मूल स्थान मूत्रेन्द्रिय है। अग्निका मूल स्थान नाभि है। वायुका मूल स्थान हृदय है। यह प्रेरणासे श्वास चलती है। आकाशका मूल स्थान आकाश है। उसके आसपास खुली जगह बहुत है अवकाश बहुत है।

मुख जो है न, यह मनका मूल स्थान है। आँखमें, नाकमें, जीभमें, कानमें, कपोलमें, मनका स्पर्श, मनका संवेदन बहुत ज्यादा रहता है। यह मनका स्थान है। उसके बाद ब्रह्मरंध्रके पास ज्ञानका स्थान है। हवन करना हो, यह अविद्या-अस्मिता राग-द्वेष, अभिनिवेश सब निम्न भागमें रहते हैं। तो नाभिचक्रमें जो अग्नि है, चिद् अग्निमय, चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है। उसमें मैं अपनी बेवकूफी, अपना घमंड, अपनी मुहब्बत, संस्कृत न आवे तो कोई बात नहीं। 'ओम्, अविद्याम जुहोमि स्वाहा'—न बोल सको तो कोई हरज नहीं। वैसे, संस्कृत शब्दोंमें शक्ति बहुत रहती है। शब्दों की शक्तिका विलक्षण वर्णन आता है। अचिन्त्य शक्ति शब्दोंमें होती है, पर वह सब बोल न सको तो—

मैं अपनी बेवकूफीका होम करता हूँ। मैं अपने घमंडका होम करता हूँ। मैं अपनी मुहब्बत जो दुनियामें फँसी है, उसका होम करता हूँ। जो दुश्मनी अपने चित्तमें है, उसका होम करता हूँ। और चित्तमें जो डर समाया हुआ है, उसका होम करता हूँ कि कहीं यह न बिगड़ जाय, कहीं यह न बिगड़ जाय।' तो आप क्या हो जाओगे? 'वीतरागभय: क्रोध: ।' धीरे-धीरे आपका राग, आपका भय और आपका क्रोध मिट जायगा। तो भगवत्प्रार्थना, निश्चय और हवन, ये तीन काम प्रात:काल करनेका है।

दोषोंको मिटानेके लिए और फिर सावधानी रखना। क्योंकि दोषमें दृष्टि नहीं है। जहाँ दृष्टि है वहाँ दोष नहीं है और जहाँ दोष है, वहाँ दृष्टि नहीं है। तो सावधान रहना! सावधानी ही साधना है। ये आने न पावे कि 'आगया भाई आगया'। यदि चोर आपके घरमें कभी घुसता दीखे, आप ऊपर होवें और चोर नीचे घुस रहा हो, और आप जोरसे बोल देना कि 'आगया, आगया'-देखना, वहींसे लौट जायगा।

ये जानेहु ते छीजै कछु पापी।

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—'यह पता लग जानेसे कि चोर है, चोर जो है, वह भाग जाता है। वह तो डाकू हो तो आवेगा। और चोर हो, पाँव दबाकर आनेवाला, तो भाग जायगा। यह दोष मिटानेकी प्रक्रिया है। जैसा दोष हो, उसके अनुसार कुछ पहले थोड़ा बंधन रखना चाहिए। क्या?

जैसे मनमें आया क्रोध तो किसीके लिए गाली निकल गयी मुँहसे या हाथ उठ गया या दिल एक बार तप गया। मालूम पड़ गया कि क्रोध आगया। तो कहो कि—' भाई अच्छा, भाई क्रोध आ गया तो अब गंगास्नान करेंगे।' है न? अब 'माधवबाग'में भगवान्‌का दर्शन करने जायेंगे। क्रोधका जो गंदा पानी है न, वह शरीरके भीतरी भागमें फैल गया। समझो कि एक खौलता हुआ जल आपके शरीरपर पड़ जाय तो आप क्या करते हैं? उसकी शान्तिकी चिकित्सा करते हैं कि नहीं? झुलस जाय शरीर, गरम-गरम पानी पड़ जाय, फफोला पड़नेकी उम्मीद हो, तो कुछ-न-कुछ उसपर लगते हैं, जैसे—चूनेका पानी, नारियलका तेल, कोई-न-कोई दवा करते हैं कि नहीं? तो जैसे बाहरी शरीरपर गरम पानी पड़ जाय तो दवा करते हैं, वैसे भीतरी शरीरमें खौलता हुआ रस, खौलता हुआ खून अगर एक बार घूम जाय तो उसकी शान्तिकी दवा करनी चाहिए। नहीं तो रोग होगा, फोड़ा बनकर निकलेगा।

क्रोधके संस्कारसे संस्कृत जो खून होगा, वह जो गरमी दौड़ गयी न, वह कहीं फोड़ा बनकर निकलेगी। कहीं उस गरमीसे जुकाम आजायगा। वह तो गरम-गरम खून दौड़ गया न शरीरमें? कोई रोग आवेगा, बुखार आ जायगा। बोले- हम तो रोज-रोज गाली देते रहते हैं हमको बुखार नहीं आता है। ऐसी बात नहीं; दर्द इकट्ठा होता रहता है। भाई! इकट्ठा होता है और होकर कभी-कभी आजाता है बाहर फोड़े, जुकाम या अन्य किसी प्रकारसे।

तो यह देखो। जब-जब खौलता हुआ खून शरीरमें घूमे, तब-तब उसकी शान्ति करनेके लिए सत्संगमें जाओ।

जाय जपो शंकर शत नामा।

ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय। रौद्राधिष्ठातृ देवता कौन है? रौद्राधिष्ठात्तृ देवता रुद्र हैं। इसलिए उसके शुद्ध रूपका चिंतन करो। तो वह जो गरम पानी, गरम खून बहा है शरीरमें वह शान्त हो जायेगा एक बात और

है। रक्त ही गरम होता है। जो रागी नहीं होगा; वह गरम भी नहीं होगा। जो किसी काममें रक्त हो, वह अनुरक्त है। विरक्त गरम नहीं होता, रक्त गरम होता है। जिसको खून ही नहीं, वह गरम कहाँसे होगा? तो यह 'रक्त' शब्द— 'विरक्त' शब्दका 'विशेष रक्त, अनुरक्त, रक्त' - वही गरम होता है। तो इसके लिए कोई व्रत रख लो। एक दिन क्रोध आवे तो सात दिन नमक नहीं खाय। नहीं बनेगा? तो इसका फल बहुत बढ़िया होगा। जब क्रोध करनेका समय आवेगा न, तब याद आवेगा कि नमक छूट गया। नमककी याद आजायगी। दुश्मनकी जगह मनमें नमक आजायगा तो वृन्त्यंतर हो गया न! विषयान्तर हो गया। मन दूसरी जगह चला गया। मन नमकमें चला गया।

अच्छा नमक न छूटे तो मीठा ही छोड़ दो। सीताराम। अच्छा दूध छोड़ दो सात दिन। भोजन मत छोड़ना, क्योंकि भोजन छोड़नेसे क्रोध बढ़ता है। भोजन बिलकुल छोड़ देनेसे क्रोध बढ़ता है। गरमी बढ़ती है, पित्त बढ़ता है शरीरमें। वह पचानेवाला जो पित्त है न, इकट्ठा होकर भड़क जाता है तो और क्रोध आता है। इसलिए क्रोधमें अनशन नहीं करना। क्रोधमें तो कोई ठंडई पीना, लेकिन बिना शक्करकी। तो मजा आवेगा। यह कर लो कि एक बार क्रोध आवेगा तो दस रुपया किसी गरीबको देंगे। अपने ऊपर पहलेसे जुर्माना करके रखो। बोले—'हे भगवान्। कहीं कुछ मुँहसे निकल न जाय। नहीं तो दस रुपये चले जायेंगे।' दस रुपयेकी याद आवेगी तो लोभवृत्ति आगयी न? लोभाकार वृत्ति आनेसे क्रोधाकार वृत्ति निवृत्ति हो जायगी।

लोभाकार वृत्ति आनेसे क्रोधाकार वृत्ति निवृत्त हो जायगी। आपके मनमें कभी काम आता हो तो उसकी दवा यह है कि—आप अपने दुश्मनकी याद कर लीजिए। तुमको किसने ज्यादा दुःख दिया है, किसने ज्यादा फँसाया है, किसने अपमान किया है? आप दुश्मनकी याद करो, काम निवृत्त हो जायगा। क्योंकि काम और क्रोध ये दोनों विरुद्ध वृत्ति हैं। आप शंकरजीकी याद करो। वरफके पहाड़पर वरफकी चट्टान पर बैठे हुए, बरफके समान। अमरनाथकी याद करो। जो लोग अमरनाथको देखे हुए हैं न, बरफका शिवलिंग। उनकी याद करनेसे ही काम मिट जायगा। कामारि हैं भगवान् शंकर। कामारि हैं, कामारि। तो ये सब युक्ति होती हैं।

रागको मिटानेकी भी युक्ति होती है, द्वेषको मिटानेकी भी युक्ति होती है,

भयको मिटानेकी भी युक्ति होती है। तो यह सब सीखना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन भारतीय शैली है न, उसमें अपने आप काम करना किसीको नहीं आता है। ये बताते हैं कि सब बात सीखनी पड़ती है। साबुन लगाना भी नहीं आता है अपने आप। यह बात मैं जानता हूँ। मैंने 19-20 वर्षकी उम्रतक साबुन नहीं लगाया था। तो पहले गया 'कनखल' संन्यासियोंमें। वहाँ देखा कि सब संन्यासी क्षौर करानेके बाद साबुन लगाते हैं। तो मेरे मनमें आया कि हमारे घरमें तो यह ख्याल था कि इसमें गंदी चीजें होती हैं, शरीरमें नहीं लगाना चाहिए। यह तो संन्यासी लोग लगाते हैं! तो अच्छी चीज होगी। तब मैंने भी लगाया क्षौर करानेके बाद। अब वह आँख लाल हो गयी। आँख लाल हो गयी और देखते ही नही बने। मैंने साबुन लगाना कभी सीखा ही नहीं था।

एक बार देखा मैंने, किसीको सूजीका हलवा बनानेके लिए कहा, तो उसने ऐसी आँच तेजकर दी कि आग लग गयी, उसमें भस्म। सूजी जलने लग गयी। तो सब सीखना पड़ता है।

ये मनीरामका जो खेल है, यह भी सीखना पड़ता है। इसको अगर तुम नहीं सीखोगे, 'बोले—समझ-समझ कर सब कर लेंगे।'

'यह समझ-समझकर नहीं, किसी करनेवालेसे सीखना पड़ता है।'

वीतरागभयः क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।

असलमें स्थितप्रज्ञ होता कौन है? जो अनुद्विग्नमना होता है और स्पृहारहित होता है। राग नहीं मिटेगा तो स्पृहा नहीं मिटेंगी। क्रोध और भय नहीं मिटेगा तो उद्वेग नहीं मिटेगा। जबतक स्पृहा और उद्वेग मिटेंगे नहीं, तबतक स्थिरबुद्धिसे काम नहीं कर सकता। वह तो लड़कपन करता ही रहेगा। बचपन उसके अन्दर बना रहेगा। अभी बच्चा है भाई, अभी बच्चा है। स्थितधीः होनेके लिए जरूरी है कि अपने जीवनमें-से दोष-दुर्गुणको मिटावें।

●

: 47 :

समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका लक्षण है पहले श्लोकमें—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 2.55

उसमें—'आत्मनि एव न तु विषये'। विषयमें संतुष्टि नहीं है, अपने आपमें है। और—'आत्मन्येव संतुष्टिः न तु करणैः। अपने आपसे ही संतुष्ट है, करणोंके द्वारा नहीं। माने करणोंके द्वारा विषयभोग छोड़कर अन्तःकरण निष्काम, तो अन्तःकरणमें निष्कामता और करणोंमें विषयकी स्फूर्ति नहीं। करणोंका प्रयोग नहीं। तो ठीक!

स्थितप्रज्ञ पुरुष जब समाधिमें स्थित होता है तब ऐसा! अब सामान्यतः स्थितप्रज्ञ-पुरुषका लक्षण—सामान्य रूपसे वह व्यवहारमें कैसा रहता है? सामान्य लक्षण यह बताया—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ 2.56

यह वैराग्यकी प्रधानतासे बताया। पहली जो है वह निष्काम आत्मतुष्टि पहले श्लोकमें और दूसरेमें वैराग्यकी प्रधानता। स्थितप्रज्ञ पुरुष व्यवहार जितना करता है, उसमें सर्वत्र वैराग्यकी प्रधानता रहती है।

अच्छा, यह छूट गया? अच्छा, छूट गया तो जाने दो! अच्छा, यह आगया, तो कोई बात नहीं, आगया तो आगया। चला गया, चला गया। तो फिर दुःखके निमित्तमें उसको उद्वेग नहीं है। और, सुखके समय उसको स्पृहा नहीं है। क्योंकि उसके मनमें किसी व्यक्तिसे, किसी पदार्थसे राग नहीं है। किसीसे कोई भय नहीं है और किसीके प्रति कोई क्रोध नहीं है। उसकी बुद्धि स्थित है। तो ऐसे पुरुषको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। यह सामान्य लक्षण है, वैराग्यमूलक।

'स्थितधीः किं प्रभाषेत?' यह है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। 2.57

'किमासीत् ?'—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। 2.58

अब विभाग कर लिया। वैराग्यप्रधान स्थितप्रज्ञ पुरुषका जीवन है। जो रागी होता है, उसकी बुद्धि अपने रागास्पदको प्राप्त करनेके लिए विक्षिप्त होती रहती हं। हमारा रागास्पद हमेशा हमारे पास कैसे बना रहे? और, कैसे न बिछुड़े? इसके लिए उसकी बुद्धि अच्छे और बुरे उपाय सोचा करती है।

समझो, क्रोध आवेगा तो किसीका नुकसान करना चाहेगा। कैसे नुकसान करें? उसके लिए उसकी बुद्धि अस्थिर हो जायेगी। और किसीसे डरेगा तो डरके निमित्तको कैसे हटावें, उसके लिए उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जायगी। राग होगा तो उसके लिए उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जायगी और दुःख होगा तो उसके लिए भी उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जायगी। सुख होगा तो उसमें भी अभिमानके द्वारा उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जायगी। ये सब दोष न होनेके कारण उसकी बुद्धि स्थित रहती है। अपने स्वरूपमें आनन्द मनाती रहती है।

बोले—अच्छा भाई, उसका मन क्या करता है? अब मनीरामके बारेमें भी दो बात कहना है। एक महात्मासे मैंने पूछा था कि आप जब हम लोगोंसे बातचीत करते रहते हैं, तब तो यह मालूम पड़ता है कि जो बोल रहे हैं, वही अपने मनमें सोच रहे हैं। लेकिन जिस समय हमसे बात नहीं करते होते हैं, हम लोगोंको उपदेश नहीं करते हैं, उस समय आपका मन क्या काम करता है?

किं कुर्वन् अवतिष्ठते?

जैसे 'कुर्वन्' वर्किंग बोलते हैं न? कुर्वन्—'किं कुर्वन् अवतिष्ठते।' आपका मन क्या करता हुआ उस समय रहता है, जब आप हमको उपदेश नहीं करते हैं?

दुकानपर बैठो तो ग्राहकसे बात कर लो। लेकिन जिस समय दुकानपर ग्राहक नहीं है, उस समय तुम्हारा मन क्या काम करता है? एक सवाल है न यह? कि भाई, अभी घरसे निकल पड़े, पत्नीसे पूछ, सलाह करके, माँसे बातचीत करके, प्रणाम करके घरसे निकले। दुकानपर अभी नहीं पहुँचे हैं, तो तुम्हारा मन रास्तेमें चलते समय, मोटरमें या पैदल चलते समय या बसमें चलते समय क्या काम करता है? तो देखना, या तो पीछे छूट गया होगा और या तो आगे दुकानमें

पहुँच गया होगा। या कहीं दोस्त-दुश्मनके घरमें चला गया होगा। रास्तेमें तो ठठरी है, रास्तेमें कौन बैठा है? तो ठठरी।

बसमें कौन जा रहा है। हड्डी-मांसका पुतला। तुम्हारे मनीराम दुकान चले गये हैं या तो घरमें गये हैं। घरमें लड़ाई हो गयी है तो वह लड़ाईकी बात सोच रहे हैं और दुकानमें जाकर आमदनी करनी है तो उसकी बात सोच रहे हैं।

अब जरा स्थितप्रज्ञकी बात देखो—'स्थितधीर्मुनिरुच्यते'—'मुनि: संलीनमानस:।' 'ऋषयो मन्त्रदृष्टार:।'

ऋषि: दर्शनात्।

ऋषि किसको कहते हैं? 'ऋषि: दर्शनात्।' जिसको दर्शन होता रहे उसका नाम 'ऋषि' है। दर्शन क्या? जो अनादि अपौरुषेय सम्प्रदायसे अविच्छिन्न जो शब्दराशि है, वेदमन्त्र—**ना सदासीत् नोऽसदासीत् तदानीम्।**

न उस समय सत् था, न असत् था—यह वेद मन्त्र है। ऋषि: दर्शनात्=ऋषि जो है, वह दर्शन कर रहा है उस शब्दराशिका—

भर्गो देवस्य धीमहि धीयो यो न: प्रचोदयात्।

दर्शन हो रहा है मन्त्रका। सृष्टिमें जो शब्दराशि वेदकी अपौरुषेय, जो शब्दराशि है, उसका जिसको दर्शन हुआ, उसका नाम ऋषि।

मुनि कौन? 'संलीन मानस:।' जिसका मानस लीन होवे। सम्यक् लीन होवे। सम्यक् लीनका अर्थ—मानस=मनका सरोवर। मानस=मानस सरोवर। और यों समझो, 'मन एव मानसम्।' स्वार्थमें ही प्रत्यय हो गया। मनका ही नाम सरोवर है। तो उसमें, जैसे सरोवरमें तरंग उठती है। तो एक 'राक्षसताल' है और एक 'मानस सरोवर' है। दोनोंका वर्णन आपने सुना होगा।

जो लोग 'गौरीशंकर'की चोटीपर, ये महात्मा लोग देखकर आते हैं न, तो एक 'राक्षसताल' है और एक 'मानस सरोवर' है। 'राक्षसताल' भी बड़ा है और 'मानस सरोवर' भी बड़ा है। लेकिन दोनोंमें फर्क क्या है? 'राक्षसताल'में बड़ी-बड़ी तरंगें उठती रहती हैं। हर समय जैसे समुद्रमें ज्वार आया हो ऐसे ज्वार ही आ रहा है। और 'मानस सरोवर' कैसा है? जो शान्त रहता है। तो शान्त मानसमें तो आत्माके प्रतिबिम्बका दर्शन होता है और विक्षिप्त मानसमें आत्माके प्रतिबिम्बका दर्शन नहीं होता। 'राक्षसताल'में जाकर देखो तो अपनी परछाईं नहीं दिखेगी और 'मानसताल'में जाकर देखो तो मैं कहता हूँ वह बात दिख जायगी।

पहले जब शीशे नहीं बने थे, तब लोग पानीमें अपनी परछाईं देख लिया करते थे। तो 'मुनिः संलीन मानसः।' जिसका मानस संलीन है, भलीभाँति लीन है, शान्त है, उसको मुनि बोलते हैं।

मुनि किसको बोलते हैं? वही 'मन्' धातु है। ज्ञानात्मक जो 'मन्' धातु है, वही तो धातु है। 'नि' प्रत्यय हो गया और 'इ' प्रत्यय हो गया। 'मुनिरुच्य' ऊणादिमें 'मुनि' शब्द बनता है। तो वहाँ 'मन्' धातुसे 'उ' भी हो जाता है। 'म्'में 'उ' लग जाता है और 'नि' अलग अवस्थित है। वह बोलते हैं 'मुनि'। माने जिसके ज्ञानमें विषयाकारता कम आती है, तरंगें कम उठती हैं, जिसका मन डूबा-डूबा रहता है, किसीने आकर जरा विक्षेप कर दिया, सरोवरमें एक डंडा मार दिया, एक ढेला फेंक दिया, तो एक तरंग उठी और फिर थोड़ी देरके बाद शान्त हो गयी। किसीने आकर प्रश्न कर दिया—'महाराज! आत्मा-ब्रह्म एक ही है कि जुदा-जुदा? तो समझाने लग गये कि एक ही है। यह ढेला फेंकना हुआ। मानसमें तरंग उठी कि आत्मा-ब्रह्म एक ही है। समझाने लग गये और थोड़ी देरके बाद वह वृत्ति शान्त हो गयी। 'स्थितधीर्मुनिरुच्यते।' सामान्यरूपसे स्थितप्रज्ञका लक्षण है कि वह मौजमें बैठा रहता है।

'मननात् मुनिः। साधकके लिए जब 'मुनि' शब्दका प्रयोग करते हैं, तब संशयके निरासके लिए मनन करनेके कारण उसको 'मुनि' कहते हैं। जब तत्त्वज्ञके लिए, स्थितप्रज्ञके लिए 'मुनि' शब्दका प्रयोग करते हैं। तो संलीन मानसकी दृष्टिसे उसको 'मुनि' कहते हैं। उसकी मनोवृत्ति शान्त रहती है। किसीने ढेला मारकर तरंग उठायी तो उठ गयी और नहीं तो चुपचाप शान्त बैठा है। वह तो अपने स्वरूपमें है। एक बात!'

अब दूसरी बात देखो—इसके सम्बन्धमें बताते हैं, 'मुनि'से ही 'मौन' शब्द बनता है। आप जानते हैं—'मुनर्भावः मौनम्।' इसका अर्थ हुआ कि वह अधिकांश मौन रहता है। प्रयोजनसे बोलता है। 'जीवन्मुक्तिविवेक'में बताया कि—**गोपश्वादियत् वाङ्निरोधः।**

जीवन्मुक्त कैसे रहता है? बोले कि गायकी तरह, घोड़ेकी तरह, बैलकी तरह। अच्छी उपमा दी? अच्छी उपमा, घोड़े, गाय, बैल, भैंसकी उपमा नहीं दे रहे हैं। यह बता रहे हैं कि उनको जब बहुत जरूरत पड़ती है, तो जरूरत होनेपर

ही बोलते हैं। बिना जरूरत वे अकबक नहीं करते रहते हैं। वह तो सन्निपातका लक्षण है। सन्निपात रोग होता है न?—

प्रीति करें जब तीनों भाई,
उपजेई सन्निपात दुःखदायी।

गोस्वामी तुलसीदास

तीन भाई जो होते हैं, कफ, बात और पित्त। कफ=लोभ, पित्त=क्रोध। वात=काम। जब जिसके मनमें काम-क्रोध-लोभ तीनों रहते हैं न, तब उसके मनमें सन्निपात होता है। सन्निपात=मेलजोल, मिश्रण। कई चीजें मिलकर, गिरकर एकमें मिल गयीं तो उसीको बोलते हैं, 'सन्निपात'। हमारे गाँवमें इस रोगका नाम 'सरेताम्' और शास्त्रमें इसका नाम 'सन्निपात' है। आदमी अकबक करने लगता है, किसीको पहचानता नहीं है, बेहोश हो जाता है तो उसको सन्निपात बोलते हैं।

बोलनेमें कितना बोलना चाहिए? जितना जरूरी है उतना बोलो। इसीको यों बताया कि 'गोपश्वादिवत् वाङ्निरोधः।' जैसे गाय कब बोलती है? दिनभर कहीं डकराती है? आपसमें बातचीत करनेके लिए तो नहीं बोलती है। जब बहुत जरूरत होती है। उनको बोलनेका शिष्टाचार नहीं है। आँखसे देख लिया एकने दूसरेको, इतनेमें उनका शिष्टाचार पूरा हो गया। तो आवश्यकता हो तब बात करें और यदि आवश्यकता न हो तो बात न करें। वह भी कम-से-कम करें। प्यारी-से-प्यारी करें, हित-से-हित बोलें—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं हितं प्रियं च तत्।

सत्य होवे, प्रिय होवे, हितकारी होवे, अनुद्वेगकारी होवे, अथवा यदि जीभ न मानती हो, मुँह न मानता हो, तो लेकर गीताका पाठ शुरू कर दो—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

जीभकी-होंठकी कसरत भी हो जायगी, बोलनेकी वासना भी पूरी हो जायगी और दूसरेकी निन्दा नहीं होगी। स्तुति नहीं होगी। यह मौन! मौनका अर्थ है, अनावश्यक भाषण नहीं करना। तो—

स्थितधीर्मुनिरुच्यते।

स्थितप्रज्ञपुरुषका, क्योंकि बोलनेका असर पड़ता है। किसीकी निन्दा हो गयी। हमने तो समझा कि हम अपने बड़े दोस्तसे निन्दा कर रहे हैं और उस

दोस्तके भी एक और दोस्त था, तो उससे जाकर कहा। उसके एक और दोस्त था, उसने उसको कहा। और घूम-फिरकर जिसकी निन्दा की गयी थी, उसके पास वह बात पहुँच गयी। क्योंकि दोस्त-के-दोस्त, दोस्त-के-दोस्त! 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः'।

किसीकी तारीफ की भरी सभामें और उसने समझा कि सचमुच मैं ऐसे गुणवाला हूँ। अभिमान ही बन गया उसका। तो जहाँ तक हो सके, केवल जीभकी बात नहीं है, मनको सन्निपात नहीं होवे। मन जब बात करता है न, ज्यादा तो वह भी इधर-उधरकी बात करने लगता है। इसलिए वाणीके साथ-साथ मनका मौन रहता है। आपने तपस्याका जो वर्णन पढ़ा है 'गीता'में वह क्या है?

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। गीता 17.16

देखो, वाणीकी तपस्यामें मौन नहीं है। शरीरकी तपस्यामें—मौन नहीं है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। गीता 17.14

और—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

इसमें भी मौन नहीं है। मौन किसमें है? मानस-तपस्यामें है। असली मौन तो मनका मौन है।

गिरा मौनं तु बालानां अज्ञानात्।

बालकके लिए गिरा मौन है। स्थितप्रज्ञके लिए? मनका मौन है। जब काम करनेका समय हुआ, दस बजेसे चार बजे तक ऑफिसमें जाकर काम कर आये और उसका भार वहाँ छोड़ आये। ऑफिसका भार घरमें नहीं ले आये। इसी प्रकार मनके लिए कोई आवश्यक कार्य हुआ तो उसको कर लिया, उसके बाद मनको विश्राम दे दिया। तो स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो मन है, वह समय-समयपर आवश्यकता होनेपर काम करता है और बाकी समयमें मौन रहता है। अच्छा, एक दृष्टान्त लो, क्योंकि जीवनमें सुख-दुःख दोनों आते रहते हैं और अच्छे-बुरे दोनों आते रहते हैं। यह नहीं कि जो चाहता है कि हमारे जीवनमें अच्छा-ही-अच्छा आवे, वह संसारका रहस्य नहीं समझता है। जो समझता है कि हमारे जीवनमें बुरा-ही-बुरा रहेगा वह भी संसारका रहस्य नहीं समझता है।

यह तो जायगा भाई, और यह तो आवेगा। दुनिया तो बदलती है। तो फिर कैसे संसारमें जीवन व्यतीत करना चाहिए?

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.57

तुम्हारी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है कि अप्रतिष्ठित? एक प्रश्न है। प्रतिष्ठित माने जानते हो न? 'यह आदमी बहुत प्रतिष्ठित है। ये शेष प्रतिष्ठित हैं।' इस महात्माकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये प्रतिष्ठित महात्मा हैं। बोलते हैं कि नहीं? प्रतिष्ठित=इज्जतदार। 'संसारमें इसका बड़ा आदर है।' तो हम कहते हैं— 'आपका तो दुनियामें बड़ा आदर है।' आपकी अकलका आदर है कि नहीं, सो बताइये। लोग आपसे सलाह लेनेमें अपना गौरव समझते हैं? नहीं भाई, तुम तो खुद ही दूसरोंसे सलाह लेते फिरते हो।

अभी बुद्धि जो है, न साधनमें स्थिर है न साध्यमें स्थिर है। न सिद्धमें स्थिर है। सिद्ध है ब्रह्म, साध्य है अन्तःकरणकी शुद्धि और साधन है यमनियमादि। शमदमादि साधन हैं, अन्तःकरणशुद्धि साध्य है और ब्रह्म सिद्ध है। तो आपकी बुद्धि कहाँ स्थिर हो गयी है? साधन करनेमें स्थिर हो गयी है? कि साध्य दशाको प्राप्त हो गयी है? कि सिद्धको जान करके अविद्याकी निवृत्ति कर चुकी है? किस विषयमें आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित है? कहाँ आपकी इज्जत की जाती है? कि 'बड़े शमदमादि साधनसंपन्न, बड़े शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु-समाहित-श्रद्धावित्त पुरुष हैं।' कि—'ये बड़े साधक हैं।' पहचानते हैं साधककी मनोवृत्तिको। आपकी बुद्धिकी, आपके अन्तःकरणकी यह प्रतिष्ठा है? देहकी प्रतिष्ठा कि—'हम कुर्सीपर बैठे हैं।' वह किसका आदर करता है? किसकी पूँछ सेठको देखकर ज्यादा हिलती है? किसकी पूँछ ऊँची कुर्सीवालेको देखकर ज्यादा हिलती है? किसकी पूँछ साधु-ब्राह्मणको देखकर ज्यादा हिलती है? पहचान होती है कि उसकी महत्त्वबुद्धि कहाँ है? वह क्या चाहता है? वह संसारी है कि परमार्थका साधक है? यह बात बिलकुल साफ-साफ हो जाती है कि तुम्हारी महत्त्वबुद्धि कहाँ? तो भाई मेरे? 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'

तुम्हारी देहकी बड़ी इज्जत है, ईश्वर करे, बनी रहे। तुम्हारी कुर्सीकी बड़ी इज्जत है, वह भी ईश्वर करने बनी रहे। हम तो केवल प्रज्ञाकी बात करते हैं। तुम्हारी नजरमें तुम्हारी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है कि नहीं? संशय तो नहीं रहता कि हमारी

बुद्धि कहीं गलत निर्णय कर रही हो। जैसे अपनी पत्नीपर शंका हो तो आदमीको रातको ठीक नींद नहीं आ सकती; वैसे ही जिस मनुष्यको अपनी बुद्धिपर शंका होती है, उसको चौबीसों घंटे शान्ति नहीं मिल सकती। अशान्ति रहेगी। पत्नीकी शंकासे निद्रामें बाधा पड़ेगी और बुद्धिमें शंका होगी तो शान्तिमें बाधा पड़ेगी। आपकी प्रज्ञा इज्जतदार है कि नहीं है?

बोले-अरे! यह तो बड़ा शक्की आदमी है, सब पर शंका ही करता रहता है-

सरिस श्वान मघवान जुवानु।

गोस्वामीजीने कहा—'इन्द्रो विशंकित मम धाम जिघ्रति इति।' इन्द्रके मनमें शंका आयी कि नर-नारायण हमारा स्वर्ग छीनना चाहते हैं। 'भागवत'में यह प्रसंग है। इन्द्रके मनमें शंका हुई—'इन्द्रो विशंकित मम धाम जिघ्रति इति' 'यह मेरा स्वर्ग ले लेना चाहते हैं।'

धन्य हो बाबा! नारायणके लिए स्वर्गकी लालच? यह बात! अब देखो, तुम अपनी नजरसे। अपनी नजरसे अपनी प्रज्ञाको कहाँ बैठाया है? संशयप्रधान तुम्हारी प्रज्ञा है कि अज्ञानप्रधान तुम्हारी प्रज्ञा है? संशय-विपर्यय है कि नहीं? संशय-विपर्ययसे रहित जो प्रज्ञा है, उसका नाम प्रतिष्ठित प्रज्ञा है। कायम मुकाम=एक जगह रहनेवाली।

अच्छा देखो, इसमें भी एक गुरकी बात है। गुरु नहीं, गुर। हिन्दीमें गुर बोलते हैं। माने इसका गुर क्या है? आधार। किस आधारपर इसका निश्चय होता है? तो विशेषविषया जो प्रज्ञा होती है, विशेषके बारेमें, खास-खास खासियतके बारेमें—अरे, कोई तुम्हें दयालु मानेगा, कोई निष्ठुर मानेगा। विशेषके बारेमें जो प्रज्ञा होती है, वह अस्थिर होती है। अस्थिर होती है माने एकके मनमें जो है, वह दूसरेके मनमें नहीं है। एक दिन जो है वह दूसरे दिन नहीं है।

परन्तु निर्विशेषके सम्बन्धमें जो प्रज्ञा होती है वह कभी अस्थिर नहीं होती है। जिसने निर्विशेष परमात्माको पहचान लिया, उसकी प्रज्ञा अदलती-बदलती नहीं है कभी। तो अब देखो—'प्रतिष्ठित प्रज्ञाका एक स्वरूप बताते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

यह समत्वमूलक प्रज्ञाप्रतिष्ठा है। मृत्युलोकमें स्थिरता है उसकी, इसलिए उसकी बुद्धि इधर-उधर नहीं जाती। पहलेमें वैराग्य है और उसके पहलेमें

निष्काम आत्मतुष्टि है। उसमें बताते हैं कि उसकी बुद्धिमें समत्व आकर बैठ गया।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं।

ब्राह्मणके लिए इससे बढ़कर कोई धन नहीं है। क्या?

यथैकता समता असंगता च।

बोधमें एकता होवे, चित्तमें समता होवे और व्यवहारमें असंगता होवे। व्यवहारमें तो किसीके साथ आसक्ति न होवे और चित्तमें सबके प्रति समता होवे और बोधमें एकत्व होवे। यह पूर्ण मनुष्य! मनुष्यकी पूर्णता है।

देखो, असलमें परमात्माको हम देखते हैं, पर पहचानते नहीं है। समझ लो, इस सत्संगमें एक आदमी आज आकर ऐसा बैठा है जिसका नाम तो आपने बहुत सुना है, लेकिन पहचानते नहीं हैं। अब वह आपकी आँखके सामने है, तो देख तो रहे हैं; लेकिन पहचान नहीं रहे हैं। यह फर्क हुआ कि नहीं? अपना आत्मा जो है, वह देख तो जाता है, साक्षादपरोक्ष है, समझो। कभी आँखसे ओझल हुआ ही नहीं। लेकिन यह ब्रह्म है, यह पहचान नहीं होती है। 'मैं' ही ब्रह्म है।

'मैं'को जानते हैं। 'मैं'के बिना तो कोई व्यवहार ही नहीं होता। 'मैं'को जानते हैं, परन्तु 'मैं'को ब्रह्म नहीं जानते। एक सज्जन एक आदमीके घरसे रोज घूमते हुए निकलते थे। एक दिन उनकी जरूरत पड़ी कि उनसे मिलें तो काम बन जायगा। तो उन्होंने पूछा कि—'भाई! वह कहाँ रहते हैं? कब मिलते हैं? उनकी क्या शकल-सूरत है?' बोले—'वे ऐसे-ऐसे हैं, अमुक जगह रहते हैं।' 'भाई, उनसे मिलनेका सबसे बढ़िया समय क्या होगा?' 'रोज सुबह घूमनेको निकलते हैं।' 'किधरको निकलते हैं?' 'अमुक रास्तेसे निकलते हैं?' 'अरे! वहाँ तो हमारा घर ही है। हमारे दरवाजे परसे जाते हैं?' 'हाँ!' 'अरे, वह कौन है? हाथमें लाठी लिये चलते हैं क्या?' 'हाँ-हाँ, वही।' तो देखते तो पहलेसे थे, पर पहचानते नहीं थे।

यह जो हमारा ईश्वर है न, परमेश्वर! सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तो-पादानकारण, शुद्ध चिन्मय, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक आत्मदेव! इसको हम देखते तो रोज हैं, पर पहचानते नहीं हैं। जाग्रत्में वही ज्ञान-स्वरूप, देखते तो हर समय हैं, पर पहचानते नहीं हैं। सुषुप्तिमें वही ज्ञान स्वरूप, स्वप्नमें वही

ज्ञानस्वरूप। लेकिन यह ज्ञानस्वरूप, घटको प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है, सो ब्रह्म है, नेत्रको प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है, सो ब्रह्म है. अन्त:करणको प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है सो ब्रह्म है। यही विश्वसमष्टिका प्रकाशक है, यह बात हम नहीं जानते हैं। तो ज्ञानमें और अभिज्ञानमें थोड़ा अन्तर करके देखो—

यः सर्वत्रानभिस्नेहः।

स्नेहः तु अभि सर्वत्र स्नेहं करोति किन्तु अभिस्नेहं न करोति॥ जो सबसे स्नेह करता है, चिकना तो सबके लिए है। जिसके हाथमें मक्खन आवेगा, उसका हाथ तो चिकना ही होगा। तो स्नेह तो उसके हृदयमें है। उसके रोम-रोममें है। उसकी आँखमें है, उसके काममें हैं—

यद्यत् पश्यति चक्षुर्भ्याम्।

आँखसे जिसको देखता है, अपने स्नेहसे तर कर देता है। हाथसे जिसको छूता है, अपने स्नेहसे तर कर देता है। महात्मा तो स्नेहकी मूर्ति है। आगके पास जाओ तो जैसे आँच मिलेगी और तुम्हारी ठंड दूर होगी, यह आगका स्वभाव है न? कल्पवृक्षके पास जाओ तो तुम्हारा संकल्प, तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। इसी प्रकार महात्माके पास जाओ तो स्नेह तो उसकी आँखोंमें-से झरता है। उसकी जीभमें-से झरता है। उसके रोम-रोमसे स्नेहकी तन्मात्रा निकलती है। जो शुद्ध हृदयसे जायगा, वह उसमें डूब जायगा। अगर वहाँ स्नेह नहीं मिलता है तो समझो कि तुम्हारे मनमें कोई गाँठ पड़ गयी है। कोई धारणा कोई पूर्वग्रह आकरके ऐसा बैठ गया है, जिससे तुमको वह स्नेह प्राप्त नहीं हो रहा है।

परन्तु अभिस्नेह नहीं होता। अभिस्नेह=अभितः स्नेह=सबको छोड़करके एकके साथ अटक जाना। अभिस्नेह क्या है? जैसे संसारी लोग अपने पुत्रमें अटकते हैं, दूसरेके पुत्रमें नहीं। अपने रिश्तेदार-नातेदारमें अटकते हैं, दूसरेमें नहीं। ऐसे जो महात्मा पुरुष हैं, वे एकमें नहीं अटकते। स्वयं सूर्यके समान वह सबको प्रकाश दे रहा है, अग्निके समान वह सबको गरमी दे रहा है, चन्द्रमाके सामन सबको आह्लाद दे रहा है, वह गंगाजीके समान सबको पवित्रता दे रहा है, धरतीके समान सबको धारण कर रहा है, जलके समान सबको आप्यायित=तर कर रहा है, वायुके समान सबको साँस दे रहा है, आकाशके समान सबको अवकाश दे रहा है और जैसे अपने लिए सत् संकल्प है, वैसे उसके चित्तमें सबके लिए सत्संकल्प है।

साधु ते होय न कारज हानि।

एक महात्माने तो ऐसा कहा कि अगर तुमको वैर-विरोध भी करना हो कभी, तो दुष्टका वैर-विरोध नहीं करना। क्योंकि दुष्टका चिन्तन करोगे तो तुम्हारा मन दुष्ट हो जायगा। इसलिए निन्दा करनी हो तो महात्माकी निन्दा करो।

इसलिए कभी किसीने तो ऐसा कहा—'कभी तुम्हें वैर-विरोध करना हो तो महात्माका करो। देखो, कंसने श्रीकृष्णका वैर-विरोध किया तो अन्तमें उसका कल्याण हो गया। शिशुपालने श्रीकृष्णका वैर-विरोध किया तो अन्तमें उसका कल्याण हो गया।'

किरातार्जुनीयने कहा, 'भारवी'का वचन है—

वरं विरोधोऽपि समं महात्मनिः।

अगर तुम्हें कभी दुश्मनी भी करनी हो, तो दुष्ट पुरुषके साथ अपना मन नहीं जोड़ना, दुश्मनी करनेके लिए अपना मन साधुपुरुषके साथ जोड़ लेना। चिन्तन तो होगा न? और कई लोगोंके हृदयमें तो बड़ा प्रेम होता है। मन जब खींचता है न किसी साधु-महात्माके प्रति, मन जब खींचता है, बड़े प्रेमसे, बड़े प्रेमसे मन खींचता है और किसी कारणवश उनके पास जा नहीं सकते तो बाहर निन्दा करके, विरोध करके अपने मनको रोकनेकी कोशिश करते हैं। वह भी यही—

अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रवृर्धते।

किसी धनीकी बड़ी प्रशंसा हुई, तो उनसे जो गरीब हैं। वे उतने धनी तो बिचारे नहीं हो सकते, तो क्या करते हैं? उनकी निन्दा कर-करके अपने मनमें सन्तोष भरते हैं। असलमें, उसका यह अर्थ नहीं है कि महात्मासे वैर-विरोध करना। यह बात नहीं है। उसका अर्थ यह है कि अपने मनका अगर किसीसे रिश्ता जुड़े, सम्बन्ध जुड़े तो किसी महात्मासे ही जुड़े। क्योंकि स्नेह माने तो जानते हो न! स्निहयति=स्नेहनं=तर कर देना, नरम कर देना। कोई चीज सख्त पड़ गयी हो, उसपर मक्खन लगा दो, घी लगा दो, तेल लगा दो तो वह नरम-नरम हो जायगा कि नहीं? कोमलता आजायगी। तो यह स्नेह वह चीज है जो मनुष्यके हृदयमें कोमलता उत्पन्न करता है। तो महात्माको देखकरके मनुष्यके हृदयमें कोमलता आती है। स्नेह देता है वह, परन्तु अभिस्नेह?

अभिस्नेह=दूसरोंको छोड़कर एकके साथ सट जाय? वह गोंद नहीं है। काँटा नहीं है कि किसीके साथ चिपक जाय। तो—

सर्वत्रानभिस्नेहः।

जो अपने स्त्री-पुत्र धन आदि हैं, उनमें भी आसक्ति उसकी नहीं है। प्यार है, परन्तु आसक्ति नहीं है। शृंगार है, शृंगार रस है, परन्तु भोग नहीं है। सम्पत्ति है, परन्तु ममता नहीं है। यह महात्माका जीवन है। जीवनमें व्यवस्था है, परन्तु अभिमान नही है। यह महात्माका जीवन है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.57

अब बताते हैं कि जीवनमें दोनों तरहकी चीजें आती हैं—

तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।

शुभ और अशुभ, तत् तत्। प्राप्य=तत् तत् शुभं च प्राप्य अशुभं च प्राप्य। न अभिनन्दति न द्वेष्टि। इस श्लोकका अर्थ टीकाकारोंने ऐसे-ऐसे ढंगसे किया है! जो संस्कृत नहीं जानते हैं, उनके लिए थोड़ा उलझा देनेवाला है। लेकिन आपको हम महात्माका यह लक्षण सुना रहे हैं, साधकका नहीं। साधकके जीवनमें तो बहुत प्रयत्न करने पर यह समता आवेगी।

शुभं प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि।
अशुभं च प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि।
शुभं न अभिनन्दति, अशुभं न द्वेष्टि।

सीधा अर्थ यही है—'शुभं न अभिनन्दति' और 'अशुभं न द्वेष्टि।' हमारे जो धर्ममार्गके आचार्य हैं, धर्माचार्य, उनकी व्याख्या दूसरे ढंगकी होती है। जो प्रेमाचार्य, भक्त्याचार्य होते हैं, उनकी व्याख्या दूसरे ढंगकी होती है। जो ज्ञानाचार्य होते हैं, उनकी व्याख्या दूसरे ढंगकी होती है।

आप 'गीता' पर एक नजर 'शुभाशुभ' पर डालो। तब पता चलेगा।

शुभाशुभ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।
12.17

भगवान् कहते हैं कि जो शुभ-अशुभ दोनोंका परित्याग कर देता है, वह हमारा प्यारा है। तो, शुभं न अभिनन्दति। शुभं अभिनन्दति। और, शुभं न अभिनन्दति और अशुभं न अभिनन्दति। अशुभं न अभिनन्दति और अशुभं ना अभिनन्दति। शुभं द्वेष्टि, शुभं न द्वेष्टि। अशुभं न द्वेष्टि, अशुभं द्वेष्टि।

शुभाशुभ परित्यागी।

शुभ-अशुभ दोनों छूट गया न? और गुणातीतके लक्षणमें भी आया है, क्या है वहाँ? यही शब्द है कि दूसरा है?

सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते। 14.25

'सर्वारम्भ परित्यागी' तो 'भक्त'में भी है और

'गुणातीत'में भी है। वहाँ तो—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

14.22

अच्छा, देखो—भगवान्‌को जो अर्पण कर देता है, उसके लिए आया—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। 9.28

तो वहाँ शुभाशुभके साथ फल भी जोड़ दिया। इसका मतलब यह हुआ कि शुभ और अशुभका जो फल है न, वह कर्मका बन्धन है। तब शुभ और अशुभ कहनेसे फलका ग्रहण नहीं होगा। फलका जो हेतु है उसको शुभाशुभ बोलते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

जिससे सुखरूप फलकी प्राप्ति होवे वह शुभ और जिससे दुःखरूप फलकी प्राप्ति होवे वह अशुभ। आप देखना कि मनुष्यके सामने सभी प्रकारकी परिस्थिति आती है।

एकके बारेमें यह कल्पना होती है कि यह बड़ा मांगलिक है। शुभ फल देगा। जैसे, किसीने यात्राकी, समझो। महात्माने यात्रा की और कोई सौभाग्यवती स्त्री अपने सिरपर भरा हुआ कलश लेकर सामनेसे निकली, तो क्या हुआ? शुभ शकुन हो गया। 'वाह! अभिनन्दन है! वाह-वाह देवी! तुमने तो आज हमारा मंगल कर दिया। हमारी यात्रा बन गयी। बड़ा शुभ शकुन हो गया।' अभिनन्दन करने लग गये।

अब कोई दही लेकरके आगया कि 'दही खा लो।' शुभ शकुन हो गया। यह छोटा-छोटा अर्थ है।

बोले—कोई अशुभ आकर किसीने टोक दिया कि 'कहाँ जा रहे हो?' ऐसे भी कह दिया तो असगुन हो गया। अशुभ हो गया। और कहीं बिल्लीने रास्ता काट दिया तो असगुन हो गया। तो अब महात्माकी स्थिति क्या है?

'शुभाशुभम् नाभिनन्दति ना द्वेष्टि।'

असलमें महात्माके बारेमें यह बात कही गयी है, कि महात्मा तो अपनी जगहपर बैठा रहता है। वह तो स्थितप्रज्ञ है न? उसकी प्रज्ञा जैसे प्रतिष्ठित है, वैसे उसकी देह भी प्रतिष्ठित है।

बोले—भाई, महात्माका कमण्डलु कभी खाली नहीं होता और महात्माका आसन कभी हिलता नहीं, ऐसे बोलते हैं। अपनी जगह पर बैठा है। जिनको आना हो सो आवे और जिनको जाना हो सो जाय। तो संन्यासीके लिए यह विधान है शास्त्रमें कि—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्मानञ्च न ब्रूयात् यतिर्मोक्षपरायणः॥

कोई आया तो 'आइये-आइये'। कोई आगया तो बोले—'आइये-आइये'। बोले कि, तो 'यह संसारियोंकी रीति हैं।' 'अच्छाजी, तो चले जाओ हमारे घरसे'। यह भी संसारियोंकी रीति है। 'अच्छा, अब हमारे ही घर रह जाओ।' यह भी संसारियोंकी रीति है। यह जो सम्मानकी रीति है, यह संसारियोंकी रीति है। 'आओ, जाओ, ठहरो'। पर 'मोक्षपरायणयतिः' जो न धर्म चाहता है, जो न अर्थ चाहता है, जो न काम चाहता है, मोक्षपरायण यति है उसके लिए कोई आओ तो आओ, जाओ तो जाओ। तुम्हारा बड़ा प्रेम है तो आते हो। अब तुम्हारा कोई काम है घरमें तो चले जाते हो। तुम्हें अवकाश है तो बैठते हो। यह किसीका काम नहीं है कि आइये-आइये।' यह कोई महात्माका काम नहीं है।

अब आजकलके तो बड़े आदमी है न, वह कहता है—'देखो, हमारा नौकर हमारी तारीफ करता है। हमारे ग्राहक जो हैं वे हमारी तारीफ करते हैं। हमसे कुछ चंदा करनेवाले लोग हैं, वे हमारी तारीफ करते हैं। पर हमारी पूरी तारीफ नहीं हुई। हमारी पूरी तारीफ तो तब होगी जब कोई महात्मा आकर हमारी तारीफ करने लगे। जब वह माला पहनावेगा, जब वह हमको अपनेसे ऊपर बैठावेगा, तब हम बड़े बनेंगे।' यह बड़ा बननेकी लालसा जो संसारी लोगोंमें रहती है न, वे यह चाहते हैं कि महात्मा भी हमको चंदन लगावे, हमको माला पहनावे, हमारी तारीफ करे कि ये बड़े 'महात्मा' हैं। वे खिताब दे दें कि ये बड़े 'राजर्षि' हैं। किसीको खिताब दे दें कि ये बड़े 'संतप्रवण' हैं तो ये लोग

चाहते हैं कि साधुओंकी तारीफ भी हमें खुशामदियोंकी तरह मिल जाय। है न? पर साधुके घरमें यह बात नहीं होती है। '**नाभिनन्दति न द्वेष्टि।**'

तुम्हें अगर परब्रह्म परमात्माके बारेमें कुछ जानना हो, तो महात्माके पास गये। धर्मके बारेमें जानना है, भक्तिके बारेमें जानना है, योगके बारेमें जानना है। गये और जाकर विनयसे नीचे बैठे। नहीं तो मसनदपर बैठना हो, आजकल क्या करते हैं लोग? कई बार दिल्लीमें ऐसा हुआ कि बड़े प्रेमसे बुलाया। बिस्तर लग गया। तो साधुसंत तो बैठे बिस्तरपर और मिनिस्टर लोग आवे तो मसनदपर बैठे। नीचे नहीं। बोले—सबके साथ कैसे बैठें? कुर्सीपर बैठना चाहिए। तो वह मसनद पर।

इस तरहसे तो जिज्ञासुका काम नहीं चलता है। उनको जाने दो, वह ठीक है, अपनी जगहपर, बहुत बढ़िया! पर तुम्हें अगर कुछ सीखनेके लिए जाना है, तो थोड़ा विनय लेकर जाना पड़ेगा। और शंका-संशय थोड़ा छोड़कर जाना पड़ेगा। तब न लाभ होगा? नहीं तो अपने मनमें जब कड़वाहट रखोगे, तब मीठी चीज भी अगर तुम्हारे कानमें डाली जायगी, तो मनमें जाकरके कड़वी हो जायगी तो—

'नाभिनन्दति न द्वेष्टि।'

यही उसकी समता है कि जो आवे सो आवे, जो जाय सो जाय। जो रहे सो रहे। भाई! मनमें आया कि इसमें तो उसका नुकसान है, तो कभी बता भी दिया। और कभी और कभी नहीं भी बताया, क्योंकि हानि-लाभ कुछ नहीं है। हानिमेंसे लाभ निकल आता है और लाभमें-से हानि निकल आती है। यह तो अनिर्वचनीय ही है न सृष्टि! हानिमें-से लाभ निकल आता है और लाभमें-से हानि निकल आती है। सो उसमें भी मना करनेकी जरूरत नहीं।

भाई! अगर तुम इसी रास्तेसे जाना चाहते हो, तो जाओ। अनुभव ही तुमको आगे चल करके पक्का कर देगा। मनमें आगयी तो बता दिया, नहीं आयी तो नहीं बताया। तुम्हारा अनुभव ही तुमको ठीक रास्तेपर ले आवेगा। हमारे कहे तुम ठीक होनेवाले नहीं हो। तो '**नाभिनन्दति।**'

तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।

यह 'शुभ' शब्द है न, मंगलवाची, कल्याणवाची, साधनवाची शब्द है, वह शुभ है। शोभते। 'शोभते अनेन इतिशुभम्।' जिससे मनुष्यकी शोभा बढ़े।

शुभ दीप्तौ। जिससे मनुष्यकी दीप्ति बढ़े जीवनमें, चमक आजाय, उसका नाम 'शुभ'। शु शुद्धं धेति, धान धानार्थक। धा दीप्तौ धातु है, उससे भी बनता है

शु शुद्धं धाति इति शुभम्। न शोभते इति अशुभम्।

भाई! यह सुन्दर है कि यह कुरूप है, यह सगुन है कि यह असगुन है, यह अच्छा है कि यह बुरा है—सबके भीतर अच्छाई बैठी हुई है दुनियामें, क्योंकि शुद्ध ब्रह्ममें ही सब अध्यस्त है न? एक आदमीको रस्सीमें साँपकी प्रतीति हुई। एक आदमीको साँपमें पुष्पमालाकी प्रतीति हुई। तो पुष्पमाला शुभ है और साँप अशुभ है। पन्तु अधिष्ठानको जो जानता है उसकी दृष्टिमें? जिसको माला प्रतीत हो रही है वह भी रस्सीको नहीं देख रहा है और साँप प्रतीत हो रहा है उसको भी रस्सी नहीं दिख रही है। और महात्माको? महात्माको तो रस्सी दिखाई पड़ रही है न? वह ब्रह्म दीख रहा है जिसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों अध्यस्त हैं।

बोले—अच्छा, माला पहननेकी लालचसे जा रहे हो तो जाओ! तुम्हें मिलेगा तो क्या? मिलेगा तो ब्रह्म ही। रस्सी मिलेगी न! और ये साँपके डरसे लाठी मारने जा रहे हैं, तो जाओ, कोई हरज नहीं। क्योंकि जब लाठी मारेंगे; लाठी मारेंगे तो उनका जो भ्रम है कि यह साँप है, वह भ्रम मिट जायगा। रस्सी है—हो जायगा ज्ञान। तो लाठी मारना भी ज्ञानका साधन है, उस प्रतीयमान साँपको लाठी मारना भी ज्ञानका साधन है। उसको पहननेके लिए माला समझकर उठा लेना, यह भी ज्ञानका साधन है। किसी प्रकार जाओ तो? जाओ तो जिसमें वह अध्यस्त है; तो अधिष्ठानकी उपलब्धि हो जायगी।

जो महात्मा लोग अधिष्ठानको पहचानते हैं न? वे डरते नहीं। जाने दो भाई, वह कुछ भी समझकर उसके पास जाय तो सही! विसंवादी भ्रमसे जाय, संवादी भ्रमसे जाय, कैसे भी उस वस्तुके पास पहुँचे तो सही! यह उनका दृष्टिकोण होता है अच्छा, ठीक है भाई! बहुत बढ़िया।'

एक महात्मा थे। एक दिन लोग उनके पास बहुत बढ़िया-बढ़िया भोजन ले गये। सिंधकी बात है। सिंधमें लोग साधुवेशपर बड़ी श्रद्धा करते हैं। वेशपूजा करते हैं, वेशपूजा। न ज्ञान देखें न गुण देखें, न भक्ति देखें। न राग-द्वेषको पहचाने। वेश ही देखकर पूजा करें। तो बड़ी सेवा हुई उनकी। तो ले जाकर बढ़िया-बढ़िया भोजन रख दिया।

महात्मा बड़ा सिद्ध था। उसने पूछा, 'भाई क्या बात है? आज तो बड़ा बढ़िया-बढ़िया भोजन मिला।' तो लोगोंने कहा—'महराज एक आदमी मर गया था, उसका आज श्राद्ध था। तो श्राद्धमें-से ले आये।'

तो बोले—'यह तो बढ़िया भोजन मिलता है श्राद्धमें। अच्छा, श्राद्धमें ऐसा बढ़िया भोजन मिलता है? तो रोज-रोज श्राद्ध हो।' अब गाँवमें लोग मरने लग गये। अब सचमुच रोज किसीके घरमें चरही निकले कि आज त्रयोदशी है,श्राद्ध है। अब जब पचासो सैंकड़ों-सैकड़ों आदमी मर गये तब गाँवके लोग इकट्ठे हुए कि यह क्या बात हो रही है? 'भाई। गाँवमें मृत्यु आगयी। उस महात्माने उस दिन कह दिया कि रोज-रोज श्राद्ध हो। तभीसे ऐसा होता है।'

बोले—'अच्छी बात है।' फिर किसीके हुआ बेटा, तो उस दिनसे भी ज्यादा बढ़िया भोजन लेकर महात्माके पास गये। बोले—'अरे भाई, आज तो और बढ़िया है। क्या हुआ? यह कौन-सा उत्सव आगया?'

बोले—'महराज। बेटा हुआ है,ब्याह भी हुआ है।' महात्मा बोले—आज तो बड़ा मंगल है। तो रोज-रोज बेटा हो और रोज-रोज ब्याह हो। गाँवमें रोज मंगल-ही-मंगल बना रहे।' है न? तब उसके बाद लोगोके घरमें संतान भी पैदा होने लगी, ब्याह भी होने लगे। बोले-'अच्छा ऐसा बढ़िया भोजन रोज मिले तो अच्छा है।'

साधुलोग तो समझो, भोले-भोले होते हैं। उनको रोटी खिला दी,उनको रोटी भेज दी और अपने पक्षमें कर लिया। परंतु यह कहो कि कहीं आसक्ति हो जाय इनकी, तो आसक्ति नहीं होती है। क्योंकि सब-में-सब निकलता है। एक हीरेको खानमें-से निकालते हैं, बड़ा गंदा, मैला, गंदगी लगी। बेडौल। जब उसको साफ करते है, मशीन पर घिसते हैं, काटते हैं, छेद करते है, तब बिचारेको बड़ा कष्ट होता है। कितना दुःख है? लेकिन यह किसलिए हो रहा है? उसकी चमक बढ़ानेके लिए, उसको गलेमें पहननेके लिए।

इसी प्रकार मनुष्यके जीवनमें जब कभी अशुभ भी आता है, तो वह शोधन करनेके लिए आता है। आप लोग शहरके, ऐसा कभी देखा हो, न देखा हो! हम आपको गाँवकी बात, सो भी 30-35 वर्ष पहलेकी बात सुनाते हैं। गाँवके घरोंमें नाँद रखते हैं नाँद! कुम्हारकी बनायी हुई नाँद और उसमें सड़ा-गला पानी और सड़ी-गली चीजें डाल देते हैं। और रातको जो लकड़ीसे जलाये

बर्तन जलते हैं न, खाने-पीनेके बाद सारे बर्तन उस सड़ी-गली गंदगीमें डाल देते हैं। उसमें मिट्टी भी है, पानी भी है, गोबर भी है, सड़ाँध भी है। अब सबेरे निकालकर जब उसको माँजते हैं, तो सारी जो उसमें मैल बैठी हुई होती है न, वह छूट जाती है और बर्तन झट साफ हो जाता है। जैसे गैसपर ही रसोई बनायी गयी हो, ऐसा! तो वह भाई, बर्तन जब डाल दिया न सड़-गले सड़ाँधमें संधानामें—'सनहना' बोलते हैं उधर तो उस सनहनामें क्या हुआ? उस बर्तनको बड़ा दुःख हुआ कि हमको तो गंदगीमें डाल दिया। लेकिन उससे हुआ क्या? उससे तो उसका शोधनकर्म हुआ न!

शोधनकर्म हुआ। जो भीतर मैल बैठी थी तो धुलकर निकल गयी और वह शुद्ध हो गयी। इसलिए यह जो महाकालकी शोधप्रक्रिया चल रही है, संसारमें। बड़ी भारी शोधन-प्रक्रिया चल रही है। कहीं आगमें डालकर, शुद्ध करते हैं, कहीं पानीमें डालकर शुद्ध करते हैं, कहीं-कहीं माटीसे रगड़के शुद्ध करते हैं, कहीं हवामें सुखाकर शुद्ध करते हैं, कहीं ठोक-ठोककर शुद्ध करते हैं। कहीं गला-गलाकर शुद्ध करते हैं। इस प्रकार यह जो शोधन प्रक्रिया महाकालके राज्यमें चल रही है, इसको महात्मा पहचानता है, कि इससे चलो, इससे भी तुम्हारा कुछ शोधन ही होगा। तो अच्छा, अभी शोधनकी प्रक्रियामें-से गुजर रहे हैं।

भगवान् इनका भला करेगा—

'तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।'

'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'—न अभिनन्दन है, न द्वेष है।

•

: 48 :

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

2. 57-59

स्थितप्रज्ञकी पहचान बताते हुए पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'स्थितप्रज्ञका पहला लक्षण यह समझो कि उसका संसारमें किसी पदार्थसे, किसी व्यक्तिसे अत्यन्त स्नेह नहीं है।'

'अभिस्नेह'का अर्थ समझो, अत्यंतस्नेह। जहाँ वह फँस जाय, ऐसी कोई चीज नहीं है। स्नेह तो सबसे करता है, वह तो उसका स्वभाव है। सूर्यकी रोशनीमें जैसे, चन्द्रमाकी चाँदनीमें, जैसे जलकी रसरूपता, जैसे पृथ्वीकी धारणशक्ति, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषमें स्नेह तो सबके प्रति है, परन्तु उसमें पक्षपात नहीं है। घेरा नहीं है, अभितः स्नेह नहीं है। घेरेमें स्नेह नहीं है।

'अभिमान' शब्दका क्या अर्थ है? आप जानते हैं न? मान=परिमाण। नापतौल। और जिसके चारों ओर मान हो, इतने दिनके लिए, इतना लंबा-चौड़ा, और इतने वजनका यह जो शरीर है न, साढ़े तीन हाथ लंबा, 100-50 बरस जिंदा रहनेवाला, डेढ़ मन-दोमन वजनका, यह हुआ 'मान'। मानवाला शरीर और इसीके घेरेमें अपनेको फँसा कर जो बैठ गया, वह 'अभिमान' हो गया। इसी प्रकार संसारके पदार्थोंके लिए, व्यक्तियोंके लिए जो स्नेह उदय होता है, वह जहाँ चारों ओरसे घिर गया, परिच्छिन्न हो गया, बस! इतनेमें वह हो गया अभिस्नेह। उसका गोलोकमें भी स्नेह है, वैकुण्ठमें भी स्नेह है, और इस लोकमें भी स्नेह है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षमें भी स्नेह है, स्त्री-पुरुषमें भी स्नेह है, परन्तु कहीं वह घेरेमें नहीं है कि इतना ही।

स्थितप्रज्ञ पुरुषका हृदय विशाल है। सबके ऊपर जैसे उसकी आँखकी ज्योति गिरती है, इसी प्रकार उसके हृदयका स्नेह भी सबके ऊपर गिरता है, परन्तु कहीं फँसता नहीं है। एक बात!

दूसरी बात यह बतायी कि—

तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्। और, **नाभिनन्दति न द्वेष्टि।**

एक पामर पुरुषका स्वभाव देखो। वह क्या है? 'अशुभ अभिनन्दति, शुभं द्वेष्टि'। पामर पुरुषका स्वभाव यह है कि वह क्लब, सिनेमा, थियेटर, पार्क, वासना बढ़ानेवाली चीज है, जिनसे हृदयकी वासना बढ़ती है और भोगकी लालसा जगती है, और मनुष्य संसारके भोगमें फँस जाता है। ऐसी वस्तुओंका तो पामर पुरुष जो है, अभिनन्दन करता है। और 'शुभम्'?

सत्संग होवे, साधना होवे, भजन होवे, तो वह उससे द्वेष करता है। सिनेमा बनानेमें लाखों रुपया खर्च हो जाय तो कर देगा, लेकिन सत्संगमें, साधनमें पाँच रुपया भी खर्च हो तो उसको मालूम पड़ेगा, यह व्यर्थ है। तो 'अशुभं अभिनन्दति'। वह वासना बढ़ानेवाली चीजोंका अभिनन्दन करता है। और वासना मिटानेवाली चीजोंसे द्वेष करता है। यह पामरका लक्षण हुआ।

साधकका लक्षण क्या हुआ? 'शुभ अभिनन्दति अशुभं द्वेष्टि।' जो वासनाको मिटानेवाली चीजें हैं, उनका अभिनन्दन करता है। सत्संगका अभिनन्दन, ध्यानका, भजनका, पूजनका अभिनन्दन करता है और वासना बढ़ानेवाली चीजोंसे द्वेष करता है। विषयी कौन है? विषयी वह है जिसका मन दोनों तरफ चले। कभी अशुभकी ओर भी प्रवृत्त हो जाय। कभी शुभकी ओर भी प्रवृत्त हो जाय। वह विषयी पुरुष है जो झूलेमें झूलता है। तो तीन हो गये न? पामर, विषयी और साधक।

सिद्ध पुरुष कौन होता है? 'शुभाशुभं न अभिनन्दति न द्वेष्टि।' उसका शुभमें राग नहीं, अशुभमें द्वेष नहीं। शुभाशुभ दोनोंका अभिनन्दन नहीं और शुभाशुभ दोनोंसे द्वेष नहीं। वह सिद्ध पुरुष है—'शुभाशुभ परित्यागी'। क्योंकि साधनसे उसकी उन्नति नहीं। और साधनसे उसकी हानि नहीं—

न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

कर्मसे उसकी वृद्धि नहीं और कर्मसे उसका ह्रास नहीं। तब उसकी स्थिति क्या होती है? यह समत्वमूलक स्थिति है स्थित प्रज्ञकी।

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च॥ भा. 11.28.1

दृश्यत्वेन देखो तो शुभ-अशुभ सब एक है, दृश्य। ब्रह्मरूपसे सब दृश्य ही तो है न? और चेतन दृष्टि—ब्रह्मदृष्टिसे देखो तो सब ब्रह्म ही है। तो—'प्रकृत्या पुरुषेण च'। प्रकृतिदृष्टिसे माने दृश्यदृष्टिसे भी सब एक है और पुरुषेण=चेतन दृष्टिसे भी सब एक है। पुरुष और प्रकृति ये तो विकल्प हैं—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

प्रकृति और पुरुषका कोई भेद ही नहीं है एकत्व दृष्टिसे। अज्ञानमें भी पुरुष और प्रकृतिमें भेद नहीं है और तत्त्वज्ञानमें भी प्रकृति और पुरुषमें कोई भेद नहीं है। वह तो विवेकके लिए प्रकृति-पुरुषका भेद बनाया हुआ है; जिससे दृश्य-दृष्टाके स्वरूपको समझ करके मनुष्यको अद्वैत तत्त्वका बोध हो जाय।

जो अज्ञानी है, वह देहकी प्रधानतासे सबको जड़ समझता है। ब्रह्मको भी जड़ ही मानता है। जो विवेकी पुरुष है, वह चेतनकी प्रधानतासे अपने स्वरूपका अनुभव करके सबको आत्मस्वरूप ही समझता है। मूर्खके लिए सब जड़ है, ज्ञानीके लिए सब चेतन है। किसी भी दृष्टिसे देखो तो यह संपूर्ण विश्व एक है। इसलिए साँपको अपने स्वभावके अनुसार बरतने दो, बिच्छूको अपने स्वभावके अनुसार बरतने दो=डंक मारने दो। गायको अपने स्वभावके अनुसार दूध देने दो और हंसको अपने स्वभावके अनुसार कमलका रस लेने दो, भाई!

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् (भागवत 11.28.1)

ये तो बड़ी निन्दा करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है भाई! ये तो बड़ी स्तुति करते हैं। यह भी उनका स्वभाव ही है। निन्दा-स्तुति करनेवालोंकी भी निन्दा-स्तुति नहीं करना। क्योंकि वे भी अपने स्वभावके अनुसार ही बरत रहे हैं।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

'श्रीमद्भागवत'में एक बड़ा सुन्दर प्रसंग बताया। 11 वें स्कन्धमें 28 वें अध्यायमें, इसका नाम 'परमार्थनिरूपण' है। अध्यायका भी नाम 'परमार्थनिरूपण' है। वे बोले—'यह संसार जो दीख रहा है, वह कैसा है? जैसे नींदमें सपना दीखता है। मृत्यु कैसी है? जैसे गाढ़ी नींदमें कुछ नहीं दीखता है।'

बोले—'यह माया और मृत्यु। स्वप्न=माया और मृत्यु गाढ़ी सुषुप्तिके समान। इसलिए इनपर कोई ध्यान न दे करके—

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवत् यज्ज्ञात्वा निःसंगो विचरेदिह॥

प्रत्यक्षसे घटादि जो हैं, ये असत् हैं और अनुमानसे पृथिव्यादि असत् हैं। वेदसे आकाशादि असत् हैं, निगमेन और आत्मानुभूतिसे अपने अतिरिक्त सब असत् हैं। चार विभाग कर दिया—प्रत्यक्षसे सावयव पदार्थ। ये घटादि जो हैं वे सामने ही असत् हैं। बने और बिगड़ गये। कोई स्थिरता, इनमें त्रिकालाबाध्यत्वकी कोई कल्पना ही नहीं है।

सावयव पृथिव्यादि हैं, वे अवयव-संयोगसे बने हुए होनेके कारण वह भी असत् है। स्थायी नहीं हैं, बाधित हैं और आकाशादि जो हैं, श्रुतिमें उनकी उत्पत्ति सुनी हुई है—

तस्माद् वा एतस्माद् वा आत्मनः आकाशः संभूतः।

जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी होता है। अपने सिवाय दृश्यके रूपसे भास रहा है, वह प्रकृति और प्रकृतिका सम्पूर्ण कार्य क्या है? आत्मासे ब्रह्मरूपसे अनुभव करनेके बाद असत् हो जाता है। तब इसमें कुछ आग्रह करके कि शुभके लिए मरो और इस अशुभके लिए जरो। तत्त्वज्ञानीके लिए यह कोई प्रश्न ही नहीं होता है। इसलिए वह अपने स्वरूपमें मस्तीसे विराजमान रहता है। बोले—उसकी बुद्धि कभी डाँवाडोल होनेवाली नहीं है—'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'

प्रपञ्चका रहस्य जो समझ गया, वह प्रपञ्चके कण-कणमें उसी परमात्माको देख रहा है। तब उसकी बुद्धि विचलित होनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अब यहाँ तककी बात हुई—समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका लक्षण दूसरेमें और 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' और 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'—उसको अभिनन्दन और द्वेष दोनों करनेकी कोई जरूरत नहीं है। माने वह न तो किसीकी निन्दा करेगा, न तो किसीका अभिनन्दन करेगा। जिसके हृदयमें अभिनन्दन रहता है वह स्तुतिमें लग जाता है और जिसके हृदयमें द्वेष होता है वह निन्दामें लग जाता है और उसमें न अभिनन्दन है न द्वेष है। इसलिए न वह निन्दा बोलता है न वह स्तुति बोलता है। वह तो समान भावसे रहता है। 'स्थितधीः किं प्रभाषेत?' इसका उत्तर यही है।

अब 'किं आसीत्?' प्रश्न उठाया कि आखिर स्थितप्रज्ञ बैठता कैसे है? तो कोई-कोई जो हैं वे बाह्य पदार्थके बड़े प्रेमी होते हैं। बोले—'भाई, स्थितप्रज्ञ सिद्धासन लगाकर ही बैठता है। हर समय उसकी निचली एड़ी जो है वह सीवनमें और ऊपरवाली जो एड़ी है वह पेड़ूके पास और खूब आनन्दमें बस, सिद्धासन लगाकर पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठा रहता है। अरे! पद्मासनसे बैठा रहता है। दोनों पैरके तलवे ऐसे ढंगसे जाँघकर ऊपर आगये कि देखनेमें मालूम होता है कि कमलकी दो पंखुड़ियाँ! पद्मासन हो गया।'

और बोले—'अरे नहीं, स्वस्तिकासन लगाकर दोनों अँगूठे जो हैं वे जाँघ और घुटनोंके बीचमें एक नीचेसे आगया और एक ऊपर चला गया। बिलकुल शरीर जो है, वह पेक हो गया। बैठ गया स्वस्थ होकरके जब बिलकुल बैठ गया तो समझो स्वस्तिकासन लग गया। बिलकुल बँध गया।'

बोले—ये सब बात जो हैं न, यह बाहरी आसन ही हैं; स्थितप्रज्ञके बैठनेके सम्बन्धमें जो है वह बाहरसे कैसे बैठता है, यह प्रश्न नहीं है। वह तो महाराज—

चौकी तहाँ मार
झंडा गाड़ो जाय के हद बेहद के पार।

हद-बेहदके पार उसका झंडा गड़ा हुआ है। देखो भाई, बात बड़ी दुःखद है।

चौदह लाख ज्ञान कही भाखौं,
और सार शब्द बाहर करी राखौं।

चौदह कोटि ज्ञान कही भाखौं=चौदह करोड़ ज्ञानका उपदेश किया और सार शब्दको बाहर करी राखौं=सार शब्द बाहर करी राखौं।

धरमदास तोहे लाख दुहाई, सार शब्द बाहर नहीं जाई।
आपन होय तो देउ बताई, दूजो होय तो लेउ छिपाई।

यह तो 'कबीर साहब'की बात है। बात बड़ी गुप्त है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी ऐसी जगह बैठता है, जहाँ संसारकी ठंडी हवा और गरम हवा दोनोंका असर नहीं पड़ता है। उसकी चौकी जो है, अन्तरंगमें है। इसकी जो निवृत्तिमूलक स्थितप्रज्ञता है, अतिशय निवृत्तिमूलक नैष्कर्म्यभावमें जो उसकी स्थिति है, उसका वर्णन करते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.58

यह प्रज्ञा महाराज! प्रकृष्टा व्यक्तिः। स्थितप्रज्ञान ही है।'प्रज्ञान' जो शब्द है न, संस्कृतवाला, उपनिषद्वाला वह यहाँ 'प्रज्ञा' होकर ही रह गया है। प्रज्ञानं प्रज्ञा। प्रकृष्ट जो ज्ञान है, उसका नाम 'प्रज्ञा' है।

प्रज्ञानेनैवं आप्नुयात्।

प्रज्ञानेन आप्नुयात्। तो चित्तकी वह अवस्था, जो तत्त्वको ग्रहण करनेवाली है, उसका नाम 'प्रज्ञा' है। अब यह प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गयी। यह कब? बोले—कूर्मावतारका इसमें स्मरण है।'कूर्म' भगवान्‌को तो आप जानते ही हैं।'कच्छप भगवान्'। यदि कूर्म न होवे तो समुद्रमंथन नहीं हो सकता। मंदराचल भी है और दूधका समुद्र भी है।

दूधका समुद्र भी है और मंदराचल भी है। देवता भी हैं और दानव भी हैं और वासुकी नाग भी है। परन्तु वह आधारशक्ति यदि नहीं होवे—कूर्म जो है न, उसको आधारशक्ति बोलते हैं। आप मन्दिरमें कभी जाते होंगे तो एक सफेद मूर्ति देखते हो न, कहीं-कहीं? उसीको आधारशक्ति बोलते हैं। उसीकी पीठपर यह मंदराचल टिकता है। विवेकका जो मन्थन है, विवेकका जो मंदराचल है, उसके टिकनेकी जगह कूर्माचल है। यह कछुएकी पीठ सबका आधार है। माने संयम ही सबका आधार है।

विवेक, संयम, वैराग्य और तत्परता—ये चार जो हैं, साधकके जीवनकी पृष्ठभूमि है। एक तो अच्छाई-बुराईका विवेक कर सके। और दूसरा, अपनी इन्द्रियोंको रोक सके। तीसरे, अपने मनमें वैराग्य हो और चौथे, जो साधन उसको बताया गया है, वह ठीक-ठीक तत्परतासे करे। ये चार बातें यदि नहीं होवे, तो यह परमार्थ चिन्तनकी गाड़ी बीच ही में अटक जायगी।

एकने कहा कि—'हम समझते तो खूब हैं, सत्संगमें बैठते हैं तो खूब समझते हैं। लेकिन जब व्यवहारमें मौका आता है, तो वह समझ काम नहीं देती।' इसका मतलब यह है कि तुमने सममझनेकी कोशिश की, लेकिन जीवनमें तप नहीं किया। तुमने ज्ञानकी जो शक्ति है, उसको तो बढ़ाया, पर प्राणकी जो शक्ति है, उसका संयम नहीं किया। समुच्चय! असलमें विद्या और

अविद्याका जब समुच्चय होता है, समुच्चय! तब जीवनका निर्माण होता है। जैसे ईंट है, पर गारा न होवे, तो महल कैसे तैयार होगा? और गारा तो बहुत होवे, पर ईंट न होवे तो भी महल तैयार नहीं होग।

अभी मैं ब्रह्मज्ञानकी बात नहीं कर रहा हूँ या निवृत्तिकी बात नहीं कर रहा हूँ। बात कर रहा हूँ जीवनरूपी भवनके निर्माणकी। तो यदि अपने जीवनको सच्चा जीवन बनाना है तो उसमें गारा भी चाहिए और ईंट भी चाहिए। तो सब साधन ईंट हैं। तपस्या जो वह गारा है। वह सब साधनोंका देवता हैं। प्राणबल और बुद्धिबल, प्रज्ञाबल कहो, प्राणबल और प्रज्ञाबल दोनों यदि ठीक-ठीक चले, तब मनुष्यके जीवनका निर्माण होता है। किसीने तुम्हारे खिलाफ कोई बात कह दी तो तुम्हारा चेहरा लाल हो जाता है कि नहीं? किसीने तुमको दो गाली दे दी तो असहिष्णुता जो भीतर है, वह प्रकट हो जाती है कि नहीं? इसका अर्थ है कि तुमने समझा बहुत; लेकिन अपने जीवनमें, व्यवहारमें ये जो चीजें थीं तपस्या करके, कष्ट सहन करके अपनी कर्मेन्द्रियोंका और ज्ञानेन्द्रियोंका संयम नहीं किया। अविद्याशक्ति माने कर्मेन्द्रियाँ और विद्याशक्ति माने ज्ञानेन्द्रियाँ। वह बहिरिन्द्रिय और अन्तरीन्द्रियके भेदसे—ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। कर्मेन्द्रियाँ अविद्याशक्ति हैं। अविद्याशक्ति हैं माने जड़ हैं। अविद्याशक्ति-प्रधान हैं कर्मेन्द्रियाँ और विद्याशक्तिप्रधान हैं ज्ञानेन्द्रियाँ। वैसे, कर्मेन्द्रियोंमें भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। और ज्ञानेन्द्रियोंमें भी कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रधानताकी दृष्टिसे यह विवेक किया जाता है।

जिसने अपनी इन्द्रियोंका संयम नहीं किया, अपने जीवनमें तपस्याको स्थान नहीं दिया, उसकी समझदारी ठीक मौकेपर धोखा दे जाती है। गाली सुनकर उसकी जीभ रुकी नहीं; वह भी गाली देने लग गयी और चपत लगनेपर उसका हाथ रुका नहीं, उसका हाथ चपत मारने लगा। तो क्या हुआ उसका अर्थ? तुमने सुना नहीं? 'बाइबिल'में है न, कि तुम्हारे गालपर कोई एक चपत मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो। तब तो यह समझकी बात हुई न? वहाँ तो चपतके बदले चपत ही निकला। तो समझ ठीक होनेपर भी हाथको रोकनेवाला अभ्यास तुम्हारे जीवनमें नहीं है। हाथको रोकनेका अभ्यास नहीं होनेके कारण बात टिकती नहीं। नहीं तो ब्रह्मचर्य बहुत बढ़िया! यह तो समझमें आता है ब्रह्मचर्य बहुत बढ़िया! लेकिन ब्रह्मचर्यके लिए जिस कर्मेन्द्रियको

रोकनेकी जरूरत है, उसको रोकनेका अभ्यास है कि नहीं? नहीं है तो मौकेपर तुम्हारा ज्ञान काम नहीं देगा।

भाई! बोलनेमें यह तो खूब समझते हैं कि क्या बोलना, क्या नहीं बोलना लेकिन समयपर जीभ धोखा दे जाती है। क्यों? जीभ रोकनेका अभ्यास नहीं है। इसीका नाम तप है। बिना तपस्याके, बिना प्राणशक्तिके संयमनके प्रज्ञाशक्ति व्यवहारमें काम नहीं देती है। और परमार्थका जो ज्ञान है, वह बिलकुल जुदा है इससे। यही तो विद्या-अविद्याका भेद है।

'शङ्कराचार्य'का भाष्य पढ़ो, 'ईशावास्य उपनिषद्'में तो आनन्द आजाय। यही सम्भूति और असम्भूतिका समुच्चय है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। ईशो. 11

वहाँ विद्याका अर्थ ब्रह्मज्ञान नहीं है और—

सम्भूतिं चासम्भूतिं यस्तद्वेदयो भयं सह। ईशो. 14

सम्भूतिं चासम्भूतिंमें किसीका अर्थ ब्रह्म नहीं है। दोनों ही व्यावहारिक हैं वहाँ भी और दोनों ही व्यावहारिक यहाँ भी। दोनोंको मिलाकर चलनेसे जीवनकी उन्नति होती है। तो—'कूर्मोङ्गानीव' वही आधारशक्ति। कूर्म जो है वह आधारशक्तिका, इन्द्रियोंका जो संयम है, यह साधनाकी आधारशक्ति है। इसीलिए यहाँ कूर्मका दृष्टान्त दिया। कूर्म=कछुआ, कच्छपका दृष्टान्त दिया।

उसमें ऐसी क्या विशेषता है? कभी देखना। हम लोग तो बचपनमें बहुत खेलते थे। शरदऋतुमें जब कछुए निकलकर गाँवमें घूमने लगते थे, तो हम एक ढेला बाहरसे मारते थे। हमने मारनेके लिए अपने हाथसे कई बार ढेला फेंका। जो ढेला जाकर गिरा या उसकी पीठको छू गया, तो दोनों हाथ-पाँव समेटकर बिलकुल मिट्टीका ढेला! वह भागा नहीं। न तो वह भागा और न तो आक्रमण किया। वह तो हाथ-पाँव समेटकर जहाँ-का-तहाँ बैठ गया।

बोले—किसी एक इन्द्रियको, मुँहको समेट लिया और हाथको बाहर रखा। या हाथको समेट लिया और मुँहको बाहर रखा? बोले—सब भीतर हो गया। आँख-कान-नाक सब। अपनेको सुरक्षित कर दिया उसने। तो यह कूर्मकी पद्धति है। यह कूर्मसाधना है समझे! यह कच्छप पद्धति है। कच्छप!! साधक अगर भागेगा तो भागकर कहाँ जायगा? और यदि वह आक्रमण करेगा तो किसके-किसके ऊपर आक्रमण करेगा? लड़नेमें ही उसका जीवन बीत जायगा। तो हाथ-

पाँव समेटकर अपनेको बचा लो। फिर मौका पड़े, फिर मौका मिले तो आगे बढ़ो। फिर आगे बढ़ो। आगे बढ़ते जाओ, बढ़ते जाओ! और बाहरी चीज आवे तो, 'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः'। यहाँ 'सर्वशः'=सब ओरसे और अङ्गाः=सारे अंग। देखो, यह नहीं कि एक इन्द्रियको काबूमें किया। और दूसरी इन्द्रिय छोड़ दी। है न! और एक विषयको मनसे हटाया और दूसरे विषयको रहने दिया। यह नहीं।

जैसे कूर्म अपने सारे अङ्गोंको अपने अन्दर उपसंहृत कर लेता है, अपने अन्दर भीप्सित कर लेता है, इसी प्रकार जब यह स्थितप्रज्ञ पुरुष बैठता है, तो कैसे बैठता है—**इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियाणि संहरते।**

'इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वेभ्यः। इन्द्रियाणि सर्वाणि संहरते।' 'उपसंहार' इसको बोलते हैं। जब वह बैठता है तब संसारकी ओरसे अपनी सारी इन्द्रियोंको समेट लेता है। अब कूर्मके दृष्टान्तमें एक बात और निकालो। क्या? कूर्म माने जानते ही हो न? कछुआ, कच्छप जिसको बोलते हैं। कच्छपावतारकी तस्वीर तो कितने लोगोंने देखी भी होगी। यह कच्छप है। ये कच्छमें ज्यादा होने चाहिए। कच्छदेशमें। क्यों?

'कच्छ' संस्कृत शब्द है। अनूपदेशको कच्छ बोलते हैं, माने पानीसे घिरा हुआ जो प्रदेश है। उसको 'कच्छ' बोलते हैं। जो कच्छमें अपना जीवन व्यतीत करे, माने पानीसे घिरे प्रदेशमें जो अपना जीवन व्यतीत करे, उसका नाम होता है 'कच्छप'। तो 'कच्छपावतार' भी कच्छमें ही हुआ होगा। क्योंकि समुद्रका जो मन्थन हुआ न, तो समुद्रके मन्थनके लिए जो अवतार हुआ, वह समुद्रसे घिरे हुए प्रदेशमें ही हुआ होगा। बाहर थोड़े हुआ होगा? तो क्षार समुद्रसे घिरे हुए देशमें नहीं, दुग्ध समुद्रसे घिरे हुए देशमें। तो यह दुग्ध भी जो होता है, वह गायोंका होता है। इन्द्रियोंका जो रस है, सुख है, स्वाद है, उसका नाम हुआ दूध। अब इसमें रस कहाँसे आता है? उसका करो मन्थन। तो यह विषयसे नहीं आता है, आत्मासे आता है। तो वह मृत नहीं है होगा, अमृत होगा। विषयसे रस आता है, वह मृत होता है और आत्मासे जो रस आता है वह अमृत होता है।

पुराणकी जो कथाएँ होती हैं वे बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं। ये बाबू लोग तो समझनेका कष्ट उठाना नहीं चाहते हैं न? समझो, जिस समय अखबार नहीं थे, पुस्तकें नहीं छपी थीं, लोग सुन-सुनकर याद करते थे। कई लोग बुद्धिमान होते थे, कई लोगोंकी स्मृति कुण्ठित होती थी, कई गाँवके लोग होते

थे, जबतक अध्यात्मका संदेश पहुँचा देना और ऐसे ढंगसे पहुँचाना कि उसको किस्सा-कहानी समझ करके लोग याद भी रखे और जब समय आवे तब समझ भी जायँ। उस प्रज्ञाको, उस प्रतिभाको देखो तो अपने महर्षियोंके सामने सिर झुक जाता है।

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य:'—एक बात याद रखने लायक है। जो यह सोचेगा कि हम एक इन्द्रियको वशमें कर लें और फिर दूसरीको करेंगे और फिर तीसरीको करेंगे और फिर चौथीको करेंगे, उसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो सकतीं, इन्द्रियोंको वश करनेमें एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रियका क्रम नहीं होता है। क्यों? क्योंकि असलमें तो वश करना है मनको। नलसे पानी ले जाना हो ऊपर और बीचमें नल-पाइप फूट जाय जगह-जगह तो ऊपरतक पानी नहीं जायगा। उसकी जो प्रेशरशक्ति है न, वह लुप्त हो जायगी, उसका प्रेशर घट जायगा, प्रेशरशक्ति उसकी नहीं रहेगी। क्यों? क्योंकि जगह-जगह छेद हो गये। तो—

यदि मन है, उसको ऊर्ध्वलोकमें ले जाना है, अन्तर्लोकमें ले जाना है और बीच-बीचमें किसी इन्द्रियका छेदकर दिया, तो उसमें वह बहता जायगा। तो कोई कहेंगे कि अभी जीभसे तो खाते रहेंगे और ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, तो जिसकी जीभ वशमें नहीं, उसका ब्रह्मचर्य भी ठीक नहीं हो सकता।

बोले—आँखसे तो खूब देखेंगे; लेकिन खायेंगे नहीं, घूमेंगे तो कचौड़ी गलीमें लेकिन खायेंगे नहीं, चौपाटी पर लोग जायेंगे पर चाट नहीं खायेंगे, यह सोचो कि क्लबमें जायेंगे लेकिन वहाँकी गपशपमें सहयोग नहीं देंगे, तो कितने दिनतक ऐसा होगा? फिर तो उसमें सहयोग देना ही पड़ेगा न? तो भाई बात यह है कि जो सब विषयोंको इन्द्रियोंसे लौटाता है, उसकी तो इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। कच्छपजीका दृष्टान्त क्यों दिया गया है?

और लोगोंको तो अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए अभ्यासकी जरूरत पड़ती है और प्रयत्नकी जरूरत पड़ती है और देर भी लगती है। कच्छपजी जो हैं, बिना किसी प्रयासके बड़ी आसानीसे सरल स्वाभाविक रीतिसे ही अपनी इन्द्रियोंको भीतर कर लेते हैं।

स्थितप्रज्ञ वह है जिसका इन्द्रियनिग्रह स्वाभाविक प्रयाससिद्ध है। प्रयाससे साध्य जिसका इन्द्रियनिग्रह है, वह तो साधक है। और कच्छपके

समान बिना प्रयास, बिना प्रयत्नके सहज स्वभावसे ही जो भीतर बैठ गया, उसके लिए कच्छपके समान वह अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेता है।

यह 'इन्द्रिय' शब्द जो है न, वह संस्कृतका बहुत ही विलक्षण शब्द है। 'इन्द्रिय' शब्द है, धातु है 'इदि', धातु है ऐश्वर्यके अर्थमें। इससे बनता है 'इन्द्र' शब्द। इन्दति। सबमें कर्मका अधिष्ठातृ देवता जो है, वह इन्द्र है। वह प्रधान है तो 'इन्द्र' शब्द बनता है। जो कर्मका अधिष्ठातृ हाथसे कर्म कराता है और देवता बन उसके फलको ग्रहण करता है—आधिदैविक। अध्यात्ममें तो हाथसे कर्म करावे। देवता बनकरके कर्मका जो फल है, 'इन्द्राय स्वाहा' उस आहुतिको ग्रहण करे और फिर क्या करे बादमें? मनुष्यके जीवनमें इन्द्रियशक्तिको बढ़ावे। तो इन्द्रियको क्यों इन्द्रिय कहते हैं?

इन्द्र स्पृष्टं इन्द्र जुष्टं इन्द्र दृष्टं इति इन्द्रियम्।

इन्द्रिय क्या है? जिसको इन्द्रने बनाया है। माने कर्मवासनासे ही इन्द्रिय बनी है। देखनेका मन हुआ तो आँख बनी, सुननेका मन हुआ तो कान बने, करनेका मन हुआ तो हाथ बने, चलनेका मन हुआ तो पाँव बने। ये तत्-तत् कर्मवासना है। कर्मवासनासे ही इन्द्रिय बनी है। तो इनके बननेमें हेतु कौन है? इन्द्र=कर्माधिष्ठातृ देवता और इन्द्र जुष्टं। इनमें इन्द्र जो है वह हमेशा जुड़ा रहता है। इन्द्रसेवितम् इन्द्रदत्तम्। इन्द्रने ही इनको दिया है। इन्द्रभोग्यम्=इन्द्र ही इनका भोग करता है। इन्द्रियोंका कर्त्ता, इन्द्रियोंका भोक्ता, इन्द्रियोंका निर्माणकर्त्ता, इन्द्रियोंका देनेवाला—यह सब जो है, वह इन्द्र है। माने कर्मसे ही फल है और कर्मके ही कर्त्ता हैं। कर्मसे ही शरीर बनता है और इनके द्वारा कर्म ही बनता है।

यदि कोई हमेशा ही इन्द्रियोंके चक्रमें ही पड़ा रहेगा, तो इन्द्रियोंसे कर्म और भोग करेगा। और फिर कर्म और भोगके संस्कार बनेंगे। फिर कर्म और भोगकी वासना उठेगी। और फिर वह कर्म और भोग करेगा। इस प्रकार वह कर्म और भोगके चक्रसे, माने संसारके चक्रसे छूट नहीं सकेगा। इसलिए यदि कर्म और भोगके चक्रसे, संसारसे यदि मनुष्यको छूटना है, तो इन्द्रियोंसे विषयोंको जुदा करना पड़ेगा।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः। **अर्थ**—अर्थ किसको कहते हैं? अर्थ कहते हैं, चलने-फिरनेवाली चीजको। एक अर्थ तो 'अर्थ'का यही है। 'ऋ गतौ' धातु

हैं। रियर्ति-इयर्ति-ऋ। रियर्ति इति अर्थः। जो चलता-फिरता रहे उसका नाम अर्थ। ऐसा कौन है जो घरसे दुकानमें जाय और दूकानसे घरमें जाय और आवे? तो तिजोरीमें रखा है, जो बैंकमें रख दिया गया, बैंकमें भी रहे तो चलता-फिरता रहे? जहाँ वह गाड़ा गया, जहाँ वह तिजोरीमें बन्द कर दिया गया, वहाँ अर्थ नहीं रहा। क्यों? क्योंकि अब वह सुखका साधन नहीं रहा। अभिमानका साधन हो गया न? तो अर्थ बाजारमें जाकर कोई चीज लेकर नहीं लौटता, जो दानमें जाकरके कोई पुण्य-धर्म लेकर नहीं लौटता, जो अर्थ चलता-फिरता नहीं, वह अर्थ जो है, वह नाशको प्राप्त हो जाता है। भला! वह टिकेगा नहीं।

टिकेगा नहीं तो दुःख देगा हमेशा। कभी पुलिस पकड़ लेगी, कभी चोर ले जायगा और कभी उत्तराधिकारीके हाथमें पड़ करके बेमतलब खर्च हो जायगा। 'ख रचनम्'। उसके द्वारा 'ख' की रचना होगी। 'शून्य' बनेगा। ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होगी। ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होगी और खात्मा हो जायगा उसका। 'खं-गगनं'=शून्यं आत्मा यस्य=उसका खात्मा हो जायगा। तब क्या करना?

अच्छा, अर्थ्यते इति अर्थम्। जिसको सब लोग चाहते हैं। 'अर्थ' धातुसे अर्थ बना। अर्थ्यते इति=चाहते तो सब लोग हैं।

इन्द्रियैः अर्थ्यन्ते इति इन्द्रियार्थः।

इन्द्रियाँ जिनको चाहती हैं उनका नाम अर्थ। तो इन्द्रियाँ संसारमें जिन-जिन चीजोंको चाहती हैं, वहाँ-वहाँसे हटाकरके इन्द्रियोंको विषयमें नहीं, इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके मूलमें, इन्द्रियोंके मूलमें रखना। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः। इसको 'प्रत्याहार' योगकी दृष्टिसे बोलते हैं।

प्रत्याहार! साधकके लिए यह प्रत्याहार बड़ा उपयोगी है। प्रत्याहार कहते हैं घसीटना, घसीटकर लाना। जैसे किसीका बैल, किसीका गाय, बिगड़ गयी हो, और इधर-उधर भागती-डोलती हो, तो उसके गलेमें फंदा लगाया और उसको हरी-हरी घास दिखाकर ललचाया, डंडा दिखाकर धमकाया और किसी तरह घेर करके उसकी जगहमें, जहाँ रहना चाहिए, वहाँ ले आये उसका नाम होता है 'प्रत्याहार'। तो अब आप इन्द्रियोंका प्रत्याहार कैसे करना?

देखो, एक तो त्याग होवे अपने जीवनमें। सत्य बोलने लगोगे तो कई बुराइयाँ छूट जायेगी। किसीको दुःख मत पहुँचाओ तो कई बुराइयाँ छूट जायँगी। असत्य सम्बन्धी बुराई सत्यसे छूटेगी। हिंसा-द्वेष सम्बन्धी बुराई अहिंसासे छूटेगी और बेईमानी सम्बन्धी जो बुराई है वह अस्तेयसे छूटेगी।

कामसम्बन्धी जो बुराई है वह ब्रह्मचर्यसे छूटेगी। संग्रह सम्बन्धी जो बुराई है, वह अपरिग्रहसे छूटेगी। धन दो तरहकी बुराई लेकर आता है—एक तो चोरी-बेईमानी और दूसरे इकट्ठा करना। इकट्ठा करना भी बुराई है, संग्रह भी बुराई है।

संग्रह करनेवाला बैठेगा तो ध्यान करने तो देखेगा कि जहाँ हमने पैसा रखा है, वहाँ सुरक्षित है कि नहीं? कहीं बैंक फेल होनेवाला तो नहीं है? कहीं किसीको पता तो नहीं चल गया है कि कहाँ रखा है? संग्रह करनेवालेकी इन्द्रियाँ भी इकट्ठी नहीं होंगी। स्थिर और संग्रहीत नहीं होंगी।

अच्छा, दूसरे नियम-तपस्या करो। स्वाध्याय करो। ये जो हैं, ये नियम हैं। तपस्या करो, थोड़ा जप करो, थोड़ा स्वाध्याय करो। स्वाध्याय माने जप।

'स्वाध्याय हि श्रेयो इष्ट संप्रयोग:।' जब करनेसे इष्टदेवतामें मन जुड़ जायगा। स्वाध्याय=अपने वेदकी, अपनी शाखाके वेदका अध्ययन करो। अथवा स्वरूपको समझानेवाले उपनिषद् आदि जो ग्रन्थ हैं, उनका स्वाध्याय करो। यह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका साधन है। तो तप, स्वाध्याय, सन्तोष। धनके बारेमें सन्तोष करो और ईश्वरप्रणिधान=ईश्वरके प्रति अपने कर्मफलोंका अर्पण करो। तो तप: शौच=पवित्रताके जो नियम हैं, उनका पालन करो। जो पवित्र रहनेकी आदत डालता है, उसको अपने शरीरके अंगोंसे ही, *शरीरात्-स्व अंग विमुक्तात्*-अपना शरीर ही गन्दा लगने लगता है। तो दूसरेको छूकर जो मजा आता है, वह लेनेमें उसकी रुचि नहीं रहती है। तो तपस्यासे, शौचसे, स्वाध्यायसे, सन्तोषसे, ईश्वर-प्रणिधानसे—इनके द्वारा भी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। यह दूसरा अंग हुआ।

तीसरा, जरा बैठनेका अभ्यास डालो। आसनसे, यदि शरीर स्थिर हो जायगा तो मन भी, इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जायँगी। क्योंकि स्थिर शरीरसे तो भोग होता नहीं है। चंचल शरीरसे भोग होता है। इसलिए शरीरको स्थिर करनेका अभ्यास डालो। इससे भी इन्द्रियोंका प्रत्याहार होगा।

प्राणायाम करो। पूरक, कुम्भक, रेचक—एक कायदेसे करो। चार मात्रामें—एक मात्रामें साँसको खींचो। चार मात्रामें रोको। दो मात्रामें निकालो। देखो, साधारण प्राणायाम कितना बढ़िया है? मनमें द्वादशाक्षरका जप करते हों तो एक बार मन्त्र जपनेमें एक बार साँसको खींच लो। और फिर साँसको रोककर चार बार मन्त्रका जप करो। और इसके बाद फट्से न निकल जाय! दो

बार मन्त्रका जप करते हुए निकालो। यह प्राणायाम! इसके अनेक भेद हैं। इससे भी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं।

प्रत्याहार माने जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे मनको खींचकर अपने 'त्वं' पदवाच्यार्थ जो आत्मा है उसमें लाकर स्थापित करना। जैसे बैल भगे तो लाकरके खूँटेसे बाँधना। तो घसीटनेका नाम 'प्रत्याहार' है। खींचकर ले आओ।

वेदान्तशास्त्रमें बताया है, यह प्रत्याहार दो तरहका होता है। यह वेदान्तियोंका एक ढंगका होता है और योगियोंका दूसरे ढंगका। यह साधनशास्त्र तो बड़ा विलक्षण है न? तो वेदान्तियोंका क्या होता है? वेदान्तियोंका एक तो यह है कि वह मनमें ही आकर स्फुरते हैं। मनमें जब विषय आवेगा, तब न स्फुरेगा? तो जो-जो विषय आपके मनमें अपना नाम और रूप लेकर फुरे, समझो कि यह फूल है। तो फूल एक विषय हुआ न? आँख बन्द करके मनमें दीख रहा है। फूलमें जो रूप है और फूलका जो नाम है, उस नाम और रूपका तिरस्कार करके उसमें जो सत्-चित् आनन्द जो भरपूर है, उसमें अपने मनको लगाना। नाम-रूपका तिरस्कार करके सत्-चित् अंशमें=फूल है सही, फूल भासता है सही, फूल प्रिय भी है सही। परन्तु फूलमें नामरूप नहीं है, तो देखना वह तुम्हारे आत्मासे बिलकुल जुदा नहीं होगा। अगर नामरूप होगा, तब तुम्हारी आत्मासे जुदा होगा। अगर नामरूप उसका नहीं देखते हो, तो तुम्हारी आत्मासे जुदा नहीं होगा। इसलिए अस्ति-भाति-प्रिय रूप आत्मा और अस्ति-भाति-प्रियरूप फूल—वह तो तुम्हारी आत्मासे जुदा है ही नहीं।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

मनमें जो-जो विषय फुरे उसीमें अधिष्ठानरूपसे और प्रकाशकरूपसे परमात्माका दर्शन बार-बार करते जाओ, डूब जाओ। कहाँ?

देखो, आँखमें-से ज्ञानकी एक किरण भीतर जाती है। जा-जाकर आँखमें देखती है और फिर लौट जाती है। कानमें भी ज्ञानकी एक रश्मि आती है, सुनती है, फिर लौट जाती है। नाकमें एक डोरी लगी है, जीभमें एक डोरी लगी है, ज्ञानकी डोरी। जैसे सूर्यकी किरणें निकलती हैं वैसे, एक ज्ञानरूप दीपक तुम्हारे हृदयमें प्रज्ज्वलित हो रहा है। उसकी एक रश्मि नाकमें, एक जीभमें, एक कानमें, एक आँखमें, एक त्वचामें, एक हाथमें, एक पाँवमें सारी रश्मियाँ उसमें-

से निकल करके जाती हैं। तो सब रश्मियोंको लौटाकर जो उसका केन्द्र है न, जो उसका केन्द्र है, उसमें स्थापित कर दो।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

मन विलायत जाता हो तो हिन्दुस्तानमें लाओ। मन हिन्दुस्तानमें घूमता हो तो मुम्बईमें ले आओ। मुम्बईमें घूमता हो तो मरीनड्राइवमें ले आओ। मरीनड्राइवमें घूमता हो तो 'प्रेमकुटीर'में ले आओ। 'प्रेमकुटीर'में इधर-उधर घूमता हो तो अपने शरीरके भीतर ले आओ। शरीरके भीतर यदि पाँवसे सिरतक घूमता हो तो अपने हृदयगोलकमें ले आओ।

जैसे आँखका गोलक दीखता है न? वैसे हृदयका गोलक मनोवृत्तियोंका जो गोलक है, उसमें ले आओ। और उसमें ले आकरके किसी चीजकी याद मत करो। **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।**

जब इस प्रकार तुम अभ्यास करोगे तो तुम्हारी प्रज्ञा जो है, तुम्हारी बुद्धि इज्जतदार हो जायगी। कोई बेइज्जतीका काम नहीं करेगी। वादा करके मुकरेगी नहीं। बात करके, अरे निश्चय करके फिर हिलेगी नहीं। विचार करेगी 'तो बिलकुल सीधे-सीधे करेगी। इस तरहसे—' इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः।'

दुमना होवे! बोले—अपने देहका ही स्मरण कर लो। देहका, क्योंकि दूसरी जो मूर्ति है न 'तत्' पदार्थकी प्रधानतासे रामकृष्ण आदिका चिन्तन किया जाता है। और 'त्वं' पदार्थकी प्रधानतासे अपने शरीरका चिन्तन किया जाता है। तो शरीरका ध्यान करो। शरीरके बाद तो इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति, प्राणशक्ति है, उसका ध्यान करो, सूक्ष्मका। उसके बाद तमोगुणको दूर करके केवल प्रकाशात्मक शुद्ध तत्त्वका ध्यान करो। उसके बाद?

उसके बाद जो साक्षीमात्र अपना स्वरूप है, उसमें प्रतिष्ठित हो जाओ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

'तत्' पदार्थमें ले जाना हो तो—

जले विष्णु स्थले विष्णु विष्णु पर्वतमस्तके।

जहाँ देखो वहाँ परमेश्वरकी लीला दिखायी पड़ेगी। क्या आनन्द है? तो, इसे भी कई तरहसे करते हैं। अब वह बात जो है न, वह बड़ी लम्बी होती है। क्योंकि जो सारा शास्त्र है, वह मनको ही, इन्द्रियोंको ही काबूमें करनेके लिए सारे शास्त्र हैं।

बोले—'भाई! तुम यह क्या साधन बता रहे हो? परम्परासाधन बता रहे हो कि बहिरंग साधन बता रहे हो?'

मैंने कहा—'हमने एक आदमीको बताया कि—'भोजन इस ढंगसे करो।' तो उसने कहा कि—'अरे! यह क्या है? अन्तरंग साधन कि बहिरंग साधन?' भोजन करना, कपड़ा पहनना और बैठना यह न अन्तरंग साधन है न बहिरंग साधन। तो यह क्या है यह परम्परासाधन है। लेकिन बिना भोजनके तुम्हारी ज्ञानसाधना होगी? जब भोजन करोगे तब मनमें सोचने-विचारनेकी ताकत आवेगी।

तब तुम्हारे अन्दर समन्वित करना है इनके द्वारा—देह-मन-इन्द्रियको ऐसे ढंगसे बनावे, जिससे तत्त्वज्ञानके उदयमें सहायता मिले।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। बोले—'कितने अज्ञानी हैं, वे खाना-पीना छोड़ देते हैं? आजकल तो जानो, भौतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए भी भोजनका परित्याग कर देते हैं। कई अज्ञानी होते हैं वे झूठा ही जिद्द करते हैं। दुराग्रही हैं। तो क्या उनको भी परमार्थकी प्राप्ति होगी?

बोले—नहीं-नहीं, उनको परमार्थकी प्राप्ति नहीं होगी। उनको तो अर्थकी प्राप्ति भी नहीं होगी। तो परमार्थकी प्राप्तिकी क्या बात है? उनको तो अर्थ भी नहीं मिलेगा।

कई लोग 'रमार्थ' करते हैं, भला! 'रमार्थ' जानते हैं? एक 'रमार्थ' होता है एक 'परमार्थ' होता है। कहीं 'प' ढँक जाय तो 'रमार्थ' हो जाता है और एक 'अर्थ' होता है।

एक 'अर्थ' होता है, एक 'रमार्थ' होता है और 'परमार्थ' होता है। हमारा साधन जो है वह परमार्थ हो रहा है कि रमार्थ हो रहा है, यह देखो। तो—निराहारस्य देहिनः। विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जम्। रागकी निवृत्ति केवल अनशन और तपस्यासे नहीं हो सकती। अनशन और तपस्या उसमें मददगार हो सकते हैं।

●

: 49 :

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

2.58-61

'यदा संहरते चायं'—इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने यह बात बतायी कि जैसे कच्छप-कछुआ बिना आसन-प्राणायाम आदि योगाभ्यासके ही सहज स्वभावसे जब चाहे तब अपने संपूर्ण अंगोंको समेट लेता है,उपसंहृत कर लेता है। जहाँसे फैलाया था, वहीं बटोर लेता है। जैसे मकड़ी अपने मुखमें-से जाला उगल करके फैलाती है और फिर स्वयं ही उसको समेट लेती है। इसी प्रकार जब मनुष्य-पुरुष जहाँसे अपने मन-इन्द्रियोंको फैलाता है, वहीं मन इन्द्रियोंके मूलमें ही अपने अन्तरंग और बहिरंग विस्तारको समेट लेता है। अंगांग हैं न, अंगांग? तो अंग=अन्तरंग और बहिरंग। बहिरंग विस्तार और अन्तरंग विस्तार। दोनोंको समेट करके मूलमें बैठ जाता है।

अगर यह सामर्थ्य किसीके अंदर आ गयी कि वह जब चाहे तब निवृत्त हो जाये! कितनी भी भीड़ हो, कितना भी ब्लाम (शोरगुल), कितने भी भोग हों, जब चाहे खट्। जैसे स्विच दबाने मात्रसे ही बल्ब बुझ जाता है, इस तरह भीतरवाला-उसको कोई ऐसा स्वीच मिल गया है जिससे हाथमें-कानमें-नाकमें-इन भिन्न-भिन्न नालियोंमें, भिन्न-भिन्न बल्बोंमें आनेवाली जो रोशनी है, उसको खट्से दबा दिया और सब बुझ गया। चुपचाप बैठा है। यह सामर्थ्य जिसको प्राप्त हो जाय, बोले—अब निडर है भाई! जब, कहीं कोई बुरा काम आवेगा, जब कहीं कोई बुरा भोग आवेगा, जब दुःख आवेंगे, जब सुख आवेंगे,

तब वह बस! भीतरका स्विच बंद किया और पता ही नहीं चलेगा कि दु:खराम आये कि सुखराम आये। कब भोगराम आये कि कब कर्मराम कि भीड़ आयी। पता ही नहीं चलेगा। वह स्विच हाथ लग गयी। मध्यकालके संत इसको बहुत बढ़िया ढंगसे बताते थे—

चरनदास गुरु किरपा कीन्ही,
उलटि गई मोरी नयन पुतरियाँ।

हमारी इन्द्रियोंकी जो पुतली थी न, वह उलट गयी ऐसा दरवाजा मिला। ऐसी कुंजी देते हैं हम।

मध्यकालके संत कहते थे—'हमारे पास भीतरके दरवाजेकी एक ऐसी चाबी है कि उसको जब चाहो तब खोल लो और जब चाहो तब बंद कर लो। एक कुंजी! जैसे हम अपना फ्लेट बंद करके बाहर जाते हैं तो कुंजी लगा करके बाहर जाते हैं और आते है तो खोलकर भीतर खट्‌से घुस जाते हैं। उसको बंदकर लेते हैं। एक भीतरकी कुंजी होती है, वह जिसके हाथ लग गयी। माने जैसे हम आँखको जब चाहें तब खोलें और जब चाहें तब बंद कर दें। ऐसे अन्त:करणको भी हम जब चाहें तब खोलें और जब चाहें तब बन्द कर दें। तो समझो कि बुद्धि ऐसी प्रतिष्ठित हो गयी कि अब वह वासनाओंके फंदेमें फँसकर या संसारके विषयोंके फन्देमें फँसकर गलत-गलत काम नहीं करेंगी। तो बुद्धिके प्रतिष्ठित होनेका यह उपाय बताया कि मन और इन्द्रियके उपसंहारकी शक्ति अपने अन्दर आ जाय।

जैसे हम जीभपर अपनी शक्ति रखते हैं कि जब चाहें तब बोले और कब बन्द हो जाय। हाथ उठावें और गिरावें। ऐसे ही हम मनको भी उठाना और गिराना अपनी इन्द्रियोंको भी उठाना और गिराना बिलकुल अपने वशमें हो जाय। तब समझना कि अब बुद्धि जो है ठीक जगह पर, स्थितप्रज्ञा महारानीके सिंहासनपर बैठी है, अब वह अच्छी जगह पर बैठी है और, जिसको रोकना चाहें उसको रोक न सके और जब करना चाहें तब कर न सकें—'यह काम करें' तो कर न सकें और कहें कि 'भाई, यह काम न करें और उसको रोक न सकें तो कैसी विवशताका जीवन है? तुम्हारी बुद्धि प्रतिष्ठित जगहपर नहीं बैठी हुई है। भले तुम एम. ए. स्टुडेण्ट हो और भले बीस वर्ष अभ्यास किया हुआ हो! लेकिन अगर मन और इन्द्रियोंपर कब्जा

नहीं है तो अभी तुम बालक ही हो। कच्ची बुद्धिके हो। परिपक्व बुद्धि=स्थितप्रज्ञाके नहीं हो, कच्ची अकल है तुम्हारी, तो बुद्धि वशमें होवे तो समझना कि अब स्थितप्रज्ञ हो गये।

बोले—'स्थितप्रज्ञका लक्षण जो तुमने बताया वह तो बड़ा आसान दिखता है।' कैसे? केवल बुद्धिकी चाभी घुमायी और अन्तरंग-बहिरंग बंद हो गया और चुपचाप बैठ गये। तो इस बातको नि:संकल्पता तक, निर्विचारता तक लेना। यह जो **'यदा संहरते चायं'** है न, इसमें केवल कर्मेन्द्रियोंका ही उपसंहार नहीं, केवल ज्ञानेन्द्रियोंका ही उपसंहार नहीं, कि चलना-फिरना बंद कर दिया, देखना-सुनना बंद कर दिया, इतना ही नहीं। जो मनोराज्य मनमें होते हैं उनको भी बंद कर देना और बुद्धिमें जो विचार होते हैं उनको भी बंद कर देना। माने विचार भी समाधिकी दृष्टिसे विक्षेप ही है। ज्यादा विचार किसीकी बुद्धिमें उठते हैं तो यह नहीं समझना कि परमार्थ उसको मिल गया।

अरे भाई! कुछ युक्तियाँ फुरती हैं, कुछ मनन होता है। अच्छा, तब बुद्धि बैठ गयी तब तो बड़े परमार्थ, बड़ी ऊँची कक्षा हो गयी! बोले—नहीं, वह तो नि:संकल्पता जो है, निर्विचार और नि:संकल्प नीरस मन और निरानन्द। समझो कि आनन्दकी वृत्ति नहीं उठती है। अहंकी वृत्ति नहीं उठती है। कोई विचार नहीं उठता है और कोई संकल्प नहीं उठता है। तो यह जो विचारानुगत, विवेकोनुगत अथवा समझो, आनन्दानुगत अस्मितानुगत—ये चार प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर भी जो तुम बैठे हुए हो, तो मुख्य प्रश्न यह होता है कि क्या तुम्हें परमार्थकी प्राप्ति हो गयी? सीताराम कहो! इसका नाम परमार्थकी प्राप्ति नहीं है। शरीर अगर पत्थर हो जाय तो परमार्थकी प्राप्ति थोड़े ही होती है? यह मन जो है पत्थर हो जाय तो परमार्थकी प्राप्ति थोड़े हो जाती है? यह बुद्धि जो है पत्थर हो जाय तो परमार्थकी प्राप्ति थोड़े ही हो गयी?

यह तो समझो तुम्हारे जीवनकी शान है यह! जैसे शान धराते हैं न चाकू पर, उस्तरेपर शान धराते हैं न? तो रगड़ते हैं। तो उसको तीखी करनेवाली यह वृत्ति है, शान! यह शान क्या है! शमके 'श'से लेकर समाधानके 'आन' तक-श और आन। क्रमें शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान। श से शुरू करके समाधानके आन तक यह शान। यह है शान। अगर यह तुम्हारे अंदर है, तो समझो कि तुम शानदार आदमी हो। पानी

है। तुम्हारी बुद्धिकी तीक्ष्णतामें शान धरायी हुई है। नहीं तो बुद्धि भोथर है। तो यही शान्तिपाठ करते हैं न?

शान्तिपाठका अभिप्राय यह होता है कि शम-दम-उपरति ये तीन साधन बिलकुल तुम्हारे अंदर विद्यमान हैं। शमके श से शुरू करो और उपरतिके ति पर समाप्त कर दो। तो यह शान्ति हो गया न? यह शान्तिका ही शान्ति बना हुआ है।

बोले—तितिक्षा क्यों नहीं बोलते हो? तितिक्षामें तो दु:ख सहन होता है न? दु:ख सहन करनेमें शक्ति तो है, परन्तु शान्ति नहीं है। तितिक्षामें शक्ति है, शान्ति नहीं है। और शम-दम-उपरतिमें शान्ति है। तितिक्षामें तो शक्तिको क्रियाशील करना पड़ता है।

अच्छा, तो अब श्रद्धामें भी वृत्तिको क्रियाशील रहना पड़ता है। कहाँ? जिसके ऊपर श्रद्धा होवे उसमें। समाधानमें? तो शान्तिपाठ हो नहीं सकता। समाधानमें तो शान्तिपाठ हो ही नहीं सकता। और श्रद्धामें दूसरेका स्मरण रहता है। तितिक्षामें दु:ख सहिष्णुता शक्तिका प्रयोग करना पड़ता है। ये शम-दम और दूसरे कर्मोंसे उपराम हो सकते हैं। उस समय कोई आपसमें बात नहीं करना। उस समय हाथ नहीं हिलाना, उस समय आँख इधर-उधर नहीं करना। शांति-शान्ति-शान्ति। स्थूल शरीरमें शान्ति, सूक्ष्म शरीरमें शान्ति, कारण शरीरमें शान्ति। यह शांतिका अनुभव करना। यह क्या है? यह मनुष्यके जीवनकी शान है। यही शान है। इसीके द्वारा मनुष्यकी बुद्धि तीक्ष्ण होती

'क्षुरीका पंथक' आपने सुना होगा। एक क्षुरीका पंथक है। अविद्याकी गाँठको काटनेके लिए एक छुरा चाहिए। छुरा होना चाहिए। 108 में एक क्षुरीका पंथक है। उद्यत अहंकारको काटनेके लिए है और 'क्षुरस्यधारा' तो मशहूर ही है।

क्षुरस्यधारा निहिता दुरत्यया।
दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।

उस क्षुरधारामें शान धरानेके लिए समाधि सम्पत्तिकी जरूरत है।

अब अच्छा, यह हुआ कि एक आदमी है भाई! एक घण्टेतक स्थिर शरीरसे बैठता है, तो बहुत प्रशंसा करने योग्य है। बिना आँखकी पलक हिलाये एक घण्टेतक बैठा रह सकता है तो बहुत बढ़िया है। उसकी इन्द्रियोंमें कोई स्फुरणा नहीं होती है। तो बहुत बढ़िया है। मन-बुद्धि शान्त हो गये, बहुत

बढ़िया। पर यह है क्या? बोले—यह व्यक्तिगत उत्कर्ष है। यह व्यक्तिरूप जो कार्य है, इसमें तुमने इसको साफ-स्वच्छ करके बैठा लिया। बहुत बढ़िया! तो इतनेसे परमार्थकी प्राप्ति हो गयी? और स्थितप्रज्ञता हो गयी?

नहीं, मनको शान्त करनेके लिए तो दोनो अंगूठोंको जोड़कर दबाकर रखे जायें तो और नाखूनोंको देखा जाय तो मन संसारके विषयोंमें नहीं जायेगा। दोनों अँगूठे जोरसे दबाकर थोड़ा बलपूर्वक और दोनों अंगूठेमें अपनेको देखा तो चित्तवृत्ति उधर नहीं जायेगी।

आँखकी दोनों पलक स्थिर कर दो। बिलकुल हिल न पावे। एक मिनटमें तुम्हारा चित्त निःसंकल्प हो जायेगा। एक मिनटके भीतर हो जायेगा, अगर आँखकी पलक हिलने न पावे।

परमार्थके मार्गमें ब्रह्माकार-ब्रह्मज्ञानको बड़ी चीज माना जाता है। युक्तिको बड़ी चीज नहीं माना जाता और ब्रह्मज्ञान हो गया तो युक्ति बनी रहे, बहुत बढ़िया। तो यह जो स्थितप्रज्ञके मनकी युक्ति है न, यहाँ! मनसे काम नहीं लेना। आपको अपना मन शान्त करना हो तुरन्त, तो मुहँ बन्द, दाँत दोनों अलग-अलग। ऊपरका दाँत ऊपर और नीचेका दाँत नीचे। होंठ दोनों आपसमें सटे हुए। और जीभ न ऊपर न नीचे, अधरमें लटका दो। बस, छूने न पावे। न ऊपर न नीचे। एक मिनटमें सारी वासनाएँ चुप हो जायेंगी। कोई वासना नहीं उठेगी। यह मैं एक नमूनेके तौरपर बता रहा हूँ। यह नहीं कि आप करने लग जाओ। आपको ऐसी छोटी-छोटी बात करनेके लिए नहीं बताता हूँ। यह तो एक नमूना बतानेके लिए। तो—

निःसंकल्प होना। खूब परिश्रम करोगे तो मन ठप पड़ जायेगा। इन्द्रियोंसे काम मत लो, मनसे काम मत लो, देखो ठप पड़ जाता है। देख लो, जो मन, नौकरके प्रति हड़ताल होती है न! जैसे तालाबन्दी मालिक लोग करते हैं कि नहीं! कि हम मजदूरोंसे काम नहीं लेंगे। वैसे आपके शरीरमें ये काम करनेवाले जो नौकर हैं, वे करें तो नहीं, पर करके समान हैं। नौकर माने नो करः। हाथ नहीं, पर हाथके समान हैं। हाथ नहीं हैं, पर अपने हाथसे किये जानेवाले जितने काम हैं, सबको करता है। हाथ, न हो करके भी हाथ है। 'कर इव इति नोकरः'। यह वैदिक शब्द है, तो पदका 'इव' अर्थ वेदमें होता हैं, तादृश्यके अर्थमें।

अब आप विचार करके देखो कि केवल नि:संकल्प होकर अन्त:करणके ठप हो जानेसे परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार नहीं होगा। वह तो अविद्याकी निवृतिके लिए एक वृति चाहिए न! बिना वृत्तिमें ब्रह्मके आरूढ़ हुए, माने ब्रह्मविषयक वृत्ति हुए बिना अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। तो नि:संकल्पता तो ठनठनपाल हो जायेगी थोड़ी देरके लिए।

जिस स्थितप्रज्ञका वर्णन है न यहाँ, 'यदा संहरते चायं'

यह ब्रह्मज्ञानी स्थितप्रज्ञका वर्णन है। जिसने यह नहीं समझा कि इसमें ब्रह्मज्ञानी स्थितप्रज्ञका वर्णन है, उसके मनमें यह शंका उदय होगी कि मानो निर्विषयता ही सर्वस्व है। नि:संकल्पता ही सर्वस्व है। तो उसके लिए यह बात बतानी जरूरी हो गयी कि केवल नि:संकल्पतासे तो विषयका चिंतन छूटता है, ब्रह्मोपलब्धि जरूरी है। इसलिए **'यदा संहरते चायं'**के बाद—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। 2.59

यह श्लोक आया। यह श्लोकसम्बन्ध हुआ। अध्यायका सम्बन्ध, प्रकरणका सम्बन्ध, श्लोकका सम्बन्ध, फिर वाक्यकी संगति—यह सब होता है। इसमें अमुक जो बात नहीं कहीं गयी है वह बाहरसे ले आना। जो दो बार कही गयी है उसके बारेमें समाधान करना उक्त, अनुक्त, विरुद्ध, दुरुक्त, इन सबकी चिंता करके उसके दोषका निवारण कर देना। यह बोलनेवाला क्या बोल रहा है? ऐसा बोलना चाहिए कि समझनेवालेकी बुद्धिमें कोई कमी न रह जाय। ऐसा बोलना। तो यह नहीं समझ लेना कि मनको ठप करके बैठ गये और बाबाजी तीन दिन समाधिमें रहे। नव महीने समाधिमें रहे। बारह वर्ष समाधिमें रहे। ऐसा वर्णन आता है, दस-दस हजार वर्ष समाधिमें रहे। और निकलनेके बाद बोले—'वही घोड़ा।' सुना ही होगा आप लोगोंने। क्यों भाई? क्योंकि घोड़ेके प्रति राग था। घोड़ा माँगनेके लिए राजाके दरबारमें समाधि लगायी। ठप्प तो हो गया, मन ठप्प तो हो गया; लेकिन मनकी वासना नहीं मिटी। केवल मनके ठप्प हो जानेसे वासनाकी निवृत्ति नहीं होती।

शराब पी लेनेसे थोड़ी देरके लिए गम गलत होता है, लेकिन नशा उतरता है तो पहले दिनवाली फिक्र आती है कि नहीं आती है? क्लोरोफार्म सूँघ लेनेसे थोड़ी देरके लिए पीड़ा निवृत्त हो जाती है, कोई दवा खा लेनेसे; लेकिन उससे पीड़ा मिटती थोड़े ही है? वह फिर उसके संस्कार हैं, दवाका नशा उतरा तो फिर

आ गये। तो केवल निराहार हो जानेसे ही कृतकृत्यता नहीं होती। यहाँ 'निराहार' शब्दका अर्थ क्या है? तत्त्वज्ञानरहित जो—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। 2.58

बिना तत्त्वज्ञान हुए जो इन्द्रियोंका उपसंहार है, वहीं 'निराहार' शब्दका अर्थ है।

एम.ए. छात्र न हों, बी.ए.के हों, एफ.ए.के हों, मैट्रिकके हों, अभी मैट्रिककी परीक्षा दे रहे हों, मैत्री करने योग्य अब हो रहे हैं। तब क्या करना? देखो, बातको कायदेसे समझना—

'निराहारस्य देहिनः।'

जब मनुष्य निराहार हो जाता है, तो आजकलके तो समझो महाराज! एकादशीके दिन कोई-कोई निराहार रहते हैं। वे तो निराहार नहीं, शुभाहार रहते हैं। अगर रोज-रोज एक छटांक घी पेटमें जाता हो, तो एकादशीके दिन पावभर घी पेटमें चला जायगा। यह तो फिर आध एकादशी नहीं हुई न? तन-मन पावन करना आध एकादशी। तो यह तो तन-मन पावन करनेवाली बात नहीं हुई। देखो, आहार शुद्ध है, इसका अर्थ है भोजन। दो शब्द आते हैं संस्कृत-में, एक आहार, एक व्याहार। आहार=बाहरसे भीतर ले जाना और व्याहार=भीतरसे बाहर, बाहर निकालना। तो यह बोलना जो है, उसको व्याहार बोलते हैं। और खाना जो है उसको आहार बोलते हैं। आहारके जो विपरीत हो सो व्याहार।

जैसे हम लोग बोलते हैं न, यह बोलना क्या हुआ? बोलना व्याहार है। व्याहरण=बोलना। जो खाया हुआ पहलेसे रहता है उसीको तो उगलते हैं न? पहले सोचा न हो, समझा न हो, अनुभव किया हुआ न हो, पचा हुआ बुद्धिमें न हो, तो कैसे बोलेंगे? बोलेंगे तो गलत बोलेंगे।

अच्छा तो अब 'आहार' का देखो। आहरण=संग्रह। जीवन-निर्वाहके लिए जो हम संग्रह करते हैं, भीतर अपने शरीरमें। तो 'श्रीरामानुजाचार्य महाराज' आहार शब्दका अर्थ भोजन करते हैं।

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

यह जो श्रुति है कि जब तुम्हारा आहार शुद्ध होगा, माने भोजन शुद्ध होगा तब चित्त शुद्ध होगा। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।' और 'सत्त्व शुद्धौ

ध्रुवास्मृतिः।' जब चित्तकी शुद्धि होगी तब परमात्माकी स्मृति होगी। और जब स्मृतिका लाभ होगा तब ग्रन्थोंका विप्रमोक्ष होगा। चिज्जडग्रंथी जो है, वह खुलेगी 'अरे! मैं तो ब्रह्म ही था। इस स्मृतिका जब लाभ होगा तब चिज्जडग्रंथी जो है, वह टूट जायगी।'

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। 2.58

यह तो एक रकमसे आहारशुद्धि है। एक प्रकारसे उसको आहारशुद्धि समझो। यह परमार्थ नहीं है, यह ब्रह्माकारवृत्ति नहीं है, यह अविद्याका साक्षात् निवर्तक नहीं है। यह भी यदि श्रवण-मनन सम्पन्न है, तब तो आहारशुद्धि= निदिध्यासन।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

परन्तु; यहाँ भी सजातीय वृत्तिका प्रवाह रहता है। पूर्ण संहार नहीं रहता है। यदि श्रवणादि साधन संपन्न नहीं है, बहिरंग साधन लगा हुआ है, तो—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

समाधान! बहिरंग साधनके अंतर्गत समाधान। 'स्थितप्रज्ञ है तो **यदा संहरते चायं**का अर्थ है निर्वासन मौन।' तो वासनारहित स्थितप्रज्ञ पुरुषका मौन। ज्ञानी पुरुषका जो निर्वासन मौन है और अन्तरंग साधनसम्पत्तिवालेका जो निदिध्यासन है, और बहिरंग साधनसम्पत्तिवालेका जो समाधान है वहीं यहाँ '**यदा संहरते चायं**'से कहा गया है। यदि तत्त्वज्ञानको छोड़कर 'निराहार' शब्दका कोई अर्थ होता है, तो उसका अर्थ होता है 'निर्भोजन।'

'आहार' शब्द 'श्रीरामानुजाचार्य'ने चार अर्थ किया है। वे कहते हैं कि 'विवेक करो।' 'शाङ्कर संप्रदाय'में विवेक माने होता है, 'पदार्थका विवेक।' मिट्टी है कि सोना है कि चाँदी है, यह 'वस्तु विवेक' कहलाता है। और घड़ा है कि शकोरा है कि कंगन है कि कड़ा है कि हार है? यह आकारविवेक है।

अब हमारा वह जेवर है, वह खटाईके साथ होगा कि दहीके साथ होगा, इसकी चमक कैसे बढ़ेगी? यह आहारविवेक हुआ। माने अन्त:करण जो है, वह तो कार्यद्रव्य है। अन्त:करण सोना नहीं है। सोना तो है परब्रह्म परमात्मतत्त्व। और अन्त:करण जो है, वह कंगनकी तरह, हारकी तरह कार्याकार्य-परिणत है। माने कार्याकार्यविवर्ती है। अथवा समझो, कार्यरूप है।

उस कार्यको शुद्ध करनेके लिए जो खटाई, दही, अरीठा जैसा कुछ बाहर प्रयोग किया जाता है, साबुन, वैसे अन्तःकरण शुद्ध करनेवाला जो साधन है, उसको बोलते हैं 'आहार।'

तो अब आप देख लो, कि आखिर ब्रह्मज्ञान कहाँ होगा? ब्रह्मको तो ब्रह्मज्ञान होगा नहीं। कार्यमें ही ब्रह्मज्ञान होगा न? अन्तःकरण रूप जो कार्य है, जिसमें भ्रान्ति है, जिसमें अज्ञान है, उसीमें तो, जहाँ आवरण है, वहीं तो उसका भंग होगा। तो असत्त्वापादक आवरण अथवा अभानापादक आवरण अन्तःकरणमें ही मौजूद है। तो अन्तःकरणमें ज्ञान कैसे हो? जरा उसको साफ कर लो। तो साफ करनेके लिए भोजनकी जरूरत पड़ती है।

कैसा भोजन करते हो? तो भोजनका विवेक बताते हैं 'श्रीरामानुजाचार्य।' शमदमादि जो साधन संपत्ति है, वह अन्तःकरणका विवेक है। और यह आत्मा जो है, यह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित है, देश-कालसे अपरिच्छिन्न है, स्वयंप्रकाश है, कि सर्वाधिष्ठान है, यह तत्त्वका विवेक है। तो तत्त्वका शोधन अन्तःकरणका शोधन, और अन्तःकरणशुद्धिके साधनका शोधन-ये वेदान्तकी कई प्रक्रिया हैं। इसको मामूली तौरसे जो लोग पहले ही साधनका विवेक किये बिना और अन्तःकरणके आकारका विवेक किये बिना पहले ही तत्त्वकी चर्चा करने लगते हैं, तो भावनाप्रधान हो जाते हैं। वे भावुक जरूर हैं, वे भक्त हैं, वे साधक हैं हम उनका बड़ा आदर करते हैं कि चलो ये साधक हैं। परन्तु उपासना जो है, उपासनाकी कक्षा दूसरी होती है और विवेककी कक्षा दूसरी होती है। तो वेदान्तमें विवेक माने होता है वस्तुविवेक। 'नित्यानित्य-वस्तुविवेक। वस्तुविवेक बोलते हैं उसको।

अब आप लोगोंको इतनी छोटी-छोटी बात बतानी पड़े, तो उसमें अपनेको भी कोई मजा नहीं आता है। हम भी यही कहना चाहते हैं कि आप स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न स्वयं ब्रह्म आप ही हो। हम भी यही कहना चाहते हैं, लेकिन वेदान्तको समझनेके लिए जो पहलेकी तैयारी है, वह कहीं छूट न जाय। और फिर आप लोग तो सब जाननेवाले! कुछ नये लोग भी तो आते हैं न? उसके लिए इसको समझो! यह देखो, आहारका मतलब! विवेक-आहारविवेक 'श्रीरामानुजाजार्य'ने क्या बताया है? सब आचार्योंकी अपनी-

अपनी जगहपर संगति है। उनको बैठनेके लिए कुर्सी है। वे कहाँ बैठकर अपना काम करते हैं?

अद्वैत सिद्धान्तमें सब मतवादियोंको बैठनेके लिए कुर्सी लगी हुई है। 'तुम इस कुर्सीपर बैठो, तुम इस कुर्सीपर बैठो, तुम इस कुर्सीपर बैठो'—लेकिन दूसरे मतवादियोंकी सभामें अद्वैतवादीके लिए कोई कुर्सी नहीं है। दूसरे मतवादी जो हैं वे अपनी सभामें अद्वैतमतवादीको नहीं बुलाते हैं। और अद्वैतमतवादी अपनी सभामें सबको बुलाता है। क्योंकि उनकी संगति-सबकी संगति अपनी-अपनी जगहपर है।

कोई अद्वैतवादीको बुला ले और बोले कि 'वाच्यार्थ मिथ्या है, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और निमित्तोपादानकारणरूप जो ईश्वर है, वह तो कल्पित है मनमें। कर्त्ता-भोक्तारूप जीव कल्पित है, प्रपञ्च मिथ्या है'—अब बोले—'कहाँ बिठावें उसको?' कहाँ बैठावें वे लोग उसको? तो आहारशुद्धिका अर्थ आप लोग समझो। आहारविवेक। वे कहते हैं—

एक तो जातिसे वस्तु अशुद्ध नहीं होनी चाहिए। निषिद्ध नहीं होनी चाहिए। वस्तुका गुण-रूप-दोष देखकर वस्तुका विवेक, भोजनका विवेक नहीं होता है कि वह शरीरके लिए हितकारी है कि नहीं? यह नहीं। वह कानूनके खिलाफ है कि नहीं? हमारे विवेककी पद्धति बेरीस्टर लोग जानते हैं। जजको कहना पड़ता है कि—'किया तो उसने कुछ बुरी नीयतसे नहीं था और फायदेका भी काम था, लेकिन कानूनके खिलाफ था, इसलिए यह दण्डनीय है।'

हमारे एक फैसलेकी बात आप जानते हैं। यहाँ एक ट्रिब्युनल नियुक्त हुआ था एक केसकी जाँच करनेके लिए। तो उसने कहा, 'यह है तो अपराधी। मानते हैं कि इसने बड़ा गलत काम किया और बड़े-बड़े गलत काम किये हैं। लेकिन कानूनके शिकंजेमें नहीं आ रहा है, इसलिए मजबूर हो करके छोड़ना पड़ रहा है।' फैसलेमें ऐसा लिखा हुआ था।

निषिद्ध कर्म जो है, वही अन्त:करणको अशुद्ध करता है। निषिद्ध भोग—यह देखना पड़ेगा कि वह कानूनके खिलाफ है कि नहीं? तो एक तो कानूनसे निषिद्ध न हो वह भोजन, जातीयदोष उसमें नहीं होवे। दूसरा, कोई गंदी चीज उसमें मिल नहीं गयी हो और गंदे बर्तनमें रखा गया न हो। है न? गंदा बर्तन होवे, बनानेवाला गंदा होवे, और गंदी जगहमें बनाया गया हो, और

चीज गंदी होवे, गंदी चीज उसमें मिल गयी हो, तो वह भोजन करने योग्य नहीं रहा।

बेईमानीकी कमाई हो तो? तो उससे अन्त:करणशुद्धि नहीं होती। ये चार बात जो हैं, भोजनशुद्धिके बारेमें कही हुई हैं, 'रामानुजाचार्य'ने।

'शङ्कराचार्य भगवान्' जो आहारशुद्धिका अर्थ करते हैं—वे कहते हैं—'आहार माने छह पदार्थ। आँखसे देखना, कानसे सुनना, त्वचासे छूना, नाकसे सूँघना, जीभसे स्वाद लेना और मनसे चिंतन करना।' ये अन्तरीन्द्रिय और बहिरीन्द्रिय-पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा हम जो विषयको ग्रहण करते हैं, यही भोजन है। तो 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'का अर्थ है, आँखसे शुभ देखो, कानसे शुभ सुनो—

'भद्रं कर्णभिः शृणुयाम देवाः।'
'स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः।'
'शं नो मित्रः शं वरुणः।'

यह आहारशुद्धि है। बोल देना नहीं। इसको रोज सत्संगके प्रारम्भमें बोल देने-मात्रसे आहारशुद्धि हो जाती है, सो नहीं। यह तो—'मा विद्विषावहे।'

अन्तमें बोलते हैं न? 'हम परस्पर विद्वेष नहीं करें?' अगर दिलमें द्वेष है तो अन्त:करणशुद्धि कहाँसे होगी? तो वे बोलते हैं आहारशुद्धिका अर्थ पाँच—

आहियन्ते इति आहाराः विषयाः।

हम शुद्ध विषयको ग्रहण करें, अशुद्ध विषयको ग्रहण नहीं करेंगे। विषयशोधन तो करो। आत्मशोधन नहीं होता है तो विषयशोधन तो करो। यदि 'तत्' पदार्थ 'त्वं' पदार्थका शोधन नहीं है, तो विषयोंका तो शोधन करो। क्या अशुद्ध है, क्या शुद्ध है?

अब 'निराहार' का अर्थ यही समझ लो। शुद्ध-अशुद्ध दोनों विषयोंका परित्याग करके जब मनुष्य समाधि लगा करके बैठता है, तो उस समय क्या हुआ? 'विषयाः विनिवर्तन्ते'। विषयाः माने शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध नहीं, वह तो 'निराहारस्य' में कहा हुआ है।

निराहारस्य सतः देहिनः विषयाः विषयोपलक्षितानि इन्द्रियाणि श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राण मनांसि विनिवर्तन्ते।

विषयेभ्यो निवृत्त्य आत्मनि अवतिष्ठन्ते।

विषय माने विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ विषयोपलक्षित इन्द्रियाँ। ये निवृत्त हो करके अपने आत्मामें स्थित हो जाती हैं। अपनेमें बैठ जानेका ही नाम आत्मज्ञान नहीं है। आत्मामें बैठना दूसरी बात है और आत्मज्ञान दूसरी बात है।

इन्द्रियोंका अन्तर्मुख होकर आत्मामें बैठना, यह दूसरी चीज और आत्माके ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होना, यह दूसरी चीज। तो यह बताया कि 'निराहारस्य देहिन:'। यदि मनुष्य किसी भी विषयका ग्रहण न करे तो उसके विषय माने उसकी इन्द्रियाँ उसकी आँख बाहर देखना बंद कर देगी, कान बाहर सुनना बंद कर देंगे। मन बाहरके विषयोंका चिंतन करना बंद कर देगा—'निवर्तन्त'। निवर्तन्त=लौट करके आजायगा। निवृत्ति=लौट करके अपने मूलमें बैठना। 'शृंगेन'—'छांदोग्य उपनिषद्'में 'शृंग' शब्दका प्रयोग है। मूलेन, शृंगेन–ऐसा करके मूल–का अनुसंधान करते हुए जहाँसे ये इन्द्रियाँ निकली हैं, जहाँसे ज्ञान–पावर हाउसमें मानो, समझो, अपने पावर हाउसमें जा करके ये सब शान्त हो जाती हैं।

अगर हम पंखा न चलावें, बल्ब न जलावें, लाउडस्पीकर चालू न करें, तो बिजली कहाँ रहती है? अपने पावरहाउसमें और जब इनसे काम लेना शुरू कर दिया, तो वहाँसे निकल–निकल करके बाहर आने लगी। इस शरीररूपी यंत्रमें जो बिजली काम कर रही है, यह अपने मूल पावरहाउसमें जा करके बैठ गयी। लेकिन इन्द्रियोंको बंद कर देनेसे क्या ईश्वरका ज्ञान हो गया? ईश्वरका ज्ञान नहीं हुआ। स्थिति तो हुई। किसके घरमें बैठे हो। यह तो तुमको मालूम नहीं है। लेकिन किसीके घरमें बैठ करके विश्राम कर रहे हो। राह चलते किसी पेड़के नीचे जाकरके बैठ गये। खूब विश्राम मिला। पर पता नहीं है कि यह पेड़ कौन–सा है? किस जातिका पेड़ है? इसका मालिक कौन है? यह पता नहीं है। तो–

जाकरके हृदयमें तो बैठ गये, लेकिन यह हृदयरूपी वृक्ष जो है, वह हृदय क्या है? वह पत्थर, संगमरमर है कि कसौटीका पत्थर है कि पारस–पत्थर है? जिसपर बैठे थे वह पारस कौन–सा है। पत्थर कौन–सा है? यह पहचान नहीं हुई। पत्थरपर तुम बैठे तो सही, लेकिन पत्थर की पहचान नहीं है।

ले खसमको नाँव खसमसों परिचय नाहीं।
वेश्या किया सिंगार है बैठी बीच बजार
बैठी बीच बजार नजारा सबको मारे।

–कबीर

पहलेके महात्मा लोग ऐसे बोलते थे। आजकलके लोग काम तो करते हैं वही, पर बोलनेमें शरमाते हैं। और पहलेके फक्कड़ लोग बिना शरमके दोटूक कह देते थे। मनकी क्या हालत है?

यह मनोवृत्तिका वर्णन है। 'वेश्या'का वर्णन नहीं है।

'ले खसमको नाँव'–बड़े जोर-जोरसे नाम तो लेते हैं पर;

'खसमसों परिचय नाहीं।'

जान-पहचान नहीं है अपने मालिकसे। जान-पहचान नहीं है, यह हालत! बैठे तो सही, लेकिन भाई, बैठने से क्या होगा? सब होगा, लेकिन 'रसवर्जं'।

विषया: इन्द्रियाणि विनिवर्तन्ते।

'विषय' शब्दका अर्थ शङ्कराचार्यने इन्द्रिय किया है। यह बड़ा प्रामाणिक अर्थ है। निवृति किसकी होती है? माने, हमारा मन जो है न, जैसे घड़ेकी याद की। देखना है घड़ेको। तो मन जो है वह हृदयगोलकमें-से आँख में आया और आँखमें आकर उसने घड़ेको ग्रहण किया। यह क्या हुआ? यह मनकी प्रवृति हुई। प्रवृति हुई माने दिलमें-से निकल कर आँखमें आना पड़ा। आँखमें-से निकल करके बाहर जाना पड़ा। यह 'जाना है' सो प्रवृति है। और घड़ेमें-से निकलकर आँखमें आया—घड़ेसे लौटकर आँखमें आया, आँखसे लौट करके दिलमें आया—इसका नाम निवृत्ति है। तो–'विषया विनिवर्तन्ते' किन्तु 'रसा: न विनिवर्तन्ते'। रसा:=राग। राग जो है कि यह चीज बहुत बढ़िया है। खीरकी याद भूल गयी, परंतु खीरके स्वादमें जो आसक्ति है, वह नहीं छूटी। सो जानेपर खीरकी याद रहती है? नहीं रहती। धनकी याद रहती है? नहीं रहती। तो याद छूट जानेसे क्या राग छूट गया? नहीं, वह तो पहले दिन जैसा राग था, सोकर जब उठेंगे, तब भी वैसा ही राग होगा।

तो रागकी निवृत्ति जो है, वह बैठनेसे नहीं होती है। रागकी निवृत्ति! तत्त्वज्ञानी वह है जो बैठा हुआ भी है और राग भी निवृत्त हो चुका है। अज्ञानी

जो है, बैठा हुआ तो है; परन्तु रागकी निवृत्ति नहीं हुई है। रसवर्जम्। अच्छा, तो वही बात बताओ, जिससे राग मिटे। राग कैसे मिटेगा? तो बताया—उसके लिए ज्ञान चाहिए—'**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।**'

जब परमात्माका साक्षात्कार हो जायेगा। निराहार होना, निःसंकल्प होना, निर्विचार होना, समाधिस्थ होना, यह रसनिवृत्तिका मुख्य साधन नहीं है। रसनिवृत्तिका मुख्य साधन है परमात्माका ज्ञान।

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

जब परमात्माका दर्शन होता है तो हर्ष! हर्षका कारण राग। हर्ष-शोकका कारण राग-द्वेष है, सो—

'**रागो लिंग अबोधस्य।**' —पञ्चदशी 7.91 पञ्चदशीकारने कह दिया कि अज्ञानकी पहचान बतावे? बोले-'अज्ञानकी पहचान रागद्वेष है।'

रागो लिंगं अबोधस्य चिन्तव्यायामभूमिसु।
कुतः शादरदावस्य यस्याग्नि कोटरे तरो॥

यहाँ 'रस' शब्द जो है, यह रागवचन है। शङ्कराचार्य भगवान् 'रस' शब्दका अर्थ बोले—'रसज्ञः', 'रसिकशिरोमणिः'। ये क्या हैं? रसज्ञ, रसिकशिरोमणि! यहाँ रागका वाचक शब्द 'रस' है। रस जो है अब—

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

इस श्लोक पर एक सूत्र है 'शाण्डिल्य'का।'शाण्डिल्यभक्तिदर्शन' में—

रस शब्दाच्च रागः।

यह जो 'शाण्डिल्य' का सूत्र है न, 'शङ्कराचार्य' भगवान्से थोड़ा प्राचीन है। क्योंकि वे तो ऋषि हैं न! शाण्डिल्य जो हैं, वह महर्षि हैं, महापुरुष हैं। 'व्यास' जो हैं, महर्षि हैं, 'जैमिनी' जो हैं, महर्षि हैं। पर 'गौडपाद' जो हैं वे कोई ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि ये नहीं है, वे तो सिद्ध महापुरुष हैं। 'गौडपाद' भी सिद्ध महापुरुष हैं। 'शङ्कराचार्यजी' सिद्ध महापुरुष हैं और 'शाण्डिल्यजी' ऋषि हैं। तो ऋषिमें और महापुरुषमें थोड़ा भेद होता है।

वे प्राचीन सूत्रकार होनेके कारण उन्होंने 'रस' शब्दका जो अर्थ किया है वह थोड़ा प्रामाणिक होता है। तो क्या है? 'रस शब्दाच्च रागः'। 'शङ्कराचार्य भगवान्'ने 'महर्षि शाण्डिल्य'के सिद्धान्तका जहाँ खण्डन किया है

'ब्रह्मसूत्र'के 'उत्पत्त्यसंभवाधिकरण'में, वे बोले 'चारों वेदोंमें जो बात नहीं मिली उसे 'शाण्डिल्यजी' कहींसे ढूँढ़ ले आये। यह बात जो कही जाती है, उसीसे मालूम होता है कि वे अवैदिक हैं।' ऐसे लिखा है 'शङ्कराचार्य भगवान्ने'। 'आश्चर्यकी बात है कि जो बात चारों वेदोंमें नहीं है, वह ये कहाँसे ले आये?' लेकिन वे बोले—'हम उनकी उपासनाका विरोध नहीं करते हैं। अधिगमनविद्या उपासनाका विरोध नहीं करते हैं। वे जो जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, इस बातका हम विरोध करते हैं। जो ईश्वरकी अनेकता मानते हैं, उनका हम विरोध करते हैं। ईश्वरकी अनेकता 'वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध'—के रूपमें ये चार जो ईश्वर हैं, बात यह है कि यदि आपसमें चारों ईश्वर लड़ जायेंगे तो बड़ी मुश्किल होगी। इसलिए ईश्वर चार नहीं, एक है—यह बात हम कहते हैं।' ऐसे उन्होंने ये सब बात लिखी है।

अब हम आपको—

रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 2.59

'रस शब्दाच्च रागः'। रागकी निवृत्ति नहीं होगी। परमात्माका जो साक्षात्कार हो जायेगा, तब ज्ञानका जो शुद्ध स्वरूप है, परमात्मक उसका बोध हो गया न! तो मालूम पड़ेगा कि कर्म और भोगका संस्कार चेतनमें कहीं पड़ता ही नहीं है। वह तो चेतन, अपनेको शुद्ध चेतन न जान करके, ब्रह्म न जानकर ही कर्मका संस्कार ग्रहण करके स्वयं जो कर्त्ता-पापी-पुण्यात्मा, भोगका संस्कार ग्रहण करके अपनेको सुखी-दुःखी मानता है। असलमें चेतन धातु ऐसी है जिसके साथ रागद्वेषके संस्कार का कोई सम्बन्ध जुड़ता ही नहीं है। इसलिए जब उसका दर्शन होता है तब—'परं दृष्ट्वा निवर्तते'। परमार्थवस्तुका साक्षात्कार होनेपर—

परं आत्मानं दृष्ट्वा यस्य रसोऽपि निवर्तते।

पर माने आत्मा। पर माने आत्मा कैसे? 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।' पुरुषसे परे कुछ नहीं है। तो 'पर' दृष्ट्वा=आत्मानं दृष्ट्वा। आत्मानं ब्रह्म दृष्ट्वा इत्यर्थः। अपने आपको जब ब्रह्म जान लेगा तो कहीं राग उसका नहीं रहेगा। विषयोंमें राग नहीं, इन्द्रियोंमें राग नहीं। अन्तःकरणोंमें राग नहीं, क्योंकि मायामात्र जो अन्तःकरण है, केवल प्रतीतिमात्र, इसमें भी राग नहीं। इसमें भी राग नहीं।

अच्छा, अब आपको इसका एक नन्हा-सा अर्थ सुना दें। नन्हा-सा। नन्हा अर्थ क्या है? 'ज्ञानदेवजी महराज' तो मजेदार गीताकार हैं न 'गीताके'? ऐसा-ऐसा रोचक बोलते हैं, क्योंकि वे लेखक नहीं, बोलक हैं। 'ज्ञानदेवजी महाराज'ने 'गीता' लिखी नहीं है। वे तो सभामें बोलते गये हैं 'निवृत्तिनाथ महाराज'को सुनानेके लिए, वे जो बोलते थे वह 'ओवी'-'तुकारामजी'के अभंग' हैं और ज्ञानदेवजीकी 'ओवियाँ' हैं। तो वे जो 'ओवी' बोलते थे, वही लिखी हुई है।

वे कहते हैं—देखोजी, यहाँ 'रस' शब्दका अर्थ है—भोजनका रस। लो मजा इसका।

'**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**।' तो यह कहाँसे उन्होंने लिया? यह 'भागवत' में है। ये लोग जो महाराष्ट्रके संत हैं, 'समर्थ रामदास', 'ज्ञानदेव' और 'तुकाराम', 'एकनाथ'—ये लोग 'भागवत-सम्प्रदाय'के हैं। तो ये कहते हैं, 'भागवत'में यह श्लोक है—

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

श्रीमद्भागवत 11.8, 20-21

जो निराहार विद्वान् होते हैं, वे जल्दीसे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्तकर लेते हैं। इन्द्रियोंका भोग छोड़ दो, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जायेगी। फिर 'भागवत'ने कहा—

वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ 11.8.20

सारी इन्द्रियाँ भोजन छोड़ देनेसे वशमें हो जाती हैं। पर जिह्वा इन्द्रिय भोजन छोड़ देनेसे वशमें नहीं होती। बल्कि जिह्वा इन्द्रिय तो भोजन छोड़ देनेसे और बढ़ती है। एकादशीको ही प्रोग्राम बनने लगता है कि द्वादशीको क्या भोजन बनेगा? कल कढ़ी-भात बनेगा। 'तन्निरन्नस्य वर्धते।' बोले-भाई, एकादशीको निराहार रहे, तो द्वादशीको कढ़ी-भात? हमारे यहाँ योजना बनती है, पहले ही। अपने यहाँ लोग एकादशी रहते हैं तो पहले ही निश्चय हो जाता है कि द्वादशीको क्या बनेगा? 'तन्निरन्नस्य वर्धते।' यह जिह्वा इन्द्रिय ऐसी छोड़ देनेसे बढ़ती है।

तो भोजन छोड़ना नहीं, उसको नियमित करना चाहिए। और एक बात ऐसी मार्केकी की दी गयी—

तावज्जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ 11.8.21

जब तक मनुष्य जिह्वा इन्द्रियपर विजय प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक दूसरी इन्द्रियाँ काबूमें नहीं होतीं।

जब चक्कीमें झोंक पड़ेगी न, गेहूँकी झोंक चक्कीमें डालते जाओ, चक्की चलती रहेगी। तो उसमें-से आटा निकलेगा कि नहीं? आटा निकलेगा न? इसी प्रकार यदि रसीली-रसीली चीजें यदि मुहँमें पड़ती रहेगीं तो उनसे जो रस बनेगा, वह किसी-न-किसी इन्द्रियसे बाहर तो निकलेगा न! तो—'तावज्जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।' जिसने दूसरी इन्द्रियोंको जीत भी लिया है, वह कबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता? तबतक जबतक जिह्वा इन्द्रियपर विजय प्राप्त न करे। 'जितं सर्वं जिते रसे'। यदि जिह्वा इन्द्रिय वशमें हो गयी, खानेवाली! बोलनेवालीकी बात नहीं है यहाँपर।

खानेवाली जिह्वा इन्द्रिय जबतक वशमें नहीं हो गयी, तबतक दूसरी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो सकतीं। तो 'रसवर्जं।' ये बोलते हैं, निराहार होनेपर जिह्वाको छोड़कर दूसरी इन्द्रियाँ वशमें हो जायेंगी, परन्तु यदि परमात्माका दर्शन हो जाय, तब तो जिह्वा भी वशमें हो जाय और सारी इन्द्रियाँ भी वशमें हो जायँ।

●

: 50 :

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

2.60-61

भगवान् श्रीकृष्णने स्थितप्रज्ञकी समाधिदशाका और व्युत्थानदशाका और भाषणका ठीक-ठीक वर्णन किया। जब उसकी निवृत्तिदशाका वर्णन किया, तब प्रश्न उठा कि ऐसी निवृत्ति तो अज्ञानी भी कर सकता है। उसके निराकरणके लिए उन्होंने बताया कि अज्ञानी मनको चुप तो कर सकता है, तुष्णींभाव तो उसको हो सकता है, परन्तु मनके तुष्णींभाव रागकी निवृत्ति नहीं होती और स्थितप्रज्ञमें राग भी नहीं होता है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। 2.57

वह तो परमात्माको प्राप्त कर चुका है। दुनियाको देखनेमें उसको राग कहाँ? अब यह प्रश्न सामने आया कि परमात्माकी प्राप्तिके बिना, परमात्माके दर्शनके बिना रागकी निवृत्ति नहीं होती और रागकी निवृत्ति हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। तो कैसे करना चाहिए?

एक तो यह प्रश्न हुआ कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करें। जब परमात्माकी प्राप्ति होगी तब रागद्वेष अपने आप ही मिट जायेंगे। इसलिए पहले रागद्वेषको मिटानेके लिए प्रयत्न न करके परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करें। यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ।

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।' 2.59 क्योंकि निःसंकल्प होनेसे, निर्विषय होनेसे और निर्विचार होनेसे, यहाँ तक कि अस्मितारहित होनेसे भी रागकी पूरी-पूरी निवृत्ति नहीं होती। रागकी पूरी निवृत्ति तब होती है जब तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। नित्य प्राप्त जो परमात्मा अविद्याके कारण अप्राप्त मालूम पड़ रहा है, उस अप्राप्तिभ्रमके मूलकारण अविद्याकी निवृत्ति होनेपर ही रागकी निवृत्ति होगी, तो आओ, अविद्याकी

निवृत्ति होगी स्थितप्रज्ञ होनेसे, ज्ञान होनेसे। तो आओ, पहले ज्ञानके लिए ही प्रयत्न करें। यह बात है।

भगवान्‌ने कहा कि ज्ञानके लिए प्रयत्न करोगे तब भी विघ्न तो आवेंगे। उसके लिए क्या करना? यह उपाय पहले सोच लें। देखो, असल बात यह है कि जब आदमी ज्ञान-ध्यान करने चलता है तब उसके जीवनमें चार प्रकारके विघ्न आते हैं। एक तो बैठे ध्यान करने और सो गये। नींद आगयी, तंद्रा आगयी। इसको लय- दोष बोलते हैं। कई लोग तो जहाँ सत्संगमें लाउडस्पीकर बोलता रहता है, वहाँ सो जाते हैं, तो वे अकेलेमें बैठ कर, आँख बंद करके, बिलकुल झुककर जब बैठेंगे, तब उनको नींद आवे तो क्या आश्चर्य है? इसको लयदोष बोलते हैं। तो जब तक अपने ज्ञान-ध्यानमें लयदोष आवे, आपको बताया था, हमारे बाबाके पास एक महात्मा रहते थे।

वैसे मोटा तो मैं भी हूँ; पर वे कुछ ज्यादा ही मोटे थे; नाटे भी थे, मोटे भी थे। तो उनका पेट जो है वह बड़ा भारी लगता था। वे जब बाबाके सामने ज्ञानकी-ध्यानकी चर्चा होती तो अपने पेटका थोड़ा-सा सहारा ले करके सो जाते थे। घर्र-घर्र नाक भी चलती और मुँहसे पानी निकल कर पेटपर बहने लगता। महात्मा थे, माने वेशवाले महात्मा तो थे ही। तो बाबा बीच-बीचमें पूछते कि 'क्यों? सो गये?'

तो बोलते—'ना महाराज! समाधि लग गयी थी।' अब मुँहसे पानी भी बह रहा है, नाकसे घर्र-घर्र भी हो रहा है और कह रहे हैं कि 'समाधि लग गयी है।' देखो, समाधिमें साँस बढ़ती नहीं। मन जब एकाग्र होता है तब साँसकी गति मंद होती है। बढ़ती नहीं और यह जो मुँहसे पानी बहनेवाला जो काम है, वह भी मनकी एकाग्रतामें नहीं हो सकता। सिर जो झुककर पेटकी तरफ चला जाता है, यह भी ध्यानकी दशामें नहीं हो सकता। क्योंकि ध्यानकी दशामें तो सत्त्वका संचार होता है, तमका नहीं और ये सब तो तमोगुणके लक्षण हैं।

लयदोषसे बचनेके लिए मनुष्यको जीवनमें धर्मात्मा होना जरूरी है। धर्मरूप जो साधन है न, संध्यावन्दन। ठीक समयसे प्रात:काल उठ रहे हैं, संध्यावन्दन कर रहे हैं। सिले हुए कपड़े शरीरपर नहीं हैं। सुबहकी थोड़ी गुलाबी ठंड लगती है, थोड़ा आचमन भी करते हैं, थोड़ा मार्जन भी करते हैं, थोड़ा प्राणायाम भी करते हैं। अब वह आरामकुर्सीपर लेटकर जब ध्यान करने लगे तो

ोड़ी घर्र-घर्र हो जाये तो क्या आश्चर्य है? घरघराहट जो है, आवाज आती है। ाजगी लानेके लिए स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासनसे बैठना जरूरी है। ीठकी रीढ़ सीधी रहे। आँख चाहे प्रतिपद दृष्टि हो=आधी खुली हो, अमावृति हो=बंद हो, पूर्णा हो=खुली हो। लयदोषकी निवृत्तिके लिए बहिरंग साधनकी, बाह्य साधनकी जरूरत पड़ती है।

दूसरा दोष है विक्षेप। विक्षेप दो तरहका होता है—एक सकषाय, एक निष्कषाय। तो कषाय क्या है? रंग=कसैलापन। वह क्या? राग-द्वेषसे किसकी ओर मन आता है बिना राग-द्वेषको निवृत्त करनेवाली है उपासना। जब परमेश्वरकी भक्ति होगी, तब अन्त:करणमें जो राग-द्वेषकी मैल लगी है, वह छूटेगी।

यह उपासना दो तरहकी होती है—'त्वं'-पदार्थ-प्रधान उपासनाको 'अहंग्रह उपासना' कहते हैं। निराकार उपासना जो है, वह चिंतनरूप उपासना है। यह राग-द्वेषको निवारण करने वाली है। अब यदि बिना रागद्वेषका मनोराज्य होता होवे तो? तो वह योगाभ्यासके द्वारा दूर होता है। ये तीन दोषकी बात हो गयी। 1. लयकी निवृत्ति धर्मानुष्ठानके द्वारा, 2. राग-द्वेषरूप विक्षेपकी निवृत्ति अहंग्रह उपासना अथवा परोक्ष ईश्वर उपासना, इसके द्वारा। और 3. समाधि लगानेसे कषायरहित जो राग-द्वेष है उसकी निवृत्ति होती है। ये मैल हैं चित्तके सब।

अब इसके बाद ध्यानमें एक दोष आता है। वह क्या है? उसका नाम है 'रसास्वाद'। मजा लेना। तो वेदान्तियोंके ध्यानमें मजा लेना नहीं है। क्योंकि मजा लेनेसे भोक्ताभाव जो है वह प्राप्त होता है। बड़ा मजा आ रहा है। मजा लेनेवाला मैं हूँ और आनेवाला मजा है। तो यह जो मजाका आस्वादन है। यह वेदान्तके ध्यानमें ग्राह्य नहीं है। भक्तिके ध्यानमें तो ग्राह्य है, परन्तु ज्ञानके ध्यानमें यह ग्राह्य नहीं है। क्योंकि वहाँ तो भोक्तापन जो है, वह अविद्याका ही विलास है। इसलिए—

नास्वादयेत् सुखं तत्र नि:संग प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरं चित्तं एति कुर्यात् प्रयत्नत:॥

न चित्तमें निश्चरण होवे, न निश्चल होवे। इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकल करके जाना तो निश्चरण है और बाहरको न जाय, भीतर-ही-भीतर हिले जैसे

दीपक हिलता है तो यह निश्चलन है। तो निश्चलन भी न होवे और चलन भी होवे। आत्मासे भिन्न होकर चित्त दिखायी भी न पड़े। और भोक्तापन भी न होवे रसास्वादनकी निवृत्ति कैसे होती है? इसलिए बताया कि—

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

यदि पर तत्त्व द्रष्टाको—

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

यदि परमात्माका दर्शन हो गया तो रसास्वादनरूप दोषकी भी निवृत्ति हो जायेगी। कई लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि रसकी निवृत्ति, रागकी निवृत्ति परमात्माके दर्शनसे ही होगी। तो आओ, रागकी निवृत्तिके लिए उपाय न करें, परमात्माके दर्शनके लिए ही उपाय करें।

अच्छा, परमात्माके दर्शनके लिए उपाय करोगे तो उसमें भी तो साधन करना पड़ेगा। क्योंकि; अविद्याकी निवृत्तिके लिए साधन तो करना ही पड़ेगा। यह अपने आप मिटनेवाली चीज नहीं है। अनादिकालसे अबतक यह अपने आप नहीं मिटी, तो अब उसे अपने आप मिटनेके लिए क्यों छोड़ते हो? अपने आप मिटनेके लिए तो दुनियामें क्या-क्या छोड़ते हो? दुकान अपने आप लाभके लिए छोड़ देते हो? खेती अपने आप लाभके लिए छोड़ देते हो? रोग अपने आप निवृत्त होनेके लिए छोड़ देते हो?

अविद्या सरीखी गंदगीको, मैलको, बेवकूफीको अपने आप निवृत्त होनेके लिए क्यों छोड़ते हो? इसके लिए प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। वह बात आपके ध्यानमें होगी न? ये काम-क्रोधादि जो हैं, ये तो अन्तःकरणके हैं। जो निःसंकल्पता है और सदाचारता है, ये दोनों अन्तःकरणके आकार हैं। शुद्ध-अशुद्ध अन्तःकरणमें कोई भी आकार आवे, तब अन्तःकरण साफ-साफ मालूम पड़ता है।

कामक्रोधादि तो मलदोष हैं और संसारमें तो घटाकारता-पटाकारता आदि हैं, ये क्या है? ये अन्तःकरणके आकार हैं। और 'अविद्या' नामकी अन्तःकरणमें परमात्मासे अलग एक वस्तु है। ऐसा मालूम पड़ता है। हैं न! भ्रान्तिके कारण परमात्मासे पृथक् अन्तःकरण अपना अस्तित्व रखता है, ऐसा जो ज्ञान है, यह ज्ञानका दोष है। यह अज्ञान है, यह भ्रान्ति है। परमात्मासे पृथक् कोई अन्तःकरण नामका परिच्छिन्न पदार्थ नहीं है। एक! और जब परिच्छिन्न

पदार्थ ही नहीं है, तो उसमें तत्तदाकारता भी नहीं है, तो उसमें मैलका तो कोई सवाल पैदा नहीं होता। पर क्रम यह है कि पहले मैलको - मल मिटाओ, फिर विक्षेपको मिटाओ, फिर आवरणको भंग करो। तो—

1. धर्मानुष्ठानके द्वारा मलका नाश, चाहे वह श्रावणादिरूप ही क्यों न होवे! धर्मके लिए श्रावण भी करते हैं। श्रवणसे भी धर्म होता है। इससे मलका नाश। 2. तदाकारवृत्तिसे विक्षेपका नाश। 3. अपने स्वरूपके ज्ञानसे आवरणका नाश। इससे तो अन्त:करणका पृथक् अस्तित्व ही भंग हो जाता है। तो जो लोग क्रमसे साधन करते हैं, वे तो आगे बढ़ते हैं। देखो, भगवान्‌की भक्ति करनेसे रागद्वेषादि दोषका नाश, योगाभ्यास करनेसे अन्त:करणमें तत्तदाकारता आती है, इससे विषयाकारताका नाश और अपने स्वरूपके ज्ञानसे आवरणका भंग। ये सब साधनका क्रम है।

अब तुम ऐसा कौन-सा साधन करोगे कि रागद्वेषकी तो निवृत्ति न हो, और ब्रह्माकारवृत्ति हो करके ज्ञानका नाश हो जाय? कौन-सा ऐसा-वैसा साधन करोगे? वह कौन-सा साधन है जिसमें घटाकारवृत्ति तो छूटे नहीं, स्त्री-पुरुषाकारवृत्ति तो छूटे नहीं और अविद्याका नाश हो जाये? ऐसा कोई उपाय बताओ। ब्रह्माकारवृत्ति भी तो एक वृत्ति है न !

जब घटाकारवृत्ति हटेगी, तब ब्रह्माकार वृत्ति हटेगी, तब न ब्रह्माकारवृत्ति होगी? तो इसका मतलब यह हुआ कि जो साधनके क्रमको सीख करके नहीं करते हैं, वे गड़बड़ा जाते हैं। सीधी बात यह है।

आनन्दका अनुसन्धान करनेसे कि आनन्दका स्वरूप क्या है, संसारमें वैराग्य होता है। संसारमें आनन्द कहीं नहीं है। जब आनन्द नहीं होगा तो वैराग्य हो जायेगा अपने आप ही संसारसे। आनन्दस्वरूप तो एकमात्र परमात्मा है।

अपने चित् स्वरूपका अनुसंधान करनेसे संसार जड़ हो जायेगा। तुम असंग हो जाओगे और जब सदसत्‌का अनुसंधान करोगे, तो संसार असत् हो जायेगा। तो अपने आत्माकी आनन्दरूपताका अनुसंधान करनेसे चित्तमें वैराग्य और अपने असंग चित्तस्वरूपताका अनुसंधान करनेसे संसार जड़, और उसमें कहीं कुछ रागद्वेष नहीं। और फिर अपने सत्स्वरूप अविनाशी द्रष्टास्वरूपको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य—ये सजातीय-विजातीय-स्वगत तीन वस्तुके भेद हैं।

बाहर-भीतर और बीचमें ये देशका भेद है, और पहले-पीछे और वर्तमान ये कालका भेद है। ये चारों बात जीवनमें नहीं होवे तो यह परमार्थ चिन्तन की बात। तो कालके भेदसे रहित=पहले-पीछे-अबके भेदसे रहित। बाहर-भीतर अन्तरालके भेदसे रहित और सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे=वस्तुभेदसे रहित प्रिय आत्माका चिन्तन होता है न! तो आत्माके सिवाय सत् दूसरा कोई नहीं है। इसलिए प्रपञ्च बाधित रह जाता है।

आनन्दस्वरूपका विरोधी दुःख है। चित् स्वरूपका विरोधी जड़ है और सत्का विरोधी असत् है। परन्तु असत् तो कुछ है ही नहीं। वह विरोध क्या करेगा? इसलिए आनन्दका विरोधी दुःख नहीं है और चित्का विरोधी जड़ भी नहीं है। और सत्का विरोधी असत् भी नहीं है। असत् तो कहते ही उसको हैं जो न हो। यह है साधनकी प्रणाली।

बोले—भाई, हम राग-द्वेषको दूर किये बिना ही परमात्माको प्राप्त करनेके लिए चलते हैं। तो देखो, उसमें क्या विघ्न पड़ता है, सो बतावें और उस विघ्नको कैसे दूर करना चाहिए? इसके लिए ये दो श्लोक इकट्ठे हैं—'इन्द्रियवशीकरण-मूलक स्थितप्रज्ञता' इसको बोलते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

2.60-61

इन्द्रियोंको वशमें करो और परमात्माका दर्शन करो। तब रागकी जड़ जो है, वह नष्ट हो जायेगी। इन्द्रियोंको वशमें किये बिना तो ज्ञान ही नहीं होगा। और ज्ञान नहीं होगा तो राग कहाँसे मिटेगा?

इसलिए पहले इन्द्रियोंको वशमें करो, परमात्माका ज्ञान प्राप्त करो। तब प्रपञ्चका मूल जो है वह कट जायेगा। इन्द्रियाँ कैसे विघ्न डालती हैं वह बताते हैं—

'कौन्तेय! बड़ी तीक्ष्ण बुद्धिवाला मेरा प्यारा-प्यारा अर्जुन! कौन्तेय! तुम्हारी बुद्धि तो प्रशंसा करने योग्य है।' कैसे! तुमने यह प्रश्न कर दिया न, कि फिर परमात्माको ही प्राप्त करें! राग मिटाने कौन जाये? कुन्त सरीखी तुम्हारी

बुद्धि है। तुमने बढ़िया बात कही, परन्तु जब, विपश्चित पुरुष प्रश्न करनेके लिए चलता है—अब यहाँ 'विपश्चित' शब्दका अर्थ देखो। विपश्चित!

जो अधिकारी नहीं है, मोक्ष जो है वह इन तीन पुरुषोंको—

विरक्तस्य मोक्षाधिकारियोऽपि।

जो विरक्त है न, मोक्षका अधिकारी मुमुक्षु पुरुष है, बोले—चाहता तो है मोक्ष, लेकिन, समझ कुछ न हो। तो बोले—'विपश्चितः'। समझदार भी होवे।

वि प्रकृष्टं पश्यति चिनोति, चिन्तयति। चेतति इति विपश्चितस्य विपश्चितः।

जो दूर की कौड़ी ले आवे, दूरकी चीजको देख ले, दूरकी चीजको समझ ले, दूरकी चीजको प्रकाश दे उसका नाम 'विपश्चित' है। सुन ले, जो दूर-दूरकी चीजको सुन ले, उसका नाम विपश्चित है। पर जो कामी है, वह विपश्चित नहीं है। यह बात आप पहले सुन चुके हैं।

यामिमां पुष्पिता वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। 2.42

जो कामी है वह तो अविपश्चत है और जो निष्काम है वह विपश्चित है। तो यह मुमुक्षु मोक्षका भाजन है। निष्काम है और प्रयास भी कर रहा है। ईमानदारकी बात कर रहे हैं, बेईमानकी नहीं। यततः=यतमानस्य। ईमानदारीसे कोशिश कर रहा है; क्योंकि ईश्वरके दरबारमें बेईमानी नहीं चलती। राजाके दरबारमें बेईमानी चल सकती है, सेठके दरबारमें बेईमानी चल सकती है, अदालतमें बेईमानी चल सकती है, लेकिन ईश्वर तो अपनी अन्तरात्मा है न! अपने साथ कोई बेईमानी नहीं कर सकता है। सबसे बढ़िया बात है कि जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धिमें बैठ करके आप अपना निरीक्षण करो कि आप ईमानदारीसे ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए साधन कर रहे हो कि कहीं उसमें है कुछ?

हमको एक अफसरने बताया कि जब हमको मुजरिमसे जुर्म कबूल करवाना होता है, माने जब हम अपराधीसे उसके अपराधकी स्वीकृति लेना चाहते है तो 10-11 बजे रातको उसको लेकर बैठते हैं और डाँटते हैं, फटकारते हैं और भय दिखाते हैं और लालच भी दिखाते हैं। तो वह तो दिनभरका थकामादा रहता है। बारह बजे, एक बजे-दो बजे तक, जब उसको खूब नींद आने लगती है और मनकी पकड़ जब उसकी ढीली पड़ जाती है, कहता है कि भाई, कैसे भी, चलो कबूल करके सो जायँ। आराम तो मिलेगा। उसके मनमें यह आता है कि अच्छा, स्वीकार करके यह झगड़ा काटो, कबूल करके अब सो

जायेंगे। तो दो बजे-तीन बजे तक वह स्वीकार करता है कि नहीं कि अपराध किया है—यह मनोवैज्ञानिक रीतिसे लोगोंसे अपराध स्वीकार करानेका काम करते हैं। आदमी जब जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धिमें नींद तो अभी आयी न हो और जाग्रत्का घोटाला कम हो गया हो और नींद टूट गयी हो, अभी व्यवहार मनमें आया न हो, वहाँ—

सुप्त प्रबोधयो स्कन्धौ आत्मनो गति आत्मदृक्।

सुषुप्ति और जाग्रत्की सन्धिमें मनुष्यको आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि हम जिस दिशामें चल रहे हैं, उस दिशामें ईमानदारीसे चल रहे हैं कि हमारे भीतर बेईमानी समायी हुई है। आदमीकी पहचान कैसे होती है? वह क्या करता हुआ सोता है और जागकर क्या करता है? तत्काल उसके मनमें क्या बात आती है? जागते ही पहले किसकी याद आती है? ईश्वरकी याद आती है? गुरुकी याद आती है? शास्त्रकी याद आती है? वेदान्तकी याद आती है? ठीक नींद टूटी तो कौन-सी चिंता पहले तुम्हारे मनमें आती है। सोते हो तो क्या सोचते हुए सो जाते हो? इसका दस-पाँच दिन अनुभव अनुसंधान करके देखो। तुम्हारे मनकी जो पोलपट्टी है न, वह तुम्हारे सामने आवेगी।

क्या परमात्माकी याद करते हुए सोते हो? क्या परमात्माकी याद करते हुए जागते हो? कौन-सी चिंता है जो तुम्हारे मनपर हावी है? यतता ह्यपि-यतमानस्य अपि। यततो=यतमानस्य शब्द ही संस्कृतमें ज्यादा चलता है। आत्मपनेपदी धातु होनेसे यतते-यतमानः। बोले, कोई बात नहीं, यततिसे भी यतमानः बना लें। तो 'यततो ह्यपि'= प्रयत्न कर रहा है कि परमात्माका दर्शन होवे और मुमुक्षु भी है और समझदार भी है। अपनी ओरसे उसकी कोई खास गलती देखनेमें नहीं आती; लेकिन—

इन्द्रियाणी प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। 2.60

ये इन्द्रियाँ झकझोर देती हैं जीवनको। प्रमाथीनि=रग-रगको, नस-नसको हिला देती है। प्रमथनशीला हैं। प्रमाथी=प्रमथनशील हैं। जैसे मथानी लेकर दहीमें चलाते हैं, तो दहीके कण-कणको हिला देती है मथानी। वैसे ये इन्द्रियाँ जो हैं, वे साधक पुरुषकी नस-नसको, एक-एक इन्द्रियको, कण-कणको, हाथ-पाँव, जीभ-जबान सबको हिला देती है। एक तरहकी सनसनी दौड़ जाती है, सनसनी दौड़ जाती है। इन्द्रियाँ मनके भीतर बड़ी भारी बेकली भर देती हैं।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि=प्रमथनन्ति, मथनन्ति, यह प्रथम मथन है न, उनका? देखो, समुद्रमें भी जब प्रथम मथन होता है, प्रमाथीनि। प्रथम मंथनमें क्या निकलता है समुद्रमें-से? है याद, है किसीको? जहर। दूधके समुद्रका प्रथम मंथन होता है तो उसमें-से हलाहल विष निकलता है। ये हमारे हृदयको प्रथम मन्थन देनेवाली कौन हैं? इन्द्रियाँ विषयोंका जो इन्द्रियोंके साथ संयोग है, इससे बचना आवश्यक है।

जिसके मनमें कोई मन्थन नहीं है, उसके मनमें प्रथम मंथन उत्पन्न करके विषयाभिमुख कर देती हैं। विषय=विषं याति। यातवति-जो विषयके साथ पहुँचा दे उसका नाम *'विषय प्रापयति इति विषय:। विष+य=विषय। य=प्रापणे, याति, प्रापयति। विषं याति। प्रापयति*=जो विषके पास पहुँचावे उसका नाम विषय। निहन्ति विषमत्तारं।

परन्तु विष और विषयमें थोड़ा फरक है। क्या? विष तो उसको मारता है जो खावे। और विषय? 'स्मरणादपि'=विषय तो याद करनेसे ही मार देता है। विष खानेपर मारता है और विषय तो याद करनेसे ही मार देता है। इसलिए भाई! ये इन्द्रियाँ विषयदेशमें पहुँचानेवाली हैं। विषयदेशमें पहुँचानेवाली! ये इन्द्रियाँ विषयदेशमें पहुँचानेवाली हैं। ये जाती हैं बाहर और मारती हैं भीतर। चोट करती हैं भीतर। कामको ले जाती है बाहर और चोट करती है कलेजेमें।

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्। भागवत 11.9.27

इनका छुरा बड़ा तेज। तो,

'निहन्ति विषमत्तारं विषयाः स्मरणादपि।'

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि—यह प्रथम मन्त्र है इसका। वह जब कभी आवेगा न, तो मनके लिए भी आवेगा न?

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्य अहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 6.34

कभी ऐसा प्रसंग शब्दका वैसा अर्थ है न, वह उसमेंसे निकलेगा। पर वह तो अकेला, पर ये तो बहुत महाराज!

'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि' बहुत बलवान् हैं न?

बह्वयः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ (भागवत 11.9.27)

जैसे एक पुरुषकी बहुत पत्नियाँ हों, सौतें हों और कोई दुपट्टा खींचे कोई

चोटी खींचे, कोई हाथ पकड़े, कोई पाँव पकड़े कि हमारे घर भोजन करनेके लिए चलो, अब वह अकेला पुरुष बेचारा क्या करे? तो—

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षतिकर्हि तर्षा। (भागवत 11.9.27)

जिह्वा एक ओर ले जाती है, आँख एक ओर ले जाती है, जैसे दस घोड़े किसीके रथमें जुते हुए हों और वे दस ओर यदि घसीटने लगे तो क्या दशा उसकी होगी? है न? इसका नाम 'प्रमथन' है। प्रमथनन्ति।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। 2.60

देखते ही रह जाओ टुकुर-टुकुर! ये मनको लूट ले जाती हैं। डाकू हैं डाकू! 'हरन्ति' शब्द है 'ह्री' धातु है न, हरणार्थक। इसका अर्थ है, आदमी जागता है। सोनेपर ले जाय वह तो चोर डाकू नहीं। लेकिन सोते हुएको वह छेड़छाड़ भी नहीं करती है।

अगर सुषुप्तिमें रहो बिलकुल तो इन्द्रियाँ—इनका यह धर्म है, इन्होंने अपना यह नियम बनाया है कि हम सोते हुएको नहीं छेड़ेंगे। अच्छा, दूसरी तरफ उसका ध्यान हो तो? तब भी नहीं छेड़ेंगे। तब भी नहीं है। ध्यान हटा करके भी मनको नहीं हरते हैं। और सोते समय भी मनको नहीं हरते हैं। तब कब करते हैं?

जब आदमी सावधान हो, जाग रहा हो। हमने तो डाका पड़ते देखा है। दस आदमी हम बैठकर गप हाँक रहे आपसमें, देख रहे, डाकू ले-लेकर बंदूक आ गये। बोले—'बैठो, जाके वहाँ बैठे रहो, मारनेके लिए नहीं आये हैं। मंदिरमें जो लाखों रुपयेका सामान है वह हम ले जायेंगे, हम धनके लिए आये हैं साधुको मारनेके लिए नहीं आये हैं।' तो ये इन्द्रियाँ जो हैं, ये साधनका धन छीन लेती हैं। डाकू हैं, चोर नहीं हैं। ये ठग नहीं हैं। ये हरन्ति—ये आँखके सामने-प्रसभं और सो भी आया डाकू और बोले कि 'देखो, भाई! हमारे पास जो कुछ है सो दे देते हैं, ले जाओ।' बोले—'नहीं, दिया हुआ लेना डाकूका धर्म नहीं है। हम तो छीनकर ले जायेंगे।' प्रसभं माने? हरन्ति प्रसभं। प्रसभं=हाठात्, बलात्, जबरदस्ती। हठसे, बलसे। प्रसभं=भरी सभामें। 'प्र' उपसर्गको अलग करके देखो—'सभं'। तब पता निकलेगा—उसमेंसे-'प्रसभं=भरी सभामें। भरी सभामें मनको चुरा करके ले जानेवाली हैं, सावधान! *तेरी गठरीमें लागा चोर बटोहिया क्या सोवे?* अरे ओ! बटोही। ओ यात्री! क्यों सो रहा है? तेरी गठरी लूटनेके लिए आ गया।

मुसाफिर! रैन रही अब थोरी।

जिन्दगीके **थोड़े** दिन बाकी हैं। मुसाफिर! रैन रही थोड़ी।

जागु जागु सुख नींद त्याग दै होते वस्तुकी चोरी
मुसाफिर! रैन रही अब थोरी।

अब क्या सोवे सखि जाग जाग। जागो, जागो! अच्छा, तो जागकर क्या करें? जाग तो रहे हैं। ईमानदार मोक्षको चाहते भी हैं। समझते भी हैं, कोशिश भी करते हैं। तब भी तो ये इन्द्रियाँ जबरदस्ती हमारे मनीरामको लिये जा रही हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्॥

कामान् यत् कामयते। तो देखो आप, बताते हैं कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना है, तो राग जो है! इन्द्रियाँ धोखा न दें, इसके लिए क्या करना चाहिए?

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। 2.61

इन्द्रियोंको वशमें करनेकी पूरी, युक्ति इसमें बतायी है—'तानि सर्वाणि संयम्य'।

एक तो तानि=इन्द्रियाणी हैं। दूसरे 'संयम्य'—उन इन्द्रियोंका संयम करो। जैसे यमराज हाथमें डंडा लेकर फंदा ले करके, यमका 'पाश' मशहूर है। यमका फंदा। जैसे यमराज हाथमें पाश ले करके और यमदण्ड ले करके और पापी पुरुषोंका दमन करता है, ठीक इस प्रकार हाथमें डण्डा ले करके इनका दमन करना चाहिए। दमन=संयमन-संयमन करना चाहिए। जैसे कोई दस घोड़ोंको चला रहा हो रथपर बैठ करके और सब घोड़ोंकी लगाम अलग-अलग हों तो सबकी लगाम अपने हाथमें रख करके-संयमन बोलते हैं उसको-जो घोड़ोंकी बागडोर हैं न? उन बागडोरोंको, उन लगामोंको बाँये हाथमें ले करके संयम करना और दाहिने हाथमें चाबुक रखना। यह तो श्रीकृष्ण अपना ही दृष्टान्त दे करके बताते हैं।

संयम्य, अश्वान् संयम्य। जैसे मैं तुम्हारे घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें रख रहा हूँ, वैसे तुम अपने इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें कर लो।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।

इन्द्रियाँ जो हैं वे घोड़े हैं। उनको अपने काबूमें करो। तो एक तो इन्द्रियाँ जो हैं, उनको छुट्टी नहीं देना और किसी इन्द्रियको नहीं देना, सर्वाणिका अर्थ यह है कि किसी इन्द्रियको। बोले—'अच्छा भाई, कानसे तो किसीकी बात नहीं सुनेंगे, आँखसे देखेंगे।'

'तुम्हें मालूम है, तुम्हारे बाप जब बन्द कमरेमें बैठते हैं तब तुम्हारे बाप और तुम्हारी माँ क्या काम करते हैं?' बोले—'राम-राम! हमारे गुरुजीने कहा है कि जब तुम्हारे माँ-बाप एकान्तमें बैठ करके आपसमें बात करते हों, तो उनकी बात मत सुनना। हमको गुरुजीने मना कर दिया है। हम नहीं सुनते हैं।'

बोले—'अच्छा, नहीं सुनते हो तो ठीक है, सुननेको ही मना किया है न?' 'हाँ'। तो बोले—वह जो छेद दिख रहा है न, उसमेंसे अपनी आँखसे ही देख लिया करो। सुनते नहीं हो तो आँखसे देख लिया करो।' आयी बात? बना कुछ? जो बात सुनना मना है, उसको देखना तो नितांत मना हो गया न? जो बात सुनना मना है, वह बात देखना तो बिलकुल मना है। तो एक इन्द्रियको बंद करोगे और एक इन्द्रियको लगाओगे तो जो चीज सुननेसे आनेवाली थी, वह चीज देखनेसे तुम्हारे मनमें आ गयी? क्या अच्छी बात आवेगी? तो—

ये संसारके जो विषय हैं भाई, इनकी चर्चा सुनो तो कलेजेमें घुसें, इनको आँखसे देखो तो कलेजेमें घुसें, इनको छुओ तो कलेजेमें घुसें और फिर मनमें तो रागद्वेष ही उत्पन्न करते हैं। कोई शान्ति और समाधि तो देंगे नहीं।

तुम चले थे शान्ति और समाधि प्राप्त करनेके लिए और मनमें बसा लिया राग-द्वेष। ये इन्द्रियाँ मनका जो हरण करती हैं, लूटती हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि कलेजेमें-से निकालकर कहीं परदेश भेज देती हैं। पार्सल कर देती हैं सो बात नहीं है। जहाँ मन रहता है, वहीं अशान्ति, वहीं राग, वहीं द्वेष, वहीं मोह, वहीं लोभ भर देना, यही तो उनको लूटना है। तो क्या करना? दो उपाय बताते हैं। देखो—

युक्त आसीत मत्परः। युक्त आसीत और मत्परः आसीत। एक तो बाहरकी इन्द्रियाँ हैं उनको बाहर जानेसे रोको। हमने देखा, एक आदमी कहता था कि—'स्वामीजी! देखनेमें क्या नुकसान है?' बोले—'ठीक है।' थोड़े दिनके बाद उसने कहा कि—'देखनेमें तो मालूम पड़ता है, थोड़ा-बहुत कोई नुकसान नहीं है। कोई खास बात नहीं है। बात करनेमें क्या हानि है?' तो बात

भी करने लगा। फिर कहा कि 'आप लोगोंके सिरपर पाप ही सवार रहता है हर समय। छूनेमें क्या हानि है?' तो आँखसे देखने लगा, मुँहसे बात करने लगा, हाथसे छूने लगा, अब बादवाली बात आप लोगोंको सुनानेकी कोई जरूरत नहीं। यह तो बाबा—

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते। भागवत 5.6.3

यह तो भागवतका श्लोक है। जबतक मन अनवस्थित है, माने चंचल है तबतक किसीके साथ मित्रता नहीं जोड़नी चाहिए। ये संसारके विषयके साथ दोस्ती नहीं करनेकी।

यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥ भागवत-5.6.3

इस मनपर विश्वास करनेके कारण शंकर भगवान्को मोहनीके पीछे-पीछे भटकना पड़ा।

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः। भा. 5.6.4

यह मन जो है, अपने घरमें रहनेके लिए कामको जगह देता है—'ऐ काम! तुम यहाँ रहा करो और उसके बाद कामके पीछे चलनेवाले जो दुश्मन हैं सो आजाते हैं। इसके लिए सावधानी करना क्या? इन्द्रियोंके रास्तेसे तो इन लोगोंको भीतर घुसने मत दो। और कहीं भीतर पहलेसे बैठे हुए हों और निकल आवें तो? 'युक्त आसीत।'

सावधान रहो! अच्छा, वे कुछ ज्यादा जबरदस्त हों तो? बोले—पहलेसे पुलिसको सूचना दे दो। हुई न यह बात? दरवाजे तो बन्द करो।

इन्द्रियाणि=तानि सर्वाणि संयम्य।

यह क्या हुआ? दरवाजा दृढतासे बंद करना। ताला लगाकर रखो। और 'युक्त आसीत' माने डण्डा लेकर हाथमें बैठो। सावधान रहो! 'मत्परः' माने? राजाके पास खबर भेज दो। 'मत्परः'। राजाके पास रिपोर्ट पहलेसे रहनी चाहिए। अपनी ओरसे सावधानी रहनी चाहिए और दरवाजे बन्द रहने चाहिए। फिर बात करो तो डाकू तुम्हारे घरमें नहीं घुसेंगे। 'युक्त आसीत मत्परः।'

इनमें-से कौन-कौन-सी बात आपको विस्तारसे बतावें? 'युक्त आसीत मत्परः।' 'मत्परः' का दोनों तरहसे अर्थ है—'तत्' पदार्थ-प्रधान अर्थ भी है और 'त्वं' पदार्थ-प्रधान भी। वस्तु तो एक ही न वह! 'तत्' पदलक्ष्यार्थ भी ब्रह्म

ही है और 'तत्' पदलक्ष्यार्थ भी ब्रह्म ही है। तो लक्ष्यार्थमें जहाँ एकता है, वहाँ किस वाक्यार्थमें उसका चिंतन करें? यह आग्रह नहीं होता है। 'तत्' पदवाक्यार्थमें चिंतन करते हों तो उसका नाम 'भक्ति' हो जाता है। और 'त्वं' पदलक्ष्यार्थमें उसका चिंतन करते हों तो उसका नाम 'अहंग्रह-उपासना' हो जाता है। बस, इतना ही फर्क है।

'मत्पर: माने 'अहं वासुदेव: ईश्वर: पर: इष्ट: यस्य'=जो मुझ वासुदेवको ही अपना इष्ट-सा मानता है, मेरे ऊपर भरोसा रखता है। भगवान् हमारी रक्षा करेंगे, यह जैसे राजाको सूचना देना हुआ। और 'मत्पर: अहमेव साक्षात् परब्रह्म'='मैं ही साक्षात् परब्रह्म वासुदेव मैं ही हूँ'—इसमें इष्टमें परायण हो करके, निष्ठावान् हो करके बैठा हुआ है यह भावना है। बोध होनेपर भावनाकी जरूरत नहीं रहती है।

सोऽहं विचारो वसुरात्मभावे साहाय्यकारी परमार्गणस्य।
बुद्धे तु तत्त्वे स पुनर्निरर्थो यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य॥

जबतक देहाभिमान होवे, तबतक परमात्माको ढूंढ़नेके लिए 'सोऽहं' का विचार करना चाहिए। 'बुद्धे तु तत्त्वे स पुनर्निरर्थो यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य'—

'**यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य**'—जब बोध हो गया, अविद्याकी निवृत्ति हो गयी, बोले—अब दुहरानेकी जरूरत नहीं है। जैसे तुम अपनेको मनुष्य जानते हो तो 'मनुष्योऽहं-मनुष्योऽहं-मनुष्योऽहं' दुहराते हो? नहीं दुहराते हैं—'यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य'. पर यदि यह भ्रान्ति हो कि—'मैं पशु हूँ' यह भूल हो गयी हो कि 'मैं पशु हूँ'—तो जबतक पक्का न हो तबतक 'मैं मनुष्य हूँ'-'मैं मनुष्य हूँ'- 'मैं मनुष्य हूँ'-यह दुहराओ और जब पक्का हो जाय, तो दुहरानेकी जरूरत नहीं है।

तो 'मत्पर: ' का अर्थ है, परमार्थनिष्ठ हो करके रहना। भरोसा ईश्वरका रखना, अपनेमें आत्मस्थिति=ब्राह्मस्थिति प्राप्त करके रहना। आत्मस्थिति='त्वं' पदार्थमें स्थिति प्राप्त करके रहना और युक्त रहना। अब युक्त रहना क्या है?

'युक्त आसीत'। बैठो। बैठनेका ढंग बताते हैं—'युक्त आसीत।'—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥ गीता 6.17

भोजनमें युक्त, विहारमें युक्त—'युक्ताहार विहारस्य'—यह नहीं कि काम

ही करने लग गये तो करते ही गये। यह भी ख्याल रखना कि कल भी करना है। तो थोड़ा विश्राम भी करना चाहिए। सोना भी कर्मका ही अंग है। जो सोवेगा नहीं, वह आज तो काम कर लेगा, पर कल कैसे करेगा? तो 'युक्त चेष्टस्य कर्मसु'। 'युक्तस्वप्रावबोधस्य'—समयसे जागो, समयसे सोओ। तब तुम्हारा साधन फलप्रद होगा। बोले कि नहीं, आज ही हम सब करेंगे।' बोले—'गरीयरा बैल'—'चले तो चले, नहीं मेड़ ही उड़ा दे।' ऐसा बोलते हैं गाँवमें। जो काम न करनेवाला निकम्मा बैल होता है न, वह जब चलता है, तब तो बड़े जोरसे भागता है और नहीं तो बैठ जाता है। बिलकुल चलता ही नहीं है। तो साधन भी गरीयरा बैलकी तरह नहीं करना चाहिए कि आज ही दस लाख जप कर लेंगे तब सोवेंगे। अरे, फिर तो पाँच-छह दिनके लिए बंद हो जायगा और पाँच हजार करोगे तो? कल भी पाँच हजार होगा, परसों भी पाँच हजार होगा। तो 'गरीयरा बैल चले तो चले, नहीं तो मेड़ उड़ा दे।' तो ऐसा नहीं करना चाहिए। कायदेसे करना।

अब देखो, 'युक्त'की बात आपको बताते हैं। मनुष्य 'युक्त' कब होता है?

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

गीता-6.18

देखो, 'युक्त'का अर्थ ढूँढ़नेके लिए कहीं डिक्शनरी देखनेकी जरूरत है? किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं। भगवान्‌ने कह दिया कि जब चित्त बिलकुल विनियत हो करके विशेषरूपसे नियत हो करके 'आत्मनि एवावतिष्ठते'= अपनेमें रहता है, घरसे बाहर नहीं जाता है। तुम्हारा मन कलेजेमें रहता है कि कलेजेसे बाहर घूमता रहता है? मनका एक गोलक है न? जैसे पैसा रखनेका गोलक होता है, जैसे आँखकी पुतली है न, उसके रहनेका गोलक है। ऐसे शरीरमें मनके रहनेका भी एक गोलक है।

जब चित्त तुम्हारा अपना घर छोड़कर बाहर न जाय और 'निःस्पृह सर्वकामेभ्यो'=भोगकी वासना नहीं है। तब? 'युक्त इत्युच्यते तदा'=तब मनुष्यकी संज्ञा होती है 'युक्त' उसका नाम है 'युक्त'। 'युक्त आसीत मत्परः'।

वैसा थोड़ा इससे हल्का बतला देते हैं। यह 'युक्त' तो भारी मालूम पड़ता है न ? थोड़ा इससे हल्का—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विभोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

युक्त कौन है? शरीरमें-से निकलनेसे पहले आप लोग इसका जबाब जानते हो, तो अपने मनमें रखें। हम इसका जबाब बतलाते हैं सो सुनो। है न?

शक्नोती हैव यः सोढुं प्राक् शरीर विभोक्षणात्। काम शरीरको छोड़ कर बाहर जाता है। 'शरीर विमोक्षणात् प्राक् '। जबतक कामना शरीरसे बाहर न निकले, जबतक क्रोध शरीरसे बाहर न निकले, गाली देने लगोगे तो क्या हुआ? क्रोध शरीरसे बाहर निकल गया। मारने लगोगे तो क्रोध शरीरसे बाहर निकल गया। आँख-भौंह टेढ़ी कर ली तो? क्रोध शरीरसे बाहर निकल गया। तो 'शरीर विमोक्षणात् प्राक्' वह शरीरको छोड़कर बाहर निकले-निकले उसके पहले ही जो काम-क्रोधको शरीरके भीतर दबा देता है, काम-क्रोधके वेगको जो दबा लेता है, बाहर नहीं निकलने देता, पचा लेता है। यह पच जानेपर अमृत हो जाते हैं।

काम-क्रोध उबलकर बाहर छलक गये तो जला देते हैं। ऐसी आग है यह कि काम-क्रोध अगर बाहर छलक गये तो दूसरेको भी जलावेंगे और अपनेको भी जलावेंगे। और भीतर पच जाय तो? अमृत हो जाते हैं। रसायन हो जाते हैं। तब इनका नाम क्या होगा? 'युक्त इत्युच्युते तदा'।

' स युक्तः स सुखी नरः '

युक्तकी एकाध बात और बता दें। थोड़ी इससे ऊँची देखो—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। गीता 4.18

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म। दिव्य दृष्टी है। चुपचाप बैठे हैं, तब भी चुपचाप बैठनेका कर्म हो रहा है, क्योंकि कर्तृत्व है और हाथ पाँव कर्म कर रहे हैं, तब भी कर्तापन नहीं होनेसे अकर्म ही है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ गीता 4.18

सब काम करता हुआ भी युक्त है। अच्छा, सबसे ऊँचा भी सुना जाय—सबसे ऊँचा जो गीतामें कहा हुआ है—सबसे बड़ा युक्त। उसमें अकल तो लगानी पड़ती है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्युते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ गीता 6.8

सबसे ऊँचा युक्त यह है, पर यहाँ तो साधक-युक्तका वर्णन है। इसलिए

'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'-जब हो गया, जब उसके लिए स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना शेष नहीं रहता है। 'ज्ञानविज्ञान ....कांचन:।' अब ऐसा जो है 'युक्त आसीत' और 'मत्पर:'। असलमें स्थितप्रज्ञ कौन है?

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.61

अगर इन्द्रियाँ तुम्हारे वशमें हैं भाई! तो तुम्हारी बुद्धि इज्जतदार है। प्रतिष्ठित है, निष्ठावती है। प्रतिष्ठित=निष्ठावाली। नहीं तो तुम्हारी बुद्धि तो जानती है पर; उसीमें निष्ठा नहीं रखती है। क्यों? क्योंकि तुम्हारी बुद्धि जो जानती है कि पाप नहीं करना चाहिए सो इन्द्रियोंसे पाप करती है। अपने ज्ञानमें निष्ठावान नहीं है। पतिव्रता नहीं है।

बुद्धि पतिव्रता कब होती है? जो पत्नी अपने पतिमें निष्ठा रखे सो पतिव्रता। तो बुद्धिका पति कौन है? ज्ञान। बुद्धिका पति है चेतन ज्ञान स्वरूप जो चेतन ब्रह्म है, वही पति है। तो उसमें अगर निष्ठावती है, तो जड़से सटने जानेकी क्या जरूरत? जो बुद्धि जड़का भोग करनेके लिए जाती है, वह कुलटा और जो बुद्धि चेतनका भोग करती है, वह पतिव्रता। तो प्रतिष्ठित बुद्धि कौन है? प्रतिष्ठित पत्नी कौन है? पतिव्रता पत्नी है सो प्रतिष्ठित है। तो—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। 2.61

अब इन्द्रियाँ यदि चंचल हैं तो बुद्धि उनके द्वारा बाह्य पदार्थोंका भोग करनेके लिए जाती हैं। वह तो वेश्या है, वह तो कुलटा है। व्यभिचारिणी है। प्रतिष्ठित नहीं है।

प्रतिष्ठित स्त्री कौन है? जो अपने पतिके साथ रहती है। जो बुद्धि ज्ञान-स्वरूप चेतनके साथ रहती है, वह प्रतिष्ठित है। और उसीको 'स्थितप्रज्ञा' बोलते हैं। स्थितप्रज्ञा पानेमें आठ विघ्न हैं। क्योंकि विघ्नको जब जानते हैं तब उनके निवारणका प्रयत्न करते हैं। इसलिए अगले युग्मत् में—अगला जो द्वित्व है—

'ध्यायतो विषयान् पुंस'—इसमें आठ विघ्नोंकी चर्चा है। अपने घरमें जाकर याद आवे तो आठ गिन लेना, आठ कौन-कौनसे हैं?

●

: 51 :

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ 2.62-63

अपेक्षा बुद्धिसे जब मनुष्य काम करता है, तब दिलमें उसका रंग आता है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

'चाहे मैं स्वर्गमें रहूँ, चाहे धरतीपर रहूँ, चाहे नरकमें रहूँ, शारदाविन्दका; माने शरद ऋतुके कमलका तिरस्कार करनेवाले जो तुम्हारे चरणारविन्द है, उसको मृत्युके समय भी मैं स्मरण करता रहूँ।

देखो; इसमें संसारी विषयका ध्यान नहीं है। भगवच्चरणारविन्दका ध्यान है।

'**ध्यायतो विषयान् पुंसः।**' अब यदि तुम विषयका ध्यान करोगे—विषय माने क्या? **विषीयन्ते जनाः एभिः इति विषयाः।** ***विष सीय बन्धने! विषीयन्ते विशेषेण बध्यन्ते जनाः एभिः।*** जो विशेष रूपसे अपने साथ लोगोंको सी लेते हैं, बाँध लेते हैं। जैसे एक कपड़ा दूसरेके साथ सी दो तो क्या होता है? दोनों आपसमें लिपट जायेंगे। इसी प्रकार ये जो विषय हैं, इन्द्रियोंके द्वारा भीतर घुस करके मनुष्यके मनको अपने साथ बाँध लेते हैं। बंधन हैं ये। *'विषीयन्ते जना एभिः इति विषयाः।'*

अब तुम ध्यान करते हो तो किसका ध्यान करते हो? देखो तो ध्यानका पता अपने आप मालूम पड़ेगा। ध्यानमें भी अपनी कुछ बान पड़ी होती है। उसके अनुसार, बानके अनुसार ध्यान होता है।

कई लोग अपनी इज्जतके अनुसार आनसे ध्यान करते हैं। कई लोग ज्ञानका ध्यान करते हैं। कई लोग शानका ध्यान करते हैं। कई लोग ध्यानके अनुसार ध्यान करते हैं। तो ध्यानकी कई पद्धति होती है। पर ध्यान कैसा?

देखो, बिलकुल ध्यान न हो तो बहुत अच्छा। संसारका। पर होवे ही, तो

जड़का ध्यान नहीं करना। दिव्य जो भगवान्‌का ध्यान श्रीविग्रह है, उसका करना। प्राकृत न करके दिव्य ध्यान करना। ऐसा और बिलकुल न करो तो क्या पूछना है ? वह तो तुम स्वयं ही हो।

पर आदमी जब जानबूझ करके ध्यान करने लगता है, तो उस ध्यानमें भी दो तरहका ध्यान होता है। एक तो मनके अनुसार बुद्धि और एक बुद्धिके अनुसार मन। समझके अनुसार संकल्प जो तुम अच्छा समझते हो उसके अनुसार संकल्प। शुभका संकल्प करके देखो। और एक जैसा संकल्प होता है वैसा ही ध्यान करने लगते हैं। क्यों ? एक खूबसूरत वस्तु दिखी संसार में। मनने कहा बहुत खूबसूरत ! और मनके अनुसार बुद्धि हुई। इसको प्राप्त करनेके लिए ध्यान करना चाहिए। तो मनके पीछे बुद्धि चल गयी।

और बुद्धि ने कहा कि—'नहीं जीवनको धन्य करने के लिए ईश्वरका ध्यान करना आवश्यक है।' और फिर ईश्वरका ध्यान होने लगा। तो पहला ध्यान जो है बन्धनका ध्यान और दूसरा ध्यान जो है, परम्परया मुक्तिका हेतु है। तो—'ध्यायतो विषयान् पुंसः।'

अब तुम अपना ध्यान कहाँ लगाते हो ? वह देखो। जिसका ध्यान करोगे वह चीज धीरे-धीरे संस्कारमें बैठ जायगी। बहुत याद करोगे न ? जानबूझकर किसी चीजको बहुत याद करोगे न, तो उसकी शकल जो है वह बार-बार मनमें दिखेगी। फिर तो आदत पड़ जायगी। उसको देखनेकी आदत पड़ जायगी तो न करनेपर तकलीफ होगी, करनेपर मजा आने लगेगा। जिस-जिस चीजकी आदत डाल लो। एक हमारे मित्र थे काशीमें। वे दुर्गापाठ करते थे—

'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता'
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः

ऐसे हिलते। ऐसे बोलते। तो उनसे एक दिन एक महात्माने कहा 'देखो पाठ करते समय हिलना जो है, वह शास्त्रमें निषिद्ध है। हिलके पाठ नहीं करना।'

वह तो आप मुसलमानोंके पाठ भी समझ जाते होंगे कि वे जब पाठ करते समय हिलते हैं, तो आपको पाठ करनेके समय—'न हिलना'—यदि हिन्दू धर्म न होता तो हिलते कैसे ? तो वे जब कुरानकी आयत पढते हैं तो खूब हिलते हैं। यह हिन्दू धर्मके विपरीत है। तो उन मित्रसे कहा गया कि 'महाशय ! आप पाठ करते समय हिलिये मत।'

बोले 'अच्छी बात है'। बैठ गये। फिर पाँच-दस मिनट बाद उठकर आये। बोले—'भाई! बिना हिले तो मजा ही नहीं आता'।

'क्यों?' 'हिल-हिलकर पाठ करनेकी आदत पड़ गयी है'। यह एक बात हुई। तो जब हिलनेमें मजा आने लगता है—तो कुर्सीपर कई लोग बैठते हैं, दोनों पाँव हिलाते रहते हैं। क्यों हिलाते रहते हैं? 'भाई, हिलानेमें मजा आता है।' माने इतनी मामूली-मामूली चीजोंकी जब आदत पड़ जाती है, कहीं बैठेंगे, नाकमें उँगली डालते रहेंगे, कोई मुँहमे उँगलो डालते रहेंगे, कोई आँखमें उँगली डालते रहेंगे। ये सब क्या है? आदत पड़ गयी है। तो खराब आदत ही तो आदमीको बिगाड़ती है।

मनकी आदत भी जब खराब हो जाती है, तब वह आदमीको बिगाड़ देती है। तो; आप किस चीजका ध्यान करते हैं? ध्यानमें आपकी आदत खराब न होने पावे।

हम शब्दको सरल करनेकी कोशिश क्यों करते हैं?

एक बहुत बड़े वेदान्ती थे, M.A.पास। हमने एक लेख लिखा था, सो उनको शोधन करना था। तो हमारे लेखमें जहाँ-जहाँ 'अध्यास' शब्द था न, 'अध्यास!' उसका जब उन्होंने शोधन किया तो 'अभ्यास' बना दिया। सारा-का-सारा 'अभ्यास' बना दिया। अब 'अध्यास'में और 'अभ्यास'में क्या फर्क है यह तो बात वेदान्तियोंको मालूम पड़ेगी न?'अध्यास' तो त्याज्य होता है और 'अभ्यास' ग्राह्य होता है।

यदि कोई 'अध्यास' और 'अभ्यास' शब्दका ठीक-ठीक विवेक ही न कर पाता हो, तो उनके लिए यह बात बतलानी जरूरी रहती है कि मनमें जो शकलें बैठ जाती हैं, उन्हींको बोलते हैं, मनमें यह आकार आगया। तब क्या होता है? उनमें संग हो जाता है।

संग माने? जैसे गोंद किसी चीजके साथ चिपक जाती है, जैसे आजकल कोई ऐसी चीज आती है कि लोग अपने बालपर लगा देते हैं, तो एक-से-एक चिपके रहते हैं। उड़ते नहीं हैं। बिखरते नहीं हैं। है न कोई ऐसी बालोंकी प्रसाधन-सामग्री? तो यह क्या है? जो चिपकानी चीज है न, चिपकना है न? इसका नाम 'सङ्ग' है।

कागजपर गोंद लगा दिया और एक दूसरेसे यह चिपक गया। इसको

बोलते हैं 'सङ्ग'। सक्ति-सटना। यह सटना जो है न! वह संग-संग, संयम, सक्ति, सटना, पूरी तरहसे सट जाना—इसका नाम 'आसक्ति' है।

'आ'=पूरी तरहसे। 'सक्ति'=सट जाना। जब जानबूझकर हम किसी चीजका बार-बार ध्यान करने लगते हैं, तो हम उसके साथ सट जाते हैं। जुड़ जाते हैं, मानो उसके बिना हमारा कोई काम ही नहीं चलेगा। अब यह सङ्ग जो है, यह काम लेकर आता है। आसक्ति और आसक्तिके बाद कामना। कोई भी चीज जब सटेगी अपने साथ तो, अभी यह हमारे पूरी तरहसे हमारे काबूमें नहीं है, थोड़ी और आजाय। यह कमनीय जो वस्तु है, चम-चम चमकनेवाली, मनमें जो जगमगाती रहती है, हर समय उसका काम होता है। 'काम' शब्दका अर्थ समभंग-काम्यते इति=जिनको हम चाहते हैं।

एक बार हम लोग 'चुरु'के ऋषिकुलमें गये। छोटे-छोटे बच्चे! उनसे पूछा कि—तुमको कौन-सी किताब अच्छी लगती है? तो बोले—'गीता', रामायण, उपनिषद्' ये अच्छी लगती हैं। मैंने पूछा कि—'भाई'! हम ये नहीं पूछ रहें कि दुनियामें कौन-सी किताबें अच्छी हैं? अच्छी किताबोंकी लिस्ट तुमसे नहीं पूछते हैं। हम यह पूछते हैं कि जब तुम पढ़ने बैठते हो, तो पढ़नेमें तुमको किस किताबमें मजा आता है? वह बतलाओ।

तो उन्होंने कहा—'कहानी! छोटी-छोटी कहानी आती है न उनमें हमको बहुत मजा आता है।' बोले—'अच्छा, तुमको कौन-सा काम अच्छा लगता है। कौन-सा कर्म?' बोले 'संध्यावन्दन।' 'नहीं-नहीं हम यह नहीं पूछते हैं। क्या करनेमें मजा आता है?' तो बोले—'पड़ाका फोड़नेमें मजा आता है। वह जो इतना-इतना बड़ा बनाकर उड़ानेमें मजा आता है, वह हमको बहुत अच्छा लगता है।'

तो अब देखो, उनका प्यारा कौन हुआ? यह समझो। जहाँ मजा आता है वह प्यारा होता है न? तो जो चीज प्यारी लगती है, वह इष्ट होती है। यह बतला देना बड़ा आसान है कि 'हमको निर्गुण ब्रह्म जो है, हमको वह अभीष्ट है, हमको सगुण ईश्वर इष्ट है, हमको राम-कृष्ण, शिव इष्ट हैं।' यह बतला देना बहुत आसान है। लेकिन अपने दिलमें जाँच करके देखना कि असलमें हमको मजा कहाँ आता है? हम क्या चाहते हैं, यह बतलाना मुश्किल! वह तो गुरुका बतलाया इष्ट दूसरा होता है, और तुम्हारे मनका माना हुआ इष्ट दूसरा

होता है। जहाँ मन नहीं लगता है सामान्य रूपसे, जीवका, गुरु लोग तो मनको वहाँ ले जाकर इष्टता उत्पन्न करते हैं कि 'यह तुम्हारा इष्ट है।' तो कामका अर्थ क्या है?

कामका अर्थ है, जो चीज अभी हमें मिल नहीं रही है, और बहुत मजेदार मालूम पड़ती है, उसको चाहना। काम=भोग। काम=चाहना। तो जब किसीसे प्रीति हो जाती है, आसक्ति हो जाती है तब हम उसी-उसीको चाहने लगते हैं। अब चाहने के बाद दो रास्ते निकलते हैं—एक तो वह चीज मिले और वह चीज न मिले। तो अगर मिल जाय तो क्या होगा? और मिले तो लोभ होगा। बनी रहे लोभ होगा। और मिले और बनी रहे वह लोभ हुआ।

और नहीं मिली तो? तुम्हारी चहेती नहीं मिली तो क्या होगा? चाही हुई चीज नहीं मिले तो क्या होगा? तो अपने हृदयमें अभावका अनुभव होगा कि उसके बिना हम खाली-खाली हैं। अपनेमें हीनताका भाव आवेगा। हम छोटे हो गये। इतने रुपयेके बिना हम छोटे हो गये, ऐसे कपड़ेके बिना हम छोटे हो गये। ऐसे मकानके बिना हम छोटे हो गये। अपनेमें हीनताका अनुभव होगा। सबसे बड़ा अपराध यही है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

जो है तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माका स्वरूप और मानता है, हमारे पास 'यह नहीं है, यह नहीं है।' अपनेको अभावग्रस्त मानकर दिन-रात हीनता ही देखता है कि 'इन्होंने हमको सलाम नहीं किया, मेरा अपमान हो गया, इन्होंने हमको ऊपर नहीं बैठाया, अपमान हो गया। इन्होंने हमको बुलाया नहीं'—वह अपमानसे ही ग्रस्त है। तो बार-बार जो अपमानका अनुभव होता है न, यह बार-बार जो अपमानका अनुभव होता है, यह हीनताकी जो मनोवृत्ति है, वह हावी हो गयी है तुम्हारे मनपर। तुम बार-बार सोचते हो कि 'हम छोटे हो गये', 'हम छोटे हो गये'—तुम्हारी आत्मा इतनी बड़ी, उसका कोई ख्याल नहीं। इतना बड़ा ईश्वर तुम्हारा, उसका ऐसा शरीर तुमको! आँख-कान-नाक-बुद्धि, यह दिव्य शरीर तुमको मिला, इसका कोई ख्याल नहीं और किसीने ऐसे टेढ़ी आँखसे देख लिया तो तुम्हारा तिरस्कार हो गया? तो यह जो बात-बातमें अपनेको हीन मानने वाली वृत्ति है।

ज्यादा क्रोध किसको आता है? ज्यादा क्रोध उसीको आता है जिसके अन्दर अपनी हीनताका भाव भर जाता है कि 'यह नहीं मिला, अगर ये नहीं होते, तो हम बड़े ऊँचे चले जाते' अब? 'अभी तो हम नरकमें गिरे हुए हैं'। बोले 'अगर ये नहीं होते, अगर बाधा डाली न होती, तो हम अमरावतीमें इन्द्रके सिंहासनपर बैठे हुए होते। इसने बाधा डालकर हमको नरकमें गिरा दिया।'

तो असलमें तुम नरकमें बैठकर दूसरेके ऊपर क्रोध करते हो। जो अपनेको निम्न स्थितिमें ले जाकर नहीं बैठेगा, उसको क्रोध क्यों आवेगा? तो असलमें—

'कामात् क्रोधोऽभिजायते।' 2.62

कामका **'कुतश्चित् निमित्तेन प्रतिहतात्।'**

'केनचित् निमित्तेन प्रतिहतात्।'

किसी भी निमित्तसे अगर हमारी कामना पूरी होनेमें बाधा पड़ती है, तो यह कामानुज है न, क्रोधका नाम भागवतमें 'कामानुज' कामके छोटे भाई है।

यहाँ तो कामानुज नहीं कहा, यहाँ तो 'कामानंदन' कहा—यहाँ तो कामका पुत्र है न? 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' जैसे 'पित: पुत्र:'। वैसे 'कामात् क्रोध:'। जैसे बापका बेटा होता है, वैसे कामका क्रोध होता है। बोले—'नहीं-नहीं, कभी-कभी क्रोधसे भी काम'—तीसरा सम्बन्ध लो। कभी-कभी क्रोधसे भी कामकी उत्पत्ति होती है। किसी आदमीपर आया क्रोध। बोले—'अब क्रोध आया तो इसको नीचा दिखलाना।' 'कैसे नीचा दिखलाना?' 'ये-ये चीज हम अपने पास इकट्ठी कर लें, तब इसको नीचा दिखावेंगे'। तो इसका मतलब यह है कि जो अधर्मके वंशमें पैदा होते हैं उनमें बाप-बेटा-भाईका कोई नियम नहीं होता। वह नष्ट-भ्रष्ट होते हैं। वहाँ तो कामसे क्रोध पैदा भी होता है, कामका क्रोध भाई भी हो, कामका क्रोध बेटा भी है। अधर्म के वंशमें तो 'दूधका बराव' भी नहीं होता, 'दूधका बराव'=कई ऐसे पंथ हैं जिनमें एक माँका दूध पीनेवाले जो भाई-बहन होते हैं वे तो परस्पर व्याह नहीं करते हैं इसको 'दूधका बराव' बोलते हैं। परन्तु एक ही बापके दो पत्नी हों और भिन्न-भिन्न मातासे दोनों पैदा होवें, तो व्याह हो जाता है। तो अधर्म के वंशमें तो 'दूधका बराव' भी नहीं होता।

मुसलमानोंमें ऐसा चलता है। उनके मजहबकी यह रीति है। हमारा तात्पर्य निन्दामें नहीं है। मथुराके आसपास भी इससे मिलती-जुलती एक प्रथा है। शर्माजी जानते होंगे, क्योंकि ये तो मथुराके हैं-ही-हैं।

'कामात् क्रोधोऽभिजायते'।

अब क्रोध देखो। आसक्ति जो है वह तो रसात्मक वृत्ति है और काम उत्पन्न करती है। काम जो है, काममें जितना मिले उतना, काम जल्दी तृप्त नहीं होता। उसका स्वभाव यह है कि काममें तृप्ति नहीं है। काम तो है, तृप्ति नहीं है। तो इसका फल यह होता है कि कामको चाहिए और-और। वह श्लोक आप लोगोंने कई बार सुना होगा 'मनुस्मृति'का, 'महाभारत'का, 'विष्णुपुराण'का, 'भागवत'का—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।

विषयोंके उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती।

ह विषा कृष्णवत्मैव भूय एवाभिवर्धते। भागवत

यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

सब-का-सब दे दिया जाय एक आदमीको, तब भी तृप्ति नहीं होती है। यह तो—

एकस्यापिन पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् भागैव।

'तृष्णैका तरुणायते'।

सब चीज बूढ़ी होती हैं, बाल बूढ़े होते हैं, दाँत बूढ़े होते हैं, चमड़ी बूढ़ी होती है, लेकिन जो लालच है, वह बूढ़ी नहीं होती है। वह तो रोज-रोज जवानीकी ओर बढ़ती है। शास्त्रमें साफ है—जीर्यति, जीर्यतः जीर्यन्ति।

जीर्यतः केशाः दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः त्वचा किन्तु तृष्णैका तरुणायते।

यह महाराज रोज-रोज तरुण होनेवाला, जवान होनेवाला है। अब इससे होता है क्रोध। यह क्रोध क्या है? यह ज्वलनात्मक चित्तवृत्ति है।

जिससे सुख मिलनेका संस्कार होता है, उसके प्रति काम होता है और जिससे दुःख मिलनेका संस्कार है, उसके प्रति क्रोध होता है। यह मनोवृत्तिका नियम है। अगर तुम किसीसे भी दुःख मिलता हुआ अनुभव करोगे, तो बादमें उसके ऊपर क्रोध आवेगा। उससे द्वेष होगा, उसकी हिंसा होगी, रास्ता बिलकुल यही है। तो क्रोध क्या है?

जो भीतरसे बहते हुए सुखके प्रवाहमें रोध उत्पन्न कर दे—'**कं सुखं रुणद्धि**', '**कं ज्ञानं रुणद्धि**', '**कं जीवनं रुणद्धि**' '**कं ज्ञानं सुखं वा रुणद्धि इति क्रोधः।**' जो मार डाले। क्रोध ज्यादा हो, तो उसकी मौत जल्दी आती है। वह बेवकूफ ज्यादा जल्दी बनता है। जब क्रोध आता है न, क्रोधमें आकर आदमी जब कदम उठाता है, हाथ-पाँव काँपने लगते हैं, लाल हो जाता है, फिर बादमें काला हो जाता है। कैसे होता है? क्रोधका मुँह काला? नहीं-नहीं, लाल। हाँ लाल, पहले। वह धीरे-धीरे काम बनता है न? कैसे?

देखो एक मनुष्य है, तो पहले जब उसका मुँह लाल हुआ तो बन्दरकी भूमिकामें चला गया। लौटा न पीछे? और जब लालसे उसका मुँह काला हो गया तब? अरे तब तो और निकृष्ट हो गया न? है न? तो यह क्रोध जो है, वह मुँहको काला करने वाली चीज है। वह मनुष्य सुन्दर नहीं रहेगा, वह स्त्री-पुरुष जो है, वे सुन्दर नहीं रहेंगे जिनको ज्यादा क्रोध आवेगा। सास पीछे बुढ़िया बनेगी, पहले बहू बुढ़िया हो जायगी। अगर ज्यादा क्रोधी हो तो यह होगा। 'कामान् क्रोधोऽभिजायते'। इसको मिटाना चाहिए।

यह कामसे क्रोध। क्रोध आता है तब ज्वलनात्मक, दिलमें जलन होवे तो क्रोध।

एक सज्जन हमारे पास आगये थे। अच्छे साधक हैं। उन्होंने कहा कि 'आजकलके डाक्टरोंकी यह राय है कि यदि काम क्रोधको दबाया जाय तो शरीरमें रोग हो जाता है। इसलिए काम-क्रोधको जाहिर कर देना, कामना आवे तो भोग लेना, क्रोध आवे तो उसको क्रियान्वित। दोनोंमें क्रियापर्यंत पहुँचा देनेसे शरीर स्वस्थ रहता है, ऐसा आधुनिक विज्ञान कहता है।' तो यह बात हमको बहुत दिनोंके बाद सुननेको मिली। क्योंकि पहले-पहल अबसे कोई 30-35 बरस पहले गाँधीजीने 'ब्रह्मचर्य' नामक एक पुस्तक लिखी थी, तो उसमें— 'पाश्चात्य डाक्टरोंकी ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें ऐसी राय है कि उसका उल्लेख करके उन्होंने उसका खण्डन किया था। तो उस समय मेरे सामने यह समस्या थी कि ब्रह्मचर्यके पालनसे शरीरमें रोग होता है, यह बात कहाँतक ठीक है? आप तो समझो, ब्राह्मण संस्कार, वैदिक संस्कार, उसमें तो ब्रह्मचर्यकी महिमा बड़ी भारी है। उसका मनोविज्ञान आपको बता देता हूँ। गाँधीजीने क्या उसका उत्तर लिखा है, वह तो हमको याद नहीं है। क्यों? क्योंकि उन्होंने दोनों तरफकी राय

डाक्टरोंकी और वैज्ञानिकोंकी संग्रहकी थी और ब्रह्मचर्यके पालनसे कोई रोग नहीं होता है यह बात उन्होंने उस ग्रंथमें सिद्ध की थी। छोटी-सी किताब थी, रैक्ट था।

अच्छा, अब आपको मैं यह बात सुनाता हूँ कि काम और क्रोध हैं, उनका गमन दो तरह से होता है। एक तो होता है बेबसीसे। जैसे आप जिसको पाना चाहते हैं, दिलसे पाना तो चाहते हैं, लेकिन मिल नहीं रहा है। कोई रुकावट पड़ रही है। वह व्यक्ति आपके अनुकूल नहीं हो रहा है, है न? और क्रोध आपको आता तो है, लेकिन जिसके ऊपर आता है, उसका आप कुछ बिगाड़ नहीं सकते या आपको रोकनेवाली पुलिस हाथमें डंडा लिये खड़ी है। कहीं दुकानपर तनी है, तो क्रोध से तो आप तिलमिला रहे हैं, लेकिन विवशतासे क्रोधको रोक रहे हैं। तो जहाँ बेबसी होती है, वहाँ हीनता भाव आ करके शरीरमें रोग उत्पन्न कर देता है, क्योंकि आप वहाँ दबाबके सामने हार गये।

जब हम स्वयं काम और क्रोधको दबानेकी कोशिश करते हैं अपनी इच्छासे,

स्वेच्छया स्वीकृतो बन्धो निर्बन्धायोपकल्पते।

जब हम अपनी इच्छासे मर्यादा, नियम बनाते है, और इमानदारीके साथ उनका पालन करते हैं, तो सारे बन्धन कट जाते हैं, और—

परेच्छया कृतो बन्धो बन्ध इत्यभिधीयते॥

जहाँ मजबूरी आ जाती है, वहाँ रोग हो जाता है तो क्या करना? क्रोधको जीत लेनेपर कामको जीत लेनेपर,जो विजयका सुख होता है न, अपने इष्टदेवताके साक्षात्कारके लिए, परब्रह्म परमात्माके साक्षात्कारके लिए, अन्त:करणको शुद्ध करनेके लिए ये जो चित्तके मैल हैं, इनको छुड़ाना चाहिए। इनको पूरा करोगे तो और बनेंगे।

भोगमनुविवर्धन्ते रागास्तेषां कौशलानि च।

आदमी जितना-जितना भोग करता है, उतना-उतना उसके जीवनमें उनके प्रति राग बढ़ता है। उसका कोई अन्त नहीं है—

अन्तो नास्ति पिपासाया:।

प्यास कभी बुझती नहीं है, इसलिए काम-क्रोधको शान्त करनेके लिए मनुष्यको पहले ही सावधान रहना चाहिए।

एक तो विषयासक्ति होती है और एक इन्द्रियासक्ति होती है। विषयासक्तिमें और इन्द्रियासक्तिमें फर्क होता है। जैसे एक आदमीको मीठी-चीज खानेकी आदत है, समझो लेकिन वह खीर ही खाता है, दूसरी चीज नहीं खाता है, तो वहाँ खीर रूपी विषयमें आसक्ति हो गयी। पर एक आदमीको मीठा खानेकी आदत है, चाहे वह खीरके रूपमें मिले, चाहे वह हलवेके रूपमें मिले, चाहे लड्डूके रूपमें मिले, चाहे पेड़ेके रूपमें मिले। तो वह केवल अपनी जिह्वारूप इन्द्रियकी तृप्ति चाहता है, विषयविशेषमें उसका नियम नहीं है। तो इन्द्रियासक्त जो होता है, वह पामर होता है, जो कुछ मिले, भोग लो।

विषयी जो होता है वह मर्यादामें आता है। और एक पामर होता है कि वह अपने मनको ही काबूमें नहीं रख सकता। तो यह जो विषयासक्ति है—विषयासक्ति, इन्द्रियासक्ति, मानसासक्ति ये सारी-की-सारी जो हैं, काम-क्रोध उत्पन्न करनेवाली होती हैं।

अब क्रोधके बाद क्या होता है?

क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

गीता 2.63

आदमी जब क्रोधमें आकर विचार करता है, सैनिकको क्रोध नहीं करना चाहिए। नहीं तो बंदूक उसके हाथसे छूटकर गिर जायगी। सैनिकको अपने आपको बहुत संतुलित रखकर तब गोली चलानी पड़ती है। इसलिए सेनापतिके निर्देशके अनुसार गोली चलानी पड़ती है। अपनी इच्छासे सैनिक यदि गोली चलाता है, तो वह अपराधी हो जायगा। सेनापतिके निर्देशके अनुसार अगर गोली चलायेगा, वह तो सैनिक धर्मका ठीक-ठीक पालन करेगा। इसीलिए गुरुकी, शास्त्रकी, धर्मकी जरूरत पड़ती है।

'**क्रोधात् भवति सम्मोहः।**' क्रोधसे सम्मोह होता है। अब यह सम्मोह क्या है? सम्मोहके सम्बन्धमें ऐसा समझो कि हमारा इस समय क्या कर्त्तव्य है और क्या कर्त्तव्य नहीं है, यब बात भूल जाती है। अबतक जितना धर्म-कर्म, शास्त्र-सम्प्रदाय जो कुछ सीखा-पढ़ा है, जब क्रोध आता है तो सब एक तरफ धरा रह जाता है। क्यों? 'संमोहः'। बुद्धि उल्टी हो गयी।

बुद्धि उलटी हो गयी, 'मुह् वैचित्त्ये'। चित्त विपरीत हो गया। हमने देखा है व्यापारमें जब किसीको घाटा लगता है न, और वह घबड़ाता है, 'हाय-हाय! यह गया!' बोले—'यह गया तो अब यह लो।' तो दूसरी चीजको लेनेके लिए जल्दीबाजीमें ऐसा कदम उठाता है कि उसमें भी धोखा खाता है। तो क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए? यह बात बहुत संतुलित चित्तसे निश्चयमें लानी पड़ती है। क्रोधवश बोले—'इसपर तो डण्डा ही मारेंगे' जब डण्डा मारेंगे—तब उस समय तो डण्डा मार दिया, बादमें चार जनोंने पकड़ लिया और खूब पीटा। पुलिसके हवाले किया और जब मुकदमा चला तब रोने लगे कि—'हाय-हाय! उस समय हमसे बड़ी गलती हो गयी।'

आपको अपने जीवनका सार बताता हूँ मैं। मैंने कई बार दूसरोंको गलती करते देख करके कि—'यह आदमी यह गलती कर रहा है', 'यह आदमी यह गलती कर रहा है'—उस-उसके गलतकी परिस्थितिमें भी उसका जवाब देनेके लिए कोई काम किया और बादमें हुआ क्या? किस परिस्थितिमें मैंने उससे यह बात कही या करी, यह बात कभी लोगोंने ध्यानमें नहीं लिया। और वह तो फिर बिलकुल लोगोंकी आँखोंसे ओझल हो गया। हमारा किया हुआ जो था, वह लोगोंके ध्यानमें रहा। क्यों? 'उसने किया तो किया, तुमने ऐसा क्यों किया?' है न? ऐसे बोलते हैं। ऐसे बोलते हैं कि—'उसने किया तो किया, तुमने ऐसा क्यों कर दिया?' तब हम सफाई देनेकी हालतमें आगये। पहले तो हमने न्याय किया था। करने गये थे न्याय और आगये सफाई देनेकी हालतमें। अब हम कितना भी कहते हैं कि 'भाई, उसने ऐसा कहा था तब मैंने किया।' अब उस परिस्थितिको तो लोग भूल गये। वह कैसी परिस्थिति? 'पकड़े गये हम'। यह बात हुई।

तो मनुष्यको काममें आकर, क्रोधमें आकरके कोई काम नहीं करना चाहिए। परिस्थितिमें भी जवाब देनेकी परिस्थितिका काम नहीं करना चाहिए। जो बात शुद्ध बुद्धिसे ठीक लगे वही काम करना चाहिए। नहीं तो क्रोध और काम ये सम्मोहके गड्ढेमें पटक देते हैं।

●

: 52 :

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

2.62-65

भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुनको स्थितप्रज्ञ होनेके विपरीत स्थित प्रज्ञताके विपरीत, उपायके विपरीत जो अपाय हैं, माने साधनमें विघ्न हैं, स्थितिमें विघ्न हैं, उसकी सूचना दे रहे हैं। भगवान्ने बताया कि जानबूझकर हेय बुद्धिसे या उपादेय बुद्धिसे यदि विषयका चिन्तन करोगे, तो? यह पहला प्रश्न हुआ।

यदि वानरका ध्यान नहीं करना है, तो यह चिन्तन मत करो कि—'यह वानर है, इसका हमको ध्यान नहीं करना है।' 'नहीं करना' अपने मनमें बसानेकी बुद्धि नहीं है।

आप जानते हैं, ब्रह्मचर्यमें बाधक आठ पदार्थ हैं। उनका वर्णन आया है शास्त्रमें—

स्मरणं प्रेक्षणं केलिः कीर्तनम् गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायच्च कामस्याय विधंस्मृतः॥

चर्चा करना तो बोले—कि ठीक है,याद करना, घूरना, खेलना, स्मरणं, कीर्तनम्, केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्=ब्रह्मचर्यके विपरीत क्या-क्या बात पड़ती है। अब बैठकर एकान्तमें उसीका स्मरण करने लगे कि 'यह बात ब्रह्मचर्यके विपरीत पड़ती हैं।' तो वे कुछ ब्रह्मचर्यमें मदद थोड़े ही करेंगे? इसी प्रकार शत्रुका चिन्तन भी हानिकारक है।

कथापि खलु पापानां अलम् अश्रेयतः।

पापियोंकी चर्चा भी जबानपर नहीं लानी चाहिए। क्योंकि उनसे मनुष्यका अमंगल होता है। अकल्याण होता है।

जैसे भगवान्की चर्चा मंगलमयी है, कल्याणकारिणी है। वैसे दुष्टोंकी चर्चा अमंगलमयी और अकल्याणकारिणी है। तो विषयका उपादेय बुद्धिसे माने विषयका भोग करनेके लिए विषयका चिन्तन, यह तो बुरा है ही, विषयका त्याग करनेके लिए भी विषयका ध्यान बुरा है। वह तो एक ऐसी चीज है, जिसकी उपेक्षा कर दो, संस्कार मिटा लें। यह बात कल आपको सुनायी थी न? तो विषयचिन्तन।

विषयचिन्तनसे फिर आसक्ति। जिस आदमीके साथ फिर रोज उठने-बैठने लगो, वह फिर कभी नहीं मिलता है तो कमी खटकती है। इसी प्रकार विषयचिन्तनका स्वभाव जब बन जाता है, और उसका संग मनमें बन जाता है तो उसको छोड़नेमें फिर बड़ी तकलीफ होती है। अच्छा, फिर आकांक्षा, कामना पैदा हो जाती है। अप्राप्तिमें दुःख होने लगता है। फिर 'क्रोधोऽभिजायते। 'क्रोधोऽभिजायते' का अर्थ है 'अभितो जायते।' जो सामने आवेगा, यह होगा कि 'इसीने शायद हमारी प्रिय वस्तु या व्यक्तिके मिलनेमें बाधा डाली है। यह भी हमारे दुश्मनसे मिला हुआ है।'

हमारे एक वकील थे। उन्होंने हमको बताया कि जब अदालतमें दो पार्टी आती हैं, हमारे और एक पार्टी कोई अच्छा गवाह लेकर आती है, तो हम क्या करते हैं कि एक उस गवाहका जो दोस्त है न, उसको अपने पास बुला लेते हैं

और उससे बातचीत करते हैं और उसको झूठ-ही-झूठ भेज देते हैं कि जाकर तुम अपने उस गवाही देनेवाले दोस्तके पास बैठ जाओ। अब वह जब जाकर बैठ जाता है, तो गवाही देनेके लिए ले आया होता है न, वह सोचता है, कहीं यह हमारे दुश्मनसे मिल तो नहीं गया है? देखो, उनका मित्र उनसे बात कर रहा है। अब उसको अपने ही गवाहपर क्रोध आ जाता है। ऐसे कई बार गवाही जो है, कई बार दोनों मित्रोंमें फूट करा दी गयी कि इनके पास तो हमारे शत्रुका मित्र बैठा है तो यह कहीं उनसे मिला न हो। अपने मित्रका शत्रु भी अपना शत्रु होता है और अपने शत्रुका मित्र भी अपना शत्रु हो जाता है। ऐसी राजनीति है। तो जब शत्रुने यह प्रतीत करा दिया कि यह तो हमारा मित्र है, तो उसके प्रति भी शंका हो गयी। तो—**क्रोधोऽभिजायते**।

जिसको देखते हैं उसके ऊपर चिढ़ आती है—'इसने हमारी इच्छाकी पूर्तिमें बाधा डाली। इसने हमारी इच्छाकी पूर्तिमें बाधा डाली।' संशयालु चित्त हो जाता है न? तो 'क्रोधोऽभिजायते' माने सबके ऊपर क्रोध आने लगता है। 'क्रोधोऽभिजायते'—क्रोध उतनी प्रकाशक वृत्ति नहीं है जितनी दाहक है। क्रोध प्रकाशित तो करता है केवल शत्रुको। वृत्ति उसको कहते हैं जो विषयको प्रकाशित करे। तो जो बहिष्ठ प्रकाशित करती है उसको 'आभासवृत्ति' बोलते हैं। वह आभास-भास्य होता है और जो अन्तस्थ: विषयोंको प्रकाशित करता है उसको साक्षी बोलते हैं। साक्षी जो है वह अन्तस्थ: विषयोंको प्रकाशित करता है। तो यह क्रोध क्या है? आभासभास्य है कि साक्षीभास्य है? क्रोध आभासभास्य नहीं है, साक्षीभास्य है। बोले—फिर क्रोध वृत्ति कैसे है? क्रोध वृत्ति है कि नहीं है? जो विषयको प्रकाशित न करे वह वृत्ति कैसे? बोले—यह अन्तस्थ: शत्रुरूप विषयको प्रकाशित करती है। इसलिए यह वृत्ति है। परन्तु अनेक विषयोंको प्रकाशित नहीं करती। शत्रुरूप विषयको प्रकाशित करनेवाली वृत्तिका नाम क्रोध है। तो प्रकाशक तो कम है यह, उसमें उजेला कम है, लेकिन दाहक ज्यादा है। दाहक ज्यादा है, माने जहाँ यह क्रोधकी वृत्ति उठती है वहाँ जलाती ज्यादा है। तो फिर यह नहीं कि हमारा दुश्मन है कि नहीं, इसने हमारी इच्छा पूरी होनेमें बाधा डाली कि नहीं? इसका कुछ विचार नहीं करते हैं। जब दिलमें आग लगती है न, तब स्वभाव ऐसा चिड़चिड़ा हो जाता है कि कोई भी सामने आवे, बिना मतलब ही उससे उलझ जाते हैं। यह '**क्रोधोऽभिजायते**।'

अब '**क्रोधात् भवति सम्मोहः।**' क्रोधसे सम्मोह होता है। सम्मोह क्या है?

'**सम्भूय मुह्यति अनने इति सम्मोहः।**' यह मिलजुलकर मोहमें डालनेवाले हैं। यह सम्मोहवृत्ति जो है, यह भी वृत्ति है। मनुष्य क्या होता है? कि जब क्रोध आता है तो 'क्रोधात् भवति सम्मोहः' न? क्रोध क्या करता है? उसमें वृत्तियाँ जो अपने चित्तमें रहती हैं, तब परस्पर प्रतिघात होता है। जैसे एक आदमीको हम गुरु मानते हैं। गुरु मानते हैं उसके ऊपर थोड़ी श्रद्धा भी है। किसी कारण उसके ऊपर क्रोध आगया। क्रोध आगया तो एक बार तो श्रद्धा आवेगी और एक बार क्रोध आवेगा। तो जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ क्रोध नहीं होना चाहिए और जहाँ क्रोध होता है वहाँ श्रद्धा नहीं होनी चाहिए। तब क्या हुआ?

परस्पर व्याहत हो गयीं दोनों वृत्ति। दोनों आपसमें टकरायीं—

परस्पर व्याहात् संस्काराणां यः उपमर्दः स सम्मोहः इत्युच्यते।

जब हमारे हृदयके संस्कार एक-दूसरेके साथ टकराते हैं, विरुद्ध होते हैं तो उनकी जो हृदयमें मुठभेड़ होती है—श्रद्धाने क्रोधको दबाया, क्रोधने श्रद्धाको दबाया, अब दोनोंकी जो लड़ाई होने लगी दिलमें। उस लड़ाईमें मस्तिष्कके जो तंतु हैं, वे कमजोर पड़ गये।

सम्मोहमें क्या होता है? स्मृतिसंकर। हजार बातें अबतक जिंदगीकी याद आ गयीं—'अरे भाई, इन्होंने भलाई भी तो की है। क्रोध मत करो। नहीं-नहीं, इन्होंने इतनी बड़ी बुराई की है, कि अब इनके ऊपर क्रोध किये बिना रह नहीं सकते।

ज्यों तक दण्ड करौं नहीं तोरा, होय भ्रष्ट श्रुति मारग मोरा।

परस्पर व्याघात बोलते हैं; चित्तमें वृत्तियोंका इसको। उपमर्द=भीड़ लग गयी। ऐसी-ऐसी! परस्पर विरुद्ध बातें आती हैं। एक कमेटी बनायी जाय और उसमें पाँच-सात मतोंके परस्पर विरोधी इकट्ठे कर दिये जायँ तो आपसमें लड़ मरेंगे, काम ठीक नहीं होगा। इसलिए अगर काम बनाना होवे, तो एक मनोवृत्तिके लोग एक काममें लगें और उसको ठीक ढंगसे पूरा करें। ठीक ढंगसे पूरा करें, यह जिम्मेवारी भी एकपर रहती है। और परस्पर टकरा जायँ तो? वह काम पूरा नहीं बनता है। इसलिए क्या करना?

अपने मनमें वृत्तियोंकी संकीर्णता नहीं होने देना, मुठभेड़ नहीं होने देना। दस तरहकी वृत्तियाँ आपसमें टकरावे नहीं। इसको तो बड़ा भारी दुःख बताया है योगशास्त्रमें। जीवनमें दुःख है—

गुणवृत्तिविरोध—एक वृत्ति कहती है विश्वास करो। शायद हमारा भला ही चाहते हों। 'शायद इसमें भी हमारी कुछ भलाई हो', यह सत्त्वगुणी वृत्ति हुई। है न ? एक वृत्ति कहती है, नहीं, भरी सभामें अपमान हो गया, दूसरी वृत्ति कहती है 'नहीं, अब तो जहर खाकर मर ही जायँ।' यह तमोगुणी वृत्ति हुई।' 'लड़ जायँ', यह रजोगुणी वृत्ति हुई। और

तो जब गुणवृत्तिविरोध चित्तमें आता है—कभी तो सत्त्वगुण आकर कुछ सलाह देता है, कभी रजोगुण आकर कुछ सलाह देता है, कभी तमोगुण आकर कुछ सलाह देता है। साधकके लिए यह बड़ा भारी दु:ख है। बड़ा भारी दु:ख है, तो यह सम्मोह कहाँ से आता है ? वृत्ति-सम्बन्धसे सम्मोह आता है। सब वृत्तियाँ कमजोर हो जायँ, श्रद्धा भी कमजोर हो गयी, क्रोध भी कमजोर हो गया, मरनेकी इच्छा भी कमजोर हो गयी। कहीं भी प्रबलता नहीं रहेगी। तो जिसके मनमें क्रोध आता है, वह सम्मोहकी दशामें पहुँच जाता है। उसमें स्नायविक कमजोरी आ जाती है। जो स्नायुतंतु हैं, वे कमजोर हो जाते हैं। फिर वह कोई दृढ़तापूर्वक किये जानेवाले कामके योग्य नहीं रहता है। तो यह क्या हुआ ? यह अपाय हो गया। अपाय माने ? अपाय=घाटा। जैसे व्यवहारमें मुनाफा और घाटा होता है न ? तो समझेंगे, उपाय-उप=पास। आय=आमदनी। जो अपनी इष्टवस्तुका लाभ करानेके पास होवे, माने जिससे इष्टलाभ होवे, उसका नाम उपाय। अपाय माने ? अपाय=व्यय। 12 वाँ हो गया, 11 वाँ नहीं रहा। 12 वाँ हो गया, कुंडलीमें 11 वें स्थानको 'आय' बोलते हैं और 12 वें स्थानको 'व्यय' बोलते हैं।

अपाय हो गया माने आमदनीसे अप हो गया=नीचे हो गया। नीचे गिर गया।

अप-ट्रेन होती है न, 'अप-ट्रेन'। एक और होती है न ? दूसरी 'डाउन' होती है। तो यह जो है, जाना था दूसरी तरफ, लौट आये उधरसे। लौट आये=जाना नहीं हुआ। जहाँ जाना था, उसके बिलकुल विपरीत पड़ गया, ऐसा। तो अब क्या करना ? बोले—अपाय=विनाश। उपाय=इष्टकी प्राप्तिका साधन। तो यह सम्मोह जो है, वह उपाय नहीं है, इससे हम इष्टवस्तुके पास नहीं पहुँचते हैं। बल्कि दूर हो जाते हैं। यह उपाय नहीं, अपाय है। सम्मोह:।

'सम्मोहान् स्मृतिविभ्रमः'। जब हृदयमें सम्मोह आजाय तब क्या होता है? बोले—'स्मृतिभ्रंश' हो जाता है। स्मृतिशक्ति जो है वह भ्रष्ट हो जाती है। क्या? एक आदमीने उसके ऊपर बहुत-बहुत उपकार किये हुए हैं। लेकिन सब भूल जायगा जब सम्मोह होगा न? स्मृतिके तंतु जब कमजोर होंगे सम्मोह जब आवेगा, जब अनेक वृत्तियाँ आपसमें टकरायेंगी और स्नायु जब कमजोर पड़ेंगे तब क्या होगा? तब यह होगा कि पिछली सारी बातें भूल जायेंगी। शास्त्र भूल जायेगा, गुरुका उपदेश भूल जायगा, सत्संग भूल जायगा, अपने कल्याणके जो उपाय होते—क्योंकि बात यह होती है कि एक जो 'तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य' जो ज्ञान है, वह तो स्मृतिसे नहीं होता है।

यह नहीं कि पहले अनुभव किया हुआ है और बादमें उसकी स्मृति आ जाय। अगर पहले अनुभव किया हुआ होता तो अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी होती। वह तो संस्कारजन्य ज्ञान नहीं है; स्मृति नहीं है, लेकिन उसके सिवाय जितने ज्ञान संसारमें होते हैं वे सब-के-सब संस्कारजन्य ही होते हैं। तो हमारी जो स्मृति है वह होती है संस्कारजन्य और बुद्धि होती है प्रमाणजन्य। इन दोनोंमें भेद कर लेना।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

शास्त्रका उपदेश पढ़ा है, गुरुका उपदेश सुना है, अनेक महात्माओंका सत्संग किया है, भले मानुषोंने बताया है, उसकी एक स्मृति हृदयपर बनी है। उससे हम सत्कर्ममें लगते हैं। लेकिन महाराज, जब यह सम्मोह आया, माने क्रोधके कारण हमारी वृत्तियाँ श्रद्धा, विश्वास, अपमान और मृत्युका संकल्प—ये सब जब टकराये, तो सारी जो अच्छी-अच्छी बातोंका संग्रह था अपने पास, वह स्नायुतंत्रोंके कमजोर हो जानेसे नष्ट हो गया। तो स्मृतिभ्रंश हो गया। भ्रंश=भ्रष्ट हो जाना, खो गयीं स्मृतियाँ, खो गयीं। यह 'विभ्रम' शब्द जो है न, यह 'विभ्रंश' के लिए है। 'विभ्रंश'=विशेषरूपसे भ्रष्ट हो गयीं। और अपनी जगहसे, अपनी जगहसे गिर गयीं, अपनेको भूल गयीं। अब अच्छी स्मृतियाँ ही जब भूल गयीं, तो प्रमाणसे जितना हमको ज्ञान होगा, वह कलुषित ज्ञान होगा। बुद्धिनाश माने हमको ज्ञानजन्य, ज्ञान होता है। संसारमें जितने ज्ञान होते हैं, वे ज्ञानजन्य ज्ञान होते हैं। आपको भेद इसका बताता हूँ।

महावाक्यजन्य जो ज्ञान है न, अथवा वेदसे जो ज्ञान होता है, वह

ज्ञानाजन्य ज्ञान होता है। क्या मतलब है? जैसे आप घड़ीको समझते हैं। घड़ीका ज्ञान है आपको; तो घड़ीका ज्ञान कहाँ है? हृदयमें है न? लेकिन एक दिन ऐसा था जब किसीने आपको घड़ी दिखायी। आँखसे आपने घड़ी देखी और यह एक-दो-तीन जो हैं ये समयके सूचक हैं और यह सूई जो घूमती है, उससे पता चलता है। किसीने आपको बताया था कि नहीं? तो पहले आँखसे देख करके आपने घड़ीको पहचाना और बादमें बुद्धिमें उसका ज्ञान आया। तो नेत्ररूप ज्ञान-साधनसे बुद्धिमें ज्ञान आया। माने बाह्य प्रमाणोंके द्वारा संसारके पदार्थोंको देख करके, तब आपने अन्त:करणमें ज्ञानराशिका संग्रह किया। इसका नाम ज्ञानजन्य ज्ञान है। भला!

और, महावाक्यसे जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणसे जन्य ज्ञानसे जन्य नहीं है। वह क्या है? वह तो स्वयंप्रकाश-ज्ञान है और महावाक्यके द्वारा केवल अविद्याकी ही निवृत्ति हो जाती है। ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। और अविद्याकी निवृत्ति मात्रमें ही तात्पर्य है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें तात्पर्य नहीं है शास्त्रका। स्वयंप्रकाश ज्ञान पहलेसे मौजूद है।

एक ज्ञानजन्य ज्ञान और ज्ञानाजन्य ज्ञान दो तरहका ज्ञान होता है। तो ये जो हमारे प्रमाण हैं, माने आँखसे जो हम देखते हैं, कानसे सुनते हैं, त्वचासे छूते हैं, जीभसे स्वाद लेते हैं, ये हमारी बुद्धिपर एक प्रकारका संस्कार डालते हैं, उनकी छाप, लग जाती है। छाप लग जाती है। संस्कार माने छाप लगना। जैसे ठप्पा लग गया, कलंक लग गया, दाग लग गयी। तो जानबूझकर जब कपड़ेमें दाग लगाते हैं न? छापते हैं तो बोलते हैं न, इससे सुन्दर बन गया। और अनजानमें जो दाग लग जाती है, सो? अनजानमें जो दाग लग जाती है उससे कपड़ा बिगड़ जाता है।

जो बिना सोचे-विचारे अनजानमें अन्त:करणमें जो धब्बे बैठते हैं, वह विक्रियासे बैठते हैं और जो जानबूझकर अच्छी रँगाई की जाती है अन्त:करणकी, वह संस्कारसे बैठते हैं। तो पहले मलको दूर करके कपड़ेमें लगा हुआ जो मल है, उसको दूर करके रँगाई करो तो, खिल जायगा तुम्हारा कपड़ा। क्रियासे, संस्क्रियासे, सत्कर्मसे जो संस्कार अपने भीतर डालोगे वह तुम्हारे अन्त:करणको चमकावेगा और विकारसे जो संस्कार तुम्हारे अन्त:करणपर पड़ेंगे, वह तो धब्बे होंगे। वह तो कपड़ेको मैले करनेवाले होंगे। तो कुकर्मके

संस्कार तुम्हारे अन्त:करणमें हैं कि सत्कर्मके संस्कार तुम्हारे अन्त:करणमें हैं? यह देखनेकी चीज है। इसको सम्हालना पड़ता है। इसमें नियत-वियत ज्यादा काम नहीं करती है। इसमें कर्मका स्वरूप जो है, वह विहित है कि निषिद्ध है, यही ज्यादा काम करता है।

तो, जो हमारी बुद्धियाँ इकट्ठी है न, उनकी दशा क्या है? उनकी दशा यह हुई कि पहले तो हम सब संस्कार डाल रहे थे अपने अन्त:करण पर। उपाय कर रहे थे और जब क्रोध आया तब अच्छी-बुरी दोनों वृत्तियाँ आपसमें टकरायीं तो बराबर-बराबर हो गयीं। और उसके बाद क्या हुआ? कमजोर हो गयीं, तो कमजोरीमें क्या होगा? कमजोरीमें यह होगा कि जो अच्छे-अच्छे संस्कार अपने चित्तमें डाले थे; उनसे होनेवाली स्मृतिका लोप हो गया।

अब तो आँखको कोई चीज दिखती है तो उसमें भी यह डर लगता है कि कहीं यह हमारे दुश्मनका भेजा हुआ न हो! देखो, सुग्रीवके मनमें बालिके प्रति क्रोध था, तो जब उन्होंने रामलक्ष्मणको आते हुए देखा, तो उनके मनमें क्या आ जाता है?

पठवा बालि होइ मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह शैला॥

कहीं बालिने ही इनको न भेजा हो कि मैं तो कहीं नहीं जा सकता और जा करके तुम मार डालो। यह बुद्धिका नाश हो गया। बुद्धिका नाश कहाँ हुआ? जहाँ ईश्वरपर, शास्त्रपर, गुरुपर, सत्सम्प्रदायपर, मोक्षके साधनपर जहाँ शंका हो गयी, वहाँ बुद्धिका नाश हो गया। **बुद्धिनाशः**।

भाई! बुद्धिके नाशसे क्या होगा? तो आप यह समझो कि आत्माका नाश नहीं होता, नाश तो बुद्धिका ही होता है। आत्मा तो अविनाशी तत्त्व है। तो बोले कि जैसे देहके मरनेसे भूला हुआ आदमी, अज्ञानी आदमी मानता है न कि 'मैं मर गया' देह मरा, देहके मरनेसे ही अपना मरना मानता है अज्ञानी पुरुष। वैसे अपने मनोरथके पूरा न होनेपर अज्ञानी पुरुष मानता है कि अब हमारे जीवनमें क्या है? हमारी तो इच्छा ही पूरी नहीं हुई। बोले—कहीं दुश्मनसे हार गया, शक्ति न चली तो? अन्नमयकोशके नाशसे अपना नाश माननेवाला, प्राणमय-कोशके बलके नाशसे अपना नाश माननेवाला—'अरे! मैं तो कमजोर हो गया, मर गया। क्या रहा जिन्दगीमें?' अपना संकल्प पूरा न होनेसे अपना नाश माननेवाला, मनोमयकोश

और अपने विचारका नाश होनेसे अपना नाश माननेवाला, यह विज्ञानमय कोश। अपनी शान्तिसे अपना नाश माननेवाला आनन्दमय कोश। तो—

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशोंमें-से जिसका जहाँ तादात्म्य होता है, उसीके नाशसे वह अपना नाश मानता है। अब स्थितप्रज्ञकी बात है। स्थित प्रज्ञ जो है वह अन्नमें अथवा बलमें अथवा संकल्पमें बैठा हुआ नहीं है। वह तो प्रज्ञाको स्थिर करके बैठा हुआ है। प्रज्ञानका नाश होनेसे ही स्थितप्रज्ञका नाश होगा। इसलिए आप देखते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। गीता 16.21

वहाँ 'आत्मनाश' शब्दका प्रयोग किया हुआ है। आत्मनाश! वहाँ आत्मा शब्दका अर्थ बुद्धि है। बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धि रूप उपाधि। जैसे देहरूप उपाधिके नाशसे लोकमें मृत्यु मानते हैं, वैसे बुद्धिरूप उपाधिके नाशसे साधनमें नाश मानते हैं। साधक कब मरा? जिस दिन शरीर मरा? नहीं। जिस दिन शरीर मरा उस दिन साधक नहीं मरा। जिस दिन उसकी बुद्धि मर गयी उस दिन साधक मर गया।

यदि उसकी बुद्धि बनी हुई है, तो ईश्वरकृपासे वह आगे बढ़ेगा और यदि उसकी बुद्धि मर गयी तो फिर साधक मर गया। इसीलिए वहाँ बताया, कामका जहाँ वर्णन आया—'**ज्ञानविज्ञाननाशम्।**'—गीता 3.41

ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाला कौन है? ये काम-क्रोध जो हैं ये ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाला है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

आत्मनाश-ज्ञानविज्ञाननाश कैसे होता है? बस, बुद्धिका नाश हो गया तो ज्ञानविज्ञानका नाश हो गया।

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

अगर बुद्धिका नाश हो गया बाबा, तो अपना ही प्रणाश हो गया। बुद्धिका नाश तो नाश है और बुद्धिके नाशके साथ-साथ क्या होगा? अब जो साधनका नाश हो गया न, उपायका नाश हो गया। जो परमार्थकी प्राप्तिके लिए साधन हो रहा था वह छूट गया। वह छूट गया तो प्रणाश हो गया। तो ये उपायके जो विरोधी अपाय हैं, उनका वर्णन किया।

अब यहाँ देखो, गीतामें साफ आता है कि जो विषयका चिन्तन करेगा,

उसका प्रणाश हो जायगा और जो भगवान्‌का चिन्तन करेगा उसका? उसका प्रणाश कभी नहीं होगा।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ गीता 9.31

कौन्तेय! तुम घोषणा कर दो दुनिया में। प्रतिजानीहि= 'त्वं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु।' 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक जो 'ज्ञा' धातु है यहाँ उसका अर्थ है 'प्रतिज्ञा करना'। प्रतिज्ञा कर लो न? क्या प्रतिज्ञा कर लें? 'जो भगवद्भक्त है उसका प्रणाश न हो।' यह प्रतिज्ञा कर लो।

अर्जुनने कहा—'तुम्हीं कर लो न? हमसे क्यों करवाते हो? अरे! तुम्हारे भक्तका नाश नहीं होता, यह तुम प्रतिज्ञा करो कि—'अपने भक्तका हम नाश नहीं होने देते।' बोले—'नहीं, हमारी प्रतिज्ञापर लोगोंका विश्वास आगे उठ जायगा।' क्यों? 'जब कोई भक्त बीचमें आड़े आजाता है, तो मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ती है। भीष्मने प्रतिज्ञा अभी कर रखी है कि मैं शस्त्र ग्रहण कराऊँगा। तो आज तो मैं प्रतिज्ञा करूँगा कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता और तीन दिन बाद मेरी प्रतिज्ञा टूटेगी और भीष्मकी रहेगी।' तो भक्तकी प्रतिज्ञा ज्यादा जबरदस्त होती है और भगवान्‌की प्रतिज्ञा जरा ढीली-ढाली होती है। क्यों?

एक तो जिद्द नहीं है, उनमें। प्रेमी लोग जो हैं वे जिद्दी होते हैं। तो भगवान्‌ने कहा—'हम तो प्रियतम बने बैठे हैं। हमको तो सबके सामने झुकना पड़ता है। तुम प्रतिज्ञा करके बैठ जाओ।'

'न मे भक्तः प्रणश्यति'।

मेरी ओरसे तुम बोलो कि 'कृष्णके भक्तका नाश नहीं हो सकता।'

अब उपायका वर्णन करते हैं। विघ्नका तो वर्णन कर लिया, अब साधनका वर्णन करो। स्थितप्रज्ञ होनेमें मददगार क्या है? दोनों तरफसे जानना चाहिए। जो कौरवपक्षको नहीं जानता है, वह पाण्डवपक्षकी खूबियोंको नहीं समझ सकता। रावण कितना भयंकर था, यह जिसको नहीं मालूम है, वह रामने रावणको मारकर कितना भला किया, इस बातका पता उसको नहीं चल सकता। तो दूसरे पक्षका भी ज्ञान होना आवश्यक होता है। जिसको ज्ञानका केवल एक पहलू मालूम है न, उसको तो अर्धांग ज्ञान है।

अर्धांग ज्ञान होना=लकवा ज्ञान जो है न, पक्षाघात शरीरमें जो होता है—

एक अंग उसका बेकार हो गया। इसको पक्षाघात बोलते हैं। तो जो लोग दूसरे पक्षकी बात सुननेमें डरते हैं, विचारके सामने, विवेकके सामने, जहाँ बयान तनखी करके फैसला देना है, तजबीज लिखनी है कि दूसरे पक्षका बयान क्या है? इस पक्षका बयान क्या है? दोनोंकी तुलना करके, दोनों पक्षोंके बयानकी तुलना करके, और उसमें कौन उचित, कौन अनुचित? युक्तियोंके द्वारा उसमें तजबीज लिखना, लेना-देना क्या करना है? उसमें यदि कोई दूसरे पक्षकी बात सुनकर घबड़ा जाता है, तो वह घबड़ाहट जो है, ज्ञानके अर्धांगकी, पक्षाघातकी सूचक है। अगर तुम्हारे अन्दर विवेक है, विचार है तो विचारकी कसौटीपर उसको भी कसो।

इसलिए केवल तत्त्वज्ञान ही नहीं, तत्त्वज्ञानके विरोधी, दुश्मन और तत्त्वज्ञानके अनुरोधी जो उसके दोस्त-मददगार हैं, उन दोनोंको समझना चाहिए। जो अपने दोस्त-दुश्मनको नहीं जानता, उसको अपने कार्यमें सफलता कहाँसे प्राप्त होगी? तो दोस्त-दुश्मन दोनोंको पहचानो। दुश्मनोंसे सावधान रहो और दोस्तोंकी सलाहके अनुसार काम करो। तो क्या है?

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

2.64-65

बात मुख्य यह है कि—'विधेयात्मा प्रसादमधि-गच्छति।' जिसका मन आज्ञाकारी है, उसको प्रसादका अनुभव होता है। प्रसाद माने लड्डु नहीं। हम भी बचपनमें गुड़ और अक्षत इसीको प्रसाद समझते थे। यह तो जब स्वर्ण मंदिरमें गये, तब मालूम पड़ा कि प्रसाद माने कड़ा प्रसाद होता है. कड़ा नहीं, नरम-नरम मोहनभोग वह तो जब अमृतसरके स्वर्ण मंदिरमें गये, तब मालूम हुआ कि प्रसाद माने तो हलवा होता है पीला-पीला, बहुत नरम-नरम जो बिना दाँतके भी निगला जा सके। तो प्रसाद माने होता है देहमें। जब हम बच्चे थे न, तब घंटा-घड़ियाल बजता, हम समझ जाते कि अब आरती हो रही है, प्रसाद बँटेगा। तो पहुँच जाते पूजामें। और, सत्संगकी वृत्तिसे प्रसाद क्या है?

विचारके मैल जो मनमें बैठे हुए हैं, उन मैलोंका दूर हो जाना ही प्रसाद

है। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता'। 'अमरकोशमें है—*प्रसादस्तु प्रसन्नता।* प्रसाद माने मनका निर्मल हो जाना। आँखमें कीचड़ न रहे, जाली न रहे, तो समझो, आँख प्रसन्न है और दिशामें धुआँ न रहे, धूल न रहे, तूफान न रहे तो बाहरकी दिशा प्रसन्न हैं।

तुम्हारे मनमें अगर बाढ़ आ रही है तूफान-कफकी बाढ़ आ रही है, लोभ ही लोभ, लोभ ही लोभ; तो मैल है। तो चित्तकी मैल है। कामनाकी आँधी चल रही है। काम; वात है—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त निज छाती जारा। रा.मा.

क्रोध जो है वह पित्त है, उससे जलन होती है। काम है न, तो जैसे शरीरमें दर्द है न, बात बाढ़ जानेसे जैसे कामसे पीड़ा होती है और जैसे कफ बढ़ता है न, बलगम इकट्ठा हो जाता है शरीरमें, वैसे लोभ जो है, वह धनको इकट्ठा करता है। तो ये जो हैं, ये मनके मैल हैं। काम-क्रोध-लोभ ये मनके मैल हैं। तो साधन कब बनता है? जब प्रसन्न मन हो।

'ओहो! कैसा बढ़िया आनन्द है। आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!' ऐसे बोलते हैं। कब? खूब परमानन्द! कब प्रसादका अभिगम होता है? जब मन आज्ञाकारी हो, विधेयात्मा विधेय= आज्ञाकारी। विधि=विधान। आज्ञा देना। विधेय माने? जो आज्ञा देने योग्य हो। मन हमारा ऐसी स्थितिमें हो कि जिसको हम आज्ञा दे सकें। तो 'ओ रे मेरे मन! जरा देख तो श्रीकृष्णकी ओर!' मन इधर चला गया। बोले—'थोड़ी देर चुप हो जा।' चुप हो गया।

मन अपनी आज्ञा न माने तो? आज्ञा देनेका मन होगा? है न? अगर अपना कोई सेवक हो और बात न मानता हो अपनी, तो उसको आज्ञा देनेकी इच्छा कैसे होगी? 'विधेयात्मा' शब्दका अर्थ है कि मन जो है वह अपनी आज्ञाके अनुसार विधि-विधानके अनुसार चले। पहली बात। फिर बोले—कि 'अच्छा, आप क्या कहना चाहते हैं? कि फिर दुनियाका कोई काम न किया जाय?' बोले—'नहीं, दुनियाका काम खूब करो।'

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64

अच्छा, आप बताओ, माधवबाग जब आप ठाकुरजीका दर्शन करनेके

लिए जाते हो, तब आपकी मनोवृत्ति कैसी होती है? और जब आप सिनेमा देखनेके लिए घरसे निकलते हो, तब आपकी मनोवृत्ति कैसी होती है? और, जब दर्शन करके लौटते हो तब मन कैसा रहता है? और जब सिनेमासे लौटते हो तब मन कैसा रहता है? अरे! खुद पढ़ लो न, अपने मनकी किताब खुद पढ़ो। तब पता चलेगा कि तुम्हारे मनमें हर्ष और प्रसाद ये दो चीज होती है। हर्ष जो होता है उसमें रजोगुण होता है, उसमें अभिमान होता है, उसमें वासनापूर्ति होती है।

जो प्रसाद होता है, उसमें निर्मलता होती है। दिशः प्रसन्नाः। आज दिशाएँ प्रसन्न हैं। प्रसन्न हैं माने निर्मल हैं। आज चेहरेपर शुद्ध सात्त्विक भाव है। इनके मुखपर प्रसन्नता है।

पहली बात है कि इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध तो करो। माने पाँवसे चलो, हाथसे काम करो, जीभसे बोलो, आँखसे देखो, कानसे सुनो। इन्द्रियोंको ठप्प नहीं करना। यह स्थितप्रज्ञ होनेका साधन है। तब क्या करें?

इन्द्रियोंके साथ दो चीज होनी चाहिए—एक तो '**रागद्वेष वियुक्तैस्तु**'—इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न हो। और दूसरी बात क्या है? '**आत्मवश्यैः**।' वह हमारे वशमें हों। भोजन कर रहे हैं, तो देखो, 'उस दिन यह भोजन किया था तो बड़ा मजा आया था। आज भी बड़ा मजा आ रहा है। तो आगे भी यह भोजन हमको बार-बार मिले।' तो राग हो गया न? फिर राग हो गया—'पहले मिले हुए सुखकी याद करके और वर्तमानमें जो सुख मिल रहा है, यह देख करके, आगे भी यह सुख देनेवाली चीज हमको बराबर मिलती रहे।' यह जो वासना मनमें होती है, इसका नाम राग है।

'इसने हमको उस दिन बहुत दुःख दिया था और आज भी दुःख दे रही है और आगे भी दुःख देगी। इसलिए इस चीजका मुँह देखना भी बुरा है'—यह क्या हुआ? यह द्वेष हुआ। 'यह आदमी हमारे सामने आवे, और यह आदमी हमारे सामने न आवे।'—तो आँखको ऐसा मत करो। जो आँखके सामने आता है उसे आने दो और जो उसके सामने जाता है उसे जाने दो। हमको एक-दो बार बड़ा वहम हो गया था। हमारे गाँवमें एक-दो आदमी ऐसे थे जिनके बारेमें हमारा ऐसा ख्याल हो गया, कि अगर नींद टूटते ही ये हमारे सामने आजायँ तो और इनका मुख दिख जायँ तो दिनभर बड़ी तकलीफ होती है। अब देखो, क्या हुआ?

जब हमको पता चल जाय कि वे आदमी आगये हैं, बैठ रहे हैं, हँस रहे

हैं, बोल रहे हैं, बात कर रहे हैं तो अगर हम जगे हुए हों, तब भी मुँह ढँके ही रहते थे, उठते नहीं थे, जबतक ये चले न जायँ। यह अपनी बात आपको सुनायी।

एक बैल था हमारे। तो ऐसा वहम हो गया हमको कि यदि सबेरे-सबेरे उठकर हम इसका मुख देखते हैं तो उस दिन हमको धनकी प्राप्ति होती है। अच्छा, यह बात! हमने तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। ऐसा विश्वास जम गया कि उसका मुँह अगर सुबह-सुबह दिख जाय तो धनकी प्राप्ति जरूर होवे। अब इससे राग हो गया और उस आदमीसे द्वेष हो गया।

अब क्या हुआ कि हमारी बहनकी शादी जहाँ हुई थी, बड़े सम्माननीय रिश्तेदार थे। उन लोगोंको किसी तरह इस बातका पता चल गया कि यह बैल ऐसा है कि सबेरे इसका मुँह देखा जाय तो उस दिन धनकी प्राप्ति होती है। उन्होंने माँग लिया कि हमको यह बैल दे दो। अब समझो, दु:ख होगा कि नहीं? दे तो दिया, लेकिन मनमें दु:ख हुआ कि 'हाय-हाय! यह ऐसा लक्ष्मीका कृपापात्र जो वृषभ-धर्म था हमारे घरमें, वह गया।' दु:ख हुआ।

तो मनमें ऐसा राग-द्वेष हो गया। असलमें यह एक चित्तका विश्वास होता है। भाव होता है और आपका जहाँ विश्वास हो जाय, भाव हो जाय! दिन भरमें कुछ-न-कुछ अनिष्ट भी होता है और दिनभरमें कुछ-न-कुछ इष्ट भी होता है। तो जहाँ अपने मनमें बात भरी रहती है, उसके साथ हम अपना सम्बन्ध बना देते हैं। यह बात होती है।

इन्द्रियोंके साथ राग-द्वेषका सम्बन्ध मत जोड़ो। जो सामने आवे उसको देखते चलो। ज्ञानका काम केवल प्रकाशित करते चलना है। विषयको पकड़कर बैठ जाना, यह ज्ञानका काम नहीं है। यह बात आगे बहुत स्पष्टरूपसे बतायी हुई है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 3.34

हमारा दुश्मन कौन है? इन्द्रियाँ दुश्मन नहीं हैं और विषय भी दुश्मन नहीं हैं। संसारके सम्पूर्ण विषय ईश्वरके बनाये हुए हैं। समष्टि-प्रारब्धसे देखनेके लिए फूल बनाये गये हैं। बिलकुल सच्ची बात है और पीनेके लिए पानी बनाया गया है। रहनेके लिए धरती बनायी गयी है। साँस लेनेके लिए हवा बनायी गयी है।

समष्टि प्रारब्धसे ये सब पञ्चायती पदार्थ बनाये हुए हैं। सब जीवोंका इनमें हक्क है। सूर्यमें, हवामें, पानीमें, धरतीमें आगमें सब जीवोंका समष्टि प्रारब्ध है और यह ईश्वर-ईश्वरके द्वारा बनाये हुए हैं।

और इन्द्रियाँ? इन्द्रियाँ भी व्यष्टि प्रारब्धसे बनायी हुई हैं। है न? इसमें भी व्यष्टि-प्रारब्ध है। किसको, इन्द्रियाँ चार मिले, किसको पाँच मिले, किसको तीन मिले, किसको दो मिले, किसीकी आँख मंदी हो, किसीकी आँख तेज होवे—यह व्यष्टि-प्रारब्धसे देहकी प्राप्ति हुई है। तो यह व्यष्टि-प्रारब्ध है, इनमें भी कोई दोष नहीं। ईश्वरने बनाया है; बिलकुल ठीक-ठीक।

अब ये जो राग-द्वेष हैं न, बोले—इन्द्रिय-दोष नहीं हैं। दूसरे भी दोष नहीं हैं। राग-द्वेष जो हैं, ये दोष हैं। दुश्मनी और दोस्ती, मुहब्बत और नफरत, ये जो हमारे दिलमें जुड़ गयीं, ये तकलीफदेय चीज हैं। ये तकलीफ देती हैं। इन उर्दू शब्दोंका मूल भी संस्कृतमें है। वह तो हम कभी ध्यान नहीं देते हैं ज्यादा। इसलिए समझो, कि यह 'जबरदस्त' शब्द है न, यह दस्त और हस्त—केवल लिखनेमें ही भूल हो गयी। जिसको हम लोग 'हस्त' लिखते हैं, उसको किसी अरबिया-फारसमें रहनेवालेने, किसी अरबी या फारसीने वह तो 'ह' नहीं पढ़ा, 'द' पढ़ लिया। गलतीमें उसने हस्तको दस्त बना लिया। बुद्धि ही तो है। और यह 'जबर' है न, जबर। 'जबर' बिलकुल प्रबल है, हमारा है। प्रबल जो है, प्रबल है, उज्ज्वल है, यह जबर। जबर=बलवान। प्रबल। यह बलका बर हो गया है। 'परी' शब्द वेदमें आता है—जलपरी, वेदपरी। तो ये शब्द जो हैं न, यह नहीं कहना चाहिए कि ये वहाँके बने हुए हैं। ये हमारे ही बच्चे-कच्चे, हमारे ही खानदानके हैं ये सब। तो संस्कृत भाषा जो है न, यह विश्वभाषाकी जननी भी है। उसमें-से सारे शब्द निकलते हैं।

तो समझो राग-द्वेष जो हैं वे तकलीफदेय हैं। इनको मिटाओ और दूसरी बात है, राग-द्वेष न भी हों तब भी इन्द्रियाँ देखती रहें, सुनती रहें, बोलती रहें। रहा ही न जाय। तो बोले—'नहीं, आत्मवश्यैः।' बिना राग-द्वेषके खा रहे हैं।

इसका मतलब यह तो नहीं है न कि भर थाली खा जायँ! पेटभर खाना चाहिए, भर थाली नहीं खाना चाहिए। एक आदमीके घर हम भोजन करने गये। तो बोले—'अभी तो क्या? दो मासे आपने खाया है। थोड़ा और, थोड़ा और! थोड़ा और।' तो हमने कहा—'अच्छा, वजन बता दो हमको कि हम

कितना वजन खायें तब तुमको सन्तोष होगा? वजनमें तुम्हारा सन्तोष है कि हमारी तृप्तिमें तुम्हें सन्तोष है?' बोले—'नहीं, थोड़ा और लो महाराज!' तो वह वजनको कीमती समझता है। हमारा पेट खराब होगा, इसको कीमती नहीं समझता है। उसकी दृष्टिमें उसका पावभर, आधा पाव अन्न है वह कीमती है। और हमारा जो लाखों रुपयेका पेट है, यह खराब हो जाय इसकी उसके मनमें कोई कीमत ही नहीं। ज्यादा खिलाना कोई प्रेमकी बात थोड़े ही है? वह तो कीमत अपने अन्नकी मानता है, पेटकी नहीं मानता है। तो अब उसके प्रेमको तो समझते हैं, पर समझते हैं कि यह बेवकूफ प्रेमी हैं। उसके प्रेमको तो समझते हैं पर उसको बेवकूफ भी समझते हैं।

आत्मवश्यैः माने अपने वशमें इन्द्रियाँ हैं। जितना हम खाना चाहें उतना खायँ। जितना हम बोलना चाहें उतना बोलें। जहाँ यह हो जाय! बस तूष्णीं। जीभको कह दिया कि बस, बन्द हो जाओ। उसके बाद जीभ नहीं बोले। हाथको कह दिया चुप और वह काम नहीं करे। यह काम करे, लेकिन हमारे हाथके नीचे होकर काम करे। हम जो काम करना नहीं चाहते हैं, वह काम हमारा हाथ करे? हमारी बुद्धि जहाँ जानेको मना करती है वहाँ हमारे पाँव जायँ? जो हम बोलना नहीं चाहते हैं उसको हमारी जीभ बोल दे? नहीं, ऐसे करण हमको नहीं चाहिए।

करण=कर। मन्त्रीको भी 'करण' बोलते हैं। चक्रको भी 'करण' बोलते हैं। सेवकको भी 'करण' बोलते हैं। ये जो राजाके यहाँ काम करनेवाले होते हैं न, हस्तामात्य-उनको 'करण' ही बोला जाता है। राजाके काम करनेके जो औजार हैं, औजारके रूपमें आदमी हैं वह भी करण हैं। तो ये जो हमारे शरीरमें चपरासी हैं हाथ-पाँव, ये सब चपरासी हैं और ये आँख-कान-नाक आदि जो हैं, ये रास्ता बतानेवाले हैं।

यह बुद्धि जो है, यह तो प्राइवेट सेक्रेटरी है। ये सब अगर अपने वशमें हों, तब तो हमारा काम ठीक होगा और इनमें भी राग-द्वेष और पक्षपात न हों, इनमें भी पक्षपात और दुश्मनी न हों किसीसे और सब अपने काबूमें हों।

विधेयात्मा। शास्त्र, गुरु, आचार्यके अनुसार अपना मन चलता होवे इस तरहसे यदि हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करें, तो क्या होगा? **विषयानिन्द्रियैश्चरन्**।

इस तरह इन्द्रियोंका व्यवहार हम संसारमें करें तो—

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

उसको प्रसादकी प्राप्ति होती है। बड़ी प्रसन्नता! उसका अन्त:करण निर्मल हो जायगा। और देखो, जो विषयचिन्तक होगा, विषयासक्त होगा, कामी होगा, क्रोधी होगा, सम्मोही होगा, स्मृतिभ्रष्ट होगा, नष्टबुद्धि होगा, उसका तो प्रणाश होगा। लेकिन जो प्रसन्न होगा, हृदयमें निर्मल होगा। हृदय उसका क्या होगा?

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

प्रसादे सर्वदु:खानां हानि:। आप दु:खसे छूटना चाहते हैं कि नहीं? एक ईश्वरप्रसाद होता है, एक जीव प्रसाद होता है। एक खुदावक्त होता है, एक रुहवक्त होता है। खुदावक्त=ईश्वरप्रसाद जो खुद आवे सो खुदा। स्वयंभू=जो स्वयं आवे सो स्वयंभू:। स्वयंभू=स्वयं भवन्ति।

'ईशावास्योपनिषद्'में पढ़ते हैं न?

तर्हि स्वयंभू:।

खुद आवे सो खुदा। खुदा खुद=स्वयं+आ=आवे। तो यह क्या है? यह जो स्वयंभू है न, ईश्वरप्रसाद कहाँ है?

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत् प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

गीता 18.62

समष्टि-प्रपञ्चका जब निषेध हो जाय, तब समझना ईश्वरप्रसाद और व्यक्ति-प्रपञ्चका जब निषेध हो जाय तब समझना जीवप्रसाद। प्रत्यक् प्रसाद और ईश्वरप्रसाद। अन्तर्यामी ईश्वरका प्रसाद माने उसमें जो आरोपित पदार्थ हैं, उनका निषेध हो जाय।

●

: 53 :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

2.64-68

प्रज्ञा=बुद्धि। अचल समझदारी और उसका स्थित होना माने अपने निश्चयमें, अपने अनुभवमें दृढ़ होकरके रहना। जिसको ऐसी प्रज्ञा प्राप्त हो गयी है, उसको बोलते हैं स्थितिप्रज्ञ। तो विषयका चिन्तन, विषयासक्ति ये सब आठ विघ्न मैंने बताये। अब उसके साधन बता रहे हैं। वह स्थितिप्रज्ञताके प्रसंगमें भी

है। इसलिए 'किमासीत'? 'ब्रजेत किं'? स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है? इसका गमन कैसा है? तो स्थितप्रज्ञ होनेके पूर्व उसका आचरण कैसा है? स्थितप्रज्ञ होनेके अनन्तर उसका आचरण कैसा है? ये दो विभाग हो गया। तो-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। 2.64

से ले करके **निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥** (श्लोक 2.68) स्थितप्रज्ञ होनेके पूर्वके जो साधन हैं, उनका वर्णन है और इसके बाद जो है, परमात्माकी प्राप्तिके बाद स्थितप्रज्ञका आचरण—दो विभाग कर लेनेके पश्चात् आप यह समझो, आप पहले विभागमें समझो कि जिसको स्थितप्रज्ञ होना है, वह किस मार्गसे चल रहा है?

चलनेका अर्थ पाँवसे चलना नहीं, आचरण। चरण=चलन-आचरण। परमात्माकी प्राप्तिके लिए वह किस ढंगसे चलता है? क्योंकि जो सिद्धका स्वाभाविक लक्षण है, वही साधक के जीवनमें प्रयत्नपूर्वक लानेकी वस्तु है।

आप देखो, एक-एक शब्दको पहले ध्यानमें कर लेते हैं। पहली बात है **अधिकारी**। वह कौन है? **विधेयात्मा**। माने जिसका मन आज्ञाकारी है। एक होता है **अकृतात्मा**। अकृतात्मा माने जिसने अपने आपको प्राप्त नहीं किया। तो उसका क्या हुआ? उसने अपने मनको वशमें नहीं किया हुआ है। तो भीतर तो उसको सुख नहीं मिल रहा है। उसको अपने घरकी कोई चीज अच्छी नहीं लगती।

एक आदमी है, किसी मकानमें रहता है। उसको अपने घरका पलंग भी अच्छा नहीं लगता। दूसरेके घरका अच्छा लगता है। उसको अपने घरका भोजन भी अच्छा नहीं लगता। दूसरेके घरका भोजन अच्छा लगता है। अपनी स्त्री भी अच्छी नहीं लगती। दूसरेकी स्त्री अच्छी लगती है। यह क्या हुआ? इसका नाम हुआ 'अकृतात्मा' वह तो विषयी है, पामर है।

अच्छा अब **कृतात्मा** कौन है? जिसको अपने घरका सब कुछ हर समय प्यारा-प्यारा लगता है। हर समय संतुष्ट है। स्त्री भी बहुत सुन्दर है, मकान भी बहुत अच्छा है, घरमें प्रेम भी है। है न? और अपने घरमें संतुष्ट है। तो 'कृतात्मा' का अर्थ है, जो अपने शरीरके भीतर, अपने हृदयमें, अपने मनमें, अपनी आत्मामें संतुष्ट है, हीनताकी भावनासे आक्रांत नहीं है। जो अपनी साड़ीमें संतुष्ट है, वह दूसरेकी साड़ीके लिए ललचाता नहीं है। जो अपनी

स्थितिमें संतुष्ट है वह 'कृतात्मा' है। तो एक तो हुआ 'अकृतात्मा' विषयी, पामर और दूसरा हुआ 'कृतात्मा'।

अब 'विधेयात्मा' कौन है? दोनों के बीचमें आरुरुक्षु—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कार्यकारणमुच्यते।—गीता 6.3

छठें अध्यायमें बताया है। उस आरुरुक्षुको ही 'विधेयात्मा' बताया है। 'कृतात्मा' बोलते हैं आरूढ को और 'अकृतात्मा' बोलते हैं पतितको। ये तीन विभाग कर लो। जिसका हाथ अपना आदेश न माने, पाँव आदेश न माने, शिष्य आदेश न माने, सेवक अपना आदेश न माने, वह साधनके मार्गमें चलने योग्य नहीं है।

विधेयात्मा माने अपने जो गुरुजन हैं, परिजन हैं, अपना जो परिकर है, इन्द्रियोंका परिकर, ज्ञानेन्द्रियोंका परिकर, कर्मेन्द्रियोंका परिकर, अन्तरंग मन— इन्द्रियोंका परिकर, वह सब आज्ञामें हैं! एक बात। दूसरी बात—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

यह कहो कि स्थितप्रज्ञ जो होना चाहता है या हो गया है, वह हर समय आँख बन्द करके और पाँव बाँध करके बैठा ही रहता है? नहीं वह भी कर्म करता है। 'इन्द्रियैः विषया चरन्'। वह अपनी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको चरता है। चरताका अर्थ वैसे ही लगाओ, जैसे गाय अपने जीवननिर्वाहके लिए घास चर लेती है। उसको हलवा-पूरी खानेकी लालसामें घासको छोड़ती नहीं है। पेट भर गया, हो गया। आनन्द है, मंगल है, तृप्त है।

यात्रा=चरन् माने यात्री होता है न? वह यात्री है-विषयान् चरन्। विषय माने देश भी होता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें विचरता है। लेकिन विलायतमें गये तो अण्डा-मांस और शराबका सेवन करने लग गये, सो बात नहीं। विषयान्=देशान् चरन् विचरन्। भिन्न-भिन्न विषयोंमें-देशोंमें वह जाता है, लेकिन अपनी इन्द्रियोंको राग-द्वेषसे मुक्त और अपने वशमें रखता है। ये दो बात बतायी।

राग-द्वेषसे मुक्त होनेपर भी कभी इन्द्रियाँ गड़बड़ी कर सकती हैं, अपने विपरीत चल सकती हैं और कभी अपने वशमें तो होवे, पर राग-द्वेष कर सकती हैं, तो रागवाली इन्द्रिय पक्षपात करेगी, वह किसीकी ओर ज्यादा झुक जायगी। द्वेष करनेवाली इन्द्रिय किसीसे ज्यादा नफरत करने लगेगी और जो अपने वशमें नहीं होगी वह तो अपनी हुई कहाँसे? जो अपने वशमें नहीं है, वह तो अपना है

ही नहीं। पराया तो उसीको कहते हैं। अगर घरके लोग भी अपने हाथमें नहीं हैं, तो वे पराये हैं और पराये लोग भी अपने हाथमें हों तो अपने हैं।

इन्द्रियाँ जो हैं, वे अपने वशमें होनी चाहिए। शङ्कराचार्य भगवान्‌ने शत्रु और मित्रका लक्षण बताया है। शत्रु कौन है?

के शत्रवः सन्ति? निजेन्द्रियाणि।
तान्येव मित्राणि जितानि तानि॥

अपनी इन्द्रियाँ ही दुश्मन हैं, और मित्र कौन हैं? यदि इन्द्रियाँ जित हैं, अपने वशमें हैं तो मित्र हैं और यदि वे अपने वशमें नहीं हैं तो शत्रु हैं।

दुष्टा भार्या सूमोमित्रः भृत्यश्वोत्तरदायकः।
ससर्पो च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥

पत्नी तो होवे दुष्ट, मित्र होवे कंजूस और सेवक जो होवे, जबान लड़ावे –'भृत्यश्वोत्तरदायकः' और घरमें रहता हो साँप, बोले—अब मरनेमें कोई देर नहीं है।

रागद्वेषरहित और आत्मवश्य इन्द्रियोंके द्वारा विधेयात्मा पुरुष जब भिन्न-भिन्न देशमें—कानसे शब्द देशमें जाता है, आँखसे रूपदेशमें जाता है, त्वचासे स्पर्शदेशमें जाता है, माने तत्तदाकारतरता ही तो गमन है न? गमन माने देशसे देशान्तरगमन नहीं, मनकी तदाकारता ही गमन है। तुम हमारे पास रहते हो कि विलायतमें?

बोले— अगर तुम्हारा प्यारा विलायतमें रहता है तो तुम विलायतमें रहते हो। तुम्हारी ठठरी हमारे पास रहती है।

यच्चित्तो तन्मयो मर्त्यं यो तत् सनातनम्।

जिसका चित्त जहाँ लगा है, वह वहाँ रह रहा है। इससे क्या होता है? जब हम अपने आपमें रहने लगते हैं इन्द्रियोंको वशमें करके, परमात्माकी प्राप्तिके लिए, तो '**प्रसादमधिगच्छति**'।

विषयोंका हमने सेवन किया वह गलत कि सही? यह पता लगाओ। यदि विषयोंके सेवनके बादमें ग्लानि होवे, तब तो पाप ही किया है। विषयोंके सेवनसे हर्ष होवे, परन्तु और वासना बढ़े, तो संसारका रास्ता बिलकुल प्रशस्त हो गया।

यदि ग्लानि भी न होवे और वासनावर्धक हर्ष भी न होवे, तो? तृप्त हो

गये। खा लिया और चुप बैठ गये। बैलने खा लिया, उसके बाद क्या किया? बैठकर जुगाली करने लगा और शान्तिसे बैठ गया। तो तुम्हारा मन संसारके विषयोंका सेवन करनेके बाद क्या करता है?

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

जिससे आत्मग्लानि होवे, वह कर्म कभी नहीं करना और जिससे आत्मतुष्टि होवे, वह कर्म करना। तो प्रसादका अर्थ जो है उसमें ग्लानि तो कभी हो ही नहीं सकती। यह तो ग्लानिका दुश्मन है।

यह 'दुश्मन' शब्द दो तरहसे बनता है—एक तो 'दुर्मना'से बनता है। 'दुर्' में जो रेफ है न, वह श् -बन गया। इतनी व्याकरणकी प्रक्रिया होती है। दुश्+मना। *दुः दुष्टं मनः यस्य स दुर्मना।* दुश्का जो श् है वह रह गया तो 'दुश्मना' हो गया। अथवा दोष-*दुष्टं मनो यस्य स 'दुर्मना'*। दोषमनाका 'दुश्मन' हो गया।

तो यह जो मन है, वह कहाँ रह गया है, यह बात देखना। स्वास्थ्यं प्रसाद माने? निर्मल मनमें दोष न होवे। न ग्लानि होवे न हर्ष होवे, न वासना होवे। **प्रसादः स्वास्थ्यं विकारैकान्ततिरस्कारः प्रसादः।**

विकारका जो सर्वथा तिरस्कार है, उसका नाम प्रसाद है। प्रसादः स्वास्थ्यम्। अपने दिलमें बैठे हैं। दूसरेके घर जानेकी कोई जरूरत नहीं है। योगीका आसन अचल है। योगी अपने अचल आसनमें बैठा है। यही उसकी रहनी है। '**प्रसादमधिगच्छति**'।

यह प्रसाद मिलनेसे क्या होता है?

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

सेसन्द्रि विशरण गति और अवसादन—यह प्रसाद है। तो इसमें सारे दुःख जो हैं, वह भाग गये हैं और सारे दोष जो हैं वे उड़ा दिये गये हैं। चित्तमें कोई दोष नहीं है, कोई दुःख नहीं है। जिसको जिस रास्ते चलना चाहिए, बिलकुल ठीक उसी रास्ते चल रहा है, मार्गपर आगया है। तब प्रसाद हो गया। 'प्रकृष्टः सादः प्रसादः' **सेन्द्रिविशरणगत्यावसादन हेतुः।**

पासवाले सत्तासे 'श्' का 'स्' हो गया है, यह 'प्रसाद' शब्द बना है।

जिस अवस्थामें जा करके मनुष्य बिलकुल प्रसन्न हो जाय, निर्मल हो जाय, स्वस्थ हो जाय, उसका नाम 'प्रसाद' है।

अच्छा, प्रसादकी पहचान बताते हैं कि तुम्हें प्रसाद मिला की नहीं? 'भागवत्'के दूसरे स्कन्धमें एक जगह 'अध्यात्मप्रसाद' शब्दका प्रयोग है। 'अध्यात्म-प्रसाद' अध्यात्म= शरीरमें रहनेवाली सब इन्दियाँ और मन बिलकुल प्रसन्न, स्वस्थ बैठे हैं। आँख देखनेके लिए भागती नहीं है। आया, देख लिया पर दौड़ी-दौड़ी फिरती नहीं हैं। बोले—'प्रसन्न हैं।' और यह देखे बिना रहा नहीं जाता, वह देखे बिना रहा नहीं जाता—यह जो है, यह दु:ख है।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।

यस्य विधेयात्मनः पुरुषस्य—यह जो विधेयात्मा पुरुष हैं, अधिकारी-

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।

जब उसको प्रसादकी प्राप्ति होती है, प्रसन्नता जब मिलती है, चित्तमें जब निर्मलता आती है, तो सारे दु:ख बाहरसे ही भाग जाते हैं। सफाईमें दु:ख नहीं आते, गन्दगीमें दु:ख आते हैं।

प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिपर्यवतिष्ठते॥

जिसका ज्ञान प्रसन्न है, जिसकी बुद्धि प्रसन्न है, जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। जब घरमें प्रसन्नता नहीं मिलती है, तब मनोरंजन के लिए बाहर जाते हैं। यदि तुम्हारी बुद्धिको घरमें ही प्रसन्न वातावरण मिल गया तो बाहर जाने की क्या जरूरत? तो प्रसन्नचेता जो पुरुष होता है, उसकी बुद्धि पर्यवस्थित होती है, परिनिष्ठ होती है, निष्ठावती होती है।

किसकी बुद्धि? जिसका चित्त प्रसन्न है। दु:खके निमित्तसे गन्दगी। जैसे गंदगी देखकर वहाँ थोड़ी गदंगी और डाल देते हैं। तुम्हारे घरमें कोई आवे और वह अपना नाखून काटे या बाल काटे और यदि देखेगा कि तुम्हारा घर स्वच्छ है, तो वहाँ उसको हिम्मत नहीं पड़ेगी कि यहाँ अपना नाखून डाल दें। जब वह देखेगा कि यहाँ पहलेसे ही कूड़ा रखा हुआ है, गन्दगी है, तब वहाँ वह गन्दगी डाल देगा। तो ये सारे कहाँ जाते हैं? सारे दु:ख वहाँ जाते हैं जहाँ इनके आर्कषणका केन्द्र होता है। सभी वस्तुएँ अपने केन्द्रकी ओर आकृष्ट होती हैं। यह सिद्धान्त तो आप जानते हैं न? यह 'न्यूटनसिद्धान्त' है।

पेड़ परसे फल धरतीपर क्यों गिरता है? फलका केन्द्र जो है, कारण जो

है, वह धरती है। सारी चीजें अपने कारणकी ओर आकृष्ट होती हैं। अब दु:खका कारण क्या है? आप जानते हैं? दु:खका कारण दोष है। दु:खका कारण पाप है। जहाँ दोष है, जहाँ पाप है, दु:ख अपने कारणकी ओर—'कारणपर्यवसान' सिद्धान्त जो है, कारणकी ओर आकृष्ट होना—उस सिद्धान्तके अनुसार सारे दु:खी पापकी ओर जाते हैं। सारे दु:ख पापकी ओर जाते हैं। जैसे फल धरतीकी ओर जाता है, पानी समुद्रमें जाता है, ये बादलमें जो पानी है, वह कहाँ ज्यादा बरसता है? समुद्रमें ज्यादा बरसता है। सारी वस्तुएँ जो हैं अपने कारणकी ओर जाती हैं, तो दु:ख भी अपने कारणकी ओर ही जाता है। दु:खका कारण क्या है? जहाँ दोष है, जहाँ पाप है, वही दु:ख जाते हैं। जब प्रसाद=बिलकुल स्वच्छता हो गयी, अन्त:करणमें कोई दोष नहीं रहा, तो दु:खकी हानि हो गयी। अब जब प्रसन्नचित्त हुआ तो क्या हुआ? जो भीतर भरा हुआ है सो निकलेगा। बाहर नहीं जाओगे तो घरकी चीज दीखेगी न?

घरमें क्या भरा हुआ है? घरमें तो अखण्ड सत्ता भरी हुई है, अखण्ड ज्ञान भरा हुआ है, अखण्ड आनन्द भरा हुआ है। अखण्ड सत्ता, अखण्ड ज्ञान, अखण्ड आनन्द तो घरमें तुम्हारे भरपूर है। लेकिन तुमको घरकी चीजका तो पता ही नहीं। तुम तो बाहर घूमने जाया करते थे न रोज? आज जब दोषमुक्त हुआ, अन्त:करण दोषमुक्त हुआ, मैल जरा हट गयी, तो मालूम हुआ कि जिसको हम पीतल समझते थे, वह तो सोना है। जिसको हम काँच समझते थे, वह तो हीरा है। जिसको हम विष समझते थे, वह तो अमृत है। अरे, राम-राम! सर्वसुखकी खान तो हमारी आत्मा ही है। अपना हृदय ही है। अब बुद्धिने कहा कि बस-बस! अबतक मैंने बहुत गलतीकी, जो इधर-उधर भटकती रही। अब तो आकरके वह निष्ठावती हो गयी। बस! यही सबसे ऊँची निष्ठा है। अब—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 2.66

अच्छा भाई, तुम सुख पाना चाहते हो कि नहीं?

सर्वोऽपि जनो मन्दोऽपि।

सभी लोग मन्द-से-मन्द भी सुख चाहते हैं और दु:ख नहीं चाहते। देखो, अपना होना चाहते हो न! अपना अस्तित्व चाहना और नास्तित्व न

चाहना, तो 'है' अपना स्वरूप है। सब समझदारी चाहते हैं, बेवकूफीको कोई चाहते हैं? ज्ञान जो है, यह अपना स्वरूप है। सुख ही अपना स्वरूप है। तो सुखकी प्राप्ति कब होगी? जब तुम्हारे हृदयमें जो 'ख' है, 'ख'=शून्य, आकाश। ख=हृदयाकाश। सुष्ठु खं सुखं। हृदयाकाशका सुष्ठु होना माने शुद्ध होना, शोभायमान होना, यही सुख है। जैसे आकाशमें आँधी चलना या बादल आना या धुआँ होना, यह आकाशका दूषित होना है।

इसी प्रकार हृदयमें कामकी आँधी आना, क्रोधकी गरमी पड़ना, लोभकी बाढ़ आना, यह जो तूफानकी अवस्था हृदयाकाशमें है, उसका नाम दु:ख है।

सुख है। 'ख' तो एक ही है। दु:खमें भी वही और सुखमें भी वही है। कं ब्रह्म, खं ब्रह्म। यह खं ब्रह्म जो है, निष्प्रपञ्च ब्रह्म। खं=निष्प्रपञ्च ब्रह्म, सुखस्वरूप ब्रह्म जो सबको खा जाता है। किसीको नहीं छोड़ता है। खदिति-ख-खद् जैसे खादति बनता है न!

खादति सर्वं इति ख।

आकाश किसको कहते हैं? जो पृथिवी-जल-अग्नि-वायुको खाकर अन्तमें रहता है। आप लोग जानते हैं, श्रीचैतन्य महाप्रभु पाठशालामें पढ़नेके लिए गये, तो पण्डितने उनको पढ़ाया। क बोले क, ख बोले ख। बोले—'पंडितजी! पहले क और पीछे ख क्यों? पहले ख और पीछे क क्यों नहीं? आजकल तो क माने कबूतर पढ़ाते हैं। अभी एक विधानसभामें यह झगड़ा हुआ था कि ग माने गधा पढ़ाया जाय या ग माने गणपति पढ़ाया जाय? और सर्वसम्मति गधेके पक्षमें रही। गणपतिके पक्षमें सर्वसम्मति नहीं हुई। समझो, आजकल गधेका पक्ष कितना बढ़ गया है? वोट भी उन्हींके पक्षमें ज्यादा। गणपतिके पक्षमें नहीं दिया। ऐसी तो लोगोंकी बुद्धि चल रही है।

पर चैतन्य महाप्रभुने यह नहीं पूछा कि क माने क्या? क माने कबूतर कि क माने कन्हैया? यह नहीं पूछा। उन्होंने पूछा—'पहले क क्यों? पीछे ख क्यों?' तो पंडितजीको नहीं आया। नहीं बता पाये तो जिद्द किया, रोने लग गये—'हम नहीं पढ़ेंगे। हम बिना समझे कोई बात पढ़ते हैं?'

यह तो आजकलके वेदान्ती होते हैं जो बिना समझे ग्रन्थ-के-ग्रन्थ—'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव।' बिना एक शब्दका अर्थ ठीक-ठीक ध्यानमें आवे—हमारा एक मित्र M.A. पास करके आया था, तो मैंने

कहा—'वेदान्त पढ़ो।' तो तीन दिनमें 'पञ्चदशी' पूरी। बोले—'अब बताओ, क्या पढ़ें?' मैंने कहा—'अब 'अद्वैतसिद्धि' पढ़ो या 'खण्डनखण्ड-खाद्य' पढ़ो। दो दिनमें तो पूरे हो जायेंगे। क्या मुश्किल है?'

उस दिन तो उस अध्यापकको नहीं आया। फिर वे बड़े पण्डितके पास गये। वे बोले, 'अभी बालहठ है, वह पूछता है तो जबतक उसको उत्तरसे संतोष नहीं होगा, तबतक वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आगे नहीं बढ़ सकता।' तो बोले—'देखो, क=करो, ख=खाओ। पहले करो, फिर खाओ। कर्म पहले, भोग बादमें। अगर पहले भोग करोगे बादमें कर्म करोगे, तो भोगकी वासनासे कर्म होगा, तो वह कर्म जो है, पापीका कर्म-र:: हो जायगा।'

तो बोले—'हाँ, यह बढ़िया है। पहले काम करना, फिर खाना।' यह तो बढ़िया बात मास्टरने बतायी। समझमें आगयी बात। तो क-ख यह पद्धति है।

'ख' जो है, वह सबको खानेवाला है। खानेवाला क्या है? भौतिक भूतोंमें आकाश सबको खानेवाला है। और प्राकृत तत्त्वोंमें महाप्रलयके समय जो प्रकृति रहती है, यह सबको खा जाती है। और ब्रह्मज्ञान सबको खा जाता है। ब्रह्म तो सबको खाये हुए है ही है। है न? तो सुखमें भी ब्रह्म ही है और दु:खमें भी ब्रह्म ही है। अब सुखमें 'सु' उपसर्ग है और दु:ख में 'दु:' भी उपसर्ग है। 'सु' और 'दु:' दोनोंमें-दु:=दुष्ट और सु=सुष्ठु। दोनोंमें जो एक है, उसका नाम है 'ब्रह्म'। सुखका अनुभव कब होता है? जब हृदयमें शान्ति रहती है। *'अशान्तस्य कुत: सुखम्?'*

जहाँ अशान्ति है, वहाँ सुखकी प्राप्ति नहीं होती। तो बोले—'भाई, बात क्या है? बात यह है कि जो पहले युक्त होता है, उसको बुद्धि प्राप्त होती है। **नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य**। साधनसम्पन्न हो करके, शमदमादि साधनसे सम्पन्न हो करके गुरुके पास जाकरके और श्रवण-मनन नहीं करता है, वह अयुक्त है। जो श्रवण करता है वह भी युक्त है। क्योंकि उसमें निश्चय होता है न? और जो मनन करता है, वह युक्तियोंके द्वारा समर्थन करता है। तो जो शास्त्रका श्रवण करेगा, और युक्तियोंके द्वारा चिन्तन करेगा वह क्या होगा? वह बुद्धि सम्पन्न होगा। उसको प्रज्ञा प्राप्ति होगी।

जो श्रवण-मननरूप युक्ति है, उसको धारण नहीं करेगा तो उसको बुद्धि नहीं मिलेगी। बुद्धि जो है, वह श्रवण-मननका फल है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। 2.66

जो श्रवण-मनन नहीं करेगा उसको भावना भी नहीं, माने निदिध्यासन भी नहीं होगा। भावना माने विजातीय प्रत्ययका तिरस्कार करके सजातीय वृत्तिका प्रवाह। जिस वस्तुका श्रवण किया है, मनन किया है, उसकी बार-बार आवृत्ति होकरके भावनामें स्थित हो जाना—निदिध्यासन, वह भी सम्पन्न नहीं होगा। तो पहले शमदमादि-सम्पन्न हो करके श्रवण-मनन करो, तब बुद्धि मिलेगी, ज्ञान मिलेगा और जब बुद्धि मिलेगी तब निदिध्यासन करके उसमें स्थिति प्राप्त करो।

अच्छा, '**न चाभावयतः शान्तिः**।' हमने श्रवण तो बहुत किया, मनन तो बहुत किया, लेकिन भावनारूप निदिध्यासन नहीं किया, तो क्या होगा? 'न चाभावयतः शान्तिः'। यदि भावना नहीं करोगे तो तुम्हारी बुद्धि चाहे जितनी बढ़ जाय और युक्तियाँ चाहे जितनी फुरने लगे मनमें, श्रवण-मनन चाहे जितना करो, लेकिन शान्ति नहीं मिलेगी।

शान्ति माने? अविद्या और अविद्याके कार्यका तिरस्कार हो करके ब्रह्म विद्याकी जो प्राप्ति है न, प्रपञ्चके कारण अविद्याको शमन करनेवाली जो ब्रह्मसाक्षात्मकार रूपा वृत्ति है, परमावृत्ति, चरमावृत्ति है, वही शान्ति है। **अशान्तस्य कुतः सुखम्।**

'जाने दो ज्ञान-वैराग्यको, हमें ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं' बोले—'तुम ज्ञानको हाथ जोड़ोगे तो सुखको भी हाथ जोड़ लोगे।'

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'?

1. जिसको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी, अविद्यानिवर्तक ब्रह्माकारवृत्ति जिसको प्राप्त नहीं होगी, उसको सच्चे सुखकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती। 2. इसलिए, सुखकी प्राप्ति करनी है तो ब्रह्मसाक्षात्काररूपावृत्ति-शान्ति प्राप्त करो। 3. शान्ति प्राप्त करनी है तो निदिध्यासन-रूपा भावना प्राप्त करो। और; 4. निदिध्यासनरूपा भावना प्राप्त करनी है तो श्रवण-मननरूपा जो बुद्धि है वह प्राप्त करो। 5. बुद्धि प्राप्त करनी है, तो शमदमादि षटसम्पत्ति हैं, उसको प्राप्त करो। देखो, वेदान्तका सारा अर्थ एक श्लोकमें आरूढ़ हो गया—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.66-67

'इन्द्रियाणां हि चरतां'—ये इन्द्रियाँ महाराज, घास चरनेवाली! ये कोई समाधि लगानेवाली तो नहीं हैं। ये तो घास खायँ, बस। 'इन्द्रियाणां हि चरतां'—

इन्द्रियाणां गवाम् चरतां यन्मनोऽनुविधीयते-जो मन उसके अनुकूल चलता है, जो-जो प्यारा लगे दुनियामें। तुम प्रेयके यात्री हो कि श्रेयके यात्री हो? जो-जो तुम्हारे मनको पसन्द आवे, सो-सो करोगे कि जिसमें तुम्हारा भला हो, जिसमें तुम्हारा कल्याण हो, वह करोगे? क्या करोगे?

मन्द जो है, वह प्रेयका वरण करता है और धीर जो है, वह श्रेयका वरण करता है। सारा 'कठोपनिषद्' आगया न इसमें? सारे 'कठोपनिषद्' का सार यह है कि मुमुक्षु पुरुषको प्रेयका वरण न करके श्रेयका वरण करना चाहिए। जो अपनी इन्द्रियोंको और मनको पसन्द आवे उधर न जाकरके जिससे परमात्माकी प्राप्ति होवे ऐसे श्रेयके साधनका अनुष्ठान करना चाहिए।

'पराचः कामाननुयान्ति बालाः।'

और 'मुण्डक' में बताया—

'धीराः अमृतत्त्वं भजन्ते'।

धीर पुरुष जो हैं, वे अमृतकी प्राप्ति करते हैं और उनकी सारी कामनाएँ जो हैं, वे नष्ट हो जाती हैं।

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।'

मनीराम किसके पीछे चलते हैं? माने तुम किसके पीछे चलते हो? खुद ही को तो पता चलता है न? आदमी कहाँ जाता है?

'इन्द्रियाणां हि गवामिव चरतां'—जहाँ इन्द्रियाँ जाती हैं, वहाँ जाता है। वे जहाँसे निकलती हैं, वहाँ कभी नहीं जाते। बोले—'गंगासागर' तो आये, लेकिन 'गंगोत्री' कभी नहीं गये। 'गंगोत्री' जाओ तो ऊँचाईपर चढ़ोगे न? वहाँ तो 'केदारनाथ'का दर्शन होगा, बद्रीनाथका दर्शन होगा, वहाँ 'गोमुख'का दर्शन होगा, वहाँ श्वेत धवल हिमगिरिका दर्शन होगा। क्या बढ़िया!

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

चार बात अगर अपने जीवनमें आवे, तो मन वशमें हो जाता है।

एक तो यह कि नाखूनसे लेकर चोटीतक यह जो अपना शरीर है, उसके भीतरकी जो मशीनें हैं, वे कैसे काम करती हैं, माने हाथ कैसे उठता है, पाँव कैसे चलता है ? आँख कैसे देखती है, कान कैसे सुनता है ? बुद्धि कैसे सोचती है ? यदि अध्यात्मविद्या तुम्हें मालूम पड़ जाय, *आत्मनि इति अध्यात्मम्*=जो शरीरके भीतर ही होता है, उसका नाम 'अध्यात्म'। शरीरके भीतर इन्द्रियाँ और मन कैसे काम करते हैं ? इस बातको अगर तुम समझ जाओ, तो तुम्हारा मन वशमें हो जायगा। और,

2. संतसे प्रीति होवे—'साधुसंगतिरेव च' तो तुम्हारा मन वशमें हो जायगा। और;

3. वासनाओंको छोड़नेका निश्चय करो तो मन वशमें हो जायगा।

4. प्राणायाम आदि जो मनको वशमें करनेके साधन हैं, उनको करो तो मन वशमें हो जायगा। और यदि यह कहो कि अपने आप ही कभी हो जायगा तो अपने आप तो यह सो जायगा। बस! हटकर! अपने आप तो नींद आती है, बस! समाधि नहीं आती है।

समाधि जो है, वह अभ्याससे आती है। निद्रा जो है वह स्वभावसिद्ध है। स्वरूप जो है वह अभ्याससाध्य समाधिसे भी विलक्षण है और स्वभावसिद्ध निद्रासे भी विलक्षण है, अपना स्वरूप। लेकिन समाधि उसकी उपलब्धिमें उपकारक है। और निद्रा उसकी उपलब्धिमें उतनी उपकारक नहीं है। तो उपकारक वह भी, क्योंकि निद्रासे विक्षेप और थकानकी निवृत्ति होती है। तो स्वस्थ चित्तसे चिन्तन करते हैं अथवा निद्रामें भी कोई साक्षीरूपसे रहता है, इसका अनुसंधान करें तो निद्रा भी उपयोगी है। परन्तु; अभ्याससाध्य जो समाधि है, वह फलात्मक स्थिति है। वह संस्कारसे सिद्ध होती है और निद्रा जो है, वह विकारसे सिद्ध होती है। निद्रा जो है, यह शारीरिक विकार है और समाधि जो है, यह शारीरिक संस्कार है। परमात्मा जो है, वह न विकार है, न संस्कार है, वह दोनोंसे विलक्षण है।

अब यह देखो, कोई-कोई लोग हैं, उनकी विकारमें तो रुचि है, संस्कारमें रुचि नहीं है। जिनकी रुचि विकारमें ही है, किन्तु संस्कारमें नहीं है, वह साधक जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। वे या तो विषयी हैं या तो सिद्ध हैं। सिद्ध जो हैं, उसको अभ्यास-साध्य समाधिकी कोई अपेक्षा नहीं है। ठीक

है, सहज स्वभावसे नींद आगयी तो सो गये और फिर जग गये, यह बात दूसरी।

जो साधक है उसको तो अभ्याससाध्य समाधिकी अपेक्षा है। जिससे वह विकारका अंश निद्रामें देखता है, वैसे वह संस्कारका अंश समाधिमें देख ले और दोनोंका साक्षी अपना आत्मा प्रत्यगात्मा है और वह ब्रह्मसे अभिन्न है, इसको जान ले वह।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.67

एक मल्लाह है, वह अपनी नावको दृढ़तासे धरतीपर बाँधकर रखता है। तो नाव स्थिर कहाँ होगी? वह स्थित नौकावाला पुरुष, वह मल्लाह—कहाँ होगा? जब धरतीसे उसकी नाव लगी रहेगी,बनी रहेगी और आनेवाली हो आँधी? आँधी तो चलती है और उसने धरतीसे नाव बाँधा नहीं, लंगर बाँधा नहीं, खूँटेमें बाँधा नहीं, रस्सी लगायी नहीं, नावको पानीमें छोड़ दिया। भले वह मल्लाह नावपर बैठा रहे, लेकिन फल क्या होगा?

वायुर्नावमिवाम्भसि। 'अम्भसि नावमिव। धरित्र्याम् नावमिव।' नहीं, धरतीपर जो नाव है, ऐसे नहीं। जो पानीमें नाव है। मनकी चंचलता-रूप जलमें जिसके जीवनकी नाव फँस गयी और वासनाकी वायु इधरसे उधर जोर करके बहा रही है, वह जीवनकी नावको डूबो देगी। तोड़ देगी, कहीं किनारेपर टकरायेगी, नष्ट-भ्रष्ट कर देगी।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। 2.67

अब मनका नाविक उसपर पैठा हुआ भी है, फिर भी मनकी चंचलतारूप जलमें अपने जीवनकी नाव, अपनी प्रज्ञाकी नाव फँसी है और वासनाएँ उसको इधर-से-उधर भटका रही है।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि। 2.67

फिर वह मल्लाह उसमें रहेगा? उसकी प्रज्ञा ठिकाने रहेगी? अरे, वह तो घबड़ा जायगा, 'अब मरा तब मरा।' कहीं यहाँ न कूद पड़े पानीमें, कहीं वहाँ न कूद पड़े पानीमें और कहीं बेहोश होकर नावमें ही गिर न पडे। यही तो उसकी दशा होगी न? इसलिए करना क्या चाहिए? सबसे बढ़िया बात यह है कि—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.68

इसलिए भाई, इनको छोडो, विकारके वशवर्ती मत होओ। मनुष्यके जीवनमें और पशुके जीवनमें थोड़ा फर्क है। आजकल तो जो खोज होती है खोज! मनुष्यके जीवन सम्बन्धी गहराइयोंकी खोज न करनी हो, तो हमारे वर्तमान वैज्ञानिक लोग पशुके जीवनकी खोज करते हैं। आप देखते हैं कि नहीं?

इस दवाका असर कुत्तेके शरीरपर क्या हुआ? बंदरके शरीरपर क्या हुआ। बकरीके शरीरपर क्या हुआ? बोले—ठीक कहा, मनुष्यके शरीरमें भी इसको घुसेड़ दो, कोई हर्ज नहीं। तो पशुके जीवनमें और मनुष्यके जीवनमें जो विषमता है, जो अन्तर हैं, उसपर तो ध्यान देना पड़ता है न? एकके ऊपर किया हुआ प्रयोग दूसरेके ऊपर नहीं चलता। पेनिसीलीनके इंजेक्शन डॉक्टर लोग लगाते हैं न, घुसेड़ते जा रहे हैं। कोई रोग हुआ, बोले—पेनिसीलीन! कानपुरमें एक बार पेनिसीलीनका इन्जेक्शन दिया गया तो लगातार चार-पाँच आदमी मर गये। जाँचकी गयी तो पता चला कि उनका जो रक्त है, वह पेनिसीलीनके वेगको सहने योग्य नहीं है। तो मनुष्य-मनुष्यमें इतना भेद होता है। बन्दरपर किया हुआ प्रयोग मनुष्यके जीवनमें सफल होवे? दोनोंमें फर्क है।

मनुष्यके सिवाय जितने पशु-पक्षी हैं, वे ऊर्ध्वस्रोत हैं और मनुष्य अधःस्रोत है। क्या मतलब हुआ इसका? प्रकृति जो है, वह और प्राणियोंको तो उन्नतिकी ओर लिये जा रही है, सब ऊपर बढ़ रहे हैं, बढ़ रहे हैं। जो रेंगकर चलता है, वह पाँवसे चलने लगता है। जो पाँवपर चलता है, वह खड़ा होकर चलने लगता है। जो बिना हाथका होता है, वह हाथवाला हो जाता है। प्रकृति जो है, समग्र प्राणियोंको उन्नतिकी ओर लिये जा रही है। पर मनुष्य शरीरमें आकर उसकी उन्नतिका अन्त हो जाता है और इसके ऊपर प्रकृति नहीं पहुँचा सकती। तब प्रकृति जो है, विकारकी प्रक्रियासे मनुष्यको नीचे ले जाना शुरू कर देती है। यह दरवाजा है। मनुष्ययोनि प्रकृतिके राज्यसे निकलनेका दरवाजा है।

प्राप्य—यह मनुष्ययोनि प्राप्त करके दरवाजेपर पहुँच करके प्रपञ्चसे निकलनेका दरवाजा है, यह मनुष्य शरीर और यहाँ आकरके भगवान् सुखी होते हैं। देखो क्या—

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ गीता 9.3

मेरे दरवाजेपर आकरके सिर्फ मृत्यु संसारमें लौट गये। दो हाथके हो करके फिर चतुष्पाद हो जाओगे भला! और पदवाले हो करके फिर चींटियों जैसे बिना पदवाले हो जाओगे। क्यों? यह प्रकृतिको जहाँतक उठाना था,—रेलगाड़ी हमको जहाँतक ले जाना था, वहाँ तक ले गयी। अब तुम वहाँ उतरकर अगर अपने गन्तव्य देशमें चले जाओगे, तब तो ठीक है। अगर बैठे रहोगे तो क्या होगा? वहाँसे रेलगाड़ी जब लौटेगी, तब तो फिर जहाँसे चले थे वहाँ फिर लौटके आजाओगे। क्योंकि रेलगाड़ीका काम तो वहाँ जाना और लाना, जाना और आना, यह उसका काम है। उतारना रेलगाड़ीका काम नहीं है। वहाँ सिपाहीने कहा—'यहाँ उतर जाओ' कुलीने कहा, 'यहाँ उतर जाओ'। स्टेशन मास्टरने भी कहा, कि 'यहाँ उतर जाओ'। तब भी न उतरे, उसीपर बैठे रहे तो?

गाड़ी वहाँसे चलेगी तो फिर जहाँसे चले थे, वहीं आ जाओगे। यह प्रकृतिमें जो गमनागमनकी प्रक्रिया हो रही है, एक कीड़ेसे लेकर मनुष्यके शरीरतक पहुँचाती है। यह ईश्वरकी प्राप्तिका द्वार है। '**दुर्लभो मानुषो देहः।**'

यह मनुष्यका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। 'देहिनां क्षणभंगुरः।' यहाँ आकर अगर तुम इस वाहनपरसे उतर नहीं गये, जन्म और मरणके चक्करसे छूट नहीं गये तो फिर इस वाहनमें फिर चौरासी लाख योनियोंकी यात्रा करनी पड़ेगी। अगर यहाँ आकरके छूट न गये तो चौरासी लाख तो थोड़ी गिनती है, थोड़ी है वह। एक-एक करोड़ हो जाते हैं। योनिमें 84-84 लाख भेद है। इतने भीतरी भेद हैं। इतने भीतरी भेद हैं। उनके वह तो उपलक्षणकी रीतिसे उनको गिननेका भी एक ढंग है। किस ढंगसे ये गिने जाते हैं, यह बात है।

मनुष्य-जीवनमें आकरके मुख्य काम क्या है? '**तस्माद्यस्य महाबाहो!**' मनुष्य-योनिकी विशेषता है क्या? महाबाहु होना। बाहु होना और महाबाहु होना। बाहु होना भी विशेषता है, भला! मकान बनाना, नई-नई डिजाइन, नये-नये नक्शे बना लेना, नयी-नयी दिव्यताकी सृष्टि कर लेना, यह मनुष्यका काम है। रसोई पकाना किसको आता है? कपड़ा सीना किसको आता है? हमने तो सुना, पेरिसमें दिनभरमें कई फैशन बदल जाते हैं। पहले बदलते होंगे, मैंने सुना था वैसे। तो भाई! ऐसी दुनिया जो बदल रही है, बदल रही है, बदल रही है।

यह शरीर है न उसमें, तुमको बाहु मिला है, कर्म करनेके लिए। बैलके पास बाहु नहीं है, वह भार ढोनेके लिए है। घोड़ेके पास बाहु नहीं है। वह श्रुवा लेकर हाथमें 'इन्द्राय स्वाहा' करनेके लिए तुम नहीं है। वह वेदकी पोथी लेकर हाथमें—'**गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे**' निधिनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे',यह बोलनेके लिए वह नहीं है। वह वेद पढ़नेके लिए नहीं बनाया गया है। यह तो महाराज! धर्म-कर्मके लिए, धर्मानुष्ठानके लिए बनाया गया है। बाहुका तो काम है कर्मानुष्ठान। पर महाबाहुका? महाबाहुका काम है इन्द्रियोंका निरोध। अर्जुन! तुम महाबाहु हो। इन्द्रियाणां—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।2.68

तुमने कैद किया शत्रुओंको? निगृहीत करना माने वशमें कर लेना इन्द्रियोंको। मारना नहीं। उनको अपने हाथमें रखना है। यहाँसे निग्रह करना है उनका? कहाँसे निग्रह करना है?

'इन्द्रियाणां हि चरतां'।2.67

इन्द्रियोंके विषय जो हैं, उनसे इन्द्रियोंको रोक करके वशमें रखना। जो अपनी इन्द्रियोंको रोकनेमें समर्थ, अर्थात् जो अपनी इन्द्रियोंके वेगको रोक करके संसारका व्यवहार करता है, संसारमें जीवन-यात्रा करता है, जीवन-व्यवहार करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

अब स्थितप्रज्ञ होनेके बाद उसकी क्या स्थिति होती है, उसके आचारमें, उसके व्यवहारमें उसकी क्या स्थिति होती है, वह बात अगले श्लोकोंमें बतायी जाती है।

●

: 54 :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

2.69-70

महापुरुषकी दृष्टिसे संसार कैसा है, संयमी पुरुषकी दृष्टिसे संसार कैसा है, स्वयं भगवान्‌की दृष्टिसे संसार कैसा है, और अज्ञानी लोग संसारको किस रूपमें देखते हैं, अब भगवान् श्रीकृष्ण इन दोनोंका विलक्षण भेद बता रहे हैं। क्योंकि तत्त्वके एक होनेपर भी ज्ञानी और अज्ञानीके दृष्टिकोणमें भेद होता है।

तत्त्व एक है, पर जो तत्त्वको जानता है उसकी दृष्टि कुछ और है और जो तत्त्वको नहीं जानता है उसकी दृष्टि कुछ और है। चीज एक ही है जैसे सोनेका जेवर आपके घरमें होवे और बच्चा उसको खिलौना समझकर खेल रहा हो और छीनो तो रोने लगे और हाथमें दे दो तो हँसने लगे। तो मालूम तो पड़ता है कि बच्चा उस खिलौनेसे प्रेम बहुत करता है; लेकिन क्या उसको सोनेकी कीमत और स्वर्णरूप धातुकी पहचान है? वह तो अपने प्रयोजनपर रोता है और प्रयोजन पूरा होनेपर हँसता है। उसकी दृष्टि तो सिर्फ उसके साथ खेलने की है। जब तबियत भर जायगी तो वह उसको कहीं भी छोड़ देगा।

उसकी माता समझती है कि यह मेरे शरीरका शृंगार है, आभूषण है। जब फैशन बदल जायगा उसका, तब उसको तुड़वानेमें माताको कोई संकोच होगा? वह तुरन्त शराफके घरमें, सुनारके घरमें भेज देगी—'इसको तोड़ करके नयी डिजाइन बनाओ।' एक स्वर्णके आकारमें उसका आग्रह नहीं है कि जबतक फैशन है, तबतक उस जेवरकी शकल-सूरतसे प्रेम है, फैशन बदल गया तो तोड़ दो। देखो न, एक ही तो चीज है न?

घरका जो मालिक है, वह समझता है कि अच्छा भाई, अपने घरमें सोना तो है! क्या है, वह कंगन बनकर रहे कि हार बनकर रहे। इस डिजाइनका रहे कि उस डिजाइनका रहे। शकल सूरतमें उसका आग्रह नहीं है। वह चाहता है कि सोना हमारा बना रहे।

तो खेलनेके लिए उसकी कीमत समझना, शृंगारके लिए उसकी कीमत समझना, सोनेकी कीमत समझना, और एक सोनेका जानकार आया, कसौटी करी और झट्से बता दिया कि यह किस स्थितिका सोना है? न तो सोनेमें उसकी ममता है और न सोना अपने पास होनेका अहंकार है। न सोनेका आभूषण पहनना है, न सोनेके साथ खेलना है। वह तो केवल कसौटीपर कसकर इतना बता देना है कि यह किस किस्मका सोना है?

हमको बचपनकी याद है। सुनार लोग कहते थे असली-'कुन्दन है महाराज, बहुत बढ़िया सोना है।' परन्तु सोनारको क्या इसका अभिमान है कि हमारे पास इतना सोना है? तो प्रयोजनकी दृष्टिसे वस्तुको देखना, यह अज्ञानीका काम है—यह जिज्ञासुका काम है? और उसमें अभिमान कर बैठना यह भी अज्ञानीका काम है—यह मेरा है, इसवाला मैं हूँ। पर सोनेको ठीक-ठीक पहचानना और अभिमान न आवे, ममता न आवे, मोह न आवे, उससे राग न होवे उस स्थितिमें रहना, वह उसके जानकारका काम है।

अब यह जो सृष्टि आपको दिखायी पड़ रही है, यह तो शकलसूरत है। यह डिजाइन दिख रही है, नयी-नयी डिजाइन। कोई औरतकी डिजाइन, कोई मर्दकी डिजाइन, यह सब ऐसे ही हैं। सब शकलें ही हैं, कोई काला, कोई गोरा, कोई नाटा, कोई लम्बा, कोई पतला, कोई मोटा, ये सब शकलसूरत ऐसी हैं। इनके साथ बच्चा खेलता है, इनके लिए रोता है, हँसता है। स्त्री-पुरुष इसका भोग करते हैं। कोई राजा-मिनिस्टर-राष्ट्रपति बन जाता है तो

'यह हमारे हाथमें है' ऐसा अभिमान करता है और तत्त्वविद् जो हैं, वह तो इसके रहस्यको पहचानता है। क्या अपने शरीरकी शकलसूरत, क्या दूसरेके शरीरकी शकल-सूरत? क्या आकार-प्रकार, संस्कार-विकार? क्या आधि-व्याधि-समाधि-उपाधि? ये सब अदलते-बदलते रहते हैं। सोना जो है असली, वह आगसे गलता नहीं। आगसे न जलना, यह सोनेका लक्षण है। वह तो स्वयं तेजोरूप है। चाँदी आगमें जलती है, मृतिकाका विकार है। चाँदी जो है, यह मिट्टी का विकार है और सोना जो है तेजरूप है। यह ज्ञानमें पैदा होनेवाला एक तरहका अग्नि है। तो आगसे आग वह नहीं जलती है। सोना और चाँदीमें फर्क होता है।

यह तो आत्मदेव है न, यह तो तत्त्वरूप बिलकुल खालिस सोना है। यह इस भवदावाग्निसे=संसार-अग्निसे भस्म होनेवाला नहीं है। ज्योतिर्मय, तेजोमय, तत्त्वरूप है। तो अब आओ, जरा श्लोक देखो—

सयंमी माने तत्त्वविद् पुरुष, ब्रह्मज्ञानी, स्थितप्रज्ञ। यहाँ एक बात देखने लायक है कि तत्त्वज्ञानीको 'संयमी' शब्दके द्वारा कहा गया है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इन्द्रियोंको वशमें रखने वाला जो पुरुष है, माने जो इन्द्रियवशीकारपूर्वक स्थितप्रज्ञ पुरुष है, उसके लिए यह 'संयमी' शब्दका प्रयोग है।

संयमी माने उस शरीररूपी रथमें रथीके रूपमें बैठा हुआ जीव और—

'संयमीइन्द्रियाणि हयानाहुः'

इन्द्रियाँ घोड़े और—**'मनः प्रज्ञः उच्यते'**

मन जो है, वह बागडोर, लगाम और सब बागडोरोंको अपने हाथमें लेकर जो बैठा हुआ है, इस जीवनरथका सारथी वह सयंमी है। अर्जुनके रथपर संयमी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। उन्होंने ही रथकी, घोड़ेकी, इन्द्रियोंकी बागडोर, मनको अपने हाथमें ले रखा है।

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। 2.7

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ।

यह श्रीकृष्ण जो हैं, बुद्ध्यारूढ़ चैतन्य सारथीके रूपमें बैठे हैं। माने संयमीके रूपमें वे स्वदृष्टिका ही वर्णन कर रहे हैं कि हमारी दृष्टिमें यह संसार

कैसा है? अर्जुन! तुमको भी ऐसा ही देखना चाहिए! गुरु-शिष्यका मतलब क्या? कि दोनोंकी नजर एक हो जाय। संसारके पदार्थोंको दोनों एक दृष्टिसे देखें। जिसको गुरु अच्छा देखे उसको शिष्य अच्छा देखे। जिसको गुरु बुरा देखे उसको शिष्य बुरा देखे। गुरु ब्रह्मस्वरूप तो शिष्य भी ब्रह्मस्वरूप।

गुरु अद्वैतवादी और शिष्य द्वैतवादी? न मन मिलता हो, न मंत्र मिलता हो, न इष्ट मिलता हो न उपासना मिलती हो, तो बड़ा भारी मतभेद हो गया। अपनी-अपनी पूँजी लेकर दोनों अलग बैठ गये।

'संयमी' शब्दका अर्थ हुआ स्वयं पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वही असलमें संयमी हैं, वही तत्त्व हैं, वही स्थितप्रज्ञ हैं। अब उसकी दृष्टिसे बात बताते हैं। संयमी पुरुष जो है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी॥

या=जो। *निशा*=रात्रि। *सर्वभूतानां*=सर्व प्राणियों की। *तस्यां*=उसमें। *जागर्ति*=जागता है। संयमी पुरुष=स्थितप्रज्ञ पुरुष। या सर्वभूतानां निशा=अर्थात् *यस्यां सर्वाणि भूतानि शेरते। नितरा शेरते यस्यां इति निशा। स्वप्ने।*

निशा शब्दकी तीन व्युत्पत्ति आपको सुनायी। जिसमें सब प्राणी सो जाते हैं।

1. नितरां शेरते यस्यां।

2. नितरसां शृणोति प्राणिनां चेष्टा इति और

3. नितरां शं सुखं यस्यां इति। निशा शब्दके तीन अर्थ।

जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी निशा अर्थात् सोनेका समय है, कालविशेष निशा माने एक ऐसा समय जिसमें सब लोग सोते हैं। सोनेका अर्थ जिसमें अंधेरा छाया रहता है। सूर्यास्तके बाद जो काल आता है, वह नहीं। यहाँ तो शयन और जागरणका बड़ा विलक्षण अर्थ है। हमारे सब श्रोता वेदान्तके बीस-बीस वर्षसे स्टडी करने वाले हैं। अरे डॉक्टर हैं, कोई दवा करनेवाला डॉक्टर नहीं। डी.फिल् हैं, डि. लिट् हैं ऐसे इनके लिए निशा शब्द का अर्थ जो है, रात्रि शब्दका अर्थ जो है वह दूसरे ढंगका होना चाहिए।

'शङ्कराचार्य'के गुरु 'गोविन्दपाद' और 'गोविन्दपाद' के गुरु 'गौड़पाद'। गौड़पादजीने निद्राका जो अर्थ किया है—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

अन्यथा गृहातः स्वप्नः। जो चीज जैसी है, उसको वैसी न देख करके उसके विपरीत उसको देखना, यह स्वप्न है। जहाँ लम्बाई-चौड़ाई नहीं है, वहाँ लम्बाई-चौड़ाई देखना—अदेशमें देश देखना। देशाभावके अधिकरणमें देश देखना। *स्वभावाधिकरणे तन्तु स्वनं विवर्तः।* अपने अभावके अधिकरणमें यदि कोई वस्तु दिखे तो उसको विवर्त बोलते हैं। जैसे रस्सीमें साँप बिलकुल नहीं है, लेकिन रस्सीमें ही साँप दिखे तो वह विवर्त है। इसी प्रकार जहाँ मीलों लंबा-चौड़ा देश नहीं, वहाँ मीलों लंबा चौड़ा देश दिखने लगे, तो क्या हुआ? वह स्वप्न हो गया। *विवर्त=विपरीतं वर्तनं।* जहाँ घण्टों-साल नहीं हैं वहाँ घण्टों-साल मालूम पड़ने लगे तो यह स्वप्न हो गया। वहाँ भी घटिका, प्रहर और दिवसादि कालका अभाव है और काल दिखता है। तो अपने अभावके अधिकरणमें दिखता है।

इसलिए स्वप्नका काल मिथ्या है, इसलिए स्वप्नका देश मिथ्या है और न तत्र रथाः न रथयोगाः।

न वहाँ रथ है, न पथ है, न पथिक है। न अथ है न इति है। कुछ नहीं है वहाँ। न मिति न परिमिति। वहाँ मिति कोई नहीं है और कोई परिणाम भी नहीं है। लेकिन—

स्थान् रथयोगान् पथः सृजते।

वहाँ रथ भी पैदा हो जाता है, और घोड़े भी पैदा हो जाते हैं और सड़कें भी पैदा ही जाती हैं। तो स्वप्नमें जो कुछ दिखायी पड़ता है वह क्या है? वह अन्यथाग्रहण है। अदेशमें देशका ग्रहण, अकालमें कालका ग्रहण, निराकारमें साकारका ग्रहण-यह अन्यथा ग्रहण है। इसका नाम है स्वप्न। और—

निद्रा तत्त्वे अजानतः।

जिस समय नानात्वकी प्रतीति नहीं होती, मृत्यु सरीखी अवस्था हो जाती है, कुछ पता नहीं चलता, क्या है, क्या नहीं है। उसको बोलते हैं सुषुप्ति। तो यह जो हम लोगोंको प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है, स्वप्न और जाग्रत्‌रूप जो प्रपञ्च है, यह अन्यथा ग्रहण है और सुषुप्ति समाधिरूप जो प्रपञ्च है, वह अग्रहण है।

विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते। जब अन्यथाग्रहण और अग्रहण, पागलपन और बेहोशी-स्वप्न जो है, वह पागलपन है। स्वप्न और जाग्रत् यह मनका पागलपन है। सुषुप्ति-समाधि जो है, वह मनकी बेहोशी है। जब पागलपन भी छूट जाय और मनकी और बेहोशी भी दूर हो जाय तो—

विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते।

तब जाग्रत्-निद्रा विनिर्मुक्त जो तुरीय पद है अपना स्वरूप, उसका साक्षात्कार होता है।

या निशा सर्वभूतानां-उसी तुरीय पदको, परमात्माको, ब्रह्मको ये सारे प्राणी नहीं देखते हैं। उस ब्रह्मके सम्बन्धमें ये सुषुप्त हैं। ब्रह्म जो है, वह प्राणियोंकी निशा है, निशा। यह जानते हैं आप लोग, संस्कृतमें जिसको 'निश्' बोलते हैं, निश्-निशा। निश शब्द जो है न, उसीसे आप्त हो बन करके, निशा *शब्द बनता है, आसन् तेहि हलन्तानां यथा वाचा दिशा निसा।* वाक्का वाचा, निश्का निशा, और दिक्का दिशा।

दिक्का दिशा, निश्का निशा, इसी निश्को नाइट बोलते हैं (Night नाइट) है न? वही निशा है। नक्तम्-निश्-निशा-नाइट। जिसमें सपना आवे, मन जो है पागल हो जाय, या बेहोश हो जाय, यही निशा है। तो ये संसारी प्राणी जिस अवस्थामें जाग रहे हैं ये तो अन्यथा ग्रहण और अग्रहणात्मक दशा है और शुद्ध दृष्टिकी दशा तत्त्वज्ञकी है।

तत्त्वज्ञको क्या दिखता है? तत्त्वज्ञको ब्रह्म दिखता है। तत्त्वज्ञका दृश्य भी ब्रह्म ही है और अज्ञके ब्रह्म है ही नहीं। दृश्य-ही-दृश्य है। जिज्ञासु, मुमुक्षु विवेकीके लिए दृश्यसे द्रष्टा जुदा है। दृश्यको जो देखनेवाला है सो द्रष्टा। इदम् और अहम् दो पदार्थ हैं। जो एकान्त अज्ञानी है, उसके लिए तो दृश्य ही दृश्य है। द्रष्टाके बारेमें वह कुछ जानता ही नहीं।

एक ऐसे तत्त्वज्ञानी हैं, उसके लिए द्रष्टा ही द्रष्टा है, दृश्य नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।

भागवत 2.10.36

एक परमात्मा वाच्य और वाचकके रूपमें, दृष्टा और दृश्यके रूपमें विराजमान है। यह देखो, वेदन्तीयोंमें जब कभी गड़बड़ पड़ती है न, तो वह क्या

करती है, कि सिद्धकी दृष्टिका वे ठीक अनुवाद नहीं कर सकते। जब कच्चे वेदान्ती होते हैं विवेकदशामें रहनेवाले वेदान्ती रहते हैं, या पोथियोंमें तो पढ़ लिया है, वे विवेकके लिए द्रष्टा-दृश्यके ग्रन्थोंमें विवेकके लिए जो बात कही गयी है, और अनुभवकी दशामें पहुँचे हुए नहीं है, उसीको सिद्धान्त मान करके उसमें दृढ़ हो जाते हैं। तो साधनकी दृष्टिसे तो वह बहुत उत्तम है। अच्छा है। जैसे—घटका द्रष्टा घटसे जुदा होता है, वैसे दृश्यका जो दृष्टा है, वह दृश्यसे जुदा होता है। विवेककालमें, 'विचार चन्द्रोदय' कालमें तो यह बहुत उत्तम है। परन्तु जब 'विचारसागर'में डुबकी लगाओगे, जब 'वृत्तिप्रभाकर'के प्रकाशमें डूब जाओगे, प्रभाकर बोलते हैं सूर्यको, तो 'वृत्तिप्रभाकर' सूर्यके प्रकाशमें जब डूब जाओगे, तब यह निशा नहीं रहेगी।

'विचार चन्द्रोदय' में निशा रहती है, परन्तु 'वृत्ति प्रभाकर'में निशा नहीं रहती। चन्द्रोदय तो जानते ही हो आप 'विचारचन्द्रोदय' जो है, वह निशाकालीन है। और 'वृत्ति प्रभाकर' जो है, वह तो दिवस कालीन है। वह तो दिवस है।

सिद्ध दृष्टिमें और जिज्ञासु दृष्टिमें फर्क होता है। वह फर्क क्या होता है? आप देखो, तत्त्वदर्शीकी दृष्टि क्या है? उसके लिए—'मैं परिच्छिन्न हूँ'—यह दृष्टि उसमें नहीं है। 'मैं लोकलोकान्तरमें आने-जानेवाला हूँ'—यह दृष्टि भी उसमें नहीं है। 'मैं कर्त्ता और भोक्ता हूँ'—यह दृष्टि भी उसमें नहीं है। 'देह इन्द्रिय आदि जो हैं, ये सत्य हैं'—यह दृष्टि भी उसमें नहीं है। 'जो अध्यस्त होता है वह अधिष्ठानसे कुछ जुदा होता है'—यह दृष्टि भी उसमें नहीं है।

इसलिए सिद्धदृष्टिमें—अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जो संसार है, वह भी सिद्धदृष्टिमें ब्रह्मस्वरूप ही है।

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। सत् इदं सर्वम्।
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।
आत्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।
स एवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।
अहमेवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

यह 'छांदोग्य श्रुति' अनेक·····

खुर्दबीनसे ब्रह्मको देखेंगे? दूरवीक्षण यंत्र—तो अणुवीक्षण यंत्र है न?

वह क्षुद्रवीक्षण यंत्र है। खुर्दवीन जिसको बोलते हैं। अब वीक्षणका वीन होनेमें केवल 'क्ष'का लोप हुआ है वीक्षणमें-से वीक्ष वाला 'क्ष' निकाल दिया तो बीन हो गया। और क्षुद्रका खुर्द कर दिया। क्षुद्रवीक्षण यंत्र जो है न, उसका नाम हो गया खुर्दवीन। दूरवीक्षण यंत्रका नाम हो गया दूरबीन। जब दूरबीन आँखसे लगाओगे, तब रूप ही दिखेगा न? क्योंकि आँखसे रूप दिखता है। अगर दूरबीन लगानेसे उसकी ताकत बढ़ जायगी तो आँख रूपको ही देखगी। अरूपको तो नहीं देख सकती न? आँख बड़े रूपको देखती है तो खुर्दवीन लगानेसे आँख छोटे रूपको देखेगी कि अरूपको देख सकोगे? तो ये जो मशीनें हैं उनकी गति दृश्यमें होती है, उनकी गति दृष्टामें नहीं होती है। इसलिए बाबा ये जो यान्त्रिक विज्ञान है वह अनन्तके साक्षात्कारमें न आज समर्थ है न आगे समर्थ होगा। दूरबीन, ख़ुर्दवीनसे न आज देखा जा सकता है न आगे कभी देखा जा जायेगा। और दूरबीन, खुर्दवीनसे आत्मा, परमात्मा, भगवान् न आज दिखता है न कभी दिखेगा। तब इन्द्रियोंका सामर्थ्य परमात्मामें न आज है न आगे होगा। इन्द्रियोंमें सामर्थ्य नहीं है।

'तद्गुणाग्रही'।

तो बोले—क्या ईश्वर है ही नहीं? यह बात तो बिलकुल गलत है। क्योंकि कोई चीज होवे, इसीसे वह अनुभवमें नहीं आ जाती है, नहीं दिखती है। गुलाबकी पंखड़ीमें गंध होती है, लेकिन आँखसे नहीं दिखायी पड़ता। गंध नहीं है उसमें? गंध है पर आँखको नहीं दिखेगा। नाकसे मालूम पड़ेगा। जिस वस्तुको देखनेके लिए, जो यंत्र होता है, जो इन्द्रिय होती है, जो करण होता है, उसीसे दिखायी पड़ती है।

न वस्तु स्वभाव मात्रं दर्शने कारणम्।
किन्तु इन्द्रियाणां योग्यता दर्शने कारणम्।

तो ब्रह्मके दर्शनमें इन्द्रियोंकी योग्यता ही नहीं है। और ये जो सर्वभूत हैं—

या निशा सर्वभूतानाम्।

भवन्ति कर्माणि अनुकृत्य इति भूतानि। जो कर्मके अनुसार पैदा होते हैं उनका नाम है भूत। तो जिनको स्थूल शरीर मिल जाता है, उनको तो मनुष्यभूत हो, पशुभूत हो, पक्षीभूत हो, और जिनको स्थूल शरीर नहीं मिलता है, सूक्ष्म शरीर ही मिलता है, उनको भूत-प्रेत बोलते हैं। तो यह शंकरजीका महाश्मशान

चेत रहा है, तो यह सृष्टि क्या है? यह शंकरजीका महाश्मशान है। इसमें मुर्दे हँसते हैं, मुर्दे बोलते हैं, इसमें मुर्दे चलते हैं। तो अब देखो, क्या मजा आता है उसके दर्शनमें?

देखो; पेड़में-से एक आम किसीके ऊपर गिरा, एक डाली किसीके ऊपर गिरी। तो एक बच्चा था पण्डितजीका। उसके मनमें पाप होनेका बड़ा संस्कार डाला हुआ था। जैसा पाप होता है; वैसा ही पुण्य होता है। उसने कहा पिताजी, इस पेड़को बड़ा पाप लगेगा। इसने अपनी डाली हमारे सिरपर गिरा दी। यह अपना आम हमारे सिरपर गिरा दिया। तो हमारे सिर फूटनेका, हाथ टूटनेका जो पाप है, वह इस पेड़को लगेगा कि नहीं लगेगा?

पिताजी बोले—बेटा इसमें जो जीव है, वह जाग्रत् अवस्थामें नहीं है। जीव सोया हुआ है, तो जानबूझकर उसने तुमको मारा नहीं है। उसमें कर्तृत्व नहीं है और उसको किसीको मारना नहीं चाहिए, यह बुद्धि भी नहीं है। तो बुद्धिहीन और कर्त्तव्यसे हीन जो वृक्ष है, उसको पाप नहीं लगेगा।

बोले—'पिताजी इसमें तो बड़ा मीठा-मीठा फल हमारे सामने गिरा दिया। बड़ा उपकारी, परोपकारी है, अतिथिप्रिय है। इसको पुण्य होगा अतिथि सेवाका कि नहीं?'

बोले—'बेटा, इसको पुण्य भी नहीं होगा'। 'क्यों नहीं होगा?'

'बुद्धिपूर्वक उसने फल नहीं गिराया और कर्तृत्व उसमें है नहीं?'

तो देखो, अब हम संसारकी दशा देखते हैं। सपनेमें एक सेठजी दान कर रहे हैं। तो उनको दानका पुण्य होगा कि नहीं होगा? नहीं होगा। क्योंकि सपनेमें दिखनेवाले जो सेठजी हैं, उनकी बुद्धि तो कोई अपनी है नहीं और उनमें कर्त्तापन है नहीं। वे तो हमारी दृष्टिमें खेल रहे हैं।

अब तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें यह जो प्रपञ्च है, 'प्रपञ्च काकोलूकी'—इसको हम बोलते हैं। योगवाशिष्ठमें—

'काकोलूकनि सेवायं संसारोऽज्ञात रोदिनो' योगवाशिष्ठ

'काकोलूकनि सेवायं'—बड़ा विचित्र। ये जो अलग-अलग पापी लोग घूमते हैं दुनियामें और जो अलग-अलग पुण्यात्मा लोग घूमते हैं दुनियामें—

आकाशकोशतनवो तनवो महान्तः।

आकाशको अपना कोश-मनोमयकोश समझनेवाले जो महात्मा लोग हैं,

भूताकाश नहीं है चित्ताकाश, चित्ताकाश है। अपने चित्ताकाशके भीतर समग्र सृष्टिका अनुभव करनेवाले जो महापुरुष लोग हैं, उनको इस संसारमें जो पापी हैं, जो पुण्यात्मा हैं, जो सुखी हैं, जो दु:खी हैं, जो ज्ञानी हैं, जो अज्ञानी हैं, महात्मा लोग जानते हैं कि यह बिना ड्राइवरके ही मोटर चलती है। तो इसको एक्सीडेण्ट करनेका पाप नहीं लगेगा। यह महात्माकी जो दृष्टि वह बड़ी विचित्र दृष्टि है।

इसको वैष्णव लोग दूसरे ढंगसे बोलते हैं। वे कहते हैं—'भगवान् करा रहे हैं।' पर वह बात छोड़ो। अभी तो यह जो दृष्टि है, वह देखो, ये जो सारे भूत नाच रहे हैं, वे ब्रह्मको जानते नहीं। इसलिए अपनेको कर्त्ता समझते हैं। अपनेको भोक्ता समझते हैं। अपनेको परिच्छिन्न समझते हैं, अपनेको संसारी समझते हैं। अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको, विधि-निषेधको ठीक-ठीक समझते हैं। यह तो समझते हैं कि सारी सारी दुनियाकी बात समझते हैं।

लेकिन; ब्रह्मतत्त्वके लिए क्या है? बोले—'निशा है'। अंधकारमय है, रात्रिमय है उसीमें संयमीकी स्थिति है। वह तो सर्वत्र, सर्वदा, सर्वरूपमें और आत्मरूपमें ब्रह्मदर्शन ही करता है।

सकलमिदमहं च वासुदेवः।

यह समग्र सृष्टि और मैं भी, यह सर्व वासुदेव स्वरूप है।

यस्यां जाग्रति भूतानि।

ये भूत महराज! संस्कृतमें ऐसे बोलनेका रिवाज ही है। भूत=पैदा, उत्पन्न। जिसकी उत्पत्ति हुई सो भूत और मरेगा भी। ठूंठमें भूत पैदा हुआ तो उसकी परीक्षा करनेपर वह मरेगा कि नहीं? तो इस प्रकार ब्रह्ममें यह जो प्रपञ्च नामरूपात्मक भास रहा है, यह ब्रह्मज्ञान होनेसे मर जायगा। यह है नहीं, जैसे ठूँठमें भूत बिना हुए भी दिखता है। इसी प्रकार यह भूत यथार्थ ब्रह्ममें बिना हुए भी दिख रहे हैं।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

जिसमें ये सारे जाग रहें है, यह मेरा पैसा, यह मेरा मकान, यह मेरा शरीर, यह मैं काला-गोरा, सुन्दर-असुन्दर, पापी-पुण्यात्मा, बली-निर्बल, दृढ़ संकल्प-शिथिल संकल्प और बड़े भारी कर्त्ता और बड़े भारी भोक्ता, बड़े भारी आनन्दी, अभिमानमें फूले-फूले फिर रहे हैं।

फूला-फूला फिरे जगतमें यह कैसा नाता रे।

क्या है सृष्टिमें किसीके पास? क्या रिश्ता, क्या नाता? क्या सम्वन्ध? दुनियामें किसीको तृप्ति मिली नहीं। भोजन करके, फिर तो कभी मिले नहीं तो जाते समय बताकर गये—'दुनियाकी चीजोंको मेरी समझना बस, इतना ही अज्ञान है।' अज्ञान बस यह मृत्यु है, यही अज्ञान है।

इसीसे संसारके सारे दु:ख होते हैं। इसीसे अखण्ड सत्ता छूटती है, इसीसे अखण्ड ज्ञान छूटता है। यह मेरी वस्तु है, यह मेरे काम हैं, यह मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा वैभव है, यह मेरा अन्त:करण है, यह परिच्छिन्न मैं हूँ। यह मैं-मेरा जो है, बस दो अक्षरकी मृत्यु और तीन अक्षरका अमृत। मृत्युमें दो अक्षर हैं न? मृत्युमें मृ+त्यु=दो ही तो अक्षर हैं और अमृतमें तीन अक्षर हैं, अ+मृत।

'मम'=मेरा—दो अक्षरकी मौत है।'न मेरा'—यह तीन अक्षरका अमृत है।

आध्यात्मिक मृत्यु दो अक्षरकी है। मम—अज्ञान-इसीका ख्याल ज्यादा रहता है

महात्मा कहाँ जागता है? 'न मम'में। मेरा नहीं है। 'हाथ खींचो।' यह महामंत्र है। बिलमें हाथ डालना, यह साँपको काटनेके लिए बुलाना है। 'आ बैल मुझे मार।' संसारको मेरा कहना बिलमें हाथ डालना है और नहीं मेरा कहना? इस संसारके बन्धनसे छूट जाना—

यतो यतो विरज्यते विमुच्यते ततो ततः।

जहाँ-जहाँसे वैराग्य होगा, वहाँ-वहाँसे तुम मुक्त हो। मुक्ति चाहो, जिससे वैराग्य होगा उससे मुक्त होओगे। राग है इसलिए तो बँधे हो। बन्धन और मुक्तिका इतना ही तो रहस्य है।

ममेति बध्यते जन्तुर्न ममेति विमुच्यते।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च॥

ममेति—विमुच्यते। प्रसार दिया। मेरा नहीं है ले जाओ। पुलिस ले जायगी और कहो कि 'मेरा है', बस फँसे।

एक बार हम लोग हरद्वार जा रहे थे। बड़ा आनन्द आया। सात जने थे, दादा भी था और स्वरूपानन्दजी भी थे। जो रामराज्य परिषद्के अध्यक्ष और बादमें आजकल उनकी बहुत प्रसिद्धि है, वे थे, मैं था और छह सात जने और थे। तो एक गाँवमें भिक्षा माँगनेके लिए गये। मैं तो बैठ जाता था जाकर गंगा

किनारे कहीं पेड़के नीचे और बाकी लोग जाकर गाँवसे रोटी माँगके ले आते थे। तो स्वरूपानन्दजी गये भिक्षा माँगनेके लिए। देखनेमें उस समय उनकी शकलसूरत बहुत अच्छी। अब तो जरा मोटे हो गये मेरी तरह। दाढ़ी-बाढ़ी बढ़ गयी, उस समय उनका शरीर स्वस्थ, बड़ा सुन्दर बालक सरीखे थे। तो बहुत अच्छे लगते थे।

गाँवमें-से जब भिक्षा माँगकर ले आये, तो गाँवमें लोगोंने उनको देखा। देखनेके बाद आये हमारे पास, तो बच्चे जो थे, बगीचेमें आपसमें बात कर रहे थे। तो आपसमें नाम भी लेते थे। 'ओ-ओ-ओ। घसीटा!' ऐसे बोलते थे। हम लोगोंके पास भिक्षामें गुड़ आगया था। तो स्वरूपानन्दजीने कहा—'ओ घसीटा! गुड़ ले जाओ।'

अब उसने कहा—'तुमको हमारा नाम कैसे मालूम हुआ?' 'हमने सुन लिया है।' बोले—'नहीं-नहीं, देखो हम बताते हैं।' अब वह दौड़कर गया गाँवमें। गाँवका एक आदमी फौजमें गया था। जानेके बाद वह मर गया ऐसी खबर आयी थी। गाँवमें उसने कहा—'वे मरे नहीं हैं, साधु हो गये हैं। देखो, बगीचेमें आये हुए हैं। हमारा नाम लेकर पुकारा, पहचान लिया।'

अब तो महाराज, माँ आयी, पत्नी आयी, ताऊ आये और चाचा आये और बोले—'जरा बाल तो हटाओ अपने चेहरेपरसे। यहाँपर तिल है कि नहीं।' है तो सही'। बोले—'देखो, वही गोरा मुख! दुबले हो गये हो! हाँ! दुबले हो गये हो।' अब बहू कहे कि 'मेरा पति'। माँ कहे—'मेरा बेटा।'

अब हम लोग फँस गये। तो स्वरूपानन्दजीने हमसे पूछा 'अब क्या करना चाहिए?' मैंने कहा कि—'तुम बिलकुल फटकार दो कि हम कभी इस गाँवमें नहीं आये हैं। इस गाँवको नहीं जानते हैं। जल्दीसे यहाँसे चलें, निकल भागें।'

वे बोले—'अच्छा, थोड़ा प्रतीत करा दें कि हम वही हैं तो वे लोग तुमको छोड़ देंगे, हम घरमें जायेंगे और रातको भागकर आजायेंगे।'

मैंने कहा—'ऐसा करना नहीं; जबतक हम ना-ना कह रहे हैं तबतक वे कहते हैं कि 'तुम वही हो'। जब हम कहेंगे कि 'हम वही हैं,' तो ये परिचय पूछने लगेंगे कि 'अपने चाचाका नाम बताओ और अपना घर पहचानो, अपना पहला नाम बताओ। तो जब नहीं बताओगे तो हम सब लोग पिटेंगे, मारेंगे ये गाँववाले।'

'जहाँ तुमने कहा कि 'हाँ' अनजानेमें भी कहा तो हम सब मारे जायेंगे, सब-के-सब।'

अब किसी तरहसे उनको फटकारके हम सब लोग निकले वहाँसे। अगर जरा भी ममता दिखाते तो फँस जाते।

इस सृष्टिमें जो मेरापन है, सृष्टि तो तुम्हारी नहीं है; यह जमीन तो तुम्हारी पहले भी थी, तुम्हारे बाप भी मेरी बोलते थे, यह सोना-चाँदी, नोट, मकान, रिश्तेदार-नातेदार, दादाके भी थे। परदादाके भी थे। यह तो ईश्वरकी चीज है। सब लोग अपना-अपना, मेरा-मेरा बोलते हैं और मर जाते हैं, और दुनियाका ढंग तो ऐसा ही चलता रहता है। तो बँधा हुआ कौन है?

जो दुनियामें 'मेरा' बोलता है, वह बँधता है और जो दुनियामें 'न मेरा' बोलता है, वही मुक्त होता है तो जिस दुनियामें मेरा और मैं लोग जाग रहे हैं, दुनियाका सच मान करके, 'पश्यतो मुनेः'।

आँखवाला और मुनि दोनों बात हैं। ज्ञान भी है और मौन भी है—

निरस्तवासना-मौनाहते नास्त्युत्तमं पदम्।

सबसे उत्तम पद सृष्टिमें क्या है? चित्तमें कोई वासना न हो और मौन होवे। यह सच्ची वृत्ति है। मनमें रंग मत चढ़ने दो। यह जो सृष्टि दिख रही है, इसमें रंग-'यह मेरा, मेरे, साथ बना रहे, यह बढ़िया; यह घटिया'-जहाँ जानकारीमें रंग चढ़ा कि बस, दुनिया उलटी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः। 2.69

पश्यति इति पश्यन् तस्य पश्यतः। जो देखता है, आँखवाला है। *यः पश्यति स पश्यति।* भागवतमें है न?

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भागवत 11.2.45

यह दर्शन क्या है? दर्शन यह है कि जो द्रष्टा है और जो अधिष्ठान है, उससे जुदा सृष्टि नहीं है। तो अज्ञानी भेदमें जाग रहा है और ज्ञानी अभेदमें जाग रहा है। दोनोंकी आँख होती है, दोनोंके कान होते हैं, दोनोंकी नाक होती है, ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंके। पर एक आँखसे देखता हुआ भी संसारके रंगसे रंगता नहीं है। यह नहीं कि ज्ञानी अंधा होता है।

उपासक लोगोंने ऐसी अफवाह फैलायी खास करके वृन्दावनमें, अयोध्यामें जहाँ उपासनाका घर होता है न, वहाँ तो बड़ी विचित्र-विचित्र हवा

फैलती है, तो बोलते हैं—'ज्ञानी तो वह होता है जो आँखसे देखे नहीं, कानसे सुने नहीं, नाकसे सूँघे नहीं, जीभसे स्वाद न ले, मनसे संकल्प न करे, और साँस भी न चले, उसका नाम ज्ञानी। ज्ञानी माने मुर्दा? 'वह तो किसीको उपदेश नहीं कर सकता, वह खा नहीं सकता, वह बोल नहीं सकता, माने दुनियामें कोई ज्ञानी नहीं है। तो ज्ञानका सम्प्रदाय भी नहीं होना चाहिए। इसलिए जो लोग उपदेश शिक्षा देते हैं वे तो अज्ञानी हैं और ज्ञानी तुमको मिलेगा नहीं।'

तो 'ज्ञान-अज्ञानका चक्कर छोड़कर आओ, तुमको जैसे बताते हैं, वैसे करो' उनका मतलब यह होता है। जो लोग ऐसे-ऐसे लक्षण ज्ञानीके बताते हैं, जैसे कभी जीवितदशामें घटित ही न हो, होवे ही नहीं। वे लोग ज्ञान मार्गके दुश्मन हैं। दोस्त नहीं हैं। वे दोषमना हैं, वे दोस्त नहीं हैं। दोस्त कहाँ होता है? जहाँ 'दो अस्त' हो जाय, वहाँ दोस्त होता है। द्वयस्तका 'द्वस्त' यह हो गया—दो अस्त=दोस्त। द्वित्व जहाँ अस्तको प्राप्त हो जाय, दोपना न रहे, दिल जहाँ एक हो जाय, दिमाग एक हो जाय, बोल एक हो जाय, चाल एक हो जाय—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवेमनांसि जानताम्।

कदम-से-कदम मिलाकर चलें। आवाजमें, स्वर-में-स्वर मिला करके बोलें। जैसे आप लोग शांतिपाठ बोलते हैं न, तो स्वर-में-स्वर मिलाकर। यहाँ भी कोई बेसूरा कर देते हैं। अरे, दो मिनट भी स्वरसे स्वर मिलाकर नहीं बोलोगे? तो कदम-से-कदम मिले, स्वर-से-स्वर मिले, मन-से-मन मिले—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवेमनांसि जानताम्।

यह कौन हुआ? यह दोस्त हो गया, मैत्री हो गयी। और स्वर भी दो और चाल भी दो और संकल्प भी दो। तुम्हारा मुँह पश्चिम हमारा पूरब, तो दोस्ती खतम भाई! यह बात हो गयी। 'मा विद्विषावहै। यह पाठ करते हैं न?

जो आत्मदर्शी पुरुष है, संयमी पुरुष है, मुनि है, मननशील है, मौनी है, दृष्टि-सम्पन्न है, उसको भेद नहीं दिखता, उसको जड़ता नहीं दिखती। सारा व्यवहार करता हुआ, हँसता हुआ, बोलता हुआ, खाता हुआ, देखता हुआ, चलता हुआ-उपनिषदमें तो आया है,

यक्षत क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा, यामैर्वा वयस्यैर्वा नोपजनम् इदं शरीरम्।

'मैं शरीर हूँ'—यह भाव कभी उसके मनमें, आता ही नहीं है। खाते-पीते, हँसते-बोलते-चलते—यह जीवन्मुक्त महापुरुषका विलक्षण वर्णन है।

जो लोग अपने मनसे सोच-सोचकर या रटन्त-रटन्त, लिखकर जो लोग बोल देते हैं न, उपनिषद्का स्वाध्याय नहीं, वेदान्त स्वाध्याय नहीं, अनुभव नहीं, अण्टसण्ट कुछ बोल देंगे महात्माके बारेमें कि 'महात्माकी आँख ऐसी, महात्माकी जीभ ऐसी!' अरे भाई! आँख-मुँह-जीभ सब एक सरीखा ही होता है। केवल अविद्याकी निवृत्ति हो गयी है। अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी है। यही विशेष महात्माका है; उसकी दृष्टि विलक्षण है।

●

: 55 :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

2.70-72

संयमी स्थितप्रज्ञ जो यम-नियमसे सम्पन्न, इन्द्रियोंको अपने वशमें किये हुए, जैसे एक रथमें दस घोड़े जुते हुए हों, और सबकी बागडोरको चाबुकको अपने बायें हाथमें सम्हाले हुए हो, कोई सारथि हो, इस प्रकार जो अपनी प्रज्ञाको सँभाले हुए संयमी स्थितप्रज्ञ है, अपनी इन्द्रियोंको सम्हाले हुए, उसकी कृतकृत्यता, उसकी असल स्थिति, उसकी निष्कामनाका भगवान् श्रीकृष्ण वर्णन कर रहे हैं।

'**संयम**' शब्दका एक लौकिक प्रयोग ऐसा होता है, जैसे देशकी प्रजा बागी हो गयी हो तो उसको संयममें ले आना माने विद्रोही प्रजाको काबूमें ले आना। इसको संयम बोलते हैं। किसीके बाल बहुत बिखर गये हों, तो कंघीसे उनको एक तारमें कर लेना या उनका जूड़ा बना लेना, इसको भी संयम बोलते हैं। केशसंयम।

इसी प्रकार विषयोंकी ओर जो बिखरी हुई अपनी इन्द्रियोंको, बागी प्रजाको जैसे काबूमें कर लिया जाता है, घोड़ेको जैसे काबूमें कर लिया जाता है, या बालोंको जैसे काबूमें कर लिया जाता है, इस तरहसे जो अपनी इन्द्रियोंको काबूमें कर ले, एक तारमें कर ले, एक स्वरमें कर ले, उसको बोलते हैं 'संयम'। तो स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसा है? संयमी है। उसने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेट लिया है।

एक दूसरी बात है 'योगदर्शन'में 'संयम' शब्दकी परिभाषा बनायी गयी है—'**त्रयं एकत्र संयमः।**'—योगदर्शन

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही विषयमें किये जाते हैं, तब उसकी संज्ञा 'संयम' होती है। **धारणा** माने अपने मनको इधर-उधर भागनेसे लौटा करके एक जगह, एक स्थानमें बाँधना, इसको 'धारणा' बोलते हैं। माने देशकी दृष्टिसे आपका चित्त यहाँसे वहाँ भटके नहीं। देशमें जो चित्तकी गति है, वह न की जाय। एक देशमें चित्त स्थिर हो जाय।

'**ध्यान**'— इसको बोलते हैं।'

'**तत्रैकतानता ध्यानम्**'। योगदर्शन

अपने लक्ष्यवस्तुमें चित्तकी जो एकतानता है, एकतानता माने वृत्तियाँ जो पहले बारी-बारीसे उठें, पर एक ही के बारेमें उठें। आप इसको ऐसे समझो कि हमको एक बार घड़ीकी याद आयी; शहरके लोगोंको घड़ेकी नहीं आवेगी, तो घड़ीकी याद आवेगी, तो यही क्रम हो जाय—घड़ीकी याद आवेगी। फिर कपड़ेकी याद आयी, फिर चश्मेकी याद आयी, फिर फाउण्टेन पेनकी याद आयी, मेजकी कुर्सीकी, घरमें सब चीजें हैं। अलग-अलग-अलग चीजोंकी याद आयी न? अब हमारी वृत्तिका यह क्रम हो जाय कि घड़ीके बाद घड़ी, घड़ीके बाद घड़ी! कपड़ा याद नहीं आवे, चश्मा याद नहीं आवे, फाउण्टेन पेन याद नहीं आवे! बार-बार वृत्तिमें एक ही विषय आवे।

शान्तो विषयतुल्य प्रत्ययौ। योगदर्शन

जो वृत्ति शान्त है, वही वृत्ति उदित है। जैसे घटाकारवृत्ति शान्त हुई तो घटाकारवृत्ति उदित हुई, तो घटाकारवृत्ति ही होवे। तो देशकी एकतामें वृत्तिका लगना ध्यान है।

समाधि-जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है, अथवा ध्येय जो है ध्यातामें

मिल जाता है, अथवा ध्येय और धाताकी स्फूर्ति छोड़ करके केवल ध्यान ही रहता है, ग्राह्य समापत्ति, ग्रहण समापत्ति या गृहीता समापत्ति—तो जब तीन न रह करके, दो न रह करके केवल एक ही रहे तो जैसे केवल भगवान्‌की स्फुरणा हो, तो वह भक्तिकी समाधि है और, केवल ध्यातामें ही सब स्थित हो जाय, तो योगकी समाधि है। और ध्याता और ध्यानको पृथक् करनेवाला जो ज्ञान है, ज्ञाता और ज्ञेयके बीचमें जो ज्ञान है, **अहं ज्ञाता जीवः इदं ज्ञेयं दृश्यम्।**

मैं ज्ञानका अभिमानी जीव हूँ और यह जो दृश्य है, यह ज्ञेय है। अहं-इदंके भेदको अलग-अलग प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञानमात्र पदार्थ है, उस पदार्थमें स्थिति हो जाना, मानो वेदान्तकी समाधि है। ध्याता जो है, अहं-पदार्थ है। अल्पज्ञ होवे तो जीव बोलते हैं और सर्वज्ञ होवे तो ईश्वर बोलते हैं।

इदं जो है वह दृश्य-पदार्थ है। वह दृश्य होवे तो दृश्यका अभाव होवे। अभाव भी इदं है, सुषुप्ति भी इदं है। परन्तु जिस स्वयंप्रकाश ज्ञानके द्वारा इदंके रूपमें कार्य-कारण और अहंके रूपमें अल्पज्ञ-सर्वज्ञ दोनों भासित होते हैं, वह-वह सन्धिमें सामान्य चेतन है। उस सामान्य चेतनमात्रका रह जाना, यह वेदान्तियोंकी समाधि है। यह बोध नहीं है। बोध तो वह होता है जो अविद्याको निवृत्त करके स्वयं निवृत्त हो जाता है। बोध तो वृत्ति होती है।

समाधिसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, समाधिमें अज्ञानकी निवर्तकता नहीं है। समाधि तो केवल विक्षेपकी निवर्तक है। विक्षेपकी निवृत्तिसे आवरण भंग नहीं होता। आवरणभंग तो ब्रह्मज्ञानसे होता है। माने वृत्तिज्ञानसे होता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। तो इस सम्बन्धमें 'संयमी' शब्दका अर्थ समझते हुए आप धारणा-ध्यान और समाधिसे सम्पन्न जो स्थितप्रज्ञ है, जब चाहे मनको, जब चाहे एकमें लगा ले, जब चाहे एक स्थानमें लगा ले, जब चाहे अहं और इदंको छोड़ करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय।

ऐसा जो संयमी पुरुष है, उसकी खास पहचान क्या है? और उसकी फलात्मक स्थिति क्या है? तो बतलाते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 2.70

समुद्रका दृष्टान्त दे करके समझाते हैं। आप लोग किनारेपर-से देखते हैं, इसलिए समुद्रका पता नहीं चलता है।

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गंभीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

रामचन्द्रजीकी सेनामें जो वानर थे, वे समुद्रको लाँघके रह गये। उनको समुद्रकी गहराईका पता नहीं चला। समुद्रकी गहराई कौन जानता है?

आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

'मन्दराचल' जिससे समुद्रमन्थन किया गया था, उसको पता है। क्योंकि वह बिचारा डूबता जाय, डूबता जाय, डूबता जाय। समुद्रके तलका कहीं पता ही न चले। तो समुद्रको ऊपर-ऊपरसे देख लेना यह दूसरी चीज है और समुद्रकी गहराईको जानना, गंभीरताको जानना, उसकी अगाधताको जानना—उसके लिए संस्कृतमें 'अगाध' शब्द है, अगाध! जिसकी थाह न लगे। जो इसका अवगाहन करके उसमें डुबकी लगा करके उसकी थाह न लगा सके उसका नाम है—

'अगाध समुद्र'। तो यह समुद्र कैसा है? इसके लिए तीन शब्द देखो इसमें—

आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रम्।

'समुद्र' तो नाम है। समुद्र शब्दके भी कई अर्थ होते हैं। जैसे—*समुद्रिच्यते इति समुद्रः* जिसमें समुद्रेक होवे, ज्वार आवे, जिसमें सम्यक् उद्रेक होवे उसका नाम समुद्रेक। उद्रेक=उछलना। ऊपर उछलना, उसको बोलते हैं समुद्र। 2. मुद्राभिः सहितः=जिसमें मोती मिले, 'रत्नाकार' जिसमें रत्न मिले। जिसमें बहुत सारी मुद्राएँ हों, उसका नाम समुद्र। 3. मुद्रा=जो शान्त और विक्षिप्त दोनों मुद्रा धारण करे, वह शान्त होकर बैठ गये, और विक्षिप्त। कर रहे हैं शान्तिसे संध्यावन्दन—यह भी एक मुद्रा है। नृत्यमें जो मुद्राएँ दिखाते हैं, भावभंगी दिखाते हैं अथवा यों-यों (अभिनय) करते हैं, उसका नाम भी मुद्रा है। तो यह समुद्र भी मुद्रा धारण करता है। कभी जैसे कोई बहुत भला मानुस हो। और कभी-कभी ऐसे-ऐसे ज्वार उठते हैं, मानो निगल जायगा सबको। इसको बोलते हैं समुद्र। 4. मुद्रा='समुद्राधिष्ठात्री देवता लक्ष्मी।' लक्ष्मी जिनकी पुत्री हो और जिसमें रहती हो, उसका नाम समुद्र। 5. 'समुद्रं शान्ति'=जो आनन्दसहित पुरुष

है, समुद्र है। आनन्दी लोग हैं, उनको अपने अन्दर बिहार करावे, वह जहाजपर चढ़कर यहाँ-से-वहाँ घुमावे, समुद्र। तो यह जो समुद्र है। समझो, स्थितप्रज्ञ पुरुषका उपमान है। उपमान है समुद्र और उपमेय है स्थितप्रज्ञ पुरुष।

दृष्टान्तके द्वारा बताते हैं। तो जैसे समुद्र है, कभी शान्त मुद्रामें तो कभी विक्षिप्त मुद्रामें रहता है, परन्तु उसकी गंभीरतामें किसी प्रकारका अन्तर, उसकी गहराईमें किसी प्रकारका अन्तर, उसकी अगाधतामें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता है। ऊपरकी सतहपर लहर आयी और ऊपरकी सतहपर शान्ति आयी।

असलमें समुद्र तो शान्ति और विक्षेप दोनोंसे जुदा जलतत्त्व है। अतिशय गम्भीर है, तत्त्व है। ऊपरकी सतहपर कभी शान्त हो गया, कभी आकर्षण शक्ति प्रबल हो गयी, कभी विकर्षणशक्ति प्रबल हो गयी, लेकिन जलतत्त्व तो जलतत्त्व ही है।

अब दूसरी बातका ध्यान दो समुद्रके सम्बन्धमें—

आपूर्णमाणं अद्भिः।

जलसे वह भरा जाता है। आ पूर्यमाणं और अपूर्यमाणं उभयतापि। कभी नदियाँ आ करके उसमें गिरती हैं, कभी खूब वर्षा होती है और कभी नहीं होती है। परन्तु समुद्र कैसा रहता है? आ अपूर्यमाणम् और आपूर्यमाणम्। पूर्यमाण=भरा जाना। आ=पूरी तरहसे भरा जाना। बाढ़ आयी है गंगामें, महानदीमें, कृष्णामें, ताप्तीमें, कावेरीमें, सिंधुमें, ब्रह्मपुत्रमें, बाढ़-पर-बाढ़ आयी है, और सारा जल समुद्रमें गिर रहा है—अपूर्यमाणं। फिर भी क्या समुद्रमें बाढ़ आगयी? बाढ़ नहीं आयी—अचल प्रतिष्ठं=उसकी प्रतिष्ठा अचल है। नदियोंमें बाढ़ आनेसे, वर्षा बहुत होनेसे, बहुत जल समुद्रमें गिरनेसे समुद्र जो है, वह उद्रिक्त नहीं हुआ। यह नहीं कि उसने मर्यादा तोड़ करके अपना पानी ऐसा डाला, ऐसा डाला कि बाढ़की वजहसे धरती डूब जाय। धरतीसे कई गुना समुद्र होता है। जितनी सूखी धरती मिलती है, उससे कई गुना समुद्र होता है। यदि समुद्र उलटे तो धरतीको डूबा दे, लेकिन अचल प्रतिष्ठं। अपनी मर्यादाको, प्रतिष्ठाको, रेखाको लाँघता नहीं, चाहे जितना पानी उसमें आवें, जितनी नदियाँ आवे, जितनी वर्षा होवे, अपनी जगहपर अविचल!

अपूर्यमाणम्=कोई नदी बहकर न आवे, कोई नदी बहकर न आवे तो क्या

समुद्र सूख जायगा? नहीं, समुद्र सूखेगा नहीं। ज्यों-का-त्यों अचल प्रतिष्ठं। अचलप्रतिष्ठंका दूसरा अर्थ है—

अचलानां मैनाकादिनां पर्वतानां प्रतिष्ठाकृते यस्मिन् स अचल प्रतिष्ठम्।

मैनाक आदि बड़े-बड़े पर्वत समुद्रमें डूबे रहते हैं। समय-समयपर निकल आते हैं। फिर डूब जाते हैं, लेकिन पहाड़ोंके डूबने-उतरानेसे उसकी प्रतिष्ठा न तो घटती है और न तो बढ़ती है। ऐसे ही तत्त्वज्ञ स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थिति होती है।

अब बात क्या बता रहे हैं, इसका रहस्य आपको बताता हूँ। रहस्य यह है कि 'रजौ-रज्वां सर्प भवाभवौ यथा'।

एक रस्सी है। जो रस्सीको नहीं जानता, उसके लिए उसमें साँप पैदा हो गया। रस्सीको जान लिया, उसके लिए उसमें साँप समा गया। तो जो अपने आपको ब्रह्मरूपसे जानता है, उसको मालूम है कि यह जो प्रपञ्च है न प्रपञ्च, यह कोटि-कोटि नामरूपात्मक प्रपञ्च हमारे अंदर आकर मिल जाय, पैदा हो जाय, मालूम पड़े, प्रतीत हो जाय और कोटि-कोटि प्रपञ्च जो है वह विलयको प्राप्त हो जाय, यह प्रतीयमान जो प्रपञ्च, है प्रपञ्च=विस्तार। 'पचि'धातु जो है, वह विस्तारके अर्थमें है। पंचानन—जब सिंहके लिए 'पंचानन' बोलते हैं, पाँच मुँहवाला, तो पाँच मुँहवाला इसका अर्थ नहीं होता, 'फैले हुए मुँहवाला' इसका अर्थ होता है। पाँच मुँहका सिंह कभी देखा नहीं गया है। न कभी पुराणमें सुना गया है 'पाँच मुँहवाला सिंह'। तब पंचाननका और पंचास्यका अर्थ क्या होता है? पचि विस्तारे—फैले मुँहवाला।

प्रपञ्च क्या है? यह फैले हुए मुँहवाला है। जीवोंको निगलनेके लिए। यह तो पत्थरकी चट्टानमें शेर दिख रहा है। यह बनावटी मूर्ति है। तो यह दिखायी पड़े तो क्या और न दिखायी पड़े तो क्या? माने प्रपञ्चकी उत्पत्ति प्रतीत होवे तो क्या और प्रलय प्रतीत होवे तो क्या? जो अधिष्ठान स्वयं प्रकाश ब्रह्मसे अपने एकत्वका अनुभव कर चुका है, उस पुरुषके लिए आपूर्यमाणं और अपूर्यमाणं, दोनों स्थिति उसके लिए बिलकुल समान है। यह संसार प्रतीत होवे तो क्या और प्रतीत न होवे तो क्या? वह अपने स्वरूपमें अचल है। अचलप्रतिष्ठम्। यह भी विचलित नहीं होता है।

जैसे ब्रह्म प्रपञ्चकी प्रतीति-अप्रतीतिसे कोई चलित-परिणत-परिणाम-भावको प्राप्त नहीं होता, परिवर्तित नहीं होता, केवल विवर्तित होता है।

'परिवर्तित' शब्दसे तो आप लोग बहुत परिचित हैं न? यह 'परिवर्तन' हो गया—'वर्तन' तो वही है। वर्तन=वर्ताव। लेकिन पहले 'परि' उपसर्ग उसमें जुड़ा हुआ था, वर्तनमें तब 'परिवर्तन' था और जब 'परि' की जगहपर 'वि' उपसर्ग जुड़ गया, तब उसका नाम 'विवर्तन' हो गया।

विवर्तन माने विपरीत वर्तन। जैसा एकका अनेक भासना। चेतन है तो जड़ भासना, पूर्ण है तो परिच्छिन्न भासना, आत्मा है तो अनात्मा भासना। इसीका नाम है 'विरुद्ध वर्तन।' 'विपरीत वर्तन'। इसीको बोलते हैं 'विवर्त।' यह परिवर्तनका ही भाई बंधु है।

परिवर्तनमें तो सचमुच एक चीज दूसरे रूपमें बनती है और **विवर्त** उसको कहते हैं, जिसमें बनती तो नहीं है; किन्तु प्रतीत होती है। तो कोटि-कोटि विवर्तसे जैसे अधिष्ठानमें किसी प्रकारका परिणाम किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता है, ठीक उसीको अपना स्वरूप जान करके जो स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने स्वरूपरूपसे विराजमान है, उसकी प्रतिष्ठा अचल है। चाहे यह प्रपञ्चके विषय और विषयभोग-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध, सुख-दु:ख, प्रकाश-अंधकार, ये उसमें दीखें और चाहे उसमें न दीखें, वह अपनी जगहपर बिलकुल ठीक बैठा हुआ है।

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

यहाँ अन्त:करण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, शरीर, विषय, उनका सम्बन्ध ये तत्त्वज्ञानीको प्रतीत हो, फुरे तो भी ब्रह्म है और न फुरे तो भी ब्रह्म है। अपने आप आकरके भोग दें तो भी वह ब्रह्म है और भोग देने कोई न आवे तो भी वह ब्रह्म है। यह बात इस श्लोकमें कही जा रही है—

आपूर्यमाणमचलंप्रतिष्ठं -
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

आपः। आप:का अर्थ साधारण रूपसे जलका होता है। जलके कणोंका समूह। *आपः* शब्द संस्कृतमें नित्य बहुवचनान्त है। इसमें एकवचन-द्विवचन होता ही नहीं। क्या अर्थ हुआ इसका? माने जल जो है, वह कण-कण ही होता है। अगर एक बिन्दु भी जल है तो उसमें सैंकड़ों सीकर हैं, सैंकड़ों फुहियाँ हैं इसमें। इसलिए 'अप' शब्द जो है, वह संस्कृतमें बहुवचन ही होता है। तो 'आप: प्रविशन्ति' का अर्थ यह हुआ कि रसात्मक जल है। इसीसे 'रस' और इसीसे 'सर:'—सरोवरमें जो 'सर' है न, तो *सरति* और *रसस्यते*। जब इन्द्रियका विषय

होता है तो *सर रस* बन जाता है और इन्द्रियोंसे होकरजो विषयोंकी होकर सरन करता है, गमन करता है, उसको 'सर' बोलते हैं।

सर और रस। तो यह क्या है? जल जो है, गत्यात्मक है और जल जो है, रसात्मक है। यह कभी आता है और कभी नहीं आता है। 'अपसरा' शब्दका भी इसीसे सम्बन्ध है। अप/उसमें 'अप' भी है और 'सरा' भी है। शब्दोंके जो चमत्कार हैं, ये और बड़े-बड़े विलक्षण हैं। विषय जो हैं, वे तो स्वयं आकरके प्रवेश करते हैं। कभी नहीं भी आते हैं—भवन्ति ना भवन्ति दत्तात्रेयजीने अपने अनुभवका वर्णन किया—

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया॥
क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद् विभो॥

भागवत-7.13.40-41

कभी धरतीमें धूलमें सोता हूँ, कभी पर्यंकपर सोता हूँ, कभी महलमें रहता हूँ, कभी जंगलमें रहता हूँ, कभी बहुत-बहुत दिनोंतक सोता ही रहता हूँ और कभी हलवा-पूरी उड़ाता हूँ, परन्तु हमारी जो स्थिति है, वह भूखे रहनेमें, भोजन करनेमें, धरतीपर सोनेमें, पलंगपर सोनेमें, महलमें रहनेमें और जंगलमें रहनेमें, हमारी स्थिति सर्वथा एकसरीखी रहती है। यह स्थितप्रज्ञका स्वरूप है।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे=समुद्रमें जलके समान जिसमें सारे काम प्रवेश कर जाते हैं माने आँखसे देख रहा हो, उसके सामनेसे सुन्दर रूप आया, आँखमें प्रतिविंबित हुआ, उसने देखा और रूप चला गया; लेकिन फोटो नहीं खींचा। माने कैमरेके सामनेसे किसी चीजका गुजर जाना और उसका फोटो खींच जाना—ये दो चीज होती हैं। तो हम लोग जो दुनियाको देखते हैं, वह सिर्फ देखतेभर हैं, कि उसकी फोटो खींचते रहते हैं? तो जो दुनियाको केवल कानसे सुनते रहते हैं, आँखसे सुनते हैं, नाकसे सूँघते हैं, जीभसे स्वाद लेते हैं।

यह नहीं कि अज्ञानीकी जीभपर तो खट्टे-मीठेका भेद मालूम पड़ेगा और ज्ञानीकी जीभमें इञ्जेक्शन कोई लग जाता है तो उसको खट्टे-मीठेका भेद मालूम

न पडे। वह खट्टेको भी प्रकाशित करती है और मीठेको भी प्रकाशित करती है। कानको कठोर और कोमल शब्दका भेद भी मालूम पड़ता है। आँखको कुरूप और सुरूप भी दिखायी पड़ता है। अज्ञानी लोग जो देखते हैं, उसका फोटो खींच लेते हैं। उनके हृदयमें उसका संस्कार पड़ जाता है। उनका धब्बा लग जाता है। उसके लिए मरते हैं। अनुकूल हुआ तो भी मरे और प्रतिकूल हुआ तो भी मरे। अपने मनके मुताबिक हुआ तो उसके रागसे मरे और अपने मनके खिलाफ हुआ तो उससे दुश्मनी करके मरे। तो ये दुनियादार लोग दुनियाकी फोटो खींच-खींचकर अपने मनमें इकट्ठे करते हैं और दु:खी होते हैं।

स्थितप्रज्ञ तत्त्वज्ञ महापुरुषका क्या स्वभाव होता है कि आता सब है, दिखता सब है, आता है-जाता है, जाता है-आता है, आँखमें घुसते हैं, किन्तु गड़ते नहीं हैं—

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे।

'सर्वे' कहकर फिर एक बार आपको लौटा देते हैं, वहाँ—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

वहाँ। तो काम जो है, एक विवेकी पुरुषका वर्णन आया है उपनिषद्में—

'ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।'

जो धीर पुरुष होते हैं, वे जब अमृतत्त्वको जान लेते हैं, अमृतत्त्व परब्रह्म परमात्माको जब जान लेते हैं, तो—

इह अभ्युदेतु ध्रुवं न प्रार्थयन्ते।

यह जो मर्त्य है, मरनेवाला-बदलनेवाला जो संसार है इसमें ये ध्रुववस्तुकी इच्छा नहीं करते हैं कि इसमें कोई ऐसी चीज हमको मिल जाय, जो हमेशा हमारे साथ लगी रहे। किसी चीजका भाव-किसी चीजका अभाव हो तो उनको दु:ख नहीं देता है। आते हैं और जाते हैं, आते हैं और जाते हैं, प्रवेश करते हैं और निकल जाते हैं और वे जहाँ-के-तहाँ बैठे हुए हैं। जो साधु पुरुष होते हैं, उनको क्या होता है? भाई, इसमें विशेषता क्या है? विशेषता उसमें यह है कि—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

शान्ति प्राप्ति तो उसीको होती है।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।

उनको शान्ति मिलती है 'निर्वाणपरमां' जिसमें निर्वाण हो जाता है,

ऐसा! 'बाण' शब्दका अर्थ होता है एक तो शरीरको लग जाय सो बाण। 'बाण गति गन्धनयो: '। और 'बण्' से भी बनता है। तो यह बाण जो है, यह क्या है? बारम्बार शरीरका प्राप्त होना और मरना, यही बाण है। एक बाण तो लगता है स्थूल शरीरमें, गोली लगती है, बाण लगता है और एक बाण लगता है जीवात्माको। जो देह-इन्द्रियको मेरा मान करके बैठा है, एक बाण उसको लगता है। तो दोनों तरफसे लगता है। मीठा बाण भी लगता है और कड़वा बाण भी लगता है, क्योंकि संसारके जो सुख आते हैं, वे भी एक दिन दु:ख ही देते हैं।

कोई बाण न चुभे—संयोगरूप, वियोगरूप, जन्मरूप, मरणरूप, ज्ञानरूप, अज्ञानरूप, सुखरूप, दु:खरूप, किसी भी द्वन्द्वात्मक बाणकी चोट यह तीन गुणवाले त्रिगुणात्मक लोकमें यह बाणकी चोट फिरसे नहीं लगे, उसको बोलते हैं 'निर्वाण।' 'निर्वाणपरमां'=निर्वाण ही जिनका परम स्वरूप है ऐसी शान्ति कहाँ होती है? अपनी आत्मामें होती है। उसका अधिगम प्राप्त होता है। तो—**'स शान्तिमाप्नोति।'**

त्वत् प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्यति शाश्वतम्।

अपने आत्मामें रहनेवाली शान्ति 'तत्' पदार्थमें, 'त्वं' पदार्थमें जो मोक्षरूपसे विराजमान परमा शान्ति है, उसकी उसको प्राप्ति हो गयी।

बोले—जो कामनाओंको पकड़ करके, भोगके विषयोंको पकड़ करके इधर-उधर भटक रहे हैं, उसकी क्या गति होती है?

स कामधुक् जायते तत्र तत्र।

उपनिषद्में बताया है, कामनाएँ ही तो यहाँ-से-वहाँ ले जाती हैं—

कामान् य: कामयते मन्यमान:
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा:॥

श्रुति कहती है, जो भोगके पदार्थोंको ही सर्वस्व मान करके और उनको चाहता रहता है, उसको कामवश कहीं-न-कहीं जाना ही पड़ता है। 'वहाँ जायेंगे तो काम बनेगा, वहाँ जायेंगे तो काम बनेगा'—उस सेठके पास जायेंगे तो वह हमको एजेण्ट बना लेगा, वह हमको इतना कमीशन देगा वहाँ जायेंगे तो

सुख-भोग मिलेगा, वहाँ जायेंगे तो यह भोजन मिलेगा, वहाँ जायेंगे तो यह देखनेको मिलेगा—

स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

जैसे कहीं भी अटक मनकी हो जाय न, तो वह आदमी यही चाहेगा कि सब इसीकी सेवा करें। तो होता क्या है? जैसे नेता लोग हैं, तो उनके मनमें यह है कि हम लोग तो पढ़े-लिखे, बड़े संस्कारी, ऊँचे पदपर पहुँचे हुए। अब हमारे लिए तो जरूरत नहीं है। अब साधु लोगोंको कहाँ भेज दें? बोले—'अंदमान' भेज दो, आदिवासियोंमें भेजो, जंगलियोंमें भेजो। ये पढ़े-लिखे लोगोंके लायक थोड़े ही हैं? उनको वहाँ भेजो।

कई साधु होंगे जिन्होंने केवल प्रचारके लिए साधु जीवन स्वीकार किया होगा; उनको बोले—'यहाँ काम करना है, यहाँ काम करना है'—तो **स कामभिर्जायते तत्र तत्र।**

परमात्माका ज्ञान नहीं, अपने साधनमें निष्ठा नहीं, अपने त्यागमें निष्ठा नहीं, अपने स्वरूपमें निष्ठा नहीं, यहाँ भटको-वहाँ भटको, यह करो-वह करो!

जिसके लिए सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीतिमात्र है, वह? उसको कहीं जाने-आनेकी जरूरत नहीं है। जहाँ बैठ गये, बैठ गये। ठीक है। कामनाओंको, जरूरतोंको पूरा करनेकी जरूरत ही नहीं। जरूरत हो तो हमारे पास आवे और कहे कि हम आपके चरणोंकी शरण ले करके अपनी यह कामना पूरी करना चाहते हैं। वह कल्पवृक्षके पास जाय, वह कुएँके पास जाय। कामनासे भटकनेवाला जो पुरुष हैं, उनकी न अपने ज्ञानमें निष्ठा है, न ईश्वरमें निष्ठा है, न त्यागमें निष्ठा है, न निवृत्तिमें निष्ठा है, न अपनी कृतकृत्यतामें निष्ठा है।

तो कोई भी नाम ले करके-चाहे सम्प्रदायका नाम ले करके, चाहे मजहबका नाम ले करके, चाहे जातिका नाम ले करके, चाहे प्रान्तका नाम ले करके या राष्ट्रका नाम ले करके, चाहे मानवताका नाम ले करके, किसी लौकिक-अलौकिक वस्तुका नाम ले करके, उसको इधर-उधर भटकनेकी क्या जरूरत है? जो अपने स्वरूप ज्ञानसे, स्वरूपके साक्षात्कारसे तृप्त हुआ बैठा है। प्रचारकी वासना दूसरी होती है और आत्मनिष्ठा दूसरी होती है।

शास्त्रवासनया जन्तोः देहवासनयाति च।
लोकवासनया ज्ञानं यथावत् नैव जायते॥

शास्त्रवासना, देहवासना, लोकवासना ये जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखके प्रतिबन्ध हैं। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने कहा—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

जो कामकामी है, माने जो संसारमें परिवर्तन चाहता है, प्रतीतिमें परिवर्तन चाहना कि भाई, यह जो नीलिमा है, यहाँ बहुत गंदी दीख रही है आकाशमें, इसको थोड़ा बदल देना चाहिए। यह जो समुद्रमें नीलिमा दीख रही है उसपर ऐसी रोशनी डालो कि यह नीलिमा न दीखे, कुछ और दीखने लगे। वह चाँदी सरीखा दीखने लगे। विवर्तदृष्टि न होनेसे यह परिवर्तनकी दृष्टि होती है। असलमें दृश्यमान प्रपञ्चमें परिवर्तन करनेकी जो इच्छा है, यह उसके सत्यत्वकी भ्रान्तिसे है। इसलिए परमार्थ-दृष्टिसे कुछ कर्त्तव्य नहीं है, कुछ भोक्तव्य नहीं है, कुछ प्राप्तव्य नहीं है, कुछ ज्ञातव्य नहीं है। जब अपनी अहंताको हम किसी एक खास अवस्थामें जोड़ते हैं, जब हम हिन्दू बनते हैं न, तब हमें हिन्दूका मुसलमान होनेका या ईसाई होनेका दु:ख होता है। जब हम भारतीय बनते हैं, भारतातिरिक्त राष्ट्रसे भय होता है। जब हम मनुष्य बनते हैं, तब हमको असुर, दैत्य, देवतासे भय होता है।

द्वितीयाद्वै भयं भवति।

भय जो आता है, द्वैतसे आता है। देखो, जो अपनेको ब्राह्मण जानता है, उसको दूसरेसे भय होता है। जो अपनेको क्षत्रिय जानता है, उसको दूसरेसे भय होता है। जो अपनेको शूद्र जानता है, उसको दूसरेसे भय होता है।

ब्रह्म तं परायात् यः आत्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परायात् यः आत्मनो क्षत्रं वेद।

अंतमें है—

सर्वं तं परादात् योऽन्य आत्मनः सर्वं वेद।

अपने आत्माके अतिरिक्त और किसीको तो समझोगे भाई, यह मेरे सिवाय कुछ और है, दूसरा है, उसी दूसरेसे तुम्हें भयकी प्राप्ति होगी। भयकी प्राप्ति दूसरेसे होती है, अपने आपसे नहीं होती है और जिसको भयकी प्राप्ति है, उसको शान्ति तो है ही नहीं।

शान्तिकामी नहीं है, वह तो कामकामी है। जो चाहता है—'ऐसा न हो, ऐसा हो; ऐसा न हो, ऐसा हो।' यह जो कामकामिता है वह कामकामिता

भी दु:ख और अशान्तिकी सृष्टि करती है। इसलिए जो महात्मा है, जो महापुरुष है, परमार्थदृष्टिसे उसके अन्दर कामकामिता नहीं है। इसलिए सच्ची शान्ति मोक्ष उसको प्राप्त हैं और जो चाहते हैं परिवर्तन, वह तो प्रपञ्चको सत्य समझते हैं।

अब इस बातको छोड़ करके, परमार्थ दृष्टिको छोड़ करके लौकिक दृष्टिसे सबमें अद्वैतभावना करो, वह बात दूसरी है। धर्मका निर्णय जो है, वह द्वैतदृष्टिसे होता है। उपासनाका निर्णय जो है, वह द्वैतदृष्टिसे होता है कि 'यह उपास्य है, यह अनुपास्य है' 'यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है।' समाधिका निर्णय, योगका निर्णय सब द्वैतदृष्टिसे होता है—'यह विक्षेप है, यह समाधि है।'

परन्तु वेदान्तका जो तत्त्वज्ञान है, वह तत्त्वज्ञान द्वैतदृष्टि नहीं, अद्वैतदृष्टि है। इसलिए योगाभ्यासका जब विचार करना हो, तो द्वैतदृष्टिसे कैसे करना चाहिए, यह विचार करो। जब धर्मका प्रचार करना हो, तो द्वैतदृष्टिसे करो। यह स्थिति है। इसके सम्बन्धमें 'पञ्चदशी'में—

चोद्यं वा परिहारो वा प्रियतां द्वैतभासया।
अद्वैतभासया चोद्यं नास्ति नास्त्युक्तरम्॥

'पञ्चदशी'में 'विद्यारण्यस्वामी'ने कहा—'सारा व्यवहारका विचार व्यवहारके ढंगसे और परमार्थका विचार परमार्थके ढंगसे। उसमें गड़बड़ाध्याय नहीं करना कि पत्नीमें, बेटीमें और मातामें और दादीमें एक अद्वैतब्रह्म है, इसके लिए सबके साथ समान व्यवहार करो ऐसा नहीं होता। व्यवहार—व्यवहार जो होता है, वह अधिकारके अनुसार, कर्तव्यके अनुसार, स्थितिके अनुसार, विषयके अनुसार होता है। व्यावहारिक विज्ञान जो है, वह दूसरा है और पारमार्थिक विज्ञान जो है वह बिलकुल विलक्षण। वह निवृत्तिपरायण महात्माओंकी बड़ी विलक्षण वस्तु है।

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

अब प्रश्न फिरसे दुहरा देते हैं—

जीवन्मुक्त पुरुषका व्यवहार कैसा? चार बात जीवन्मुक्त पुरुषमें नहीं हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

2.71-72

उपनिषद्का सिद्धान्त है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः।
स कामभिर्जायते तत्र तत्र॥

जो संसारके विषयभोगोंको हि सबसे बड़ी वस्तु मानकर उन्हींकी ओर दौड़ता रहता है, वह कामनावश जहाँ-जहाँ उसके द्वारा चाही जाने वाली वस्तु मिले, वहीं-वहीं उसको जाना पड़ता है। यह मनुष्यका जो जन्म होता है, वह कामनाके अनुसार होता है। यह बात आपको कई बार सुना चुके हैं कि कोई भी एक तत्त्व मानो, मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमान-परमाणु-प्रकृति-चेतन-या एक बीजमेंसे आमका तना, उसकी डाली, उसके पत्ते, उसके बौर, उसके फल कैसे निकले? वह तो पञ्चभूतका बना हुआ एक बीज है।

बोले—नहीं भाई, उसमें पूर्व-पूर्वके जो आमके संस्कार विद्यमान हैं, तब उस आम्रके बीजत्वसे विशिष्ट जो पञ्चभूत, उसमें आम्राकार परिणाम होता है। यदि बीजत्वसे विशिष्ट पञ्चभूत नहीं होवे, तो उसका आम्राकार परिणाम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जो मनुष्यकी, पशुकी, पक्षीकी सृष्टि होती है, सबके शरीरमें एक सरीखे पञ्चभूत हैं, मिट्टी-पानी हैं, आग है, हवा है। यदि इनमें भिन्न-भिन्न संस्कार नहीं होवे तो संस्कारके बिना ब्रह्मतत्त्वमें अथवा प्रकृतितत्त्वमें अथवा परमाणुतत्त्वमें अथवा देशमें-कालमें-मिट्टीमें-पानीमें जो इतनी व्यवस्थित शकल-सूरतें बनती हैं, जातियाँ बनती हैं, इनका कोई कारण नहीं हो सकता।

इसलिए माना जाता है कि बीजका जो संस्कार होता है, वही तत्त्वमें आकृति उत्पन्न करता है। वह बात दूसरी है, परन्तु यह जो जन्म-मरणका संसार चक्र चल रहा है, इसमें कर्मके संस्कार निमित्तरूपसे जरूर है। उनमें कर्म भी कैसे निमित्त बनते हैं? जब उनमें कामना होती है। इसलिए जो तत्त्वज्ञ पुरुष होता हैं, वह तत्त्वसे एक होकरके कामनाओंसे ऊपर उठ जाता है।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु।
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

और जो निष्काम नहीं होता, उसका अन्तःकरण कामनाओंके अनुसार जन्मपर जन्म प्राप्त करता रहता है। यह औपनिषद् सिद्धान्त है, वैदिक सिद्धान्त है।

यह भारतीय सिद्धान्तकी विशेषता है कि तत्त्वमें जितना भी आकार-प्रकार-विकार-भेद मानते हैं, उनके मूलमें कर्मके सिद्धान्त मानते हैं। और, संस्कार जो हैं, वे कर्तृत्वाभिमानसे और विषयासक्तिसे और वासनासे अपना काम करते है। इसलिए अन्तःकरण शुद्धिकी आवश्यकता है। यह हमारे उपनिषद्-ज्ञानकी, वेदान्त-ज्ञानकी यह विशेषता है कि अन्तःकरण शुद्धि हो करके जो तत्त्वज्ञान होता है, वह तत्काल कार्यकारी होता है।

बिना अन्तःकरण शुद्धिके जो ज्ञान होता है वह तत्काल कार्यकारी नहीं होता है। उसमें प्रतिबन्ध विद्यमान रहता है। यह बात हमारे उपनिषद् सिद्धान्तकी सच्ची है। शङ्कराचार्यके सम्प्रदायमें तो इस सिद्धान्तको निश्चितरूपसे दृढ़रूपसे माना हुआ है। इसीलिए यह जो वेदका मन्त्र है, कि—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यः स्व हृदि स्थिताः।
ह्यमृतो मृतो भवति तत्र ब्रह्म समश्नुते।

हृदयमें कामनाकी जो गाँठ है, वह खुलनी चाहिए, कामनाकी ग्रंथि टूटनी चाहिए। नहीं तो—

ना विरतो दुश्चरितात् ना शान्तो ना समाहितः।

जैसे उपनिषद्में यह बात कही कि—

नान्य पन्थाः विद्यतेऽयनाय।

परमात्माकी प्राप्तिके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। 1. विद्याकी उत्पत्ति होनेके कारण अविद्यासे मुक्त होता है और इधर 2. निष्कामता होनेके कारण उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। तो व्यक्तिगत जीवनमें उसका अन्तःकरण शुद्ध और तात्त्विक जीवनमें वह अविद्या और मायासे रहित ब्रह्म। माने व्यवहारमें हम जिसको महात्मा कहते हैं, वह है, शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष-व्यक्ति।

निष्कामतामें व्यक्तिको माँज करके, उज्ज्वल करके उन्नतिके शिखरपर पहुँचा दिया है, महात्मा बना दिया है। निष्कामता ही महात्माका निर्माण करती है और विद्या जो है वह अविद्याको निवृत्त करके आत्माको परमात्माके रूपमें दिखा देती है। विद्याका काम है परमात्मापनाको जाहिर करना और निष्कामताका काम है महात्माको जाहिर करना।

एक महात्मा होता है और एक परमात्मा होता है। ऐसा परमात्मा जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें महात्मा न हो। वह तो खटमलमें, मच्छरमें, चिड़ियामें, पशुमें, पक्षीमें जैसा परमात्मा है, वैसा ही मनुष्यमें है। और जिस पुरुषमें अन्त:करण शुद्धि हो करके महात्मापन आ गया है, वह तत्त्वमें परमात्मा है। व्यवहारमें महात्मा है। व्यवहारमें जो महात्मा है, वह तत्त्वदृष्टिसे परमात्मा है और जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका जहाँ आस्वादन हो रहा है, वहाँ महात्मा है। तो कामनाकी निवृत्ति महात्मा बना देती है और अविद्याकी निवृत्ति परमात्मा बना देती है। तो बहुत लोग जो हैं, परमात्मा बनना तो चाहते हैं, कि हम कैसे भी जान जायँ कि हम परमात्मा हैं, लेकिन महात्मा बननेकी रुचि उनके अन्दर नहीं होती है। क्यों नहीं होती है? वैराग्यकी कमीसे।

अपने दिलमें लिख लो, जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें महात्मा बनना नहीं चाहता है, उसके जीवनमें वैराग्यकी कमी है। उसके जीवनमें तपस्याकी कमी है। वह भोग-रागमें लगा हुआ है। वैराग्यके बिना कोई महात्मा नहीं हो सकता। इसीलिए यहाँ बताया कि महात्मा वह है बाबा, जो **स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।**

जो शान्तिका साक्षात्कर साक्षात् ब्रह्मके अनुभवमें बैठा है। संसारके विषय आवे कि न आवे।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः

नोटका बण्डल खूब ठिकानेपर रख देनेके बाद, मजेसे खाने-पीनेके बाद, अब पलंगपर चाहे, आराम कुर्सीपर सहारा लेकर बैठ गये और थोड़ी देर मनोराज्य कर लिया कि 'हम ब्रह्म ही हैं।' यह बात दूसरी है और मनसे कामनाकी ग्रन्थि निवृत्त हो करके जो ब्रह्मानुभूति है, वह एक बिलकुल दूसरी बात है। उसमें यह थोड़ी देरके लिए भोगी और थोड़ी देरके लिए योगी **यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि।**

मानते तो हैं, 'हम मुक्त हैं' और देहमें बनी है ममता। बोले—

न स ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागऽसौ

न तो वह ज्ञानी है और न तो वह भोगी है। वह तो केवल दुःखी है, दुःखी। उसके मनमें द्वन्द्व भरा हुआ है। थोड़ी देर वह अपनेको मुक्त मानता है, थोड़ी देर वह अपनेको चिन्तायुक्त मानता है, थोड़ी देर वह अपनेको दुःखी मानता है, थोड़ी देर वह अपनेको जागता हुआ मानता है। इसलिए कामनाकी

निवृत्ति होना, यह स्थितप्रज्ञ पुरुषका प्रमुख लक्षण है। इसलिए आप देखते हैं, स्थितप्रज्ञताके लक्षणके थोड़ेसे तो श्लोक हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्।

और फिर बार-बार 'सर्वान्' भी है।

प्रजाहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 2.55

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः। 2.62

यह संगत है महाराज! कामका नाम है संगत और महादेवजी कौन हैं? 'संगदारि', 'कामारि' शिवका स्वरूप है 'संगदारि।' गजासुरको मारा था किसने? गजासुरका संहार भगवान् शिवने किया था। यही संगदारि जो हैं, यही तो गद है। महात्मा लोगोंने उसमें-से 'सं' निकाल दिया और गजको रहने दिया। गजासुरको मारनेवाले संगदारि, कामारि हैं भगवान् शंकर। तब शिवस्वरूप हैं, भला। यहाँ स्थितप्रज्ञ महापुरुषके स्वरूपको बताते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

जैसे परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मामें विवर्त-रूपसे सृष्टिका उदय होता है, और विवर्तरूपसे ही सृष्टिका प्रलय होता है। सृष्टिके उदय और प्रलयके साथ ब्रह्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार ये जो संसारके विषय हैं, वे सृष्टिके समान महात्मामें आते हैं और प्रलयकी तरह भाग जाते हैं। कोटि-कोटि सृष्टिकी प्रतीति और कोटि-कोटि सृष्टिके प्रलयके साथ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका अनुभव करनेवाला जो महात्मा है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं। कोई लेश उसमें नहीं। इसलिए पक्का कर लो—'न कामकामी'। जो कामकामी है, उसको शान्ति नहीं मिलती। विषय चाहनेवालेको शान्ति नहीं मिलती। अब बताते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान्।

अब अगर गीताकी बात नहीं मानोगे, अगर 'गीता'की बात समझमें न आवे, तो 'गीता' झूठी कि तुम्हारी समझ झूठी? यदि ऐसा मालूम पड़े कि 'गीता' झूठी और मेरी समझ सच्ची तो समझना कि अभी आप अभिमानकी

बहुत ऊँची चोटीपर बैठे हुए हो, जिससे तुम गीताको झूठी समझनेकी हिमाकत कर सकते हो। वेदान्तको, उपनिषद्को तो झूठी समझनेकी हिमाकत कर सकते हो, लेकिन अपनी समझके साथ चिपके हुए हो कि हमारी समझ बहुत बड़ी।

इसलिए महात्माके लिए- स्थितप्रज्ञ महात्मा होनेके लिए जरूरी है, आत्मनिरीक्षण करो।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 2.71

बोले—भाई, दुनियामें पुरुष तो वही है, बाकी सब? दूसरे लिंगके हैं वे। 'स पुमान्'=वे मर्द हैं, वे बहादुर हैं, वे पुत्र विशिष्ट हैं, जीव हैं। वह महात्मा जो है, वह सचमुच मर्द है, वह महात्मा है, वह स्वविशिष्ट है। उसीका जीवन पूरा सफल हुआ है। *'स पुमान्'। स एव शान्तिं अधिगच्छति।*

उसीको शान्तिका अनुभव होता है और नहीं तो बाबा दस-दस वर्ष जप करते हैं, ध्यान करते हैं, वेदान्तका विचार करते हैं। किसीने आकर कहा कि— 'देखो, हम तुमको ऐसा टोना बताते हैं, ऐसा टोटका बताते हैं, एक ऐसा मन्त्र बताते हैं कि देखो, अभी ब्रह्मलोक तुम्हारे सामने प्रगट हुआ! आया वैकुण्ठ! अरे लो, समाधि लगी! लो मन्तर। बदलो अपना पहलेवाला मन्तर! चुटकीमें उड़ा दो। तुम्हारा पहलेवाला गुरु झूठा। तुम्हारा सम्प्रदाय झूठा। लो, हमने शान्ति यह दी आपको।'

लोग भी क्या बेवकूफ होते हैं? कहीं निष्ठा नहीं, कोई समझ नहीं, कोई सत्संगका जीवनमें फल नहीं। क्षण-क्षणमें निष्ठा बदल जाय। असंतोषसे ग्रस्त जीवन अशान्तिसे ग्रस्त जीवन ज्यादा पढ़-लिख लेनेसे आदमीके अन्दर सुख नहीं आता है।

हमने देखा, एक डी.लिट. विलायतसे होकर आये थे। हिन्दूधर्मके बारेमें, रामचरितके बारेमें डी.लिट. करके आये लन्दनसे। अरे, उनको तो रामचरितका इतना भी ज्ञान नहीं था जितना हिन्दुस्तानके दर्जा चारके एक बालकको होता है और वहाँसे डी.लिट. होकर आये थे। हमारे पास आते थे, बहुत आते थे, सत्संग करते थे। वे बोले—'उन लोगोंके लिए उतना ही काफी है। जितना मैंने लिखा, उतने ही में उन लोगोंने डी.लिट. कर लिया।

तो भाई, यह बड़े रहस्यकी, तत्त्वकी बात है। इसमें ज्यादा प्रवेश करना पड़ता है। जो दिनभरमें दस बार ईश्वर ही बदल दे, चार दिन राम, चार दिन कृष्ण, चार दिन निराकार, चार दिन साकार, दिनभरमें दस बार मन्त्र ही बदल दे, दिनभरमें दस बार उपासनाका प्रतीक बदल दे, कहाँसे भाई, उसकी उन्नति होगी? कहाँसे आगे बढ़ेगा? तो—

सचमुच जो कामना उसके मनमें घर किये हुए है, वही उसको यहाँसे वहाँ, वहाँसे वहाँ भटकाती फिरती है।

एक आदमीने कहा—'निराकारका ध्यान तो मैंने बहुत किया, अब मैं साकारका ध्यान करना चाहता हूँ। जरा मुझे बताइये तो!'

बोले—'भाई! निराकारका ध्यान भी शास्त्रीय है और साकारका ध्यान भी शास्त्रीय है। दोनोंके द्वारा चित्तमें एकाग्रता आती है। दोनों उपासना ही हैं जबतक बोध नहीं होवे। जबतक अविद्याकी निवृत्ति न हो जाय तबतक 'निराकार-निराकार' चिल्लाना भी उपासना है। और 'साकार-साकार' पुकारना भी उपासना है। उपासना ही है, लेकिन 'मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि बीस वर्ष तुमने निराकार-निराकार किया। वह कौन-सी कामना तुम्हारे मनमें है जिसको निराकार पूरी नहीं करता है? निराकारकी आवाज सुनना चाहते हो? कि उसे छातीसे लगाना चाहते हो? कि उसको आँखसे देखना चाहते हो? कि सूँघना चाहते हो? निराकारका किस रूपमें भोग तुम करना चाहते हो कि निराकारसे तुम्हें संतोष नहीं हुआ? तो अब साकारकी जरूरत पड़ गयी?

अब बोले—जो साकारका भजन करके मन एकाग्र कर रहा है, उसको कौन-सी ऐसी चीज थी जो साकारसे नहीं मिली। अब वह निराकारसे लेने जा रहा है? अपनी उपासनाकी पद्धति बदल देनेके लिए क्या कारण हुआ? जरूर तुम निगुरे हो। यह बात बिलकुल स्पष्ट है। यदि तुमने शास्त्रकी रीतिसे गुरुसे अपने जीवनमें कोई निष्ठा धारणकी होती तो इस तरहसे तुम्हें छोटी-छोटी बातोंमें, खुदरा बातोंमें-क्षुद्रका 'खुदरा' हो गया—तो इन क्षुद्र-क्षुद्र-खुदरा बातोंकी ओर तुम्हारी चित्तवृत्ति कैसे झुकती?

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथैवं विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥

क्या तुम्हारे गाँवमें कोई सत्पुरुष नहीं है? अथवा तुम सत्पुरुषोंके कहे

अनुसार चलते नहीं हो? इसीसे तुम्हारी बुद्धि जो है, आचार-वर्जित, सदाचारसे रहित हो गयी है। तो भाई मेरे! कामनाको छोड़ना आवश्यक है। यह कामना ही भटकाती है। यह कामना ही अटकाती है। यह कामना ही संसारमें लटकाती है। यह कामना ही तुम्हारे कलेजेमें शूल बनके खटकती रहती है। इस कामनाने बड़ा भारी दु:ख दिया। इस कामनाको अगर नहीं छोड़ोगे तो जीवनमें स्थित-प्रज्ञता नहीं आवेगी। तुम्हारी प्रज्ञा कभी स्थिर नहीं होगी। प्रज्ञा-निष्ठा-बुद्धि उसीकी पक्की होती है जो कामनाको छोड़ करके साधनके मार्गमें आगे बढ़ता है।

'विहाय कामान्यः सर्वान्।'

'यद् सर्वान् कामान् विहाय'-'कामान्' कहनेसे संतोष नहीं होता। '**सर्वान्**' बोलते हैं। 'सर्वान्'। संस्कृतमें एक अक्षर व्यर्थ नहीं बोला जाता है। जैसे 'सूत्रग्रन्थ' संस्कृत भाषा हैं। ऐसा विश्वभाषाके जानकार लोग बताते हैं कि 'जैसा हमारा न्यायसूत्र है, वैशेषिकसूत्र है, सांख्यसूत्र है, योगसूत्र है, जैसा हमारा ब्रह्मसूत्र है, श्रौतसूत्र है, धर्मसूत्र है, पाणिनीयसूत्र है, व्याकरण जितना संक्षेपमें, एक अक्षर यदि उसमें-से, आधी मात्रा यदि कम कर दे, तो कहीं-न-कहीं शब्दज्ञानमें न्यूनता आ जायगी। एक आधी मात्रा उसमें-से निकाल करके नहीं बोलते। संस्कृतका विद्वान् यदि 'सर्वान्' पद बोलेगा तो उसमें भी कोई-न-कोई भाव होगा। ऐसे नहीं कह दिया कि—'सर्व कामान्' 'सर्वान् कामान्'-'सर्वाणि कर्माणि'। ऐसे थोड़ा कह दिया जाता है? उसका अभिप्राय होता है। विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। 'सर्वान् कामान्-सर्वान् कामान्-सर्वान् कामान्' कामना तीन तरहकी रहती है।

एक तो जाग्रत्की तरह कामना रहती है। वह क्या? जैसे जाग्रत् अवस्था है—'हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए'। स्पष्टरूपसे विषय है और मन उसको माँगता रहता है—यह जाग्रतकालीन कामना।

दूसरी कामनाएँ रहती हैं स्वप्नके समान! वह केवल स्फुरणात्मक होती हैं, मनोराज्यात्मक होती हैं। मनमें उठती रहती हैं—उठती रहती हैं—उठती रहती हैं। और;

तीसरी कामनाएँ रहती हैं सुषुप्तिकालीन-सुषुप्तिकालीन कामनाके समान। सुषुप्तिकालमें कामना रहती है कि नहीं?

बोले—'नहीं महाराज, कुछ नहीं मालूम पड़ता।' 'कल तुमको हजार रुपये चाहिए थे?' 'हाँ, कल तो चाहिए थे।' 'रातको सो गये थे न?' 'हाँ, सो गये थे।' 'आज सबेरेसे हजार रुपये चाहिए?' 'हाँ चाहिए।' तो कल शामको हजार रुपये चाहिए थे और आज सुबह भी हजार रुपये चाहिए हैं, तो सोते समय ये हजार रुपये चाहनेवाली जो इच्छा थी, वह कहाँ थी? वह वासनारूपसे, संस्काररूपसे तुम्हारे अन्तःकरणमें जमा थी। थी कि नहीं? सुषुप्ति कालीन कामना, स्वप्नकालीन कामना, जाग्रत-कालीन कामना-ये तीन अवस्थाओंकी तीन प्रकारकी कामनाएँ होती हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्।

यह कहनेका अर्थ यह है कि इन त्रिविध कामनाओंसे रहित होना चाहिए। हमारे साथ न स्पष्ट विषयोंकी माँग हो, न अस्पष्ट विषयोंकी कल्पना हो, और न तो कल्पनाका बीज होवे। ऐसी स्थितिमें हमें जाना पड़ेगा।

विहाय कामान्यः सर्वान्।

इसका अर्थ यह है कि जबतक आप स्थूल शरीर-सूक्ष्म शरीर-कारण शरीर, जबतक आप सत्त्व-रज-तम, इन त्रिगुणमयी अवस्थाओंको परे अपने आपको नहीं जान लोगे, तबतक कामनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। तो कामनाओंको छोड़नेके लिए प्रयास करना चाहिए।

अब बोले—ठीक है भाई, हम कामना तो नहीं करते हैं, लेकिन कोई बिना कामना हमको नहीं चाहते। अगर बिना कामनाके ही कोई चीज अपने पास आ जाय तो क्या करना?

बोले—आनेपर भी निःस्पृह रहो। आशा मत करो कि हमारे साथ बनी रहे। जो चीज आ गयी, रेलगाड़ीमें बहुतोंका साथ होता है, तो क्या हम चाहते हैं कि रेलगाड़ीका मित्र हमारे साथ ही उतर जाय? हमारे घरमें रहे? छोड़ सकते हैं न? सड़पर चलते हैं, कितने लोग साथ मिलते हैं?

प्रपाया वो संगमः॥

यह, वैसे प्याऊपर सब जने इकट्ठे हो जाते हैं। शहरके लोग प्याऊपर काहेको इकट्ठे हों? जैसे क्लबमें आ जाते हैं; जैसे सिनेमामें साथ सीटपर बैठ जाते हैं, जैसे घण्टे-दो घण्टेका साथ होता है, जैसे नाचघरमें दोनों मिलके नाच लेते हैं! तुम कहो कि हमारे साथ ही रहो! तो यह बात नहीं चलती है।' तो—

निःस्पृहताका अर्थ है निष्कामता होनेपर भी यदि कोई भी वस्तु तुम्हारे साथ आ जाय तो उसकी स्पृहा मत करो कि यह हमारे साथ बनी रहे। दुनियामें ऐसी कोई चीज नहीं है जो तुम्हारे साथ हमेशा बनी रहे। क्यों?

'यह भी न रहेगा—यह भी न रहेगा'। हमारे एक मित्र हैं। उनके घरमें जगह-जगह मोटे अक्षरोंमें छपा करके 'यह भी न रहेगा', 'यह भी न रहेगा'—कुछ न रहेगा,'यह भी न रहेगा'—तो दुःख भी न रहेगा, तो दुःखमें घबड़ाओ मत और सुखके साथ सटो मत। 'दुःखसे हटो मत और सुखसे सटो मत'—यह जीवनका मंत्र होना चाहिए।

'सुखसे सटो मत और दुःखसे हटो मत'—देखते चलो। मुकाबला करते चलो। जो आवे। सुख भी आता है फँसानेके लिए और दुःख भी आता है, हरानेके लिए। एक फंदा है और एक पराजय है। लड़ाईमें दुःख आता है न, तो कहीं हार न जायँ और सुख आवे तो कहीं फंदेमें न फँस जायँ! सुख ललचाके मारता है और दुःख डराकर मारता है। दुःख हमें डरा न सकें, और सुख हमें ललचा न सकें। हम एक ओर सुखके फंदेमें न फँसे और एक ओर दुःखसे भयभीत न हों; फिर विचरो दुनियामें।

अब तीसरी बात करते हैं। यदि हम कुछ चाहेंगे नहीं और कुछ रखेंगे भी नहीं, तो जियेंगे कैसे? मनमें जो बहुत सारी कमजोरियाँ हैं, कि—'मैं इसके बिना जी नहीं सकता, मैं इसके बिना जी नहीं सकता, मैं इसके बिना जी नहीं सकता'—बहुत सारी कमजोरियाँ हैं न?

एक बच्चेको हमने गाते हुए सुना था—

'अब हम जीके क्या करेंगे?' नन्हा-सा बच्चा गा रहा था—हे भगवान्! अरे भाई, क्या बात है?

'जब दिल ही टूट गया।'

उस बच्चेको न जीनेका पता, न दिलका पता! यह रेडियोका चमत्कार! यह सिनेमाका चमत्कार! यह हम लोगोंके जीवनपर हावी हो गया कि 'अब जीके क्या करेंगे? तो लोग दूसरेके बारेमें जैसे सोचते हैं, कि 'हम इसके बिना जी नहीं सकते' यह मनका गढ़ा हुआ, मनगढ़न्त दुःख। इस दुःखका नाम है 'मनगढ़न्त दुःख'।

'मनगढ़न्त दु:ख 'को संस्कृत भाषामें क्या बोलते हैं? 'कल्पना।' कल्पित दु:ख। 'कल्पना' शब्दको परिभाषा क्या है? *कल्पना नाम मनसो रचना।*

कल्पना माने मनकी कारीगरी। कारीगरी माने मनगढन्त। हमारे गाँवकी बोलीमें 'मनगढन्त' हो गया। तो यह संसारमें—'हम इसके बिना नहीं रह सकते'—यह जैसे मनगढ़न्त दु:ख है, कल्पना है, ठीक उसी तरहसे इस शरीरके बिना हम नहीं रहेंगे'—यह दु:ख भी मनगढ़न्त है। इसलिए—

'जीवनादावपि निर्मम:। जीवनसाधनेऽपि निर्मम:। कन्था कौपिनेऽपि निर्मम:।'

जो कन्था किसीने ओढ़ा दिया, उसको भी मेरी मत समझो। जो कमण्डल है, उसको भी मेरा मत समझो। जो कौपीन है, उसको भी मेरा मत समझो। निर्मम! यह तो मैंने साधुओंकी दृष्टिसे कन्था-कौपीन-कमण्डलका नाम ले लिया। असलमें थालीमें जो भोजन परोसके आया है न, वह भी तुम खा सकोगे कि नहीं? इसका कोई ठिकाना नहीं है। हमने कितनी बार देखा है कि भीतरसे थाली परोसके आयी बाहर और उसको ज्यों-का-त्यों छोड़कर भागना पड़ा है। वह दूसरोंको देना पड़ा है, वह फेंक देना पड़ा है। ऐसे प्रसंग आये हैं।

गाँवमें थाली आयी सामने और खानेको बैठे, तो कौवा बीटकर गया, तो फेंकना पड़ा न? आकर कुत्तेने छू दिया। दूसरेके घर जाते हैं महाराज, तो मेजके नीचे कुत्ते घूमते हैं। अब तो बात ही बदल गयी। एक सेठके घर गया तो उनके घरमें छ: कुत्ता। और एक बड़ा चीता सरीख कुत्ता। सात थे। अब तुरन्तकी ब्याई हुई कुतिया। मैंने उठा लिये। भाई, छोटे-छोटे बच्चे! बड़ा प्यार! वह भी परमात्मा है। उसमें भी परमात्माको देखना।

पहलेकी तो बात ऐसे समझो कि कुत्ता अगर छू जाता, तो हमारे बाबा होते; तब तो नहाना ही पड़ जाता। और बाबा न होते तब भी हम देहातमें होते तो बहुत ढंगसे हाथ-पाँव धोते। अब यहाँ तो हाथ-वाथ धोकर काम चला लिया। ऐसा हो गया। तो यह स्थिति है। लोगोंकी मनोवृत्ति कैसी उलटी जा रही है? इसका यह नमूना।

तो '**मम**'। खानेके बारेमें यह विश्वास नहीं है कि सामने आयी हुई थाली हमारी है कि नहीं है? कितनी जमीनको हमारे बाबाने 'मेरा' माना। कोई अपना रहा? तो जब यह नहीं रहता है, तो यह जो है न हड्डी-चाम-मांसका ढाँचा, यह ठठरी! यह भी कोई हमेशा बनी रहे, जीवनके जो साधन हैं खाना-पीना पहनना,

वे भी अपने नहीं हैं। और इन्हींकी तरह यह भी भोगायतन, इसमें बैठ करके जैसे भोजन करनेके लिए जगह होती है न? अपने घरमें लोग बनाते हैं न पीढ़ा! बैठाके पाटे पर, क्या बढ़िया! यह भारतीय संस्कृतिकी रीतिसे चौका लगाकर उसमें पाटा रखकर और चौका परके—महाराष्ट्रमें तो बड़े अच्छे ढंगसे खिलाते हैं। ब्राह्मण लोगोंके यहाँ बड़ी विचित्र पद्धति है। और उसमें भी बलि वैश्वदेव करके, भगवान्‌को भोग लगा करके। इसमें सबका हिस्सा है, यह वस्तु भगवान्‌की है। फिर प्राणाहुती करके—'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा'—इसके भोक्ता हम नहीं हैं, यह तो भगवान्‌की—'इदं भगवते'—'यह भगवान्‌के लिए है, मेरे लिए नहीं'—ऐसे भोजन करते हैं। यह शरीर जो है, यह शरीर जो है, यह कैसा है? भोजनघर है। जीवात्मा इसमें बैठ करके अपने कर्मके अनुसार अपना जो प्रारब्ध भोग है, उसको भोगता है। भोजनके घरको क्या बोलते हैं यहाँ? 'कीचन' बोलते हैं। यह शरीर क्या है?

यह शरीर जो है, अपने कर्मोंका जो फल है, फलाहार करनेके लिए यह शरीर मिला है कि तुम्हारे कर्मोंका जो फल है। उसका भोजन करो। यह फलाहारगृह! यह 'आहारगृह' मिला है, इसको स्वच्छ रखो, और यावत् प्रयोजन-जब खाना हो, पीना हो, तब इसमें आकर बैठ गये और नहीं तो इससे अलग रहना चाहिए। रहनेके लिए तो दूसरा कमरा होता है न! खानेका और सोनेका कमरा अलग-अलग-अलग होता है कि नहीं? खानेका और मिलनेका कमरा अलग-अलग होता है कि नहीं?

यह देह जो है, यह तो प्रारब्ध-प्राप्त है। उसके लिए यह स्थूल शरीर मिला हुआ है और आराम करनेके लिए? शयनके लिए दूसरी जगह है। लोगोंसे मिलने-जुलनेके लिए, वह दूसरी जगह है। वह तो ऑफीस है। ऑफीसमें हो तब लेकर कलम और कागज लिखो। तो पिसते रहो। 'आ-पीसते यत्र'-जहाँ पिसना पड़े उसका नाम 'ऑफीस'। ऑफीसम्।

निर्ममो=ममता मत करो और देहमें भी ममता मत करो। देहकी जीवन-सामग्रीमें भी ममता मत करो। उपयोग करो, ममता मत करो।

बोले—हम तो बड़े भारी त्यागी महात्मा। निर्मम होनेपर भी अहंकार आ जाता है। यह छिपा रहता है, नहीं मिटता है। निर्मम होने पर भी नहीं मिटता है।

निष्काम होने पर भी स्पृहा रह जाती है। निःस्पृह होने पर भी ममता आ जाती है देहादिमें और देहादिमें निर्मम होनेपर भी अहंकार शेष रह जाता है। यह उत्तरोत्तर ऊँचाईकी ओर ले जा रहे हैं।

जो निरहंकार हो जाता है, परिच्छिन्नमें अहंकार करना, यही अहंकार है। एक तो मोटरकार होती है और दूसरा अहंकार होता है। इस परिच्छिन्न देहमें जो अहं होता है, यह भी कार ही है। जैसे कहीं जाना हुआ तो कार पर बैठकर चले गये। दिनभर तो कारमें नहीं रहते हैं न? इसी प्रकार कोई सांसारिक काम आया तो अहंके साथ मिल करके, अहंके कार पर बैठ करके कर लिया। और फिर उस कारको छोड़ दिया–यह कार ही है।

कर्म होता है, कर होता है। कर्म होता है काहेसे? करसे। कर=हाथ और उसके भीतर क्या होता है? करण। कर्म-कर-करण। करण= अन्त:करण। ज्ञानकरण, कर्मकरण और उसके भीतर क्या होता है? सबको मिला करके करको, कर्मको, करणको- जैसे कि पुर्जे जोड़ करके कार बनती है, ऐसे इस शरीरमें कई पुर्जे जुड़ते हैं। करनेके, पकड़नेके, देखनेके। जैसे मोटरकारमें बत्ती होती है न? वैसे यह आँख है। आँख है मोटरकारकी बत्तीकी तरह। और कभी जुकाम हो जाता है तो आस्पी करते हैं कि नहीं? तो कभी पेट्रोल अटक जाता है तो मोटरको भी आस्पी होती है, सिजवाते हैं। मोटरको कि उसमें तिनका-विनका अटका हो नलीमें तो निकल जाय। यह कार है, अहंकार।

जो निरहंकार हो जाता है; जब तक कारमें बैठकर यात्रा कर रहे हो, तबतक शान्ति कहाँ है? जब निरहंकार हो जाओगे, माने जब यात्रा समाप्त हो जायगी, तब कहीं न जाना है न आना है, अपने घरमें पहुँच गये। बोले, 'बस'!

'स शान्तिमधिगच्छति।'

आप जानते ही हो, कैसे शुरू किया था भगवान्‌ने अपना उपदेश?

पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। गीता 2.3

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। 'पार्थ' ही से हमारा मतलब था। अब आप लोग 'प्रेमकुटीर' के सत्संगी। आपके लिए वैसी बात नहीं कहीं जा सकती। 'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ।' अरे! वह तो अर्जुनके लिए भगवान्‌ने कह दी।

वह तो अर्जुनके लिए भगवान्‌ने कह दी। आपके लिए वैसी थोड़ी कही

जाती है? पर भाई! प्रत्येक जिज्ञासु जब सुननेके लिए नीचे बैठता है न, तब वह जिज्ञासु हो जाता है। उसको थोड़ा पुचकारना भी पड़ता है, उसको थोड़ा डाँटना भी पड़ता है। कभी उसको भयके मार्गसे, कभी 'तुमको यह लाभ होगा' इस ढंगसे, कभी 'तुम तो बड़े ऊँचे हो'—इस ढंगसे बच्चेसे बातकी जाती है न, जैसे माँ-बाप घरमें बालकसे तरह-तरहकी बात करते हैं, वैसे सत्संगमें बैठकर बातकी जाती है। श्रोताको गुरु मानके बात नहीं की जाती। श्रोताको चेला मानके बात की जाती है। तो जिनको अपने गुरुपनेका अभिमान है, वे काहेको नीचे बैठेंगे और काहेको सुनेंगे? इसलिए जैसे अपने बालकसे बात करते हैं, जैसे अपने शिष्यसे बात करते हैं, वैसे बात करनी पड़ती है। तो क्या सब चेला-ही-चेला हैं? गुरु कोई नहीं हैं? एक नहीं, बहुत गुरु होंगे इसमें। गुरु लोग तो बहुत होंगे।

वैसे आप जानते हैं कि मैं 'बनारस'के पासका, मैं 'काशी'के पासका बनारसी हूँ। वहाँ तो 'गुरु' शब्दका अर्थ बहुत अच्छे अर्थमें नहीं किया जाता। बहुतसे गुरु होंगे, लेकिन सत्संगका यही नियम है कि सब एकको बोलनेके लिए ऊपर बैठा देते हैं, तो उस समय वह प्रवक्ता हो जाता है और दूसरे लोग सुननेके लिए बैठते हैं, वे छोटे बनके बैठते हैं, पर इससे वे छोटे नहीं हो जाते। वे तो एक ही हैं। वह तो व्यवहारकी बात है।

असलमें जो नीचे बैठता है, वह ऊँचा और जो ऊँचे बैठता है वह नीचा। क्यों? जो नीचे बैठता है, तो विनय है उसमें, श्रद्धा है उसमें, निरभिमानता है उसमें। नीचे टाट गड़ता होगा, तितिक्षा है उसमें, क्रोध नहीं करता है, शान्ति है उसमें, इन्द्रियोंका दमन करता है, दुःख सहन करता है, अपने घरका कामधंधा छोड़के आया है, उपराम है। उसके अन्दर श्रद्धा है, तब तो नीचे बैठता है। तो शमदमादि सद्गुणसे सम्पन्न कौन? जो नीचे बैठके सुन रहा है। और—

अभिमानादि दुर्गुणोंसे सम्पन्न कौन? जो अपनेको प्रवक्ता बनाके ऊपर बैठा है। 'हम बड़े-हम बड़े-हम बड़े।' वह तो छोटा हो गया। पर यह उपदेशका व्यवहार है कि उपदेशकी जो धारा है न, गंगा? गंगा किधरको जाती है? वह हिमालयकी चोटीपर नहीं चढ़ती, वह नीचेकी तरफ जाती है। तो उपदेशकी जो धारा है, वह विनयी पुरुष जो होते हैं, श्रद्धालु जो होते हैं, उनके दिल-दिमागको तो छूती है और जो अभिमानके शिखरपर बैठे हुए होते हैं, उनको स्पर्श नहीं करती है। तो—

'पार्थ!' आप सब लोग इसपर ध्यान दो। भगवान्‌ने 'पार्थ' कह करके प्रारम्भ किया था—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। गीता 2.2-3

हे अर्जुन! हे पार्थ! कुन्ती नन्दन! मेरी बुआके पुत्र! मेरे भाई!

'एषा ब्राह्मी स्थितिः'।

'एषा' तो भगवान् बहुत बोलते हैं।

एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। 'एषा-एषा! एषा ब्राह्मी स्थितिः।'

यह ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली स्थिति है। अथवा यह ब्रह्मसम्बन्धिनी-ब्रह्ममें स्थिति है। अथवा ब्रह्म माने ब्रह्मविद्‌की स्थिति है।

एतां प्राप्य न विमुह्यति।

जिसको यह स्थिति मिल जाती है, उसको फिर विमोह नहीं होता है।

और एक बात यह है कि जिसको यज्ञ करना हो, वह यावत् जीवन—

'अग्निहोत्रं जुहोति।'

यह नहीं कि मरनेके दिन होम कर लिया तो स्वर्ग मिल जायगा। ऐसा नहीं होता है। जिंदगीभर तो विषयकी उपासना की। आठ दिन इन्द्र-उपासना कर ली तो स्वर्गमें पहुँच गये। परन्तु जो इस विषयका ज्ञान है न, यह 'ब्राह्मी-स्थिति', इसकी विलक्षणता यह है कि यदि जीवनभरमें कभी न हुई हो, और

'अन्तकालेऽपि स्थित्वां' यस्मात्

इस ब्राह्मीस्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थिति हो जाय तो क्या होता है?

'ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति।'

ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। वाण=बाण। *ब गति गंधनयो आनं गमनं। निगतं बाणं गमनं-आगमनं च तस्मात् तत् निर्वाणम्।* जिसमें बाण नहीं है माने आना-जाना नहीं है। **न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते।** श्रुतिने कहा, सूत्रने कहा—**'अनावृत्ति शब्दात्'। 'अनावृत्ति शब्दात्।'** फिर पुनर्जन्म और मरणके प्रसंगमें नहीं आना पड़ता। क्योंकि-**न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति। इहैव प्रविलीयन्ते।** उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, यहीं विलीन हो जाते हैं। तो उसे ब्रह्मनिर्वाण—अन्तःकरण-जैसे अविद्याकी

निवृत्ति होनेपर अन्त:करणमें जो आभास था, वह आभास ही मर गया। और जब आभास मर गया तो कौन कर्ता रहे ?' निर्वाण' माने ? दीपकका बुझ जाना। संस्कृतमें 'निर्वाण' माने होता है, दियेका बुझना।

दीपनिर्वाणगंध च हृद्वाक्यं अरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति न शृणोति गतायुषः॥

तो यह जो दीपनिर्वाण माने हमारे अन्त:करणका जो दीया है, उसमें कर्म संस्कारोंका तेल भरा हुआ है, और उसपर जो आत्मसूर्य है उसका आभास ज्योतिके रूपमें प्रज्ज्वलित हो रहा है। वह परिच्छिन्न भी है, कर्ता भी है, भोक्ता भी है, पापी-पुण्यात्मा भी है, गमनागमनशाली भी है, परन्तु जब ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हो गया, माने जब तेजस्तत्त्वका, ज्योतितत्त्वका जब ठीक-ठीक ज्ञान हो गया तो क्या हुआ ? वह बाधित हो गया। तो अब अन्त:करणके दीपकमें और संस्कारोंके तेलसे जो वह नयी ज्योति प्रगट हुई थी न, वह बुझ गयी। बुझ गयी तो न कोई कर्ता, न कोई भोक्ता! न कोई परिच्छिन्न न कोई गमनागमनवाला। ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो गयी।

आभासरूप जो ज्योति थी, वह निवृत्त हो गयी। अब आभास नहीं रहा। कौन रहा ? बोले—' अपना स्वरूप, बस ब्रह्म! इसीको कहते हैं—

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

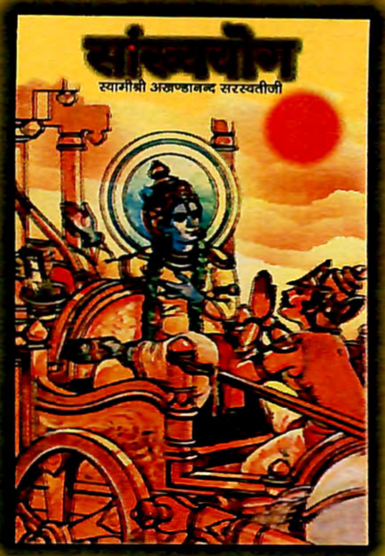

सांख्ययोग श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायको कहते हैं। अध्यायके अन्तमें 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' पढ़ते हैं। यानि भगवान्श्री कृष्णके द्वारा गानकी गयी बहुत-सी उपनिषदें।

उपनिषद् वेदका शिरोभाग है। आत्मा-परमात्माकी ऐक्य बोधक उपनिषदोंको ही वेदान्त या ब्रह्मविद्या कहते हैं।

यह ब्रह्मज्ञान मिलेगा कैसे ?

—क्या ब्रह्मज्ञान जब होना होगा तब हो जायेगा ?

—क्या ब्रह्मज्ञान जब भगवान् देंगे तब मिलेगा ?

—क्या ब्रह्मज्ञान प्रारब्धमें होगा तब मिलेगा ?

तीनों ही बेवकूफीकी बातें हैं। माने जिसके हृदयमें ये हैं उसे तीव्र जिज्ञासा नहीं है।

जिज्ञासा यदि सच्ची है; तो परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती द्वारा सांख्ययोग पर किये गये अमृत गंगा स्वरूप सरल प्रवचनोंके इस संकलनसे अज्ञान-मलका प्रक्षालन करें!

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337